पुष्टिमार्ग-स्वयंशिक्षक

(श्लोकान्वयार्थ एवं हिन्दी भावार्थ सहित)

गोस्वामी श्याम मनोहर

दामोदर गौड़
अनुवादक

प्रकाशक :-
प्रभावती प्रकाशन,
'अड़ेल'
नया शहर, किशनगढ़
(अजमेर) राजस्थान-305802

●●●

निःशुल्क वितरणार्थ।

●●●

प्रथम हिन्दी संस्करण - वि.स. 2081

प्रतियाँ : 500

●●●

मुद्रक :-
ट्विंकल कॉमर्शियल हाउस,
सुन्दर विलास, अजमेर
फोन : 0145-2622410, 9414002410

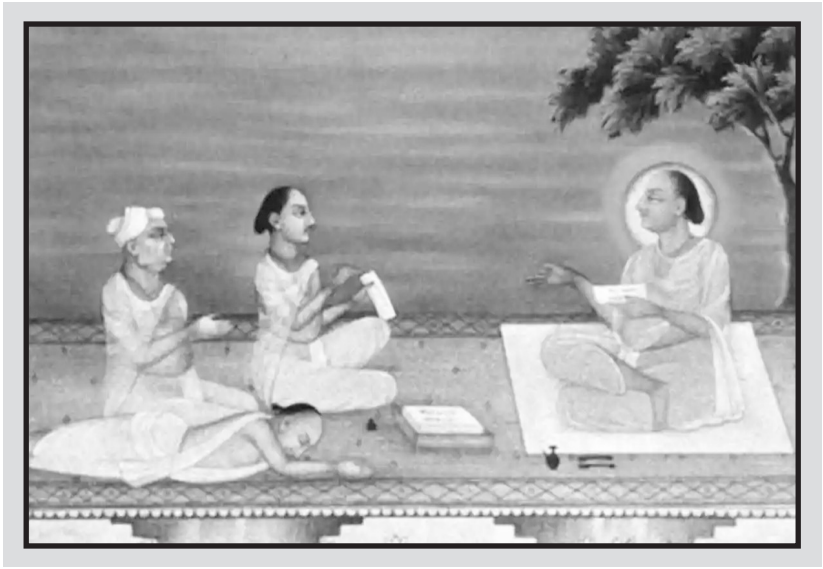

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।।

आशीर्वचन

सन् पचासके दशकके उत्तरार्धमें छह महिनोंके वास्ते हमारा किशनगढ़में रहना हुआ था. तभी श्रीमोहनलाल गौड़ (मास्टरसाब) के साथ प्रथम परिचय हुआ था. उनकी ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा भी तभी हुई थी. तबसे आज तक किशनगढ़के मास्टरसाबके परिवारके साथ घनिष्ठता उतनी ही बरकरार रही है. मास्टरसाबके आत्मज गणपतलाल ही नहीं अपितु गोपाल दामोदर संजय और मनोज आदि परिवारके सभी लोगोंका मेरे प्रति स्नेहादरभाव मास्टरसाबसे इन्हें विरासतमें मिला हुआ लगता है.

किशनगढ़में श्रीरामानंदाचार्यकी शिष्यपरंपरामें श्रीटीलाचार्यके साहित्यपर चि. दामोदरके विद्वत्तापूर्ण लघुशोधप्रबंधको पढ़नेके समय वैदुष्यकी झांकी तो मिली थी; पर पूनामें हिन्दीके प्राध्यापकतया नियुक्त होनेके बाद आपसी सम्पर्कमें रहनेका अवसर कुछ कम सा हो गया था. अतीव हर्ष एवं सन्तोष का विषय मेरे लिये यह है कि वहांसे निवृत्त होनेके बाद वह सम्पर्क सहसा पुनः सुस्थिर हो गया, विशेषतः अब स्वसाम्प्रदायिक ग्रन्थोंके हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत करनेके चि.दामोदरके उत्साह और लगन के कारण.

मेरे यहां मुंबईमें षोडशग्रन्थोंपर दिये गये गुजरातीभाषामें प्रवचनोंको चिरंजीवी श्रीपुरुषोत्तम बावाने अपने जूनागढ़के पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तके जिज्ञासु वैष्णवोंद्वारा लिपिबद्ध करा कर जो ग्रन्थाकारमें प्रकाशित करवाया, उसका हालमें चि. दामोदरने हिन्दीभाषामें अनुवाद

अतीव उत्साह और निष्ठा के साथ सम्पन्न किया है. साथ ही साथ अन्य भी जो सम्बद्ध सामग्री थी उनसे सजा कर इसे बहुत सुपाठ्य बना दिया है. एतदर्थ मेरे हार्दिक कृतज्ञतापूर्ण आशीर्वाद!

इस ग्रन्थ की सामग्री की अत्यन्त मनोयोगपूर्वक प्रूफरीडिंग करने के लिए श्रीपरेश शाह और श्रीमती मनीषा शाह का भी हृदय से आभार.

आशा करता हूँ कि इससे हिन्दीभाषी पाठकोंको ग्रन्थाध्ययनमें बहुत सुकरता होगी.

गोस्वामी श्याम मनोहर

(12वीं मार्च 2024)

******

।। श्रीकृष्णाय नमः।।

।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।।

शुभाशंसा

अत्यन्त हर्ष का विषय है कि 'श्री प्रभावती प्रकाशन, किशनगढ़' द्वारा तृतीय पुष्प "**पुष्टिमार्ग-स्वयंशिक्षक**" प्रकाशित होने जा रहा है।

पू. धर्मपितृचरण के अत्यन्त कृपापात्र, किशनगढ़ के प.वै.गो.वा. मोहनलालजी गौड़ (मास्टरसाहब) के सुपुत्र प.वै. दामोदरजी गौड़ ने अत्यन्त निष्ठापूर्वक गुजराती भाषा में प्रकाशित उक्त ग्रन्थ का अनुवाद राष्ट्रभाषा में करके हिन्दीभाषी पुष्टिमार्गीय-वैष्णव समाज के लिए सत्संग का एक सुंदर माध्यम प्रदान किया है। 'भक्त्याचारोपदेशार्थ नानावाक्य निरूपक' श्रीआचार्यचरण की वाणी एवं कर्तव्योपदेश को समझे बिना पुष्टिमार्गीयसाधना फलोन्मुख नहीं हो सकती अतः किसी भी भाषा के माध्यम से आपश्री की वाणी, उपदेश एवं सिद्धान्त का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। इस ग्रन्थ के स्वाध्याय से निश्चित ही पुष्टिजीवों को अपने कर्तव्य का ज्ञान होगा और इसके द्वारा वे पुष्टिसाधना में भलीभांति जुड़ेंगे।

सुंदर ग्रन्थ प्रकाशन के लिए हमारे परमस्नेही श्रीदामोदरजी गौड़ को हार्दिक आशीर्वाद। आगे भी ऐसे ही नामसेवा श्रीमहाप्रभुजी इनसे कराते रहें, ऐसी शुभकामना करता हूँ।

गोस्वामी पुरुषोत्तम

अनुवादकीय

'पुष्टिमार्ग स्वयं-शिक्षक' के गुजराती संस्करण से विदित ही है कि पूज्य श्रीश्याममनोहरजी गोस्वामी, किशनगढ़ - पार्ला ने मुम्बई में ई.स. 1996 में अध्ययन शिविर में 'पुष्टिविधानम्' पुस्तक में समाविष्ट 'मंगलाचरण' से ले कर षोडश ग्रन्थों सहित 'पंचश्लोकी' तक कुल 23 ग्रन्थों पर प्रवचन किए थे। उन प्रवचनों को गुजराती भाषा में अनूदित कर 'पुष्टिमार्ग स्वयं-शिक्षक' नाम से 2018 में पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित कराया गया था। पूज्य श्रीश्याममनोहरजी गोस्वामी एवं पूज्य श्रीपुरुषोत्तमजी गोस्वामी, किशनगढ़ - जूनागढ़ के स्नेह-सिंचित आशीर्वाद और घनीभूत अनुग्रह ने मूर्तरूप ग्रहण कर 'पुष्टिमार्ग स्वयं-शिक्षक' के हिन्दी अनुवाद को सम्भव कर दिया है और इसके प्रकाशित हो पाने का संतोष है।

यों तो पुस्तक में समाहित पुष्टिभक्तिमार्ग के आद्य प्रवर्तक श्रीमहाप्रभुजी कृत षोडशग्रन्थों, सम्प्रदाय में प्रसिद्ध 'मंगलाचरण', 'वल्लभाष्टक', 'स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत', 'पंचश्लोकी' आदि पर पूर्ववर्ती वल्लभवंशजों और स्वनामधन्य वैष्णवों की कई टीकाएँ उपलब्ध हैं परन्तु इस पुस्तक में उक्त ग्रन्थों पर पूज्य श्रीश्याममनोहरजी की विश्लेषणात्मक व्याख्या हृदयस्पर्शी और विलक्षण है। आपश्री ने श्रीमहाप्रभुजी को अभिप्रेत ऊर्ध्वीकृत भक्तिमार्ग की मान्यताओं को वर्तमान पुष्टि-सृष्टि के अनुकूल समकालिक भाषिक बिम्बों के माध्यम से ''इष्टं हि विदुषां लोके समासव्यासधारणम्'' - पद्धति से सुकर रूप में उद्घाटित किया है। श्री आचार्यचरण की वाणी के प्रामाणिक व्याख्याता के रूप में आपश्री ने षोडशग्रन्थों के अवगाहनजन्य यथार्थज्ञान को उद्भासित कर न केवल विद्यमान वैष्णव-वृन्द को उपकृत किया है बल्कि भावी पुष्टिमार्गीय पीढ़ी के लिए भी स्वमार्गीय आचारसंहिता को श्रीमहाप्रभुजी के दृष्टिकोण से सुपरिभाषित किया है।

आज पुष्टिभक्तिमार्ग जिस दिशाभ्रम के दौर से गुजर रहा है और जिसमें अपसिद्धान्तों को ही शुद्ध सिद्धान्त बताने की दुरभिसंधि पनप गई है, उस स्थिति में श्रीमहाप्रभुजी की वाणी का, विशेष रूप से सम्प्रदाय के आधारभूत ग्रन्थों का, सिद्धान्त

सम्मत तार्किक विश्लेषण और मंडन अपरिहार्य हो जाता है। इस दृष्टि से आपश्री की नवनवोन्मेषशालिनी वाल्लभी प्रज्ञा पुस्तक में सर्वत्र विकीर्ण है जो तथाकथित सिद्धान्तप्रियता पर अशनिपात की भांति है। श्रीमहाप्रभुजी के वचनों के सम्यक् अभिप्राय के सम्बन्ध में आपश्री का निश्चयात्मक विमर्श है कि - '' .... विवेकधैर्य भक्त्यादि से रहित को कृष्णाश्रय साधक बना सकता है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि जो कृष्णाश्रित है उसे विवेकधैर्य भक्त्यादि का रहितत्व साधक होगा।''

आपश्री ने 'प्रस्तावना' में ही स्पष्ट कर दिया है कि श्रीमहाप्रभुजी के - '' ... वचन का वचन की शुद्धता से, वचन का शब्द की मर्यादा से अर्थघटन करना चाहिए। उस सारी मर्यादा को तोड़कर यादृच्छया कुछ भी अर्थ करना ....?'' - युक्तिसंगत नहीं है। आपश्री का स्पष्ट मन्तव्य है कि - ''हम महाराज के रूप में पूजे जाएँ या न पूजे जाएँ परन्तु पुष्टिमार्ग पूज्य रहना चाहिए।''

'पुष्टिमार्ग स्वयं-शिक्षक' के गुजराती पाठ में उपलब्ध सामग्री के अतिरिक्त इस हिन्दी संस्करण में पूज्य श्रीश्याममनोहरजी एवं पूज्य श्रीपुरुषोत्तम बाबा की आज्ञा से प्रत्येक ग्रन्थ के श्लोकों का अन्वयार्थ और हिन्दी में संक्षिप्त भावार्थ भी समाविष्ट किया गया है। अन्वयार्थ एवं भावार्थ में प्रधानत: 'पुष्टिविधानम्' में दिए गए श्रीरमानाथजी शास्त्री के अन्वयार्थ एवं श्रीनृसिंहलालजी महाराज के व्रजभाषा भावार्थ को अनूदित किया गया है और गौण रूप से श्रीहीरालाल मोहनलाल परीख, खम्भात द्वारा गुजराती में अनूदित षोडशग्रन्थ से सहायता ली गई है।

इस हिन्दी अनुवाद का पुनरीक्षण करने में पूज्य श्रीश्याममनोहरजी गोस्वामी ने कृपापूर्वक जो अथक परिश्रम किया है उससे उऋण नहीं हुआ जा सकता। पुस्तक को अद्यतन रूप देने में अपने सभी अग्रज-अनुज और परिजन से प्राप्त सहयोग के लिए उनका हृदयपूर्वक आभार व्यक्त करता हूँ।

श्री महाप्रभुजी के श्रीचरणों में विनती है कि - 'मा प्र गाम पथो वयम्।'

आषाढ़ कृष्ण षष्ठी, शुक्रवार, वि.सं. 2080
(पू.गो. श्री श्याममनोहरजी,
पार्ला-किशनगढ़ का जन्मोत्सव)

दामोदर गौड़

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

पुष्टिभक्ति संप्रदाय दैवीपुष्टिजीवों के उद्धारार्थ श्रीवल्लभाचार्यचरण द्वारा प्रवर्तित परब्रह्म श्रीकृष्ण की यथाधिकार प्रपत्ति और भक्ति का मार्ग बताता है। श्रीकृष्ण के श्रवण -कीर्तन-स्मरण के आभ्यन्तर भजन कर सकने योग्य दास्य-सख्य-आत्मनिवेदन के भावों के प्रकट न होने तक और श्रीकृष्ण के पादसेवन-अर्चन-वंदनरूप बाह्य भजन कर सकने की अनुकूलता सम्पादित न होने तक, इस प्रकार के भाव और अनुकूलता भगवान जबतक प्रदान न करें तबतक ''तथैव तस्य लीलेति.... भक्त्यभावे.... अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः'' सिद्धान्त को स्वीकार करके शरणमार्ग में सन्निष्ठ रहना चाहिए। पुष्टिभक्ति सम्प्रदाय में सनातन सिद्धान्त है कि दैवी पुष्टिजीवों को तो भगवद्रूप-सेवार्थ ही भगवान ने भूतल पर प्रकट किया है। इन जीवों की कभी भी लौकिक-वैदिक गति नहीं हो सकती क्योंकि गति तो होती है मिलनेवाला फल, जो मात्र और मात्र गुण-स्वरूप के भेद से स्वयं श्रीकृष्ण ही होते हैं। इस प्रकार निजफल की प्राप्ति से पुष्टिसृष्टि वंचित न रह जाए, तदर्थ दैवी पुष्टिजीवों को पुष्टिभक्ति का मार्ग बताना ही आचार्यचरण का भूतल पर प्राकट्य का मुख्य प्रयोजन है।

भगवान जिन पुष्टिजीवों से अपनी स्वरूपसेवा कराना चाहते हैं, वे जीव ब्रह्मसंबंध दीक्षा ले कर, आत्मनिवेदित हो कर अपने तनुवित्त का विनियोग स्वगृह में विराजमान अपने सेव्य स्वरूप की सेवा में करके, असमर्पित वस्तु के उपभोग के त्यागपूर्वक सेवामय जीवन जीने में समर्थ हो जाते हैं।

जिन पुष्टिजीवों को दास्य-आत्मनिवेदन-सख्य आदि भावों का दान करके वे समृद्ध बनाते हैं परन्तु ये जीव प्रभु के पादसेवन-अर्चन-वन्दन रूप बाह्य भजन कर सकने की अनुकूलता सम्पादित नहीं कर पाते। उन पुष्टिजीवों

के लिए हृदय में विराजते भावात्मक प्रभु के श्रवण-कीर्तन-स्मरण रूप आन्तर भजन द्वारा भक्तिमार्ग में स्थिर होने के लिए जो एकमात्र उपाय रह जाता है, उसे पुष्टिभक्ति सम्प्रदाय में 'कथापक्ष' कहा जाता है।

दैवी पुष्टिजीवों के लिए कथापक्ष में स्थिरता प्राप्त करने हेतु शास्त्र के अध्ययन एवं स्वमार्गीय ग्रन्थाध्ययन की नितान्त आवश्यकता होती है। पुष्टिभक्ति सम्प्रदायान्तर्गत जीवन-फल-लाभ के लिए शास्त्र की समझ अर्थात् ओंकार -गायत्री-सपरिकर, वेद-ब्रह्मसूत्र और गीताजी-भागवत के साररूप प्रतिपाद्य, प्रमेयरूप श्रीकृष्ण हैं, यह स्पष्ट ही है। इसके पश्चात् स्वमार्गीय ग्रन्थाध्ययन जैसे वेद, ब्रह्मसूत्र, गीताजी, भागवत के तत्त्वदोहन के रूप में चतुःश्लोकी भागवत, वेदस्तुति, श्रुतिगीता और शुद्धाद्वैत-साकार ब्रह्मवाद एवं पुष्टिमार्ग के मुख्य सिद्धान्तों के क्रमशः अध्ययन से वे ग्रन्थ और कृष्णसेवा की आवश्यकता की समझ विशेष स्पष्ट होती है। षोडशग्रन्थ के अध्ययन से वह विशेष स्पष्ट -पुष्ट होती है, मार्गदर्शन सुलभ होता है और अन्य ग्रन्थ भी उपयोगी होते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक, षोडशग्रन्थ की आधारभूत समझ के लिए अतिसरल शैली में परम आदरणीय श्रीश्याममनोहरजी के 'पुष्टिविधानम्' पुस्तक पर अध्ययनवर्ग में चलनेवाले प्रवचनों का रूपान्तर है। सम्प्रदाय की वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए आधुनिक पुष्टिजीवों को अपने मार्ग, स्वकर्तव्य, सम्प्रदाय के सत्यस्वरूप को जानने के लिए श्रीमद्भगवद्गीता की आवश्यकता अति उपयोगी होगी। इस पुस्तक के संकलनकर्ताओं का अपने हृदयपूर्वक अभिनन्दन करता हूँ और उनका यह प्रयत्न श्रीमहाप्रभुजी के कृपाबल से सफलता प्राप्त करेगा-यही प्रभु के चरणों में अभ्यर्थना है।

वर्तमान समय में सम्प्रदाय में कथापक्ष के लिए अत्यन्त आवश्यक शास्त्राध्ययन और स्वमार्गीय ग्रन्थाध्ययन के लिए सम्प्रदाय में विद्यमान वल्लभ

वंशजों द्वारा समुचित परिश्रम के साथ अनुयायी वर्ग को दिशानिर्देश करने की महती आवश्यकता है। श्रीमहाप्रभुजी कृष्णसेवा के पहले आज्ञा करते हैं – ''शास्त्रम् अवगत्य.....'' इस आज्ञा का पालन करने हेतु अनुयायी वर्ग जिज्ञासु बने और उनकी जिज्ञासा को समुचित दिशा देना सम्प्रदाय के उपदेशक वर्ग का उत्तरदायित्व है। इसके लिए भूतल पर वल्लभवंश विद्यमान हैं। इसका प्रमाण श्रीगोपीनाथजी अपने साधनदीपिका ग्रन्थ में दे रहे हैं। ''माहात्म्य ज्ञापनायैव श्रवणं गुणकर्मणां, शास्त्राणाम् उपयोगोऽत्र तत्राकांक्षा गुरोर्भवेत्'' – इस प्रकार शास्त्रीय उपयोगिता का और वंशजों के रूप में स्वकर्तव्य का पालन करने के लिए श्रीआचार्यचरण की कृपा से पूज्य दादाभाई के संकल्प से सम्प्रदाय को समझने और समझाने की दृष्टि से स्वमार्गीय ग्रन्थों के अध्ययन के साथ शास्त्राध्ययन के मनोरथस्वरूप हमारे निवासस्थान पर 'श्रीगोकुलेश पुष्टि विद्याधाम' विद्यापीठ की शुरूआत की गई है।

इस विद्यासंकुल की विशेषता यह है कि सम्प्रदाय की सेवा करने के उद्देश्य से एक भी रुपये का दान स्वीकार किए बिना और अनुयायी वर्ग एक भी रुपया खर्च किए बिना सभी दुराग्रह से दूर हो कर शास्त्राध्ययन के साथ-साथ स्वमार्गीय ग्रन्थों का अध्ययन कर रहे हैं। इस विद्याधाम के अन्दर शास्त्राध्ययन के अन्तर्गत निम्नलिखित गतिविधियाँ चल रही हैं :

श्रीमद्भगवद्गीता, संस्कृत भाषा, संस्कृत सम्भाषण, व्याकरण, न्याय, धर्मशास्त्र, पुराण, वेदान्त, मीमांसा, साहित्य, योग, सांख्य, इतिहास आदि का अध्ययन हमारे द्वारा कराया जाता है। इसके अतिरिक्त सभी स्वमार्गीय ग्रन्थों का अध्ययन भी है ही, साथ ही साथ डिप्लोमा पाठ्यक्रम में वार्तासाहित्य, दयाराम भाई साहित्य, श्रीवल्लभाख्यान, सेवाप्रणालिका आदि का भी प्रावधान है। प्रमाण-पत्र पाठ्यक्रम में शरणागति, सिद्धान्तवचनावली, सेवा-समर्पण, कथा-साधना शामिल हैं। इसके अतिरिक्त हमारी संस्कृति के

संरक्षण हेतु श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों पर से तैयार किए गए कोर्स भी हैं। शरीर सौष्ठव तथा स्वास्थ्य, व्यक्तित्व विकास, बाल संस्कार, युवा-विकास, संगीत, परिवार व्यवस्थापन आदि के लिए भी कोर्स उपलब्ध हैं।

उपर्युक्त सभी ग्रन्थों का अध्ययन अनुयायी वर्ग उनकी अनुकूलता के अनुसार नित्य, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, त्रैमासिक, अर्द्धवार्षिक, वार्षिक आधार पर उपस्थित रह कर कर सकते हैं। इस अध्ययन के अन्तर्गत बिना परीक्षा के प्राचीन ऋषिपरम्परा की पद्धति द्वारा अध्ययन से सम्प्रदाय को समझकर साम्प्रदायिक साधना प्रणाली-सेवा और कथा – से ब्रह्म के आनन्द का आस्वादन कर सकें, प्रभुचरणों में इसी अभ्यर्थना के साथ.....।

व्रजेन्द्रकुमार (रविबावा)

जूनागढ़

।। वाक्सीधु - पूरिताशेष सेवकाय नमः।।
।। वाक्सुधाकृष्ट - भक्तान्तः करणाय नमः।।

श्रीमहाप्रभुजी की असीम कृपा से हम 'पुष्टिमार्ग-स्वयंशिक्षक' पुस्तक प्रकाशित कर रहे हैं। ई.स. 1996 में मुम्बई में पूज्य गोस्वामी श्रीश्याममनोहरजी ने 'पुष्टिविधानम्' पुस्तक पर अध्ययन शिविर आयोजित किया था। उनके वचनामृत का व्रजभाषा में लेखन करने के बाद उसके गुजराती अनुवाद के रूप में यह पुस्तक हम प्रकाशित कर रहे हैं। अनेक वैष्णवों के सहयोग से हमने यह पुस्तक तैयार की है।

पुष्टिमार्ग पर प्रवृत्त हुए वैष्णव भटक न जाएँ, वे मार्ग का स्वस्थ अनुसरण कर सकें, इसके लिए श्रीआचार्यचरण के ग्रन्थों को समझना बहुत ही आवश्यक है परन्तु संस्कृत भाषा के अज्ञान के कारण सामान्य वैष्णवों के लिए उन ग्रन्थों को समझना कठिन हो जाता है। पूज्य श्रीश्याममनोहरजी महाराजश्री ने अथक परिश्रम से एकदम सरल भाषा में षोडशग्रन्थों को इस शिविर में समझाया है। जो प्रत्येक वैष्णव को समझ में आ सके, ऐसा यह सरल ग्रन्थ हम प्रकाशित कर रहे हैं। आपश्री के प्रवचन में कोई कमी नहीं हो सकती परन्तु हम मन्दमति लोगों की समझ की भूल हो सकती है। अतः इस पुस्तक में जो कुछ कमी - भूल रही हो तो वह हमारे सीमित ज्ञान के कारण है, उसे हम स्वीकार करते हैं और क्षमा प्रार्थना भी करते हैं। अगली आवृत्ति में उसे सुधारने का प्रयत्न करेंगे। अन्त में, श्रीमहाप्रभुजी की वाणी और ग्रन्थों की समझ, प्रत्येक वैष्णव की कृति, मति और रति में फलीभूत हो, इसी अभ्यर्थना के साथ....।

पुष्टिस्वाध्याय संकुल
जूनागढ़

।। श्रीकृष्णाय नमः।।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।।

भूमिका

परब्रह्म परमात्मा जिन जीवों को अपनी सेवा अर्थात् स्वरूपानन्द या भजनानन्द के दान के लिए वरण करते हैं, वे जीव पुष्टिबीज सम्पन्न होते हैं। ऐसे जीव जब भूतल पर आते हैं तो परमात्मा की ओर आकर्षित होते हैं। सत्संग अथवा भगवत्कृपा के बल से उनके अन्दर परमात्मा श्रीकृष्ण के प्रति रुचि जाग्रत होती है। ऐसी रुचि के कारण वे परमात्मा से साक्षात्कार करानेवाले आचार्य की शरण स्वीकार करते हैं और आचार्यप्रवर्तित सम्प्रदाय में प्रवेश पा कर अपनी साधना करना, बुद्धि से निश्चय करते हैं। तब से ही भूतल पर भगवान की तरफ शरणागति अथवा भक्तिमार्ग पर चलने की उनकी यात्रा शुरू हो जाती है। भक्त पर भगवान की जो पुष्टिवर्षा होती है वह भक्त के हृदय में भक्तिभाव के रूप में प्रकट हो कर भक्त की भक्ति के रूप से भगवान की तरफ गति करती है और अंत में भूतल पर सर्वात्मभाव के रूप में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करती है। पुष्टिजीव की इस बीज-भावना से ले कर सर्वात्मभाव तक के सफर में आचार्य के उपदेश-सिद्धान्त स्थान-स्थान पर मार्गदर्शक दिशा-सूचक के रूप में अतिमूल्यवान होते हैं, जिनके अभाव में पुष्टिजीव मार्ग भूल सकता है, अन्यत्र गति कर सकता है और अपने प्राप्तव्य परमात्मा में सर्वथा निरुद्ध होने रूप अलौकिकसामर्थ्य और सर्वात्मभाव से वंचित रह जाता है तथा पुनः सहस्र परिवत्सर के चक्कर में भगवान के सान्निध्य में आकर भी दूर का दूर ही रह जाता है; ऐसी स्थिति निर्मित हो सकती है। इसलिए सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य गुरु में श्रद्धा-विश्वास और निष्ठा पुष्टिसम्प्रदाय में अत्यन्त आवश्यक है।

सम्प्रदायप्रवर्तक आचार्य में दृढ़ श्रद्धा होने पर ही उनके उपदेश में

श्रद्धा उत्पन्न हो सकती है। इसके लिए सर्वोत्तमस्तोत्र में वर्णित आचार्य नामों के अर्थ का विचार आवश्यक है। आचार्यचरण में श्रद्धा होना आवश्यक है, उतना ही श्रद्धातिरेकवश अथवा भगवद्विमुखता के स्वभाव के कारण आचार्य को श्रीकृष्ण से अधिक मान कर श्रीकृष्णशरणागति और श्रीकृष्णसेवा से विमुख हो कर केवल श्रीआचार्यशरण और आचार्यसेवा के पाखण्डपूर्ण प्रकार से बचना भी आवश्यक होता है। श्रीमत्प्रभुचरण सर्वोत्तमस्तोत्र का विनियोग भी श्रीकृष्णभक्ति में आनेवाले प्रतिबन्ध के विनाश में ही बताते हैं। पाठ का फल श्रीकृष्ण-अधरामृत स्वाद बताते हैं। अत: श्रीआचार्यचरण का स्वरूप दैवी जीवों को श्रीकृष्णभक्ति के मार्ग पर अग्रेसर करने हेतु भूतल पर प्रकट हुआ है। आचार्य के वचनों में जिसे दृढ़ विश्वास होता है वह श्रीकृष्ण-सेवाकथा अथवा श्रीकृष्णशरणागति से कभी भी दूर नहीं रह सकता क्योंकि श्रीआचार्यचरण के क्षणिक सान्निध्य से श्रीकृष्ण-मुख-दर्शन की कामना अतितीव्र हो जाती है। भक्तिमार्ग में अज्ञानांधकार के निवारक श्रीवल्लभ अलौकिक अग्निरूप और वस्तुत: श्रीकृष्ण का ही आचार्यरूपेण प्राकट्य हैं, उनके स्वरूप का अवगाहन श्रीवल्लभाष्टकस्तोत्र द्वारा और श्रीआचार्यचरण में विराजते षड्गुणों का अवगाहन स्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्र से करना चाहिए। जैसे श्रीभागवत तत्त्वज्ञता आपश्री का ऐश्वर्य गुण है, भगवत्सेवा में प्रतिबन्धक वादों का निराकरण करके श्रीकृष्णसेवा का प्रेरक होना आपश्री का वीर्यगुण है, वेदादिशास्त्र पारंगतता शास्त्रानुकूल आचरण, वैष्णवमार्गीयता और श्रीव्रजपति में अनन्य रतिमान होना आपश्री का सच्चा यश है, प्रमाणचतुष्टय की एकवाक्यता करके स्वसिद्धान्त का उपदेशक होना और श्रीकृष्णसेवापरायण होना एवं भगवत्सेवोचित-निरूपाधिस्नेह का उद्बोधक होना आपश्री की श्री है, भक्ति को कलिभीति से मुक्त करके श्रीकृष्णसेवा का प्रवर्तक होना ज्ञान है तथा सभी पुष्टिमार्गीयों को सकल कलिकालदोष से मुक्त करने के अतिरिक्त अन्य सभी विषयों में विरक्त होना आपश्री का वैराग्य गुण है। श्रीकृष्ण की सेवाकथा में सदा परायण आपश्री

के धर्मिस्वरूप का चिन्तन भी स्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्र द्वारा करना चाहिए।

इस प्रकार आचार्यश्री के उपदेश साक्षात् भगवद्मुख से नि:सृत भगवदाज्ञा है। ऐसा विश्वास दृढ़ होने पर ही पुष्टिभक्ति अथवा प्रपत्तिमार्ग में निर्विघ्न गति सम्भव है। जैसे श्रीआचार्यचरण हैं, वैसे ही आपश्री के दोनो आत्मज श्रीगोपीनाथ प्रभुचरण और श्रीप्रभुचरण गुसांईजी भी श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त के हृदयरूप और पितृप्रवर्तितपथ के प्रचार के लिए सुविचारक हैं। ऐसा समझ लें कि इन तीनों आचार्यों के वचन श्रुति-प्रमाण तुल्य हैं और परवर्ती आचार्य वंशज टीकाकार स्मृति-प्रमाण तुल्य हैं। उपर्युक्त तीनों प्रमाणों से अविरुद्ध स्वरुचि के अनुसार आचरण करने का विवेक पुष्टिसम्प्रदाय के प्रत्येक अनुयायी को रखना चाहिए।

श्रीमहाप्रभु में निष्ठावान वैष्णव, पुष्टिसम्प्रदाय में साधना करने की शुरुआत श्रीकृष्णसेवा में परायण, दम्भ आदि दुर्गुणों से रहित और श्रीभागवत-तत्त्वज्ञ गुरु द्वारा दीक्षित हो कर करते हैं। पुष्टिसम्प्रदाय के आधारभूत चार स्तम्भरूप सिद्धान्तों (1) शरणागति, (2) समर्पण, (3) सेवा, (4) भक्ति, की समझ पुष्टिपथ पर चलनेवाले अनुयायी के लिए अत्यन्त आवश्यक होती है। साथ ही श्रीआचार्यचरण के सिद्धान्तों के विरुद्ध आचरण का त्याग भी उतना ही आवश्यक है।

पुष्टिमार्ग में प्रविष्ट व्यक्ति का मन धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि में ही लगा रहे तो पुष्टिभक्ति या प्रपत्ति की साधना व्यवस्थितरूप से नहीं हो सकती। धर्म, अर्थ, काम की सिद्धि के लिए पुष्टिसिद्धान्त नहीं हैं। पुष्टिमार्गीय भक्ति भी मोक्षपुरुषार्थ के अन्तर्गत आनेवाला विषय नहीं है। ऐसे पुरुषार्थ विषयक प्रश्नों का निराकरण आचार्यचरण के बालबोध से करके विवेक, धैर्य सहित सुदृढ़ आश्रय की तरफ यात्रा आगे बढ़ती है। सब ही भगवान की इच्छा के अनुसार होता है, यह विवेक, प्रार्थनात्याग, अभिमानत्याग, हठत्याग और

अनाग्रह के चार उपायों का आचरण करने से सिद्ध होता है। जीवन में आने वाले दु:खों से विचलित होने से सेवा में प्रतिबन्ध उत्पन्न होता है और दु:खों को सहन करने का गुण न हो तो भगवदाश्रय भी दृढ़ नहीं होता। तदर्थ जीवन में आनेवाले आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक दु:खों को सहन करना धैर्य है एवं उनकी सिद्धि भी। प्रतिकार, यदि सहज प्राप्त होता हो तो दु:खी होने के आग्रह का त्याग, लौकिक सगे-सम्बन्धियों की तरफ से प्राप्त होते दु:खों को सहन करने, इन्द्रियों के विषयों को मन और वाणी के विषय न बनानेरूप त्याग और असामर्थ्य की भावना के क्रमिक उपाय अपनाते हुए धैर्य धारण करने से भगवदाश्रय दृढ़ होता है। भगवदाश्रय का स्वरूप ही इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी सभी विषयों और सभी परिस्थितियों में एक हरि की ही शरण ग्रहण करना है।

सभी अवस्थाओं में भगवदाश्रय रहना भी आज दुर्लभ जैसा ही लगता है। ऐसी स्थिति में सभी अशक्यताओं में एक हरि की शरण ग्रहण करने से ही सब सिद्ध होता है। भगवदाश्रय दृढ़ करने के लिए भी सर्वप्रथम अष्टाक्षर- 'श्रीकृष्ण: शरणं मम' - का वाणी से उच्चारण और मन से भगवान की शरण में होने की भावना करें। श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य विभूतियों का भजन, प्रार्थना, प्रसादग्रहण और जानते हुए भी दर्शनार्थ जाने रूप अन्याश्रय का त्याग, प्रभु में दृढ़ विश्वास और प्राप्त सुख-दु:खों के ममतारहित भोग के रूप में शरणागति का स्वरूप प्राप्त होता है।

विवेक-धैर्य और आश्रय का परस्पर संबंध प्रस्तुत पुस्तक में पू. श्रीश्याममनोहरजी दादाभाई ने मार्मिक रूप से समझाया है कि - ''विवेक-धैर्य-भक्त्यादि रहित का भी श्रीकृष्ण आश्रय बनते हैं, इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि श्रीकृष्णाश्रित व्यक्ति को विवेक-धैर्य-भक्ति आदि से रहित रहना।''

कलिकाल में धर्म के साधन निष्फल हो जाने से जीवों का उद्धार धर्म से नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में धर्मी का आश्रय ही फल साधक होता है और ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग, भक्तिमार्ग तथा प्रपत्तिमार्ग की दृष्टि से श्रीकृष्ण ही आश्रयणीय होते हैं। यह बात प्रत्येक पुष्टि-पथिक को अपने हृदय-पट पर उत्कीर्ण कर लेना आवश्यक है।

इस प्रकार विवेक-धैर्य सहित अथवा केवल आश्रित होने के बाद श्रीआचार्यचरण के ग्रन्थों और श्रीमद्भागवत, श्रीमद्भगवद्गीता आदि शास्त्रों का श्रवण, कीर्तन, स्मरण करने से श्रीकृष्ण के माहात्म्य का ज्ञान होता है। इस माहात्म्यज्ञान के कारण श्रीकृष्ण-सेवार्थ ही पुष्टिजीव प्रकट हुए हैं और श्रीकृष्णसेवा ही परम कर्तव्य एवं श्रीकृष्णसेवा में ही पुष्टिजीवन की सार्थकता है, ऐसा समझ कर पुष्टिपथ के साधक ब्रह्मसंबंध दीक्षा ग्रहण करके, श्रीकृष्ण-सेवार्थ समर्पित हो कर, श्रीकृष्ण की सेवा अपने घर में अपने तन और अपने धन से करते हैं। समर्पण का बाह्य स्वरूप 'सिद्धान्तरहस्य' से समझा जा सकता है।

भगवत्सेवा करते हुए उद्वेग आदि दोष उत्पन्न होते हों तो सेवा का क्रियावत् स्वरूप निभता है पर आन्तरस्वरूप अर्थात् चित्त से कृष्णप्रवणता में विक्षेप होता है, अत: 'नवरत्न', 'अन्त:करण प्रबोध' ग्रन्थों के उपदेश से चित्त की वृत्ति निर्विघ्न भगवत्प्रवणता की ओर अग्रसर होती है।

पुष्टिमार्गीय साधक शरणागति, समर्पण और सेवा के पथ पर यात्रा करता है किन्तु जबतक सबका परिणाम भक्तिभाव के उत्तरोत्तर विकास में परिणत न हो तबतक गन्तव्य - 'मानसी सा परामता' अलौकिक सामर्थ्य या सर्वात्मभाव के रूप में - प्राप्त नहीं होता।

भक्तिमार्ग भी तीन प्रकार का कहा गया है - (1) भगवत्स्वरूप का बाह्य भजन, (2) भगवत्स्वरूप का आन्तर भजन और (3) नाम भजन।

तनुवित्तजा सेवा से भगवत्स्वरूप का बाह्य भजन तो होता है पर अनवसर में यदि भगवद्-लीला के गुणों का गान न किया जाए तो आन्तर भजन नहीं हो सकता। भगवत्कथा का श्रवण किससे करना, इसके लिए 'जलभेद' और हमारी कथा में किसको श्रोता के रूप में सम्मिलित करना, इसके लिए 'पंचपद्यानि' ग्रन्थों के उपदेशानुसार आचरण करने से कथा में रसाभास-दुस्संग आदि दोषों से बचा जा सकता है।

जिसको भगवत्सेवा के लिए अवकाश नहीं है पर जो कथाभक्ति कर सकता है उसे भी भक्तिभाव, प्रेम-आसक्ति-व्यसन के क्रमिक सोपानों पर चढ़ कर अन्त में सर्वात्मभाव के रूप में फल हो सकता है, जिसका वर्णन 'भक्तिवर्धिनी' से जाना जा सकता है। कथाभक्ति की साधना में संलग्न भक्त व्यसनावस्था प्राप्त कर लेने के बाद विरहानुभवार्थ गृहत्याग कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त किसी भी अवस्था में अथवा किसी भी कारण से संन्यासग्रहण नहीं करना चाहिए। यदि सेवा की अनुकूलता हो और घर में तनुवित्तजासेवा निभती हो तो कभी संन्यास का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। यह उपदेश 'संन्यासनिर्णय' के अध्ययन से जाना जा सकता है और कलिकाल में भक्तिबीज की दृढ़ता के बिना लिया गया संन्यास केवल पाखण्ड में संलिप्त कर पतित बनाता है।

अन्त में सेवा और कथा के केवल गुणगान से उत्तरोत्तर आगे बढ़ता हुआ पुष्टिभक्त भगवदासक्ति के कारण प्रपंच को विस्मृत कर देता है। यह इस लोक की भक्ति की सर्वोच्च अवस्था है जिससे बड़ा कोई मंत्र नहीं, जिससे बड़ा कोई स्तोत्र नहीं और न ही कोई बड़ी विद्या अथवा बड़ा तीर्थ। भक्ति के निरोधावस्थापन्न बनने से बड़ी कोई उपलब्धि भूतल पर भक्त के लिए नहीं हो सकती। इन सभी षोडशग्रन्थों का तात्पर्य जीव को भगवत्सेवा में जोड़ना है। भगवत्सेवा ही पुष्टिजीव के भूतल पर अस्तित्व का प्रयोजन है। अतः सेवा से

फल की अपेक्षा नहीं किन्तु समस्त फलानुभूति भगवत्सेवा में ही होती है। मन-वचन-कर्म से भगवत्समर्पित हो जाना और भक्त के सभी विषयों में भी सच्चिदानन्दात्मकता प्रकट हो जाना ही अलौकिक सामर्थ्य के रूप में सेवा में प्राप्त होनेवाला फल है एवं देहान्तरे सायुज्य या सेवोपयोगीदेह वैकुण्ठादि लोक में अधिकार रूप ही है।

इस प्रकार की फलानुभूति उद्वेग-भोग-प्रतिबन्ध से रहित भगवत्सेवा से ही होती है। तदर्थ इन बाधकों का ज्ञान भी आवश्यक होता है। इस प्रकार षोडशग्रन्थ श्रीआचार्यचरण का वाङ्मय स्वरूप है। इसीलिए श्रीद्वारकेशजी भी आज्ञा करते हैं - ''अवतारदशायान्तु उद्धृती रूपदर्शनाद् इह नामात्मकैर् ग्रन्थैः स्वदासानां सदोद्धृतिः तस्मात् सर्वप्रयत्नेन देवैः कर्तव्यमेव हि, सेवनं श्रीव्रजेशस्य तद्ग्रन्थानां च पाठनम्''- अर्थात् अवतार दशा में अपने स्वरूप से पुष्टिजीवों का उद्धार होता है। इन नामात्मक ग्रन्थों से श्रीआचार्यजी निजदासों का उद्धार करते हैं। इसलिए दैवी जीवों को सर्वप्रयत्नपूर्वक श्रीव्रजाधिप का सेवन और इन ग्रन्थों का पाठ ही कर्तव्य है।

श्रीआचार्यचरण की वाणी दुर्बोध है, वह आपश्री की कृपा से ही सुबोध होती है। श्रीवल्लभवंशज सभी आचार्यों का कर्तव्य दैवी जीवों को श्रीआचार्यचरण के ग्रन्थों का बोध प्रदान करना ही है परन्तु सम्प्रदाय की आज की परिस्थिति में श्रीआचार्यचरण की वाणी से सर्वथा विपरीत आचरण व्याप्त है। सहस्र परिवत्सर की यात्रा और श्रीपुष्टिपुरुषोत्तम के अत्यन्त निकट आ कर भी यदि श्रीआचार्यचरण की वाणी का सच्चा मर्म न समझ सके तो फिर दूर के दूर ही रह जाते हैं। दैवी जीवों का भूतल पर अस्तित्व व्यर्थ न जाए, इसके लिए श्रीआचार्यचरण के ग्रन्थों का भलीभाँति अध्ययन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। प्रस्तुत पुस्तक पूज्य श्रीश्याममनोहरजी दादा द्वारा अध्यापन कराए गए ग्रन्थों का गुजराती अनुवाद है जो सभी पुष्टि-पथिकों और सच्चे पुष्टिसिद्धान्तों को

जीने की निष्ठा रखनेवाले जिज्ञासु वैष्णवों के लिए स्वयं शिक्षक की आवश्यकता की पूर्ति करेगी। धर्म पितृचरण, परम आदरणीय पूज्य श्यामु दादा का परिचय देने की आवश्यकता नहीं है। आपश्री के सान्निध्य में अध्ययन करना जीवन का अमूल्य आनन्द है जो सभी को प्राप्त नहीं हो सकता। अत: इस पुस्तक के माध्यम से आपश्री के सान्निध्य में ही ग्रन्थाध्ययन करने की अनुभूति हुए बिना नहीं रहती। आपश्री सदृश महानुभाव के मुख से निकलनेवाले आचार्य वचनों के मर्म से भरा हुआ एक बिन्दु भी पुष्टिजीवभाव का ईंधन भरे हुए जीव के लिए एक अग्नि की चिंगारी का काम करेगा और भगवान, परमात्मा श्रीकृष्ण के प्रेम में ओतप्रोत करके घर के श्रीठाकुरजी में साक्षात् पूर्ण ब्रह्म, पूर्ण पुरुषोत्तम, श्रीगोवर्धनधर यशोदोत्संगलालित का ही अनुभव होगा। अपने माथे विराजते प्रभु की सेवा ही अपने अस्तित्व का सार्थक प्रयोजन लगने लगेगा, इसमें कोई संशयावकाश नहीं ही है।

इस पुस्तक का लेखन-अनुवाद करने वाले सभी वैष्णवों ने पुष्टिमार्ग की महती सेवा की है। इसके लिए बहुत-बहुत धन्यवाद, अपने नाम को गुप्त रख कर सिद्धान्त की महत्तास्थापन का भाव बहुत ही आदरणीय है। भविष्य में भी वे सब मार्ग की इसी प्रकार निष्काम सेवा करने के लिए तत्पर रहेंगे, ऐसी शुभकामना व्यक्त करता हूँ।

श्रीमहाप्रभु-श्रीगोपीनाथ प्रभुचरण एवं प्रभुचरण श्रीगुसांईजी की कृपा और पूज्य श्यामु दादा का सान्निध्य निरन्तर हम पर रहे, इसी अभिलाषा के साथ विराम देता हूँ।

गोस्वामी पुरुषोत्तम

षोडशग्रन्थ विहंगावलोकन (षोडशग्रन्थ चार्ट से साभार)

श्रीयमुनाष्टकस्तोत्र

कुल श्लोक संख्या	9
रचनाकाल संवत	1549
रचना स्थान	गोकुल
वर्णित विषय	श्रीयमुनाजी की स्तुति
किस भगवदीय के लिए प्रकट हुआ	श्रीयमुनाजी
भागवत स्कन्ध	2
अवस्था	बाल्यावस्था
पुष्टिभक्ति का अंग	भक्ति

बालबोध

कुल श्लोक संख्या	$19^{1}/_{2}$
रचनाकाल संवत	1550
रचना स्थान	पुष्कर‌राज
वर्णित विषय	लौकिक मोक्षपुरुषार्थ का निरूपण
किस भगवदीय के लिए प्रकट हुआ	नारायणदास कायस्थ
भागवत स्कन्ध	4
अवस्था	बाल्यावस्था
पुष्टिभक्ति का अंग	आश्रय

सिद्धान्तमुक्तावली

कुल श्लोक संख्या	21
रचनाकाल संवत	1555
रचना स्थान	जतिपुरा
वर्णित विषय	स्वसिद्धान्तरूप कृष्णसेवा एवं ब्रह्मवाद का निरूपण
किस भगवदीय के लिए प्रकट हुआ	अच्युतदास सनोढिया
भागवत स्कन्ध	6
अवस्था	कुमारावस्था
पुष्टिभक्ति का अंग	सेवा

पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद

कुल श्लोक संख्या	$25^{1}/_{2}$
रचनाकाल संवत	–
रचना स्थान	–
वर्णित विषय	मार्गभेद, सर्गभेद एवं फलभेद का निरूपण
किस भगवदीय के लिए प्रकट हुआ	–
भागवत स्कन्ध	3
अवस्था	कुमारावस्था
पुष्टिभक्ति का अंग	सेवा

सिद्धान्तरहस्य

कुल श्लोक संख्या	$8^{1}/_{2}$
रचनाकाल संवत	1549
रचना स्थान	गोकुल
वर्णित विषय	ब्रह्मसंबंध आज्ञा
किस भगवदीय के लिए प्रकट हुआ	दामोदरदास हरसानी और गोपालदास
भागवत स्कन्ध	–
अवस्था	किशोरावस्था
पुष्टिभक्ति का अंग	समर्पण

नवरत्न

कुल श्लोक संख्या	9
रचनाकाल संवत	1558
रचना स्थान	अडेल
वर्णित विषय	उद्वेगरूपप्रतिबन्ध का वारण
किस भगवदीय के लिए प्रकट हुआ	गोविन्द दुबे सांचोरा, मुरारीआचार्य
भागवत स्कन्ध	9
अवस्था	किशोरावस्था
पुष्टिभक्ति का अंग	समर्पण

अन्तःकरणप्रबोध

कुल श्लोक संख्या	$10^{1}/_{2}$
रचनाकाल संवत	1527
रचना स्थान	अडेल
वर्णित विषय	भगवदपराध तथा पश्चात्तापरूप उद्वेग का निरूपण
किस भगवदीय के लिए प्रकट हुआ	स्वयं के लिए, एक विरक्त वैष्णव
भागवत स्कन्ध	5
अवस्था	किशोरावस्था
पुष्टिभक्ति का अंग	समर्पण

विवेकधैर्याश्रय

कुल श्लोक संख्या	17
रचनाकाल संवत	–
रचना स्थान	–
वर्णित विषय	विवेकधैर्याश्रय के स्वरूप एवं साधन का निरूपण
किस भगवदीय के लिए प्रकट हुआ	–
भागवत स्कन्ध	7
अवस्था	किशोरावस्था
पुष्टिभक्ति का अंग	आश्रय

कृष्णाश्रय

कुल श्लोक संख्या	11
रचनाकाल संवत	1570
रचना स्थान	अडेल
वर्णित विषय	श्रीकृष्ण से अतिरिक्त अन्य साधनों की विफलता का निरूपण
किस भगवदीय के लिए प्रकट हुआ	बूला मिश्र
भागवत स्कन्ध	12
अवस्था	यौवनावस्था
पुष्टिभक्ति का अंग	आश्रय

चतुःश्लोकी

कुल श्लोक संख्या	4
रचनाकाल संवत	1580
रचना स्थान	काशी
वर्णित विषय	पुष्टिमार्गीयचतुर्विधपुरुषार्थ का निरूपण
किस भगवदीय के लिए प्रकट हुआ	राणाव्यास, भगवानदास सांचोरा
भागवत स्कन्ध	8
अवस्था	यौवनावस्था
पुष्टिभक्ति का अंग	भक्ति

भक्तिवर्धिनी

कुल श्लोक संख्या	11
रचनाकाल संवत	1552
रचना स्थान	गुजरात
वर्णित विषय	भक्ति को बढ़ाने के उपायों का निरूपण
किस भगवदीय के लिए प्रकट हुआ	पुरुषोत्तम जोशी
भागवत स्कन्ध	9
अवस्था	यौवनावस्था
पुष्टिभक्ति का अंग	भक्ति

जलभेद

कुल श्लोक संख्या	21
रचनाकाल संवत	–
रचना स्थान	–
वर्णित विषय	भगवत्कथा करनेवाले वक्ता के भेद
किस भगवदीय के लिए प्रकट हुआ	–
भागवत स्कन्ध	1
अवस्था	प्रौढ़ावस्था
पुष्टिभक्ति का अंग	भक्ति

पञ्चपद्यानि

कुल श्लोक संख्या	5
रचनाकाल संवत	–
रचना स्थान	–
वर्णित विषय	श्रोता के भेद
किस भगवदीय के लिए प्रकट हुआ	–
भागवत स्कन्ध	1
अवस्था	प्रौढ़ावस्था
पुष्टिभक्ति का अंग	आश्रय

संन्यासनिर्णय

कुल श्लोक संख्या	22
रचनाकाल संवत	1551
रचना स्थान	बदरिकाश्रम
वर्णित विषय	भक्तिमार्गीयत्याग का निरूपण
किस भगवदीय के लिए प्रकट हुआ	नरहरि संन्यासी, एकविरक्त
भागवत स्कन्ध	11
अवस्था	प्रौढ़ावस्था
पुष्टिभक्ति का अंग	सेवा

निरोधलक्षण

कुल श्लोक संख्या	20
रचनाकाल संवत	1566
रचना स्थान	–
वर्णित विषय	निरोध के लक्षण एवं उपाय का निरूपण
किस भगवदीय के लिए प्रकट हुआ	राजा दुबे, माधव दुबे
भागवत स्कन्ध	10
अवस्था	वृद्धावस्था
पुष्टिभक्ति का अंग	समर्पण

सेवाफल

कुल श्लोक संख्या	$7^{1}/_{2}$
रचनाकाल संवत	1582
रचना स्थान	आगरा
वर्णित विषय	सेवा में अनुभूत होते फल एवं उसमें आते प्रतिबन्धों का निरूपण
किस भगवदीय के लिए प्रकट हुआ	विष्णुदास छीपा
भागवत स्कन्ध	12
अवस्था	वृद्धावस्था
पुष्टिभक्ति का अंग	सेवा

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	ग्रन्थ का नाम	पृ. सं.
1.	प्रस्तावना	1
2.	मंगलाचरणम्	6
3.	श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम्	36
4.	श्रीवल्लभाष्टकम्	45
5.	श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम्	69
6.	नामरत्नाख्यस्तोत्रम्	103
7.	श्रीयमुनाष्टकम्	110
8.	बालबोधः	163
9.	सिद्धान्तमुक्तावली	210
10.	पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः	306
11.	सिद्धान्तरहस्यम्	426
12.	नवरत्नम्	452
13.	अन्तःकरणप्रबोधः	478
14.	विवेकधैर्याश्रयः	497
15.	कृष्णाश्रयस्तोत्रम्	577
16.	चतुःश्लोकी	601
17.	भक्तिवर्धिनी	626
18.	जलभेदः	662
19.	पञ्चपद्यानि	759
20.	संन्यासनिर्णयः	783
21.	निरोधलक्षणम्	858
22.	सेवाफलम्	915
23.	पञ्चश्लोकी	939

प्रस्तावना

संक्षेप में हम सब इस ग्रन्थ की भूमिका को स्पष्ट रूप से समझ लेते हैं। यह ग्रन्थ किसलिए प्रकाशित किया गया है, हेतु क्या है इस ग्रन्थ का और अध्ययन-वर्ग चलाने का हेतु भी जान लें ताकि बाद में हमें एक-दूसरे के साथ बातचीत में किसी प्रकार का भ्रम न हो। सबसे पहले इसमें एक बात यह समझनी है कि आज जिस स्थिति से - जिस समय से हम गुजर रहे हैं, आज जिस समय में श्रीमहाप्रभुजी के नाम से यह सम्प्रदाय है, श्रीमहाप्रभुजी के नाम से हम सब बालक हैं, श्रीमहाप्रभुजी के नाम से नाम (दीक्षा) और ब्रह्मसंबंध लेनेवाले सब वैष्णव ही हैं परन्तु जो गायब है, जो अदृश्य है - वह है श्रीमहाप्रभुजी के सिद्धान्त, श्रीमहाप्रभुजी के वचनों से उपदिष्ट सिद्धान्त।

इस प्रकार इस समस्या में सबसे बड़ी कठिनाई यह आ रही है कि जिस समय में ऐसी अराजकता फैली हुई है - सभी काम अनियत ही करना और अर्थहीन सारी बातें स्वीकार करना - ऐसी स्थिति में किसको नियामक बनाना? ''जिसकी लाठी, उसकी भैंस'' - जैसे अराजकता के माहौल से हम गुजर रहे हैं। कोई पण्डित ऐसा नहीं है जो ग्रन्थों का अध्यापन कर सके। हम भी अपने ग्रन्थों को व्यवस्थित रूप से समझना नहीं चाहते। कोई वार्ता पढ़ कर सिद्धान्त प्रकट कर रहा है तो कोई परम्परा से सिद्धान्त निकाल रहा है।

मूल में यह ग्रन्थ प्रकाशित करने के पीछे हेतु यह है कि श्रीमहाप्रभुजी ने हमें जो आचारसंहिता सौंपी है कि इस प्रकार से काम करना है, उस सम्बन्ध में इस अराजकता के समय में कोई निर्णय नहीं हो सकता और इस अनिर्णीत अवस्था को कब तक सहन करना? जिसके मन में जैसा आता है वैसा ही श्रीमहाप्रभुजी के वचनों का अर्थ करता है। वचन का वचन की शुद्धता से, वचन का वचन की शब्द मर्यादा से जो तात्पर्य किया जाना चाहिए, उस सारी

मर्यादा को तोड़ कर यथेच्छ ढंग से कोई भी अर्थ करना तो फिर कौन किसे बताए और कौन किसे कहे?

मेरी एक ऐसी इच्छा थी कि सभी वैष्णवों के पास श्रीमहाप्रभुजी के वचनों की एक ऐसी पुस्तक उपलब्ध होनी चाहिए जिससे हम अपने अल्प पुरुषार्थ से उसका अर्थ समझ सकें, ईषत् प्रयत्न से उसका अर्थ समझ सकें। टीकाएँ, व्याख्याएँ सब मौजूद हैं परन्तु टीका, व्याख्या को समझने के लिए एक सम्पूर्ण अनुशासन चाहिए। समझने के लिए, पढ़ने या पढ़ाने के लिए वह अनुशासन भी हमारे दुर्भाग्य से उपलब्ध नहीं है। ऐसी स्थिति में ऐसी पठनीय पुस्तक हम प्राप्त कर सकें जिसके आधार पर हम कुछ समझ सकें तो वह बहुत उपयुक्त होगा।

एक बात ध्यान से समझें कि हम हैं इसलिए पुष्टिमार्ग होना चाहिए, यह बात बहुत अच्छी लगती है किन्तु इससे भी अच्छी बात यह है कि हम रहें या न रहें, पुष्टिमार्ग रहना चाहिए। हम महाराज के रूप में पूजे जाएँ या न पूजे जाएँ परन्तु पुष्टिमार्ग पूज्य रहना चाहिए। सभी वैष्णव महाराज की बात मानें या सभी बदमाश हो जाएँ, मानना हो तो मानें और न मानना हो तो न मानें, भाड़ में जाएँ परन्तु श्रीमहाप्रभुजी के वचन भाड़ में नहीं जाने चाहिए। श्रीमहाप्रभुजी के वचन हमारे समक्ष जैसे हैं, उस रूप में तैयार रहने चाहिए। साथ ही श्रीमहाप्रभुजी के वचनों का आशय समझ कर मार्ग पर चलना चाहिए; सामुदायिक रूप से नहीं बल्कि व्यक्तिगत रूप से। सभी इस लाभ से वंचित न रह जाएँ, मूल में इस हेतु से इस पुस्तक को पृथक रूप से तैयार किया है।

आप स्वयं क्रमबद्ध अध्ययन करें। इसे हम कह सकते हैं स्वयं शिक्षण ग्रन्थ माला (Teach yourself series), जैसे स्वयं जर्मन सीखें (Teach yourself German), स्वयं अंग्रेजी सीखें (Teach yourself English), स्वयं तर्कशास्त्र सीखें (Teach yourself Logic), स्वयं मनोविज्ञान सीखें

(Teach yourself Psychology), स्वयं संगीत सीखें (Teach yourself Music) इसी प्रकार स्वयं पुष्टिमार्ग को जानें (Teach yourself Pushtimarg)। यह एक क्रम है।

इस बात को ध्यान से समझें कि यह पुस्तक स्वयंशिक्षक के रूप में तैयार की गई है। इसे देखने-समझने के लिए एक दृष्टिकोण चाहिए। कारण यह है कि मूल सब संस्कृत में है। इसका हिन्दी, गुजराती अनुवाद हम करेंगे तो बहुत सरल हो जाएगा। अत: इस दृष्टि से इसको ग्रहण करना है। इससे अधिक अपेक्षा इस ग्रन्थ से रखना व्यर्थ है, इससे न्यून अपेक्षा भी इस ग्रन्थ से रखना व्यर्थ है। यह बात ध्यान से समझ लें। यह पुस्तक एक स्वयंशिक्षक ग्रन्थ के रूप में है कि जो व्यक्ति इसके आधार पर ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहता है, वह बाद में टीका आदि का गहराई से अध्ययन करे और समझे। इस विषय में जब जिसका अधिकार होगा, तब होगा किन्तु उससे पूर्व यह ग्रन्थ स्वयंशिक्षक के रूप में प्रत्येक वैष्णव के पास उपलब्ध होना चाहिए।

एक बात ध्यान से समझें कि जो अध्यापन की प्रक्रिया होगी, उस अध्ययन-अध्यापन की प्रक्रिया में (क्योंकि हमें एक सर्वांगीण अध्ययन करना है) कर्मकाण्ड के निर्वाह के लिए मैं श्लोकों का अर्थ आपको बताता रहूँगा। श्लोक में आने वाले शब्द का अर्थ मैं बताता रहूँगा परन्तु कृपा करके जो अर्थ मैं बता रहा हूँ उससे अधिक के बारे में कोई पूछताछ या प्रश्न न करें। क्यों? क्योंकि श्लोक के शब्दों के अर्थ आपको जानने हों तो अनुवाद है, टीकाएँ हैं, उनमें से देख लें। यहाँ श्लोक का अर्थ जानने के लिए हम अध्ययन नहीं कर रहे बल्कि प्रत्येक ग्रन्थ का सारांश समझना है। शब्द-श्लोक समझने के लिए सम्पूर्ण ग्रन्थ है जो कई-कई टीकाएँ पढ़ने से समझ में आनेवाली बात है। किसी संस्कृत टीका का गुजराती या हिन्दी अनुवाद करने से यह बात समझ में नहीं आती; इतना मैं डंके की चोट पर कह सकता हूँ।

अत: श्लोक के शब्द के अर्थ का अध्ययन करने हम यहाँ नहीं बैठे हैं और न अध्यापन का कोई यहाँ उपक्रम है, तथापि अध्यापन का क्रम सांगोपांग रहे, इसलिए अर्थ बताता रहूँगा परन्तु वह बहुत ही गौण बात होगी। इस अर्थ में बहुत अधिक ध्यान देने की अपेक्षा न रखें। जिस बात पर आपको ध्यान देना है, वह यह है कि प्रत्येक ग्रन्थ का सारांश क्या है।

Synopsis अर्थात् मकान बनाने के पहले जो मकान का ढाँचा - संरचना तैयार की जाती है। इसमें फिर दीवार उठाई जाती है, दीवार पर प्लास्टर किया जाता है, प्लास्टर पर रंग लगाया जाता है और फिर साज-सज्जा आदि की जाती है। इसके अतिरिक्त जो कुछ आता है वह बाद की कथा है। इस प्रकार यह आधारभूत संरचना है कि इस भवन में बीम कितने होंगे, खंभे कितने होंगे, माल कितना लगेगा - यही बात यहाँ बताई जा रही है। यह बात बताने के साथ-साथ मैं कर्मकाण्ड पूर्ण करने के लिए अर्थ बताऊँगा किन्तु उसके विस्तार की कोई मुझसे अपेक्षा न रखे और उस बारे में कोई मुझे प्रश्न न करे। यदि इसके ढाँचे को समझने में कोई कठिनाई आ रही है, तो प्रश्न जरूर पूछें। उसमें मुझे कोई इनकार नहीं, हम प्रश्नोत्तर के माध्यम से भी उसे समझेंगे।

अत: कोई गलत अपेक्षा इसमें न रखे कि किसी श्लोक के अर्थ का विस्तार मैं समझाने जा रहा हूँ। क्योंकि श्लोक के अर्थ को समझाने नहीं जा रहा हूँ। मैं ग्रन्थ की आधारभूत संरचना समझाने जा रहा हूँ कि अमुक ग्रन्थ की आधारभूत संरचना क्या है और जो कुछ भी अर्थ है वह सबके पास उपलब्ध है। उससे आप स्वयं अर्थ समझ सकते हैं। व्यर्थ में हैरान होने की आवश्यकता नहीं है कि इसका अर्थ तो नहीं हुआ, उसका अर्थ तो नहीं हुआ। ऐसी अपेक्षा न रखें और वह अपेक्षा पूर्ण करना भी कठिन है। मेरी यह बात सबको समझ में आ गई न? इस ग्रन्थ के श्लोकार्थ की अपेक्षा मुझसे न रखें। करूँगा श्लोकार्थ लेकिन उसके विस्तार में मुझे नहीं जाना है और वह बात मुझे समझानी भी नहीं है।

और एक बात ध्यान से समझें, विशेष रूप से, आप लोगों से कहूँगा कि प्रत्येक ग्रन्थ का सारांश समझाने का मैंने एक प्रयास किया है परन्तु यह कोई इदं इत्थं नहीं, अन्तिम नहीं है। क्योंकि यह ग्रन्थ देखेंगे तो इसमें स्वयं में भी मेरी अपनी बहुत सी भूलें ग्रन्थ प्रकाशित होने के बाद मिली हैं। जब मुझे ही मेरी कई भूलें मिली हैं तो दूसरों को भी मिल सकती हैं परन्तु भूलें मिल जाने से घबराने की आवश्यकता नहीं। आपको मिल जाएँ, मुझे मिल जाएँ और किसी दूसरे को भी मिल जाएँ तो उसमें घबराने की कोई बात नहीं है।

इस दिशा में हमें प्रयास करना पड़ेगा, आवश्यकता इस बात की है। भूलें इसमें एक नहीं, सौ निकलेंगी। सम्भवत: मुझे कुछ और भी मिल जाएँ तो हम उनको सुधारेंगे। इस प्रकार यह जो कुछ भी है, अन्तिम नहीं है बल्कि श्रीमहाप्रभुजी के ग्रन्थों को स्वयंशिक्षक के रूप में समझने के लिए उठाया गया एक कदम है। अत: न तो यह कोई आखिरी कदम है और न इतना कमजोर प्रयास है कि जिसमें दो-चार भूलें निकलने से घबराने की आवश्यकता पड़े। बिलकुल न घबराएँ। आपको त्रुटियाँ मिलें तो जरूर ढूँढकर लाएँ, न मिलें तो हम ढूँढते ही रहेंगे। इसकी निरन्तर प्रक्रिया में दूसरे-तीसरे संस्करण में पुन: संशोधन-परिवर्धन अवश्य करेंगे। अब हम मंगलाचरण से प्रारम्भ करते हैं।

*****

॥ मङ्गलाचरणम्॥

''चिन्ता सन्तान हन्तारो'' से ले कर ''षड्भिर् विराजते योऽसौ पञ्चधा हृदये मम'' - तक जो पाँच श्लोक हैं उनमें क्या कहा गया है, यह ध्यान से देखें। मंगलाचरण में क्या है? मंगलाचरण के पहले श्लोक में श्रीमहाप्रभुजी का वंदन है। दूसरे श्लोक में श्रीगुसांईजी ने श्रीगोपीनाथजी का वन्दन किया है परन्तु शब्द ऐसे प्रयुक्त किए हैं कि उन शब्दों से हम श्रीगुसांईजी का भी वन्दन कर सकते हैं। ऐसे शब्द नहीं हैं कि केवल श्रीगोपीनाथजी तक ही सीमित हों, शब्द ऐसे हैं कि इन शब्दों से हम श्रीगुसांईजी को भी वन्दन कर सकते हैं। उचित बात तो यह है कि इन दोनों बातों को ध्यान में रख कर हम श्रीगोपीनाथजी और श्रीगुसांईजी दोनों का ही वन्दन मान कर चल रहे हैं।

तीसरे श्लोक में गुरु का वन्दन है और चौथे तथा पाँचवें श्लोक में भगवद्वन्दना है। कारण यह है कि हमारा पुष्टिभक्तिमार्ग श्रीमहाप्रभुजी ने मुख्यत: भागवत में से ही उद्धृत किया है। हमने सर्वोत्तमस्तोत्र में देखा है - ''श्रीभागवतगूढार्थप्रकाशनपरायण:।'' श्रीभागवतगूढार्थप्रकाशनपरायण होने के कारण हमारे पुष्टिमार्ग का मुख्य और प्रथम प्रहार उपनिषद के, वेद के, ब्रह्मसूत्र के, गीता के अभागवत अर्थों पर है। जो अभागवत व्याख्याएँ थीं, उन व्याख्याओं पर प्रहार के रूप में यह भागवत के प्रकाश में है क्योंकि सर्वसंदेह वारक शास्त्र भागवत है। उस भागवत के प्रकाश में श्रीमहाप्रभुजी ने पुष्टिभक्तिमार्ग प्रकट किया है।

अत: भागवत के दशमस्कन्ध में वर्णित प्रभु के स्वरूप की श्रीमहाप्रभुजी ने इन दो श्लोक से वन्दना की है और ध्यान से देखें तो श्रीमहाप्रभुजी द्वारा भागवत के दशमस्कन्ध से इनकी वन्दना करने के साथ-साथ इसमें सुबोधिनी का भी एक छोटा सा भाग है। यह प्रारम्भिक वन्दना नहीं

है परन्तु पता नहीं किसने मंगलाचरण में इस श्लोक का समावेश किया है। जिसने भी समावेश किया है, वह हमारे पूरे पुष्टिमार्ग की व्यवस्था को देखते हुए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संकलन है, इसमें कोई दो मत नहीं हो सकते। स्पष्टरूप से न तो यह श्रीमहाप्रभुजी का है, न श्रीगुसांईजी का है, न किसी परवर्ती बालक का है किन्तु जिसने भी यह संकलन किया है, उस अनाम संकलनकर्ता का, पुष्टिमार्ग जबतक जीवित रहेगा तबतक आभारी तो रहेगा ही। ऐसा सुन्दर हमारे पुष्टिमार्ग का मंगलाचरण है। यह इतना सुन्दर है इसलिए सदा सभी कार्यक्रमों में यह मंगलाचरण समाविष्ट करने का आग्रह रखता हूँ।

ध्यान से देखें तो इसे मैंने (**आचार्य-गुरु-भगवद्-वन्दनानि**) शीर्षक दिया है। आचार्य कह कर श्रीमहाप्रभुजी, श्रीगोपीनाथजी, श्रीगुसांईजी तीनों का वन्दन किया है। गुरु का वंदन ''अज्ञानतिमिरान्धस्य'' में और ''नमामि हृदये शेषे'' से ले कर ''पञ्चधा हृदये मम'' तक भगवद्-वन्दना है, उनका स्वरूप बताया है। इस प्रकार मूलतः क्रमबद्धरूप से देखें तो इसमें तीन वन्दन हैं। श्लोक के रूप से देखें तो पाँच श्लोक हैं परन्तु वन्दन इसमें तीन हैं। एक आचार्य (श्रीमहाप्रभुजी, श्रीगोपीनाथजी, श्रीगुसांईजी) वन्दन है, एक गुरु वन्दन और एक भगवद्-वन्दन है।

''चिन्तासन्तानहन्तारो'' तथा ''यदनुग्रहतो जन्तुः'' श्लोक श्रीगुसांईजी कृत हैं, ''अज्ञानतिमिरान्धस्य'' श्लोक पूरी भारतीय संस्कृति में बहुत प्रसिद्ध श्लोक है। यह पुष्टिमार्गीय श्लोक नहीं है परन्तु यहाँ उसका समावेश किया गया है।

(आचार्यचरण[1], श्रीगोपीनाथ-श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरण[2], स्वमार्गीय ज्ञानोपदेशक गुरु[3] और भागवतदशमस्कन्धार्थरूप भगवान[4] का वंदन)

चिन्ता-सन्तान-हन्तारो यत्-पादाम्बुज-रेणवः।
स्वीयानां तान्निजाचार्यान् प्रणमामि मुहुर्मुहुः।।1।।

अन्वयार्थ :

यत्पादाम्बुजरेणवः = जिनके चरणकमल का पराग
स्वीयानां = निज-जन की
चिन्तासन्तानहन्तारः = चिन्ता की संतति का नाश करनेवाला है
तान् = उनको
निजाचार्यान् = निजाचार्यचरण को
मुहुः-मुहुः = पुनः - पुनः
प्रणमामि = प्रणाम करता हूँ

भावार्थ : पुष्टिमार्गीय जीवों की भगवद्भक्ति अथवा भगवत्प्रपत्ति सम्बन्धी एक चिन्ता से प्रकट होनेवाली दूसरी चिन्ता और इस प्रकार चिन्ताओं की सन्तति को जिनके चरणकमल की रेणु हरनेवाली है, ऐसे पुष्टिमार्गाचार्य श्रीमहाप्रभु को मैं बारम्बार प्रणाम करता हूँ।

व्याख्या :

''चिन्तासन्तानहन्तारो'' - जो पुष्टिभक्ति के भाव को खण्डित करने वाली चिन्ताएँ हैं और इन चिन्ताओं से उत्पन्न होनेवाली चिन्ताओं की सन्तति अर्थात् परम्पराएँ हैं, उनको खत्म करनेवाली श्रीमहाप्रभुजी के चरणकमल की यह रेणु है। ऐसे ''स्वीयानां तान् निजाचार्यान्'' हैं। 'स्वीयानां' अर्थात् आचार्यचरण सबके आचार्यचरण नहीं हैं, स्वीयानां हैं। अनेक प्रकार के आचार्य हो सकते हैं। जैसे हम वेदमार्ग पढ़ने गए तो वेदमार्ग के आचार्य स्वीयानां हो सकते हैं, हम कोई कर्म करने गए तो कर्ममार्ग के आचार्य स्वीयानां हो सकते हैं, हम किसी से भी कुछ पढ़ने गए तो वे भी स्वीयानां आचार्य हो

सकते हैं परन्तु हमारे निजाचार्य नहीं हो सकते। आचार्यचरण स्वीयानां हैं और निजाचार्य हैं अर्थात् इस पहलू से भी और दूसरे पक्ष से भी पुष्टिमार्गियों के लिए पुष्टिमार्गीय आचार्य हैं। ऐसे आचार्यचरण का प्रथम श्लोक में वन्दन किया गया है।

यदनुग्रहतो जन्तुः सर्वदुःखातिगो भवेत्।
तमहं सर्वदा वन्दे श्रीमद्वल्लभ-नन्दनम्।।2।।

अन्वयार्थ :

यदनुग्रहतो = जिनकी कृपा से
जन्तुः = जीवों के
सर्वदुःखातिगो = सब दुःखों से पार करनेवाले
भवेत् = होते हैं, **तं** = उन
श्रीमद्वल्लभनन्दनम् = श्रीमहाप्रभुजी के पुत्र श्रीगोपीनाथजी को
अहं = मैं, **सर्वदा** = सदा
वन्दे = वन्दन करता हूँ

भावार्थ : जन्म लेकर सांसारिक दुःखों के सागर में डूबने जा रहे जीव जिनके अनुग्रह से सब दुःखों से बच जाते हैं, ऐसे श्रीमद्वल्लभाचार्य महाप्रभु के आत्मज का मैं सर्वदा वन्दन करता हूँ।

व्याख्या :

जैसा मैंने आपको बताया है कि श्रीगुसांईजी ने यह श्लोक अपने बड़े भाई श्रीगोपीनाथजी के लिए लिखा है। जिनके अनुग्रह से ''सर्वदुःखातिगो भवेत्।'' इसमे सर्वाधिक ध्यान में रखनेवाली बात यह है कि हम पुष्टिमार्गियों ने श्रीगोपीनाथजी के विषय में कई प्रकार की ऊटपटांग कल्पनाएँ की हुई हैं कि श्रीगोपीनाथजी मर्यादामार्गीय थे, आदि-आदि। अपनी ये कल्पनाएँ कम से

कम श्रीगुसांईजी को मान्य नहीं, यह इस बात का प्रमाणभूत श्लोक है।

श्रीगुसांईजी स्पष्ट आज्ञा करते हैं कि - ''यदनुग्रहतो जन्तुः सर्वदुःखातिगो भवेत्'' - जिनके अनुग्रह से कोई भी जीव सभी दुःखों से अतिगामी हो सकता है, सभी दुःखों को पार करके प्रभु को प्राप्त कर सकता है।''तमहं सर्वदा वन्दे श्रीमद्वल्लभ-नन्दनम्'' - यह बात श्रीगुसांईजी, श्रीगोपीनाथजी के लिए कह रहे हैं इसलिए श्रीगोपीनाथजी के विषय में जो हमारी समझ है, वैसी समझ श्रीगुसांईजी की नहीं है। इसके प्रमाणस्वरूप यह श्लोक है। अब एक दूसरी बात समझें कि इस श्लोक में ऐसे शब्द प्रयुक्त नहीं हुए हैं जिनसे निश्चितरूपेण श्रीगोपीनाथजी को इंगित करनेवाला अर्थ निकले बल्कि श्रीगुसांईजी को इंगित करनेवाला अर्थ भी निकल रहा है। इसलिए अपनी परम्परा में प्रायः यह भ्रान्त धारणा रही है कि इस श्लोक में श्रीगुसांईजी का वन्दन किया गया है।

यह बात भी सावधानीपूर्वक समझें कि श्रीगुसांईजी स्वयं का वन्दन तो नहीं ही करेंगे, श्रीगुसांईजी ने अपने बड़े भाई का वंदन किया है और श्लोक के शब्द इस प्रकार के हैं कि उनसे चाहें तो श्रीगुसांईजी का भी वन्दन कर सकते हैं। व्यर्थ में दोनों भाइयों के बीच नारद विद्या करके झगड़ा कराना! इसलिए एक 'वल्लभनंदन' शब्द से दोनों भाइयों को आनन्दपूर्वक हम वन्दन कर सकते हैं। एक नीतिगत दृष्टि से इस बात को समझें।

अज्ञान-तिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जन-शलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः।।3।।

अन्वयार्थ :

येन = जिनके द्वारा
अज्ञानतिमिरान्धस्य = अज्ञान रूपी अंधकार से अंधत्व को प्राप्त होनेवालों की
(मम = मेरी) **चक्षुः** = आँख को

ज्ञानाञ्जनशलाकया = ज्ञान रूपी अंजनशलाका से
उन्मीलितं = खोली हैं, **तस्मै** = उन
श्रीगुरवे = गुरु को, **नमः** = नमन हो

भावार्थ : जिन्होंने अज्ञान रूपी अंधकार से अंधे हुए मेरे जैसों की आँखों को ज्ञानांजन की उपदेश-शलाका से खोल दिया है, उन गुरु को मेरे नमस्कार।

व्याख्या :

अज्ञान रूपी अंधकार से हम अंधे हो गए हैं, ज्ञानांजन की शलाका से हमारी आँखें खोलनेवाले श्रीगुरु को नमस्कार।

नमामि हृदये शेषे लीला-क्षीराब्धि-शायिनम्।
लक्ष्मी-सहस्र-लीलाभिः सेव्यमानं कलानिधिम्।।4।।
चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च त्रिभिस्तथा।
षड्भिर् विराजते योऽसौ पञ्चधा हृदये मम।।5।।

अन्वयार्थ :

शेषे = शेष में, **हृदये** = हृदय में
लक्ष्मीसहस्रलीलाभिः = हजारों लक्ष्मी और लीलाओं से
सेव्यमानं = सेवित
लीलाक्षीराब्धिशायिनम् = लीलारूपी क्षीर सागर में शयन करनेवाले
कलानिधिं = कला के निधि को
नमामि = नमन करता हूँ
यः = जो, (**श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धान्तर्गताद्यैः** = श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध के अन्तर्गत जो)
चतुर्भिः = चार से (**अध्यायैः** = अध्यायों से)
च = और, (**पञ्चमाद् आरभ्य सप्त-सप्ताध्यायात्मकैः** = पाँचवें से ले कर

सात-सात अध्याय से)
चतुर्भिः = चार से (**तामस-प्रमाण-प्रमेय-साधन-फल-रूपप्रकरणैः** = तामस-प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलरूप प्रकरणों से)
च = और (**षट्त्रिंशाध्यायाद् आरभ्य सप्त-सप्ताध्यायात्मकैः** = 36वें अध्याय से ले कर सात-सात अध्याय से)
चतुर्भिः = चार से (**राजस-प्रमाण-प्रमेय-साधन-फल-रूपप्रकरणैः** = राजस-प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलरूप प्रकरणों से)
च = और (**चतुःषष्ठितमाध्यायाद् आरभ्य सप्त-सप्ताध्यायात्मकैः** = 64वें अध्याय से ले कर सात-सात अध्याय से)
त्रिभिः = तीन से (**सात्त्विक-प्रमेय-साधन-फलरूपप्रकरणैः** = सात्त्विक-प्रमेय-साधन-फलरूप प्रकरणों से)
तथा = और (**पञ्चाशीतितमाध्यायाद् आरभ्य आस्कन्धसमाप्तिः** = 85 से ले कर स्कन्ध की समाप्ति तक)
षड्भिः = छः से (**अध्यायैः** = अध्यायों से)
असौ = ये, **पञ्चधा** = पाँच प्रकार से
मम = मेरे
हृदये = हृदय में
विराजते = विराजमान हैं (**तं नमामि** = उनको नमन करता हूँ)

भावार्थ : शेषशय्या पर और हृदय में अथवा शेषरूप हृदय में; लक्ष्मी की अपरिगणित लीलाओं से सेव्यमान अथवा सहस्रावधि लक्ष्मीरूप पुष्टिभक्तों के द्वारा की जाती लीलाओं से सेव्यमान; लीला में और क्षीराब्धि में विराजमान अथवा लीलारूप क्षीराब्धि में विराजमान; चौसठ कलाओं के निधि, दशमस्कन्धोक्त लीलाविहारी प्रभु को नमन करता हूँ। यहाँ दशमस्कन्ध के आरम्भ के चार अध्यायों को प्रथम 'जन्म प्रकरण' कहा जाता है। पाँचवें अध्याय से प्रारम्भ करके बत्तीसवें अध्याय तक द्वितीय प्रकरण में तामसप्रमाण,

तामसप्रमेय, तामससाधन तथा तामसफल ये चार उप-प्रकरण हैं। बत्तीसवें अध्याय से प्रारम्भ करके साठवें अध्याय तक तृतीय प्रकरण में राजसप्रमाण, राजसप्रमेय, राजससाधन तथा राजसफल के चार उप- प्रकरण हैं। इकसठवें अध्याय से इक्यासीवें अध्याय तक चतुर्थ प्रकरण में सात्त्विकप्रमेय, सात्त्विकसाधन और सात्त्विकफल के तीन उप-प्रकरण हैं। बयासीवें अध्याय से अध्याय सतासी तक पंचम गुण प्रकरण है। इस प्रकार पाँच प्रकरणों में वर्णित लीलाओं को करनेवाले प्रभु मेरे हृदय में विराजते हैं, उनको मैं नमन करता हूँ।

व्याख्या :

चौथे श्लोक का सुबोधिनी और टिप्पणी के अनुसार बहुत ही विस्तृत अर्थ है किन्तु उस विस्तार में जाना अपेक्षित नहीं है। संक्षेप में, शेषात्मक हृदय में लीलाक्षीराब्धि में शयन करनेवाले सहस्र लक्ष्मियों के साथ जो सेव्यमान कलानिधि प्रभु हैं उनको मैं नमन करता हूँ। दशमस्कन्ध के जन्म-प्रकरण के चार अध्याय और तामसप्रकरण के चार उप-प्रकरण (अर्थात् प्रमाण-प्रमेय-साधन-फल), इसी प्रकार राजसप्रकरण के प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल के चार उप-प्रकरण और सात्त्विकप्रकरण के प्रमाणरहित प्रमेय, साधन और फल तीन उप-प्रकरण तथा अन्तिम गुणप्रकरण के छः अध्याय। इनकी गणना करके देखेंगे तो ज्ञात होगा।

4 + 28 + 28 + 21 + 6 = 87 इन सभी अध्यायों में जिन कृष्ण का वर्णन हुआ है वे कृष्ण 'पञ्चधा हृदये मम' - मेरे (श्रीमहाप्रभुजी के) हृदय में विराजमान हैं। भागवत के दशमस्कन्ध के मंगलाचरण के रूप में यह मुख्य है। क्योंकि प्रभु का हृदय में विराजमान होना ही सर्वाधिक बड़ा मंगल है। अतः नमामि रूप से नमनात्मक मंगल तो प्रथम श्लोक में किया ही है और दूसरे श्लोक में सभी बातों का संकलन करके श्रीमहाप्रभुजी ने हृदय में प्रभु के विराजमान होने को मंगलरूप मान कर मंगलाचरण किया है।

इसके पश्चात् छठा और सातवाँ श्लोक आता है। मुझे नहीं मालूम कि किसके लिखे हुए हैं, कोई कहते हैं कि हरिरायजी कृत हैं और कोई किसी और का बताते हैं। मुझे इदं इत्थंतया निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है कि किसके लिखे हुए हैं परन्तु बहुत ही सुन्दर श्लोक हैं।

(श्रीमहाप्रभु[1-8] श्रीप्रभुचरण[9-10] प्रादुर्भावितस्वरूपादीनां ध्यानम्)

इस श्लोक के शीर्षक में श्रीमहाप्रभुजी तथा श्रीप्रभुचरण द्वारा प्रादुर्भावित स्वरूप अर्थात् पुष्ट किए गए स्वरूप तथा जिन-जिन स्वरूपों का ध्यान किया गया है, उनको हम देखते जाएंगे। इसमें ध्यान से देखें तो 1 से 8 तक श्रीमहाप्रभुजी के प्रादुर्भावित स्वरूप हैं और 9 तथा 10 श्रीगुसांईजी के प्रादुर्भावित स्वरूप हैं। क्रम संख्या देखने से आपको ज्ञात होगा कि किनके द्वारा कौनसा स्वरूप प्रादुर्भावित है।

श्रीगोवर्धननाथ[1]-पाद-युगलं हैयङ्गवीन-प्रियं[2]
नित्यं श्रीमथुराधिपं[3] सुखकरं श्रीविट्ठलेशं[4] मुदा।
श्रीमद्द्वारवतीश[5]-गोकुलपती[6] श्रीगोकुलेन्दुं[7] विभुं।
श्रीमन्मन्मथ-मोहनं[8] नटवरं[9] श्रीबालकृष्णं[10] भजेत्।।6।।

अन्वयार्थ :

श्रीगोवर्धननाथपादयुगलम् = प्रथम निधि श्रीगोवर्धननाथजी के चरणकमलों को

हैयङ्गवीनप्रियम् = ताजा मक्खन जिनको प्रिय है, ऐसे श्रीनवनीतप्रियजी द्वितीय निधि को

श्रीमथुराधिपम्= तीसरे निधि श्रीमथुराधीश को

श्रीविट्ठलेशम् = चौथे निधि श्रीविट्ठलनाथजी को

श्रीमद्द्वारवतीश (म्)= पांचवें निधि श्रीद्वारकाधीशजी को
गोकुलपती = छठे निधि श्रीगोकुलनाथजी को
श्रीगोकुलेन्दुम् = सातवें निधि श्रीगोकुलचन्द्रमाजी को
श्रीमन्मन्मथमोहनम् = आठवें निधि श्रीमदनमोहनजी को
नटवरम् = नवम निधि श्रीनटवरजी को
श्रीबालकृष्णम् = दशम निधि श्रीबालकृष्णजी को
सुखकरं = सुख करनेवाले
विभुं = प्रभु को
मुदा = आनन्दपूर्वक
नित्यं = सदा (**अहं** = मैं)
भजेत् = भजता हूँ

भावार्थ : श्रीगोवर्धननाथजी, श्रीनवनीतप्रियजी, श्रीमथुराधीशजी, श्रीविट्ठलनाथजी, श्रीद्वारकाधीशजी, श्रीगोकुलनाथजी, श्रीगोकुलचन्द्रमाजी, श्रीमदनमोहनजी, श्रीनटवरलालजी, श्रीबालकृष्णलालजी – इतने स्वरूपों ने प्रभुचरण श्रीगुसांईजी के घर में एक साथ विराज कर सातों बालक – बेटीजी, बहूजी सहित श्रीप्रभुचरण को अलौकिक सेवा–सुख दिया था। इसलिए मैं भी मुदित हो कर नित्य इन स्वरूपों का ध्यानात्मक भजन करता हूँ।

व्याख्या :

सर्वप्रथम श्रीगोवर्धननाथपादयुगलम् अर्थात् श्रीनाथजी फिर श्रीनवनीतप्रियजी, श्रीमथुरानाथजी, श्रीविट्ठलनाथजी, श्रीमद्द्वारकानाथजी, 'गोकुलपति' अर्थात् श्रीगोकुलनाथजी, 'श्रीगोकुलेन्दु' अर्थात् श्रीगोकुलचन्द्रमाजी, श्रीमन्मन्मथमोहन–ये क्रमांक 1 से 8 तक के श्रीठाकुरजी श्रीमहाप्रभुजी ने प्रकट किए और 9 से 10 अर्थात् श्रीनटवरजी तथा श्रीबालकृष्णजी, श्रीगुसांईजी द्वारा पुष्ट किए हुए हैं।

इन सब श्रीठाकुरजी का नित्य ध्यानात्मक भजन करता हूँ। प्राचीन वचनामृत में यह बात आती है कि इन सब श्रीठाकुरजी की श्रीगुसांईजी ने किसी समय एक सिंहासन पर एक साथ पधरा कर सेवा की थी। ये सब एक सिंहासन पर विराजे, यह हमारे लिए सबसे बड़ा महोत्सव है। इसमें श्रीठाकुरजी के छोटे–बड़े होने का कोई महत्त्व नहीं है बल्कि ये सब श्रीठाकुरजी एक सिंहासन पर श्रीगुसांईजी के घर में विराजे, उसका हम उत्सव मनाते हैं।

जैसे सुरेश बाबा के यहाँ मैंने एक मजेदार बात देखी कि किसी समय श्रीगोकुलनाथजी के साथ श्रीविट्ठलनाथजी अथवा श्रीमदनमोहनजी ठाकुरजी विराजते थे। इसलिए आज भी जब वहाँ राजभोग आता है तो उत्सव के रूप में एक थाल अलग से पधराते हैं, एक गादी अलग आती है। यद्यपि केवल गादीजी विराजते हैं परन्तु उत्सव किया जाता है कि हमारे श्रीठाकुरजी के साथ अमुक श्रीठाकुरजी विराजते हैं। जैसे किसी को ऐसा उत्सव करने की इच्छा होती है उसी प्रकार हमें भी यह इच्छा होती है कि इतने श्रीठाकुरजी एक साथ श्रीगुसांईजी के घर विराजे तो हम उत्सव मनाने के हेतु से इसको इस प्रकार मनाते हैं। पूर्व–पुरुषों ने ऐसे बहुत सुन्दर उत्सव किए हैं।

जैसे तिलकायत के घर में भी श्रीनवनीतप्रियजी जब राजभोग आरोगते हैं तब श्रीनाथजी की एक अलग से गादी बिछाई जाती है, एक अलग से थाल भी आता है, पास में ही अलग से उनका सब क्रम होता है। यह परिपाटी उत्सव मनाने के हेतु से है। पास में ही विराजते हैं, एक गली का ही अन्तर है फिर भी अलग से थाल, अलग से गादी, सब अलग से आता है। मूल में इससे अधिक भेद की अन्य कोई बात इसमें नहीं है। इसमें यदि हम ऐसा सोचते हैं कि श्रीनाथजी बड़े और श्रीनवनीतप्रियजी छोटे अथवा श्रीनवनीतप्रियजी बड़े और श्रीनाथजी छोटे तो ये सब वाहियात बातें हैं। श्रीठाकुरजी में छोटे–बड़े कोई नहीं

होते। सभी श्रीठाकुरजी समान हैं।

श्रीमद्वल्लभ-विट्ठलौ गिरिधरं गोविन्दरायाभिधम्
श्रीमद्बालकृष्ण-गोकुलपती नाथं रघूणांस्तथा।
एवं श्रीयदुनायकं किल घनश्यामं च तद्वंशजान्
कालिन्दीं स्वगुरुं गिरिं गुरुविभुं स्वीयप्रभूंश्च स्मरेत्।।7।।

अन्वयार्थ :

श्रीमद्वल्लभ-विट्ठलौ = श्रीमहाप्रभुजी और श्रीगुसांईजी का
गिरिधरं = श्रीगिरिधरजी का
गोविन्दरायाभिधं = श्रीगोविन्दरायजी का
श्रीमद्बालकृष्ण-गोकुलपती = श्रीबालकृष्णजी और श्रीगोकुलनाथजी का
तथा = और
रघूणां नाथम् = श्रीरघुनाथजी का
श्रीयदुनायकं = श्रीयदुनाथजी का
घनश्यामं = श्रीघनश्यामजी का
एवं = और
किल = इसी प्रकार से
तद्वंशजान् = उनके वंशजों का
च = और, **कलिन्दीं** = श्रीयमुनाजी का
स्वगुरुं = अपने गुरु का
गिरिं = श्रीगिरिराजजी का
गुरु (सेव्य) विभुं = गुरु के सेव्यप्रभु का
स्वीयप्रभून् च = और अपने माथे विराजते प्रभु का
स्मरेत् = स्मरण करना चाहिए

भावार्थ : श्रीमद्वल्लभाचार्य महाप्रभु, श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरण, श्रीगिरधरजी, श्रीगोविन्दरायजी, श्रीबालकृष्णजी, श्रीगोकुलनाथजी, श्रीरघुनाथजी, श्रीयदुनाथजी, श्रीघनश्यामजी तथा इनके वंशज और श्रीयमुनाजी, अष्टाक्षरमंत्र तथा ब्रह्मसंबंधमंत्र प्रदान करनेवाले गुरु श्रीगोवर्धनगिरि, अपने दीक्षादाता गुरु के सेव्यस्वरूप तथा निजसेव्यस्वरूप का स्मरण करना चाहिए।

व्याख्या :

इसके पश्चात् श्रीमहाप्रभुजी, श्रीविट्ठलनाथजी, श्रीगिरधरजी, श्रीगोविन्दरायजी, श्रीबालकृष्णजी, श्रीगोकुलनाथजी, श्रीरघुनाथजी, श्रीयदुनाथजी, श्रीघनश्यामजी, तद्-वंशजान् = उनके वंशजों का, कालिन्दी-श्रीयमुनाजी, स्वगुरुम्-अपने दीक्षादाता गुरु, गिरि अर्थात् श्रीगिरिराजजी, गुरुविभुं अर्थात् गुरु के माथे विराजते श्रीठाकुरजी और अन्त में स्वीयप्रभूंश्च स्मरेत्। जिनके माथे श्रीठाकुरजी नहीं विराजते वे सब पुष्टिमार्ग में दुष्ट विधवाएँ हैं और जिनके यहाँ श्रीठाकुरजी विराजते हैं वे सब सधवाएँ हैं। यह बात समझनेवाली है कि अन्त में-'स्वीयप्रभूंश्च स्मरेत्'-आपके माथे विराजनेवाले श्रीठाकुरजी का स्मरण आवश्यक है। सबका स्मरण करना ठीक है परन्तु अपने श्रीठाकुरजी को भूल गए तो सब चौपट हो गया।

इसमें यह नहीं समझना चाहिए कि स्वीयप्रभु अन्त में आए इसलिए गृहठाकुर छोटे हो जाते हैं। इस प्रकार श्रीठाकुरजी में छोटे-बड़े का भेद करना नितान्त अपुष्टिमार्गीय और घोर सत्यानाशी प्रकार है। समझनेवाली बात इतनी ही है कि इन सब स्वरूपों के कारण अपने माथे विराजनेवाले श्रीठाकुरजी को भूल न जाएँ अथवा हमारे माथे विराजते स्वरूप के कारण इन सब स्वरूपों को

न भूल जाएँ। परम्परा से ये हमारे पुष्टिमार्ग में जिस प्रकार से सेव्य हैं, वह सन्तुलित दृष्टिकोण ही यहाँ बताया जा रहा है।

इसके पश्चात् एक श्लोक भागवत का आ रहा है जो मंगलाचरण में संकलित है। भागवत के इस श्लोक को हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि हमारी सेवा और हमारी कथा अर्थात् जिस स्वरूप की हम सेवा कर रहे हैं और जिस स्वरूप की हम कथा कर रहे हैं उसकी सेवनीयता और कथनीयता अथवा स्मरणीयता कैसी है? ''स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यम् इति मे मतिः'' – आगे जाकर चतुःश्लोकी में श्रीआचार्यचरण कहेंगे।

उस सेवनीय और स्मरणीय–भजनीय, भजनीय और स्मरणीय रूप की स्मरणीयता और भजनीयता को आधार प्रदान करनेवाले प्रभु का स्वरूप कैसा है? उस स्वरूप को अपने यहाँ प्रमेयरूप माना है, वह प्रथम प्रमेय है। उसे समझेंगे तो उसकी स्मरणीयता और भजनीयता निभेगी और प्रभु के स्वरूप को नहीं समझेंगें तो उसकी स्मरणीयता और भजनीयता नहीं निभ सकेगी। यह स्मरणीयता और भजनीयता हम पुष्टिमार्गियों का परम कर्तव्य है, ''स्मरणं भजनं चापि'' – अत्याज्य कर्तव्य है। श्रीमहाप्रभुजी के मत में भगवत्स्मरण, भगवद्भजन और अत्याज्य कर्तव्य को आधार प्रदान करनेवाले प्रमेयरूप प्रभु का यहाँ निरूपण किया गया है।

(प्रमेयरूपभगवद्ध्यानम्) – प्रमेयरूप भगवान का ध्यान।

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीञ्च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दैः
वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः ।।8।।

अन्वयार्थ :

बर्हापीडं= मोरमुकुट को
(**बिभ्रद्** = धारण करनेवाले)
नटवरवपुः = नट का और वर का सा स्वरूप
(**बिभ्रद्** = धारण करनेवाले)
कर्णयोः = दोनों कानों पर
कर्णिकारं = कनेर के फूलों को
(**बिभ्रद्** = धारण करनेवाले)
कनककपिशं = स्वर्ण वर्ण के
वासः = वस्त्रों को, (**बिभ्रद्** = धारण करनेवाले)
च = और, **वैजयन्तीं** = पाँच प्रकार के फूलों से बनी वैजयन्ती की
मालां = माला को
बिभ्रद् = धारण करनेवाले
अधरसुधया = अधरामृत से
वेणोः = वेणु के
रन्ध्रान् = छिद्रों को
पूरयन् = पूरित करते हुए
गोपवृन्दैः = ग्वालों के समूह के द्वारा
गीतकीर्तिः = जिनकी कीर्ति का गान किया जाता है, वे
स्वपदरमणं = अपने चरणों से रमणीय बनाते हुए
वृन्दारण्यं = वृन्दावन में
प्राविशद् = प्रवेश किया

भावार्थ : श्रीमस्तक पर मयूरपिच्छ का स्तबक धारण करके, नट का और वर का सा वपु धारण करके, कानों पर कनेर के पुष्पों को धारण करके, कनक वर्ण

के वस्त्र धारण करके और वैजयन्ती वनमाला धारण करके, अपने अधरों में विराजमान सुधा से वेणु के रन्ध्रों को पूरित करते हुए, संगी-साथी गोप-बालक जिनकी कीर्ति का गान करते हैं, ऐसे प्रभु अपने भक्ति रूपी चरणकमलों से वृन्दावन को रमणीय बनाते हुए, वृन्दावन में प्रविष्ट हुए।

व्याख्या :

बर्हापीडं अर्थात् हम जन्माष्टमी जैसे बड़े-बड़े उत्सव के दिन श्रीठाकुरजी को जो जोड़ धराते हैं वह; चार-पांच मोर पिच्छ लगा कर जो जोड़ बनाया जाता है, उसे बर्हापीड कहा जाता है। अतः जब हमसे प्रभु संयुक्तसेवा ले रहे हैं तो बर्हापीडं नटवरवपु प्रभु का स्वरूप कैसा है? यहाँ एक बात ध्यान से समझें कि इस श्लोक में सेवा का संदर्भ नहीं है, लीला का संदर्भ है अर्थात् हमारे समक्ष प्रकट हो कर जब लीला कर रहे हैं वह स्वरूप अथवा हमारे समक्ष प्रकट हो कर जब लीला नहीं कर रहे बल्कि हम प्रभु का विप्रयोग कर रहे हैं, वह स्वरूप।

इस प्रकार जब प्रकट हो कर लीला कर रहे हैं तो वह स्वरूप वरवपु है और जब प्रकट हो कर लीला नहीं कर रहे हैं परन्तु हम प्रभु का स्मरण कर रहे हैं तो वह नटवपु है। यों प्रभु के दो रूप हैं परन्तु नट कोई अन्य स्वरूप और वर कोई अन्य स्वरूप हो, ऐसा नहीं है। यही तो बालक छल-छद्म फैला रहे हैं। कोई बालक कहते हैं कि भजनीय एक अलग स्वरूप है और अमुक स्वरूप मात्र स्मरणीय है। यदि नट एक स्वरूप है और वर दूसरा स्वरूप है तो आपका प्रमेय खण्डित हो गया।

जब इस श्लोक पर ध्यान देंगे तो सारी बात समझ में आ जाएगी कि नट और वर दो रूप हैं परन्तु दो अलग स्वरूप नहीं हैं। एक ही स्वरूप के दो रूप हैं। दो रूपवाले दो पृथक् स्वरूप नहीं हैं कि एक सेवनीयस्वरूप है और दूसरा स्मरणीयस्वरूप है एवं स्मरणीयस्वरूप की सेवा नहीं करनी है तथा

सेवनीयस्वरूप का स्मरण नहीं करना है। नटवरवपु में इस प्रकार का विखण्डन पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त नहीं था।

यह श्लोक यहाँ इसलिए संकलित किया है कि सेवा-कथा को समझ लेने से यह समझ जाएंगे कि षोडशग्रन्थोक्त सेवा-कथा के आधारभूत प्रमेय रूप भगवान का यहाँ वर्णन किया गया है। यह श्लोक किसने संकलित किया, यह प्रश्न नहीं है। यह तो स्पष्ट है कि यह मंगलाचरण श्रीमहाप्रभुजी, श्रीगुसांईजी या सात बालकों में से किसी के द्वारा भी संकलित नहीं है। यह बात हम मंगलाचरण की शब्दावली से स्पष्ट समझ सकते हैं। जिन्होंने भी इस श्लोक का संकलन किया है, वे सम्माननीय हैं।

पुष्टिमार्ग कभी भी उनसे उऋण नहीं हो सकता, इतने सुन्दर सभी श्लोक हैं। मंगलाचरण में भूले बिना इस श्लोक को संकलित करने का हेतु यह है कि भागवत के अठारह हजार श्लोकों में से एक श्लोक ऐसा खोजना हो जो हमारी पूरी सेवा-कथा की प्रणाली का आधारस्तम्भ बन जाए तो वह यह श्लोक है।

''बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं'' - अर्थात् कान में श्रीठाकुरजी ने कनेर के फूल धारण किए हैं; हीरा, मोती, पन्ना, माणिक के कोई कुण्डल नहीं हैं। आजकल व्रज में ये फूल मिलते हैं या नहीं, मुझे नहीं मालूम परन्तु जिस समय की यह बात है, उस जमाने में व्रज में कनेर के पुष्प बहुत मिलते थे, सबसे सस्ते फूल। यह श्रीठाकुरजी की मस्ती का वर्णन है कि सबसे सस्ते फूल कान में धारण किए हैं। गोचारण करके पधार रहे हैं। ''बिभ्रद् वासः कनककपिशं'' - पीतांबर धारण किया हुआ है। ''वैजयन्तीं च मालां'' वैजयन्ती माला-किन्हीं मूल्यवान रत्नों की माला नहीं है। जितने वन्य प्रसून - जंगल के फूल हैं, उन सब फूलों से बनाई जानेवाली एक बहुत सुन्दर माला है।

हम जिस प्रयास से पुष्टिमार्ग में माला तैयार करते हैं वह माला का बहुत शुद्ध प्रकार है, यह ऐसा प्रकार नहीं है, जो हाथ में आ गया उसे पिरो लिया - फूल-पत्ते इन सबको पिरो कर बनाई हुई माला धारण की हुई है। इन सबमें श्रीठाकुरजी की मस्ती का वर्णन है कि हमारे नटवरवपु कैसे मस्तराम हैं। ''रन्ध्रान् वेणोर् अधरसुधया पूरयन्'' - वेणु के रन्ध्रों को अपनी अधरसुधा से पूरित करते हुए आ रहे हैं और ''गोपवृन्दैः'' - गोपवृन्दों के साथ, ''वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः'' - गोपबालक साथ में उनकी कीर्ति गा रहे हैं।

श्रीमहाप्रभुजी इसमें बहुत ही मजेदार बात समझाते हैं कि मित्र लोग क्या काम करते हैं? जब कहीं से भी घर लौटते हैं तो अपनी-अपनी गोष्ठी करते हुए आते हैं कि वहाँ ऐसा हुआ और उसके बाद ऐसा हुआ - यही गीतकीर्ति है। किसी बहुत बड़ी गम्भीरकीर्ति का गान नहीं हो रहा - जंगल में ऐसा किया, उस पेड़ पर चढ़ गए, उस पत्थर पर से कूद गए, वहाँ से कूद गए - यह सब गीतकीर्ति है, अन्य कोई महत्वपूर्ण गीतकीर्ति नहीं है। ऐसे गोपबालक साथ चलते-चलते जिनकी कीर्ति गा रहे हैं, श्रीठाकुरजी उनके साथ धीरे-धीरे ''स्वपदरमणं प्राविशद्'' - अपने चरणों से, वृन्दाभूमि को रमणशील बनानेवाले प्रभु वहाँ प्रविष्ट हुए।

मूल में यह बात समझें कि प्रभु के चरण भक्तिरूप माने गए हैं। प्रभु अपने भक्ति रूपी चरणों से कहीं रमण करें, उससे अधिक पुष्टिमार्ग में प्रमेय की क्या अपेक्षा हो सकती है? हम जिस सेवा या कथा का प्रकार शुरू करने जा रहे हैं वह श्रीमहाप्रभुजी हमें षोडशग्रन्थ में समझाने जा रहे हैं। उसमें महत्त्वपूर्ण बात यह है कि किसी भी प्रकार से भगवान अपने भक्ति रूपी चरणों से चल कर हमारे हृदय में पधार कर, हमारे हृदय को रमणशील बनाएँ। मैं सर्वोत्तम के पूरे विस्तार को दोहराना नहीं चाहता परन्तु प्रभु उस प्रकार से हमारे हृदय को

रमणशील बनाएँ, ध्यान रखें कि सर्वोत्तम का स्मरण करा रहा हूँ कि कामशील नहीं बनाते। जिनको स्मरण होगा उनको भलीभाँति ध्यान होगा कि हमारे हृदय को अपने भक्ति रूपी चरणों से रमणशील बनाते हैं, कामशील नहीं बनाते। ''वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः'' - यह बात यहाँ प्रमेयरूप भगवान के विषय में कही गई है।

इसके पश्चात् जो श्लोक है वह श्रीगोपीनाथजी द्वारा रचित और बहुत सुन्दर है। हम कह सकते हैं कि पुष्टिमार्ग में सबसे अधिक किसी श्लोक की भ्रामक व्याख्या हुई है तो वह यह श्लोक है जिसने पुष्टिमार्ग का सत्यानाश किया है और सबसे उत्कृष्ट कोई श्लोक है तो इससे अधिक उत्कृष्ट श्लोक कोई हो नहीं सकता। श्रीमहाप्रभुजी की स्तुति, श्रीमहाप्रभुजी का गुणगान इससे अधिक कभी नहीं हो सकता और श्रीमहाप्रभुजी के साथ इस श्लोक के कारण जितना खिलवाड़ हुआ है उतना क्रूर खिलवाड़ किसी दूसरे श्लोक से नहीं हो सकता, यह इस प्रकार का विचित्र श्लोक है।

(श्रीमदाचार्यचरणस्वरूपध्यानम्) - श्रीआचार्यचरण के स्वरूप का ध्यान।

सौन्दर्यं निजहृद्गतं प्रकटितं स्त्रीगूढभावात्मकं
पुंरूपञ्च पुनस्तदन्तर्गतं प्रावीविशत् स्वप्रिये।
संश्लिष्टावुभयौ बभौ रसमयः कृष्णो हि यत्साक्षिकं
रूपं तत् त्रितयात्मकं परमभिध्येयं सदा वल्लभम्।।9।।

अन्वयार्थ :

निज = अपने
(कृष्ण) हृदगतं = हृदय में रहे हुए
स्त्रीगूढभावात्मकं = गूढ़ स्त्रीभावात्मक

प्रकटितं = प्रकट, **सौन्दर्यं** = सौन्दर्य
पुनः = पुनः, **तद्** = वह (स्वामिनी)
अन्तर्गतं = अन्दर रहा हुआ
पुंरूपं = पुरुषरूप
(प्रकटितं सौन्दर्यं = प्रकट हुआ सौन्दर्य **)**
च = और, **स्वप्रिये** = अपने प्रिय में
प्रावीविशद् = प्रविष्ट कराया (इति)
उभयौ = दोनों का
संश्लिष्टौ सन्तौ = पुनः संयोग होने से
रसमयः = रसात्मक, **कृष्णः** = श्रीकृष्ण
बभौ = शोभायमान हुए, **हि** = इससे
(तस्मात् कारणात् = जिस कारण से **)**
यद् = जो, **रूपं** = रूप
साक्षिकं = साक्षी (**आसीत्** = था)
तत् = वह, **त्रितयात्मकं** = तीन रूपवाला
(भूत्वा = होकर)
सदा = सदा, **वल्लभं** = श्रीमहाप्रभुजी का
परम् = भलीभांति
अभिध्येयं = ध्यान करना चाहिए
(प्रकटितम् अभवत् = प्रकट हुआ **)**

भावार्थ : सर्वरसभोक्ता श्रीकृष्ण के भीतर अपने स्वरूपानन्द के दानार्थ एक गूढ़ भोग्यभावात्मक सौन्दर्य भी है – उसी प्रकार अपने स्वरूपानन्द के उपभोगार्थ प्रकट किए गए स्वामिनीरूप में भी भगवत्स्वरूपानन्द का उपभोग करने के भाववाला एक गूढ़ भोक्तृभावात्मक सौन्दर्य भी है। इसलिए यह भगवान में रहा हुआ गूढ़ भोग्यभावात्मक सौन्दर्य और स्वामिनीजी में रहा

हुआ गूढ़ भोक्तृभावात्मक सौन्दर्य आत्यन्तिक रसोद्बोधन की अवस्था में कभी उच्छलित हो जाता है अन्यथा गूढ़ ही रहता है। इस प्रकार उभयत्र स्थित गूढ़ सौन्दर्य कभी उच्छलित हो कर अपनी रसात्मिका लीला के परिकर, साक्षीभूत स्वरूप का पात्रतया अवलम्बन करता है। इसलिए इस रसलीला में उच्छलित गूढ़भावात्मक, भगवत्सौन्दर्य और स्वामिनीसौन्दर्य के मिश्रण से प्रकट रसात्मक कृष्ण के प्रिय पात्र बनने के कारण (1) गूढ़स्त्रीभाव (भोग्य), (2) गूढ़ पुं (भोक्तृ) भाव तथा (3) साक्षिभाव – यों त्रितयात्मक रूप सर्वदा ही पुष्टिजीवों को निरतिशय प्रिय होने से सर्वोत्कृष्टतया अभिध्यान करने योग्य है।

व्याख्या :

प्रभु के हृदय में जो सौन्दर्य है, ''निजहृदगतं सौंदर्य'' है। प्रभु के हृदय में स्थित सौन्दर्य स्त्रीगूढ़भावात्मक सौंदर्य है। प्रभु का जो व्यक्त सौन्दर्य है वह तो यह है कि प्रभु सुन्दर हैं इसलिए प्रभु का कुछ सौन्दर्य है ही परन्तु यहाँ उस सौन्दर्य का निरूपण नहीं है बल्कि प्रभु के हृदय में स्थित जो स्त्रीगूढ़भावात्मक सौन्दर्य है वह सौन्दर्य और वह (स्त्रीगूढ़भावात्मक) सौन्दर्य स्वामिनीजी में प्रतिफलित हुआ तथा ''पुंरूपञ्च पुनस्तदन्तर्गतं'' और स्वामिनीजी में रहा हुआ गूढ़पुंभावात्मक सौन्दर्य प्रभु में फलित हुआ। ''तदन्तर्गतं प्रावीविशद् स्वप्रिये'' – उन दोनों में रहा हुआ अर्थात् स्वामिनीजी में रहा हुआ गूढ़ पुंभावात्मक सौन्दर्य और श्रीठाकुरजी में रहा हुआ गूढ़ स्त्रीभावात्मक सौन्दर्य, ये दोनों गूढ़भावात्मक सौन्दर्य स्वयं के प्रिय – 'स्वप्रिये' – श्रीमहाप्रभुजी में स्थापित किया। उनमें स्थापित होने के कारण ''संश्लिष्टावुभयौ बभौ रसमयः कृष्णो '' – जब वह गूढ़भावात्मक सौन्दर्य पुनः एक-दूसरे में संश्लिष्ट हुआ तो फिर से एक सम्पूर्ण कृष्ण बन गया।

यहाँ ध्यान से समझें कि क्या कहना चाहते हैं – ''**स आत्मानम् द्वेधा पातयेत् पतिश्च पत्नीश्च अभवताम्**'' – यहाँ स्वयं ने स्वयं को दो रूप में विभाजित किया। पतिरूप से और पत्नीरूप से, जगतरूप से और जगदीशरूप से, गुरुरूप से – शिष्यरूप से, ब्रह्मरूप से–सृष्टिरूप से, साधनरूप से–फलरूप से उन्होंने अपने आपको दो रूप में विभाजित किया। दो रूप में विभाजित करने के पश्चात् विशिष्ट प्रकार से अथवा तार्किक प्रकार से दोनों आधे–आधे हो गए।

जब कोई वस्तु दो रूप में विभाजित होती है तो दोनों भाग आधे–आधे हो जाते हैं परन्तु जब वे दोनों पुनः संश्लिष्ट हो जाते हैं, एक–दूसरे के पूरक हो जाते हैं तो एक प्रक्रिया का मूल पुनः हमारे हाथ में आ जाता है अर्थात् सम्पूर्ण तत्त्व के अंश होन से, इन दोनों के विभाजन से पुनः यह प्रक्रिया खड़ी हो गई जो वापस सम्पूर्ण (तत्त्व) बन गई है।

अतः जिस प्रक्रिया को ''संश्लिष्टावुभयोर् बभौ रसमयः कृष्ण'' कहा जा रहा है उसके कारण एक पूरी रसमय प्रक्रिया फिर से खड़ी हो रही है। इसके पहले क्या था? यह बात ध्यान से समझें। इसे समझने के लिए मेरा पिछली बार का सर्वोत्तमस्तोत्र का प्रवचन याद हो तो सबको समझ में आ जाएगा कि जैसे हमने एक वृक्ष की शाखा काटी तो उसे काटने के साथ ही वृक्ष में कटा हुआ हिस्सा दिखाई देगा कि यहाँ से शाखा काटी गई। उस शाखा को किसी दूसरे स्थान पर लगाया और जब वह उगी तो वह भी एक वृक्ष बन गई। इस प्रकार दोनों को फिर से मिलाने से एक प्रक्रिया बनी। उससे क्या हुआ? फिर से विभाजित तत्त्व में एक पूर्णता प्राप्त हो रही है।

जैसे जगत् स्वयं अपने आप में अधूरा है, यदि जगदीश न मिले और जगदीश भी स्वयं में अधूरे हैं, यदि जगत् नहीं मिला। स्पष्ट है कि जगदीश को जगत न मिला तो वे ईश किसके हुए? हम कहें कि मैं काका हूँ परन्तु यार, भतीजा तो बताओ। अतः काका भी अधूरा है और यदि काका न हो तो भतीजा

भी अधूरा है। काका–भतीजा दोनों मिल गए तो एक प्रक्रिया पुनः हमारे समक्ष आ गई। इस प्रकार प्रभु ने अपने आप को दो रूपों में विभक्त किया – भोक्ता रूप में और भोग्य रूप में जिसे उपनिषद् बहुत सुन्दर ढंग से निरूपित करता है कि –

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णम् उदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

वह अपूर्ण नहीं है परन्तु प्रत्यक्षरूप से दोनों में किसी प्रकार की अपूर्णता आ रही है, वह प्रत्यक्षरूप से आई हुई कोई अपूर्णता है जिसे एक प्रक्रिया पुनः पूर्ण कर रही है कि यदि ये दोनों एक–दूसरे के पूरक हो जाएँ तो क्रमबद्धरूप से वह प्रक्रिया पुनः पूर्ण होगी। इसी प्रकार पुंभाव और स्त्रीभाव में प्रभु ने अपने आनन्द को विभक्त किया। विभक्त होने के कारण, यद्यपि स्वरूपतः परिपूर्ण ही है, लीला में दोनों रूपों में अपूर्णता प्रकट हो गई। उस लीलागत, लीलात्मिका अपूर्णता को पूर्ण करना हो तो इन दोनों को पुनः एक–दूसरे से जोड़ना पड़ेगा।

एकदम सरलता से समझना हो तो पुनः देखें। जैसे हमने थोड़ा पारा लिया और उसके बीच में हमने कहीं अंगुली लगा दी तो पारे के दो हिस्से हो गए, उन दोनों हिस्सों में मूलतः पारा ही था। वह आधे–आधे हिस्से में बंट गया। दोनों हिस्सों को एक–दूसरे से जोडें तो पुनः एक पूर्ण पारा, जितना होना चाहिए, उतना हो जाएगा। इस प्रकार ''संश्लिष्टावुभयौ बभौ रसमयः कृष्णो हि यत्साक्षिकं'' – फिर से रसमय कृष्ण हो गया। कैसा– गूढ़भावात्मक। परन्तु उस गूढ़भावात्मकरूप में श्रीमहाप्रभुजी प्रकट नहीं हुए बल्कि उन दोनों गूढ़भाव के साक्षिरूपतया आपश्री प्रकट हुए हैं। क्योंकि एक बात ध्यान से समझें कि किसी के विषय में कौन बता सकता है? व्यक्ति खुद नहीं कह सकता, साक्षी ही कह सकता है अर्थात् गूढ़पुंभाव और गूढ़स्त्रीभाव स्वयं

अपनी किसी बात की साक्षी नहीं दे सकते क्योंकि वे दोनों तो पक्षकार हैं। एक दूसरे के साथ स्नेह करते या झगड़ते जैसे भी हैं इसलिए उनका प्रमाण बनेगा तो कौन बनेगा? जो साक्षी है, वही।

उस साक्षी में गूढ़पुंभाव और गूढ़स्त्रीभाव स्थापित हुआ। श्रीमहाप्रभुजी उसके साक्षीरूप से प्रकट हुए। प्रभु में गूढ़स्त्रीभाव है और भक्त में, गूढ़स्वामिनीजी से ले कर अपने जैसे पाँचवें सवार (पात्रता न होने पर भी स्वयं को बड़ों में शामिल मानना) पर्यन्त, गूढ़पुंभाव है। इस बात को भूलें नहीं। इस बात का यदि कोई साक्षी है तो वे हमारे आचार्य हैं। रूपं तत् त्रितयात्मकं – साक्षीरूप जो है वह तृतीय नहीं, त्रितयात्मक रूप है। ''ध्येयं सदा वल्लभम्''– इस प्रकार के श्रीमहाप्रभुजी के त्रितयात्मक रूप को ध्यान में लाना चाहिए। ध्यान में लाएंगे तो सारी बात समझ में आ जाएगी। फिर न अलग वल्लभपंथ की जरूरत होगी, न श्रीकृष्ण को छोड़ कर श्रीमहाप्रभुजी की जरूरत होगी, न श्रीमहाप्रभुजी को छोड़ कर श्रीकृष्ण की जरूरत होगी, न श्रीकृष्ण और श्रीमहाप्रभुजी को छोड़ कर श्रीस्वामिनीजी की जरूरत होगी, न श्रीस्वामिनीजी को छोड़ कर श्रीकृष्ण और श्रीमहाप्रभुजी की जरूरत होगी। एक पूरी प्रक्रिया का निर्माण हुआ है जिसके साक्षी श्रीमहाप्रभुजी हैं।

ऐसे आचार्यस्वरूप का हम ध्यान करते हैं। इस प्रकार हमने आचार्यचरण का ध्यान किया। मैं समझता हूँ कि आचार्यचरण का गुणगान इससे कुछ अधिक ही सुन्दर हो सकता था परन्तु इसी गुणगान में हमारे पुष्टिमार्ग की – गुजराती में कहें तो – पत्तर खांडी नाखी छे (प्रतिष्ठा को धूल में मिला दिया)। नालायकों ने इसका इतना खराब अर्थ किया, इतना खराब अर्थ किया कि पुष्टिमार्ग में बहुत कठिनाई हो गई है। सबसे उत्तम वस्तु का सबसे अधिक दुरूपयोग किया है। यह हमारे ध्यान के लिए श्रीमहाप्रभुजी का स्वरूप है।

(श्रीगोपीनाथप्रभुचरणध्यानम्) – श्रीगोपीनाथजी के स्वरूप का ध्यान।

श्रीवल्लभ –प्रतिनिधिं तेजो–राशीं दयार्णवम्।
गुणातीतं गुणनिधिं श्रीगोपीनाथम् आश्रये।।10।।

अन्वयार्थ :

तेजोराशीं= तेजपुंज
दयार्णवं = दया के सागर
गुणातीतं = गुणों से अतीत
गुणनिधिं = गुणों के निधि
श्रीवल्लभप्रतिनिधिं= श्रीवल्लभ के प्रतिनिधि
श्रीगोपीनाथम् = श्रीगोपीनाथजी का
(अहं = मैं) **आश्रये** = आश्रय करता हूँ

भावार्थ : श्रीवल्लभाचार्यजी के प्रतिनिधिरूप, अतितेजस्वी, दयासागर, गुणातीत और गुणनिधि, श्रीमदाचार्य के प्रथम कुमार–श्रीगोपीनाथजी का मैं आश्रय करता हूँ।

अलौकिक पुष्टिभक्ति के कमल को खिलाने के लिए श्रीमहाप्रभुजी की भाँति श्रीगोपीनाथजी भी तेजोराशि भक्तिमार्गाब्जमार्तण्ड हैं। आप दया के समुद्र होने से भक्तिकमल को खिलाने के लिए प्रकट होने में भी आधाररूप हैं। प्राकृत गुणों से अतीत–अस्पृष्ट और अलौकिक पुष्टिभक्तिमार्गीय गुणों के निधिरूप भी हैं। ऐसे विरूद्ध धर्मों के आश्रय किसलिए हैं? वहाँ कहते हैं कि श्रीवल्लभ के प्रतिनिधि – ''आत्मा वै जायते पुत्रः'' – होने से ऐसे हैं।

व्याख्या :

यह श्रीपुरुषोत्तमजी का श्रीगोपीनाथजी की स्तुति में कहा गया श्लोक

है। अपने सूरतवाले श्रीपुरुषोत्तमजी का श्लोक है। श्रीगोपीनाथजी, श्रीमहाप्रभुजी के प्रतिनिधि हैं, तेजोराशि हैं, दयार्णव हैं और सगुण नहीं बल्कि गुणातीत हैं – निर्गुण हैं। गुणनिधि हैं। ऐसे श्रीगोपीनाथजी का मैं आश्रय ले रहा हूँ। इतना सब कहे जाने के बावजूद भी हम मानते हैं कि श्रीगोपीनाथजी तो मर्यादामार्गीय थे, श्रीगोपीनाथजी ऐसे थे, वैसे थे, आदि-आदि। यह क्या चक्कर है? श्रीपुरूषोत्तमजी जैसे मजबूत वकील तो श्रीगोपीनाथजी का ऐसा स्वरूप बता रहे हैं। हमें ऐसा ऊटपटांग रूप कैसे स्फुरित होता है? कुछ चक्कर है। इसीलिए हमने श्रीगोपीनाथजी के मंगलाचरण के रूप को समझा है। इसके पश्चात् श्रीगुसांईजी के स्वरूप का ध्यान आ रहा है।

(श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरणध्यानम्) – श्रीगुसांईजी के स्वरूप का ध्यान।

सायं कुञ्जालयस्थासनम् उपविलसत् स्वर्णपात्रं सुधौतं
राजद्-यज्ञोपवीतं परितनु-वसनं गौरम् अम्भोजवक्त्रम्।
प्राणानायम्य नासा-पुट-निहित-करं कर्ण-राजद्-विमुक्तं
वन्देऽर्धोन्मीलिताक्षं मृगमद-तिलकं विट्ठलेशं सुकेशम्।।11।।

अन्वयार्थ :

सायं = संध्या के समय
कुञ्जालयस्थासनम् = कुंज में जिनका आसन है
उपविलसत्-स्वर्णपात्रं = समीपस्थ सोने के पात्र
सुधौतं = भलीभाँति धोए हुए
परितनु-वसनं = वस्त्रों को धारण किए हुए
राजद्-यज्ञोपवीतं = यज्ञोपवीत धारण किए हुए
गौरम् = गौर वर्णवाले

अम्भोजवक्त्रम् = कमल के समान मुखवाले
प्राणानायम्य = प्राणायाम करते हुए
नासा-पुट-निहित-करं = नासिका पर हाथ रखे हुए
कर्णराजद्विमुक्तं = कानों में मोती धारण किए हुए
अर्धोन्मीलिताक्षं = आधे बन्द नेत्र
मृगमदतिलंक = कस्तूरी का तिलक धारण किए हुए
सुकेशम् = सुन्दर केशवाले
विट्ठलेशं = श्रीविट्ठलनाथजी का
वन्दे = वन्दन करता हूँ

भावार्थ : संध्या के समय कुंजभवन में आसन पर विराजनेवाले, संध्या वन्दनार्थ स्वर्णपात्र जिनके सम्मुख सजे हुए हैं, कटि में सुन्दर धोती धारण की हुई है, श्रीअंग पर यज्ञोपवीत शोभायमान हो रहा है, उत्तरीय धारण किया हुआ है, गौरवर्ण मुखारविन्द है, प्राणायाम के लिए नासापुट पर श्रीहस्त रखा हुआ है, कर्णपुटों में विशिष्ट मुक्तिका शोभायमान हैं, आपके नेत्र ध्यान में अर्धोन्मीलित हैं, ललाट पर मृगमद का तिलक धारण किया हुआ है, श्रीमस्तक पर सुन्दर केशावली विराजमान है, ऐसे श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरण का मैं वन्दन करता हूँ।

व्याख्या :

यह श्रीगुसांईजी का सायंसंध्या करते हुए का स्वरूप है। जिस प्रकार आज हम छल-छद्म कर रहे हैं कि साधन इत्यादि सब बेकार हैं, हमें तो प्रमेय लीला में पड़े रहना चाहिए – इससे सर्वथा विरुद्ध यह श्रीगुसांईजी का स्वरूप है। यह प्रमेयलीला में स्थित श्रीगुसांईजी का स्वरूप नहीं है, सायंसंध्या करते हुए श्रीगुसांईजी का स्वरूप है। प्रमाण आचरण कर रहे, साधनाचरण कर रहे श्रीगुसांईजी का स्वरूप है। लेकिन अला-बला सब श्रीगुसांईजी के सिर पर कि श्रीगुसांईजी ने सारी प्रमेयलीला का वर्णन किया।

यहाँ श्रीगुसांईजी प्रमेयलीला कहाँ कर रहे हैं? श्रीगुसांईजी तो कुंज में बैठ कर भी सायंसंध्या कर रहे हैं, प्रमेयलीला नहीं कर रहे। देख लें कि हम जो समझ रहे हैं और जो पूर्व पुरुषों की समझ थी उसमें कितना अन्तर है। यह सब यहाँ मंगलाचरण में इसलिए संकलित किया है कि हमारी समझ और बड़ों की समझ में कितना अन्तर है, फिर भी कहते हैं कि यह श्रीगुसांईजी का कुंज है और वहाँ बैठ कर रासलीला कर रहे हैं - हरे कृष्ण-हरे कृष्ण। कुंज में यार, किसलिए रासलीला की भावना करते हो? यदि आप श्रीगुसांईजी के भक्त हैं तो बैठ कर सायंसंध्या करें।

''सायं कुञ्जालयस्थासनम् उपविलसत् स्वर्णपात्रं सुधौतं'' - कुंजभवन में आसन पर विराज कर, स्वर्ण-पात्र (समीप) रख कर, सुन्दर वस्त्र धारण करके, सुन्दर यज्ञोपवीत धारण किए हुए हैं। ''परितनुवसनं गौरमम्भोजवक्त्रम्'' - श्रीगुसांईजी के बारे में यह विवादास्पद विषय है कि श्रीगुसांईजी श्यामवर्ण थे अथवा गौरवर्ण थे। इस श्लोक में गौरवर्ण माना गया है। किसी स्थान पर श्यामवर्ण भी माना गया है। ठीक-ठीक ज्ञात नहीं कि गौरवर्ण थे अथवा श्यामवर्ण। जो थे, जैसे थे परन्तु यहाँ यह वर्णित है कि ध्यान कैसे करना चाहिए?

''प्राणानायम्य नासापुट निहितकरं'' - प्राणयाम करने के लिए 'नासापुट' - नथुनों को कहते हैं - ''कर्ण राजद्विमुक्तं'' कान में मोती के कर्णफूल धारण किए हुए हैं और ''अर्धोन्मीलिताक्षं'' - ध्यान मुद्रा में हैं। अर्धोन्मीलिताक्ष एक प्रकार की ध्यान मुद्रा है। मैं पहले भी कई बार यह बात समझा चुका हूँ कि पूर्णमीलिताक्ष से ठीक प्रकार से ध्यान नहीं हो पाता, पूर्णउन्मीलिताक्ष से भलीभाँति ध्यान नहीं होता। किसी भी वस्तु का ध्यान करना हो तो अर्धोन्मीलिताक्ष सबसे उत्तम, आदर्श परिस्थिति है। कारण यह है कि आँख को पूरी तरह बंद कर लेने से मन को सम्पूर्ण स्वतंत्रता मिल जाती है

और आँख को पूरा खोलने से मन विषयों के सम्पूर्ण अधीन हो जाता है। इसलिए ध्यान करने के लिए अर्धोन्मीलिताक्ष आदर्श पद्धति है अर्थात् अधखुली आँखें होनी चाहिए। अधखुली आँखों से चित्त की जितनी एकाग्रता हो सकती है उतनी अन्य प्रकार से नहीं हो सकती। अधखुली आँखें किस प्रकार रखी जाती हैं, यह हमारे यहाँ शास्त्र में भी बताया गया है। नाक के अग्रभाग को देखते रहेंगे तो स्वत: ही अधखुली आँखें हो जाएंगी और हमने यह प्रयास प्रारम्भ किया तो ध्यान सिद्ध हो जाता है परन्तु हमारे ध्यान की, हमारे मन की प्रक्रिया के सम्पर्क में हम आते ही नहीं हैं। कारण यह है कि हम बिना ध्यान के कुछ न कुछ करते ही रहते हैं। हमें ध्यान की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। अनिच्छित ध्यान कुछ-कुछ आता रहता है और कुछ-कुछ जाता रहता है।

ध्यान की प्रक्रिया पर हमें यदि नियंत्रण प्राप्त हो जाए तो रोज कुछ देर अर्धोन्मीलिताक्ष से पाँच मिनिट, दस मिनिट, पन्द्रह मिनिट, जिसका जितना सामर्थ्य हो, ध्यान करें। एक-दो घण्टे अर्धोन्मीलिताक्ष कोई रह सके तो ध्यान पर उसका पूर्णत: नियंत्रण हो जाता है। ध्यान की यह प्रक्रिया भी शास्त्र ने बताई है। ''वन्देऽर्धोन्मीलिताक्षं मृगमद-तिलकं विद्रुलेशं सुकेशम्'' - मृगमद तिलक किए हुए, सुन्दर केशवाले श्रीगुसांईजी को वन्दन करते हुए यह मंगलाचरण है।

इस प्रकार कुल मिला कर - जिस प्रकार से, जो भी कुछ - आगे आनेवाला है, कहीं वन्दन के रूप में, कहीं ध्यान करके, कहीं प्रशंसा करके आदि-आदि रूपों में सम्पूर्ण मंगलाचरण है और यह एक प्रकार से हमारे समक्ष आनेवाले ग्रन्थों की पताका है। 'पताका' अर्थात् क्या? जैसे नाटक में जो घटना आगे होनेवाली होती है उसकी कुछ पूर्व सूचना देने की प्रक्रिया को 'पताका' कहा जाता है। यह पताका की भांति मंगलाचरण है कि जो कुछ विषय आगे आनेवाला है उसकी कोई पताका यहाँ फहराई जा रही है।

जैसे कोई प्रतिष्ठित व्यक्ति-गवर्नर आदि - आनेवाला हो तो पहले उसकी पताका दिखाई देती है और फिर वह व्यक्ति दिखाई देता है। जैसे - गवर्नर के आने से पहले सायरन बजता है, पायलट कार पहले आ जाती है जो पताका का काम करती है। वह हमें सूचित करती है कि कोई मंत्री अथवा गवर्नर आ रहे हैं। इस प्रकार यह पताका जैसा मंगलाचरण है। जो विषय आगे आनेवाले हैं उन सबकी इसमें पताका आ गई है। कहीं नमनात्मक, कहीं ज्ञानात्मक, कहीं रूप-गुण वर्णनात्मक रूप से, जैसी-जैसी जिस समय आवश्यकता हुई, उस रूप से आ रही है।

यह श्लोक किसका है - यह मुझे बिलकुल मालूम नहीं है परन्तु अपने यहाँ कई वर्षों से यह मंगलाचरण किया जाता है। शोध का विषय है कि यह श्लोक किसके द्वारा रचित है परन्तु जिनका भी है, पुनः हम उनके आभारी हैं। बहुत सुन्दर श्लोक है। मृगमद तिलक अर्थात् कस्तूरी का तिलक। पुराने समय में कस्तूरी का तिलक किया जाता था। अपने यहाँ कुंकुम अथवा केसर का तिलक अनुष्ठान की प्रक्रिया में प्रारम्भ हुआ। अनुष्ठान करने अथवा किसी को वश में करना हो तो केसर का तिलक प्रारम्भ हुआ परन्तु आज कस्तूरी उपलब्ध न होने से कुंकुम का तिलक प्रयोग में है। यह एक प्राचीन प्रणाली है।

*****

॥ श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् ॥

हमारा दूसरा ग्रन्थ सर्वोत्तमस्तोत्र है। इस सर्वोत्तम में आप देख सकते हैं कि कुल मिला कर 35 श्लोक हैं। इनमें एक से ले कर छः तक और तैंतीस से ले कर पैंतीस अर्थात् प्रथम छः और अन्तिम तीन श्लोक उपक्रम, उपसंहार आदि से सम्बन्धित श्लोक हैं। जो मूल सर्वोत्तमस्तोत्र है वह सातवें श्लोक से शुरू हो कर साढ़े बत्तीस श्लोक तक है। इसके आगे और पीछे सब सम्पुट है। इस आधारभूत संरचना के अनुसार समझें कि सर्वोत्तम क्या है? मूल सर्वोत्तम ''आनंदः परमानंदः'' से शुरू हो रहा है और ''अशेष भक्तसम्प्रार्थ्य चरणाब्जरजोधनः'' तक 108 नाम पूरे होते हैं। बाकी के नौ श्लोक सम्पुट के श्लोक हैं। उसको किस प्रकार समझना - तद्विषयक श्लोक हैं।

(**मंगलोपक्रमः**) - मंगल उपक्रम करते हैं :-

प्राकृत-धर्मानाश्रयम् अप्राकृत-निखिल-धर्मरूपमिति।
निगमप्रतिपाद्यं यत् तत् शुद्धं साकृति स्तौमि।।1।।

अन्वयार्थ :

यत् = जो
प्राकृतधर्मानाश्रयम् = प्रकृति के धर्मों से पर
अप्राकृतनिखिलधर्मरूपम् = अप्राकृत सर्वधर्मरूप, **इति** = ऐसा
निगमप्रतिपाद्यं = वेद में निरूपित
तत् = वह, **शुद्धं** = शुद्ध
साकृति = साकार की
स्तौमि = स्तुति करता हूँ

भावार्थ : जिनमें कोई प्राकृत धर्म नहीं है बल्कि निखिल अप्राकृत धर्म ही हैं,

ऐसा प्रतिपादन वेदादिशास्त्र करते हैं, ऐसे मायादिदोषरहित, शुद्ध आकृतिवाले श्रीकृष्ण की मैं स्तुति करता हूँ।

व्याख्या :

भगवान में प्राकृत धर्म का अनाश्रय है परन्तु अनाश्रय है इसलिए कोई भी धर्म प्रभु में नहीं है, ऐसा नहीं है। अप्राकृत सर्वधर्मरूप स्वयं प्रभु हैं। निगम प्रतिपाद्य स्वरूप प्रभु का इस प्रकार का है, क्योंकि प्रभु का जो स्वरूप है वह शुद्ध साकार स्वरूप है। शुद्ध साकार अर्थात् मायिक आकारवाला नहीं है, शुद्ध आकृतिवाला स्वरूप है। गत वर्ष 'शुद्ध साकार' की हमने विस्तृत विवेचना की थी।

इस मंगल उपक्रम के बाद शेष आनेवाले दो से चार तक के श्लोकों को ध्यान से देखें तो **(स्तोत्रप्राकट्यप्रयोजननिरूपणम्)** - स्तोत्र को प्रकट करने के प्रयोजन का निरूपण है। श्रीगुसांईजी स्तोत्र को किसलिए प्रकट करना चाहते हैं, उसका प्रयोजन क्या है, उस प्रयोजन का निरूपण करते हुए ये चार श्लोक हैं।

कलिकाल-तमश्छन्न-दृष्टित्वाद् विदुषामपि।
सम्प्रत्यविषयस् तस्य माहात्म्यं समभूद् भुवि।।2।।

अन्वयार्थ :

तस्य = उसका, **माहात्म्यं** = माहात्म्य
कलिकालतमश्छन्नदृष्टित्वाद् = कलिकाल रूपी अंधकार से दृष्टि के ढंक जाने से
विदुषामपि = विद्वानों को भी
भुवि = पृथ्वी पर, **सम्प्रति** = अभी
अविषयः = अविषय / दृष्टि-अगोचर

समभूद् = हो गया है

भावार्थ : ऐसे शुद्ध साकार परब्रह्म का माहात्म्य कलिकाल के अंधकार से अन्धे-से हो जाने के कारण, भूतल पर वर्तमानकाल में विद्वान भी कुछ जान नहीं सकते।

व्याख्या :

शास्त्र के जो समझदार विद्वान हैं, उनकी दृष्टि भी कलिकाल के अंधकार से छन्न हो गयी है और इस आवरण के कारण ''प्राकृत-धर्मानाश्रयम् अप्राकृत-निखिल-धर्मरूपमिति, निगमप्रतिपाद्यं यत् तत् शुद्धं साकृति'' - में निरूपित ब्रह्म का माहात्म्य सम्प्रति समझ नहीं सकते। जो शास्त्र को समझ सकते हैं वे लोग भी इस ब्रह्म का माहात्म्य नहीं समझ सकते। 'सम्प्रति अविषयस्' अर्थात् सम्प्रति उस ब्रह्म का माहात्म्य पृथ्वी पर अविषय हो गया है और उस माहात्म्य को अपनी वाणी से प्रकट करने के लिए....

दयया निजमाहात्म्यं करिष्यन् प्रकटं हरिः।
वाण्या यदा तदा स्वास्यं प्रादुर्भूतं चकार हि।।3।।
तदुक्तमपि दुर्बोधं सुबोधं स्याद् यथा तथा।
तन्नामाष्टोत्तरशतं प्रवक्ष्याम्यखिलाघहृत्।।4।।

अन्वयार्थ :

यदा = जब, **हरिः** = श्रीकृष्ण
निजमाहात्म्यं = अपने माहात्म्य को
प्रकटं = प्रकट
करिष्यन् = करने की इच्छावाले हुए
तदा = तब, **स्वास्यं** = अपना मुखारविन्द स्वरूप

हि = ही, **प्रादुर्भूतं** = प्रकट
चकार = किया
दुर्बोधम् = जिसका कष्ट से बोध हो
अपि = भी, **तदुक्तं** = उनका कहा हुआ
यथा = जैसे
सुबोधं = सुबोध, **स्यात्** = होता है
तथा = वैसे, **अखिलाघहृत्** = सब पापों को हरनेवाले
तन्नामाष्टोत्तरशतं = उनके एक सौ आठ नाम
प्रवक्ष्यामि = कहता हूँ

भावार्थ : जब हरि ने अपने माहात्म्य को वाणी से प्रकट करना चाहा तब अपने मुखारविन्द को ही प्रादुर्भूत किया।

श्रीमहाप्रभुजी के वचनों का गूढ़ आशय जान पाना सरल नहीं है परन्तु इन अष्टोत्तरशतनाम के पाठ करने से दुर्बोध वचन भी सुबोध हो जाते हैं।

व्याख्या :

हरि ने दया करके अपने उस माहात्म्य को प्रकट करने के लिए, अपनी वाणी से प्रकट करने के लिए अपने मुख को प्रकट किया क्योंकि वाणी मुख से ही प्रकट होती है। मुख प्रकट हो तो वाणी प्रकट होगी इसलिए मुख को प्रकट किया। मुख से प्रकट हुई वाणी में कुछ दुर्बोधता थी। उस दुर्बोधता को सुबोध करने के लिए उनके (श्रीमहाप्रभुजी के) अष्टोत्तरशत नाम मैं (श्रीगुसांईजी) बता रहा हूँ जो सभी पापों को हरनेवाले हैं। यह हमने सर्वोत्तमस्तोत्र में कदाचित् गत वर्ष विस्तार से समझा था।

(**स्तोत्रर्षि-छन्दो-देव-बीज-विनियोग-सिद्धि निरूपणम्**) -

पाँचवें और छठे श्लोकों में स्तोत्र के ऋषि, छन्द, देव, बीज, विनियोग और सिद्धि (फल) का निरूपण एक साथ किया है।

ऋषिरग्निकुमारस्तु नाम्नां छन्दो जगत्यसौ।
श्रीकृष्णास्यं देवता च बीजं कारुणिकः प्रभुः।।5।।
विनियोगो भक्तियोग-प्रतिबन्ध-विनाशने।
कृष्णाधरामृतास्वाद-सिद्धिरत्र न संशयः।।6।।

अन्वयार्थ :

(मन्त्ररूपाणां = मन्त्ररूप)
नाम्नां = नामक
जगति = जगत् में
(द्रष्टा) ऋषिः = ऋषि, **तु** = तो
अग्निकुमारः = श्रीमहाप्रभुजी के पुत्र
असौ = ये
(अस्मिन्नेव पद्ये प्रयुक्तं = इस श्लोक में ही प्रयुक्त)
छन्दः = छन्द, **देवता** = देवता
श्रीकृष्णास्यं = श्रीकृष्ण का मुख
बीजं = बीज, **च** = भी
कारुणिकः = दयालु, **प्रभुः** = श्रीकृष्ण हैं
भक्तियोग-प्रतिबन्ध-विनाशने = भक्तियोग में आनेवाले प्रतिबन्धों का विनाश करने में
(**अस्य स्तोत्रस्य**= इस स्तोत्र का)
विनियोगः = उपयोग है
(तेन = उससे)
कृष्णाधरामृतास्वादसिद्धिः = श्रीकृष्ण के अधरामृत के आस्वाद की सिद्धि

अत्र = इसमें, **न संशयः** = संशय नहीं है

भावार्थ : मंत्ररूप इन अष्टोत्तरशत नाम के भूतल पर मन्त्रद्रष्टा ऋषि अग्निकुमार श्रीप्रभुचरण हैं, पद्य में प्रयुक्त अनुष्टुप छन्द है, देवता श्रीकृष्ण का मुखारविन्द और बीज महाकारुणिक प्रभु हैं।

इन अष्टोत्तरशत नामों के पाठ का विनियोग भक्तियोग में आनेवाले प्रतिबन्धों का विनाश करने में है। इसलिए श्रीकृष्ण के अधरामृतास्वाद (स्वरूपानन्द के भोक्तृभाव) की सिद्धि होती है, इसमें संशय नहीं है।

व्याख्या :

अग्निकुमार ऋषि हैं। जगत् में प्रसिद्ध अनुष्टुप नामक छंद है। श्रीकृष्णास्य इसके देव हैं। बीज, कारुणिक प्रभु स्वयं हैं। इसका विनियोग भक्तियोग में आनेवाले प्रतिबन्धों का विनाश करने के लिए है। अन्य किसी उपद्रव के लिए सर्वोत्तम का विनियोग नहीं करना चाहिए और सिद्धि क्या होगी? कृष्णाधरामृतास्वाद सिद्धि है। यहाँ स्तोत्र में कृष्णाधरामृतास्वाद सिद्धि के रूप में बताया गया है।

इसके पश्चात् ''आनंदः - परमानंदः'' - ये सब नाम हैं। उनके विस्तार में हम नहीं जाएंगे। ''अशेषभक्तसम्प्रार्थ्य चरणाब्जरजोधनः'' - तक एक सौ आठ नाम हैं। उनका विस्तार हम यथासमय देखेंगे।

(अष्टोत्तरशतनामपाठफलम्) - एक सौ आठ नामों के पाठ की फलश्रुति।

इत्यानन्द-निधेः प्रोक्तं नाम्नाम् अष्टोत्तरं शतम्।।33।
श्रद्धा-विशुद्ध-बुद्धिर् यः पठत्यनुदिनं जनः।

स तदेकमनाः सिद्धिम् उक्तां प्राप्नोत्यसंशयम्।।34।।

अन्वयार्थ :

इति = इस प्रकार से
आनन्दनिधेः = आनन्द की निधि के
अष्टोत्तरं शतम् = एक सौ आठ
नाम्नाम् = नामों को
प्रोक्तम् = कहा गया
श्रद्धा-विशुद्ध-बुद्धिः = जिसकी बुद्धि श्रद्धा से विशेष शुद्ध है
तदेकमनाः = एक मात्र उनमें मनवाला
जनः = व्यक्ति, **यः** = जो
अनुदिनं = प्रतिदिन
पठति = पाठ करता है
सः = वह, **असंशयम्** = संशय रहित
उक्तां = कही गई
सिद्धिं = सिद्धि को, **प्राप्नोति** = प्राप्त करता है

भावार्थ : इस प्रकार आनन्दसागररूप श्रीआचार्यजी महाप्रभु के एक सौ आठ नाम कहे हैं।

जो श्री महाप्रभुजी में श्रद्धापूर्वक शुद्ध हैं अर्थात् दुस्संगादि से दुष्ट न हो कर, ऐसी बुद्धिवाला भगवदीय होकर, निरन्तर पाठ करता है तो पहले स्वयं में एक मन हो कर बाद में श्रीठाकुरजी के अधरामृत की आस्वाद रूप सिद्धि को प्राप्त करता है। श्रीसर्वोत्तम के पाठ से इस फल में संदेह नहीं है।

व्याख्या :

ये आनन्दनिधि के एक सौ आठ नाम बताए हैं। जो व्यक्ति इनका श्रद्धा

विशुद्ध बुद्धि से पाठ करता है वह 'तदेकमना' हो कर जो सिद्धि मैंने (श्रीगुसांईजी ने) ग्रन्थ के प्रारम्भ में बताई थी, उस सिद्धि को संदेहरहित हो कर प्राप्त करेगा।

तदप्राप्तौ वृथा मोक्षः तदाप्तौ तद्गतार्थता।
अतः सर्वोत्तमं स्तोत्रं जप्यं कृष्णरसार्थिभिः।।35।।

अन्वयार्थ :

तदप्राप्तौ = वह प्राप्त नहीं हो तो
मोक्षः = मोक्ष
(प्राप्तोपि = प्राप्त होने पर भी)
वृथा = व्यर्थ है
तदाप्तौ = उसकी प्राप्ति में
तद्गतार्थता = उसकी गतार्थता है
अतः = अतः
कृष्णरसार्थिभिः = कृष्णरस की इच्छावाले को
सर्वोत्तमं = सर्वोत्तम
स्तोत्रं = स्तोत्र को, **जप्यम्** = जपना चाहिए

भावार्थ : वह अधरामृत की सिद्धि न मिले तो मुक्ति भी व्यर्थ है, वह अधरामृत की सिद्धि प्राप्त हो तो भी मुक्ति (सायुज्यादि) निरर्थक है। इसलिए सर्वोत्तम स्तोत्र श्रीकृष्ण के रस की इच्छावाले पुरुषों द्वारा जप करने योग्य है।

व्याख्या :

अन्त में श्रीगुसांईजी ने एक स्पष्टीकरण बहुत सुन्दर दिया है कि वह सिद्धि प्राप्त हो जाए तो मोक्ष की कोई आवश्यकता नहीं और वह सिद्धि प्राप्त नहीं हुई तो भी मोक्ष की कोई आवश्यकता नहीं। जो आवश्यकता इस भूतल

पर है वह कृष्णाधरामृतास्वाद की है। इसलिए वह मिल गया तो मोक्ष की क्या आवश्यकता और नहीं मिला तो भी मोक्ष क्या काम आएगा? वह मिल गया तो मोक्ष गतार्थ है। अतः सर्वोत्तमस्तोत्र का जप उसे करना चाहिए जिसे कृष्णरस की अपेक्षा है। यहाँ श्रीगुसांईजी वल्लभपंथ की अपेक्षा की बात नहीं कर रहे। कृष्णरस की जिनको अपेक्षा है, उन्हें सर्वोत्तमस्तोत्र का जप निरन्तर करना चाहिए। इस प्रकार श्रीगुसांईजी ने सर्वोत्तमस्तोत्र का समापन किया और यह उसका सारांश है जो हमने देखा। इसके बाद तीसरा स्तोत्र '' श्रीवल्लभाष्टकम्'' आ रहा है।

।। इति श्रीमदग्निकुमारप्रोक्तं सर्वोत्तमस्तोत्रं सम्पूर्णम्।।

॥ श्रीवल्लभाष्टकम् ॥

(भूमौ श्रीवल्लभस्वरूपप्रादुर्भावस्य हेतु प्रयोजने)

श्रीवल्लभस्वरूप से प्रादुर्भाव का हेतु और प्रयोजन।

श्रीमद्वृन्दावनेन्दु -प्रकटित-रसिकानन्द-सन्दोहरूप-
स्फुर्जद्रासादि-लीलामृतजलधि-भराक्रान्त-सर्वोऽपिशश्वत्।
तस्यैवात्मानुभाव-प्रकटन-हृदयस्याज्ञया प्रादुरासीद्
भूमौ यः सन्मनुष्याकृतिरति-करुणस् तं प्रपद्ये हुताशम्।।1।।

अन्वयार्थ :

शश्वत् = निरन्तर
श्रीमद्वृन्दावनेन्दु-प्रकटित-रसिकानन्द-सन्दोहरूप-स्फुर्जद्रासादि-लीलामृतजलधि-भराक्रान्त-सर्वः = श्रीवृन्दावन के चन्द्र के द्वारा प्रकटित रसिक भक्तों के आनन्द के सन्दोहरूप से विस्तरित होनेवाली रासादि लीला के अमृतसमुद्र से सब आप्लावित होने से
अपि = भी, **सन्** = होने पर
आत्मानुभाव-प्रकटनहृदयस्य = अपने अनुभव को प्रकट करने के मनवाले
तस्य = उनकी, **एव** = ही
आज्ञया = आज्ञा से
भूमौ = भूतल पर, **यः** = जो
अतिकरुणः = अतिकरुण
मनुष्याकृतिः = मनुष्य की आकृतिवाले
तं = उनको, **हुताशं** = अग्नि को
प्रपद्ये = शरणागत होता हूँ

भावार्थ : श्रीमद्-वृन्दावनचन्द्र श्रीकृष्ण ने भक्तिरसिकों के लिए आनन्द के समूह जैसी रासादि लीलाओं के अमृतसिन्धु को प्रकट किया इसलिए सर्वदा जिनका अंग-प्रत्यंग आप्लावित होने पर भी, जिस तरह का रूप धारण करके जैसी लीला करनी है, उसका अनुभव कराने के आशयवाले श्रीकृष्ण की ही आज्ञा से जो अतिकरुणा करके, भूतल पर मनुष्याकृति धारण करके प्रकट हुए, उन अग्नि की मैं शरण जाता हूँ।

व्याख्या :

श्रीमद्वृन्दावन के चन्द्ररूप प्रभु के द्वारा प्रकटित रसिकों के आनन्द का जो समूह है और उस समूह में से स्फुरित होनेवाली रासादि लीलाओं का जो अमृत का सागर है, उस 'जलधि' अर्थात् सागर (जलधि के ज्वार से अभिप्राय है) का ज्वार श्रीमहाप्रभुजी के श्रीअंग में निरन्तर उभरता ही रहता है अर्थात् भगवद्लीला का ज्वार निरन्तर आता ही रहता है। चन्द्रमा उगता है तो ज्वार आता है। इसी प्रकार भगवान वृन्दावन के चन्द्रमा हैं और उस चन्द्रमा को देख कर श्रीमहाप्रभुजी के श्रीअंग में भगवद्लीला का ज्वार आता ही रहता है। ज्वर मत समझ जाएँ। ज्वार एक अलग वस्तु है और ज्वर एक अलग वस्तु है। 'ज्वार' अर्थात् चन्द्रमा के आकर्षण से समुद्र के जल का ऊपर उठना।

श्रीमहाप्रभुजी के प्रत्येक अंग में भगवल्लीला का ज्वार आता है और उन प्रभु ने अपना आत्मानुभाव-यह 'आत्मानुभाव' बहुत ही मीठा शब्द है, आत्मनुभाव नहीं, 'आत्मानुभाव' अर्थात् आत्मा अपने आप को किस प्रकार अपने समक्ष प्रकट करना चाहता है; परमात्मा कृष्ण स्वयं को अपने समक्ष किस प्रकार प्रकट करना चाह रहे हैं? वह आत्मानुभाव प्रकट करने का उनका जो मनोरथ है, उस मनोरथवाले प्रभु की आज्ञा से ही प्रकट होता है। ऐसे अपने श्रीमहाप्रभुजी अतिकरुणाशील हैं। एक सन्मनुष्याकृति के रूप में श्रीमहाप्रभुजी प्रकट हुए हैं। उन 'हुताशम्' अर्थात् अग्नि की शरण में मैं जाता हूँ। ऐसा

श्रीगुसांईजी कहते हैं।

यदि मैं भूल नहीं रहा हूँ तो यह श्लोक भी थोड़ा विवादास्पद है कि श्रीगोपीनाथजी द्वारा रचित है अथवा श्रीगुसांईजी द्वारा रचित है। चाहे श्रीगुसांईजी ने प्रकट किया हो या श्रीगोपीनाथजी ने प्रकट किया हो परन्तु प्रसिद्ध मान्यता यह है कि श्रीगुसांईजी द्वारा रचित है। कोई मान्यता ऐसी भी है कि यह श्रीगोपीनाथजी ने प्रकट किया है। इसमें कौनसा पक्ष ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सत्य है – इस बारे में मेरा कोई निश्चित निर्णय नहीं है। इसलिए प्रसिद्ध मान्यता श्रीगुसांईजी द्वारा रचित मानी जाती है। हम भी उसी को मान कर चलते हैं परन्तु एक मत ऐसा भी है कि यह भी श्रीगोपीनाथजी द्वारा प्रकट किया गया स्तोत्र है।

अत: भूमि पर श्रीमहाप्रभुजी के स्वरूप के प्रादुर्भाव का हेतु क्या है? हेतु और प्रयोजन का अर्थ समझें। हेतु कार्य के पहले होता है और प्रयोजन कार्य प्रकट होने के पश्चात् सिद्ध होता है। जैसे हम यहाँ एकत्रित हुए तो एकत्रित होने का हेतु एक अलग वस्तु है। हेतु यह है कि हमें श्रीमहाप्रभुजी के ग्रन्थों को जानना है और जब हम श्रीमहाप्रभुजी के ग्रन्थों का अध्ययन कर लेंगे तब प्रयोजन सिद्ध होगा। इस प्रकार हेतु कार्य से पहले होता है और प्रयोजन कार्य के पश्चात् होता है।

भाषा में 'हेतु' और 'प्रयोजन' एक-दूसरे के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होते हैं परन्तु पारिभाषिक रूप से दोनों स्वतंत्र हैं। हेतु पहले होता है और प्रयोजन बाद में होता है। कार्य हो जाने के बाद ही प्रयोजन सिद्ध होता है। 'हेतु' ऐसा शब्द है जो प्रयोजन के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है और कारण के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। यहाँ 'हेतु' का अर्थ है – कारण।

''तस्यैवात्मानुभाव प्रकटन हृदयस्याज्ञया'' – श्रीमहाप्रभुजी के प्रकट होने का कारण क्या है और प्रयोजन क्या है? उनका जो आत्मानुभाव है वह प्रयोजन है और जो आज्ञा है वह कारण, हेतु है। प्रयोजन- 'तस्यैवात्मानुभाव प्रकटन' – प्रभु का आत्मानुभाव है अर्थात् प्रभु अपने आपको पुष्टिजीवों के समक्ष जिस प्रकार प्रकट करना चाहते हैं, उस बात को सम्प्रेषित करने के लिए श्रीमहाप्रभुजी प्रकट हुए। अब ध्यान से समझें कि प्रभु अपने आपको किस प्रकार प्रकट करना चाहते हैं। प्रकट पुंभाव और गूढ़स्त्रीभाव से। यह बात श्रीमहाप्रभुजी ने हमें समझाई है।

यह बात जब समझा दी तो हमें श्रीठाकुरजी के समक्ष किस प्रकार जाना चाहिए – प्रकट स्त्रीभाव और गूढ़ पुंभाव से, अन्यथा तो बेचारे श्रीमहाप्रभुजी के प्राकट्य का प्रयोजन हम निष्फल कर रहे हैं। वे आत्मानुभाव प्रकट करने की आज्ञा से प्रकट हुए। आज्ञा, हेतु है और प्रयोजन कब सिद्ध होगा – जब श्रीमहाप्रभुजी के प्रकट होने के कारण हम प्रभु के इस भाव को समझें कि प्रभु प्रकट पुंभाववाले होने के बावजूद गूढ़ स्त्रीभाववाले हैं। यह भाव हमारे लिए श्रीमहाप्रभुजी अपनी वाणी से साक्षिरूप से व्यक्त न करें तो कौन करेगा? इस बात को ध्यान से समझें। हेतु और प्रयोजन इस प्रकार स्पष्ट रूप से समझ लें।

(श्रीवल्लभप्रादुर्भावाभावे दैवसृष्टिवैयर्थ्यम्) -

यदि श्रीमहाप्रभुजी प्रकट नहीं हुए होते तो दैवीसृष्टि व्यर्थ हो जाती। आज की दैवी सृष्टि तो वल्लभपंथ की हो गई है। श्रीगुसांईजी की समझ ऐसी नहीं है। उनकी समझ यह थी कि श्रीमहाप्रभुजी प्रकट न हुए होते तो दैवी सृष्टि व्यर्थ हो जाती। क्यों? किसलिए दैवीसृष्टि व्यर्थ हो जाती?

नाविर्भूयाद् भवांश्चेद् अधि-धरणि-तलं भूतनाथोदितासन्-
मार्गध्वान्तान्धतुल्या निगमपथगतौ देवसर्गेऽपि जाता:।

घोषाधीशं तदेमे कथमपि मनुजाः प्राप्नुयुर् नैव दैवी
सृष्टिर् व्यर्था च भूयान्निज-फल-रहिता देव! वैश्वानरैषा।।2।।

अन्वयार्थ :

देव! = हे देव
वैश्वानर! = हे वैश्वानर
चेद् = यदि, **भवान्** = आप
अधिधरणितलं = भूतल पर
न = नहीं
आविर्भूयाद् = प्रकट होते
निगमपथगतौ = वेदमार्ग पर चलने में
देवसर्गे = देवसर्ग में, **अपि** = भी
जाताः = जन्म लिए हुए
इमे = ये, **मनुजाः** = मनुष्य
भूतनाथोदिताऽसन्मार्गध्वान्तान्धतुल्या = शिवजी द्वारा प्रचारित असन्मार्ग रूप अंधकार से अंधे की भांति हुए
कथमपि = किसी प्रकार से
घोषाधीशं = व्रज के अधिपति को
नैव = नहीं ही
प्राप्नुयुः = प्राप्त कर सकते
निजफलरहिता = अपने फल से रहित
एषा = ये, **सृष्टिः** = सृष्टि
व्यर्था = व्यर्थ, **च** = ही
भूयात् = हो जाती

भावार्थ : हे देव, हे अग्निस्वरूप! यदि आप इस भूतल पर प्रकट न होते तो वेदोक्त मार्ग की सरणि में देवसर्ग में प्रकट होने के बावजूद श्रीमहादेवजी द्वारा कथित असन्मार्ग के अंधकार से अंधों की भाँति हुए जीव, श्रीनंदनंदन श्रीकृष्ण को किसी भी प्रकार से प्राप्त नहीं होते और अपने श्रीहरिरूप फल से रहित हुई यह दैवीसृष्टि भी व्यर्थ हो जाती।

व्याख्या :

क्या गजब की बात कही है कि यदि आप भूतल पर प्रकट न होते तो इस भूतल पर प्रकट किए गए श्रीशंकराचार्यजी के मायावाद के कारण सब अपनी-अपनी ''अहम् ब्रह्मास्मि'' की धारणा से परेशान होते। जैसे अपने यहाँ समानान्तर धारा ''अहं पुरुषोत्तमास्मि'' की चलाई जा रही है। आपश्री ने प्रकट हो कर स्पष्ट किया कि आप पुरुषोत्तम नहीं हैं। पुरुषोत्तम वह है, उसका भजन करेंगे तो दैवी सृष्टि व्यर्थ नहीं होगी अन्यथा वापस व्यर्थ हो जाएगी।

अभिप्राय यह है कि श्रीशंकराचार्यजी द्वारा तो असन्मार्ग प्रचलित था ही कि ''अहं ब्रह्मास्मि।'' हमने ब्रह्म के स्थान पर पुरुषोत्तम स्थापित कर दिया कि अहं पुरुषोत्तमास्मि, उस असन्मार्ग का सुन्दर संशोधित संस्करण हमने प्रस्तुत कर दिया। जो श्रीशंकराचार्य ने प्रस्तुत किया, हमने उसका संशोधित संस्करण प्रस्तुत किया। वे कहते थे - अहं ब्रह्मास्मि, हमने कह दिया - अहं पुरुषोत्तमास्मि। अब आ जाएँ - दैवीसृष्टि को व्यर्थ करनेवाले प्रच्छन्न शंकराचार्य!!!

''नाविर्भूयाद् भवांश्चेद् अधि-धरणि-तलं भूतनाथोदिता'' - 'भूतनाथ' शब्द का प्रयोग किया है। 'शंकर' शब्द का प्रयोग नहीं किया है क्योंकि 'शंकर' शब्द का प्रयोग करने से अर्थ हो जाता है - कल्याण

करनेवाला।'भूतनाथ' का प्रयोग करें तो वास्तव में डर लगता है कि कुछ चक्कर है। भूतनाथ हैं इसलिए सब भूतों को ले कर आएंगे। ''भूतनाथोदित असन् मार्ग'' – भूतनाथ द्वारा प्रवर्तित जो असन्मार्ग है उस असन्मार्ग के ध्वान्त अर्थात् अंधकार से अंधे बने हुए लोग – ''निगमपथगतौ देवसर्गेऽपि जाताः'' – दैवीसर्ग में प्रकट होने पर भी कभी पुरुषोत्तम को नहीं भज पाते। आपने प्रकट हो कर यह बात बताई कि ''अहं ब्रह्मास्मि – अहं पुरुषोत्तमास्मि'' नहीं। ''इति श्रीकृष्णदासस्य वल्लभस्य हितं वचः, चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत्'' – ये कृष्णदास वल्लभ के वचन हैं। ध्यान से सुनें, जिन्हें सुन कर भक्त निश्चित हो जाएंगे परन्तु ये दुष्ट अंध भूतनाथोदित असन्मार्ग से अंधे हुए लोग निश्चिन्त नहीं हो सकते। उनको चिंता हो जाएगी कि फिर हमारा क्या होगा – हम तो पुरुषोत्तम हैं! अतः बात ऐसी नहीं थी, समझने में बहुत अन्तर आ गया है। ध्यान से समझ जाएँ।

''देवसर्गेऽपि जाताः, घोषाधीशं तदेमे कथमपि मनुजाः प्राप्नुयुर् नैव दैवी'' – उन घोषाधीश श्रीठाकुरजी को यह दैवीसृष्टि कभी भी प्राप्त कर ही नहीं पाती, दैवी मनुष्य उनको प्राप्त नहीं कर पाते तो उनकी ''सृष्टिर्व्यर्था च भूयान्'' यह सृष्टि व्यर्थ हो जाती। क्यों व्यर्थ हो जाती? ''निजफलरहिता'' – ''भगवान्एव हि फलं स यथा आविर्भवेद् भुवि, गुणस्वरूपभेदेन'' (पु.प्र.म.) भगवान ही फल हैं, आप फल नहीं हैं, मैं फल नहीं हूँ। इस प्रकार यह दैवीसृष्टि व्यर्थ हो जाती देव, वैश्वानरेषा!

श्रीगुसांईजी या श्रीगोपीनाथजी – जिन्होंने भी श्रीमहाप्रभुजी का यह गुणगान किया है उसे देखेंगे तो आपको पुष्टिमार्ग को समझना आएगा। वह गुणगान हम नहीं जान पाएंगे तो हम पुष्टिमार्ग को समझ नहीं सकेंगे। प्रवर्तमान स्थिति इतनी खराब है। इस बात को ध्यान से समझ लें कि श्रीगुसांईजी ने या श्रीगोपीनाथ जी ने, जिन्होंने भी यह गुणगान किया है उसे देखें कि किस बात

पर – किस मुद्दे पर श्रीमहाप्रभुजी के बारे में समझा रहे हैं। वह विषय समझ जाएंगे तो हमें मार्ग को समझना आएगा। श्रीमहाप्रभुजी की वाणी को समझना आएगा। इसके पश्चात् उसको आधार प्रदान करनेवाला अगला श्लोक आ रहा है।

(ऋते वाक्पतिं श्रुत्याशयानवबोधः) –

वाणी के पति श्रीवल्लभ बिना वेदवाणी का सच्चा अर्थ किसी के द्वारा समझाया नहीं जा सकता।

न ह्यन्यो वागधीशाच् छ्रुतिगणवचसां भावम् आज्ञातुम् ईष्टे
यस्मात् साध्वी स्वभावं प्रकटयति वधूर् अग्रतः पत्युरेव।
तस्माच् छ्रीवल्लभाख्य त्वदुदितवचनाद् अन्यथा रूपयन्ति
भ्रान्ता ये ते निसर्गत्रिदशरिपुतया केवलान्धन्तमोगाः।।3।।

अन्वयार्थ :

वागधीशाद् = वाणी के अधीश से
अन्यः = अन्य
श्रुतिगणवचसां = श्रुतिगण की वाणी के
भावं = भाव को
आज्ञातुं = भलीभाँति जानने में
नहि = नहीं, **ईष्टे** = समर्थ हैं
यस्मात् = क्योंकि, **पत्युरेव** = पति के ही
अग्रतः = आगे, **साध्वी** = सत्
वधूः = पत्नी
स्वभावं = अपने भाव को

प्रकटयति= प्रकट करती है

तस्मात्= इसलिए

श्रीवल्लभाख्य!= हे श्रीमहाप्रभु!

ये= जो, **त्वदुदितवचनाद्**= आपके कहे गए वचनों से

अन्यथा= अन्यथा

रूपयन्ति= निरूपण करते हैं

ते= वे, **निसर्गत्रिदशरिपुतया**= स्वभाव से ही देवों के प्रति दुष्मति के कारण

भ्रान्ता= भ्रमित, **केवलान्धन्तमोगाः**= केवल अन्धतम नर्क को प्राप्त होते हैं

भावार्थ : वाणी के पति के अतिरिक्त दूसरा कोई श्रुतिगण के वचनों के भाव को जानने में समर्थ नहीं है। क्योंकि पतिव्रता स्त्री अपने पति के आगे ही अपना आशय प्रकट करती है। इसलिए हे श्रीवल्लभ! जो लोग आपके कहे वचनों से अन्यथा वेदों का अर्थ कहते हैं, वे स्वभाव से ही असुर प्रकृति होने से भ्रान्त होने से केवल अंधतम नरक को ही प्राप्त होते हैं।

व्याख्या :

पुष्टिमार्ग में जो श्रीमहाप्रभुजी की वाणी को हीनतर-गौण करना चाहते हैं उनको कितना बड़ा शाप श्रीगुसांईजी दे रहे हैं। श्रीमहाप्रभुजी को ऊपर उठा कर श्रीमहाप्रभुजी की वाणी को जो गिराना चाहते हैं उनको कितना बड़ा शाप दिया है वह देखें। ''न ह्यन्यो वागधीशाच् छ्रुतिगणवचसां भावम् आज्ञातुम् ईष्टे'' - वाक्पति के अतिरिक्त वाणी के भाव को कौन समझ सकता है? और क्यों नहीं समझ सकता? कहते हैं कि वाणी महान सती है। वह अपने पति के अतिरिक्त अन्य को अपना भाव नहीं बताएगी। इसलिए वाक्पति ही अपनी सती-पत्नी के भाव को समझ सकते हैं।

''न ह्यन्यो वागधीशाच् छ्रुतिगणवचसां भावम् आज्ञातुम् ईष्टे'' -

श्रुतिगण के वचनों का भाव वाक्पति के अतिरिक्त अन्य कोई समझने में समर्थ नहीं है। क्योंकि श्रुति की वाणी बहुत साध्वी वाणी है, अर्थात् व्यभिचारिणी वाणी नहीं है। अपने पति के आगे ही अपने भाव को स्फुट करती है। ''यस्मात् साध्वी स्वभावं प्रकटयति वधूर् अग्रतः पत्युरेव'' - अपने पति के आगे ही अपने भाव को प्रकट करती है।

''तस्माच्छ्रीवल्लभाख्य त्वदुदितवचनाद् अन्यथा रूपयन्ति, भ्रान्ता ये ते निसर्गत्रिदशरिपुतया केवलान्धन्तमोगाः'' - इसलिए हे श्रीवल्लभ! आपके वचन से जो अन्यथा निरूपण करते हैं वे भ्रान्त हैं, निसर्ग त्रिदशरिपु हैं अर्थात् स्वाभाविक रूप से वे राक्षस हैं। यह बात समझ लें और केवलान्धन्तमोगाः - अंधतम नरक में ही जानेवाले हैं। हम कहते हैं कि श्रीमहाप्रभुजी की वाणी का कोई मूल्य नहीं है। बस, श्रीमहाप्रभुजी के हिसाब से भक्ति करते जाएँ, पुष्टिमार्ग में भक्ति करें। भक्ति किस प्रकार करनी चाहिए, यह कैसे समझेंगे?

श्रीमहाप्रभुजी की वाणी ही सिद्धान्त है। यदि आप श्रीमहाप्रभुजी की वाणी का अवगाहन नहीं करेंगे तो आप सब अंधतम नरक में जानेवाले हैं, यह बात स्पष्ट है। अथवा तो इस स्तोत्र को ''गणपति बापा मोरिया'' बोलकर जुहू स्थित समुद्र में किसी दिन पधरा दें और यदि नहीं पधरा सकते तो एक बात साफ समझ लें कि श्रीमहाप्रभुजी की वाणी से पुष्टिमार्ग कभी विपरीत नहीं जा सकता और यदि विपरीत जा रहा है तो अन्धतम नरक में ही जा रहा है; किसी नित्यलीला में नहीं जा रहा, वैकुण्ठ में नहीं जा रहा है। वह अन्धतम नरक में ही जा रहा है, फिर भले ही कोई प.भ. हो, पुरुषोत्तम हो, बापा हो या बापी हो। ये सब हमारे अग्रगण्य प्रमुख अन्धतम में ले जानेवाले हैं। यह बात ध्यान से समझ लें कि वे अगुआ हैं और हम अन्धतम में जानेवाले उनके अनुयायी हैं।

यह श्लोक बता रहा है कि - ''ऋते वाक्पतिं श्रुत्याशयानवबोधः''

वाक्पति बिना श्रुति का सच्चा आशय समझ में नहीं आता। जितना भयंकर शाप है उतना मैंने पूर्णत: शीर्षक में स्पष्ट नहीं किया है। क्योंकि शाप की भी एक सीमा है जो श्लोक से प्रकट हो तो उत्तम, उसमें हम क्या प्रकट कर सकेंगे? इसमें बहुत अधिक कह दिया है और इतना सब शुरुआत में नहीं कहा जा सकता।

इसके पश्चात् चौथा श्लोक आ रहा है (**स्वास्यप्रादुर्भावितमार्गे निवेदितस्य साक्षाद् उपभोग:**) – प्रभु के स्वयं के मुख से प्रकट इस मार्ग के अन्तर्गत हम जो भी प्रभु को निवेदित करते हैं उसका प्रभु साक्षात् उपभोग करते हैं। यह बात आगे के श्लोक में समझा रहे हैं। ''सौन्दर्यं....'' की भाँति यह भी बहुत ही सुन्दर श्लोक है और इसका भी उसी प्रकार पुष्टिमार्ग में महान अनर्थ किया गया है जिसकी कोई पराकाष्ठा नहीं है।

प्रादुर्भूतेन भूमौ व्रजपति-चरणाम्भोज-सेवाख्य-वर्त्म-
प्राकट्यं यत् कृतं ते तदुत निजकृते श्रीहुताशेति मन्ये।
यस्माद् अस्मिन् स्थितो यत्किमपि कथमपि क्वाप्युपाहर्तुम् इच्छ-
त्यद्धा तद् गोपिकेश: स्ववदनकमले चारुहासे करोति।।4।।

अन्वयार्थ :

श्रीहुताश! = हे अग्नि!, **भूमौ** = भूमि पर
प्रादुर्भूतेन = प्रकट हो कर
ते = वह, **यत्** = जो
व्रजपतिचरणाम्भोजसेवाख्यवर्त्मप्राकट्यं = व्रजपति के चरणकमल की सेवा के नामवाले मार्ग का जो प्राकट्य
कृतं = किया है, **तद्** = वह
उत = निश्चितरूप से
निजकृते = निजभक्तों के लिए किया है

इति = ऐसा, **मन्ये** = मानता हूँ
यस्माद् = क्योंकि, **अस्मिन्** = इसमें
स्थितो = स्थित, **यत्किमपि** = जो कुछ भी
कथमपि = किसी भी प्रकार से, **क्वापि** = कहीं भी
उपाहर्तुम् = देने को, **इच्छति** = इच्छा करता है
अद्धा = निश्चितरूप से, **तद्** = उसको
गोपिकेश: = गोपियों के ईश
चारुहासे = हंसते हुए
स्ववदनकमले = अपने मुखकमल में
करोति = करते हैं

भावार्थ : हे अग्निस्वरूप! भूतल पर प्रकट हो कर आपने श्रीहरि के चरणकमल की सेवा करने का जो मार्ग प्रकट किया है वह निश्चय ही अपने तथा भक्तों के लिए प्रकट किया है। यह मैं मानता हूँ। क्योंकि यदि इस मार्ग में स्थित भक्त कोई वस्तु, किसी भी प्रकार से, कहीं भी रह कर अर्पण करना चाहे तो उस वस्तु को श्रीगोपीजनवल्लभ अपने सुन्दर हास्ययुक्त मुखकमल में अंगीकार करते हैं।

व्याख्या :

श्रीगुसांईजी हों या श्रीगोपीनाथजी, जो भी हों, वे यह गान कर रहे हैं। मैं गुणगान शब्द का प्रयोग इसलिए कर रहा हूँ कि जैसा मैंने पूर्व में बताया था कि गुणों के स्तोत्र में गुणस्तुति की जाती है, रूपस्तुति की जाती है। 'स्तुति' अर्थात् उनको पसन्द करना। अत: वे किस प्रकार स्तुति कर रहे हैं कि प्रकट होने के बाद ''व्रजपतिचरणाम्भोजसेवाख्यवर्त्म'' – व्रजपति श्रीठाकुरजी के चरणकमल की सेवा रूपी जो मार्ग आपने प्रकट किया है, श्रीगुसांईजी कह रहे हैं कि वह तो स्वयं अपने लिए प्रकट किया हुआ मार्ग है। क्यों? क्योंकि आप

मुखारविन्द हैं और आपने प्रभु के चरणों की सेवा का जो मार्ग प्रकट किया है वह किसी अन्य के लिए थोड़े ही प्रकट किया है, स्वयं अपने लिए प्रकट किया है।

इस श्लोक के अर्थ के रूप में जो सम्पूर्ण अनर्थ की परम्परा खड़ी की जा रही है, उसे ध्यान से समझें। श्रीगुसांईजी का आशय इस अनर्थ में नहीं है अन्यथा इस बात को इतनी सावधानीपूर्वक कहते ही नहीं। यह वर्त्म (मार्ग) जो श्रीमहाप्रभुजी ने प्रकट किया है वह ''व्रजपति चरणाम्भोज सेवाख्य वर्त्म''- है और उसमें यह भाव अतिशय गूढ़ भाव है, क्योंकि श्रीमहाप्रभुजी मुखारविन्द रूप हैं। उन्होंने अपने लिए ही प्रकट किया है। इस प्रकार यह श्रीमहाप्रभुजी की स्तुति है, हम इस प्रकार से श्रीमहाप्रभुजी को पसन्द करते हैं।

''यस्माद् अस्मिन् स्थितो यत्किमपि कथमपि क्वाप्युपाहर्तुम् इच्छति''- इस मार्ग में स्थित हो कर ''व्रजपतिचरणाम्भोजसेवाख्यवर्त्म'' - इस मार्ग में स्थित हो कर कहा है परन्तु वैष्णवों को निन्यानवे प्रतिशत बेवकूफ बनाया जा रहा है कि आप सेवा न करें। सामग्री दे जाएँ तो श्रीठाकुरजी आरोग लेंगे। श्रीठाकुरजी आरोगेंगे ही नहीं क्योंकि आप स्वयं सेवा कर रहे हैं तो श्रीठाकुरजी आरोग रहे हैं, बाकी सेवा नहीं कर रहे तो श्रीठाकुरजी क्या भुक्खड़ हैं? क्या श्रीठाकुरजी बैठ कर माला फेर रहे हैं कि कोई मनोरथी आए? श्रीठाकुरजी भुक्खड़ नहीं हैं।

''यस्माद् अस्मिन् स्थितो यत्किमपि कथमपि'' - कुछ भी आरोग लेंगे। ऐसा नहीं है कि मोहनथाल ही हो, लड्डू ही हो, कुछ भी - किमपि, कथमपि - किसी भी प्रकार से अर्थात् कुएँ के जल से, नल के जल से, टंकी के जल से, डंकी के जल से - सब बातों को स्पष्ट कर दिया है। किमपि कथमपि क्वापि - केवल यहाँ ही नहीं अपितु कहीं भी। बालक बेवकूफ बनाते हैं कि व्रज में ही सेवा करनी चाहिए। ऐसा कैसे कह सकते हैं? प्राचीन बालक यह

नहीं कहते कि व्रज में ही सेवा करनी चाहिए। क्वापि - कहीं भी अर्थात् भारत में ही नहीं बल्कि किसी भी देश में। ''**क्वाप्युपाहर्तुम् इच्छत्यद्धा तद् गोपिकेशः स्ववदनकमले चारुहासे करोति**'' - गोपीकेश श्रीठाकुरजी अपने चारुहास वदनकमल में उसको निश्चितरूप से आरोगते हैं।

अब देखें, यहाँ कितनी खूबसूरत कलाबाजी (Somersault) खाई है कि अपने मार्ग में स्थित हो कर अपने लिए स्वयं ने मार्ग प्रकट किया है अर्थात् श्रीठाकुरजी आरोगते हैं। यह शत-प्रतिशत निश्चित है कि आपने प्रकट किया है, आप मुखारविन्द हैं तो श्रीठाकुरजी किसलिए नहीं आरोगेंगे? इस सम्पूर्ण तथ्य को तोड़-मरोड़ कर बालक कहते हैं कि बालकों के यहाँ विराजनेवाले श्रीठाकुरजी के चरण कृष्णरूप हैं और मुखारविन्द आचार्यरूप है। इसलिए ब्रह्मसम्बन्ध की तुलसी वहाँ पुरुषोत्तम से सम्बद्ध हो जाती है और वैष्णवों के यहाँ विराजनेवाले श्रीठाकुरजी के चरण आचार्यरूप हैं और मुखारविन्द पुरुषोत्तमरूप है। ऐसी ऊटपटांग ही सारी बातें करते हैं। यह बात शत-प्रतिशत झूठ है। श्लोक को समझेंगे तो सारी बात स्पष्ट हो जाएगी। यह बात चौथे श्लोक में बताई है।

(न भौतिकाग्नित्वं किन्तु श्रीकृष्णमुखविरहाग्निरूपत्वम्)

श्रीआचार्यचरण कोई भौतिक अग्नि नहीं हैं, श्रीकृष्णमुख के विरह की अग्नि हैं। श्रीमहाप्रभुजी विरहाग्निरूप हैं, अब यह बात समझाते हैं।

उष्णत्वैक-स्वभावोऽप्यति-शिशिर-वचः पुञ्ज-पीयूष-वृष्टीर्-
आर्तेष्वत्युग्र-मोहासुर-नृषु युगपत् तापमप्यत्र कुर्वन्।
स्वस्मिन् कृष्णास्यतां त्वं प्रकटयसि च नो भूत-देवत्वमेतद्-
यस्माद् आनन्ददं श्रीव्रजजन-निचये नाशकं चासुराग्नेः।।5।।

अन्वयार्थ :

उष्णत्वैकस्वभावोऽपि = उष्णत्व ही स्वभाव होने पर भी
आर्तेषु = दु:खीजनों पर
अतिशिशिरवच:पुञ्जपीयूषवृष्टि: = अत्यन्त शीतल वचनरूप अमृत की वृष्टि समान हैं
उग्रमोहासुरनृषु = उग्र मोहवाले असुरों पर
तापं = ताप को, **अपि** = भी
अत्र = यहां, **युगपत्** = एकसाथ
कुर्वन् = करते हुए
त्वं = आप, **स्वस्मिन्** = अपने में
कृष्णास्यतां = श्रीकृष्ण की मुखारविन्दता को
प्रकटयसि = प्रकट करते हैं, **च** = और
भूत-देवत्वं = महादेवत्व
न: = नहीं, **यस्माद्** = क्योंकि
एतत् = ये, **श्रीव्रजजननिचये** = व्रजजन के समूह को
आनन्ददम् = आनन्द देते हैं
आसुराग्ने: = आसुरी अग्नि के
नाशकं = नाश करनेवाले हैं, **च** = भी

भावार्थ : आप अग्निस्वरूप होने से आपका स्वभाव उष्णत्व का है फिर भी दीनजन पर शीतल वचनरूप अमृतवृष्टि करते हैं। साथ ही साथ अत्यधिक मोह वाले असुरों पर ताप भी करते हुए आप अपने में श्रीकृष्णास्यता को प्रकट करते हैं किन्तु अग्नित्व प्रकट नहीं करते। क्योंकि आपका यह स्वरूप व्रजजन समूह को तो आनन्द देता है और आसुराग्नि का नाश भी करता है।

व्याख्या :

''उष्णत्वैक-स्वभावोऽप्यति-शिशिर-वच:-पुञ्ज-पीयूष-वृष्टीर्''- श्रीआचार्यचरण लुंज-पुंज नहीं थे। बहुत ही गर्म स्वभाव के थे। किसी के भी समक्ष पिघलनेवाले मोमबत्ती जैसे ठण्डे स्वभाव के नहीं थे। ''उष्णत्वैक-स्वभावोऽप्यति-शिशिर-वच:'' - वचन आपके बहुत ही शीतल थे। ''पुञ्ज-पीयूष-वृष्टीर्'' - श्रीमहाप्रभुजी की वाणी का पुंज कैसा है - जैसे अमृत की वर्षा हो रही हो। इन दोनों प्रकार के स्वभाव के कारण क्या होता है? ''आर्तेष्वत्युग्र-मोहासुर-नृषु '' - जो आर्त हैं, आसुरी जीव-आसुरी मनुष्य हैं उन्हें तो बहुत अकुलाहट हो जाती है कि क्या कहना चाह रहे हैं - ''असुर नृषु युगपत् तापमप्यत्र कुर्वन्'' - उनको ताप उत्पन्न हो जाता है, मिर्च लग जाती है और जो भक्त हैं उन्हें बहुत ही शीतलता मिलती है कि श्रीआचार्यचरण ने कितनी गजब की बात कही है।

''स्वस्मिन् कृष्णास्यतां त्वं प्रकटयसि'' - आप स्वयं में कृष्णास्यता प्रकट कर रहे हैं। ''नो भूतदेवत्वम्'' - केवल अग्नित्व प्रकट नहीं करते। ''यस्माद् आनन्ददं श्रीव्रजजन-निचये नाशकं चासुराग्ने:'' - क्योंकि व्रजजन निचय, व्रजभाववाले भक्तों को तो आप आनन्द प्रदान कर रहे हैं और आसुराग्नि नाशक भी हैं। इस प्रकार श्रीमहाप्रभुजी के उभयरूप बताए हैं।

(आनन्दरूपश्रीवल्लभाग्ने: आनन्दरूपश्रीकृष्ण सेवोदधिजन्म)- श्रीमहाप्रभुजी आनन्दरूप हैं, अग्नि हैं और इसलिए सेवा रूपी सागर भी आनन्दात्मक ही प्रकट हुआ है। यह बात आगे के श्लोक में कह रहे हैं।

आम्नायोक्तं यदम्भो भवनमनलतस् तच्च सत्यं विभो! यत्
सर्गादौ भूतरूपाद् अभवद् अनलत: पुष्करं भूतरूपम्।

आनन्दैकस्वरूपात् त्वदधिभु यद् अभूत् कृष्णसेवारसाब्धिश्-
चानन्दैक-स्वरूपस् तदखिलम् उचितं हेतुसाम्यं हि कार्ये ।।6।।

अन्वयार्थ :

विभो = हे विभु!
आम्नायोक्तं = वेद में कथित
यद् = जो , **अनलतः** = अग्नि से
अम्भः = जल का, **भवनं** = होना
तत् = वह, **सत्यं** = सत्य
च = और, **यत्** = जो
सर्गादौ = सृष्टि के आरम्भ में
भूतरूपाद् = भूतरूप से
अनलतः = अग्नि से
भूतरूपं = भूतरूप, **पुष्करम्** = जल
अभवद् = हुआ, **यद्** = जो
आनन्दैकस्वरूपात् = आनन्दमात्र स्वरूप
त्वद् = आपसे, **अधिभु** = पृथ्वी पर
कृष्णसेवारसाब्धिः = श्रीकृष्णसेवा रूपी रस के सागर
आनन्दैकस्वरूपः = आनन्दमात्र स्वरूप
अभूत् = हुए, **तत्** = वह
कार्ये = कार्य में
हेतुसाम्यं = हेतु की समानता
हि = ही, **अखिलम्** = सब
उचितम् = उचित ही (है)

भावार्थ : वेद में अग्नि से जल की उत्पत्ति कही गई है वह सत्य है। हे प्रभो!

सृष्टि के आदि में जैसे भूतस्वरूप अग्नि से भूतस्वरूप जल हुआ वैसे इस भूतल पर आनन्दस्वरूप आपसे यह श्रीकृष्ण सेवारूप रससमुद्र भी आनन्दस्वरूप ही हुआ है। यह उचित भी है क्योंकि कार्य में कारण का सादृश्य आता ही है।

व्याख्या :

वेद में यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि अग्नि से जल प्रकट हुआ। अतः श्रीगुसांईजी कहते हैं कि यह बात आपके संदर्भ में एकदम सत्य हो रही है। कैसी अग्नि से? कृष्णविरह रूपी अग्नि से, भगवत्सेवा रूपी जल प्रकट हुआ। इस अर्थ में वेद की बात सर्वथा सत्य है - ऐसा श्रीगुसांईजी कह रहे हैं, स्तुति कर रहे हैं।

कहते हैं कि यह बात तो ठीक है। ''आम्नायोक्तं यदम्भो भवनमनलतस् तच्च सत्यं विभो! यत् सर्गादौ भूतरूपाद् अभवद् अनलतः पुष्करं भूतरूपम्'' - सृष्टि के आरम्भ में प्रभु पहले आनन्दरूप हुए। वायोर् अग्नि और अग्नि से जल, जल से फिर पृथ्वी हुई। अतः भूतरूप जल प्रकट हुआ। श्रीमहाप्रभुजी के सृष्टि के सृजन की प्रक्रिया में एक विचित्रता है। ''आनन्दैकस्वरूपात् त्वदधिभु यद्अभूत् कृष्णसेवारसाब्धिश्'' - आनन्दस्वरूप आपसे पृथ्वी पर जो कृष्णसेवा का रसाब्धि प्रकट हुआ तो वह आनन्दस्वरूप ही प्रकट हुआ है। वहाँ क्या हुआ? अग्नि का स्वभाव कुछ अलग है तथा जल का स्वभाव कुछ और है इसलिए यहाँ विकृत परिणाम प्रतीत हो रहा है।

इस प्रकार तकनीकी रूप से अविकृत होने पर भी कुछ विकृत परिणाम लग रहा है। क्योंकि अग्नि में ताप है और जल शामक है तो स्वभाव बदल गया है। कारण का गुण कार्य में प्रकट नहीं दिखाई देता परन्तु आप कृष्ण की विरह रूप अग्नि से कृष्णसेवारूप जल प्रकट हुआ है। अतः दोनों आनन्दात्मक ही प्रकट हुए हैं। यह एक प्रकार का निर्माणकार्य है और यह बहुत सुन्दर निर्माण है जिसमें अविकृतपरिणाम भलीभांति स्पष्ट है।

''आनन्दैक-स्वरूपस् तदखिलम् उचितं हेतुसाम्यं हि कार्ये'' - हेतु अर्थात् कारण से कार्य में साम्य होना आवश्यक है। आप अग्निरूप हैं और किस प्रकार अग्निरूप हैं? आनन्दरूप अग्नि हैं और आपसे जो कृष्णसेवारूप जल प्रकट हुआ है, कृष्णसेवा का जो सागर लहरा रहा है वह भी आनन्दात्मक सागर है। यह बात यहाँ स्पष्ट की गई है। इसी बात को आगे थोड़ा बढ़ा कर अधिक सुन्दर स्तुति हो रही है।

(श्रीवल्लभमुखदर्शनेन श्रीकृष्णदिदृक्षार्तितापः) - श्रीवल्लभ के मुखदर्शन के कारण कृष्णदर्शन की लालसा और आर्तिताप बढ़ता है।

स्वामिन् श्रीवल्लभाग्ने! क्षणमपि भवतः सन्धाने कृपातः
प्राणप्रेष्ठ-व्रजाधीश्वर-वदन-दिदृक्षार्ति-तापो जनेषु।
यत् प्रादुर्भावमाप्नोत्युचिततरमिदं यत्तु पश्चाद् अपीत्थं
दृष्टेऽप्यस्मिन् मुखेन्दौ प्रचुरतरम् उदेत्येव तच्चित्रम् एतत्।।7।।

अन्वयार्थ :

स्वामिन् श्रीवल्लभाग्ने ! = हे स्वामी अग्निस्वरूप श्रीवल्लभ!
भवतः = आपका , **क्षणमपि** = क्षणभर भी
सन्निधाने = सन्निधान होने पर
कृपातः = कृपा से, **जनेषु** = लोगों में
प्राणप्रेष्ठव्रजाधीश्वरवदनदिदृक्षार्ति-तापो = प्राणों से भी प्रिय व्रज के अधिपति के वदन को देखने की आर्ति का ताप, **यत्** = जो
प्रादुर्भावम् = प्रकट, **आप्नोति** = होता है
इदम् = यह, **उचिततरं** = उचिततर
यत्तु = जो (ताप) तो, **अस्मिन्** = यह
मुखेन्दौ = मुखरूप चन्द्र को
दृष्टेऽपि = देखने, **पश्चाद्** = बाद में, **अपि** = भी

इत्थं = इस प्रकार से
प्रचुरतरम् = अतिशय तीव्रता से
एव = ही, **उदेति** = प्रकट होता है
तद् = वह, **एतद्** = यह
चित्रम् = आश्चर्यजनक है

भावार्थ : स्वामिन्! अग्निस्वरूप आचार्यवर्य! आपके क्षणभर सन्निधान से, कृपा से भक्तों के प्राणों से भी प्रिय श्रीहरि के मुखकमल को देखने की इच्छा का ताप होता है सो उचित ही है। परन्तु बाद में श्रीहरि के मुखकमल को देख कर भी विशेषतर ताप होता है, यह आश्चर्यजनक है।

व्याख्या :

श्रीमहाप्रभुजी के मुख के दर्शन करनेवालों के साथ क्या होता है? ''प्राणप्रेष्ठ-व्रजाधीश्वर-वदन-दिदृक्षार्ति-तापो जनेषु''- 'प्राणप्रेष्ठ व्रजाधीश्वर' अर्थात् अपने और सभी पुष्टिजीवों के जो प्राणप्रेष्ठ हैं अर्थात् ''प्राणादपि अधिक प्रिय'' - अपने प्राणों से भी प्रिय, ''त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते'' - में वर्णित प्राण। अतः प्राणों से भी अधिक प्रिय व्रजाधीश्वर के वदन के दर्शन की इच्छा के कारण आर्ति और ताप होता है। जो ब्रह्मसंबंध का हमारा केन्द्रीय भाव है वह प्रकट होता है। फिर कहते हैं कि यह बात तो ठीक है, इसमें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि जब मुखारविन्द प्रकट हुआ है तो एक बात समझ लें कि किन्हीं दो व्यक्तियों का चेहरा एक जैसा ही हो तो एक को देख कर दूसरे की याद आ जाना स्वाभाविक है। उसी प्रकार आपके मुख को देख कर हमें कृष्ण की याद आ जाती है जिससे अधिक विरह होता है, आर्ति होती है और ताप होता है, यह बहुत ही स्वाभाविक बात है। परन्तु ''दृष्टेऽप्यस्मिन् मुखेन्दौ'' - आपके मुखारविन्द को देखने के पश्चात् यह क्या विचित्रता है कि कृष्ण के मुखारविन्द के दर्शन का विरह बढ़ता ही जाता है?

जब आप कृष्ण के मुखारविन्द ही हैं तो आपके मुखारविन्द को देखने के पश्चात् कृष्ण का विरह शीतल होना चाहिए था परन्तु क्रियाव्यापार उलट रहा है। आप कृष्ण का ही मुखारविन्द हैं, कृष्ण जैसा ही आपका मुखारविन्द है तो आपका मुखारविन्द देखने के पश्चात् ताप बढ़ना तो नहीं चाहिए, घटना चाहिए। यहाँ तो कृष्ण के मुखदर्शन की आर्ति और ताप अधिकाधिक बढ़ता ही जा रहा है। यह बात बहुत ही विचित्र है।

जैसे दो मुखारविन्द एक समान हों तो एक को देखने के कारण दूसरे के मुखारविन्द को देख कर - जो शत-प्रतिशत समान है - विरहताप घट जाना चाहिए परन्तु घटने के स्थान पर बढ़ रहा है। यह बहुत ही विचित्र बात है। कह रहे हैं कि - ''दृष्टेऽप्यस्मिन् मुखेन्दौ प्रचुरतरम् उदेति'' - आर्ति प्रचुरतर ही होती जा रही है अर्थात् जो कोई भूल से भी श्रीमहाप्रभुजी के सम्पर्क में आ जाए तो उसमें कृष्णविरह प्रकट हो ही जाना चाहिए। कृष्णविरह प्रकट नहीं होता तो समझ लेना चाहिए कि श्रीमहाप्रभुजी के सम्पर्क में भलीभांति नहीं आए, कुछ चक्कर है। श्रीमहाप्रभुजी के सम्पर्क में आ कर भी कृष्णविरह क्यों प्रकट नहीं हुआ? कृष्ण का विरह प्रकट होना ही चाहिए था। जितना श्रीमहाप्रभुजी के सम्पर्क में आए उस अनुपात में तो कृष्ण का विरह प्रकट होना चाहिए या नहीं?

जैसे हमने श्रीमहाप्रभुजी के चित्रजी को देखा तो कृष्ण के मुखारविन्द के चित्रजी को देखने की इच्छा जग जानी चाहिए। हम श्रीमहाप्रभुजी के नामों का पाठ कर रहे हैं तो कृष्ण के मुखारविन्द का जिसमें वर्णन हो, वह पाठ करने की इच्छा प्रकट होनी चाहिए। हम श्रीमहाप्रभुजी के हस्ताक्षर की, पादुकाजी की, कहीं किन्हीं बैठकजी की सेवा कर रहे हैं तो हमें अपने माथे विराजमान श्रीठाकुरजी के दर्शन की लालसा प्रकट होनी चाहिए।

हम बैठकजी पर जाते हैं, झारी-चरणस्पर्श कर आते हैं। सब-कुछ करते हैं - मिश्री धरा आए, बादाम धरा आए, मूँगफली धरा आए और खा गए।

परन्तु अपने माथे विराजमान श्रीठाकुरजी के दर्शन करने की इच्छा ही पैदा नहीं हुई तो सब चौपट है। अर्थात् आपका सम्पर्क श्रीमहाप्रभुजी से नहीं होगा। यही बात श्रीगुसांईजी कहना चाह रहे हैं कि सब कुछ चौपट हो गया। आप मूँगफली खाकर आ गए परन्तु श्रीमहाप्रभुजी से सम्पर्क करके नहीं आए। सम्पर्क हुआ होता तो अपने माथे विराजमान श्रीठाकुरजी के मुखारविन्द की याद आनी ही चाहिए, यदि बैठकजी पर गए थे तो। यही बात बताई जा रही है कि - ''प्रचुरतरम् उदेत्येव तच्चित्रमेतत्'' - यह एक अद्‌भुत कामना है कि आपके मुखारविन्द के दर्शन करने से कृष्ण के मुख की याद बहुत तीव्र हो जाती है।

(अज्ञानान्धकारनिवारकत्वेनाग्नित्वं वस्तुतस्तु श्रीकृष्णत्वमेव)- अज्ञान रूपी अंधकार के निवारक होने से श्रीवल्लभ, अग्निरूप से वर्णित हैं। वस्तुतः तो आप श्रीकृष्ण का ही आचार्यरूप से प्रकटरूप हैं।

अज्ञानाद्यन्धकार-प्रशमनपटुता-ख्यापनाय त्रिलोक्याम्
अग्नित्वं वर्णितं ते कविभिरपि सदा वस्तुतः कृष्णएव।
प्रादुर्भूतो भवान् इत्यनुभव-निगमाद्युक्त-मानैर् अवेत्य
त्वां श्रीश्रीवल्लभेमे निखिलबुधजनाः गोकुलेशं भजन्ते।।8।।

अन्वयार्थ :

त्रिलोक्यां = तीनों लोक में
कविभिः = विद्वानों ने
अपि = भी, **ते** = वे
अग्नित्वम् = अग्नित्व
अज्ञानाद्यन्धकार-प्रशमन-पटुता-ख्यापनाय = अज्ञान आदि अन्धकार का भलीभांति शमन करने की चतुराई को प्रकट करने के लिए
सदा = सदा, **वर्णितं** = वर्णन किया है

वस्तुतः = वस्तुतः तो, **भवान्** = आप
कृष्ण = श्रीकृष्ण, **एव** = ही
प्रादुर्भूतः = प्रकट हुए हैं, **इति** = यह
अनुभवनिगमाद्युक्तमानैः = अनुभव, वेद आदि में कहे गए प्रमाणों से
अवेत्य = जान कर, **श्रीश्रीवल्लभ** = हे श्रीवल्लभ!
त्वां = आपको, **इमे** = ये
निखिलबुधजनाः = सब ज्ञानी लोग
गोकुलेशं = गोकुल के ईश को
भजन्ते = भजते हैं

भावार्थ : इस भूतल पर पंडितों ने आपका अग्नित्व केवल अज्ञानरूप अंधकार को दूर करने का चातुर्य प्रकट करने के लिए ही वर्णित किया है। वास्तव में तो आप श्रीकृष्ण ही प्रकट हुए हैं, ऐसा अनुभव और शास्त्रादि के प्रमाण से जान कर, हे श्रीवल्लभ! सभी विद्वान् आपको गोकुलेश जान कर ही भजते हैं।

व्याख्या :

''अज्ञानाद्यन्धकार-प्रशमनपटुता-ख्यापनाय'' - अज्ञान रूपी अंधकार के प्रशमन की पटुता के कारण, कुशलता होने के कारण जीव में स्थित अज्ञान अर्थात् कृष्ण संबंधी, कृष्णभक्ति संबंधी, कृष्णभजन संबंधी अज्ञान के प्रशमन की पटुता को प्रस्थापित करने के लिए अग्नि के रूप में आपकी स्तुति की जाती है। वस्तुतः तो श्रीमहाप्रभुजी कृष्ण ही हैं। क्योंकि - ''इत्यनुभव निगमाद्युक्त मानेर् अवेत्य'' - निगम-वेदादियुक्त जो भी कुछ अनुभव माना जाता है, उस सब से यह बात भलीभांति समझ में आ सकती है।

''निखिलबुधजनाः गोकुलेशं भजन्ते'' - जो विबुध हैं वे आपको गोकुलेश के रूप में भजना चाहते हैं। अब ध्यान से समझें। इस श्लोक का

कितना गलत अर्थ हो सकता है - ''निखिलबुधजनाः गोकुलेशं भजन्ते'' अर्थात् यदि श्रीमहाप्रभुजी ही अपना भजन कराना चाहते हैं तो फिर श्रीमहाप्रभुजी को श्रीगोकुलेश के रूप में भजने की क्या आवश्यकता है? श्री गोकुलेश के रूप में श्रीमहाप्रभुजी को भजने का तात्पर्य क्या है? बात समझ में आई या नहीं? यहाँ उस अर्थ में नहीं कहा गया है। श्रीमहाप्रभुजी में कृष्ण के भाव को, कृष्ण के विरह को ज्ञापित करने का सम्पूर्ण सामर्थ्य है। अतः कृष्ण जैसे ही हैं - कृष्ण ही हैं। श्रीमहाप्रभुजी में किसी प्रकार की न्यूनता का भाव हमें नहीं लाना चाहिए। यहाँ श्रीमहाप्रभुजी की स्तुति की गई है। इस प्रकार हमने वल्लभाष्टक का परिशीलन किया।

।। इतिश्रीमद्विट्ठलदीक्षितविरचितं श्रीवल्लभाष्टकं सम्पूर्णम्।।

॥ श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम्॥

भूमिका

श्रीमहाप्रभुजी ने **''कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरं श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेद् जिज्ञासुरादरात्'' (सर्व नि. 227)** - श्लोक में गुरु की जो तीन कसौटियाँ बताई हैं, उन तीन कसौटियों के ये सात श्लोक भाष्य रूप हैं, और कुछ नहीं है। इस बात को समझ लें कि प्रत्येक श्लोक को घुमा-फिरा कर श्रीमहाप्रभुजी को इन तीनों गुणों से किस प्रकार मंडित किया गया है। यही बताना सप्तश्लोकी का मुख्य अर्थ है कि श्रीमहाप्रभुजी किस प्रकार सेवापरायण हैं, किस प्रकार दम्भादि से रहित हैं, किस प्रकार भागवततत्त्वज्ञ हैं। बस, इसी बात को पुनः-पुनः कह कर जिसे गुजराती में 'वागोळवुं' (जुगाली करना) कहते हैं, गुरु के लक्षण निरूपित किए हैं। ये लक्षण श्रीमहाप्रभुजी में कितनी खूबसूरती से प्रकट हुए हैं, बस इसी बात की जुगाली के लिए ''स्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम्'' है।

'स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत' अर्थात् जिसमें कृष्ण के प्रेम का अमृत स्फुरित होता हो वह स्तोत्र। (**पुष्टिसम्प्रदायप्रवर्तकस्य गुरोः श्रीवल्लभस्य सप्तधा वर्णनम् : धर्मिस्वरूपस्य[1] ऐश्वर्यादिषड्गुणधर्माणां[2-7] च**)

पुष्टिसम्प्रदाय के प्रवर्तक गुरु श्रीवल्लभाचार्य का सप्तधा वर्णन है। अब ध्यान से देखें। धर्मिस्वरूप से पहले श्लोक में और दूसरे से सातवें श्लोक में ऐश्वर्यादिषड्गुणधर्म हैं। ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य इन षड्गुणों का वर्णन है। अब जहाँ कोई अंक हो तद्नुसार हमें समझना है। यह ग्रन्थ के उपक्रम का सारांश है।

(पुष्टिसम्प्रदायप्रवर्तकगुरोः श्रीवल्लभस्य स्वरूपलक्षणं : ''श्रीकृष्णलीलारूप-सेवाकथा-परायणत्वं'' तदेव धर्मिस्वरूपमिति[1]

निरूपणम्)

पुष्टिसम्प्रदाय के प्रवर्तक गुरु श्रीवल्लभ हैं। उनका स्वरूपलक्षण क्या है? 'स्वरूपलक्षण' अर्थात् किसी वस्तु को हमें परिभाषित करना हो तो कई प्रकार से किया जा सकता है। वस्तु का स्वरूप क्या है, वस्तु का कारण क्या है, उस वस्तु का कार्य क्या है, उस वस्तु का प्रयोजन क्या है, उस वस्तु को जानने का प्रमाण क्या है आदि। किसी भी वस्तु को परिभाषित करना हो तो ये सभी पक्ष हैं। इन पहलुओं के आधार पर वस्तु को परिभाषित कर सकते हैं।

जैसे हमें घड़े की परिभाषा देनी है तो कहेंगे कि मिट्टी अथवा धातु से अथवा आजकल प्लास्टिक से बना हुआ एक पात्र। यह हम घड़े का कारण लक्षण दे रहे हैं कि घड़ा किससे बना हुआ है। जब हम कह रहे हैं कि 'घड़ा' अर्थात् पानी भरने का एक पात्र तो यह प्रयोजनलक्षण बता दिया कि जिसमें पानी भरा जा सके, ऐसा एक पात्र। अब समझें कि पानी भरा जाना उसका कार्य है। पानी भरा जा सके वैसा एक पात्र, उसका कार्यलक्षण हुआ। आकार कहें तो भी स्वरूपलक्षण होगा - थोड़ा व्याख्यायित किया हुआ होगा।

संस्कृत में इसके लिए बहुत सुन्दर वाक्य है - ''पृथुबुद्ध उदराकार'' - गोल-मटोल पेट के आकार का एक पात्र। इस प्रकार हमने घड़े का स्वरूपलक्षण समझा - जिसमें पानी भरा जा सके। पानी भरने के लिए उपयोगी पात्र कह कर हमने कार्यलक्षण भी बताया। कुएँ में से पानी भरने का पात्र - तो हमने प्रयोजन बताया। इस प्रकार किसी वस्तु की परिभाषा बताना हो तो उसका कारण कहें, स्वरूप कहें, कार्य कहें, प्रयोजन कहें या प्रमाण कहें जिससे उसे जाना जा सके। उदाहरणस्वरूप H_2O कहें तो पानी की क्या परिभाषा हुई? यह कारणलक्षण हो गया कि H_2O से पानी बनता है। इस प्रकार यह पानी का कारणलक्षण है।

इसी प्रकार श्रीमहाप्रभुजी का स्वरूपलक्षण क्या है? क्योंकि स्वरूपलक्षण धर्मिलक्षण कहा जाएगा। शेष छः धर्म हो जाएंगे। इस प्रकार श्रीमहाप्रभुजी का स्वरूपलक्षण है – ''श्रीकृष्णलीलारूप सेवा-कथा परायणत्वम्।'' कृष्णलीलारूप सेवा में परायण हैं। ध्यान से समझें कि कृष्णसेवा में परायण हैं, कृष्णकथा में परायण हैं। परन्तु ऐसी सेवा-कथा नहीं जो कृष्णलीलारूप न हो। सेवा ऐसी नहीं जो क्रियारूप हो वरन् ऐसी सेवा जो कृष्णलीलारूप है। ऐसी कथा जो कृष्णलीलारूप कथा है- अन्य किसी कथा में परायण नहीं हैं कि अमिताभ बच्चन ने क्या किया, श्रीदेवी ने क्या किया, पद्मिनी कोल्हापुरे ने क्या किया, आदि कथा नहीं। कृष्णलीलात्मिका कथा में आप परायण हैं।

''तदेव धर्मिस्वरूपमिति निरूपणम्'' – यह कृष्णलीलारूप सेवा-कथा परायणता आचार्यचरण का धर्मिस्वरूप है।

*****

॥ श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम्॥

स्फुरत्-कृष्ण-प्रेमामृत-रस-भरेणाति-भरिता
विहारान् कुर्वाणा व्रजपति-विहाराब्धिषु सदा।
प्रिया गोपीभर्तुः स्फुरतु सततं 'वल्लभ' इति
प्रथावत्यस्माकं हृदि सुभगमूर्तिः सकरुणा।।1।।

अन्वयार्थ :

स्फुरत्कृष्णप्रेमामृतरसभरेण = स्फुरायमान होनेवाले कृष्णप्रेमरूप अमृतरस के भरण से
अतिभरिता = प्रचुर भरी हुई
व्रजपतिविहाराब्धिषु =व्रजपति के विहाररूप समुद्र में
सदा = सदा, **विहारान्** = विहार
कुर्वाणा = करती हुई
गोपीभर्तुः = गोपीजन के प्रति
प्रिया = प्रिय, **'वल्लभः'** = वल्लभ
इति = ऐसी, **प्रथावती** = प्रसिद्धिवाली
सकरुणा = करुणावान
सुभगमूर्तिः = सुन्दर मूर्ति
अस्माकं = हमारे
हृदि = हृदय में, **सततं** = सतत
स्फुरतु = स्फुरायमान रहे

भावार्थ : स्फुरित होनेवाले कृष्णप्रेमरूप अमृतरस से अतीव भरी हुई, व्रजपति श्रीकृष्ण के विहाररूप सागर में सदा विहार करनेवाली, गोपीपति को प्रिय 'वल्लभ' नाम से विख्यात करुणा से भरी हुई सुन्दर मूर्ति हमारे हृदय में स्फुरित हो।

व्याख्या :

कितनी सुन्दर बात कही है! ''व्रजपति विहाराब्धिषु'' - व्रजपति कृष्ण के लीलाविहार का छलकता-लहराता सागर है, उस लहराते सागर में कोई तैरने का शौकीन है तो वे हमारे श्रीमहाप्रभुजी हैं। कितनी सुन्दर बात है। ''विहारान् कुर्वाणा'' - श्रीमहाप्रभुजी कहाँ विहार करते हैं - कृष्णलीला के लहराते सागर में।

एक दिन आप सागर में विहार करके देखें। आपको मजा आएगा कि सागर विहार में कितना आनन्द है! लहर आती है तब हमारे पैर ऊपर उठ जाते हैं, जब लहर चली जाती है तो हमारे पैर नीचे हो जाते हैं, झूले की तरह झूलने का आनन्द है। इसलिए जो इस लहर में नहाता है उसे ही यह बात समझ में आ सकती है। यह थोड़ी लौकिक बात बता रहा हूँ परन्तु इसी प्रकार कृष्णलीला की एक-एक लहर है। उस लहर में विहार करनेवाले अपने श्रीमहाप्रभुजी हैं। कुंड में अथवा नदी में नहाने का एक अलग आनन्द है और लहराते समुद्र में नहाने का जो आनन्द है वह तो जो नहाता है उसी को समझ में आ सकता है। इसी प्रकार श्रीमहाप्रभुजी कृष्णलीला के लहराते सागर में निरन्तर विहार करते रहते हैं। जो उसमें उतरता है वही जान पाता है - ''वंध्या शुं जाणे प्रसवनी पीड़ा'' (वन्ध्या स्त्री प्रसव की पीड़ा कैसे जान सकती है।) इसी प्रकार जो सागर में नहीं नहाया हो उसे सागर के आनन्द की बात समझ में नहीं आएगी। यह बिलकुल सच बात बता रहा हूँ।

''स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत रसभरेण'' कृष्णप्रेम का जो अमृतरस स्फुरित हो रहा है वह कृष्ण के लीलारस से अत्यधिक भरा हुआ विहार है। श्रीमहाप्रभुजी का प्रत्येक विहार ऐसा है जिसमें कृष्णप्रेम छलक रहा है। ''प्रिया गोपीभर्तुः स्फुरतु सततं 'वल्लभ' इति'' - 'गोपीभर्तु' अर्थात् गोपीनाथ श्रीठाकुरजी को अत्यन्त प्रिय एक मूर्ति है। श्रीमहाप्रभुजी को मूर्ति कह रहे हैं। कैसी मूर्ति है?

गोपीनाथ श्रीठाकुरजी को जो अत्यन्तप्रिय है ऐसी मूर्ति है, जिस मूर्ति का नाम 'वल्लभ' है। 'वल्लभ इति प्रथावती मूर्तिः' - वल्लभ नाम से ख्यातिवाली मूर्ति। 'सुभगमूर्तिः सकरुणा' - 'सुभग' अर्थात् बहुत ही भाग्यशाली मूर्ति, 'सकरुणा' अर्थात् बहुत ही करुणावाली मूर्ति। ''अस्माकं हृदि स्फुरतु'' - हमारे हृदय में सदैव स्फुरित होती रहे - यह बात बताई गई है।

यहाँ देखें कि श्रीमहाप्रभुजी का स्वरूपलक्षण बताया है कि जहाँ कहीं भी श्रीमहाप्रभुजी विहार कर रहे हैं, वे कृष्णलीला में विहार कर रहे हैं फिर वह विहार सेवारूप हो या कथारूप हो।

श्रीमहाप्रभुजी ने 'शिव' नाम भी लिया है तो कृष्ण की लीला में विहार करने के लिए ही लिया है; शिवभक्ति के लिए नहीं लिया। पुरुषोत्तम सहस्रनाम का अध्ययन करेंगे तो उसमें 'शिव' नाम आता है। पुरुषोत्तम के हजार नामों में एक नाम 'शिव' भी है। अपने यहाँ ऐसा समझते हैं कि 'शिव' नाम बोलते ही कुछ छुआ जाता है परन्तु श्रीमहाप्रभुजी ने 'शिव' नाम भी कृष्णलीला में विहार करने के लिए लिया है। इसलिए सहस्रनाम में 'शिव' नाम, कृष्ण का नाम मान कर ही उसमें विहार किया है।

प्रश्न : आपने बताया कि ''कृष्णलीलारूप सेवा-कथा परायणत्व'' को अवतरण चिह्न में लिखा है। इसका कारण क्या है?

उत्तर : सुन्दर, बहुत सुन्दर बात कही है। मुझे खुशी हुई। ध्यान से देखें- यहाँ वाक्य-विन्यास तो सरल है। वाक्य-विन्यास के अन्तर्गत जो शब्द अर्थद्योतक हैं उनको अवतरण चिह्न के बाहर रखा है परन्तु जो शब्द अर्थद्योतक न होकर शब्दद्योतक हैं, उनको मैं अवतरण चिह्न में ही रखता हूँ। अतः यहाँ भी और आगे आनेवाली किसी भी पुस्तक में जब भी एकल अवतरण चिह्न (Single Inverted Comma) आ रहा है तो उसका अर्थ है कि कोई शब्द

आ रहा है। जैसे ध्यान से देखें - 'वल्लभ' इति, यहाँ वल्लभ अर्थद्योतक नहीं है अपितु यहाँ वल्लभ नाम का उल्लेख किया जा रहा है। श्रीमहाप्रभुजी के विषय में यहाँ वल्लभ नहीं लिखा जा रहा अपितु श्रीमहाप्रभुजी का जो 'वल्लभ' नाम है, उसके लिए कहा जा रहा है। इसलिए वहाँ एकल अवतरण चिह्न (Single Inverted Comma) दिया है।

इसे रचनात्मक अध्ययन (Structure Study) कहा जाता है। उसमें इन सभी बातों पर विशेष ध्यान दिया जाता है कि कौनसा शब्द अर्थ बताने के लिए आ रहा है और कौनसा शब्द स्वयं को व्यक्त करने के लिए स्वयं परावर्तित हो कर आ रहा है। इस प्रकार जब शब्द का स्वयं का परावर्तित होना हमने बताया, लौट कर वापस अपनी तरफ ही आया तो वह स्वयं परावर्तक है और लौट कर वापस अपनी तरफ न आया तो परार्वतक नहीं है।

जैसे हमने किसी वस्तु पर लाईट डाली और वह वस्तु प्रकाशित हो गई तो अर्थद्योतक हुआ परन्तु यदि आपके पास एक परावर्तक है, जैसे कैमरामेन के पास होता है, प्रकाश करें तो वह परावर्तित हो कर फिर इस तरफ आएगा। आपने देखा होगा कि शूटिंग के समय ऐसा परावर्तक लगा कर रखा जाता है। यहाँ से प्रकाश करते हैं, वह वहाँ परावर्तित होता है। प्रकाश लौट कर वापस इस तरफ आ जाता है अर्थात् प्रकाश स्वयं प्रकाश की तरफ आ रहा है। इसी प्रकार जब शब्द स्वयं अपनी तरफ आ रहा है तो उसको अवतरण चिह्न दिया जाता है, शब्द, शब्द की तरफ आ रहा है तो एकल अवतरण चिह्न (Single Inverted Comma) और वाक्य, वाक्य की तरफ आ रहा है तो दोहरा अवतरण चिह्न (Double Inverted Comma)दिया जाता है। यह बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिए।

उसी पद्धति से यहाँ सब स्थानों पर बताया है। जहाँ शब्द अर्थ के सम्बन्ध में नहीं बोलता बल्कि शब्द स्वयं अपने सम्बन्ध में बता रहा है वहाँ शब्द एकल अवतरण चिह्न में है।

इस प्रकार ये लक्षण बताए जा रहे हैं। ''श्रीकृष्णलीलारूप सेवाकथा परायणत्वम्'' श्रीमहाप्रभुजी के स्वरूप का लक्षण है। 'लक्षण' अर्थात् परिभाषा है। स्वरूप तो श्लोक में आ ही रहा है और उससे श्रीमहाप्रभुजी के स्वरूप का लक्षण क्या बनता है? उस शब्द को हम यहाँ इस प्रकार समझ रहे हैं।

(पुष्टिसम्प्रदाये गुरुरूपस्य श्रीवल्लभस्य ऐश्वर्य[2] रूपो गुणः) - पुष्टिसम्प्रदाय में गुरुरूप श्रीमहाप्रभुजी का ऐश्वर्यरूप गुण क्या है? ऐश्वर्य अर्थात् ईश्वर होना।**(श्रीभागवततत्त्वज्ञतारूपः)** -

श्रीभागवत-प्रतिपद-मणिवर-भावांशु-भूषिता मूर्तिः
'श्रीवल्लभा' भिधा नस् तनोतु निजदासस्य सौभाग्यम्।।2।।

अन्वयार्थ :

श्रीभागवतप्रतिपदमणिवरभावांशुभूषिता = श्रीभागवत के मणि जैसे प्रत्येक पद के भावरूप किरणों से शोभित
श्रीवल्लभाभिधा = 'श्रीवल्लभ' नाम से प्रसिद्ध
मूर्तिः = मूर्ति, **नः** = हम
निजदासस्य = निज दासों के
सौभाग्यं = सौभाग्य का
तनोतु = विस्तार करें

भावार्थ : श्रीभागवत् के प्रत्येक पदरूप उत्तम रत्न की भावरूप किरणों से विभूषित 'श्रीवल्लभ' नामवाली मूर्ति हमारे लिए, निजदासों के सौभाग्य को बढ़ाए।

व्याख्या :

श्रीमहाप्रभुजी में ऐश्वर्यगुण है और वह ऐश्वर्यगुण है – ''श्रीभागवत-तत्त्वज्ञरूप।'' डॉक्टर का ऐश्वर्य क्या है? चिकित्सा विज्ञान को भलीभांति जानना, वकील का ऐश्वर्य क्या है? कानून को भलीभांति जानना। जो कानून नहीं जानता और हम उसे कहें कि बहुत बड़े वकील हैं तो वकील कैसा? बेवकूफ है।

इसी प्रकार हमारे भागवतमार्ग में भागवतमार्ग के आचार्य का ऐश्वर्य यह है कि वह भागवततत्त्वज्ञ हो। यदि वह भागवततत्त्वज्ञ है तो उसमें ऐश्वर्य है लेकिन भागवततत्त्वज्ञ नहीं तो दीन है, क्षुद्र है, निर्धन है, दरिद्र है। भागवततत्त्वज्ञ है तो उसका ऐश्वर्य है। भागवतमार्ग में ऐश्वर्य, भागवततत्त्वज्ञता ही हो सकती है, और कोई ऐश्वर्य नहीं हो सकता। शेष तो सब उसकी क्षुद्रता, निर्धनता, दरिद्रता है। यदि भागवततत्त्वज्ञ नहीं है तो निर्धन है, गरीब है, भिखारी है। यहाँ श्रीमहाप्रभुजी के ऐश्वर्य को ध्यान से समझें।

''**कृष्णसेवा परं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम्, श्रीभागवततत्त्वज्ञं**'' – का श्रीगुसांईजी किस प्रकार भाष्य कर रहे हैं!''**श्रीभागवतप्रतिपदमणिवर-भावांशुभूषिता मूर्तिः**'' – श्रीमहाप्रभुजी की मूर्ति कैसी है? भागवत के जो 'प्रतिपद' अर्थात् एक-एक पद हैं, वे एक-एक पद बहुमूल्य हैं, भागवत का एक-एक पद बहुमूल्य रत्न है और उनसे (पद में से) व्यक्त होनेवाली भाव रूपी किरणों अर्थात् रत्न में से निकलनेवाली किरणों से सजी हुई श्रीमहाप्रभुजी की मूर्ति है।

''**श्रीभागवतप्रतिपदमणिवर-भावांशुभूषिता मूर्तिः**'' – यह ऐश्वर्य है। हीरा-पन्ना, माणिक तो क्षुद्र पत्थरवाला ऐश्वर्य है, श्रीमहाप्रभुजी वाला ऐश्वर्य नहीं। भागवत के मणिरूप प्रत्येक पद – प्रतिपद – के भाव से श्रीमहाप्रभुजी का श्रीअंग विभूषित है। यह ऐश्वर्य है।

''भावांशुभूषिता मूर्तिः – 'श्रीवल्लभा' भिधा'' – फिर से एक अवतरण चिह्न आया हुआ दिखाई देता है। 'श्रीवल्लभा' भिधा अर्थात् जिनकी अभिधा – जिनका नाम 'श्रीवल्लभ' है। ''नस्तनोतु निजदासस्य सौभाग्यम्'' – ऐसे ऐश्वर्ययुक्त आचार्यचरण निजदास का सौभाग्य बढ़ाते हैं। स्वामी ऐश्वर्यवान् होगा तो दास भी अपनी मूँछ पर ताव दे सकते हैं और स्वामी स्वयं ही दरिद्र हो तो दास महादरिद्र हो जाता है। स्वामी ऐश्वर्यवान् हो तो – ''**अमे तो राजना खासा खवास**'' (हम तो राजा के विशेष सेवक हैं) हो जाएगा। साधारण नहीं, विशेष सेवक हो जाएगा। ऐश्वर्यशाली के यहाँ सेवा करनेवाले को ऐश्वर्य के प्रसाद के रूप में लाभ तो मिलेगा ही। यही यहाँ बताया है।

''निजदासस्य सौभाग्यम् नस्तनोतु'' – ऐसे ऐश्वर्यशाली श्रीमहाप्रभुजी हमारे सौभाग्य का विस्तार करें। कैसा सौभाग्य चाहिए? कैसा ऐश्वर्य है? इन सभी बातों पर थोडा हृदय से विचार करेंगे तो सारी बात स्पष्ट हो जाएगी – ''**उनकी मरजी न हो तो क्या दें तूल। दास्तां खत्म एक आह में है**'' – इस छोटी सी बात में सारी बातों का स्पष्टीकरण मिल जाएगा, शेष तो सब विस्तार की कथा है।

(पुष्टिसंप्रदाये गुरुरूपस्य श्रीवल्लभस्य वीर्य[3] रूपो गुणः)

श्रीमहाप्रभुजी का ऐसा वीर्यगुण नहीं है कि किसी को कुश्ती में पछाड़ दे, पहलवान छाप वीर्यगुण नहीं है। 'वीर्य' अर्थात् सामर्थ्य? **(भगवत् सेवा**

प्रतिबन्धकवादनिराकर्तृत्वे सति श्रीकृष्णसेवाप्रेरकत्वम्) – ऐसे सभी स्वीकृत सिद्धान्त, ऐसे सभी वाद जो कृष्णसेवा में प्रतिबन्धक हों अर्थात् उस तरफ **'अहं ब्रह्मास्मि'** और इस तरफ **'अहं पुरुषोत्तमास्मि'** जैसे स्वीकृत हुए सिद्धान्त, इस तरफ अन्य कोई वाद – कोई अन्याश्रय का वाद– कुल मिला कर, भगवत्सेवा में प्रतिबन्ध करने वाले जितने भी वाद हैं उन सबका निराकरण करके आप उनको छिन्न–भिन्न करते हैं। यदि निराकरण करके चुप बैठ जाएँ तो? रोग तो मिटा दिया लेकिन विटामिन नहीं दिया। अतः श्रीमहाप्रभुजी विटामिन भी देते हैं। ''कृष्णसेवा प्रेरकत्वम्'' – कृष्णसेवा में प्रेरक बनते हैं। प्रेरक बनना ही श्रीमहाप्रभुजी का वीर्यगुण है।

श्रीमहाप्रभुजी की कोई शक्ति या सामर्थ्य – है तो क्या है? आप ये सभी वाद तोड़ सकते हैं और कृष्णसेवा के लिए जीव को गर्दन पकड़ कर प्रेरित भी कर सकते हैं कि कैसे सेवा नहीं करता! चौरासी वैष्णव की वार्ता पढ़ेंगे तो हमें समझ में आ जाएगा कि श्रीमहाप्रभुजी ने सब स्थानों पर घूम–घूम कर सबको सेवा की प्रेरणा किस प्रकार दी। कृष्णसेवा की प्रेरणा दी है और मायावाद का खण्डन किया है – चौरासी बैठकों में से कई बैठकों में यही बात कही है कि फिर मायावादी आए और शास्त्रार्थ हुआ और वे निरुत्तर हो गए। कोई शिष्य बने और कोई चले गए, जैसा जिसका अधिकार। इस प्रकार कृष्णसेवा के प्रतिबन्धक वादों का निराकरण करके कृष्णसेवा में प्रेरित करना ही पुष्टिमार्ग में सामर्थ्य है।

मायावादतमो निरस्य मधुभित्–सेवाख्य–वर्त्मादभुतं
श्रीमद्–गोकुलनाथ–सङ्गमसुधा–सम्प्रापकं तत्क्षणात्।।
दुष्प्रापं प्रकटीचकार करुणा–रागाति–सम्मोहनः
स श्रीवल्लभ–भानुरुल्लसति यः श्रीवल्लवीशान्तरः।।3।।

अन्वयार्थ :

यः = जो, **मायावादतमो** = मायावादरूप अन्धकार का
निरस्य = नाश करके
दुष्प्रापं = कठिनता से प्राप्त होनेवाली
श्रीमद्गोकुलनाथसङ्ग मसुधासम्प्रापकम्= श्रीकृष्ण के संगम की सुधा को सहजता से प्राप्त करानेवाले
अद्भुतं = अद्भुत, **मधुभित्–सेवाख्य–वर्त्म** = मधुदैत्य का संहार करनेवाले प्रभु की सेवा का मार्ग
प्रकटीचकार = प्रकट किया
करुणा–रागाति–सम्मोहनः = करुणा और अनुराग से अतिशय मुग्ध
सः = वह, **श्रीवल्लवीशान्तरः** = गोपीजन के ईश जिनके अन्तर में विराजते हैं
श्रीवल्लभभानुः = श्रीवल्लभरूप सूर्य, **उल्लसति** = शोभायमान होते हैं

भावार्थ : पुष्टिजीवों पर दया के भाव से और पुष्टिप्रभु में अनुराग के भाव से मुग्ध हो कर आपने मायावादरूप अंधकार का निवर्तन करके मधुदैत्य का नाश करनेवाले श्रीगोकुलनाथ की सहजतया प्राप्त न होनेवाली संगम–सुधा को तत्क्षण प्राप्त करानेवाला श्रीकृष्णसेवा का अद्भुत मार्ग प्रकट किया। ऐसे आप श्रीकृष्णरूप श्रीवल्लभरूप सूर्य उल्लसित होते हैं।

व्याख्या :

मायावाद के अन्धकार को निरस्त करके ''मधुभित् सेवाख्य वर्त्मादभुतं'' – मधुभित (मधु राक्षस का नाश करने वाले) कृष्ण के सेवा रूपी अद्भुत मार्ग को प्रकट किया। वह मार्ग कैसा? ''श्रीमद्–गोकुलनाथ–सङ्गमसुधा–सम्प्रापकं तत्क्षणात्'' – श्रीमद्गोकुलनाथ से संगम अर्थात् श्रीगोकुलनाथजी से हमारे संयोग की जो कुछ भी सुधा है, अमृत है, उसे उसी

क्षण प्राप्त करानेवाले हैं कि ब्रह्मसंबंध दिया और कह दिया कि अब तुम घर जाकर सेवा करो। वार्ता देखेंगे तो समझ में आएगा।

''दुष्प्रापं प्रकटीचकार'' दुष्प्राप अर्थात् जो मिलना बहुत ही कठिन था। ध्यान से समझें कि प्रत्येक धर्म के पुरोहित पंडितों ने भक्तों को कृष्ण अथवा सम्बन्धित धर्म के देवता आराध्यदेव के पास नहीं पहुँचाया। व्यवधान बन कर दीवार की भाँति खड़े रहे। एक श्रीमहाप्रभुजी ऐसे थे कि उन्होंने पौरोहित्य या पंडागीरी किए बिना सीधा जीव को ब्रह्मसंबंध दिया और कहा कि जा, तू सेवा कर। पौरोहित्य, पंडागीरी को श्रीमहाप्रभुजी ने प्रसारित नहीं होने दिया। हमने आजकल पुनः पंडागीरी खड़ी कर दी है कि गो. बालकों को छोड़कर सेवा हो ही नहीं सकती। बालक ही सेवा कर सकते हैं। श्रीमहाप्रभुजी ने ऐसा उपद्रव नहीं किया। श्रीमहाप्रभुजी ने सबको अपने-अपने घर में सेवा पधराई थी। अमृत वचनावली देखेंगे तो सारी बात स्पष्ट हो जाएगी।

''करुणा-रागाति-सम्मोहनः'' करुणा और राग से अति सम्मोहित ''श्रीवल्लभभानुरुल्लसति'' श्रीमहाप्रभुजी रूपी सूर्य का उदय हुआ है जिसने सारा अंधकार दूर कर दिया है। जैसे कमल के खिलने पर ही भ्रमर उस पर बैठ सकता है, कमल खिले ही नहीं तो भौंरा किस प्रकार बैठ पाएगा! इसी प्रकार पुष्टिजीव रूपी भ्रमर को बैठाने के लिए पुष्टिभक्ति रूपी सेवा का कमल खिलाने वाले कौन हैं? अपने श्रीमहाप्रभुजी हैं।

''यः श्रीवल्लवीशान्तरः'' 'वल्लवी' अर्थात् गोपी और 'वल्लवीश' अर्थात् गोपीनाथ। कह रहे हैं कि एक दूसरे ही गोपीनाथ प्रकट हो गए हैं। क्योंकि आपने कृष्णसेवा का मार्ग प्रकट कर दिया है।

प्रश्न : यह जो बात कही है उसमें और ''विनियोगो भक्तियोग प्रतिबन्ध विनाशने'' दोनों में एक ही बात बताई है?

उत्तर : वहाँ बहुत ही व्यापक दृष्टि से कहा है और यहाँ बहुत सीमित दृष्टि से कहा गया है। वहाँ हमने बहुत से प्रतिबन्ध देखे, यहाँ तो मात्र एक विशिष्ट प्रतिबन्ध अर्थात् भगवत्सेवा प्रतिबन्धकवाद का ही उल्लेख है। वहाँ वाद नहीं है लेकिन अन्य कई बातों का निराकरण किया है। वाद तो एक असाधारण अवधारणा है परन्तु अन्य भी कई वस्तुएँ प्रतिबन्धक हो सकती हैं। भोग, उद्वेग और अन्याश्रय आदि कई वस्तुएँ हैं। अतः वहाँ बहुत ही व्यापक दृष्टिकोण से वह बात कही थी। यहाँ सीमित दृष्टिकोण से बात कही जा रही है।

(पुष्टिसम्प्रदाये गुरुरूपस्य श्रीवल्लभस्य यशो[4] रूपगुणाः)

श्रीमहाप्रभुजी का यश क्या है? पुष्टिमार्ग में गुरुरूप श्रीमहाप्रभुजी का यशरूप गुण क्या है? समझें कि यश किस बात से होता है? जिसका बहुत बड़ा चाँदी का सिंहासन है, हीरों की मालाएँ हैं, जिसके आगे छड़ीदार चल रहा है, सोने की छड़ी ले कर चल रहा है और उस छड़ीदार के गले में सोने की चैन है आदि श्रीमहाप्रभुजी के यश के प्रतीक नहीं हैं। श्रीमहाप्रभुजी का यश क्या है- इसे ध्यान से समझें।

(पाण्डित्यं निगमगतिः तदनुकूलक्रिया वैष्णवमार्गीयता श्रीव्रजपतिरतिः इत्येवमादयः) 'पाण्डित्य' अर्थात् वेदादि शास्त्रों में पारंगतता। उनके अनुकूल क्रिया, वैष्णवमार्गीयता और श्रीव्रजपति में अनन्य रतिमान् होना श्रीमहाप्रभुजी का यश रूपी गुण है।

क्वचित् पाण्डित्यं चेत् न निगमगतिः सापि यदि न
क्रिया सा सापि स्यात् यदि न हरिमार्गे परिचयः।
यदि स्यात् सोपि श्रीव्रजपति-रतिर् नेति निखिलैः
गुणैरन्यः को वा विलसति विना वल्लभवरम्।।4।।

अन्वयार्थ :

क्वचित् = कभी किसी में, **पाण्डित्यं** = पाण्डित्य
चेत् = हो, **निगमगतिः** = शास्त्रों में प्रवेश
न = नहीं, **यदि** = यदि
स = वह (**निगमगतिः** = शास्त्रों में प्रवेश)
अपि = भी (**चेत्** = हो)
सा = वह, **क्रिया** = आचरण
न = नहीं, **यदि** = यदि
सा (क्रिया) = वह आचरण
अपि = भी, **स्याद्** = हो
हरिमार्गे = भगवन्मार्ग विषयक
परिचयः = ज्ञान
न = नहीं हो, **यदि** = यदि
सः (हरिमार्गे) = वह भगवन्मार्ग विषयक
परिचयः = ज्ञान, **अपि** = भी
स्याद् = हो, **श्रीव्रजपतिरतिः** = व्रजपति में भक्ति
न = नहीं, **(अस्ति** = है **)**
इति = ऐसे, **निखिलैः** = सकल
गुणैः = गुणों से
वल्लभवरं = वल्लभवर
विना = बिना, **अन्यः** = दूसरा
कः = कौन, **वा** = भी
विलसति = प्रकाशित है

भावार्थ : किसी-किसी विद्वान में पाण्डित्य तो हो सकता है पर वेदादि शास्त्रों में गति नहीं होती। इसी प्रकार कोई-कोई वेदादि शास्त्रों की समझ रखनेवाले विद्वान होते हैं परन्तु उनका आचरण वेदादि शास्त्रों के अनुसार नहीं होता। किन्हीं का वेदादि शास्त्रों के अनुसार आचरण होता है तो उनका वैष्णवमार्ग से परिचय नहीं होता। किन्हीं का वैष्णवमार्ग से परिचय होता है उनको व्रजपति में आसक्ति नहीं होती। इसलिए इन निखिल गुणों से श्रीवल्लभवर के बिना अन्य कौन विलस सकता है !

व्याख्या :

'पाण्डित्य' का अर्थ क्या? 'पण्डा' अर्थात् बुद्धि, ऊपर का माला खाली नहीं होना चाहिए। पाण्डित्यं - **पण्डा अस्य अस्ति इति पंडित**। जिसमें पंडा अर्थात् बुद्धि हो वह पण्डित है। जिसकी बुद्धि उलटी दिशा में ही चल रही है, श्रीगुसांईजी उसकी मर्यादा निर्धारित कर रहे हैं कि - 'निगमगति' - पण्डा होना चाहिए। 'निगमगति' होने का अर्थ है कि शास्त्र में गति कर सके, ऐसी बुद्धि होनी चाहिए। शास्त्रविरुद्ध ही सारी गति सूझती हो, ऐसी बुद्धि नहीं और निगमगति ऐसी नहीं कि समझे सब कुछ परन्तु बदमाश करे कुछ नहीं। कह दे कि हाँ, हाँ, सब समझ में आ गया कि यह तो केवल कहने की बात थी, करना कुछ नहीं था। ऐसी निगमगति नहीं।

'तदनुकूल क्रिया' उसके अनुकूल क्रिया में इतने तन्मय हो गए कि वैष्णवाचार ही भूल गए, ऐसा नहीं होना चाहिए। वैष्णवमार्गीयता और वैष्णवमार्ग में मर्यादा भी हो सकती है और पुष्टि भी हो सकती है। उस वैष्णवमार्ग के भीतर फिर एक आन्तरिक वृत्त आ रहा है।

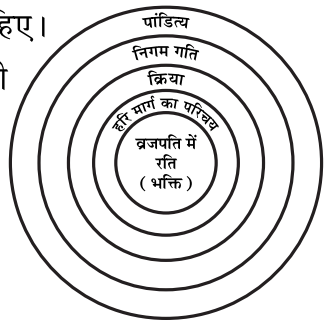

हरिमार्ग

सबसे बाह्य वृत्त है पाण्डित्य का। उसके भीतर निगमगति का वृत्त, उसके भीतर तदनुकूल क्रिया का वृत्त, उसके भीतर वैष्णवमार्गीय होने का वृत्त और उसके एकदम भीतर का वृत्त यश की कलगी है। वह व्रजपति में रति का वृत्त है। श्रीमहाप्रभुजी में व्रजपति के प्रति जो अखण्ड निरुपाधिक रति है वह श्रीमहाप्रभु जी के यश का सबसे भीतर का भाग है।

जैसे पृथ्वी के अन्दर के गोले की गर्मी से सारी वस्तुएं गर्म रहती हैं अन्यथा यहाँ सतह पर सब ठण्डा हो जाएगा। उसी प्रकार श्रीमहाप्रभुजी में धधकती हुई व्रजपति की रति अन्दर काम कर रही है जिससे वह सब अंगरूप से सहायक बन रही है। उसके अंगतया श्रीमहाप्रभुजी ने ये सब अंग धारण किए हैं। पण्डा (बुद्धि) किसलिए धारण की है- इसलिए कि व्रजपति में रति के लिए सहायक बन सके। निगमगति किसलिए है क्योंकि व्रजपति में सहायक बने। तदनुकूल क्रिया किसलिए है, श्रीगोपीजनवल्लभप्रीत्यर्थं। निगम का प्रत्येक कर्म हम गोपीजनवल्लभप्रीत्यर्थ ही कर रहे हैं। वैष्णवमार्गीयता कहने से ही वैष्णवशास्त्र आ जाता है।

हमें मालूम नहीं है परन्तु ध्यान से समझें। श्रीमहाप्रभुजी यज्ञोपवीत होने के बाद वैष्णवशास्त्र का अध्ययन करने के लिए विशेषरूप से दक्षिण में पधारे थे। वार्ता पढ़ने से ध्यान में आएगा कि वैष्णवशास्त्र का अध्ययन करने के लिए आप विशेषरूप से दक्षिण पधारे और वहां विराज कर आपने यात्रा के दौरान वैष्णवशास्त्र का अध्ययन किया। काशी में जब आपने अध्ययन किया तो वह सब निगम, वेद-वेदान्त का अध्ययन किया था, वैष्णवशास्त्र का अध्ययन आपने दक्षिण में जा कर किया था। वार्ता में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है।

अत: वैष्णवशास्त्रों का अध्ययन आपने किया तो वैष्णवमार्गीयता आई और इन सबके निष्कर्षरूप में अन्दर से भी अन्दर की जो बात है वह व्रजपति में

रति की बात है। यही सबसे बड़ा श्रीमहाप्रभुजी का यश है। इस बात का श्रीगुसांईजी किस प्रकार वर्णन करते हैं? ध्यान से देखें।

'क्वचित् पाण्डित्यं चेत्' - कोई व्यक्ति पण्डित है तो उसमें निगमगति नहीं है- 'न निगमगति:'। किसी में 'सापि' अर्थात् निगमगति भी है तो - 'न क्रिया' - क्रिया नहीं है। किसी में - 'सा सापि' - वह क्रिया भी है तो - 'न हरिमार्गे परिचय:' - उसको वैष्णवमार्ग का परिचय नहीं है और जिसको वैष्णवमार्ग का परिचय है उसको व्रजपति में रति नहीं है। इन सब गुणों से श्रीमहाप्रभुजी के अतिरिक्त और कौन विलस सकता है? यह श्रीमहाप्रभुजी का यश है। यह श्रीगुसांई जी की ललकार है।

अब एक बात ध्यान से समझें। भक्ति करना, व्रजपति रति होना ये सब बहुत भीतर की बातें हैं। श्रीमहाप्रभुजी ने व्रजपतिरति ऐसी-वैसी नहीं की। एक साधारण उदाहरण से बात समझ में आ जाएगी। हमारी भाँति राधावल्लभ सम्प्रदायवाले भी व्रजपति में अनुरक्त हैं। वे एक स्थान पर आलोचना करते हैं कि इनके मुँह में धूल पड़ेगी क्योंकि ये व्रजपतिरति के साथ-साथ वैदिक क्रिया भी करते हैं। अत: व्रजपतिरति तो है परन्तु उन लोगों की रति उत्तरदायित्वविहीन रति है। श्रीमहाप्रभु जी ने व्रजपतिरति को आचार्य होने की जवाबदारी के साथ निभाया है।

उन लोगों को तो वेद की व्याख्या करने की कोई जवाबदारी है नहीं। वे अपना मनभावन कर रहे हैं। हम व्रजपतिरति कर रहे हैं। इसलिए राधावल्लभ सम्प्रदायवाले हमको गाली दे रहे हैं, हमें उस गाली का आनन्द मानना चाहिए, नाराज होने की आवश्यकता नहीं है। वे कहते हैं कि उनके कर्म में धूल गिरेगी, क्योंकि कुत्ते और कौए से प्रसाद छुआ जाता है! कौए ने चोंच मार दी फिर भी सब शुद्ध है। वे कहते हैं कि हमारे यहाँ प्रसाद छुआया नहीं जाता, फिर चाहे

कौआ चोंच मारे या कुत्ता चाट जाए। अपने यहाँ तो प्रसाद छुआ जाता है। क्यों छुआ जाता है? व्रजपतिरति की कमी के कारण नहीं अपितु इसलिए कि हमें व्रजपतिरति शुद्ध जवाबदारी के साथ करनी है।

शास्त्र के जो कुछ भी विधि-निषेध हैं उनको तोड़ कर नहीं, उनके साथ समन्वय करके उत्तरदायित्वपूर्ण स्नेह होना ही सच्ची व्रजपतिरति है। दूसरी तरफ प्रेम आहूजा का उत्तरदायित्वविहीन स्नेह था। नानावती और आहूजा का झगड़ा यही था। स्नेह दोनों को था, वह सिल्विया थी जिससे स्नेह था परन्तु एक को गैरजवाबदार स्नेह था और एक को जवाबदारी के साथ स्नेह था। नानावती ने आहूजा से जा कर पूछा कि मेरी पत्नी तुम्हें पसन्द है? यदि पसन्द है तो ले जा, तू विवाह कर ले। प्रेम आहूजा ने कहा कि नहीं-नहीं, यह जरूरी थोड़े ही है कि कोई मुझे पसन्द आ जाए और मैं उसे अपने घर में रखूं ? यार, वह मेरी पत्नी को ले जाए और फिर उससे विवाह भी न करे! नानावती ने आहूजा को मार दिया।

अत: एक बात ध्यान से समझें कि जिम्मेदारी के साथ प्रेम करने और बिना जिम्मेदारी के प्रेम करने में अन्तर है। ये दोनों बातें भलीभांति समझ जाएँ। श्रीमहाप्रभुजी व्रजपति को रति कर रहे हैं तो जवाबदारी की सभानता को खोकर नहीं, जवाबदारी की सभानता को निभाते हुए कर रहे हैं। यह बात श्रीगुसांईजी डंके की चोट पर कह रहे हैं।

व्रजपतिरति अन्दर का भाग है, अन्तस्तम भाग है। अन्तस्तम भाग होने के कारण स्पष्टत: वह सर्वोत्तम है परन्तु गैरजवाबदारी की दृष्टि से उत्तम नहीं है। यह हम डंके की चोट पर कह रहे हैं। हमने (श्रीमहाप्रभुजी ने) वेद का समन्वय करके बताया है। सब ग्रन्थों से समन्वित करके, जो एक आचार्य का कृत्य है, उसे निभा कर हम व्रजपतिरति की बात कर रहे हैं। उत्तरदायित्वविहीन व्रजपतिरति की बात नहीं कर रहे हैं।

इसलिए श्रीगुसांईजी डंके की चोट पर कह रहे हैं कि - ''गुणैर् अन्य: को वा विलसति विना वल्लभवरम्'' - बताएँ कि श्रीमहाप्रभुजी के अतिरिक्त अन्य किसमें इतने-इतने गुण हैं? कोई निगमगतिवाला निश्चित रूप से मिलेगा परन्तु उसको व्रजपति रति नहीं है। कोई व्रजपतिरतिवाला मिल जाएगा पर ऐसा कि जो हमें भी गाली दे रहा है। उसकी गाली से हमें बुरा मानने की आवश्यकता नहीं है। उसकी व्रजपतिरति का हमें मजा लेने की आवश्यकता है। उसकी व्रजपतिरति कितनी सुदृढ़ है ! उस बात को ध्यान से समझें।

सुदृढ़ है, वह एक अलग बात है, प्रशंसनीय है परन्तु क्या उनमें थोड़ा जवाबदारी भरा तत्त्व भी है? उनकी कोई जवाबदारी तो है ही नहीं। जो भी मन में आए, वैसी ऊटपटांग बातें कर रहे हैं। अपने यहाँ ऐसा नहीं है। हम जवाबदारी को भी निभा रहे हैं। शास्त्र के प्रत्येक वचन को व्रजपतिरति से समन्वित करने का श्रीमहाप्रभुजी ने स्वयं उत्तरदायित्व समझा है।

इस अर्थ में श्रीगुसांईजी कह रहे हैं कि ''गुणैर् अन्य: को वा विलसति विना वल्लभवरम्।'' चाहे जितनी आदर्श रति भी उत्तरदायित्वविहीन है तो वह आचार्य का काम नहीं है। भक्त ऐसा उपद्रव कर सकते हैं परन्तु आचार्य स्वयं चल रहे हैं और दूसरों को भी चलाना चाह रहे हैं। आपको स्वयं को चलना है तो कुछ भी करें न !

खुद को हिमालय पर जाना है तो हिमालय पर चढ़ जाएँ। आप ऑक्सीजन आदि भी न ले जाएँ। ऐसे ही चढ़ जाएँ और श्वास घुटने लगे तो मर भी जाएँ, कोई चिन्ता की बात नहीं है। परन्तु जब आप दूसरों को ले कर जाते हैं तो आप कुछ जवाबदारी भी ले रहे हैं कि मैं जा रहा हूँ और दूसरों को भी हिमालय पर चढ़ने के लिए साथ ले जा रहा हूँ। इसलिए ऑक्सीजन की

जरूरत तो पड़ेगी ही। अब जिसको साथ में लाये उसका दम घुटता है तो ''तू मर ही जा, किसलिए चढ़ने आया?'' इस प्रकार गैरजिम्मेदारी से काम नहीं होता।

मुझे अपने शरीर का कोई भाग काटना हो तो आनन्द से काट सकता हूँ लेकिन किसी का ऑपरेशन करना हो तो जवाबदारी के साथ करना पड़ेगा। एक दिन मेरे मित्र को सांप ने काट लिया। उसने जहाँ सांप ने काटा, उस भाग को ही काट दिया। दूसरे किसी को सांप काटे तो हम उसका अंग काट नहीं सकते।

जब किसी दूसरे के शरीर का भाग काट रहे हैं तो हम पर जवाबदारी होनी चाहिए कि क्या काट रहे हैं? काटने का परिणाम क्या होगा? उसका प्रभाव क्या पड़ेगा? उसकी जानकारी होनी चाहिए अथवा नहीं? कोई भी चीज हाथ में आई और काट दी? कैंची हाथ में आ गई इसलिए कुछ भी काट दिया? खुद की कोई भी चीज काट लें परन्तु दूसरे की तो नहीं काट सकते।

अत: आचार्य हैं तो इन सभी प्रकार के उत्तरदायित्व के साथ आचार्य हैं। व्रजपतिरति को उन्होंने बिना उत्तरदायित्व के प्रतिपादित नहीं किया। यह आचार्यचरण का यश है।

(पुष्टिसम्प्रदाये गुरुरूपस्य श्रीवल्लभस्य श्री[5] रूपो गुण : श्रीकृष्णसेवाप्रतिबन्धकवादनिराकरणेन प्रमाणचतुष्टयैक वाक्यतामूलकसिद्धान्तोपदेशकत्वे सति श्रीकृष्णसेवापरायणत्वे सति भगवत्सेवोचितनिरुपधिस्नेहोद्बोधकत्वं च) 'श्री' अर्थात् शोभा। श्रीमहाप्रभुजी की शोभा क्या है? गुरु की शोभा किसमें है? ''कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दंभादिरहितं नरम्, श्रीभागवततत्त्वज्ञं।'' इसको उल्टा कर लें - ''श्रीभागवततत्त्वज्ञं, दम्भादिरहितं, कृष्णसेवापरायणत्वम्।'' यह

श्रीमहाप्रभुजी की शोभा है।

अर्थात् ''कृष्णसेवाप्रतिबन्धकवादनिराकरणेन'' कृष्णसेवा के प्रतिबन्धक वादों का निवारण करके ''प्रमाण चतुष्टयैक वाक्यतामूलक सिद्धान्तोपदेशकत्वे'' - श्रीमहाप्रभुजी ने भागवत पर भार दिया है परन्तु ऐसा भार नहीं दिया कि भागवत को उत्तरदायित्व के बिना प्रमाण माना हो। उन्होंने दम-खम के साथ भागवत को प्रमाण माना है कि भागवत जो बात कह रही है वह गीताजी की विस्तृत व्याख्या करके कह रही है, गीता में जो बात कही गई है वह ब्रह्मसूत्र को विस्तृत करके कही है और ब्रह्मसूत्र जो बात कहता है वह सभी उपनिषदों के साररूप से कहता है। इन चारों में एकवाक्यता किस प्रकार लाना-श्रीमहाप्रभुजी यही मुख्यरूपेण कह रहे हैं। इन चारों की व्याख्या करना आचार्यत्व नहीं है।

इसमें एक प्रचलित पूर्वाग्रह यह है कि सभी लोग ऐसा समझते हैं कि जो चार प्रस्थान पर भाष्य लिखता है, वह आचार्य है। श्रीमहाप्रभुजी इस बात को नकारते हैं। चार प्रस्थान पर भाष्य लिखा या नहीं लिखा, उससे कोई फर्क नहीं पड़ता। नहीं लिखा तो क्या फर्क पड़ेगा - चार प्रस्थान में एकवाक्यता स्थापित कर रहे हैं या नहीं? आप कोई ऐसा नमूना प्रस्तुत कर रहे हैं या नहीं कि चारों प्रस्थान एक-दूसरे के साथ झगड़ना बन्द करें? भाष्य तो कोई भी लिख सकता है। मैं भी भाष्य लिख सकता हूँ। उसमें क्या है? थोड़े समय की आवश्यकता है। एक दिन बैठकर शुरू करें, चार-छ: महीने में भाष्य पूरा हो जाएगा। भाष्य तो लिख सका या नहीं, एकवाक्यता न आई तो नहीं आई, आप रोते रहें परन्तु मैंने तो भाष्य लिख डाला।

श्रीमहाप्रभुजी इस बात को नकारते हैं कि भाष्य लिखना आचार्यत्व नहीं है। हम भी सबको यही कहते हैं। पुष्टिमार्ग की पुस्तकें उठा कर देख लें,

हम भी ऐसा ही कहते हैं कि जो चार प्रस्थान पर भाष्य लिख दे, वह आचार्य। आपको किसने कह दिया? यदि चार प्रस्थान की शर्त है तो श्रीमहाप्रभुजी तो आचार्य ही नहीं हैं। उन्होंने चार प्रस्थान पर भाष्य कहाँ लिखे हैं? लिखे ही नहीं। यदि यह मापदंड सच है तो स्मरण रहे कि श्रीशंकराचार्य के अतिरिक्त कोई आचार्य है ही नहीं। सभी आचार्यों पर गलत का चिह्न लग जाएगा।

श्रीशंकराचार्य के अतिरिक्त किसी ने भाष्य नहीं लिखे। वह सामर्थ्य तो श्रीशंकराचार्य ने ही करके दिखाया था। भागवत पर उन्होंने नहीं लिखा क्योंकि भागवत को उन्होंने प्रमाण ही नहीं माना। तीन प्रस्थानों पर उनका पूरा भाष्य है। हम जिसे प्रस्थान कह रहे हैं उन पर श्रीमहाप्रभुजी का भाष्य कहाँ है? गीताजी पर नदारद, उपनिषद् पर नदारद, ब्रह्मसूत्र पर आधा भाष्य। इस प्रकार सबसे पहले तो श्रीमहाप्रभुजी का आचार्यत्व निरस्त हो रहा है।

पुष्टिमार्ग की नई पुस्तकें उठा कर देख लें – कुछ भी सोचे-विचारे बिना कह देते हैं कि जो चार प्रस्थान पर भाष्य लिखे, उसका नाम आचार्य। भाई, आप यह बात कैसे कर रहे हैं? क्या समझ रखा है आपने? श्रीमहाप्रभुजी से द्वेष करना? जब श्रीमहाप्रभुजी यह बात कहते ही नहीं हैं। श्रीमहाप्रभुजी ने स्पष्ट कहा है – ''एतच्चतुष्टयम् एकवाक्यतापन्नं प्रमाजनकम्।'' भाष्य लिखें या न लिखें परन्तु ऐसा प्रारूप प्रस्तुत करें कि ये चारों प्रस्थान आपस में झगड़ना बन्द कर दें। ऐसा कोई प्रारूप प्रस्तुत ही नहीं कर रहे और भाष्य लिख दिया तो उसका क्या उपयोग है? यह बात कह रहे हैं।

''श्रीकृष्णसेवाप्रतिबन्धकवादनिराकरणेन'' – श्रीकृष्णसेवा के प्रतिबन्धक वादों का निराकरण करके ''प्रमाणचतुष्टयम् एकवाक्यतामूलक-सिद्धान्तोपदेशकत्वे'' – प्रमाणचतुष्टय की एकवाक्यता अर्थात् सबके समन्वय का और ''कृष्णसेवापरायणत्वे सति'' – कृष्णसेवापरायण हो कर ''भगवत्सेवोचित'' – भगवत्सेवाहेतु उचित निरूपाधिक स्नेह अर्थात् निष्काम

स्नेह का श्रीमहाप्रभुजी उद्बोधन करते हैं। भक्त के हृदय में स्नेह जगाते हैं। बस, यही श्रीमहाप्रभुजी की सच्ची शोभा है। यह पुष्टिमार्ग के आचार्य की गुरु की सच्ची शोभा है। उसे ध्यान में रखें।

मायावादि-करीन्द्र-दर्प-दलनेनास्येन्दु-राजोद्गत-
श्रीमद्-भागवताख्य-दुर्लभ-सुधा-वर्षेण वेदोक्तिभिः।
राधावल्लभ-सेवया तदुचित-प्रेम्णोपदेशैरपि
'श्रीमद्वल्लभ'-नामधेय-सदृशो भावी न भूतोऽस्त्यपि।।5।।

अन्वयार्थ :

वेदोक्तिभिः = वेद के वचनों से
मायावादि-करीन्द्र-दर्पदलनेन = मायावादी-सदृश हाथी के घमण्ड को चूर करके
आस्येन्दुराजोद्गत-श्रीमद्भागवताख्य-दुर्लभ-सुधा-वर्षेण = भगवन्मुखरूप चन्द्रमा से प्रकट हुई प्रसिद्ध श्रीमद्भागवतरूप दुर्लभ रस की वर्षा करके
राधावल्लभ-सेवया = श्रीराधाजी को प्रिय श्रीकृष्ण की सेवा करके
तदुचित-प्रेम्णा = उनसे उचित निर्गुण प्रेम करके
उपदेशैः अपि = उपदेश करके भी
श्रीमद्वल्लभ-नामधेय-सदृशो = श्रीमद्वल्लभ जिनका नाम है, ऐसा
न = नहीं, **भूतो** = (नहीं) हुए, (**न** = नहीं)
अस्ति = है, **भावी अपि** = होंगे भी

भावार्थ : मायावादीरूप गजेन्द्र के दर्प का दलन करने के कारण, वेदों की श्रुति के अनुसार श्रीकृष्णमुखेन्दुराज से उद्गत श्रीमद्भागवतरूप दुर्लभसुधा को बरसाने के कारण, राधावल्लभ श्रीकृष्ण की सेवा के कारण, उपदेशों के तथा

सेवोचित प्रेम के कारण भी 'श्रीवल्लभ' नामवाला न कोई हुआ, न है और न होगा भी।

व्याख्या :

''मायावादि-करीन्द्र-दर्प-दलनेन'' मायावादी करीन्द्र अर्थात् मायावादी गजेन्द्र = हाथी के अहंकार का दलन किया और ''आस्येन्दु-राजोद्गत श्रीमद्-भागवताख्य-दुर्लभ-सुधा-वर्षेण'' अपने मुखारविन्द से भागवताख्य दुर्लभसुधा की वर्षा की है। यह वर्षा किस प्रकार की है? जैसे मन में आए उस प्रकार से नहीं, वेदोक्ति से की है। ''राधावल्लभ सेवया'' राधावल्लभ की सेवा की है। ''तदुचित - प्रेम्णोपदेशैरपि'' उनकी सेवा स्वयं की, इतना ही नहीं, उनके योग्य उचित प्रेम का उपदेश भी किया है। ऐसा 'श्रीमद्वल्लभ' नामधेय (श्रीमद्वल्लभ नाम धारण करनेवाले) श्रीमहाप्रभुजी हैं। यहाँ देखें कि फिर से एकल अवतरण चिह्न (Single Inverted Comma) प्रयुक्त हुआ है। ऐसा '' 'श्रीमद्वल्लभ' -नामधेय-सदृशो भावी न भूतोऽस्त्यपि'' - ऐसे 'वल्लभ' नाम के साथ पूर्व में कोई नहीं हुए, कभी होंगे भी नहीं और कोई है भी नहीं। इस प्रकार हमने आपका 'श्री' गुण देखा।

इसके पश्चात् **(पुष्टिसम्प्रदाये गुरुरूपस्य श्रीवल्लभस्य ज्ञान[6] रूपो गुणः - कलिबलभीतिनिराकर्तृत्वे सति भगवत्प्रीतिकरसेवामार्ग प्रवर्तकत्वम्)** पुष्टिसंप्रदाय में गुरुरूप श्रीवल्लभ के ज्ञानरूप गुण का निरूपण है। श्रीवल्लभ का ज्ञानरूप गुण क्या है? कलि के बल का डर जीव को सता रहा है कि अब तो कलिकाल आ ही गया, अब हम क्या करेंगे? अरे भाई, बुद्धि का प्रयोग करें। एक बात ध्यान से समझें कि तकलीफ तो जो उत्पन्न होनी है वह होगी ही परन्तु मनुष्य की बुद्धि उस तकलीफ में से अपना मार्ग ढूँढ लेती है। तकलीफ आ गई तो वह तो आनेवाली ही है। अब हम क्या कर सकते हैं।

ज्ञान किस काम आता है? तकलीफ आए तो उसमें से अपने लिए मार्ग किस प्रकार खोजेंगे? आप लगभग अखबार में पढ़ते होंगे कि भूकम्प आया और मकान गिर गया, मनुष्य दब गया। अब अन्दर जो दबे हुए मनुष्य हैं वे भी चीखें-चिल्लाएँ, रोते रहें, किसी प्रकार निकलने का प्रयत्न करें तो वे अपनी बुद्धि तो चलाते ही हैं अथवा सोचते रहेंगे कि मकान गिर गया तो दबकर मर जाएँ, अब जीने का क्या फायदा? भाई, रोएँ, कुछ तो करें, बुद्धि तो चलाएँ कि किस प्रकार निकल सकते हैं। इसलिए बुद्धि का प्रयोग नहीं करना तो ''मेरे अंगने में तुम्हारा क्या काम है'' - जैसा हो जाता है। श्रीमहाप्रभुजी ऐसे नहीं हैं। श्रीमहाप्रभुजी उसमें अपनी बुद्धि का प्रयोग करते हैं कि कलिकाल बहुत बड़ा है, है तो है लेकिन बुद्धि चलाएँ जिससे इस कलिकाल से हमें भयभीत होने की आवश्यकता न पड़े।

एक जापानी कराटेबाज के बारे में मैंने पढ़ा था कि उसके सामने कोई चीता या सिंह आ गया। उसने देखा कि चीता या सिंह आ गया है तो खानेवाला तो है ही, फिर भी उसने इतनी जोर से उसके सिर पर मुक्का मारा कि वह चक्कर में पड़ गया कि अच्छा! ऐसा भी जानवर है जो मेरे सिर पर मार सकता है! वह चला गया। अच्छी तरह से ईंट टूटने जैसी ताकत से मारा होगा। इस प्रकार समझें कि सिंह भी खाने को आए तो वह भी अपना विचार बदल सकता है।

यदि हम अपनी अक्ल चलाएँ तो, हम कुछ हाथ चलाएँ तो मनुष्य के हाथ में भी सिंह के सिर पर मारने जितनी ताकत हो सकती है। उसने इतने जोर से मारा होगा कि सिंह ने भी अपना विचार बदल दिया होगा कि भाई, कुछ चक्कर है। मैं जैसा समझ रहा था, यह वैसा खरगोश की तरह नहीं है। अभी तो एक ही पड़ा है, दूसरा और पड़ गया तो? सिंह को भी लगा कि जाने दो, अपना शिकार बाद में फिर कभी खोजेंगे।

तात्पर्य यह है कि जो तकलीफ आ गई है उसमें से अपना रास्ता खोजना। सिंह आ जाए और हम सोचें कि सिंह आ गया तो ले तू खा जा। हमने तय कर लिया है कि हमारा तो जघन्याधिकार ही है। ऐसा जघन्याधिकार क्यों मानें यार? एक मुक्का मार कर तो देख लें और कुछ नहीं तो आँख में मिर्च डाल कर देख लें। ऐसी कई स्त्रियों की कथा आती है कि छुरा ले कर गुंडा आ गया और उसके हाथ में कुछ नहीं आया तो उसने आँख में मिर्च डाल दी। भाई, रसोईघर में मिर्च तो होती ही है इसलिए छुरेवाले गुंडे भी भाग जाते हैं। मनुष्य अपनी बुद्धि चलाए तो उसके डर का निवारण हो जाता है। यदि नहीं चलाए तो उसे मरना ही है।

इस प्रकार श्रीमहाप्रभुजी का ज्ञानरूप गुण कैसा है - ''कलिबलभीतिनिराकर्तृत्वे सति'' - कलिबल की जो भीति है, जो डर है उसे हमारे हृदय से दूर कर देते हैं कि डरो नहीं। कलिकाल अत्यन्त बलवान है परन्तु डरने का कोई कारण नहीं है। उसका कोई उपाय हमारे पास आज भी हो सकता है, उसका प्रयोग करने से कलि भी अपना विचार बदल देगा कि भाई, अभी यहाँ कुछ करने की कोई आवश्यकता नहीं है, कोई अन्य शिकार देखूँगा।

''भगवत्प्रीतिकरसेवामार्गप्रवर्तकत्वम्'' - भगवान को भी प्रीतिकर हो, भगवान भी वाह-वाह करने लग जाएँ कि भाई, इसको मार्ग चलाना कहा जाता है। ऐसे भगवत्प्रीतिकर सेवामार्ग की प्रवर्तकता ही श्रीमहाप्रभुजी का ज्ञान है। श्रीमहाप्रभुजी का जो बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य है उसका निवेश कहाँ है? मुद्दा यह है कि श्रीमहाप्रभुजी ने अपने बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य का निवेश कहाँ किया? ऐसे कार्य में जिससे जीव में से कलिबल की भीति दूर हो जाए।

इस बात को ध्यान से समझें कि केवल श्रीगुसांईजी ने ही नहीं कहा है बल्कि अष्टछाप आदि जितने भगवदीय हैं, उनके सभी पदों का कभी अवकाश

से अवलोकन करेंगे तो पाएंगे कि उस समय का प्रत्येक भक्त यह कहते हुए मिलेगा कि मैं कलिबल की भीति से निवृत्त हो गया। यह कलिकाल हमें खा जाता परन्तु आपने हमें बचा लिया।

प्रत्येक व्यक्ति को श्रीमहाप्रभुजी ने इतना निर्भय बना दिया। मात्र सेवा ही नहीं पधराई अपितु उसके हृदय में से सारा भय दूर कर दिया। जो भी डर शास्त्र उत्पन्न कर रहा था कि कलियुग आ गया, ज्ञान और वैराग्य वृद्ध हो गए... श्रीमहाप्रभुजी ने इस प्रकार के सम्पूर्ण भय को दूर करके मनुष्य के अन्दर आत्मविश्वास प्रकट किया कि हट, कुछ नहीं है। ''तब हमहूं औरन की नांई होय कनोडे फिरते'' - मनुष्य में इस प्रकार का साहस उत्पन्न करना श्रीमहाप्रभुजी का ज्ञानरूप गुण है।

यदङ्घ्रि-नख-मण्डल-प्रसृत-वारि-पीयूष-युग्-
वराङ्ग-हृदयैः कलिस्तृणमिवेह तुच्छीकृतः।
व्रजाधिपतिरिन्दिरा-प्रभृति-मृग्य पादाम्बुजः
क्षणेन परितोषितः तदनुगत्वमेवास्तु मे।।6।।

अन्वयार्थ :

यदङ्घ्रि-नख-मण्डल-प्रसृत-वारि-पीयूष-युग्- वराङ्ग-हृदयैः = जिनके चरण के नखमण्डल से प्रसृत अमृतजल को अपने मस्तक एवं हृदय में धारण करनेवालों के द्वारा

तृणम् = घास, **इव** = जैसे

इह = इस, **कलिः** = कलिकाल

तुच्छीकृतः = तुच्छ बनाए हुए (**च** = और)

इन्दिरा-प्रभृति-मृग्य-पादाम्बुजः = लक्ष्मी जी आदि जिनके चरणकमल को खोजती हैं, वे

व्रजाधिपतिः = व्रज के अधिपति

क्षणेन = क्षणमात्र में
परितोषितः = प्रसन्न करते हैं
तद्नुगत्वम् = उनका अनुगमन
एव = ही, **मे** = मुझे
अस्तु = प्राप्त हो

भावार्थ : जिनके चरणों के नखमण्डल से निकलनेवाले चरणामृत से जिनके मस्तक और हृदय अभिषिक्त हुए हैं वे तो इस कलिकाल को तृणतुल्य तुच्छ मानते हैं। लक्ष्मी आदि भी जिनके चरणकमल को खोजती रहती हैं, ऐसे व्रजाधिपति को जिन्होंने क्षणभर में प्रसन्न कर लिया है उन आचार्यचरण का मैं सदा ही अनुगामी बना रहूँ।

व्याख्या :

जिनके चरणकमल के नखमण्डल से निःसृत पीयूषरूप वारि (जल) अर्थात् चरणामृत को जिन्होंने अपने हृदय और मस्तक पर लगाया। अब यहाँ देखें कि यह एक भावपूर्ण बात है कि जिन्होंने अपने हृदय में श्रीमहाप्रभुजी के चरणारविन्द के आश्रय का भाव रखा, अपनी बुद्धि में श्रीमहाप्रभुजी के चरणारविन्द के आश्रय को समझा और उसे अनुभव किया; उन्होंने क्या किया? ''कलिस् तृणमिवेह तुच्छीकृतः'' एक घास के तिनके जैसी कलियुग की कीमत समझी अर्थात् श्रीमहाप्रभुजी ने उनमें इतना विश्वास भर दिया।

''इन्दिरा -प्रभृति-मृग्य-पादाम्बुज, क्षणेन परितोषितस्'' निरन्तर चरण दबानेवाली इन्दिरा चरण दबाने के लिए व्रजाधिप के चरणों को खोज रही है ताकि व्रजाधिप को सुख दे सकें, सन्तुष्ट कर सकें, ऐसा व्रजाधिप को सन्तुष्ट करनेवाला मार्ग आपने प्रकट किया। ''तदनुगत्वमेवास्तु मे'' - उनका मैं अनुगामी बन जाऊँ। बस, इतनी ही बात अपेक्षित है। यह तो ज्ञान कहा जाएगा और 'तदनुगता' न हो कर ऊटपटांग रास्ते पर चलना ज्ञान नहीं अपितु अज्ञान

अथवा भ्रामक ज्ञान कहा जाएगा। इस बात को ध्यान से समझ लें।

प्रश्न : तीसरे श्लोक और पाँचवें श्लोक में जो वीर्यगुण और श्रीगुण का माहात्म्य बताया उन दोनों में भगवत्सेवा प्रतिबन्धनिवारक है। इनका अन्तर किस प्रकार समझना?

उत्तर : मैंने प्रारम्भ में ही यह बात कह दी थी - ''कृष्णसेवापरं वीक्ष्य, दम्भादिरहितं नरम्, श्रीभागवततत्त्वज्ञं'' - ये जो तीन गुण हैं उनकी यहाँ अलग-अलग तरीके से जुगाली की गई है इसलिए जुगाली करने में पुनरावर्तन तो आएगा ही। मैंने प्रारम्भ में ही कह दिया था कि जो गुरु होने के तीन लक्षण श्रीमहाप्रभुजी ने बताए, श्रीमहाप्रभुजी के उन तीन गुणों का यहाँ सात प्रकार से पुनरावर्तन हुआ है। बाकी किसी भी नये श्लोक में कोई भी नई बात नहीं आई। सभी श्लोकों में यही बात पुनः-पुनः आ रही है परन्तु पुनरावर्तन का अंदाज अलग-अलग है। एक ही बात को अलग-अलग अंदाज से कहा गया है।

(पुष्टिसम्प्रदाये गुरुरूपस्य श्रीवल्लभस्य वैराग्य[7] रूपो गुण : स्वानुगामिनां सकलकलिकालदोषनिवर्तनेतरविषयेषु विरतत्वम्) - पुष्टि सम्प्रदाय में गुरुरूप श्रीवल्लभ का वैराग्यरूप गुण क्या है? इसे ध्यान से समझें।

यहाँ श्रीगुसांईजी ने श्रीमहाप्रभुजी की बहुत ही विशिष्ट तकनीकी बात की प्रशंसा की है। जैसे वृत्र कहता है - ''**अहं हरेः तव पादैकमूल दासानुदासो भवितास्मि भूयः**'' - उसी प्रकार श्रीमहाप्रभुजी के गुणगान में बहुत मजेदार बात कह रहे हैं कि श्रीमहाप्रभुजी को प्रत्येक वस्तु से वैराग्य है, सिवाय इसके कि इस कलिकाल को भूल कर पुष्टिजीव किस प्रकार कृष्णसेवा परायण बने, कृष्ण की सेवा करनेवाले सेवक सेवा में परायण बने, अन्य शब्दों में कहें तो सेवा करने के अतिरिक्त सभी विषयों से श्रीमहाप्रभुजी विरक्त हैं। यही श्रीमहाप्रभुजी का वैराग्य है।

कृष्ण की सेवा करनेवाले सेवक का हित विचार करने के अतिरिक्त अन्य सभी विषयों में श्रीमहाप्रभुजी विरक्त हैं। इसलिए फिर से वैष्णवपंथ, दामोदरपंथ चलाने की आवश्यकता नहीं है। ध्यान से समझ लें कि कृष्णसेवक पंथ चलेगा तो कृष्ण अपने तरीके से स्थापित होंगे। कृष्णसेवा तो एक नहीं, सहस्र प्रकार से हो सकती है। ''लक्ष्मी-सहस्र-लीलाभिः'' - जो मंगलाचरण में हमने देखा वह एक प्रकार नहीं है, सहस्र लक्ष्मी से कृष्णसेवा करनी है। यह बात यहाँ समझाई गई है।

अघौघ-तमसावृतं कलि-भुजङ्गमासादितम्
जगद्-विषय-सागरे पतितमस्वधर्मे रतम्।
यदीक्षण-सुधा-निधिः समुदितोऽनुकम्पामृताद्
अमृत्युम् अकरोत् क्षणादरणमस्तु मे तत्पदम्।।7।।

अन्वयार्थ :

अस्वधर्मे = जो स्वधर्म नहीं है, उसमें
रतम् = रचा-पचा
अघौघतमसावृतं = पापरूप अन्धकार से ढका हुआ
कलिभुजङ्गमासादितं = कलिरूप सर्प द्वारा ग्रसित
जगद्विषयसागरे = जगद्रूप विषय के सागर में
पतितम् = पड़ा हुआ
समुदितः = भलीभांति उदित
यदीक्षणसुधानिधिः = जिनकी ईक्षणरूप अमृतनिधि
अनुकम्पामृतात् = कृपारूप अमृत से
क्षणाद् = क्षणभर में
अमृत्युम् = अमरता
अकरोत् = किया, **तत्पदं** = वे पद

(मे = मेरा) **अरणम्** = शरण, **अस्तु** = हों

भावार्थ : पापों के समूहरूप अन्धकार से आवृत्त, कलिकालरूप काले नाग से ग्रस्त, जागतिक विषयों के सागर में पड़ा हुआ और जो स्वधर्म नहीं है उन कर्मों में निरत जीव को, जिनकी अनुकम्पा के अमृत से प्रकट हुआ ईक्षणरूप चन्द्रमा क्षणमात्र में मृत्युरहित बना देता है, उनके चरण मुझे आश्रयरूप हों।

व्याख्या :

''अघौघ-तमसावृतं'' जो पाप के अंधकार से घिरे हुए थे, कलि रूपी 'भुजंगम्' - अजगर के द्वारा जकड़े हुए थे, ''जगद्विषयसागरे पतितम्'' जगत् रूपी विषय के सागर में पतित थे, ''अस्वधर्मे रतम्'' अपने धर्म में रत नहीं थे, अस्वधर्म में रत थे अर्थात् पुष्टिजीव का जो धर्म होना चाहिए उसमें रत होने के स्थान पर किसी अन्य चक्कर में रत थे, उन सबने क्या किया?

''यदीक्षण-सुधा-निधि-समुदितोऽनुकम्पामृताद्'' - श्रीमहाप्रभुजी की ईक्षणसुधानिधि - श्रीमहाप्रभुजी की दृष्टि - जिस किसी पर पड़ी, वे इन सब झमेलों से छूट गए अर्थात् श्रीमहाप्रभुजी उनको देखने के लिए लालायित हैं कि ऐसे पुष्टिजीव जो भगवत्सेवा करने लायक हैं वे इस प्रकार के चक्करों में कैसे फंस गए? जिसे हम आज की भाषा में लक्ष्य कहते हैं तो श्रीमहाप्रभुजी का यदि कुछ लक्ष्य था तो वह था - किसी भी प्रकार से जीव को प्रपंच से छुड़ाना।

श्रीमहाप्रभुजी का लक्ष्य है - अघौघ तमसावृत्तं से छुड़ाना, कलिभुजंगमासादित - कलि रूपी सर्प से छुड़ाना, जगद्विषयसागर में पतितों को अस्वधर्मरत होने से छुड़ाना, ईक्षणसुधानिधि से एक दृष्टि डालना। जैसे वार्ता में बहुत सुन्दर प्रसंग आता है कि राणा व्यास गंगा के किनारे आत्महत्या करने के लिए बैठे थे और श्रीमहाप्रभुजी ने उस नाजुक क्षण में जा कर कह दिया कि यदि वैराग्य के कारण - मुक्ति के कारण कोई गंगा में आत्मविलोपन करता

है तो ठीक है, यह बात किसी सीमा तक ठीक हो सकती है परन्तु अपनी लौकिक निराशा के कारण जो गंगा में आत्महत्या करता है तो वह सर्प की योनि को प्राप्त होता है।

राणा व्यास ने कहा कि ''मुझे शिष्य बनाएँ।'' रात के समय गंगा में आत्महत्या करने के लिए गंगा किनारे बैठे थे और एक ईक्षणसुधानिधि से यह सम्पूर्ण परिवर्तन कर दिया कि आत्महत्या करने बैठे हुए को आत्महत्या करने में शर्म आई। जीव को एकदम नि:संदिग्ध भगवत्सेवा-कथापरायण कर दिया। यह जो पदार्थ है, वही आचार्यचरण के वैराग्य का पदार्थ है। शिष्य के वित्त का अपहरण करने की इच्छा उनमें नहीं है, शिष्य के चित्त को इस प्रकार से हरने की इच्छा है। श्रीमहाप्रभुजी उसके चित्त को हर कर किसी भी प्रकार से प्रभु में लगाना चाहते हैं।

''अमृत्युमकरोत्'' - उसको अमृत कर देते हैं। गंगा में डूबकर मरनेवाले को डूबने से पहले ही अमर बना देते हैं। आपके चरण मेरे लिए अरण-आश्रय स्थान हों। यह बात स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत में वैराग्य के रूप में बताई गई है। इसलिए यह उनका लक्ष्य है। अपना काम करते रहना एक अलग बात है और किसी का कुछ लक्ष्य होना अलग बात है।

प्रश्न : क्या लक्ष्य और निरोध पर्याय हैं?

उत्तर : हाँ, लक्ष्य निरोध का ही पर्याय है। उसका लक्ष्य क्या है, इसका तात्पर्य यह है कि उसका निरोध किसमें है। अन्य प्रकार की दस गतिविधियाँ करता होगा परन्तु इसमें वह प्रपंचविस्मृतिपूर्वक अपने आपको सम्मिलित कर रहा है। अत: जिसका जो लक्ष्य है उसमें वह दूसरे दस कामों को छोड़ कर अपने आपको सम्मिलित कर रहा है। इस प्रकार 'लक्ष्य' शब्द इस प्रकृति का शब्द है- निरोधअवस्था को सूचित करनेवाला- कि इसका लक्ष्य यह है।

इसी प्रकार श्रीमहाप्रभुजी का लक्ष्य है कि किसी भी प्रकार से भगवत्सेवक प्रकट करना ताकि कृष्णसेवा अपनी तरीके से चल सके। भगवत्सेवक प्रकट होंगे तो भगवत्सेवा चलेगी। भगवत्सेवक प्रकट नहीं होंगे तो भगवत्सेवा किस प्रकार चलेगी?

भगवत्सेवक को तकलीफ क्या है? ''अघौघ-तमसावृतं कलि-भुजङ्गमासादितम्, जगद्-विषय-सागरे पतितमस्वधर्मे रतम्'' - यही भगवत्सेवा का प्रतिबन्धक है। इससे श्रीमहाप्रभुजी ही मुक्ति दिला सकते हैं। इसे ही श्रीमहाप्रभुजी ने अपना लक्ष्य बनाया, इसी के लिए सारी परिक्रमाएँ कीं। अपने आपको आचार्य के रूप में पुजाने के लिए परिक्रमाएँ नहीं की थीं और न किसी स्थान से पैसे इकट्ठे करने के लिए परिक्रमाएँ की थीं।

बीरबल ने श्रीगुसांईजी से कहा कि परदेस किसलिए जा रहे हैं? मैं सारे पैसे दे दूँगा।

श्रीगुसांईजी ने कहा कि अब हमारे काम से गया। अब उसके यहाँ नहीं जाना चाहिए। श्रीगुसांईजी वहाँ से रातों-रात डेरा उठा कर निकल गए। बीरबल ने बेचारे ने कोई अपमान नहीं किया था, उसने तो आपका हित विचार किया था कि परिश्रम किसलिए कर रहे हैं, जितना खर्चा होगा उतना मैं दूँगा। वस्तुत: लक्ष्य पैसा इकट्ठा करना नहीं था, लक्ष्य था भगवत्सेवक तैयार करना। श्रीगुसांईजी का यह लक्ष्य था।

।। इति श्रीविट्ठलेश्वरविरचितं श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रं सम्पूर्णम्।।

।। नामरत्नाख्यस्तोत्रम् ।।

कल हमने 'स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत' तक किया। इसके बाद 'नामरत्नाख्य' पाँचवां स्तोत्र है। जिस प्रकार से सर्वोत्तमस्तोत्र की संरचना है उसी प्रकार से प्रारम्भ के अढ़ाई श्लोक उपक्रम के हैं अर्थात् एक से ले कर अढ़ाई श्लोक तक उपक्रम है। इसके पश्चात् अट्ठाईस से ले कर तीसवें श्लोक तक उपसंहार है और बीच के तीसरे श्लोक से सत्ताईसवें श्लोक तक श्रीगुसांईजी के एक सौ आठ नाम हैं।

इसमें सबसे पहला श्लोक उपक्रम भी है और मंगलाचरण भी है। स्तुत्यात्मक अथवा नमनात्मक नहीं है, आश्रयभावनात्मक मंगलाचरण है। कल मैंने बताया था कि कोई मंगलाचरण ऐसा होता है जो विषय की स्तुति करता है, कोई मंगलाचरण विषय की आकांक्षा करता है, कोई उस विषय का वन्दन करता है। एक हमारे भक्तिमार्गीय मंगलाचरण में ही उसका आश्रय लेने की सम्भावना है। अतः यह आश्रयभावनात्मक मंगलाचरण है। इस आश्रयभावनात्मक मंगलाचरण में श्रीरघुनाथजी मंगल उपक्रम (मंगलोपक्रमः) करते हैं कि –

यन्नामार्कोदयात् पाप-ध्वान्त-राशिः प्रशाम्यति।
विकसन्ति हृदब्जानि तन्नामानि सदाश्रये।।1।।

अन्वयार्थ :

यन्नामार्कोदयात् = जिनके नामरूप सूर्य के उदय से
पाप-ध्वान्त-राशिः = पाप रूपी अंधकार का समूह
प्रशाम्यति = सम्पूर्ण नष्ट हो जाता है
हृदब्जानि = हृदय रूपी कमल
विकसन्ति = खिलने लगता है

तन्नामानि = उन नामों का

सदा = सदा, **आश्रये** = आश्रय करता हूँ

भावार्थ : जिनके नाम रूपी सूर्य के उदय से स्वीयजन के भक्तिमार्गीय साधन फल में बाधक दोष-प्रतिबन्धादिरूप अंधकार पूर्णरूप से नष्ट हो जाता है तथा जैसे सूर्योदय से कमल खिल जाता है उसी प्रकार जिनके नामों के कीर्तन-श्रवणादि से स्वीयजन के हृदयकमल भगवद्भक्ति के संचार से प्रफुल्लित हो जाते हैं ऐसे श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरण के नामों का मैं आश्रय करता हूँ।

व्याख्या :

जिनके नाम का सूर्य उदय होने से पाप की अंधकार राशि प्रशमित हो जाती है, केवल अंधकार ही नहीं मिटता अपितु जैसे सूर्य अंधकार को दूर करता है उसी प्रकार कमल को खिलाता भी है। अतः जिन नामों का आश्रय लेने से हृदयकमल विकसित होता है, ऐसे नामों का मैं आश्रय करता हूँ। यह आश्रयभावनात्मक मंगलचरण है। इसको ध्यान से समझें।

(स्तोत्रपि-छन्दो-देव-विनियोग-फलनिरूपणम्) इस एक श्लोक में आश्रयभावना करके आगे की तीन पंक्तियों अर्थात् दूसरे श्लोक और तीसरे श्लोक की आधी पंक्ति में सर्वोत्तमस्तोत्र की भाँति यह निरूपित किया गया है कि इस स्तोत्र के ऋषि कौन हैं, स्तोत्र का छन्द क्या है, स्तोत्र के देव कौन हैं, स्तोत्र का विनियोग क्या है, किस विषय पर स्तोत्र है और स्तोत्र का फल क्या है।

आनुष्टुभमिहच्छन्दः[1] ऋषिरग्निकुमारजः[2]
सर्वशक्तिसमायुक्तो देवः श्रीवल्लभात्मजः[3] ।।2।।
विनियोगः समस्तेष्टसिद्धयर्थे विनिरूपितः[4]।

अन्वयार्थ :

इह = इसमें

आनुष्टुभम् = अनुष्टुप

छन्दः = छन्द, **अग्निकुमारजः** = अग्निकुमार श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण के पुत्र

ऋषिः = मन्त्र के दृष्टा ऋषि

सर्वशक्तिसमायुक्तः = सभी तरह की शक्तिवाले

श्रीवल्लभात्मजः = श्रीवल्लभाचार्य के आत्मज श्री विट्ठलनाथप्रभुचरण

देवः = देवता

समस्तेष्टसिद्धयर्थे = सब प्रकार की इष्टसिद्धि के लिए

विनियोगः = उपयोग

विनिरूपितः = निरूपित किया है

भावार्थ : इस नाममंत्र-स्तोत्र का छन्द अनुष्टुप है। अग्निकुमार श्रीविट्ठलनाथ-प्रभुचरण के आत्मज श्री रघुनाथजी इस नाममंत्र के दृष्टा ऋषि हैं। सभी प्रकार के सामर्थ्यवाले श्रीगुसांईजी इस मंत्र के अधिष्ठाता देव हैं। सभी पुष्टिभक्तिमार्गीयों के सब प्रकार के मनोरथों की सिद्धि करने में ही इस नाममंत्र का विनियोग है।

व्याख्या :

''आनुष्टुभमिहछन्दः'' - इस स्तोत्र में अनुष्टुप छन्द है। ''ऋषिरग्निकुमारजः'' - अग्निकुमार श्रीगुसांईजी के पंचम पुत्र श्रीरघुनाथजी ऋषि हैं। ''सर्वशक्तिसमायुक्तो देवः श्रीवल्लभात्मजः'' - श्रीवल्लभात्मज, श्रीगुसांईजी इस स्तोत्र के अधिष्ठाता देव हैं। ''विनियोगः समस्तेष्टसिद्धयर्थे विनिरूपितः'' - यहाँ 'समस्तेष्टसिद्धयर्थ' बहुत ही खतरनाक शब्द श्रीरघुनाथलालजी ने प्रयुक्त किया है।

संस्कृत में एक न्याय है - **''निमंत्रिताः सर्वे ब्राह्मणाः भोजयितव्याः।''** जब ऐसा कहा गया हो कि सभी ब्राह्मणों को भोजन कराएँ तो भूत-भविष्य-वर्तमान के अथवा सारी दुनिया के सभी ब्राह्मणों से आशय नहीं है अपितु जो निमंत्रित सभी ब्राह्मण हैं, उनको भोजन कराना कहा गया है। इसी प्रकार पुष्टिभक्ति में जो इष्टसिद्धि निमंत्रित है, उस इष्टसिद्धि में बाकी सारी दादागीरी अथवा गुंडागीरी की सारी इष्टसिद्धि का कोई संदर्भ नहीं है।

कारण यह है कि जिनको वे इष्टसिद्धियाँ अपेक्षित हैं उनके लिए श्रीगुसांईजी नहीं हैं और जिनके लिए श्रीगुसांईजी हैं, उनके लिए वे इष्टसिद्धियाँ अपेक्षित नहीं हैं। इसलिए 'समस्तेष्टसिद्धयर्थे' में जो न्याय है, उसे ध्यान से समझें। सभी ब्राह्मणों को भोजन कराने बैठा दें परन्तु 'सभी' अर्थात् कौन 'सभी'? जो निमंत्रित ब्राह्मण हैं वे सभी, बाकी पूरे गांव के सभी ब्राह्मण नहीं।

इस प्रकार पुष्टिमार्ग में ऐसी इष्टसिद्धि को निमंत्रित कर सकते हैं। 'इष्ट' अर्थात् हमारी अभिलाषा - इच्छा। हमें क्या अभिलाषा है- उसकी सिद्धि का अर्थ है इष्टसिद्धि। और कौनसी इष्टसिद्धि - जो पुष्टिमार्ग में निमंत्रित है, ऐसी सभी इष्टसिद्धियों में इसका विनियोग है। अन्य सभी इष्टसिद्धियों में नहीं। यद्यपि 'समस्त' पद प्रयुक्त हुआ है परन्तु ''निमंत्रिताः सर्वे ब्राह्मणाः भोजयितव्याः'' न्याय इस परिस्थिति में मान सकते हैं।

इसके पश्चात् श्रीगुसांईजी के एक सौ आठ नाम शुरू हो रहे हैं। ''श्रीविट्ठलः कृपासिंधुर्'' से ले कर ''श्रीकृष्णानुगृहीतैक - प्रार्थनीय पदाम्बुजः'' - तक एक सौ आठ नाम हैं। उनको क्रम दिया गया है जिसे हम भलीभाँति समझ सकते हैं कि कौनसा नाम किस क्रम में है। उन एक सौ आठ नामों के संकलन के पश्चात् इस स्तोत्र के पाठ का फल (स्तोत्रपाठफलम्) बताते हुए श्रीरघुनाथलालजी आज्ञा कर रहे हैं कि -

इमानि नामरत्नानि श्रीविट्ठल-पदाम्बुजम्।
ध्यात्वा तदेकशरणो यः पठेत् स हरिं लभेत्।।28।।
यद्-यन् मनस्यभिध्यायेत् तत्तदाप्नोत्यसंशयम्।

अन्वयार्थ :

श्रीविट्ठलपदाम्बुजम् = श्रीविट्ठलनाथ-प्रभुचरण के चरणकमल का
ध्यात्वा = ध्यान करके
तदेकशरणः = एक उन्हीं की शरण में रह कर
यः = जो, **इमानि** = इस
नामरत्नानि = नाम रूपी रत्नों का
पठेत् = पाठ करता है, **सः** = वह
हरिम् = हरि को, **लभेत्** = प्राप्त करता है
यद्-यन् = जो-जो, **मनसि** = मन में
अभिध्यायेत् = विचार करता है
तत्-तद् = वह-वह
आप्नोति = प्राप्त करता है, **असंशयम्** = संशय नहीं है

भावार्थ : श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण के चरणकमलों का ध्यान करके, उन्हीं की शरण में रह कर जो आपके इन नाम रूपी रत्नों को जपता है वह श्रीहरि को प्राप्त करता है और मन में जो-जो मनोरथ करता है, वे सब मनोरथ पूर्ण होते हैं।

व्याख्या :

जो इस नामरत्नस्तोत्र में उल्लिखित श्रीगुसांईजी के एक सौ आठ नामों को श्रीगुसांईजी के चरणकमल का ध्यान करके बोलता है, 'तदेकशरण' हो कर बोलता है वह हरि को प्राप्त होगा। ''यद्-यन् मनस्यभिध्यायेत्'' - पुनः देखें, **''निमंत्रिताः सर्वे ब्राह्मणाः भोजयितव्याः''** है। कोई कहे कि मैं नामरत्नाख्य

स्तोत्र का पाठ करके सट्टे या मटका के नम्बर लगाना चाहता हूँ, ''अभिध्यायेत्'' अर्थात विचार करे कि 'आठ' पर नम्बर लगा दो, नामरत्नाख्यस्तोत्र पढ़ कर 'एक सौ आठ' नम्बर लगा दो तो किसी प्रकार के मटका के नम्बर नहीं लगेंगे।

''यद् यन् मनस्यभिध्यायेत्'' – जो निमंत्रित अभिध्यान है– अनिमंत्रित अभिध्यान का यहाँ प्रश्न नहीं है – तो आप जो कुछ मन में विचार कर रहे हैं वह सब सिद्ध होगा। ''तत्तद्आप्नोत्यसंशयम्'' – वह सब आपको मिलेगा परन्तु जो कुछ आप विचार कर रहे हैं, आपका वह विचार पुष्टिमार्ग में निमंत्रित विचार होना चाहिए। यदि पुष्टिमार्ग में निमंत्रित विचार नहीं है और फिर भी आप विचार कर रहे हैं तो आप जानें और आपका राम जाने। उससे नामरत्नाख्यस्तोत्र का कोई लेना देना नहीं। यह बात भलीभाँति स्पष्टरूप से समझ लेनी चाहिए।

नामरत्नाभिधमिदं स्तोत्रं यः प्रपठेत् सुधीः।।29।।
त्वदीयं तं गृहाणाशु प्रार्थ्यम् एतन् मम प्रभो
श्रीविट्ठल-पदाम्भोज-मकरन्द-जुषोऽनिशम्।
इयं श्रीरघुनाथस्य कृतिर् विजयतेतराम्।।30।।

अन्वयार्थ :

प्रभो = हे प्रभो!
इदं = इस
नामरत्नाभिधं = 'नामरत्न' नामक
स्तोत्रं = स्तोत्र का
यः = जो
सुधीः = बुद्धिमान्
प्रपठेत् = भलीभाँति पाठ करता है

तं = उसे आप, **त्वदीयं** = अपना जान कर
आशु = शीघ्र, **ग्रहाण** = स्वीकार करें
एतन् = यह, **मम** = मेरी
प्रार्थ्यम् = प्रार्थना है
श्रीविट्ठल-पदाम्भोज-मकरन्द-जुषः = श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण के चरणकमल के पराग का सेवन करनेवाले
श्रीरघुनाथस्य = श्रीरघुनाथजी की
इयं = यह, **कृतिः** = रचना
अनिशम् = सदा, **विजयतेतराम्** = विजय प्राप्त करती रहे

भावार्थ : हे समर्थ प्रभो! मेरी आपसे यह प्रार्थना है कि जो बुद्धिमान भक्त इस 'नामरत्न' नामक स्तोत्र का अर्थ के ज्ञान तथा श्रद्धापूर्वक पाठ करे उसे आप अपना जान कर स्वीकार करें।

श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण के चरणकमल के पराग का सेवन करनेवाले श्रीरघुनाथजी की यह कृति सदा विजय को प्राप्त करती रहे।

व्याख्या :

इस स्तोत्र का पाठ करनेवाले बुद्धिशाली भक्त उनका तदीयत्व प्राप्त करें, ऐसी मैं प्रार्थना करता हूँ। श्रीविट्ठल के चरणकमल के मकरन्द का अहर्निश सेवन करनेवाले श्रीरघुनाथलालजी की यह कृति विजय प्राप्त करे, यह सर्वोत्कृष्ट कामना श्रीरघुनाथजी ने की है।

।। इति श्रीरघुनाथविरचितं नामरत्नाख्यस्तोत्रं सम्पूर्णम्।।

श्री यमुनाष्टकम्

भूमिका :-

एक बात ध्यान से समझ लें कि लीला में कृष्ण के प्राकट्यकाल में श्रीयमुनाजी का, व्रजभक्तों और कृष्ण के बीच जो कार्य था वह कार्य और श्रीयमुनाजी के निर्गुणभाव का जो स्वरूप है, वह अपने पुष्टिभक्तिमार्ग में है, पुष्टिमार्ग में नहीं। उस निर्गुणभाव के स्वरूप को अपने पुष्टिभक्तिमार्ग में देखते हैं परन्तु पुष्टिमार्ग में नहीं। क्योंकि पुष्टिमार्ग बहुत व्यापक है जिसमें पूतना का भी उद्धार हो सकता है, जिसमें कई बदमाशों (गिलिण्डर) का भी उद्धार हो सकता है। अत: पुष्टिमार्ग इतना व्यापक है परन्तु पुष्टिभक्तिमार्ग इतना व्यापक नहीं है। क्योंकि यहाँ पुष्टिभक्तिमार्ग में पुष्टिमार्ग का जो विस्तार है वह थोड़ा संकुचित हो जाता है जिसमें अभक्त के उद्धार की कोई भूमिका नहीं। इसीलिए पुष्टिसम्प्रदाय का विस्तार संकुचित है।

कारण यह है कि पुष्टिसम्प्रदाय में सम्प्रदाय का तात्पर्य है विरासत। विरासत में हमें भक्ति भी प्राप्त होती है और प्रपत्ति (शरणागति) भी प्राप्त होती है। बहुत से विकल्प हमें प्राप्त होते हैं और उनमें से कौनसा विकल्प हमें ग्रहण करना है इसके लिए संप्रदाय में एक परम्परा थी जो वर्तमान में लुप्त हो गई है। जो उपदिष्ट परम्परा थी कि सर्वप्रथम जीव को प्रपत्ति में लेना है, प्रपत्ति से विवेकधैर्याश्रय जिसको भलीभांति हृदयंगम हो जाए वह फिर भक्तिमार्ग की ओर अग्रसर हो सकता है।

भक्तिमार्ग में कथा और सेवा अर्थात् स्मरण और भजन की प्रणाली से अग्रसर हुआ जाता है। जो दोनो को नहीं निभा सकता वह दो में से किसी एक में अग्रसर हो सकता है। तो सम्प्रदाय में जो एक विशाल और विस्तृत क्षेत्र है उस रीति से सारी बात कही गई है। उसमें मात्र भक्ति नहीं, मात्र प्रपत्ति नहीं और मात्र तीर्थयात्रा नहीं है। बहुत-सी बातें उसमें विकल्पतया कही गई हैं और उन

विकल्पों को भलीभांति समझ कर हम पुष्टिसम्प्रदाय में प्रवेश करते हैं।

वस्तुत: पुष्टिसम्प्रदाय में जिसको आमंत्रित किया जाता है उसे उपर्युक्त विकल्प में से कुछ विरासत में प्राप्त होता है तो सम्प्रदाय रहेगा। क्योंकि 'सम्प्रदाय' अर्थात् सम्यक् प्रदाय अथवा सच्ची विरासत और 'अप्रदाय' अर्थात् जिससे कुछ भी प्राप्त न होता हो। यदि कुछ प्राप्त न होता हो तो किया-धरा सब व्यर्थ हो जाता है।

तो यदि हम इस बात को नहीं समझे तो? दवा की दुकान में दवाएं तो बहुत सी मिलती हैं परन्तु आप यदि इस बात से अनभिज्ञ हैं कि किस रोग की क्या दवा है और दवा की दुकान से मिलनेवाली दवा खाना शुरू कर देते हैं तो वह दवा रोग को मिटाने के स्थान पर रोग को उत्पन्न करनेवाली हो जाती है। यही स्थिति (रुग्णता) आज हमारे मार्ग की है। प्रत्येक व्यक्ति को ''कहे सबन् सों आवो आवो.....'' कह कर बुला लेना और दूसरा कोई विवेक ही नहीं है कि किसको किसलिए बुला रहे हैं? आखिर बुला कर तुम्हें करना क्या है? तो हमें यह होश ही नहीं है और यदि यह होश नहीं है तो सम्प्रदाय रहता नहीं क्योंकि वह विरासत को ग्रहण ही नहीं कर सकता।

जैसे एक बात समझें कि हमने बालक को विरासत में बन्दूक थमा दी। बालक को विरासत में बन्दूक देनी चाहिए या खिलौना देना चाहिए? पाँच दस वर्ष के बालक को हम कहें कि तुम्हें यह बन्दूक विरासत में दी जाती है क्योंकि यह बन्दूक तुम्हारे बाप की थी। अरे! वह अपने आप को शूट कर लेगा और दूसरे को भी मार डालेगा। उसको समझ तो है नहीं। तो ऐसी बन्दूक किसे विरासत में मिलनी चाहिए? बालक को तो नहीं मिलनी चाहिए। सभी को तो ऐसी विरासत नहीं मिलनी चाहिए। हमने यथेष्ट सोच-विचार किए बिना सबको विरासत देना शुरू कर दिया। अत: सत्यानाश की जड़ तो हम स्वयं प्रकट करेंगे। किसे किस मार्ग की पद्धति पर ले जाना है इस बात की सूझ-बूझ

तो होनी चाहिए कि नहीं?

तो इस प्रकार श्रीयमुनाजी का जो निर्गुणभाव है वह निर्गुणभाव पुष्टिप्रभु की लीला में एक आदर्श भाव था। यहाँ राधा जी की स्तुति नहीं की गई जिससे कई मूर्खों को ऐसा लगता है कि श्रीमहाप्रभुजी राधाजी को जानते ही नहीं थे कि राधाजी की समझ तो चैतन्यसम्प्रदाय से प्राप्त हुई। सहज प्रश्न है कि चैतन्यसम्प्रदाय को राधाजी की समझ कहाँ से प्राप्त हुई? बुद्धि का उपयोग करके एक बात ध्यान से समझें - मैं यह बात नहीं कहता कि चैतन्य महाप्रभु दिव्य विभूति नहीं थे। चैतन्य महाप्रभु दिव्य विभूति थे तो हमारे श्रीमहाप्रभुजी किसलिए दिव्य विभूति नहीं थे? श्रीशंकराचार्य किसलिए दिव्य विभूति नहीं थे? श्रीरामानुजाचार्य किसलिए दिव्य विभूति नहीं थे? सभी आचार्य दिव्य विभूति थे। परन्तु उन को राधाजी की समझ कहाँ से प्राप्त हुई? उस समय राधाजी से सम्बन्धित जो साहित्य उपलब्ध था उससे प्राप्त हुई। तो क्या श्रीमहाप्रभुजी को वह साहित्य प्राप्त नहीं हुआ? उन लोगों (अज्ञानियों) ने कहा और हमने मान लिया। अपने यहाँ भी सभी यह मानते हैं कि श्रीमहाप्रभुजी को राधाजी की समझ नहीं थी परन्तु चैतन्य महाप्रभुजी को थी। अब चैतन्य महाप्रभुजी को कहाँ से जानकारी प्राप्त हुई? जहाँ से मिली- जिस साहित्य से मिली वह श्रीमहाप्रभुजी के समय में प्राप्त था कि नहीं? अथवा फिर श्रीमहाप्रभुजी के प्राकट्य के बाद चैतन्य महाप्रभुजी के समय में वह साहित्य प्राप्त हुआ? वह साहित्य यदि इतना नवीन है तो चैतन्य महाप्रभु का राधा को मानना और राधा के माहात्म्य को बढ़ा कर कहना एक प्रकार का धोखा है और यदि वह साहित्य प्राप्त था तो श्रीमहाप्रभुजी तो चैतन्य महाप्रभु से पाँच वर्ष बड़े थे। चैतन्य महाप्रभुजी ने जब वह साहित्य देखा होगा तो उनसे पाँच वर्ष पहले श्रीमहाप्रभुजी ने देखा होगा कि नहीं? ऐसा क्यों मानना कि श्रीमहाप्रभुजी ने वह साहित्य नहीं देखा? उन लोगों ने कह दिया कि हमारे पास नहीं था तो हमने मान लिया।

ध्यान से समझें, राधाजी का एक भाव है। भगवल्लीला में - कृष्णलीला में राधाजी का जो भाव है वह निर्गुण भाव नहीं है। वह नित्यसिद्धा का भाव है और दूसरा जो एक भाव है वह तामसभाव है। राधाजी का - राधा सहचरी के रूप में वह तामसभाव तो सभी को उच्छृंखल बना देगा। मात्र पुष्टिभाव की छूट देने पर तो इतने घोटाले हो गये तो तामस भाव की छूट देने पर तो न जाने क्या-क्या हो जाता?

संस्कृत में एक कहावत है - **''तिष्ठन् मूत्रस्येह गुरोःधावन्मूत्रानुवर्तिनः''** गुरुजी खड़े रह कर पेशाब करते थे। शिष्य ने देखा। उसने दौड़ते-दौड़ते पेशाब करना शुरू कर दिया। क्योंकि मैं उस गुरु का शिष्य हूँ। तात्पर्य यह है कि किंचित्मात्र पुष्टिभाव की छूट देने से उसमें इतना छल-छद्म आ गया तो तामसभाव की छूट देने पर तो कौन जाने अपने मार्ग में क्या-क्या उपद्रव नहीं हो जाएंगे!

तो यह बात समझ लें कि श्रीमहाप्रभुजी उस मूल से पुष्टिभक्ति को शुरू करना नहीं चाहते। श्रीमहाप्रभुजी को ब्रह्मवाद से पुष्टिभक्ति की शुरुआत अभीष्ट है। ब्रह्मवाद अर्थात् क्या? ''सर्वं खलु इदं ब्रह्म'' - सबकुछ ब्रह्म है और सबकुछ ब्रह्म है इसलिए मैं भी ब्रह्म हूँ - ऐसा विचार कर हम यदि भक्ति करना बंद कर दें तो हमारा यह भाव भक्तिविरोधी भाव होगा।

श्रीमहाप्रभुजी वेदस्तुति में इस बात का बहुत सुन्दर स्पष्टीकरण करते हैं कि सबकुछ ब्रह्म है। ऐसा सुन कर जिसको यह प्रेरणा मिलती है कि भजन नहीं करना तो उसको श्रीमहाप्रभुजी कहते है कि तब मैं यह कहूँगा कि जगत् ब्रह्मात्मक नहीं है, जगत् मिथ्या है, जगत् मायिक है। यहाँ ध्यान से समझें कि हमारा यह सिद्धान्त नहीं है परन्तु जगत् ब्रह्मात्मक होने से कोई यदि ऐसा अर्थ करे कि मैं भी ब्रह्मात्मक हूँ और फिर मुझे भक्ति करने की क्या आवश्यकता है तो वहाँ श्रीमहाप्रभुजी एकदम निर्मम भाव प्रदर्शित करते हुए कहते है कि जगत्

ब्रह्मात्मक नहीं, जगत् मायिक है, मिथ्या है। इसलिए इस जगत् में आप ब्रह्म किस प्रकार हो सकते हैं? मिथ्या जगत् में प्रकट हुए आप भी मिथ्या हैं और श्रीमहाप्रभुजी एक कदम आगे जा कर यह भी कहते हैं कि यहाँ यदि कुछ सत्य है तो केवल शून्य ही सत्य है, शेष सब मिथ्या है। शून्य के अलावा सबकुछ मिथ्या है। अब इस पंक्ति को देखें तो हमें जुलाब हो जाता है कि ''साकार-ब्रह्मवादैक-स्थापको वेदपारग:'' से अभिहित श्रीमहाप्रभुजी हमें समझा रहे हैं कि सबकुछ शून्य है। जीव नहीं, जड़ भी नहीं। सब शून्य है अर्थात् सबकुछ खोखला है, यहाँ कुछ ठोस है ही नहीं।

परन्तु यह बात किसलिए कह रहे हैं? यह बात ध्यान से समझेंगे तो समझ में आयेगा कि श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि जगत् ब्रह्मात्मक है, आप ब्रह्मात्मक हैं परन्तु इसका अर्थ गलती से अगर यह किया गया कि इसीलिए कृष्णभजन की आवश्यकता नहीं है तो फिर मैं भी आपको यही कहूँगा। कारण यह है कि बात का पक्ष बदला जा चुका है। जिस पक्ष को दृष्टि में रख कर मैं यह कहना चाह रहा हूँ कि जगत् ब्रह्मात्मक है उस पक्ष को छोड़ कर आपने कोई दूसरा ही पक्ष ग्रहण कर लिया है।

आपने भजन के लिए जगत् की ब्रह्मात्मकता स्वीकार नहीं की बल्कि भजन के त्याग के लिए, आपने जगत् के लिए ब्रह्मात्मकता स्वीकार की तो अब आएं और मेरा सामना करें। यहाँ बहुत अकाट्य युक्ति से श्रीमहाप्रभुजी ने सिद्ध किया है कि सम्पूर्ण जगत् शून्य है, ब्रह्मात्मक कुछ नहीं है। जीव आदि कुछ नहीं है। सबकुछ ही शून्य है। यदि आपको कृष्णभजन नहीं करना तो आएं और मेरा सामना करें। श्रीमहाप्रभुजी खुली चुनौती दे रहे हैं कि मेरी युक्तियों का सामना करें और सिद्ध करके मुझे बताएं कि जगत् किस प्रकार सत्य है! जगत् किस प्रकार ब्रह्मात्मक है! मैं तो आपके समक्ष सिद्ध कर रहा हूँ कि सम्पूर्ण जगत् मिथ्या है। स्वप्न की भांति प्रतीत होता भ्रम है। जगत् में सत्य नाम की कोई वस्तु नहीं है एक धूलिकण भी सत्य नहीं है। सबकुछ मिथ्या स्वप्न की

भांति भ्रांत प्रतीत होता है। न जीव है न कोई वस्तु जड़ है। श्रीमहाप्रभुजी ने यह पक्ष ग्रहण किया है।

अत: हमें उक्त पक्ष पर नहीं जाना चाहिए। आगे श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि आपको श्रीयमुनाजी का निर्गुणभाव समझा दिया है कि साक्षात् कृष्ण जैसे ही श्रीयमुनाजी हैं। इसके बावजूद कृष्णभजन नहीं छोड़ रहे हैं। इस रूप में श्रीयमुनाजी को समझ कर, निर्गुणभाव को आप अपना आदर्श समझ कर भक्ति करने जाएंगे अथवा ब्रह्मवाद के आधार पर आप भी साक्षात् ब्रह्म हैं? यदि हैं तो सर्वोत्तमस्तोत्र के प्रवचन में मैंने कहा था कि कोई हम अकेले ही ब्रह्म नहीं हैं। सारे वैष्णव भी ब्रह्म हैं और केवल वैष्णव ही ब्रह्म हैं ऐसा नहीं है बल्कि जो पुष्टिमार्ग को गाली देते हैं और जो पुष्टिमार्ग के विरोधी हैं वे सभी यहाँ पुरुषोत्तम हैं। इस पुष्टिमार्ग में कोई एक पुरुषोत्तम नहीं हो सकता।

इस बात को ध्यान से समझें कि यदि है तो कण-कण पुरुषोत्तम है और नहीं तो कोई भी पुरुषोत्तम नहीं, सब शून्य है। विकल्पतया इसका विचार करें कि यदि पुरुषोत्तम है तो सभी पुरुषोत्तम हैं और यदि पुरुषोत्तम नहीं तो कोई भी पुरुषोत्तम नहीं। सभी पुरुषोत्तम नामधारी हैं। इस बात को भलीभांति समझ लें।

यह समझाने के लिए श्रीमहाप्रभुजी ने षोडशग्रन्थ के प्रारम्भ में यमुनाष्टक के रूप में मंगलाचरण किया है कि हमें इस भाव से सम्यक् रूपेण अनुप्रेरित हो जाना चाहिए कि श्रीयमुनाजी कैसे साक्षात् कृष्णरूप हैं- निर्गुण भावयुक्त हैं। निर्गुण भावयुक्त होने पर भी श्रीयमुनाजी कृष्णभजन से विमुख नहीं हैं। कृष्ण का समग्र शृंगार धारण किया है परन्तु कृष्ण का शृंगार स्वयं का भजन कराने के लिए धारण नहीं किया है बल्कि कृष्ण का भजन करने के लिए कृष्ण का शृंगार धारण किया है।

पूर्व में गोस्वामी बालक खूब शृंगार धारण करते थे और कई लोगों को ये समझ में नहीं आता था कि यह चक्कर क्या था? परन्तु कृष्णभजन करने के लिए ''अमे राजना खासा खवास'' अर्थात् हम अपने ठाकुर के खास खिदमतगारवाली बात है। अर्थात् जैसे राज, वैभव से रहते हैं उसी वैभव से राज की सेवा करने की उत्कृष्ट भावना से शृंगार धारण करते थे। अपने महिमा मण्डन के लिए शृंगार धारण नहीं करते थे। यही बात ध्यान से समझने की है। यह बात हमें श्रीयमुनाजी के स्वरूप के आदर्श से समझ में आ रही है।

श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीयमुनाजी का मंगलाचरण किया तो श्रीयमुनाजी का यह मंगलाचरण लीला की कथा थी। अर्थात् पुष्टिमार्ग की कथा थी, पुष्टिभक्ति की कथा नहीं थी। पुष्टिभक्ति की कथा से पुनः पुष्टिमार्ग में से एक पुष्टिभक्ति का पक्ष आया और उस पुष्टिभक्ति के पक्ष में से श्रीमहाप्रभुजी ने एक पुष्टिसम्प्रदाय प्रवर्तित किया। जब पुष्टिसम्प्रदाय प्रवर्तित हुआ है तो उसमें बहुत सी बातें आ गई हैं और उन सभी बातों का विधि-निषेध हमें समझना पड़ेगा और फिर उस हिसाब से हम पुष्टिमार्ग का सिद्धान्त ग्रहण करके चलेंगे तो वह पुष्टिमार्ग है।

भगवान् तो पूतना का भी उद्धार करते हैं तो हमारा क्यों नहीं करते ? पूतना का उद्धार तो उसे मार कर किया। उसे भक्ति प्रदान करके तो नहीं किया। तो आपको उस प्रकार मर कर उद्धार चाहिए या भक्ति करके उद्धार चाहिए ? ठीक से समझने की बात है। शिशुपाल का गालियाँ देने के कारण पुष्टिमार्ग में उद्धार किया, तो किस प्रकार किया ? उसका गला काट कर। आपकी गला कटवाने की तैयारी है ? गला कटाने के लिये तैयार हो तो चलो आ जाओ। ''**स्वागतम् ... स्वागतम् वो महाभागा प्रिय किं करवाणि वः**''। आओ आपका स्वागत करने का चक्कर चला कर। तो यह बात ध्यान से समझें कि हम यदि पुष्टिमार्ग में स्वागत कर रहे हैं तो कर सकते हैं। यदि किसी को गला

कटाना हो तो पुष्टिभक्तिमार्ग में उसका स्वागत नहीं कर सकते। जिसे गला कटाना हो उसे हमें कहना चाहिए कि भाई ! दूसरे बहुत-से वधगृह हैं। वहाँ जाओ गला कटाने के लिये। हमने तुम्हारा क्या पाप किया है जो हमारे यहाँ गला कटाने आए ? पुष्टिसम्प्रदाय में किसी का गला नहीं काटा जाता कि पुष्टिसम्प्रदाय में आ गये तो अब बकरा समझ कर गला ही काट दो। ऐसे गला नहीं काटा जा सकता। पुष्टिसम्प्रदाय में यदि कोई आ गया है तो उसको उसके अधिकार के अंगरूप भक्ति में प्रवृत्त करना पड़ेगा।

इस पुष्टिसम्प्रदाय का मंगलाचरण यमुनाष्टक नहीं है। इस पुष्टिसम्प्रदाय का मंगलाचरण सर्वोत्तमस्तोत्र है, इस पुष्टिसम्प्रदाय का मंगलाचरण वल्लभाष्टक है, इस पुष्टिसम्प्रदाय का मंगलाचरण स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत है, इस पुष्टिसम्प्रदाय का मंगलाचरण नामरत्नाख्यस्तोत्र है। इसीलिए अपने यहाँ ये चार ग्रन्थ यमुनाष्टक के पहले योजित किये गए हैं।

हम पुष्टिमार्ग का मंगलाचरण करने जा रहे हैं परन्तु ऐसा नहीं है कि पुष्टिसम्प्रदाय से स्वतंत्र हो कर पुष्टिमार्ग का मंगलाचरण करें। पुष्टिभक्तिमार्ग का मंगलाचरण करने की अभिलाषा करते हैं परन्तु पुष्टिसम्प्रदाय की पद्धति से।

जिन श्रीमहाप्रभुजी से, श्रीगुसांईजी से हमें पुष्टिभक्ति की - पुष्टिसम्प्रदाय की जो विरासत मिली है उस विरासत का मंगलाचरण हम श्रीमहाप्रभुजी को याद किए बिना, श्रीगुसांईजी को याद किए बिना नहीं कर सकते, ऐसा मानें तो श्रीमहाप्रभुजी को निर्गुणभाव की यह विरासत कहाँ से प्राप्त हुई? श्रीयमुनाजी से प्राप्त हुई। तो श्रीमहाप्रभुजी पुष्टिभक्तिमार्ग में मंगलाचरण कर रहे हैं। पुष्टिसम्प्रदाय का मंगलाचरण हम सर्वोत्तम, वल्लभाष्टक, स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत, नामरत्नाख्य से करके अब पुष्टिभक्तिमार्ग के मंगलाचरण की तरफ यमुनाष्टक द्वारा आगे बढ़ रहे हैं।

इस यमुनाष्टक में श्रीयमुनाजी के ऐश्वर्य का वर्णन किया गया है। ऐश्वर्य का वर्णन किसलिए? क्योंकि इस पुष्टिभक्तिमार्ग में श्रीयमुनाजी ईश्वरीय हैं। पुष्टिभक्तिमार्ग में श्रीयमुनाजी ईश्वरीय होंगे परन्तु पुष्टिमार्ग में श्रीयमुनाजी ईश्वरीय नहीं हैं। पुष्टिमार्ग में तो स्वयं श्रीठाकुरजी ईश्वर हैं। श्रीठाकुरजी को यदि पुष्टिभक्ति करनी हो तो श्रीठाकुरजी स्वयं पुष्टिभक्ति किस प्रकार करेंगे? श्रीठाकुरजी ने श्रीयमुनाजी जैसा स्वरूप प्रकट किया जो स्वयं श्रीठाकुरजी जैसा ही स्वरूप है। श्यामस्वरूप होने के बावजूद भी श्रीठाकुरजी की भक्ति कर रहे हैं! श्रीयमुनाजी अब हमारे लिए पुष्टिमार्ग में मंगलाचरण के लायक बन गए।

यदि हम पुष्टिमार्गीयों को भक्तिमार्गीय बनना है तो श्रीयमुनाजी का मंगलाचरण किए बिना पुष्टिभक्तिमार्ग की बात समझ में नहीं आएगी। जिस प्रकार पुष्टिसम्प्रदाय की बात श्रीमहाप्रभुजी व श्रीगुसांईजी का मंगलाचरण किए बिना समझ में नहीं आएगी उसी प्रकार श्रीयमुनाजी के स्वरूप को समझे बिना पुष्टिभक्तिमार्ग की बात समझ में नहीं आएगी। पुष्टिमार्ग की बात के संबंध में श्रीयमुनाजी की कोई आवश्यकता नहीं।

एक बात ध्यान से समझें कि जब पूतना को भगवान ने मारा था तो उसको यमुनाजी में स्नान कराने के लिए नहीं मारा था, जब शिशुपाल का चक्र से गला काटा था तब यमुनाजल के छींटे देकर उसका गला नहीं काटा था कि टिंचर-आयोडीन की तरह थोड़ा सा यमुना जल छिड़क दिया और फिर चक्र से गला काट दिया। ऐसा कुछ नहीं था। चक्र से गला काटा था, टिंचर-आयोडीन बिना - यमुना जल छिड़के बिना।

तो यह बात हमें गम्भीरता से समझनी पड़ेगी कि पुष्टिभक्तिमार्ग में श्रीयमुनाजी की आवश्यकता है परन्तु पुष्टिमार्ग में श्रीठाकुरजी स्वयं पर्याप्त हैं। जिसका गला काट कर उद्धार करना है वहां श्रीठाकुरजी को श्रीयमुनाजी की किंचित् भी आवश्यकता नहीं है। जब इच्छा हुई तभी काट-कूट कर निर्णय

कर दिया। भागवत में - ''यमिह निरीक्ष्य हताः गताः स्वरूपम्'' कहा गया है। महाभारत में जो लड़ रहे थे, जिनकी भगवान से लड़ने की इच्छा थी, मरते-मरते उन पर भगवान की दृष्टि टिक गई तो भगवान ने उनका उद्धार कर दिया। यह क्या कोई भक्तिमार्ग की बात है?

इसी प्रकार मंदिर में जा कर हमारी दृष्टि भगवान पर टिक गई तो उद्धार हो जायेगा! किसलिए? महाभारत में लड़नेवाले की दृष्टि भगवान पर टिक गई तो उसका उद्धार हो गया। अरे भाई! आप क्या भगवान से महाभारत करने जा रहे हैं? या महाभक्ति करने जा रहे हैं? महाभारत करने जा रहे हैं तो यह बात सही है कि आपकी दृष्टि भगवान पर टिक गई तो प्रभु अपने पुष्टिसामर्थ्य से आपका उद्धार कर देंगे। यह बात पुष्टिमार्ग में सच हो सकती है परन्तु पुष्टिभक्तिमार्ग में सच नहीं हो सकती।

इसीलिए श्रीमहाप्रभुजी ने सुबोधिनीजी में स्पष्ट खुलासा किया है कि- ''**दृष्टेपि भगवति यावद् न सर्वैः इन्द्रियैः अनुभूयते तावद् न फलम्।**'' - श्रीठाकुरजी के दर्शन हो गए परन्तु सभी प्रकार से ठाकुरजी की अनुभूति नहीं होती तो फल नहीं है। यह बात वहां श्रीमहाप्रभुजी ने कही है। अतः वहां फल है, यहां फल नहीं। क्यों फल नहीं? और क्यों फल है? तो यह बात समझने की है कि पुष्टिमार्ग में यह फल हो सकता है कि भगवान ने एक बार दर्शन दे दिए तो बस..... बस..... कृतार्थ हो गए। अधिक झंझट किसलिए?

पुष्टिभक्तिमार्ग में भी एक समय यह देखने को मिला कि ऑफिस जाने से पहले मंदिर में दर्शन कर लिए न! एक बार हम पर श्रीठाकुरजी की दृष्टि तो पड़ गई न! बस कृतार्थ हो गए। अरे! तुम्हें किसने कह दिया? इस प्रकार कृतार्थ होने के लिए कब कहा था? महाभारत में कहा था कि महाभक्ति में कहा था? इस प्रकार तो हम सम्प्रदाय का अनुसरण नहीं कर रहे। हम अपनी किसी कल्पना (फेंटेसी), किसी ऊटपटांग कल्पना में जी रहे हैं।

यह बात ध्यान से समझें कि पुष्टिमार्ग एक अलग वस्तु है और पुष्टिभक्तिमार्ग अलग वस्तु है। पुष्टिसम्प्रदाय अलग है। उसका मंगलाचरण भी अलग होगा। इसीलिए श्रीयमुनाजी में पुष्टिभक्तिमार्ग का समग्र ऐश्वर्य स्थापित किया गया है। पुष्टिसम्प्रदाय का सम्पूर्ण ऐश्वर्य सर्वोत्तमस्तोत्र में है। पूर्व में यह बात बताई गई थी कि वहां कात्यायनी व्रत करने से काम सिद्ध हो गया था परन्तु यहां कात्यायनी व्रत करने से काम नहीं चलेगा। श्रीमहाप्रभुजी ने जिस पद्धति का उपदेश दिया है उस पद्धति के उपदेश का अनुसरण करने से काम चलेगा। यह बात टीकाओं के आधार पर मैंने बताई थी। यह ध्यान से समझें कि इस आधार पर पुष्टिभक्तिमार्ग में श्रीयमुनाजी का सकलसिद्धिहेतुत्वरूप एक ऐश्वर्य है।

इसका तात्पर्य यह है कि पुष्टिभक्तिमार्ग में प्रभारी अधिकारी (इंचार्ज ऑफिसर) कौन है? सर्वोच्च प्राधिकारी पुष्टिभक्तिमार्ग में कौन है? श्रीयमुनाजी हैं। पुष्टिमार्ग में सर्वोच्च प्राधिकारी कौन है? श्रीयमुनाजी नहीं, बल्कि स्वयं श्रीठाकुरजी हैं जो कुछ भी कर सकने में सक्षम हैं - गला काट कर, मार कर, पीट कर, किसी भी प्रकार का उपद्रव करके उसका उद्धार कर सकते हैं परन्तु वह कथा पुष्टिभक्तिमार्ग की नहीं है। इसके लिए ध्यान से देखें कि हमारी सेवाविधि में उस प्रकार की लीला की कोई भी सेवा नहीं की जाती। हम श्रीठाकुरजी के सम्मुख नन्द-यशोदा बनकर पलना झुलाते हैं लेकिन कोई पूतना बनकर सो जाए कि लो अब दूध पी लो और मुझे मार डालो। ऐसा मनोरथ किसी दिन नहीं होता।

पुष्टिमार्ग के प्रभु तो सर्वेश्वर हैं। सम्पूर्ण ऐश्वर्य प्रभु में निहित है। परन्तु पुष्टिभक्तिमार्ग का सम्पूर्ण ऐश्वर्य श्रीयमुनाजी में स्थापित किया गया है और पुष्टिसम्प्रदाय का सम्पूर्ण ऐश्वर्य श्रीमहाप्रभुजी, श्रीगुसांईजी में स्थापित किया गया है। हम पुष्टिसम्प्रदाय के दरवाजे से पुष्टिभक्तिमार्ग में जाएंगे। पुष्टिभक्तिमार्ग

के दरवाजे से हम पुष्टिमार्ग तक जा सकते हैं तब हम पुष्टिप्रभु तक पहुँचेंगे। ऊटपटांग ढंग से पुष्टिमार्ग में सीधा कूदेंगे न तो हमारी गति भी पूतना जैसी हो सकती है, यह बात भली-भांति समझ लें। यह यमुनाष्टक का एक उचित संदर्भ है। हमें समझना पड़ेगा कि किस संदर्भ से यमुनाष्टक को षोडशग्रन्थ में मंगलाचरण के रूप में लिखा गया है।

*****

श्रीयमुनाष्टकम्

(श्रीयमुनायाः पुष्टिमार्गीय - सकल सिद्धि - हेतुत्व - रूपैश्वर्य - वर्णनम्) - पुष्टिभक्तिमार्गीय सकलसिद्धि के हेतुत्व रूप का वर्णन श्रीमहाप्रभुजी कर रहे हैं।

नमामि यमुनामहं सकलसिद्धिहेतुं मुदा
मुरारि-पद-पङ्कज-स्फुरदमन्द-रेणूत्कटाम्।।
तटस्थ-नवकानन-प्रकट-मोद-पुष्पाम्बुना
सुरासुर-सुपूजित-स्मरपितुः श्रियं बिभ्रतीम्।।1।।

अन्वयार्थ :

सकलसिद्धिहेतुं = सकलसिद्धि के कारणभूत
मुरारिपदपङ्कज-स्फुरदमन्द-रेणूत्कटाम् = मुरदैत्य के शत्रु के चरणकमल में चमकती हुई बहुत सी रज से भरे हुए
तटस्थनवकाननप्रकटमोदपुष्पाम्बुना = तट पर नवीन वन में प्रकट पुष्पों के संग से सुगंधित जल से
सुरासुर-सुपूजित-स्मर-पितुः = सुर और असुर से भली-भांति पूजित
श्रियं = शोभा को
बिभ्रतीं = धारण करनेवाली
यमुनां = यमुनाजी को
अहं = मैं
मुदा = प्रसन्नता से
नमामि = नमन करता हूँ

भावार्थ : श्रीयमुनाजी को मैं नमन करता हूँ। श्रीयमुनाजी सब सिद्धियों के कारण हैं। मुरारि श्रीकृष्ण के चरणारविन्द की रज जल से अधिक जिसमें

स्फुरायमान है ऐसे - आपके तट पर उगे हुए पुष्पों से सुगन्धित वन के कारण - सुगन्धयुक्त जल के कारण सुरभाव और असुरभाव वाले भक्तों को प्रभु का स्मरण हो, ऐसी शोभा को धारण करते हैं। अतः दोनों प्रकार के भक्त भगवान की प्राप्ति के लिए श्रीयमुनाजी का पूजन करते हैं।

व्याख्या :

देख लें! भक्ति किस प्रकार आ रही है? श्रीमहाप्रभुजी, श्रीयमुनाजी के स्वरूप से किस दरवाजे से भक्ति ला रहे हैं? उसकी सुन्दरता देखेंगे तो आनन्द आयेगा। श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि मैं उन श्रीयमुनाजी को नमन कर रहा हूँ जो सकल सिद्धि की हेतु हैं, कारण हैं। अब पुष्टिमार्गीय सकलसिद्धि के कारण श्रीठाकुरजी हैं या श्रीयमुनाजी? बात समझें, पुष्टिमार्ग में तो श्रीठाकुरजी हैं। परन्तु उन पुष्टिमार्गीय पुष्टिप्रभु ने, पुष्टिभक्तिमार्ग में अपनी जो कोई भी पुष्टिभक्तिमार्गीय सकलसिद्धि है, उसका हेतुत्व श्रीयमुनाजी में स्थापित किया है। वह जो भक्तिमार्ग है, उसको श्रीमहाप्रभुजी कहाँ से ला रहे हैं? - ''मुरारि-पद-पङ्कज-स्फुरदमन्द-रेणूत्कटाम्।''

मुरारि श्रीकृष्ण के चरणकमल की जो रेणु है वह जिनमें (श्रीयमुना जी में)जल से अधिक है, ध्यान से देखें, भगवान के चरणकमल की रेणु जिनमें जल से अधिक है अर्थात् पानी की तुलना में भगवान की चरणरज जिनमें अधिक मिली हुई है। इस बात से श्रीमहाप्रभुजी यहां भक्ति को जोड़ना चाहते हैं कि श्रीयमुनाजी क्यों पुष्टिभक्तिमार्ग की सकलसिद्धि की हेतु हैं? तो कहते हैं कि इसलिए पुष्टिभक्तिमार्गीय सकलसिद्धि की हेतु हैं। कारण यह है कि श्रीयमुनाजी के जल में जल के स्थान पर भगवान के चरणकमल की रेणु अधिक है। ''चरणकमल की रेणु'' वाली बात पर ध्यान देंगे तो ख्याल आएगा कि भक्ति किस प्रकार आ रही है! चरणरज किसके पास अधिक होती है? जो जिसका भक्त होता है उसके पास।

झूला कैसे झूलते हैं? कभी इधर जाता है, कभी उधर जाता है। इस प्रकार आप झूलने का अनुभव करते हैं। इसमें किस प्रकार का हिंडोला है? इस ओर देखेंगे तो भक्ति आ रही है और दूसरी ओर इस तरफ जा रहा है कि - ''तटस्थ-नवकानन-प्रकट-मोद-पुष्पाम्बुना, सुरासुर-सुपूजित-स्मरपितुः श्रियं बिभ्रतीम्'' - तट पर जो ये फूल खिले हुए हैं वे अपने तरीके से ही श्रीयमुनाजी में गिर पड़ते हैं और गिरने के कारण श्रीयमुनाजी में वे फूल तैर रहे हैं। यह वर्तमान यमुनाजी का वर्णन नहीं है। आज तो पूरी तरह प्रदूषण हो गया है। यह अन्य किसी काल की यमुनाजी का वर्णन है।

तट पर जो नवकानन-वन है उसमें खिले हुए - उस वन में स्थित वृक्षों पर पुष्पित फूलों से - फूलोंवाले जल से श्रीयमुनाजी की शोभा कैसी लग रही है? जैसे भगवान की पूजा सुर और असुर सभी करते हैं। और पूजित भगवान की शोभा कैसी होती है? ऐसे भगवान जैसी शोभावाली श्रीयमुनाजी हैं।

फिर ध्यान से देखें, यहाँ ब्रह्मवाद की ओर इंगित किया जा रहा है कि श्रीयमुनाजी कैसी हैं? वे साक्षात् श्रीकृष्ण की शोभा को धारण करनेवाली हैं, इसीलिए कृष्णभजन की यहाँ न्यूनता नहीं है। ''मुरारि-पद-पंकज स्फुरदमन्द-रेणूत्कटां'' हैं। जल की तुलना में चरणरज तो उनमें अत्यधिक उत्कट है।

अब यहाँ देखें, कितनी गजब की बात कही है! इस झूलेवाली बात को समझेंगे तो ज्ञात होगा कि श्री महाप्रभुजी किस प्रकार झूल रहे हैं - एक ब्रह्मवाद का झुकाव है और दूसरा पुष्टिभक्ति का झुकाव है। फिर एक ब्रह्मवाद का झुकाव है और फिर एक पुष्टिभक्ति का झुकाव है। आपश्री इस प्रकार झूला झुला रहे हैं। श्रीयमुनाजी की स्तुति में वे दोनों पक्षों के वर्णन के साथ झुला रहे हैं।

(श्रीयमुनायाः भगवद्रति-वर्धकत्व-रूपैश्वर्यवर्णनम्)

श्रीयमुनाजी का दूसरा ऐश्वर्य क्या है? श्रीयमुनाजी का ऐश्वर्य ऐसा नहीं है कि श्रीयमुनाजी अपने चुनड़ी मनोरथ कराते रहें, बल्कि श्रीयमुनाजी का ऐश्वर्य कैसा है? ''भगवद्रति-वर्धकत्वरूप-ऐश्वर्य'' अर्थात् जो जीव श्रीयमुनाजी के सम्पर्क में आता है उस जीव में भगवद्रति बढ़ जाती है। उस भगवद्रतिवर्धकत्वरूप ऐश्वर्य का यहाँ वर्णन करते हैं -

कलिन्द-गिरि-मस्तके पतदमन्द-पूरोज्ज्वला
विलास-गमनोल्लसत्-प्रकट-गण्ड-शैलोन्नता।।
सघोष-गति-दन्तुरा समधिरूढ-दोलोत्तमा
मुकुन्द-रति-वर्धिनी जयति पद्मबन्धोः सुता।।2।।

अन्वयार्थ :

कलिन्द-गिरि-मस्तके = 'कलिन्द' नामक पर्वत के शिखर पर
पतद्-अमन्द-पूरोज्ज्वला = गिरते समय तीव्र वेग के कारण उज्ज्वल फेन तथा प्रवाहवाले
विलास-गमनोल्लसत्-प्रकट-गण्ड-शैलोन्नता = अपनी विलासपूर्ण गति से पर्वत के छोटे-बड़े शिलाखण्डों को ऊपर उछाल कर प्रकट करने में स्वयं भी उन्नत होकर चलनेवाली
सघोषगतिदन्तुरा = जल प्रवाह के घोष द्वारा विविध रस-भावों को प्रकट करती हुई
समधिरूढदोलोत्तमा = उत्तम पालकी में विराज कर पधारती हुई
पद्म-बन्धोः = कमल के सखा सूर्य की
सुता = पुत्री का
जयति = उत्कर्ष हो।

भावार्थ : सूर्यमण्डल से कलिन्दपर्वत पर गिरने से फेन बहुत होने पर प्रवाह बहुत आता है, इसलिए उज्ज्वल हैं। ऊँचे-नीचे पर्वतों पर चढ़ना-उतरना

विलासगतिरूप में सुशोभित है। जलप्रवाह का वेग पाषाणों को ऊपर फेंकता है जिससे वे पाषाण प्रकट दीखते हैं। इस कारण से श्रीयमुनाजी का प्रवाह ऊँचा दिखाई देता है। शब्दसहित प्रवाह की गति से विलासयुक्त उत्तम हिण्डोला में विराजते हुए - से जान पड़ते हैं। मुकुन्द श्रीकृष्ण की प्रीति भक्तों में बढ़ाते हैं और भक्त की प्रीति भगवान में बढ़ाते हैं। कमल के बन्धुरूप सूर्य की पुत्री हैं। ऐसी श्रीयमुनाजी सर्वाधिक उत्कर्ष से विराजित हैं।

व्याख्या :

कलिन्दगिरि के मस्तक पर श्रीयमुनाजी पहले-पहल पधारीं तब से विभक्त हो कर निकलते हुए ''पतदमन्द-पूरोज्ज्वला'' - एकदम उफनती हुई निकलीं, ''विलास-गमनोल्लसत्'' उनके गमन में एक प्रकार का उल्लास प्रकट हो रहा है। कारण क्या है - ''**दोरकर सोरकर जाय पियसों कहे**''। यहाँ पुष्टिभक्त को पुष्टिप्रभु से मिलाने के लिए प्रकट हुए हैं न, उसका उल्लास है। ''**दोरकर सोरकर जाय पियसों कहे, अति ही आनंद मनमें जु हरखे**'' तो यह इस परिमाण में विलासगमन है कि कंकड़ पत्थर आदि उसके प्रवाह के कारण उछलते हैं। यहाँ श्रीमहाप्रभुजी पहाड़ पर की श्रीयमुनाजी का चित्रण कर रहे हैं।

''सघोष-गति-दन्तुरा'' अर्थात् प्रवाह में एक ध्वनि प्रकट हो रही है। ''समधिरूढ-दोलोत्तमा'' - ऊँचे-नीचे दौड़ते हुए, झूले में झूलते हुए श्रीयमुनाजी पधार रही हैं। किस कारण से? कारण है - ''मुकुन्द-रति-वर्धिनी'' - मुकुन्द में रति बढ़ाई जानी है, मुकुन्द में मुक्ति नहीं बढ़ानी है। कारण कि मुकुन्द में मुक्ति बढ़ाने के लिए तो गंगाजी पहले से ही विद्यमान थीं। अत्यन्त विस्तृतरूप से पहले ही बह रही हैं परन्तु मुकुन्द में जो रति बढ़ाने वाली कोई हैं तो वह अपनी श्रीयमुनाजी हैं।

''जयति पद्मबन्धोः सुता'' - कितने मधुर शब्द हैं! 'पद्मबन्धु' अर्थात् सूर्य, 'पद्म' अर्थात् कमल और कमल का बन्धु - मित्र कौन है? जो कमल को

खिलाता है। दुश्मन कौन? जो कमल को मुरझा देता है। पद्मबन्धु सूर्य की पुत्री श्रीयमुनाजी हैं। श्रीमहाप्रभुजी ने मुकुन्दरतिवर्धिनी कहा है तो इसका तात्पर्य यह है कि श्रीमहाप्रभुजी को भक्त का हृदयकमल ध्यान में आ रहा है। यह भक्त के हृदयकमल को खिलने देंगी, ये जो इस प्रकार से कलिन्दगिरि मस्तक से व्रज की तरफ दौड़ रही हैं तो भक्त ही पुष्टिजीव है और उसका हृदय भक्ति से खिल उठेगा।

कारण कि पद्मबन्धु की पुत्री हैं न! सूर्य की पुत्री होने के कारण सूर्य जिस प्रकार कमल को खिला देगा उसी प्रकार मुकुन्दरतिवर्धन के लिए ये भक्त के हृदयकमल को खिलाने हेतु हर प्रकार से अपने पिताश्री की सम्पूर्ण विरासत लेकर दौड़ रही हैं। ऐसा अभिमत सूचित कर रहे हैं। इसी वजह से ''श्रीयमुनायाः भगवद्रति-वर्धकत्व-रूपैश्वर्यवर्णनम्'' के अन्तर्गत इस प्रकार के ऐश्वर्य का वर्णन इस श्लोक में किया गया है।

अब ध्यान से समझें। कल किसी ने पूछा था न कि बार-बार उसी बात का पुनरावर्तन हो रहा है। तो भाई! यह तो जुगाली करनेवाली बात है। एक बात समझें कि फिल्म के गीतों में भी राग होता है, नहीं होता ऐसी बात नहीं है। फिल्म के गीतों का राग शास्त्रीय ढंग से भी गाया जा सकता है परन्तु प्रत्येक फिल्मी गीत में एक प्रकार की नस्य की छींक आती होती है कि जैसे ही चुटकी लेकर सूंघते हैं तो आक-छीं करते-करते तीन मिनिट में बात खत्म और वही गीत शास्त्रीय राग में क्या करता है? उसके सुरों को अलग-अलग ढंग से, अलग-अलग पहलू से, आगे-पीछे, ऊपर-नीचे आदि पच्चीसों ढंग से सुरों का रस लेने का जो प्रकार है वह राग बन जाता है और यदि रस नहीं लेना है तो नस्य की तरह तीन मिनिट में गीत खत्म और राग भी पूरा।

तो जो फिल्मी गीतों की पद्धति है वह छींकवाली है और जो राग की पद्धति है उसमें एक-एक सुर को कई-कई तरीकों से, तोड़-तोड़ कर,

अन्तराल के साथ, एक-दूसरे के स्वर के साथ- जैसे 'सा' के साथ 'ग' को जोड़ कर, तो कभी 'सा' के साथ 'रे' को जोड़ कर और कभी दो 'रे' के बीच 'ग' जोड़ कर अथवा दो 'ग' के बीच 'सा' जोड़ कर। इस प्रकार बहुत सारे भेद हो सकते हैं। 'सा' से सीधे 'म' पर छलांग मार कर, वापस 'सा' पर आ कर और कभी 'ग-म' पर जा कर। सैकड़ों-हजारों प्रकार उसके हो सकते हैं।

गणित के अनुसार परिगणन करें तो समझ में आएगा कि ''सा, रे, ग, म, प, ध, नि, सा'' के कितने विविध रूप हो सकते हैं। इन सभी विविध रूपों का यदि आनन्द अनुभूत करें तो राग का मजा ले रहे हैं और यदि छींक-छींक कर तीन मिनिट में पूरा करें तो नसवार का मजा ले रहे हैं। ''मन तड़पत हरि दर्शन को आज''- तो मन तड़पता नहीं। तीन मिनिट में सारा मामला खत्म, यह एक अलग कथा है तीन मिनिट में राग का मजा लेने की। और वह एक अलग मजा है कि सुरों के प्रत्येक संधिस्थल को तोड़ कर आनन्दित हों तो उसे राग कहा जाता है।

श्रीमहाप्रभुजी के जो तीन गुण हैं - ''**कृष्णसेवापरं वीक्ष्य, दंभादिरहितं नरम्, श्रीभागवत- तत्त्वज्ञं**'' इन तीन गुणों के विविध रूपों को कितना सम्भवनीय बना कर श्रीगुसांईजी ने ''स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत'' में आनन्द लिया है। इसी प्रकार श्रीयमुनाजी के जो गुण हैं, इस पक्ष से कहें या उस पक्ष से कहें - सभी गुण लगभग एक जैसे ही हैं। उन सभी गुणों में थोड़ी-थोड़ी विविधता निर्मित करके उन गुणों का राग की भाँति आनन्द लेना श्रीमहाप्रभुजी को अभिप्रेत है, तम्बाकू की नस्य की तरह मजा लेना नहीं।

फिल्मी गीतवाली भावना में श्रीयमुनाष्टक को समझने जाएंगे तो आप कहेंगे कि एक ही बात बार-बार किसलिए आ रही है? क्योंकि आपको मजा नहीं आ रहा। आपको ढोकला अच्छा लगता है तो क्या एक टुकड़ा खा कर आत्मतृप्ति हो जाएगी? पाँच-दस-बीस-पच्चीस टुकड़े तो खाएंगे या नहीं?

यदि आप छोटे या बड़े- पाँच-दस-बीस-पच्चीस टुकड़े खाएंगे तो आप स्वाद ले सकेंगे और एक टुकड़ा खा कर बस कह दिया तो मतलब कहीं न कहीं आपको प्रमेह है या आपको ब्लडप्रेशर है। कुछ तो झमेला है। या तो आप स्वाद नहीं ले रहे या आप प्रसादिया भक्त हैं। तो यह एक अलग कथा है।

श्रीयमुनाजी के स्वरूप के अष्टविध ऐश्वर्य के गुण का श्रीमहाप्रभुजी यहाँ राग की भाँति स्वाद ले रहे हैं। यह बात विशेषरूप से समझने जैसी है। मन में ऐसी भावना नहीं करनी चाहिए कि वही की वही बात आगे-पीछे वापस आ रही है। वह तो आएगी ही। यह स्वाभाविक है। क्योंकि हम छींकवाली स्थिति को पसन्द करते हैं। हम सुरों को उनकी विविधता के साथ आगे-पीछे जोड़ कर राग का मजा लेने की इच्छा नहीं रखते।

वह मजा लेंगे तो हमें पुनरावर्तन नहीं लगेगा बल्कि हमें लगेगा कि यह तो सतत चलता रहना चाहिये। अधिकांशत: जो शास्त्रीय संगीत सुनते रहते हैं वे इस रस को जानते हैं। यदि आधे घण्टे में कोई राग पूरा हो जाता है तो पूरा वातावरण एकदम नीरस हो जाता है कि क्या समस्या हो गई? पूरा राग आधे घण्टे में ही पूरा खत्म हो गया? एक घण्टे तक क्यों नहीं चला? क्योंकि हम उसका आनन्द दूसरे प्रकार से लेना चाहते हैं, नसवार की तरह नहीं।

इसी प्रकार श्रीमहाप्रभुजी श्रीयमुनाजी के गुणों का आनन्द ले रहे हैं। इसीलिए फिर से वही बात कह रहे हैं। थोड़ा अलग तरीके से बात आ रही है परन्तु बात वही की वही है। (**प्रभुसम्बन्ध-प्रतिबन्ध-निवर्तनेन तदनुभवार्हशुद्धिरूप-भुवनपावनीत्व-रूपैश्वर्यवर्णनम्**) - पुष्टिप्रभु के साथ पुष्टिजीव का जो सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध में यदि कोई प्रतिबन्ध आ सकता हो, जैसा कि हम श्रीमहाप्रभुजी के सर्वोत्तमस्तोत्र में देख आए हैं कि ''विनियोगो भक्तियोग-प्रतिबन्ध-विनाशने'' उसी प्रकार यहाँ भी समझना

चाहिए। अब यदि हम वापस यह कहें कि जब सर्वोत्तमस्तोत्र से ही सभी प्रतिबन्धों का निवर्तन हो गया तो पुनः श्रीयमुनाजी को यहाँ किसलिए समाविष्ट किया गया है? और हम यह भी कहेंगे कि जरूर श्रीमहाप्रभुजी में कोई न कोई न्यूनता रही होगी इसलिए श्रीयमुनाजी को समाविष्ट किया। श्रीमहाप्रभुजी को समाविष्ट करने की क्या आवश्यकता थी, यदि श्रीयमुनाजी ही सभी प्रतिबन्धों को दूर कर रहे हैं? यह बात इसलिए उत्पन्न हो रही है कि हम पुनरावर्तन नहीं चाहते।

ये जो सभी कदम हैं – पुष्टि के, पुष्टिमार्ग के, पुष्टिभक्तिमार्ग के, पुष्टिभक्तिमार्गीय सम्प्रदाय के – ये सब एक-एक आवरण हैं। इन आवरणों से पार हो कर पुष्टि तक जब हम पहुँचना चाहेंगे तो प्रत्येक आवरण का हमें एक अलग ही आनन्द आएगा। जैसे हम कहीं जा रहे हैं और हमें वहाँ कोई हेलीकोप्टर से उतार दे तो यात्रा का आनन्द लेते हुए पहुँचने का आनन्द और हेलीकोप्टर से पहुँचने का आनन्द। बस यही अन्तर है।

इसी प्रकार जो असहाय लोग हैं, जो एवरेस्ट पर नहीं चढ़ सकते उनको हेलीकोप्टर से वहाँ पहुँचा सकते हैं परन्तु समझनेवाली बात यह है कि जो हेलीकोप्टर से पहुँचना चाहते हैं वे कभी पर्वतारोही नहीं बन सकते। वे असहाय अपने जैसे मुम्बई टाइप के व्यक्ति होंगे कि गांठ में पैसा बहुत है इसलिए अभिमान रखते हैं कि हम भी एवरेस्ट पर जाएंगे। कोई तेनसिंग के बाप का एकाधिकार है? परन्तु जाएंगे किस प्रकार? नेपाल की रॉयल एयर सर्विस है उससे एवरेस्ट पर जाएंगे तो इसमें कौनसा बड़ा शेर मार लिया?

समझने की बात यह है कि थोड़ा जाने का आनन्द लेना चाहिए। पहुँचने का आनन्द तो मिलेगा ही परन्तु जिनको जाने का आनन्द लेना है उन्हें एक निर्धारित प्रणाली से जाना पड़ेगा। एक श्रीमहाप्रभुजी, श्रीगुसांईजी की साम्प्रदायिक प्रणाली है। एक श्रीयमुनाजी की भक्तिमार्गीय प्रणाली है। उसके

बाद प्रभु की एक पुष्टि की प्रणाली है। पुष्टि की प्रणाली से जा कर हमने प्रभु के स्वरूपानन्द का आनन्द लिया तो हमने तेनसिंग की भाँति एवरेस्ट का आनन्द लिया।

अब यदि मुम्बई के सेठियों की भाँति आनन्द लेना हो तो नेपाल की रॉयल एयर सर्विस तो मौजूद है ही। काठमांडू से सीधा एवरेस्ट पहुँचा देगी। तेनसिंग के बाप का कोई एकाधिकार थोड़े ही है। मनोरथ में यही एक चक्कर है। हम भी श्रीठाकुरजी को पलना झुलाने का आनन्द लेना चाहते हैं परन्तु यशोदाजी नहीं बनना चाहते। ऑफिस जाने के लिए खूब समय है परन्तु बस, पाँच मिनिट हमारे नाम का पलना झुला दीजिए। बस! आनन्द ले कर चले गए। ये सब सेठियों जैसे चक्कर हैं, पूतना जैसे चक्कर हैं, यह भक्ति का चक्कर नहीं। ध्यान से समझ जाएं, ये जो आनन्द ले रहे हैं उस सम्बन्ध में श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि –

भुवंभुवन-पावनीम् अधिगताम् अनेक-स्वनैः
प्रियाभिरिव सेवितां शुक-मयूर-हंसादिभिः।।
तरंग-भुज-कंकण-प्रकट-मुक्तिका-वालुका-
नितम्ब-तट-सुन्दरीं नमत कृष्ण-तुर्य-प्रियाम्।।3।।

अन्वयार्थ :

भुवनपावनीं = भुवन को पावन करनेवाली
भुवम् = भूमि पर
अधिगताम् = आकर
अनेकस्वनैः = अनेक प्रकार के कलरव करनेवाली
प्रियाभिः = सखियों से, **इव** = समान
शुकमयूरहंसादिभिः = शुक मयूर हंस आदि से
सेवितां = सेवित

तरङ्ग-भुज-कङ्कण-प्रकट-मुक्तिका-वालुका-नितम्ब-तट-सुन्दरीं = तरंगों की भुजाओं में धारण किए हुए कंकणों में जटित झीने-झीने मोतियों-सी वालुकावाले नितम्ब समान सुन्दर तटवाली

कृष्णतुर्यप्रियां = श्रीकृष्ण की चतुर्थ प्रिया को

नमत = नमन करो

भावार्थ : श्रीयमुनाजी पृथ्वी पर पधार कर भक्तों के शरीर रूपी भुवन की भगवत्सेवा के योग्य शुद्धि करते हैं। जैसे सभी श्रीगोपीजन श्रीयमुनाजी का सेवन करते हैं वैसे ही अनेकविध कलरव शब्द करनेवाले शुक, मयूर और हंस प्रभृति सब पक्षियों द्वारा भी श्रीयमुनाजी सेवित हैं। श्रीयमुनाजी के श्रीहस्त रूपी तरंग जब तीर पर आते हैं तब श्रीहस्त में धारण किए हुए कंकण में मुक्ताफल रूपी वालुका प्रकाशित होती है। उभरे हुए नितम्बरूप तटवाले श्रीयमुनाजी प्रभु की चतुर्थ प्रिया हैं। ऐसे श्रीयमुनाजी को तुम सब नमन करो।

व्याख्या :

भुवन-पावनीम् भुवं अधिगताम् - यह भुवनपावनी। ''**निमंत्रिता सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या**'' आ रहा है। श्रीयमुनाजी अवश्य लोकपावनी हैं परन्तु सम्पूर्ण भुवन को पावन नहीं करती। सम्पूर्ण भुवन को पावन करती तो कंस को किसलिए नहीं किया? कंस तो श्रीयमुनाजी के किनारे राज्य करता था या नहीं? किसलिए पावन नहीं किया? तात्पर्य यह है कि भुवनपावनी होने से सभी को पावन नहीं करती। जिनमें प्रभु की पुष्टिभक्ति करने का बीजभाव है उनके भुवन को पावन कर रही हैं। वरना कंस किसलिए पावन नहीं हुआ? कंस क्या श्रीयमुनाजी के किनारे नहीं रहता था?

आगे चलकर एक श्लोक आएगा। ''ध्रुवपराशराभीष्टदे, विशुद्ध-मथुरा-तटे'' - ये ध्रुवपराशरादि विशुद्ध मथुरा तट पर थे। तो क्या कंस विशुद्ध

मथुरा तट पर नहीं था? कोई अशुद्ध मथुरा तट पर था? कंस भी विशुद्ध मथुरा तट पर ही था। तो कंस को किसलिए पावन नहीं किया? प्रभु ने जिसमें पुष्टिभक्ति का बीज स्थापित किया है, उसको विशुद्ध करना चाहते हैं। ''निमंत्रिता सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या'' न्याय से सम्पूर्ण भुवन को पावन करने की झंझट में श्रीयमुनाजी नहीं फंसते।

अर्थात् पूरी दुनिया का परिवर्तन करने में विश्वास नहीं करते। ''अन्तरराष्ट्रीय धर्मपरिवर्तनपुष्टिमार्ग'' की भाँति श्रीयमुनाजी धर्मान्तरण में विश्वास नहीं करते बल्कि आवर्तन में विश्वास करते हैं कि जिसके अन्दर पुष्टिबीज भाव है उसको अन्तर्मुखी करते हैं कि भाई तुम्हारे हृदय में स्थित बीजभाव के आन्तर्मुख से समझो कि बीज क्या है? कितना सुन्दर बीजभाव है, धर्मान्तरण से तो बात बिगड़ जाएगी।

''भुवन-पावनीं भुवं अधिगताम्'' ऐसे भुवनपावनी श्रीयमुनाजी भूतल पर आए। किस प्रकार आए? ''अनेक स्वनैः प्रियाभिरिव सेवितां शुकमयूरहंसादिभिः'' शुक, मोर, हंस आदि जैसे मानो इनकी सखियाँ हैं और जो अनेक प्रकार से इनके तट पर आवाज कर रहे हैं। जैसे मित्र हों तो एक सखी दूसरी सखी से किस प्रकार बात करती होगी? उसी प्रकार श्रीयमुनाजी सखियों से सेवित हैं। पूरा चित्रात्मक वर्णन है। ''तरंग-भुज-कंकण-प्रकट-मुक्तिका-वालुका'' - अर्थात् उनकी जो तरंगें हैं उन तरंगों में रज के कण बह कर आ रहे हैं। और वे ऐसे हैं जैसे कोई मोती हाथ में आ रहे हों!

इन बालुका कणों को ऐसा न समझें कि ये धूल के कण हैं। ये बालुका-कण मोती के कण हैं जो तट पर आ कर बिखर गए हैं। ''नितम्ब-तट-सुन्दरीं नमत कृष्ण-तुर्य-प्रियाम्'' - वे कृष्ण तुर्य प्रिया (चतुर्थ प्रिया) हैं। श्रीयमुनाजी श्रीकृष्ण को प्रिय हैं। यदि आप श्रीयमुनाजी को प्रिय हो गए और श्रीयमुनाजी श्रीकृष्ण को प्रिय हैं तो वे आपको किसलिए श्रीकृष्ण का प्रिय नहीं बनाएंगी?

आपके सभी प्रतिबन्धों को दूर करके वे आपको श्रीकृष्ण का प्रिय बना देंगी। यह बात कह रहे हैं।

''प्रभुसम्बन्ध-प्रतिबन्ध-निवर्तनेन भुवन-पावनीं'' - प्रभुसम्बन्ध में आड़े आनेवाले प्रतिबन्धों का निवर्तन किया। ''कृष्ण-तुर्य-प्रियाम्'' से क्या बात बताई?''भगवद्-अनुभवार्ह- शुद्धिरूप-भुवन-पावनी''।

एक बात ध्यान से समझें कि कृष्ण हमें पसन्द आते हैं - यह एक अवस्था है और कृष्ण को हम पसन्द आते हैं यह दूसरी अवस्था है। कृष्ण तो हमें पसन्द आ रहे हैं परन्तु हम कृष्ण को पसन्द आ जाएँ तो यह अवस्था श्रीयमुनाजी की है। श्रीयमुनाजी श्रीकृष्ण को पसन्द आ गए हैं, ''कृष्ण-तुर्य-प्रियाम्'' हैं। श्रीयमुनाजी के साथ हम जुड़ जाएंगे तो हममें भी यह उत्साह प्रकट होगा कि जिस प्रकार श्रीकृष्ण को हम पसन्द कर रहे हैं उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी हमको पसन्द करने लगेंगे।

किसी ने बहुत ही सुन्दर रूप में इस बात को कहा है -

''को हो ज्योत्सी हो कछु आगम बखानत हो,
नाम-काम-गाम-जगजाहिर हमारो तो,
आवो बैठ जाव-पग छवाय, पान खाओ,
पाछे सुचिते चित गणित विचारो तो,
मेरो मन मोहन सों लागत है बार-बार,
मोहन को मोसे मन लागी हे? बिचारो तो।''

कहते हैं कि तुम कौन हो? तो कहता है, मैं ज्योतिषी हूँ। तो क्या ज्योतिष देखना आता है? कुछ गणना करना आता है? तो कहता है कि पूरी दुनिया जानती है कि बहुत बड़ा ज्योतिषी हूँ। बोलो, तुम्हारी क्या तकलीफ है? मेरी एक ही तकलीफ है, कि मेरा मन तो मोहन से लग गया है। ज्योतिष के

किस ग्रह के अनुसार मोहन का मन मुझ में कब लगेगा, देख कर बता दो। ऐसी दशा कब आ रही है? मंगल की हो, गुरु की हो, राहु की हो, केतु की हो, शनि की हो - जिस किसी की भी हो पर वह दशा कब आ रही है, वह बता दो। यदि तुम सच्चे ज्योतिषी हो तो बता दो कि वह दशा किस दिन से आ रही है?

''मेरो मन मोहन सों लागत है बार-बार, मोहन को मोसे मन लागी हे बिचारो तो।'' मैं तुम्हारे पैर धोने को तैयार हूँ, पान भी खिलाऊँगी। सुचिते मन अर्थात् खूब शान्त चित्त से गणना कर के बता दो कि मोहन का मन मुझ में कब लगेगा? मुझे तो मोहन पसन्द आ रहा है परन्तु उसको मैं कब पसन्द आऊँगी? यह बात मैंने पूरे विस्तार से सर्वोत्तम में आपको बताई थी। रमण और कामभाव में। वहाँ स्पष्ट किया था कि काम भाव से वे मेरे समक्ष कब प्रकट होंगे? मैं तो उनकी प्रति रमणभाव से प्रस्तुत हूँ परन्तु उनमें यदि मेरे प्रति कामभाव प्रकट हो जाए तो बस सम्बन्ध जुड़ गया। दोनों एक-दूसरे के पूरक हो गए।

यह बात श्रीमहाप्रभुजी ''कृष्ण-तुर्य-प्रियाम्'' से कह रहे हैं। श्रीकृष्ण की तुर्य प्रिया हैं श्रीयमुनाजी। उनके साथ आप भी जुड़ जाएंगे तो आप भी...। इस श्लोक में बहुत ही सरस रीति से श्रीमहाप्रभुजी संकेत दे रहे हैं कि श्रीयमुनाजी के किनारे श्रीठाकुरजी जब पधारे थे तो जैसे श्रीयमुनाजी श्रीठाकुर जी को पसन्द आते हैं वैसे ही श्रीयमुनाजी के किनारे कलरव करते शुक, मयूर, हंस आदि श्रीठाकुरजी को पसन्द आते हैं कि नहीं?

कीर्तन देखेंगे तो पता चलेगा कि श्रीयमुनाजी के तट पर मोर नाचता हो तो श्रीठाकुरजी भी उसके अनुकरण में नाचते हैं। श्रीयमुनाजी के तट पर शुक बोलता हो तो शुक की बोली की नकल श्रीठाकुरजी करते हैं। श्रीयमुनाजी के तट पर हंस बोलता हो तो जिस प्रकार हंस बोल रहा है उसकी नकल भी श्रीठाकुरजी करते हैं। यह मस्ती की बात है न! हम नकल कब करते हैं? जब हम मस्ती में होते हैं, पिकनिक के मूड में होते हैं। इसी प्रकार श्रीयमुनाजी के

किनारे श्रीठाकुरजी को भी कोई रमणार्थ मन:स्थिति आ रही है।

श्रीयमुनाजी जैसे श्रीठाकुरजी को पसन्द करते हैं वैसे ही श्रीयमुनाजी की सेवा में रत जो सखियाँ हैं - शुक, मयूर, हंस आदि - वे भी श्रीठाकुरजी को पसंद आ रही हैं कि नहीं? पसन्द आती है वैसी हम भी कोई धुन लगाकर बैठ गए। शुक, मयूर, हंस की कोई भी आवाज हम भी निकाल सकते हैं। फिर चाहे वह गोविन्दस्वामी की आवाज हो या रूपा पोरिया की। वह गीत, वह ध्वनि श्रीठाकुरजी को ''कृष्ण-तुर्य-प्रियाम्'' के तट पर पसन्द आने लगेगी। यह बात उद्धृत कर रहे हैं।

''प्रियाभिरिव सेवितां शुक-मयूर-हंसादिभि:'' - श्रीठाकुरजी के संदर्भ में इस बात का उल्लेख क्यों जरूरी था? श्रीभागवत की लीला का अध्ययन करोगे तो समझ में आएगा कि श्रीयमुनाजी के तट पर श्रीठाकुरजी जब पधारते तब पूरा वातावरण श्रीठाकुरजी को पसन्द आता था। ऐसा नहीं है कि केवल श्रीयमुनाजी पसन्द आते थे बल्कि श्रीयमुनाजी के तट पर विद्यमान समग्र वातावरण पसन्द आता था। उस वातावरण में श्रीठाकुरजी अपना रमणार्थ स्वभाव प्रकट कर रहे हैं। उसी प्रकार हम भी उस वातावरण में भागीदार हो गए - उस दृश्य में अपना भी कोई भाग है तो उसे श्रीठाकुरजी क्यों पसन्द नहीं करें? श्रीठाकुरजी हमें भी स्वीकार करेंगे कि अच्छा, इस दृश्य में तुम्हारी भी हिस्सेदारी है। चलो अब मजा आ गया। भूदृश्य पर श्रीयमुनाजी का जो चित्र है उसमें हमारा भी कोई हिस्सा होना चाहिए।

मूल बात समझें कि भूदृश्य पर श्रीयमुनाजी का जो चित्र है उसमें हमारा भाग भी कहीं चित्रित होना चाहिए, जिस रूप में चित्रित हो सके उस रूप में। यदि उस भूदृश्य पर चित्र में हमारा भाग है तो बस, बात बन गई। ''कृष्ण-तुर्य-प्रियाम्'' के चित्रण में यदि हमारा भाग है तो बात बन गई। हम भी श्रीठाकुरजी के प्रिय बन जाएंगे। इतना ऐश्वर्य श्रीयमुनाजी में है। यह बात श्रीमहाप्रभुजी ने

बताई। 'तुर्य' अर्थात् चतुर्थ प्रिया हैं। तात्पर्य कि - तामस, राजस, सात्त्विक और निर्गुण। इसके बाद यह संदेह होना स्वाभाविक है कि भाई, श्रीठाकुरजी का प्रिय बन जाएंगे उसकी क्या गारन्टी है? तो बात यह है कि हम श्रीयमुनाष्टक करते हैं, हम श्रीयमुनाश्रय करते हैं उसमें श्रीकृष्ण का प्रिय होने की क्या गारन्टी है? यदि ऐसी शंका मन में उठती हो तो उस शंका के खुलासे में श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि ठीक है, तुम्हारी सारी शंकाओं का समाधान करता हूँ। कारण कि श्रीकृष्ण में जो भी गुण हैं वे सभी गुण श्रीयमुनाजी में हैं। अब डरने की कोई आवश्यकता नहीं है।

अब ध्यान से समझें कि जो भी गुण श्रीकृष्ण के हैं वे सभी गुण श्रीयमुनाजी में हैं - क्या ऐसी कोई सीढ़ी है पुष्टिभक्ति की अथवा ब्रह्मवाद की? तो ब्रह्मवाद की है। जो भी गुण श्रीकृष्ण में कहे गए हैं वे सभी गुण श्रीयमुनाजी में हैं इसके बावजूद श्रीयमुनाजी ''कृपाजलधिसंश्रिते'' हैं, ''मम मन: सुखं भावय''।

कई मूढ़ ऐसा सोचते हैं कि इस प्रकार गाली नहीं देनी चाहिए परन्तु कहना पड़ता है। इसका कारण क्या? वे ऐसा सोचते हैं कि जब श्री गोकुलनाथजी सोरोंजी से गोकुल पधारे तो श्रीयमुनास्नान किया। कई दिन बाद वापस पधारे। यहाँ उनकी परिस्थिति की सुन्दरता देखेंगे तो आपको मजा आएगा।

इसमें ऐसी भावना सूझती है कि श्रीयमुनाजी स्वामिनीजी हैं और श्रीगोकुलनाथजी स्वामी हैं। अरे बेवकूफों तुम्हें किसने कहा? श्रीगोकुलेशजी के जो 108नाम हैं उनमें एक नाम ''श्रीयमुना-रस-भोक्त्रे नम:'' है। श्री गोकुलनाथजी ने यमुना रस का भोग किया। चूँकि हमारा दिमाग खराब है इसलिए हम ऐसा सोचते हैं कि अच्छा, श्रीयमुनाजी के रस का भोग किया। अर्थात् किस रस का भोग किया? मानो यमुनाजी उनकी प्रेमिका हैं इसलिए

उनके रस का भोग श्रीगोकुलनाथजी ने किया। ऐसी-ऐसी बेसिर-पैर की बातें सोचते हैं। तथाकथित यमुना रस के भोक्ता श्रीगोकुलनाथजी नहीं हैं। यह यमुनारस कैसा रस है? श्रीकृष्ण को प्रिय होने का रस।

अत: यमुनारस के भोक्ता होने का तात्पर्य कृष्ण को प्रिय होने का रस है। उसका भोग श्रीयमुनाजी में स्नान कर के किया। बाकी नायिका होने का श्रीयमुनाजी का रस है, उस रस के भोक्ता श्रीगोकुलेशजी हैं, यह हमारे दिमाग की खुराफात है। यह श्रीगोकुलनाथजी के दिमाग की खुराफात नहीं है। वे पुष्टिमार्ग का बहुत मजबूत आधार हैं जिनके सामर्थ्य पर आजतक पुष्टिमार्ग चल रहा है। हम अपनी खुराफातों का आरोप उन पर करके ऐसा अर्थ करते हैं।

कई लोगों से मैंने सुना है कि यमुनारस के भोक्ता श्रीगोकुलनाथजी हैं। किसने कहा? सच में, दो थप्पड़ लगाने की इच्छा होती है। श्रीगोकुलनाथजी के सम्बन्ध में ऐसा अर्थ (अनर्थ) करते हैं? जिन्होंने पुष्टिमार्ग की नींव रखी उनके बारे में ऐसी ऊटपटांग सोच कि ''यमुना-रस-भोक्त्रे नम:'' - श्रीयमुनाजी के रस के भोक्ता श्रीगोकुलनाथजी हैं। अरे ऐसा ऊटपटांग अर्थ विचारने के लिए किसने कहा? यमुनारस क्या है? तुम समझते हो? यमुनारस है- श्रीकृष्ण का प्रिय होना। श्रीयमुनाजी में स्नान करते समय श्रीगोकुलनाथजी ने उस रस का भोग किया कि इतने दिन हम सोरों में थे, अब वापस हम गोकुल में आ गए। कृष्ण को प्रिय होने के रस का हमने भोग किया।

'रस' अर्थात् भाव। उस भाव का अब हम वापस आस्वाद ले रहे हैं कि अब हम कृष्ण के प्रिय बने। न जाने श्रीठाकुरजी ने किसलिए हमें इतने दिनों तक सोरों में रखा? विप्रयोग का दान करने के लिए और अब वापस बहुत ही सुन्दर अवसर आ गया है कि श्रीठाकुरजी ने फिर से हमें गोकुल में आने दिया और श्रीयमुनाजी में स्नान करने दिया। मैं श्रीठाकुरजी को प्रिय हूँ,

इस बात का प्रमाण मुझे मिल गया कि श्रीठाकुरजी ने मुझे वापस गोकुल में आने दिया।

इस तरह श्रीयमुनाजी के रस का भोग श्री गोकुलेशजी ने किया। किसी ऊटपटांग रस का भोग नहीं किया। लेकिन यदि सबकुछ विपरीत रीति से न विचारें तो पुष्टिमार्गीय कैसे हुए? समस्या यह है, पता नहीं किसलिए ऐसी ऊटपटांग बात सोचते हैं। आखिर, कभी न कभी तो हमें इन सभी बातों का दिल खोल कर खुलासा करना पड़ेगा। कारण कि इस विचारधारावाले भी सभी अपने ही हैं, कोई दूसरे नहीं। ये सभी बापा-बापी-प.भ.-पुरुषोत्तम इन सभी ने मिल कर इस प्रकार के झमेले खड़े किए हैं।

प्राचीन बालकों, प्राचीन भगवदीयों की प्राचीन वाणी में ऐसे झमेले नहीं थे। ये हमारे पैदा किए हुए हैं। उनका उपाय-इलाज भी हमें ही करना पड़ेगा। कब करना? यह अपनी इच्छा की बात है परन्तु कभी न कभी तो करना ही पड़ेगा। इन सभी कैंसर की गाँठों को काट-काट कर हमें गटर में फेंकना पड़ेगा। इन्होंने ही पुष्टिमार्ग को विकृत किया है। ऐसी कैंसर की गाँठें हमारे पुष्टिमार्गीय शरीर में नहीं चाहिए। इसी बात को ध्यान से समझने के लिए श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं -

(भगवत्-समानगुणधर्मवत्त्वेन भगवत्सम्बन्ध-सम्पादकत्व-रूपैश्वर्यवर्णनम्) - भगवान के समान गुणधर्मवाले होने से श्रीयमुनाजी के साथ जीव का सम्बन्ध होने से भगवान के साथ सम्बन्ध हो जाता है।

अनन्तगुणभूषिते शिवविरञ्चिदेवस्तुते
घनाघन-निभे सदा ध्रुवपराशराभीष्टदे।।
विशुद्ध-मथुरा-तटे सकल-गोप-गोपी-वृते
कृपाजलधिसंश्रिते मम मन: सुखं भावय।।4।।

अन्वयार्थ :

अनन्तगुणभूषिते = असंख्य गुणों से भूषित
शिवविरञ्चिदेवस्तुते = शिव, ब्रह्मा आदि देवता जिनकी स्तुति करते हैं, ऐसी
घनाघन-निभे = घुमड़ते हुए बादलों जैसी श्यामल
ध्रुवपराशराभीष्टदे = ध्रुव, पराशर जैसों को अभीष्ट फल देनेवाली
विशुद्ध-मथुरा-तटे = विशुद्ध मथुरा नगरी जिनके तट पर है, ऐसी
सकल-गोप-गोपी-वृते = सकल गोप तथा गोपियों से घिरी हुई
कृपाजलधिसंश्रिते = कृपासागर श्रीकृष्ण से मिलनेवाली
सदा = सदा
मम = मेरे
मनः सुखं = मन को सुख हो ऐसा
भावय = करो

भावार्थ : अनन्त गुणों से भूषित शिव, ब्रह्मा आदि देवताओं से स्तुत, सघन मेघ सदृश कान्तिवाली, ध्रुव पराशर आदि ऋषियों को सकल मनोरथों का दान करनेवाली, विशुद्ध मथुराजी जिनके तट पर हैं ऐसी, समग्र गोप-गोपाङ्गनाओं से शोभित एवं कृपासागर श्रीकृष्ण के आश्रय में रहनेवाली हे श्रीयमुनाजी! मेरे मन को सुख हो वैसा करो।

व्याख्या :

एक बात ध्यान से समझें, श्रीठाकुरजी ने ध्रुव-पराशर को उनके अभीष्ट का दान किया। श्रीठाकुरजी से छीना-झपटी करके वरदान किसने दिया? श्रीयमुनाजी ने दिया या श्रीठाकुरजी ने दिया? परन्तु श्रीमहाप्रभुजी क्या बात कह रहे हैं? श्रीठाकुरजी ने इसलिए दान किया कि उन्होंने श्रीयमुनाजी के किनारे पर तपस्या की। ध्रुव-पराशर को अभीष्ट देनेवाले तो श्रीयमुनाजी हैं। श्रीयमुनाजी उनको दण्ड थोड़े ही देंगे।

ध्रुव-पराशर को जो कुछ अभीष्ट है, वह श्रीठाकुरजी ने दिया। श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि नहीं, श्रीठाकुरजी ने नहीं दिया। आपके (श्रीयमुनाजी के) तट पर थे इसलिए आपकी संस्तुति पर श्रीठाकुरजी ने उनको अभीष्ट दान किया। ''ध्रुवपराशराभीष्टदे'' - यह तो अपनी सीमा के कारण हम टीका में नहीं जा सकते, बाकी टीका देखें तो अर्थ का सौन्दर्य निखर कर सामने आता है।

परन्तु संक्षेप में एक बात समझेंगे कि अनन्तगुण से श्रीयमुनाजी भूषित हैं। शिव-विरञ्चि देवताओं से श्रीयमुनाजी स्तुत हैं। ''घनाघन-निभे'' - अर्थात् जैसे श्रीठाकुरजी श्याम हैं वैसे ही श्रीयमुनाजी भी श्याम हैं। जो श्रीठाकुरजी ने ध्रुव-पराशर को अभीष्ट का दान किया है तो इस सम्बन्ध में कहते हैं कि वह तो श्रीयमुनाजी ने दान किया है।

''विशुद्ध-मथुरा-तटे सकल-गोप-गोपी वृते'' - अर्थात् जैसे सकल गोप-गोपियों से श्रीठाकुरजी घिरे हुए हैं वैसे श्रीयमुनाजी भी घिरे हुए हैं। विशुद्ध मथुरा जिनके तट पर स्थित है। ''कृपाजलधिसंश्रिते'' - श्रीयमुनाजी में कृपा का सागर लहरा रहा है। उस कृपा के सागर श्रीठाकुरजी हैं और उनमें श्रीयमुनाजी संश्रित हैं।

जो झूला मैंने बताया था न कि एक तरफ ब्रह्मवाद के स्तर पर श्रीकृष्ण और श्रीयमुनाजी को एक बताते हैं और दूसरी तरफ पुष्टिभक्ति की दिशा में श्रीयमुनाजी को श्रीकृष्ण का भक्त बताते हैं। इस प्रकार का यह झूला निरन्तर इस श्लोक में झूल रहा है। इसकी टीका में जाएंगे तो ख्याल में आएगा जिसके विस्तार के लिए अभी हमारे पास समय नहीं है।

संक्षेप में बस, इस एक शब्द पर ध्यान देंगे तो ''कृपाजलधिसंश्रिते'' का मतलब समझ में आ जाएगा। कृपा का सागर जिस प्रकार श्रीठाकुरजी में लहरा रहा है तो श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि ऐसा मत समझो कि श्रीठाकुरजी

में ही लहरा रहा है बल्कि श्रीयमुनाजी में भी लहरा रहा है। कृपा के सागर श्रीठाकुरजी का आश्रय करके श्रीयमुनाजी विराजते हैं। ऐसे श्रीयमुनाजी मेरे मन को सुख पहुँचाते हैं।

देखें कि ब्रह्मवाद और पुष्टिभक्ति का झूला किस प्रकार झुलाया गया है! श्रीयमुनाजी की स्तुति में बहुत सुन्दर रूप से श्रीमहाप्रभुजी ने निरन्तर प्रभु से उनका तादात्म्य बताया और तादात्म्य बताने के बाद प्रभु में उनकी भक्ति बताई। प्रभु पर श्रीयमुनाजी को आश्रित बताना ही यह झूला है। यही पुष्टिभक्ति का प्राण है। उस प्राण को कितने सुन्दर ढंग से और कितनी नजाकत एवं कोमलता के साथ श्रीमहाप्रभुजी ने इस श्लोक में प्रस्तुत किया है।

श्रीयमुनाष्टक का चौथा श्लोक है अत: वह मध्यपाती श्लोक है। श्रीयमुनाष्टक का मूल विचार इस श्लोक में आ गया है। श्रीयमुनाष्टक का सारांश कहें तो वह यह है कि श्रीयमुनाजी के दोनों स्वरूप हैं – एक कृष्णात्मक स्वरूप और दूसरा कृष्णभक्त होने का स्वरूप। यही पुष्टिभक्ति का मुख्य विचार है। ब्रह्मवाद के आधार पर कृष्णात्मक हैं और पुष्टिभक्ति के कारण कृष्णभक्त हैं। श्रीयमुनाजी के ये दोनों स्वरूप इस श्लोक में बहुत कोमलता, नजाकत और बहुत ही सुन्दर ढंग से श्रीमहाप्रभुजी ने बताए हैं।

(भगवत्प्रिय-कलि-निवारकत्व-रूपैश्वर्यवर्णनम्)-भगवत्प्रिय अर्थात् जो भगवान के प्रिय हैं उनमें श्रीयमुनाजी कलि का निवारण करते हैं। कारण कि भगवान कदाचित् क्रोधित हो जाएँ तो, यह कलि कलह करता रहे तो? हम यदि श्रीयमुनाजी का आश्रय लेते हैं तो भगवान के प्रिय तो हम ''कृष्ण- तुर्य-प्रियाम्'' श्लोक से हो ही गए हैं। परन्तु हमारे अन्दर का जो आपसी कलि-कलह है वह दोष तो निवृत्त नहीं होता। परन्तु श्रीयमुनाजी पुष्टिभक्ति मार्ग में इस दोष का भी निवारण करने का ऐश्वर्य रखते हैं। अत: श्रीयमुनाजी का इस प्रकार का ऐश्वर्य है। उनमें भगवत्प्रिय पुष्टिभक्तों के कलि का निवारकरूप ऐश्वर्य भी है।

यया चरण-पद्मजा मुररिपो: प्रियम्भावुका
समागमनतोऽभवत् सकल-सिद्धिदा सेवताम्।।
तया सदृशताम् इयात् कमलजा सपत्नीव यत्-
हरि-प्रिय-कलिन्दया मनसि मे सदा स्थीयताम्।।5।।

अन्वयार्थ :

यया = जिसके
समागमनत: = संगम से
चरणपद्मजा = भगवान के चरण से प्रकट हुई श्रीगंगा
मुररिपो: = श्रीकृष्ण के
प्रियम्भावुका = प्रिय कार्यों को करनेवाली
सेवतां = सेवा करनेवालों को
सकलसिद्धिदा = सकलसिद्धियों को देनेवाली
अभवत् = हुई
तया = उनकी
सदृशतां = समानता को
कमलजा = कमल से उत्पन्न हुई लक्ष्मी
इयात् = प्राप्त कर सकती हैं
यत् = क्योंकि
सपत्नि = श्रीयमुना की सपत्नी
इव = जैसी हैं
हरिप्रियकलिन्दया = भगवान के प्रिय भक्तों के दोषों को नष्ट करनेवाली
मे = मेरे
मनसि = मन में
सदा = सर्वदा
स्थीयताम् = स्थित रहें

भावार्थ : गंगाजी श्रीयमुनाजी के संग मिली हैं जिससे मुररिपु भगवान को अत्यन्त प्रिय हुई हैं और सेवन करनेवालों को समग्र सिद्धि देनेवाली हुई हैं। ऐसी श्रीयमुनाजी की बराबरी को कोई प्राप्त हो सकता है तो वे श्रीलक्ष्मीजी हो सकती हैं। क्योंकि श्रीलक्ष्मीजी श्रीयमुनाजी की सपत्नी हैं। ऐसी श्रीयमुनाजी भक्तों के दु:ख तथा पाप को हरनेवाली हैं। वे मेरे मन में स्थित हों।

व्याख्या :

भगवान को जो (पुष्टिजीव) प्रिय हैं और उनमें जो कलिरूप दोष हैं उन दोषों का निवारण करनेवाला ऐश्वर्य अर्थात् प्राधिकार श्रीयमुनाजी में है। इस बात को ध्यान से समझें। इसे किस प्रकार बता रहे हैं? ''**यया चरण-पद्मजा मुररिपो: प्रियम्भावुका, समागमनतोऽभवत् सकल-सिद्धिदा सेवताम्**'' जो गंगाजी प्रभु के चरणों में से प्रकट हुई हैं उनका सेवन करनेवालों के बारे में श्रीमहाप्रभुजी आगे आपको इस बात का खुलासा विशेषरूप से करेंगे कि गंगातीर्थ पर कौन स्थित होता है।

'सिद्धान्तमुक्तावली' में कहते हैं कि ''मर्यादास्थस्तु गंगायां श्रीभागवत तत्पर:'' - गंगा के तट पर स्थित हो कर और भागवततत्पर हो कर आपके वे दोनों कार्य - माहात्म्यज्ञान का और स्नेह का - जो दोनों विरूपता में जा रहे हैं, वे सुधर जाएंगे। गंगाजी आप में माहात्म्यज्ञान का आदान करेंगे और भागवत आपको स्नेह का दान करेगा। यह जो गंगाजी का माहात्म्य, सेवा का निरूपक 'सिद्धान्तमुक्तावली' में श्रीमहाप्रभुजी ने बताया वह यहाँ गंगाजी को पहले ही श्रीमहाप्रभुजी ने बता दिया कि गंगाजी हमको किसलिए प्रिय हैं।

गंगातट का सेवन करनेवाले को पुष्टिमार्गीय सकलसिद्धि मिलती हैं। सकलसिद्धि किसलिए मिलती हैं? श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि इसलिए मिलती हैं कि गंगाजी में श्रीयमुनाजी मिल गए। परन्तु मुझे इनको नदी के स्तर पर बताना अभीष्ट नहीं है। उनके आधिदैविक पक्ष से इस बात का विचार करें तो

समझ में आएगा कि श्रीयमुनाजी जो साक्षात् स्वामिनीजी रूप हैं वे भगवान के चरणामृत में मिल गए। यह उनका कितना बड़ा पुष्टिभक्ति का रूप है!

यहाँ ध्यान से देखेंगे तो ख्याल में आएगा कि वे झूल रहे हैं, कैसे झूल रहे हैं? श्रीयमुनाजी गंगाजी में मिल गए तो कैसे मिल गए? कारण यह है कि श्रीयमुनाजी भक्ति के आदर्श हैं। ''यया चरण-पद्मजा मुररिपो: प्रियम्भावुका'' अर्थात् 'चरणपद्मजा' गंगा, मुररिपु की 'प्रियंभावुका' हो गए। 'चरणपद्मजा' कभी 'प्रियंभावुका' नहीं हो सकती। परन्तु ''समागमनतोऽभवत् सकल-सिद्धिदा सेवताम्'' से गंगाजी सभी सिद्धियों को देनेवाली भी हो जाती हैं।

ऐसी श्रीयमुनाजी के लिए कह रहे हैं कि उनके समान कौन हो सकता है? तो बताते हैं कि लक्ष्मीजी हो सकती हैं। लक्ष्मीजी तो उनकी सौक (सपत्नी) जैसी हैं। मूल में तो सौक बनने की भी हैसियत नहीं बल्कि सौक (सपत्नी) जैसी हैं। कारण यह है कि ये तो प्रिय हैं और वे पत्नी हैं। पत्नी तो एक ही हैं। पत्नी में प्रियता का प्रश्न नहीं है बल्कि वह एक प्रकार का कर्तव्य निर्वाह है परन्तु श्रीयमुनाजी तो श्रीठाकुरजी को प्रिय हैं। इस बात को संकेतित करते हुए कहते हैं कि प्रिय होने के कारण सौक जैसी हैं। बाकी तो दोनों के सम्बन्ध अलग-अलग हैं। ये कोई विवाहिता नहीं हैं बल्कि प्रिया हैं और वे विवाहिता हैं। अत: कभी भी श्रीठाकुरजी से पृथक् नहीं हो सकते।

''हरिप्रिय-कलिन्दया'' अर्थात् जो हरि को प्रिय हैं। हरिप्रिय कौन हैं? जैसे ''कृष्ण-तुर्य-प्रियाम्'' में ''हरिप्रिय'' होने की प्रक्रिया बताई गई है। इसी प्रकार जो हरिप्रिय (हरिभक्त) हैं उनके कलि का खण्डन करनेवाले, निवर्तन करनेवाले श्रीयमुनाजी हैं। ''मनसि मे सदा स्थीयताम्'' - मेरे मन में स्थित हों।

यहाँ यह बात ध्यान से समझें। किस रूप से श्रीयमुनाजी मन में सदा स्थित रहें? जो साक्षात् कृष्णस्वरूप होने पर भी श्रीकृष्ण की सेवा में परायण भक्त हैं उनको श्रीकृष्ण का प्रिय बनानेवाली और उनमें किसी प्रकार का दोष न रहने देनेवाली अर्थात् सदैव जागृत और सचेत। जैसे मैंने कल बताया था कि - **''अहं हरेः तव पादैक मूल दासानुदासो''** - इतना अधिक दैन्य रखने वाले, स्वयं को पुजाने के लिए नहीं बल्कि श्रीकृष्ण की सेवा करनेवाले जो सेवक हैं उनकी सेवा करनेवाली श्रीयमुनाजी हो गईं। इस प्रकार उनके कलि के सभी दोषों का निवर्तन करनेवाली श्रीयमुनाजी हैं। यही श्रीयमुनाजी का माहात्म्य है।

यहाँ श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि ''मनसि मे सदा स्थीयताम्'' - मैं यह कभी भी भूलना नहीं चाहता कि मैं श्रीकृष्ण की सेवा कराने के लिए अवतरित हुआ हूँ। श्रीकृष्ण की भाँति सेवित होने के लिए भूतल पर नहीं आया हूँ। अतः जितने अधिक श्रीकृष्ण की सेवा करनेवाले होंगे उन सब में मेरा सच्चा स्वरूप है। श्रीयमुनाजी का ऐसा सच्चा स्वरूप मेरे हृदय में स्थिर होना चाहिए। इस प्रकार श्रीकृष्ण की सेवा करनेवाले जितने अधिक हो जाते हैं उतना ही श्रेयस्कर है, न कि श्रीकृष्ण की भाँति मेरी सेवा करनेवाले जितने अधिक हो जाएँ उतना अच्छा है, यह रूप ''मनसि मे सदा स्थीयताम्'' का नहीं है।

बात ध्यान से समझें - आज की भाषा में हमें कहना हो तो आदर्श के रूप में श्रीयमुनाजी मेरे मन में सदैव विराजमान रहें। यह पुष्टिभक्ति का आदर्श है कि साक्षात् कृष्णरूप होने पर भी श्रीकृष्ण के सेवकों की सेवा में श्रीयमुनाजी इतने तत्पर हैं कि उनके दोषों का निवारण करने के लिए निरन्तर सन्नद्ध रहते हैं। किस प्रकार? श्रीकृष्ण का सेवक श्रीकृष्ण का प्रिय बने इसलिए निरन्तर सान्निध्य में रहते हैं - यह स्पष्ट किया गया है।

(भगवत्प्रियत्व-सम्पादकत्व-रूपैश्वर्यवर्णनम्) - पुष्टिजीवों को श्रीयमुनाजी पुष्टिप्रभु का प्रिय बनाते हैं-

नमोऽस्तु यमुने सदा तव चरित्रम् अत्यद्भुतं
न जातु यमयातना भवति ते पयःपानतः।।
यमोऽपि भगिनीसुतान् कथमु हन्ति दुष्टानपि
प्रियो भवति सेवनात् तव हरेर् यथा गोपिकाः।।6।।

अन्वयार्थ :

यमुने! = हे श्रीयमुनाजी!
सदा = सदा
नमः = नमन
अस्तु = हो
तव = आपका
चरित्रं = चरित्र
अत्यद्भुतं = अत्यन्त अद्भुत है
ते = आपके
पयः पानतः = जल के पान से
जातु = कभी भी
यमयातना = यम द्वारा दी जाती यातना
न = नहीं
भवति = होती है
यमः = यम
अपि = भी
दुष्टान् = दुष्ट
अपि = भी
भगिनीसुतान् = बहिन के पुत्रों को

उ = कहो
कथं = कैसे
हन्ति = मार सकते हैं
तव = आपके
सेवनात् = सेवन से
यथा गोपिकाः = गोपीजन की भाँति
हरेः = प्रभु के
प्रियः = प्रिय
भवति = होता है

भावार्थ : हे श्रीयमुनाजी ! आपको सदा ही नमस्कार हो। आपका चरित्र बहुत अद्‌भुत है। आपके जल का पान करने से कभी भी यम सम्बन्धी पीड़ा नहीं होती। क्योंकि यम भी, बहिन के पुत्र कदाचित् दुष्ट हों तो भी, उनको दण्ड कैसे दें? आपकी सेवा करने से श्रीगोपीजन की तरह (जीव भी) श्रीहरि को प्रिय होता है।

व्याख्या :

हे श्रीयमुनाजी ! आपका चरित्र इतना अद्‌भुत है कि आपको नमस्कार। कारण कि ''ते पयःपानतः यमयातना न जातु भवति'' – अर्थात् आपके पयपान से कभी भी यमयातना नहीं हो सकती। एक बात जान लें कि यमयातना न हो तब तो मुक्ति हो जाए। मुक्त हो जाना ही यदि सिरदर्द हो तो ज्ञानमार्ग का महत्त्व किंचित भी न्यून नहीं है। योगमार्ग भी और कर्ममार्ग भी निम्नस्तर के नहीं हैं। कर्ममार्ग का भी हम निष्काम अनुसरण करें तो जीव मुक्त हो सकता है परन्तु प्रश्न यह नहीं है। हमारा प्रश्न यह है कि – ''मेरो मन मोहन सों लागत है बार-बार, मोहन को मोसे मन लागी है विचारो तो'' – वस्तुतः अपना प्राथमिक प्रश्न यही है।

इसी प्रश्न का निराकरण करने के लिए कह रहे हैं कि ''प्रियो भवति सेवनात् तव हरेर्'' – अर्थात् आपकी सेवा करने से जीव हरि को प्रिय हो जाता है, हरि उसको चाहने लग जाते हैं। जीव हरि को चाहे – यह एक कदम है और हरि उसको चाहने लग जाएँ – यह दूसरा कदम है। वह कब? आपकी सेवा करने से। अब इसका दण्ड हम किसको दें? कृष्ण को, जिससे सिद्ध हुआ कि कृष्णसेवा न करके श्रीयमुनाजी की सेवा करना। लेकिन ऐसा द्वैत विचारेंगे तो हरि को प्रिय नहीं रहेंगे। क्योंकि हरि भी संदेह में पड़ जाएंगे कि क्या तू रावण की भाँति मुझे चाह रहा है या श्रीयमुनाजी को चाह रहा है? कहीं ''यमुनारस भोक्तृत्व'' तो नहीं हो गया न?

सच बात तो यह है कि यमुनारस का भोग करना है तो यमुनारस के स्वरूप को समझना पड़ेगा कि वह क्या है? उस (प्रकार से) यमुनारस का भोक्ता अपेक्षित नहीं। यमुनारस का तात्पर्य तो श्रीकृष्ण को प्रिय होना ही है। यमुना, रस है और उस रस का भोग करनेवाला होना चाहिए, यमुना के स्त्रीत्व के रस का भोग करनेवाला नहीं होना चाहिए।

बात ध्यान से समझें, ''प्रियो भवति सेवनात् तव हरेर् यथा गोपिकाः''– अर्थात् गोपिकाओं का जो कृष्ण के प्रति रमण का भाव था, उस रमण भाववाला प्रत्येक पुष्टिजीव भगवान को प्रिय हो सकता है। कब? जब हम श्रीयमुनाजी के स्वरूप को समझेंगे कि ब्रह्मवाद के अनुसार यहाँ प्रत्येक पुष्टिजीव पुरुषोत्तमात्मक है इसके बावजूद प्रत्येक जीव को पुरुषोत्तम की भक्ति ही करनी है। अपनी भक्ति नहीं करवानी – न प.भ. होकर, न गोस्वामी बालक होकर, और न बापा-बापी होकर। मूल बात यह है।

(तनुनवत्व-सम्पादकत्व-रूपैश्वर्यवर्णनम्) – श्रीयमुनाजी केवल प्रिय ही नहीं बनातीं बल्कि हमारे सम्पूर्ण शरीर को पुनः नवीन कर देती हैं। जैसे कोई लाईसेन्स का रिन्यूअल कराए। रिन्यूअल का अर्थ है जो चल रहा है वह

तो पुराना हो चुका उसे फिर से नया बना देना। चली आती चीज को फिर से नया बना देना।

इसी प्रकार हजारों परिवत्सर से चला आ रहा हमारा शरीर है। वह कदाचित् अनेकविध वासनाओं से इतना दूषित है कि उसका कृष्णसेवोपयोगी होना या नहीं होना एक विचारणीय विषय है। परन्तु श्रीयमुनाजी का साहचर्य हमें मिले, श्रीयमुनाजी का संग हमें मिले तो श्रीकृष्ण की सेवा करने योग्य हमारा शरीर नया हो जाए जैसे लाईसेन्स नया हो जाता है।

ऐसे तो आप सभी व्यापारी हैं इसलिये सबको मालूम है कि हमारा लाईसेन्स नया हो जाए तो कितने आनन्द की बात होती है। आनन्द ऐसा कि ''आनंद भयो जय कन्हैया लालकी। हाथी दियो-घोड़ा दियो और दियो पालकी'' - हो जाता है या नहीं? लाईसेन्स नया न हो तो सारे व्यापार रद्द, चलती फैक्ट्री बन्द हो जाए। गलत तो नहीं कह रहा हूँ न! जैसे लाईसेन्स का नवीनीकरण व्यापार में बड़ी उपलब्धि है उसी प्रकार अपने शरीर का कृष्णसेवार्थ नवीन हो जाना भी एक बड़ी उपलब्धि है और उसको नवीन करने हेतु प्राधिकृत कौन हैं? श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि -

ममाऽस्तु तव सन्निधौ तनुनवत्वमेतावता
न दुर्लभतमा रतिर् मुररिपौ मुकुन्दप्रिये।।
अतोऽस्तु तव लालना सुरधुनी परं सङ्गमात्
तवैव भुवि कीर्तिता न तु कदापि पुष्टिस्थितैः।।7।।

अन्वयार्थ :

मुकुन्दप्रिये! = भगवान् मुकुन्द की प्रिया हे श्रीयमुने!
तव = आपके
सन्निधौ = समीप

मम = मेरा
तनुनवत्वम् = देह नवीनता को प्राप्त
अस्तु = हो
एतावता = ऐसा होने से
मुररिपौ = श्रीकृष्ण में
रतिः = भक्ति
दुर्लभतमा = दुर्लभतम
न = नहीं रहती है
अतः = इसलिए
तव = आपकी
लालना = स्तुति
अस्तु = हो
सुरधुनी = देवताओं की नदी गंगा
तव = तुम्हारे
एव = ही
सङ्गमात् = सङ्गम से
भुवि = भूतल पर
परं = अधिक
कीर्तिता = प्रसिद्ध हुई हैं
पुष्टिस्थितैः = पुष्टिमार्ग में स्थित भक्त द्वारा
तु = तो
कदापि = कभी भी
न = नहीं
(**कीर्तिता** = कीर्तित हुई हैं)

भावार्थ : हे हरिप्रिय यमुनाजी ! आपकी सन्निधि में मेरा शरीर दिव्य-नवीन हो जाए, अर्थात् लीला में प्रवेश करने लायक अलौकिक हो जाए। इतने से ही मुरदानव को मारनेवाले श्रीकृष्ण में प्रीति होना अतिदुर्लभ नहीं है, उस कारण से आपके (स्तुतिरूप) लाड-चाव हों। श्रीगंगाजी की आपके ही समागम के कारण भूतल में स्तुति की गई है परन्तु पुष्टिस्थित जीवों ने इस विषय में आपके सिवाय उनकी स्थिति नहीं की है। क्योंकि उनसे मुक्ति तो मिलती है परन्तु लीलोपयोगी देह नहीं मिलती है।

व्याख्या :

आपके सान्निध्य में मेरा तनु नवीन होता है। मेरा सहस्त्र परिवत्सर से चला आ रहा वासना जर्जरित तनु (शरीर) कृष्णसेवा के लिए भले ही लायक न हो परन्तु आपमें यह सामर्थ्य है। कारण कि ''स्फुरदमन्द-रेणूत्कटाम्'' है। स्फुरदमन्द-रेणूत्कटाम् के कारण आपमें यह सामर्थ्य है कि आप मेरे इस शरीर को इस प्रकार नवीन कर सकते हैं, तनुनवत्व उसमें कर सकते हैं कि जिस तनुनवत्व के कारण ''मुररिपौ रतिःदुर्लभतमा न भवति''। होगी किसी के लिए मुररिपु की रति दुर्लभ पर यदि आप मेरे शरीर को सेवालायक नवीन कर दें - सेवा करने लायक कर दें तो उस शरीर से मुझे मुररिपु की भक्ति दुर्लभतम नहीं रहेगी। भगवान में स्नेह करना बहुत ही दुर्लभ है, नहीं होता। आप देखें, करेंगे तो भी भगवान के बदले हम भगवान के मनोरथी में स्नेह करने लगते हैं।

अभी बीते कल या परसों मैं बता रहा था कि कभी मन्दिर में जाकर दर्शन करें। गर्मी में श्रीठाकुरजी को बालक पंखा किस प्रकार करते हैं - इस प्रकार कि ध्यान उनका दर्शनार्थियों की तरफ है। तो फिर पंखा कौन कर रहा है? दर्शनार्थी आ जाएं तो मुररिपु की बजाए दर्शनार्थी में रति हो जाती है। अरे ! पंखा कर रहे हैं तो श्रीठाकुरजी के दर्शन करें या जो आया उसका दर्शन करेंगे? यह दर्शन खुलने से ही सारे झमेले उत्पन्न होते रहते हैं। एक बात ध्यान से समझें, मुररिपु में रति

भगवत्सेवा करें तो भी दुर्लभ है, यद्यपि भगवत्सेवा करना भी दुर्लभ है।

हम पंखा-सेवा में पहुँच रहे हैं। वैष्णव बेचारा तड़प रहा है। जैसे ही वैष्णव श्रीठाकुरजी के दर्शन करने आते हैं और बालक ''**अहं हरेः तव पादैकमूलः दासानुदासो भवितास्मि भूयः**'' - भगवान के दर्शन करने के स्थान पर भगवान के दर्शन करने आनेवाले के भावपूर्वक दर्शन करते हैं फिर कौन आया? वे भाई आए या नहीं? अरे भाई ! ये क्या झमेला हो गया? इतने दासानुदास कैसे हो गए? भगवान के सान्निध्य में खड़े थे फिर ऐसी दासानुदासता कैसे प्रकट हो गई? पंखा कर रहे हैं तो श्रीठाकुरजी के दर्शन करेंगे या दासानुदास के वैष्णव को देखेंगे? मुकुन्दरति बहुत ही दुर्लभ है।

कभी भी किसी भी मन्दिर में दर्शन करने जाएं तो दर्शन करते समय, दर्शन करनेवाले के दर्शन करते हुए महाराजजी के दर्शन होंगे। यह नकद मजदूरीवाली बात है, कोई उधार की बात नहीं है। पैसे रोकड़ा करने की बात है जिसमें चैक भी नहीं। ऐसी मुकुन्दरति कितनी दुर्लभ है जिसके लिए आप इतनी दौड़ादौड़ी कर रहे हैं।

उनको (ठाकुरजी) मिलवानेवाला उनसे मिला नहीं रहा, खो जाने दे रहा है परन्तु यदि श्रीयमुनाजी हम पर कृपा कर दें तो यह बात दुर्लभ नहीं रहती, किसी और के लिए दुर्लभ हो सकती है परन्तु अपने लिए दुर्लभ नहीं रहती बशर्ते कि श्रीयमुनाजी द्वारा नवीनीकृत हमारा शरीर होगा। श्रीयमुनाजी द्वारा तनुनवत्व सम्पादित हुआ है तो हमारे लिए मुकुन्दरति दुर्लभ नहीं रह जाती।

''ममास्तु तव सन्निधौ तनु-नवत्वमेतावता न दुर्लभतमा रतिर्मुररिपौ मुकुन्दप्रिये'' दुर्लभतमा नहीं रह जाती। यह बात श्रीमहाप्रभुजी तीव्र गर्जना के साथ बोल रहे हैं, बकरे की तरह मिमियाती वाणी से नहीं बल्कि सिंह के जैसे

गर्जना करके यह बात कह रहे हैं – ''न दुर्लभतमा रतिर्मुररिपौ मुकुन्दप्रिये, अतोऽस्तु तव लालना सुर-धुनी परं सङ्गमात्'' – इसलिए हम आपकी लालना (स्तुति) कर रहे हैं। हम इसलिए आपकी प्रशंसा कर रहे हैं कि आपके द्वारा नवीनीकृत किसी भी पुष्टिजीव की देह भगवान की सेवा करने के लिए एकदम ताजा-तरीन हो जाए। जैसे अपने यहाँ चौरासी वैष्णव की वार्ता में काशीवाले सेठ की वार्ता में आता है कि वे वृद्ध थे और सब यही मानते थे कि वे वृद्ध हैं परन्तु सेवा के लिए वृद्ध नहीं थे। शारीरिक रूप से तो वृद्ध थे परन्तु सेवा के लिए एकदम तरुण और युवा थे। उस प्रकार का तनुनवत्व हममें प्रकट हो सकता है।

आगे श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि ''तवैव भुवि कीर्तिता न तु कदापि पुष्टि स्थितैः'' – हम तो गंगाजी में श्रीयमुनाजी के मिल जाने से गंगाजी का भी माहात्म्य मानते हैं वरना हमें क्या है? हम तो श्रीयमुनाजी के भक्त हैं। यहाँ श्रीयमुनाजी के प्रति हमारी पहचान श्रीमहाप्रभुजी किस प्रकार प्रकट कर रहे हैं, इस बात पर ध्यान से विचार करें। श्रीयमुनाजी से हमारी पहचान श्रीमहाप्रभुजी इस रूप में नहीं करवा रहे कि श्रीयमुनाजी की भक्ति खण्डित करके स्वयं को पुजवाएँ बल्कि इसलिए कि स्वयं के द्वारा स्वयं की पहचान श्रीयमुनाजी से कराके श्रीयमुनाजी का माहात्म्य बढ़ाएँ इस कारण से प्रभु का माहात्म्य बढ़ाने की एक सम्पूर्ण प्रक्रिया यहाँ प्रकट हुई है।

(लीलासामयिक-प्रभु-श्रमजलकण-सम्बन्ध-सम्पादकत्व-रूपैश्वर्यवर्णनम्) – पुष्टिप्रभु के लीला सामयिक श्रमजल कणों के साथ पुष्टिजीवों का सम्बन्ध सम्पादित करते हैं।

स्तुतिं तव करोति कः कमलजा-सपत्नि! प्रिये!
हरेर् यद् अनुसेवया भवति सौख्यमामोक्षतः।

इयं तव कथाऽधिका सकल-गोपिका-सङ्गम-
स्मर-श्रम-जलाणुभिः सकलगात्रजैः सङ्गमः।।8।।

अन्वयार्थ :

कमलजासपत्नि! = हे लक्ष्मी के समान सौभाग्यशालिनी श्रीयमुना!
प्रिये! = हे कृष्णप्रिया श्रीयमुना!
तव = आपकी
स्तुतिं = स्तुति
कः = कौन
करोति = कर सकता है
यत् = क्योंकि
हरेः = श्रीकृष्ण के
अनु = बाद में
सेवया = सेवा से
आमोक्षतः = मोक्षपर्यन्त
सौख्यं = सुख
भवति = होता है
तव = आपकी
इयं = यह
कथा = कथा
अधिका = श्रेष्ठ
(**यतः** = क्योंकि)
सकल-गोपिका-सङ्गम-स्मर-श्रम-जलाणुभिः = सकल गोपियों के संगम से हुए स्मरश्रम से उत्पन्न प्रस्वेदरूप जलबिन्दु से
सकलगात्रजैः = भगवान् के समस्त अवयवों से
सङ्गमः = आपका सम्बन्ध

भवति = होता है

भावार्थ : लक्ष्मी की सपत्नी और हरि को प्रिय हे श्रीयमुनाजी! आपकी स्तुति करने में कौन समर्थ है? क्योंकि श्रीहरि के बाद लक्ष्मी की भी सेवा करें तो उनको मोक्षपर्यन्त सुख मिलता है, परन्तु आपकी तो कथा इतनी अधिक है कि सकल श्रीगोपीजन के संगम से स्मरसम्बन्धी जो श्रम होता है उसके कारण जो स्वेदजल के बिन्दु सकल शरीर में से उत्पन्न होते हैं उनका सङ्ग आपसे है अत: इस प्रकार का सम्बन्ध आप भक्तों को कराते हैं।

व्याख्या :

एक बात बताता हूँ कि जहाँतक शब्द का सवाल है, जहाँतक छन्द की छटा का सवाल है, जहाँतक भाषा शैली का सवाल है, अन्य कई स्तुतियाँ श्रीयमुनाजी की ऐसी हैं जो श्रीमहाप्रभुजी के यमुनाष्टक से भी अधिक सुन्दर हैं परन्तु जहाँतक श्रीयमुनाजी के स्वरूप को समझ कर उनकी स्तुति का सवाल है तो एक बात भलीभाँति अध्ययन करके देख लें कि इस श्रीमहाप्रभुजीकृत यमुनाष्टक से बढ़ कर श्रीयमुनाजी की स्तुति से सम्बन्धित स्तोत्र कहीं है ही नहीं - हो ही नहीं सकता। श्रीयमुनाजी का इतना सुन्दर और सरस स्तोत्र कभी भी किसी ने भी नहीं किया। अन्य कई स्तोत्रों की शब्दच्छटा इससे अधिक सुन्दर है, छन्द की छटा-गरज-बरज-शब्दालंकार इससे अधिक अच्छे हैं। श्रीयमुनाजी की महिमा भी इससे अधिक कही गयी होगी परन्तु श्रीयमुनाजी के स्वरूप का जो सच्चा आनन्द श्रीमहाप्रभुजी ने अनुभव किया है वैसा किसी अन्य यमुनास्तोत्रकार ने नहीं किया। सभी स्तोत्रों को पढ़ने पर आपको स्वयं ध्यान में आएगा। मेरे कहने से संभवत: आपको ऐसा लगेगा कि मैं श्रीमहाप्रभुजी की स्तुति कर रहा हूँ परन्तु आप स्वयं पढ़ेंगे तो ध्यान में आएगा।

यहाँ श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि ''स्तुतिं तव करोति क: कमलजा-सपत्नि! प्रिये'' - कौन आपकी स्तुति कर सकता है? कारण कि ''हरेर् यद्

अनुसेवया भवति सौख्यमामोक्षत:'' - यहाँ एक बहुत मजेदार बात कह दी गयी है कि श्रीठाकुरजी के साथ लक्ष्मीजी की सेवा करो तो मोक्ष मिल सकता है परन्तु श्रीठाकुरजी को छोड़ कर लक्ष्मीजी की सेवा करो तो मोक्ष के स्थान पर संसार मिलता है। श्रीठाकुरजी के साथ लक्ष्मीजी की सेवा की, इसलिए कि लक्ष्मीजी के पति श्रीठाकुरजी को माना गया है तो पुत्र की हैसियत से आपको श्रीठाकुरजी मोक्ष प्रदान कर देंगे। यहाँ यह ध्यातव्य है कि गलती से आपने यदि रावण जैसा सिद्धान्त प्रकट कर दिया कि भाई, तू अकेला किसलिए लक्ष्मी का पति? मैं भी लक्ष्मी का पति हूँ। ऐसा कभी लक्ष्मीपति होने का चक्कर चलाया तो सत्यानाश हो जाएगा। यह समझ लें कि ऐसा लक्ष्मीपति श्रीठाकुरजी को स्वीकार्य नहीं है। नाम तो कई लोगों के हो सकते हैं। दादाजी ने फोन लिया था तो हमारे यहाँ बार-बार रामदास लक्ष्मीदास का फोन आता कि रामदास लक्ष्मीदास है? मैं उकता गया कि भाई रामदास है परन्तु लक्ष्मीदास नहीं है। तो पूछता है कि आप कौन? तो मैने कहा कि लक्ष्मी का पति हूँ। अत: यह चालू खाते की लक्ष्मी और चालू खाते का पति एक अलग ही कथा है। भाई! जब आप लक्ष्मी का पति होने का चक्कर चला रहे हैं तो झंझट ही पैदा हो रहा है अर्थात् फिर से रावणवाला चक्कर शुरू हो रहा है। अत: लक्ष्मी का पति होने की आवश्यकता नहीं है। लक्ष्मी को नारायण के पास रहने दें फिर सेवा करेंगे तो मोक्ष भी मिल जाएगा।

श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं ''हरेर्यदनुसेवया भवति सौख्यम् आमोक्षत:, इयं तव कथाधिका'' अर्थात् लक्ष्मीजी की तुलना में आपकी कथा अधिक है। अधिक किसलिए है? कहते हैं कि ''सकल-गोपिका-सङ्गम-स्मरश्रम-जलाणुभि: सकल गात्रजै: सङ्गम:'' क्या गजब की बात कही है कि प्रभु जीव को सुखदान करने के लिए जो परिश्रम लेते हैं उस परिश्रम के श्रमकण आपके अन्दर (यमुनाजी के) मिल गए हैं तो जो आपसे संगत हो रहे हैं उनको प्रभु के उन श्रमकणों का स्वाद मिल रहा है।

प्रभु जिस समय जीव को सुखदान करने के लिए जो परिश्रम करते हैं उस परिश्रम के जो कण श्रीअंग पर प्रकट होते हैं वे कण हमें किस प्रकार मिलेंगे? आपसे युक्त होने पर, आपसे जुड़ने पर। प्रभु हमारे लिए परिश्रम कर रहे हैं। हमारे लिए कब परिश्रम करते हैं? जब हम प्रभु को प्रिय हों तब। ऐसी प्रियता हममें कहा से आ सकती है? जब श्रीयमुनाजी आएंगे तब आएगी और श्रीठाकुरजी के सम्बन्ध से आएगी। यहाँ तो श्रीयमुनाजी हमें पहले से ही उनके लिये प्रियत्व उपलब्ध करा रहे हैं।

श्रीमहाप्रभु जी कह रहे हैं - ''इयं तव कथाधिका'' अर्थात् श्रीठाकुरजी से भी अधिक आपकी कथा है। ''सकल-गोपिका-सङ्गम-स्मरश्रम-जलाणुभिः सकल-गात्रजैः सङ्गमः'' - एक बार श्रीयमुनाजी में इस विश्वास के साथ डुबकी लगाएं कि श्रीठाकुरजी ने पुष्टिजीवों को सुख पहुँचाने के लिए जो परिश्रम किया उस परिश्रम के श्रमकण श्रीयमुनाजी में मिले हुए हैं और वे श्रमकण हमसे भी संगत हो रहे हैं।

इस प्रकार की श्रद्धा के साथ श्रीयमुनाजी में स्नान करेंगे तो आपमें निश्चय ही भक्ति आएगी। कारण कि तब आपमें यह विश्वास प्रकट हो जाएगा। यही बात इस श्लोक में स्पष्ट की गई है कि लीला सामयिक जो प्रभु के श्रमकण हैं वह ''श्रमजलकण-सम्बन्ध-सम्पादकत्वरूप'' ऐश्वर्य भी श्रीयमुनाजी का है। इतनी गजब की बात श्रीमहाप्रभुजी की दृष्टि में कहाँ से आई कि श्रीठाकुरजी के परिश्रम के साथ हमारा सम्बन्ध श्रीयमुनाजी कराते हैं? यह श्रीयमुनाजी की एक अलग ही कथा है।

(एतत्पाठेन सर्वपापक्षयः सकलसिद्धयो मुकुन्दरतिः तत्सन्तोषः स्वभावविजयश्चेति फलानां सिद्धिः) - यहाँ यह बात तो बहुत ही उत्कृष्ट कोटि की थी जो प्रत्येक व्यक्ति के समझ में आना बहुत कठिन है। समझ में आ जाए तो अनुभूत होना बहुत कठिन है, अनुभूत हो जाए तो हृदय में इस प्रकार

की कामना जागना मुश्किल है, यदि कामना भी जग जाए तो वह सिद्ध होना मुश्किल है। खैर, जो कोई भी मुश्किल हो, यहाँ से अब श्रीमहाप्रभुजी अपना पुष्टिसम्प्रदाय का आचार्यत्व प्रकट कर रहे हैं कि मैंने यह यमुनाष्टकस्तोत्र प्रणीत किया या नहीं किया? अब बात पुष्टिभक्तिमार्ग की नहीं रह गई है। अब श्रीमहाप्रभुजी बीच में हस्तक्षेप कर रहे हैं। जैसे बीच में प्रवेश होता है न उसी प्रकार पुष्टिभक्ति में श्रीमहाप्रभुजी सामने से प्रवेश कर रहे हैं कि चलो, मैं आ रहा हूँ। किस प्रकार आ रहा हूँ? तो इस प्रकार आपके समक्ष आ रहा हूँ कि ''पुष्टिसम्प्रदायत्व'' - एक संविधान आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ और किस रूप से प्रस्तुत कर रहा हूँ?

तवाष्टकम् इदं मुदा पठति सूरसूते सदा
समस्त-दुरित-क्षयो भवति वै मुकुन्दे रतिः।।
तया सकल-सिद्धयो मुररिपुश्च सन्तुष्यति
स्वभाव-विजयो भवेद् वदति वल्लभः श्रीहरेः।।9।।

अन्वयार्थ :

सूरसूते! = हे सूर्यपुत्री यमुना!
तव = आपकी
इदम् = यह
अष्टकं = स्तुतिरूप अष्टक को
(यः) = जो
सदा = सदा
मुदा = प्रसन्नचित्त हो कर
पठति = पाठ करता है
(तस्य = उसके)
समस्तदुरितक्षयो = सम्पूर्ण पापों का नाश

भवति = हो जाता है
वै = और
मुकुन्दे = मोक्षदाता भगवान में
रतिः = भक्ति
भवति = होती है
तया = उस (प्रीति के द्वारा)
सकलसिद्धयः = सकल सिद्धियाँ
(भवन्ति = प्राप्त होती हैं **)**
च = और
मुररिपुः = श्रीकृष्ण
सन्तुष्यति = प्रसन्न होते हैं
स्वभावविजयः = स्वभाव पर विजय
भवेत् = होती है
(**इति** = इस प्रकार)
श्रीहरेः = श्रीहरि को
वल्लभः = प्रिय
वदति = कहता है

भावार्थ : हे सूर्यपुत्री श्रीयमुनाजी! आपके इस अष्टक का आनन्दपूर्वक जो सदा पाठ करता है उसके समस्त दुरित का क्षय होता है और मोक्ष देनेवाले भगवान में निश्चय ही प्रीति होती है। ऊपर जो भी बताई हैं वे सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, प्रतिबन्ध निवृत्त करनेवाले प्रभु प्रसन्न होते हैं, अन्तःकरण का वासनायुक्त स्वभाव परिवर्तित हो जाता है। भगवान का स्वभाव, कि व्रजभक्तों को दिए जानेवाला आनन्द दूसरों को नहीं देते, वह स्वभाव भी बदल जाता है। ऐसे प्रभु को प्रिय श्रीआचार्यजी महाप्रभुजी कहते हैं।

व्याख्या :

इस यमुनाष्टक का आप पाठ करें, आपके सभी पाप दूर होंगे, इस यमुनाष्टक का आप पाठ करें, आपकी मुकुन्द में रति होगी, इस यमुनाष्टक का आप पाठ करें, आपको सकल सिद्धि मिलेगी, और ''मुररिपुश्च सन्तुष्यति'' मुररिपु आपसे सन्तुष्ट हो जाएंगे। ''स्वभाव-विजयो भवेद् '' - परन्तु आगे जाकर कहेंगे कि ''जीवाः स्वभावतो दुष्टाः'' - अपने दुष्ट स्वभाव पर इस यमुनाष्टक का पाठ करने से आपको विजय प्राप्त होगी। यह बात श्रीयमुनाजी नहीं कह रहे। ध्यान से समझें कौन कह रहा है? ''वदति वल्लभः श्रीहरेः'' ''श्रीहरेः वल्लभ वदति एव'' - अर्थात् यह बात श्रीमहाप्रभुजी ने यहाँ बीच में प्रवेश करके कही।

बीच में प्रवेश करना एक पारिभाषिक शब्द है। जैसे एक नाटक चल रहा हो और दो पात्र कुछ बात कर रहे हों और तीसरा पात्र मंच पर आ जाए, इसी प्रकार जो जीव और श्रीयमुनाजी और श्रीठाकुरजी की लीला चल रही है उसमें श्रीमहाप्रभुजी यहाँ से प्रवेश कर रहे हैं। मानो आज्ञा कर रहे हैं कि अब मैं तुम्हें कुछ समझाना चाह रहा हूँ। यदि इस यमुनाष्टक का तुमने पाठ किया तो ऊपर बताई गई सारी बातें श्रीयमुनाजी से होंगी। मर्म की बात यह है कि श्रीमहाप्रभुजी के छोड़ने से नहीं होंगी बल्कि श्रीमहाप्रभुजी को पकड़ कर करेंगे तो श्रीयमुनाजी से होंगी।

जैसे श्रीयमुनाजी को छोड़ने से श्रीठाकुरजी की पुष्टि नहीं होती बल्कि श्रीयमुनाजी को पकड़े रहने से श्रीठाकुरजी की पुष्टि होगी उसी प्रकार श्रीमहाप्रभुजी को पकड़े रहने से श्रीयमुनाजी की सिद्धि हम में क्रियाशील होगी। इस बात को श्रीमहाप्रभुजी यहाँ दृढ़तापूर्वक कह रहे हैं कि ''वदति वल्लभः श्रीहरेः।''

इस प्रकार हमने यमुनाष्टक का पूर्ण सारांश देखा।

प्रश्न :- जै जै, आपने जो प्रारम्भ में बताया कि श्रीठाकुरजी के छः गुण हैं - ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य और श्रीयमुनाजी को आप कृष्ण जैसा ही बता रहें है तो ऐश्वर्य का वर्णन ही क्यों है? वीर्य, यश आदि का क्यों नहीं?

उत्तर :- एक बात समझो कि सारे ही गुण - ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य जब कृष्णसम कहे हैं तो जो कृष्ण में है उनके साथ श्रीयमुनाजी कृष्णसम हुई न! ऐसे तो कृष्ण के साथ समान नहीं न कि कृष्ण समान है फिर भी कृष्ण के गुण श्रीयमुनाजी में ना हों। इसलिए यह बात तो ''कृष्णसम'' कहने से ही आ गई।

यदि ध्यान दिया हो तो 'अनन्तगुणभूषिते' कहने का तात्पर्य क्या है? 'अनन्तगुण' कह दिया प्रश्न यह नहीं है। यहाँ जो गुण विवेचन का मुद्दा है वह- ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य है कि नहीं? नहीं है। लेकिन पुष्टिभक्ति में पुष्टिभक्तिमार्ग पर चलने के लिए किस प्राधिकारी की अनुज्ञा हमें लेनी चाहिए, उस प्राधिकारी का यहाँ निरूपण है।

अतः इस समय यहाँ ऐश्वर्य का ही वर्णन अभिलषित है, बाकी दूसरे गुण हों या न हों। न होने का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता लेकिन यदि हों तो यहाँ उस वर्णन की आवश्यकता नही। क्योंकि हमें पुष्टिभक्तिमार्ग पर चलना है। पुष्टिभक्तिमार्ग पर किसके प्राधिकार से चलेंगे? श्रीयमुनाजी के। तो ऐश्वर्य किसका? श्रीयमुनाजी का। ध्यान में आया या नहीं? ये कौन-कौन से ऐश्वर्य हैं? अष्टविध ऐश्वर्य, जिनका वर्णन यहाँ है। बाकी तो सब गुण ही हैं। जब ''अनन्तगुणभूषिते'' कह दिया तो कोई प्रश्न ही उपस्थि नहीं होता।

।। इति श्रीवल्लभचार्यविरचितं श्रीयमुनाष्टकस्तोत्रं सम्पूर्णम्।।

।। बालबोधः।।

भूमिका :-

यमुनाष्टक के बाद बालबोध आता है। बालबोध क्या है? इस बात को भलीभाँति समझें। अपने यहाँ प्राचीन वेद से ले कर अर्वाचीन प्रत्येक शास्त्र तक शास्त्र की शास्त्रीयता क्या है अर्थात् कोई भी शास्त्र किसलिए शास्त्र है? अथवा शास्त्र का तात्पर्य क्या है? जो किसी प्रकार से हमें नियंत्रित करता हो और ऐसे नियम बताता हो जिनसे हम नियंत्रित होते हों, ऐसे नियम बताता हो जिन नियमों से हम अनुशासित होते हों तो उन नियमों को बतानेवाला ग्रन्थ 'शास्त्र' कहा जाता है।

जिन नियमों से हमें अनुशासित होना आवश्यक नहीं, ऐसे कोई नियम जिस ग्रन्थ द्वारा बताए जाते हैं तो उसे शास्त्र नहीं कहा जाता। अतः शास्त्र का अर्थ है कि जिन नियमों से हम अनुशासित हो रहे हैं, जिन नियमों के अन्तर्गत हमें जीवनयापन करना पड़ता है उस बात को बतानेवाले ग्रन्थ को 'शास्त्र' कहा जाता है। 'शासनात्' अर्थात् जो शासन करे, जो अनुशासन करे वह शास्त्र। अपने यहाँ किसी ग्रन्थ को शास्त्रतया स्वीकार करने की पहली दृष्टि यह है कि किस ग्रन्थ को शास्त्रतया स्वीकार करना चाहिए।

कई शास्त्र ऐसे होते हैं जो केवल एक पुरुषार्थ के सम्बन्ध में शासित करते हैं, जैसे अर्थशास्त्र। अर्थशास्त्र शासित करता है कि अर्थोपार्जन किस प्रकार करना। अर्थ (धन) का विनियोग किस प्रकार करना। धन का क्या करना और किस प्रकार करना। इन सभी बातों के बारे में निर्देशित करनेवाला शास्त्र अर्थशास्त्र है।

धर्मशास्त्र क्या करता है! जो हमें यह बताता है कि धर्म किस प्रकार धर्म है। कौनसा धर्म अनुष्ठान करने योग्य है और कौनसा धर्म अनुष्ठान करने

योग्य नहीं, कौनसा धर्म ''**कामनायां सत्याम्**'' अनुष्ठेय है? अर्थात् कामना हो तो अनुष्ठान करने योग्य है, कौनसा धर्म कामना के अनुरूप आचरण योग्य होने पर भी किसी प्रकार के दुष्परिणाम प्रकट करनेवाला है, कौनसा धर्म किसी भी प्रकार का परिणाम न देता हो फिर भी आचरण करने योग्य होता है, इन सभी विषयों पर जो अपने जीवन के व्यवहार को नियमित बनाता हो, वह धर्मशास्त्र है।

इसी प्रकार कामशास्त्र है। कामनाएँ तो अनेक प्रकार की होती हैं परन्तु इस प्रकार की कामनाओं का निर्गम किस प्रकार करना, उन्हें किस प्रकार व्यक्त करना जिससे अपनी कामना अपना ही भक्षण करनेवाली न हो जाए। कामनाएँ तो बहुत हैं परन्तु जो कामना हम कर रहे हैं वह हमारी तारणहार भी हो सकती है और हमें मारनेवाली भी हो सकती है। वह कामना उद्धारक भी हो सकती है और नाशक भी हो सकती है। अत: जो हमें इन सभी विषयों के बारे में समझाए उसे हम 'कामशास्त्र' कहते हैं। काम को यहाँ सेक्स के अर्थ में लेने की बात नहीं है। 'काम' अर्थात् जो हमारी चाहते हैं, जो इच्छाएँ हैं उन इच्छाओं का नियमन करनेवाला जो शास्त्र है वह कामशास्त्र है।

इसी प्रकार मोक्षशास्त्र है कि मुक्त किस प्रकार होना, किन परिस्थितियों में, किससे, कब, किसलिए मुक्त होना, इन सभी विषयों को समझानेवाला शास्त्र मोक्षशास्त्र है। अतएव चतुर्विध पुरुषार्थ और चतुर्विध शास्त्र की अपने यहाँ एक मान्य परम्परा रही है। श्रीमद्भागवत जैसे कितने ही अन्य पुराण हैं जो पहली बार हमारा ध्यान इस मुद्दे पर आकर्षित करते हैं कि चार पुरुषार्थ हैं, वह उचित ही है परन्तु चार पुरुषार्थ के अतिरिक्त भक्ति अपने आप में एक पंचम पुरुषार्थ है। यह बात समझने जैसी है।

यहाँ एक और बात ध्यान से समझने की आवश्यकता है कि भक्ति का कोई धर्मरूप भी हो सकता है, भक्ति का कोई अर्थरूप भी हो सकता है और

भक्ति का कोई कामरूप भी हो सकता है तथा भक्ति का कोई मोक्षरूप भी हो सकता है अर्थात् भक्ति के ये सभी रूप हो सकते हैं। अत: यह मान कर नहीं चलना चाहिए कि भक्ति केवल धर्म ही है - जैसे अपने पुष्टिमार्गीयों ने मान लिया है कि भक्ति पैसा कमाने का एक व्यापारमात्र है।

हाल में मैं एक जगह गया था। वहाँ एक वैष्णव ने बहुत मजेदार बात मुझे बताई कि आप सिद्धान्तों का इतना विरोध कर रहे हैं, सिद्धान्त सब ठीक हैं परन्तु बालक यदि यह धंधा न करें तो खाएँ क्या? कमाई किस प्रकार करें? जाएँ कहाँ? अब यह बहुत गम्भीर बात हो गई है। भाई, बहुत से धन्धे उपलब्ध हैं, उन्होंने भक्ति को ही धंधा कैसे बनाया? वे कहते हैं कि सिद्धान्त की दृष्टि से आपकी सारी बातें सही हैं परन्तु बालक जाएँ कहाँ? आपके पास इसका कोई समाधान है?

बात सच है कि हम भक्ति को केवल अर्थपुरुषार्थ के रूप में ही लेना चाह रहे हैं, हमें भक्ति, धर्मपुरुषार्थ के रूप में अभीष्ट नहीं है, भक्ति हमें कामपुरुषार्थ के रूप में नहीं चाहिए और भक्ति हमको मोक्ष पुरुषार्थ के रूप में भी अभिलषित नहीं है। चार पुरुषार्थ में से हमने केवल अर्थपुरुषार्थवादी के रूप में तय कर लिया है। जैसे तोते को हम पिंजरे में कैद करके ताला लगा देते हैं इसी प्रकार भक्ति के तोते को हमने अर्थपुरुषार्थ में कैद करके ताला लगा दिया। बस अब यही एक काम करना है, दूसरा कोई काम नहीं करना। परन्तु श्रीमहाप्रभुजी का सिद्धान्त ऐसा नहीं है।

श्रीमहाप्रभुजी इसे स्पष्ट रूप से बता रहे हैं कि भक्ति स्वयं एक पंचम पुरुषार्थ है और इस पाँचवें पुरुषार्थ को ध्यान से समझें। वह मात्र धर्म से ही गतार्थ नहीं होता। गतार्थ का तात्पर्य कि उसको मात्र धर्म के विकल्प के रूप में प्राप्त नहीं किया जा सकता। हमने भक्ति की नहीं और धर्म किया और मान लिया कि चलो भक्ति हो गई। भगवान गीताजी में आज्ञा करते हैं ''**स्वकर्मणा**

तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'' कि आप धर्म इस प्रकार करें कि वह धर्म भक्तिरूप हो जाए। अतः धर्म हम भगवद्भक्ति के रूप में करें। यह भक्ति रूपी पुरुषार्थ के पिंजरे में धर्म को कैद करने का एक प्रकार है।

ध्यान से समझें कि क्या भक्ति हम इस प्रकार करें कि जैसे कई लोग पुस्तकीय पंडित हो जाते हैं। वे क्या करते हैं? ऐसी परिस्थिति सम्भव है कि हमने भक्ति की सभी पुस्तकें पढ़ लीं और अपनी एक दृढ़ धारणा बना ली कि भक्ति ही हमारा धर्म है। हम भक्ति ही करेंगे और कुछ नहीं। तो यह क्या हुआ? हमने भक्ति को धर्म के पिंजरे में कैद कर दिया। जिस प्रकार धर्म को भक्ति के पिंजरे में कैद कर सकते हैं उसी प्रकार भक्ति को धर्म के पिंजरे में कैद कर सकते हैं।

अर्थ को भक्ति के पिंजरे में बंद करो अथवा भक्ति को अर्थ के पिंजरे में बंद करो या फिर काम को भक्ति के पिंजरे में बंद करो, इसका अर्थ क्या है? कि ऐसा प्रत्येक कार्य करने की आपको छूट है जो भक्ति से प्राप्त होता है। परन्तु ऐसे कार्य करने की छूट नहीं है जो भक्ति से बाहर हैं। भक्ति को काम के पिंजरे में बंद करने का तात्पर्य है कि ऐसी भक्ति करना जिसमें हमें लड्डू, पूरी, मठड़ी का आनन्द और लीला की लहर आ जाए कि ''जंगल में मंगल करे बाबा विट्ठलनाथ और जंगल में भूखा मरे बाबा गोरखनाथ''- भक्ति हम ऐसी करें कि काम के पिंजरे में कैद करके भक्ति करें तो वह भी भक्ति का एक प्रकार हो सकता है।

इसी प्रकार भक्ति को हम मुक्त होने हेतु मोक्षपुरुषार्थ के अन्तर्गत भी रख सकते हैं कि भक्ति नहीं करते हैं तो हम बन्धन में पड़ जाएंगे। भक्ति तो करनी ही चाहिए नहीं तो हम संसार में प्रवाहित हो जाएंगे। अतः मोक्षपुरुषार्थ में भी भक्ति को कैद कर सकते हैं, मोक्षपुरुषार्थ को भी भक्ति के पिंजरे में कैद कर सकते हैं। कारण यह है कि हम मोक्ष भी उस प्रकार का तैयार करेंगे जिसमें

हमसे भक्ति निभ सकती हो। जिसमें हमारी भक्ति न निभ सके उस मोक्ष को धिक्कार है - यह कहने की हममें हिम्मत होनी चाहिए। ऐसे मोक्ष को हमारी तरफ से धिक्कार है, हमें नहीं चाहिए।

प्रश्न : आप इसकी गरिमा को कमतर कर रहे हैं?

उत्तर : नहीं, मैं कमतर नहीं कर रहा हूँ। मैं तो एक परिस्थिति समझा रहा हूँ कि इस प्रकार से भी हो सकता है। मैं किसी भी वस्तु की गरिमा को कम नहीं कर रहा हूँ बल्कि किसी बात को मैं अर्थपुरुषार्थ के अन्तर्गत निम्न कर रहा हूँ। बाकी मैं किसी भी बात को कमतर नहीं करना चाहता। मैं तो विषयान्तर्गत जो संभावित परिस्थितियाँ हैं उनको एक-एक कर बता रहा हूँ।

फिर मेरा भी कोई स्थाई भाव है न! क्या करूँ? बोलते समय मुझे कोई बात याद आ जाती है। जब याद आ जाती है तो मेरा समस्त विवेचन उस पिंजरे में कैद हो जाता है। अतः अन्यथा अर्थ न लें। ये सभी संभावनाएँ हैं परन्तु इन सभी संभावनाओं के कारण हमें क्या होता है कि पुरुषार्थ के स्वरूप को समझने में किसी प्रकार की दुविधा हो जाती है। इस प्रकार की दुविधा या भ्रम नहीं होना चाहिए।

एक बात बहुत स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि भक्ति स्वयं में पाँचवां पुरुषार्थ है - है - है और है ही जिसको धर्म, अर्थ, काम अथवा मोक्ष के अन्तर्गत सम्मिलित नहीं किया जा सकता। अब यह भी स्पष्ट समझ लें कि यदि आपकी अवधारणा स्पष्ट नहीं रही तो पूरे षोडशग्रन्थ को निरस्त कर दें। यदि यह आपकी धारणा स्पष्ट है कि भक्ति हमारे लिए अलग से, अतिरिक्त पाँचवां पुरुषार्थ है, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष - इन सबसे अलग एक पाँचवां पुरुषार्थ - पंचम पुरुषार्थ - भक्ति है; यदि यह बात आपके हृदय में आरूढ़ हो रही है तो षोडशग्रन्थ की पोथी खुली है और यह बात समझ में आनी बन्द हो गई तो षोडशग्रन्थ की पोथी बन्द।

यदि यह बात समझ गए तो पुष्टिभक्ति की ईषत् झलक आपको मिलेगी और नहीं समझे तो सामने दिखाई देती सारी पुष्टिभक्ति आपकी आँखों से ओझल है। इस बात को हमारे सम्मुख लाने के लिए ही श्रीमहाप्रभुजी बालबोध समझा रहे हैं। क्या मेरी बात समझ में आ रही है कि भक्ति पाँचवां पुरुषार्थ है? पाँचवां पुरुषार्थ किस प्रकार से पाँचवां है? चार के अतिरिक्त पाँचवां पुरुषार्थ है तो उस पाँचवें की गणना करने के लिए चार तक गिनती तो करनी पड़ेगी कि नहीं? एक, दो, तीन, चार और पाँच भक्ति, क्रम इस प्रकार आ रहा है।

अब आपको समझ में आएगा कि श्रीमहाप्रभुजी किस प्रकार की भक्ति की बात कर रहे हैं। धर्मरूपा भक्ति की बात नहीं कर रहे, अर्थरूपा भक्ति की बात नहीं कर रहे, कामरूपा भक्ति की बात नहीं कर रहे, मोक्षरूपा भक्ति की बात नहीं कर रहे बल्कि पंचम पुरुषार्थरूपा भक्ति की बात कर रहे हैं। यह स्पष्ट करने के लिए श्रीमहाप्रभुजी ने बालबोध ग्रन्थ की रचना की है कि चार पुरुषार्थ की कथा भलीभाँति समझ जाओगे तब पंचम पुरुषार्थ की कथा शुरू होगी।

इस प्रकार यह पंचम पुरुषार्थ को पहचानने की कथा है। इसे चार पुरुषार्थ के अन्तर्गत नहीं पहचाना जा सकता। संक्षेप में यह भी स्पष्ट कर दूँ कि आपको लगेगा कि भाई, चतुःश्लोकी क्या है? तो ध्यान से समझें कि चतुःश्लोकी चार पुरुषार्थों को भक्ति के पिंजरे में कैद करने की कथा है। ''सर्वदा सर्वभावेन्... न त्याज्यमिति मे मति'' श्रीमहाप्रभुजी को चतुःश्लोकी द्वारा चार पुरुषार्थों को भक्ति के पिंजरे में कैद करना अभिलषित है – यह बात जब आगे आएगी तब बताऊँगा।

हमें अपनी बात के लिए दुविधा नहीं होनी चाहिए, मैं किसी वस्तु को कमतर नहीं करना चाहता बल्कि उसकी पृथक्ता समझने के लिए हमें प्रत्येक बात को पृथक् करके समझना तो पड़ेगा न! वह दोनों तरफ से सम्भव है। जिस

प्रकार भक्ति को इन चार पुरुषार्थ के पिंजरे में कैद कर सकते हैं उसी प्रकार इन चार में से किसी भी एक पुरुषार्थ को अथवा चारों पुरुषार्थ को भी भक्ति के पिंजरे में कैद कर सकते हैं। यहाँ श्रीमहाप्रभुजी इन चार पुरुषार्थ की गणना करना चाह रहे हैं कि तुम भलीभाँति गिन लो कि चार पुरुषार्थ क्या हैं। और उन चार पुरुषार्थ के विषय में मेरा दृष्टिकोण क्या है। और आप मेरे इस दृष्टिकोण को समझ लो, सुन लो तब जा कर आगे भक्ति के पंचम पुरुषार्थ के रूप में कथा शुरु होगी। इसके लिए 'बालबोध' शुरू कर रहे हैं।

*****

।। बालबोध।।

(धर्मार्थकाममोक्ष-रूप-पुरुषार्थ-चतुष्टय-विषयक-सिद्धान्त-संग्रहः) - धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप चार पुरुषार्थों के सम्बन्ध में सकल सिद्धान्तों का संग्रह।

नत्वा हरिं सदानन्दं सर्व-सिद्धान्त-संग्रहम्।
बाल-प्रबोधनार्थाय वदामि सुविनिश्चितम्।।1।।

अन्वयार्थ :

सदानन्दं = सच्चिदानन्द
हरिं = श्रीकृष्ण को
नत्वा = प्रणाम करके
बाल-प्रबोधनार्थाय = बालकों को भलीभाँति अर्थबोध हो, इसके लिए
सुविनिश्चितं = भलीभाँति निश्चित किया गया
सर्वसिद्धान्तसंग्रहं = सभी सिद्धान्तों के संग्रह को
(अहं = मैं **), वदामि** = कहता हूँ

भावार्थ : भक्तों के दुःख तथा पाप को हरनेवाले सदानन्द (श्रीकृष्ण) भगवान को नमन करके, बालकों के भलीभाँति बोध के लिए, सब प्रमाणों सहित सुनिश्चित किए हुए सर्वसिद्धान्तसंग्रह को कहता हूँ।

व्याख्या :

एक बार के लिए सारी बात भूल जाएं। चार पुरुषार्थ किसको समझाने पड़ते हैं? इस बात पर ध्यान देंगे तो समझ में आएगा कि ''बाल-प्रबोधनार्थाय'' अर्थात् पुष्टिमार्ग में बालकों को समझाने की बात है यार! किसी प्रौढ़ पुष्टिमार्गीय को समझाने की बात थोड़े ही है। जो पुष्टिमार्ग में बालक हैं

उनको समझाना पड़ेगा कि यह धर्म है, यह अर्थ है, यह काम है, यह मोक्ष है। यह बाल-प्रबोधन है। यह कोई प्रौढ़प्रबोधन नहीं है। ''यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात् तथोपायो निरूप्यते'' जैसा प्रौढ़प्रबोधन नहीं है। लेकिन बालकों को भी कुछ तो समझाना पड़ेगा न कि क्या है। अतः बालकों को समझा रहे हैं कि बाकी अधिक ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है। यदि इतना ध्यान में रखेंगे तो सारी बात समझ में आ जाएगी कि चार पुरुषार्थों के विषय में श्रीमहाप्रभुजी का अभिप्राय क्या है?

एक बात ध्यान से समझना। दृष्टिकोण ऐसे समझ में नहीं आता... चार पुरुषार्थ हैं। कारण कि बालक को हम क, ख, ग, घ, समझाते हैं अतः क, ख, ग, घ हैं, यह आपने स्वीकार किया तो 'कमल' किस प्रकार लिखेंगे, 'खड़िया' किस प्रकार लिखेंगे और 'गणेश' किस प्रकार लिखेंगे? क, ख, ग, घ मौजूद हैं। बात यह नहीं है, बात यह है कि क, ख, ग, घ को समझने की एक समय सीमा है। उस अवस्था में क, ख, ग, घ को समझेंगे तो बहुत सुन्दर बात है और समयावधि के बाद भी क, ख, ग, घ को समझते ही रहे कि 'क' से कमल, 'ख' से खड़िया तो फिर 'ग' से गणेश के स्थान पर 'ग' से गधा हो जाएगा।

यही समझने जैसी बात है, इसी के लिए श्रीमहाप्रभुजी यहाँ बालक को प्रबोधन कह रहे हैं, प्रौढ़ को प्रबोधन नहीं कह रहे। इसके आगे, सर्वसिद्धान्तसंग्रह का अर्थ क्या? एक बात ध्यान से समझें कि यह कितना गंभीर कथन है। इसकी सूची देखेंगे तो पता चलेगा कि बहुत ही थोड़े, केवल चार सिद्धान्त बताए हैं। तो क्या चार सिद्धान्त में सभी सिद्धान्त समाहित हो गए? एक सर्वदर्शन-संग्रह देखेंगे तो पता चलेगा कि कितने सिद्धान्त बाकी रह गए हैं। अन्य कोई बृहद्कोष - दर्शनसंग्रह देखेंगे तो इसमें सैकड़ों सिद्धान्त बाकी रह गए हैं। फिर यह सर्वसिद्धान्तसंग्रह कैसे हुआ? किस संदर्भ में हुआ और किस संदर्भ में नहीं हुआ? उस संदर्भ को हमें समझना पड़ेगा कि सर्वसिद्धान्तसंग्रह का अर्थ क्या है।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप जो सिद्धान्त हैं वे ''निमंत्रिता: सर्वे ब्राह्मणा: भोजयितव्या:'' हैं। अर्थात् जो सूचित हैं केवल वे सब, सभी नहीं। इसमें साम्यवाद कहाँ समझाया है? पूँजीवाद कहाँ समझाया है? इसमें फ्रायड का मनोविज्ञान का सिद्धान्त कहाँ समझाया है? वॉटसन का विशेष प्रकार का व्यवहारवाद कहाँ समझाया है? सर्वसिद्धान्तसंग्रह तो है ही नहीं। तो फिर बखेड़ा खड़ा हो गया, प्रतिज्ञा झूठी हो गई। अत: यह सभी सिद्धान्त की कथा नहीं है। यहाँ धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप सिद्धान्त ''निमंत्रिता: सर्वे ब्राह्मणा:'' हैं। इन सिद्धान्तों के विषय में श्रीमहाप्रभुजी निरूपण कर रहे हैं कि बालप्रबोधन के लिए मैं तुम्हें एक सुविनिश्चित सिद्धान्त बता रहा हूँ। कौनसा सुविनिश्चित सिद्धान्त है और धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के विषय में मेरा दृष्टिकोण क्या है, जिससे तुम्हें पंचम पुरुषार्थ की पंचमता को समझने में कभी कोई तकलीफ न हो।

(लौकिकत्वालौकिकत्वभेदभिन्नेषु पुरुषार्थचतुष्टयेषु धर्मार्थकामविचारस्य प्रकृतोपदेशानुपयोगित्वम्) - इतने उपक्रम के पश्चात् अब छानने की प्रक्रिया देखें। गेहूँ को फटकने की प्रक्रिया में हम उनको सूप में भर कर उछालते हैं, उछाल कर हम क्या करते हैं? दानों और कंकरों को अलग करते हैं। इसके लिए उनको सूप में तो भरना पड़ेगा कि नहीं। तो यह समझें कि छाज (सूप) में भर लिया है और अब उनको अलग करना शुरु हो रहा है। किस प्रकार? ''लौकिकत्व-अलौकिकत्व-भेद- भिन्नेषु पुरुषार्थचतुष्टयेषु''

प्रथम चार पुरुषार्थ - धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के दो भाग कर दें। एक लौकिक धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और एक अलौकिक धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। इस पुरुषार्थ चतुष्टय में ''धर्मार्थकामविचारस्य प्रकृतोपदेशानुपयोगित्वम्'' - धर्म, अर्थ, काम रूपी जो पुरुषार्थ हैं उनके

विषय में कुछ भी नहीं कहना है। बालकों को भी नहीं समझाना है। पुष्टिमार्गीय बालकों को इतना तो समझना चाहिए कि श्रीमहाप्रभुजी क्या बात कह रहे हैं। अब ध्यान से यह बात समझें। बालकों को समझाएंगे तो वे भी पूछेंगे कि आप कौन हैं ? यह क्या बकवास है, भाई यह रामायण किसलिये शुरू की ? यह बात बालकों को तो समझनी नहीं, तो प्रौढ़ लोगों की बात तो जाने ही दें। ये धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थ नहीं हैं - ये बात बताने के लिए नहीं बल्कि जो बात आगे कही जानी है उसमें धर्म, अर्थ, काम की विवेचना पुरुषार्थ के अन्तर्गत प्रकृतोपदेश में अनुपयोगी है और निरर्थक है। उस सन्दर्भ में क्या बताना, बालक भी इतनी बात तो समझते हैं।

धर्मार्थ-काम-मोक्षाख्याश् चत्वारोऽर्था मनीषिणाम्।
जीवेश्वर-विचारेण द्विधा ते हि विचारिता:।।2।।

अलौकिकास्तु वेदोक्ता: साध्य-साधन-संयुता:।
लौकिका ऋषिभि: प्रोक्तास् तथैवेश्वरशिक्षया।।3।।

अन्वयार्थ :

मनीषिणां = बुद्धिमानों के
धर्मार्थकाममोक्षाख्या: = धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नाम के
चत्वार: = चार
अर्था : = पुरुषार्थ
(सन्ति =हैं) ते = वे
जीवेश्वर-विचारेण = जीव और ईश्वर के द्वारा विचारित होने से
द्विधा = दो तरह के,
हि = निश्चित ही
विचारिता: = विचारे गए हैं
साध्यसाधनसंयुता: = साध्य और साधनवाले

अलौकिकाः = अलौकिकपुरुषार्थ
तु = तो, **वेदोक्ताः**= वेद में कहे गये हैं
लौकिकाः = लौकिकपुरुषार्थ
तथा एव = वैसे ही
ईश्वरशिक्षया = ईश्वर की आज्ञा से
ऋषिभिः = ऋषियों के द्वारा
प्रोक्ताः = कहे गये हैं

भावार्थ : धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नाम के चारों पुरुषार्थ बुद्धिमानों के हैं (अर्थात् साधारण लोगों को प्राप्त होने जैसे नहीं हैं)। अतः वे ही अर्थ (पुरुषार्थ) जीव विचारित और ईश्वर विचारित, यों दो प्रकार के हैं।

साध्य और साधन से युक्त अलौकिकपुरुषार्थ तो वेद में कहे गये हैं, अतः ईश्वर विचारित पुरुषार्थ हैं। और उनका उसी प्रकार निरूपण करने की ईश्वर की आज्ञा है। इसलिये ऋषियों के द्वारा निरूपित पुरुषार्थ, लौकिकपुरुषार्थ (जीव विचारित) हैं।

व्याख्या :

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूपी चार पुरुषार्थ हैं और उन चार पुरुषार्थ के पुनः दो विभाग करें तो कुल मिला कर आठ पुरुषार्थ हो गए। जीव विचारित धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और ईश्वर विचारित धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। ईश्वर विचारित अलौकिकपुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष वेद में कहे गये हैं। जो वेद में कहे गये हैं उनके सम्बन्ध में यहाँ चर्चा या परीक्षण करने की कोई आवश्यकता नहीं है। लौकिक धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष किस कारण से वेद से पृथक् हो गए ? तो देखें, श्रीमहाप्रभुजी ब्रह्मवाद का दृष्टिकोण कितनी सुन्दरतापूर्वक अपना रहे हैं। बात ध्यान से समझेंगे तो समझ में आयेगी कि – ''तथैवेश्वर शिक्षया'' इसमें घबराने जैसी कोई बात नहीं है। ऋषियों ने यदि

कोई वेदोक्तपुरुषार्थ से पृथक् पुरुषार्थ बताये हैं तो उनसे बिल्कुल भी हिम्मत हारने की आवश्यकता नहीं है, बिल्कुल भी डरने की आवश्यकता नहीं है। ''तथैवेश्वर शिक्षया'' – जो कुछ भी हो रहा है वह भगवान की इच्छा से हो रहा है। शैतान की इच्छा से कुछ भी नहीं हो रहा।

लौकिकांस्तु प्रवक्ष्यामि वेदाद् आद्या यतः स्थिताः।
धर्मशास्त्राणि नीतिश्च कामशास्त्राणि च क्रमात्।।4।।
त्रिवर्ग-साधकानीति न तन्निर्णय उच्यते।।

अन्वयार्थ :

लौकिकान् = लौकिक पुरुषार्थों को
तु = तो, (**अहं** = मैं)
प्रवक्ष्यामि = कहता हूँ
यतः = कारण कि
आद्याः = पहले
वेदात् = वेद से
(**वेदमाश्रित्य** = वेद का आश्रय ले कर)
स्थिताः = स्थित (सन्ति = हैं)
धर्मशास्त्राणि = धर्मशास्त्र
च = और
नीतिः = नीतिशास्त्र
च = और
कामशास्त्राणि = कामशास्त्र
क्रमात् = क्रम से
त्रिवर्गसाधकानि = त्रिवर्ग के साधक हैं

इति (हेतोः) = इस कारण से
तन्निर्णय : = उनका निर्णय
(**अस्माभिः** = हमारे द्वारा)
न = नहीं
उच्यते = कहा गया है

भावार्थ : अलौकिकपुरुषार्थ तो वेद से स्थित हैं। उनका विचार करने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए लौकिकपुरुषार्थ को कहूंगा।

मनुस्मृति आदि धर्मनिरूपण करने वाले शास्त्र, कामन्दकीय आदि नीतिशास्त्र (अर्थशास्त्र) तथा वात्स्यायन आदि कामशास्त्र क्रम से धर्म, अर्थ और काम-इन त्रिवर्ग के साधक हैं। इसलिए उनका निर्णय हम नहीं करते हैं।

व्याख्या :

मैं तो लौकिकपुरुषार्थ की बात आपको कहना चाहता हूँ। वैदिक-पुरुषार्थ की बात क्यों नहीं कह रहे ? क्योंकि वे तो वेद में कहे गये हैं। उनमें कहने की क्या बात है ? यहाँ सभी बातें सही हैं। जब आप पंचम पुरुषार्थ को समझने के लिये तैयार हो गए हैं तो आपको इतनी बात तो समझनी ही चाहिए। जब आप एम.ए. में प्रवेश ले रहे हैं तो आपको कलम से 'क' और खडिया से 'ख' समझाने की आवश्यकता है क्या ?

जो पुरुषार्थ का मूल शास्त्र है, अपने हिसाब से उसका निरूपण करने वाला शास्त्र वेद है। "**यतोभ्युदय-निःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः**" अर्थात् अभ्युदय और निःश्रेयस जिनसे सिद्ध होते है, वह धर्म है। "**तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं कार्याकार्यौ व्यवस्थितौ**" अर्थात् कर्तव्य और अकर्तव्य के बारे में शास्त्र प्रमाण है। वेद में बता दिया गया है कि धर्म का आचरण किस प्रकार करना, अधर्म किस प्रकार नहीं करना, अर्थोपार्जन किस प्रकार करना, अनर्थ

का उपार्जन किस प्रकार नहीं करना, काम को कैसे संतुष्ट करना, दुष्काम को कैसे संतुष्ट नहीं करना, मोक्ष कब मिलता है, कैसे मिलता है और किसको नहीं मिलता है, ये सभी विषय वेद में बताये गये हैं। इनके बारे में नये सिरे से जानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि पुरुषार्थ निरूपक वेद होने से उससे अतिरिक्त धर्मार्थ-काम-मोक्ष के निरूपण की आवश्यकता को श्रीमहाप्रभुजी इस प्रकार कहते हैं।

एक बात ध्यान से समझें - "**वेदोक्ताद् अणुमात्रेऽपि विपरीतन्तु यद् भवेत् तादृशं वा स्वतंत्र चेत् उभयं मूलतो मृषा**" - भाव यह है कि चार पुरुषार्थों के विषय में वेद से पृथक् कुछ भी उपद्रव आपने किया तो वह स्वतंत्र रूप से कर रहे हैं या विपरीत कर रहे हैं, परन्तु वह झूठ, झूठ और केवल झूठ है। यह श्रीमहाप्रभुजी की वेद के प्रति वचनबद्धता है। हमें अपनी उल्टी खोपड़ी के कारण ऐसा समझ में आ गया कि वेद तो प्रमाणमार्ग है और अपना प्रमेयमार्ग है।

श्रीमहाप्रभुजी इस बात को, इस विषय को स्पष्टरूप से कह रहे हैं कि "वेदोक्ताद् अणुमात्रेऽपि" - अर्थात् एक अणु जितना भी यदि आप कुछ विपरीत बोल रहे हैं, "उभयं मूलतो मृषा" या स्वतंत्र बोल रहे हैं तो वह झूठ है और झूठ के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इतनी प्रबल वचनबद्धता श्रीमहाप्रभुजी की है। अतः उस विषय में कुछ भी बताने की श्रीमहाप्रभुजी को कोई आवश्यकता नहीं है। श्रीमहाप्रभुजी पंचम पुरुषार्थ की बात बताना चाहते हैं। क्यों समझाना कि वैदिकपुरुषार्थ क्या है ! बात समझ में आई न !

इन चार पुरुषार्थ - अलौकिकपुरुषार्थ के बारे में यहाँ विचार करना अभीष्ट नहीं है। जो लौकिक धर्मार्थ-काम-मोक्ष हैं अर्थात् ऋषियों के द्वारा प्रतिपादित जो धर्मार्थ-काम-मोक्ष हैं उनकी व्यवस्था आपको समझाना चाहता हूँ। कारण कि उनकी गणना में आपको पंचम पुरुषार्थ को स्वतंत्र और इसीलिए

भक्ति को एक स्वतंत्र पुरुषार्थ के रूप में मानना पड़ेगा।

लौकिकपुरुषार्थ में जो धर्मशास्त्र है, अर्थशास्त्र है और कामशास्त्र है उनके बारे में श्रीमहाप्रभुजी पूछ रहे हैं कि क्या आपको जानना है ? यदि जानना है तो अध्ययन करें। समझ में आ जायेगा। मैं क्यों बताऊँ कि धर्म क्या है। आपको जानना है तो धर्मशास्त्र का अध्ययन करें, समझ में आ जायेगा। अर्थोपार्जन किस प्रकार करना, यह जानना है तो अर्थशास्त्र पढ़ लेना चाहिए। काम को किस प्रकार संतुष्ट करना, यह जानना हो तो कामशास्त्र पढ़ना चाहिए। समझ में आ जायेगा। इन सबके बारे में मैं क्या निर्णय दूँ ?

श्रीमहाप्रभुजी का बालक कितना प्रौढ़ है । इस बात को ध्यान से समझें और कितने प्रौढ़ को श्रीमहाप्रभुजी बालक कह रहे हैं यह बात भी समझें। श्रीमहाप्रभुजी के समक्ष जो बालक है वह कितना प्रौढ़, कितना परिपक्व है यह बात समझें और कितने परिपक्व को श्रीमहाप्रभुजी बालक कह रहे हैं, यह बात भी समझनी पड़ेगी। तब बालबोध की पंक्ति समझ में आएगी। नहीं तो समझ में नहीं आएगी । इन सब धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र को श्रीमहाप्रभुजी को पूछे बिना कोई समझ सकते हों, वह सम्भव नहीं है। ध्यान से समझें कि श्रीमहाप्रभुजी के आश्रय बिना जो अपनी समझ से इनके बारे में समझ सकता हो ऐसे प्रौढ़ को श्रीमहाप्रभुजी बता रहे हैं। अपने इन बालकों को नहीं जिन्होंने धर्मशास्त्र का अध्ययन नहीं किया, अर्थशास्त्र का अध्ययन नहीं किया, कामशास्त्र का अध्ययन नहीं किया अपितु केवल टकाशास्त्र का अध्ययन किया है। उनको श्रीमहाप्रभुजी बालक नहीं कह रहे हैं। किसी दूसरे को ही बालक कह रहे हैं। यह बात भलीभाँति समझ लेनी चाहिए। जो व्यक्ति बहुत ही प्रौढ़ है, श्रीमहाप्रभुजी से समझे बिना इस शास्त्र को अपनी समझ से समझ जाए उसे श्रीमहाप्रभुजी बालक कह रहे हैं कि बच्चे आ कर बैठ, तुम्हें यह बात समझाना चाहता हूँ। इतना प्रौढ़ बालक है, ऐसे प्रौढ़ को बालक कह रहे हैं और उसको यही कह रहे हैं कि

''त्रिवर्गसाधकानीति न तन्निर्णय उच्यते'' अर्थात् आप स्वयं की समझ से पढ़ कर समझ लें, इस बारे में मैं क्या कहूँ। आप (श्रीमहाप्रभुजी) जो समझाना चाहते हैं उसके सम्बन्ध में कह रहे हैं कि

(स्वतः परतोभेदभिन्ने मोक्षे आद्यस्य बाह्याभ्यंतर-त्यागहेतुकद्वैविध्यम्)

स्वतोमोक्ष और परतोमोक्ष इस प्रकार मोक्ष के दो प्रकारों में प्रथम स्वतोमोक्ष के बाह्यत्याग और आभ्यंतरत्याग के कारणरूप दो प्रकार हैं।

मोक्षे चत्वारि शास्त्राणि लौकिके परतः स्वतः ।।5।।

अन्वयार्थ :

लौकिके = लौकिक (जीव विचारित)
मोक्षे = मोक्ष में
चत्वारि = चार
शास्त्राणि = शास्त्र
स्वतः = आप ही / स्वयं ही
परतः = अन्य द्वारा

भावार्थ : लौकिकमोक्ष में दो शास्त्र (साधन) परतः मोक्ष सिद्ध करने वाले हैं और दो शास्त्र स्वतः मोक्ष सिद्ध करने वाले हैं। इस प्रकार स्मार्तमोक्ष विषयक चार शास्त्र हैं।

व्याख्या :

अर्थात् मोक्ष के जो शास्त्र हैं वे चार प्रकार के हैं। लौकिकमोक्ष के शास्त्र, परतः मोक्ष और स्वतः मोक्ष और स्वतः और परतः मोक्ष के पुनः दो-दो भेद हैं - परतः के दो भेद और स्वतः के दो भेद। परतः अर्थात् अपने अतिरिक्त अन्य से, अन्य की सहायता से मिलने वाला मोक्ष और स्वतः अर्थात् अपने प्रयास से मिलने वाला मोक्ष। स्वतः मोक्ष के सम्बन्ध में गीता में भगवान आज्ञा

करते हैं –''**उद्धरेद् आत्मनात्मानं नात्मानं अवसादयेत्**'' – अपने आत्मा से अपना उद्धार करो। अपने आत्मा से अपने आत्मा को खड्डे में गिराने का कारण मत बनो।

भगवान बुद्ध ने बहुत सुन्दर कहा है – ''**अत्ता ही अत्तनो नाथ, अत्ता ही अत्तनो गति**'' – अत्ता अर्थात् आत्मा, अर्थात् आत्मा ही आत्मा का नाथ है, आत्मा ही आत्मा की गति है। यदि आत्मा तक नहीं पहुँचे और अनात्मा तक पहुँचे तो सारी बात चौपट हो गई। आत्मा का नाथ कौन बनेगा ? बुद्ध कहते हैं कि आत्मा ही बन सकता है, अन्य कोई नहीं बन सकता। अत्ता की गति क्या होगी ?''**अत्ता ही अत्तनो गति**'' – इस बात को समझें कि यह स्वत: मोक्ष की प्रक्रिया है, जहाँ आत्माश्रित मोक्ष है। आत्मा जहाँ अपने प्रयास से मुक्त हो रहा है, वह स्वत: मोक्ष और आत्मा यदि स्वयं के प्रयास से मुक्त न हो कर किसी दूसरे के मोक्षानुकूल प्रयास से मुक्त हो रहा है तो वह परत: मोक्ष है। स्वत: मोक्ष के पुन: दो भेद हैं –

द्विधा द्वे-द्वे स्वतस् तत्र सांख्य-योगौ प्रकीर्तितौ।

अन्वयार्थ :

द्विधा = दो प्रकार के (हैं)
द्वे-द्वे = दो-दो (शास्त्र हैं)
तत्र = वहाँ
स्वत: = स्वयं ही
सांख्य-योगौ = सांख्य और योग
प्रकीर्तितौ = कहे गये हैं

भावार्थ : मोक्ष के दो प्रकारों में से प्रत्येक प्रकार के मोक्ष में दो-दो शास्त्र हैं। स्वत: मोक्ष में सांख्य और योगशास्त्र कहे गये हैं।

व्याख्या :

जिस स्वत: मोक्षशास्त्र के दो भेद हैं उनमें से एक सांख्यशास्त्र है। सांख्यशास्त्र आपको ऐसी प्रक्रिया बताता है कि जिस के कारण किसी भी ईश्वर के आधिदैविक रूप का आश्रय लिये बिना आप अपने प्रयत्न से मुक्त हो सकते हैं। योगशास्त्र आपको ऐसी प्रक्रिया बताता है जिसमें किसी ईश्वर की आवश्यकता रखे बिना आप अपने प्रयत्न से मुक्त हो सकते हैं। श्रीमहाप्रभुजी इस प्रकार की मुक्ति को स्वत: मोक्ष कहते हैं।

त्यागात्याग-विभागेन सांख्ये त्याग: प्रकीर्तित: ।।6।।

अन्वयार्थ :

त्यागात्याग-विभागेन = त्याग और अत्याग के भेद से
सांख्ये = सांख्य में,
त्याग: = त्याग
प्रकीर्तित: = भलीभाँति कहा
(**अस्ति** = है)

भावार्थ : स्वत: (जीव के स्वाधीन) मोक्ष में त्याग और अत्याग के भेद से सांख्यशास्त्र में त्याग (अनात्म वस्तुओं का त्याग) कहा गया है।

व्याख्या :

इसमें स्वत: मोक्ष के दो भेद हैं। एक स्वत: मोक्ष आपको त्याग करने के लिये कहता है कि सब कुछ छोड़ो, त्याग करो तो आप मुक्त हो जाएंगे। दूसरा एक स्वत: मोक्ष का शास्त्र कहता है कि सबका त्याग मत करो। सब अर्थात् समग्र के सन्दर्भ में स्वयं का नियमन इस प्रकार करो कि जिससे ऐसे मार्ग पर हम गाड़ी चलाएं जहाँ कोई ट्रैफिक ना आता हो, इस प्रकार से गाड़ी चलाना भी ड्राईविंग का एक प्रकार है और ऐसे मार्ग पर समझदारीपूर्वक गाड़ी चलाना कि

कोई गाड़ी अपने से न टकराए, वह भी गाड़ी चलाने का एक प्रकार है। भाई ! दोनों प्रकार से गाड़ी चलाई जा सकती है। जिनको लाईसेन्स न मिला हो उनकी बात मैं कर रहा हूँ।

ठीक इसी तरह शास्त्र भी दोनों प्रकार से हो सकता है कि अपने विषय के साथ वह इस रूप से व्यवहार करे अथवा न करे। मुझे गाड़ी नहीं चलानी क्योंकि मेरी शर्त यह है कि सड़क पर जब कोई गाड़ी न चलती हो तो मुझे गाड़ी चलाना भाता है। मार्ग पर गाड़ी चलती हो तब मुझे चक्कर आने लग जाते हैं। फिर मैं गाड़ी चलाऊँ या आप चलाएँ? दादाजी ने मुझे कहा कि बेटा ! तुम गाड़ी चलाते ही नहीं परन्तु मुझे अपने एकाधिकार में हस्तक्षेप लगता है कि जब मैं मार्ग पर गाड़ी चलाऊँ तो दूसरे किसलिए गाड़ी चला रहे हैं, इस प्रकार यह त्याग का सिद्धान्त है कि इस तरह से गाड़ी चलाना कि जिस मार्ग पर कोई गाड़ी चलती ही ना हो वहाँ हम अपनी गाड़ी चलाएँ। फिर देखो गाड़ी चलाना आता है कि नहीं – यह त्याग की एक प्रक्रिया है और एक अत्याग की प्रक्रिया कि भरपूर ट्रैफिक चल रहा हो और हम अपनी गाड़ी इतने नियंत्रणपूर्वक चलाएँ कि हम किसी से टकराएँ नहीं और अन्य कोई हमसे नहीं टकराए। इस होशियारी से गाड़ी चलाएँ तो वह गाड़ी चलाना है।

सांख्य की जो प्रक्रिया है वह त्याग की प्रक्रिया है, जहाँ किसी भी मार्ग पर दूसरा ट्रैफिक नहीं है और हम अपनी गाड़ी चला रहे हैं। योग की प्रक्रिया कैसी है कि पूरे भूलेश्वर में गाड़ी चला रहे हैं और हम किसी से टकराएँ नहीं, ऐसे ट्रैफिक में जहाँ ईश्वर भी अपनी गाड़ी चलाना भूल जाए वहाँ हम अपनी गाड़ी चला रहे हैं तो उसका नाम योग की प्रकिया है। इस बात को समझें।

अहन्ता-ममता-नाशे सर्वथा निरहङ्कृतौ।
स्वरूपस्थो यदा जीवः कृतार्थः स निगद्यते।।7।।

अन्वयार्थ :

अहन्ता-ममतानाशे (सति) = अहन्ता-ममता का नाश हो कर

सर्वथा = सब प्रकार से
निरहङ्कृतौ (सति) = अहङ्कार रहित हो कर (जीवे इति शेषः)
यदा = जब
जीव = जीव
स्वरूपस्थः = स्वरूप में स्थित
(भवति तदा = होता है तब)
सः = वह
कृतार्थः = कृतार्थ
निगद्यते = कहा जाता है

भावार्थ : अहन्ता-ममता का नाश होने से सर्वथा अहंकारशून्य होने पर जब जीव अपने स्वरूप में रहता है तब वह जीव 'कृतार्थ' कहा जाता है।

व्याख्या :

इस स्वतः प्रक्रिया के मोक्ष में आपने अपनी अहन्ता और अपनी ममता का यदि नाश कर दिया तो आप सर्वथा निरहंकृत हो गए। आप सर्वथा स्वरूपस्थ हो गए अर्थात् शुद्ध चिदंश हो गए। आगे जो ''जीवाः स्वभावतो दुष्टाः'' बतानेवाले हैं उसके अनुसार आपमें दोष नहीं रहे और तब आप स्वाभाविकरूप से कृतार्थ हो गए। श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि बस अब तुम स्वतः मुक्त हो गए।

तदर्थं प्रक्रिया काचित् पुराणेऽपि निरूपिता।
ऋषिभिर् बहुधा प्रोक्ता फलम् एकम् अबाह्यतः।।8।।
अत्यागे योगमार्गो हि त्यागोऽपि मनसैव हि।
यमादयस्तु कर्तव्याः सिद्धे योगे कृतार्थता।।9।।

अन्वयार्थ :

तदर्थं = उसके लिए
ऋषिभिः = ऋषियों ने

बहुधा = अनेक प्रकार से
प्रोक्ता = कहा है
काचित् = कोई
प्रक्रिया = प्रक्रिया
पुराणे = पुराणों में
अपि = भी
निरूपिता = निरूपित है
अबाह्यतः = शास्त्र से अविरुद्ध प्रकार से
एक = एक
फलम् = फल
(भवति = होता है **)**
अत्यागे = त्याग न करने पर
हि = निश्चित रूप से
योगमार्गः = योगमार्ग है
हि = और फिर
त्यागः = त्याग
अपि = भी
मनसा = मन से
एव = ही
(कर्तव्यः = करना **)**
यमादयः = यम इत्यादि
तु = तो
कर्तव्याः = करने
योगे = योग के
सिद्धे (सति) = सिद्ध होने पर

कृतार्थता = कृतार्थता (**भवति** = होती है)

भावार्थ : अन्यथारूप का त्याग करके अपने स्वरूप से जो स्थिति है वह मुक्ति है। ऐसे मोक्ष के लिए कुछ प्रक्रियाओं का पुराणों में भी निरूपण हुआ है। अनीश्वर सांख्य को छोड़कर सबका फल एक होता है।

त्याग नहीं करने पर 'योगमार्ग' कहा जाता है, यह बात निश्चित है, और त्याग भी मन से करना अर्थात् मानसिक त्याग करना। योगमार्ग में भी यम, नियम आदि अंग तो अवश्य साधने चाहिए। योग सिद्ध होने से आत्मा के स्वरूप में स्थितिरूप मोक्ष सिद्ध होता है।

व्याख्या :

जैसी ऋषियों ने बताई है वैसी प्रक्रिया पुराणों में भी बताई गई है और ऋषियों ने यह सांख्य के त्यागवाली प्रक्रिया तथा योग के चित्तनिरोधवाली प्रक्रिया अनेक प्रकार से वर्णित की है। इसमें मेरा अभिमत एक बार स्पष्ट समझ लें कि ''फलम् एकम् अबाह्यतः'' अर्थात् चाहे त्याग कर रहे हों या योग – जिस समय आप वेद के प्रतिकूल कर रहे हैं तब आपका सत्यानाश होना तय है। श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि यदि आप वेद के प्रतिकूल न जा कर कोई आगे बढ़ने की प्रवृत्ति, मोक्ष को लक्ष्य में रख कर, कर रहे हैं अर्थात् वेद से विरुद्ध न जा कर कोई त्याग कर रहे हैं अथवा योग कर रहे हैं तो आपको फल मिलेगा। श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि इसमें किसी सन्देह या चिन्ता की बात नहीं है आप मुक्त हो जाएंगे।

श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं – ''अत्यागे योगमार्गो हि'' कि अत्याग में योगमार्ग है। ''त्यागोऽपि मनसैव हि'' अर्थात् योगमार्ग में त्याग भी है। वह वस्तु का त्याग न हो कर वृत्ति का त्याग है। तात्पर्य यह है कि भोजन का त्याग नहीं, भूख का त्याग है। बात को ध्यान से समझ लें पैसे का त्याग नहीं, लोभ का त्याग है। स्त्री का त्याग नहीं, कामवासना का त्याग है।

''यमादयस्तु कर्तव्या:'' - यमादि आपको करने पड़ेंगे। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि और जिस दिन आपकी समाधि सिद्ध हो गई तो ''सिद्धे योगे कृतार्थता''। आपको समाधि सिद्ध हो गई तो जैसे ''अहन्ता-ममता-नाशे सर्वथा निरहंकृतौ'' - का भाव है कि आप स्वरूपस्थ हो गए तो कृतार्थ हो गए उसी प्रकार यहाँ समाधिस्थ हो गए तो बस आप कृतार्थ हो गए। आपको समाधि सिद्ध हो गई इसका अर्थ यह है कि आपसे कोई बाह्यविषय नहीं टकरा सकता और किसी बाह्यविषय से आप नहीं टकरा रहे। आनन्द से गाड़ी चलाओ। अब यह प्रक्रिया क्या है?

मोक्ष स्वत: और परत: भेदवाला है। मोक्ष में स्वत:मोक्ष है जिसका एक प्रकार बाह्यत्याग और दूसरा प्रकार आभ्यन्तरत्याग है। आभ्यन्तरत्याग अर्थात् विषयों से मन को हटा कर उसे संयम में लाना। विषय से अर्थात् क्या? बिल्वमंगल सूरदासजी के बारे में कहा जाता है कि उनका मन स्त्री में गया तो उन्होंने अपनी आँखें फोड़ डालीं। अरे भाई! आँखें फोड़ लीं परन्तु कान से किसी की आवाज सुनाई देगी तो क्या करोगे? सही में, इसी दुविधा में एक दिन मैंने एक सूरदासजी से पूछा कि आपको स्वप्न तो आते हैं कि नहीं? उन्होंने बहुत सुन्दर बात बताई कि जै-जै, सपने तो आते हैं परन्तु देखने के सपने नहीं आते। ऐसे स्वप्न आते हैं कि लड्डू खा रहा हूँ, मोहनथाल खा रहा हूँ, बून्दी खा रहा हूँ आदि। कभी कोई बोला, कभी कोई और बोला ऐसे-ऐसे स्वप्न आते हैं। तात्पर्य यह है कि स्वप्न तो अंधे को भी आते हैं परन्तु आँखवाले को आँख के स्वप्न आते हैं और अंधे को रसना और कान के स्वप्न आते हैं। आँखें नहीं रहने से स्वप्न खत्म नहीं होते। हम आँखें फोड़ लें, कान कटा लें तो अन्य किसी वस्तु के सपने आने लग जाएँगे, सपने खत्म नहीं होते। सपने तो आएंगे, आएंगे और आएंगे ही। ''जादू वह जो सिर पर चढ़कर बोले'' - सपने ही तो जीवन का सबसे बड़ा जादू हैं क्योंकि सिर पर चढ़कर बोलते हैं। अत: सभी प्रकार के सपने तो आएंगे परन्तु आप मन से उन बातों को निकाल दें तो कोई सपने नहीं

आएंगे। यह त्यागात्याग का भेद है और इस त्यागात्याग के भेद में दोनों प्रकार की कृतार्थता की स्थिति क्या है, वह श्रीमहाप्रभुजी ने समझाई है।

(परतोमोक्षे तत्तदाश्रय-तत्तदीयत्वाभ्यां शिवविष्णवो: मोचकत्वम्) परत: मोक्ष में दो प्रकार बताए गए हैं। जैसे- स्वत:मोक्ष की साधना में त्यागात्याग के भेद हैं उसी प्रकार परत:मोक्ष की साधना में जिससे आप मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं, उसका आपको आश्रय लेना चाहिए। जिससे मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं, आपको उसका बन जाना चाहिए। किसी लपु-पंडा की भाँति नहीं कि ''लपु-पंडा की लगन जो नदी तरन को सेतु, रहत न चित्त इत उत फिरत परिचय संचय हेतु'' - ऐसे परिचयसंचय हेतुवाले लपु-पंडा की भाँति हम भटकते फिरें तो कभी मोक्ष नहीं होता। जिससे आप मोक्ष चाहते हैं, उसके बन जाएं। उसके बन गए तो आपका मोक्ष हो जाएगा। उसके आश्रित हो जाएंगे तो आपको मोक्ष मिल जाएगा। उन दो देवताओं को श्रीमहाप्रभुजी यहाँ परत:मोक्ष में मोक्षदाता के रूप में निरूपित कर रहे हैं।

पराश्रयेण मोक्षस्तु द्विधा सोऽपि निरूप्यते।
ब्रह्मा ब्राह्मणतां यातस् तद्रूपेण सुसेव्यते।।10।।

अन्वयार्थ :

पराश्रयेण = परमात्मा का आश्रय करके
मोक्ष: = मोक्ष
तु = तो
द्विधा = दो प्रकार से (**अस्ति** = है)
सो = उसका, **अपि** = भी
निरूप्यते = निरूपण करते हैं
ब्रह्मा = ब्रह्माजी
ब्राह्मणतां = ब्राह्मणत्व को

यातः = प्राप्त हुए हैं
तद्रूपेण = उस रूप से
सुसेव्यते = सेवित हैं

भावार्थ : पराश्रय करके मोक्ष तो शिव तथा विष्णु के आश्रय से होता है। इसलिए दो प्रकार से निरूपित किया जाता है। ब्रह्माजी वेद अथवा परब्रह्म को जाननेवाले होने से अथवा ब्राह्मण की जाति के अभिमानी देवत्व को प्राप्त हुए हैं। अतः उनकी सेवा ब्राह्मणस्वरूप से होती है।

व्याख्या :

ब्रह्माजी का उल्लेख क्यों नहीं किया? देवताओं में तीन देवता मुख्य हैं- सृष्टि के उत्पादक ब्रह्मा, सृष्टि के पालक विष्णु और सृष्टि के संहारक शिव। इसमें ब्रह्माजी को श्रीमहाप्रभुजी मोक्षशास्त्र के अधिष्ठाता देव के रूप में अस्वीकार करते हैं। किसलिए अस्वीकार करते हैं? उसका कारण समझें। ब्रह्माजी मोक्षशास्त्र के अधिष्ठाता देव नहीं अपितु ज्ञानशास्त्र के अधिष्ठाता देव हैं। मोक्षशास्त्र के अधिष्ठाता देव अर्थात् मोक्ष के प्रभारी अधिकारी, मोक्ष प्रदान करनेवाले प्राधिकारी देव वे नहीं हैं। ब्रह्माजी ज्ञान प्रदान करने हेतु प्राधिकारी देव हैं, मोक्ष प्रदान करनेवाले प्राधिकारी देव नहीं।

अतः ब्रह्माजी की जो सेवा है, ब्रह्मा का जो आश्रय है, ब्रह्मा की जो तदीयता है वह हमें मुक्ति प्रदान करने हेतु नहीं है बल्कि ज्ञान प्राप्ति के लिए ब्रह्माजी का आश्रय करना चाहिए। ज्ञान प्राप्ति के लिए ब्रह्माजी का बन कर रहना चाहिए। ब्रह्माजी का तदीय बनना चाहिए। इस बात को ध्यान से समझें। ''तद्रूपेण सुसेव्यते'' - 'सुसेव्यते' अर्थात् ''तदाश्रयतदीयत्वाभ्याम् सेव्यते।''

ते सर्वार्था न चाद्येन शास्त्रं किञ्चिद् उदीरितम्।।

अन्वयार्थ :

ते = वे
सर्वार्था = सभी अर्थ
आद्येन = ब्रह्माजी से
न = नहीं (**यतः** = क्योंकि)
किञ्चित् = थोड़े से
शास्त्रं = शास्त्र को
उदीरितं = कहा (**अस्त** = है)

भावार्थ : इसलिए धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप अर्थ ब्रह्माजी से प्राप्त नहीं होते। उन्होंने वैखानसमन्त्ररूप शास्त्र कहा है।

व्याख्या :

जो सभी अर्थ (पुरुषार्थ) हैं वे ब्रह्माजी से प्राप्त नहीं होंगे। यद्यपि पहले एक सम्प्रदाय अपने भारत में था - जैसे मनुस्मृति अपने यहाँ ब्राह्मणसम्प्रदाय का ग्रन्थ है जो ब्रह्माजी को आराध्यदेव मान कर प्रवृत्त हुआ ग्रन्थ है। अतः वहाँ ब्रह्माजी को मुक्तिदाता के रूप में आराध्यदेव माना गया है, ज्ञानदाता के रूप में नहीं। अब उस मनुस्मृति का कोई सम्प्रदाय नहीं रहा। मात्र मनुस्मृति रह गई है। आज भी मनुस्मृति के अनुसार हम कुछ कर्म करते हैं, कुछ नहीं करते। परन्तु उनका सम्प्रदाय रहा नहीं। ब्रह्माजी की आराधना के प्रकार की बात करते हैं - ''ते सर्वार्था न चाद्येन शास्त्रं किञ्चिद् उदीरितम्।।'' - दूसरे ऐसे शास्त्र भी हैं।

अतः शिवश्च विष्णुश्च जगतो हितकारकौ।।11।।
वस्तुनः स्थिति-संहारौ कार्यौ शास्त्र-प्रवर्तकौ।।

अन्वयार्थ :

अतः = इसलिए
वस्तुनः = वस्तु (मात्र) का
स्थिति-संहारौ = पालन और प्रलय
कार्यौ = दो कार्य
शास्त्र- प्रवर्तकौ = शास्त्र का प्रवर्तन करनेवाले हैं
शिवः = शिवजी **च** = और
विष्णुः = विष्णु, **च** = भी
(द्वौ अपि = दोनों **)**
जगतः = जगत् का
हितकारकौ = हित करनेवाले
(**स्तः** = हैं)

भावार्थ : (ब्रह्माजी से मोक्ष नहीं मिलता है) अतः शिव और विष्णु जगत् का हित करनेवाले हैं। वस्तु का पालन विष्णु का अवश्य कर्तव्य है तथा वस्तु का संहार शिवजी का अवश्य कर्तव्य है। इसी प्रकार चतुर्वर्ग विषयक शास्त्र के प्रवर्तक भी ये दोनों हैं; उनमें जिसका जैसा अधिकार है तदनुसार प्रवृत्ति हो, वैसे शास्त्र करनेवाले दोनों हैं।

व्याख्या :

मोक्षदाता के रूप में जगत् के हितकारी शिव और विष्णु हैं। उनका काम क्या है? ''वस्तुनः स्थिति संहारौ'' - वस्तु की स्थिति विष्णु का कार्य है और संहार शिवजी का कार्य है। ''शास्त्र प्रवर्तकौ'' अर्थात् शास्त्र के प्रवर्तक हैं। एक पूरा शैवशास्त्र है, वह शैवसम्प्रदाय का है। इसी प्रकार वैष्णवशास्त्र, वैष्णवसम्प्रदाय का है। प्राचीनकाल से ले कर आज तक शैव और वैष्णव-सम्प्रदाय व्यवस्थित, अनवच्छिन्नरूप से हिन्दुस्तान में चल रहा है। मुक्ति प्राप्त

करना हो तो इस शास्त्र के अनुसार शिवजी का आश्रय, शिव का 'तदीयत्व' अर्थात् संक्षेप में हमें शिव का हो जाना है। तदीयता का अर्थ विष्णु के संदर्भ में विष्णु का हो जाना (वैष्णव) है। विष्णु की शरणागति ले कर वैष्णव बन जाना, शिव की शरणागति ले कर शैव हो जाना ही तदीयता और तदाश्रय है।

अब प्रश्न यह उठता है कि इन दोनों के कार्य क्या हैं? तो देखें, यहाँ श्रीमहाप्रभुजी वापस ब्रह्मवाद को नहीं भूल रहे हैं। इस लौकिकशास्त्र के निरूपण के समय श्रीमहाप्रभुजी ब्रह्मवाद को भूलना नहीं चाहते। जैसे श्रीयमुनाजी के संदर्भ में उन्होंने ब्रह्मवाद को नहीं भुलाया, जैसे श्रीगुसांईजी सर्वोत्तम के संदर्भ में ब्रह्मवाद को नहीं भूले और जैसे श्रीरघुनाथजी नामरत्नाख्य के संदर्भ में ब्रह्मवाद को नहीं भूले वैसे ही श्रीमहाप्रभुजी शिव और विष्णु के संदर्भ में ब्रह्मवाद को नहीं भूल रहे हैं। इस बात को समझे बिना हम कितनी संकीर्णता रखते हैं और श्रीमहाप्रभुजी के साथ कैसा अन्याय करते हैं। इस बात को समझें कि श्रीमहाप्रभुजी ब्रह्मवाद को भूले बिना एकदम निडरतापूर्वक हिम्मत से यह बात कहते हैं कि -

ब्रह्मैव तादृशं यस्मात् सर्वात्मकतयोदितौ ।। 12 ।।

अन्वयार्थ :

यस्मात् = क्योंकि
तादृशं = तद्रूप
ब्रह्म = ब्रह्म
एव = ही (है)
(**तस्मात् तौ** = इस कारण से शिव विष्णु को)
सर्वात्मकतया = सर्वात्मकरूप से
उदितौ = कहते हैं

भावार्थ : ब्रह्म ही विष्णु और शिव रूप हो गया है इसलिए शास्त्र में उन दोनों को सर्व जगत् का मूल कारण कहा है।

व्याख्या :

शिव और विष्णु कौन हैं? कोई शैतान नहीं हैं। आप वैष्णव हो गए इससे शिव शैतान नहीं हुए और आप शैव हो गए इससे विष्णु शैतान नहीं हुए। ये ब्रह्म के ही दो रूप हैं क्योंकि ब्रह्म ने ही शिव, विष्णु और ब्रह्मा का रूप धारण किया है। अत: शिव भी ब्रह्मात्मक हैं और विष्णु भी ब्रह्मात्मक हैं। शिव भी सर्वात्मक हैं और विष्णु भी सर्वात्मक हैं। ब्रह्म के सभी गुणधर्म में उनकी सहभागिता है।

यहाँ देखें श्रीयमुनाजी को अनन्तगुणभूषिते, जो श्रीयमुनाजी के संदर्भ में कहा है – वही सारी बात श्रीमहाप्रभुजी यहाँ बालप्रबोधन में वापस ला रहे हैं।

निर्दोष-पूर्ण-गुणता तत्-तच्छास्त्रे तयो: कृता।
भोग-मोक्ष-फले दातुं शक्तौ द्वावपि यद्यपि।।13।।

अन्वयार्थ :

तत्-तत् = उस-उस
शास्त्रे = शास्त्र में, **तयो:** = दोनों की
निर्दोष-पूर्ण-गुणता = निर्दोषता और पूर्णगुणरूपता
कृता = निरूपित की है, (**अस्ति** = है)
यद्यपि = यद्यपि
भोग-मोक्ष-फले = भोग-मोक्ष फलों को
दातुं = देने के लिए
द्वौ = दोनों
अपि = ही

शक्तौ = शक्तिमान/समर्थ
(स्त: = हैं) (**तथापि** = तथापि)

भावार्थ : अपने-अपने शास्त्र में उन दोनों का दोषराहित्य और सर्वगुणसम्पन्नता कहे गये हैं। अर्थात् गुणावतार विष्णु और शिव की जो उन-उनके शास्त्रों में सर्वात्मकता आदि बता कर परब्रह्म के गुण बताए हैं, वे सब गुण परब्रह्म के ही हैं, उनके नहीं। भोग और मोक्ष देने में यद्यपि दोनों समर्थ हैं।(तथापि)

व्याख्या :

ब्रह्म और शिवजी दोनों में निर्दोषता और पूर्णगुणरूपता है। यही निर्दोष, पूर्णगुण श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीकृष्ण के सन्दर्भ में निबन्ध में व्यवहृत किया है। आप निबन्ध में शास्त्रार्थ प्रकरण देखेंगे तो वहाँ श्रीकृष्ण के विषय में श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि श्रीकृष्ण जो हैं वे "**निर्दोषपूर्णगुणविग्रह आत्मतन्त्रो निश्चेतनात्मकशरीरगुणेश्च हीन:**" – यहाँ वे निर्दोषपूर्णगुण ब्रह्म और विष्णु दोनों में हैं – यह बात कहते हैं। ग्रन्थ देखेंगे तो ज्ञात होगा कि जो अपनी समझ है और जो श्रीमहाप्रभुजी की समझ है वे कितनी अलग समझ हैं। ग्रन्थ नहीं देखने से अपनी गाड़ी पूरी गड्ढे में जा रही है। श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं "**निर्दोष-पूर्ण-गुणता तत्-तच्छास्त्रे तयो: कृता।**" उन-उन शास्त्रों में इनकी निर्दोषपूर्णगुणता क्यों वर्णित है, क्योंकि ब्रह्म इस प्रकार से शिव हुआ है, ब्रह्म इस प्रकार से विष्णु हुआ है। भोग-मोक्ष फलदान में दोनों समर्थ हैं, परन्तु एक नियम अथवा सिद्धान्त आपको समझाना चाहता हूँ।

भोग: शिवेन मोक्षस्तु विष्णुनेति विनिश्चय:।
लोकेऽपि यत् प्रभुर्भुक्ते तन्न यच्छति कर्हिचित् ।।14।।

अन्वयार्थ :

भोगः = भोग, **तु** = तो
शिवेन = शिवजी से
मोक्षः = मोक्ष
विष्णुना = विष्णु से
इति = ऐसा
विनिश्चियः = पक्का निश्चय
(**अस्ति** = है)
लोके = लोक में
अपि = भी
यत् = जो (वस्तु)
प्रभु := स्वामी
भुंक्ते = भोग करते हैं
तत् = वह (वस्तु)
कर्हिचित् = कभी भी
न = नहीं
यच्छति = देते हैं

भावार्थ : शिवजी के भजन से भोग और विष्णु के भजन से मोक्ष मिलता है, ऐसा विशेष निश्चय है। लोक में भी जो वस्तु स्वामी स्वयं भोगते हैं उस वस्तु को कभी भी किसी को नहीं देते।

व्याख्या :

विष्णु का स्वरूप भोगप्रधान है। तो विष्णु से आप मुक्ति प्राप्त करें और शिव का स्वरूप मुक्तिप्रधान है, अतः उनसे आप भोग प्राप्त करें। अब मजे की

बात कहें या विचित्र बात कहें - जो आपकी इच्छा हो कहें - परन्तु श्रीमहाप्रभुजी ने कितनी सुन्दर बात बताई है कि ''**लोकेऽपि यत् प्रभुर्भुंक्ते तन्न यच्छति कर्हिचित्।**'' - शिव के रूप में ब्रह्म मुक्ति का आनन्द भोग रहा है और विष्णु के रूप में ब्रह्म भोग में आनन्द का अनुभव कर रहा है।

एक बात ध्यान से समझेंगे तो आन्तरिक रहस्य समझ में आयेगा कि जो संहार के देवता शिव हैं उन्होंने अपना काम कर लिया तो भोग क्यों करेंगे। मुक्ति का तो आनन्द लेंगे कि भाई ! झंझट खत्म हुई। इसी प्रकार विष्णु स्थिति के पालक देवता हैं, वे यदि मुक्ति का आनन्द लेने जाएंगे तो पालन कौन करेगा? इसका आन्तरिक भाव समझें कि जो जिस विषय के देवता हैं उस विषय का ही आनन्द लेंगे न!

कौन किसके अधिष्ठातादेव हैं ? शिव संहार के अधिष्ठातादेव हैं। उन्होंने अपना काम कर लिया तो फिर क्या शेष रहा? वे किसका भोग करेंगे ? मुक्ति का ही आनन्द लेंगे न ! और विष्णु पालन के अधिष्ठातादेव हैं, वे पालन करने में भोग का आनन्द लेंगे। समस्त जगत का पालन करके जगत् के भोग का आनन्द ले रहे हैं। इससे श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि ये सब समझे बिना लोग शिवजी को छप्पन भोग धरते हैं, शिवजी को पलना झुलाते हैं। जरा विचार करें कि जटाजूटधारी शिवजी को किसी दिन माता पलना झुलाए या लोरी सुनाए या लोरी सुनाकर लाड-चाव करे तो कैसा लगेगा ? समझे बिना हम कुछ के कुछ उपद्रव करते रहते हैं जबकि यह वास्तव में समझने और विचारने की बात है। शिवजी पलना झूलते हुए अच्छे नहीं लगते। यह बात तो शिवजी के ध्यानावस्थित मुक्ति का आनन्द लेते हुए सच्चे स्वरूप को समझें तो समझ पड़ती है।

परन्तु ''तन्न यच्छति'' - वे मुक्ति प्रदान नहीं करते क्योंकि स्वयं अपने भोग के लिए मुक्ति को (अपने पास) रखते हैं तो आपको किसलिए मुक्ति

प्रदान करेंगे ? स्पष्ट है कि भोग प्रदान करेंगे और जो अपने लिए भोग को रख रहे हैं वे आपको मुक्ति प्रदान करेंगे। उनके यहाँ मुक्ति निर्धारित मात्रा से अधिक परिमाण में है। जितनी चाहिए उतनी ले लीजिए। हम उसका उपयोग नहीं करते। मालिक क्या करता है ? अपने उपयोग के लिए जो वस्तु है उसका स्वयं उपयोग करते हैं और जिसका उपयोग नहीं करते उसे नौकर को देते हैं। इसी प्रकार शिव अपने स्वरूप से मुक्ति को भोगते हैं तो वे सबको भोग प्रदान करेंगे और विष्णु अपने स्वरूप से भोग का आनन्द ले रहे हैं तो उनके यहाँ मुक्ति अतिरिक्त रूप में है, अतः जितनी चाहिए उतनी ले जाएं - इस प्रकार का सिद्धान्त है। इससे ''न यच्छति'' का अर्थ यह नहीं है कि देवता के स्वरूप में असामर्थ्य है।

अतिप्रियाय तदपि दीयते क्वचिदेव हि।
नियतार्थ-प्रदानेन तदीयत्वं तदाश्रयः।।15।।
प्रत्येकं साधनं चैतद् द्वितीयार्थे महान् श्रमः।

अन्वयार्थ :

हि = किन्तु
तत् = वो, **अपि** = भी
अतिप्रियाय = अतिप्रिय को
क्वचित् = किसी समय
एव = ही **दीयते** =देते हैं
नियतार्थप्रदानेन = नियत पदार्थों को देने से
तदीयत्वं = भगवदीयता
तदाश्रयः = भगवदाश्रय
(**सिद्ध्यति** = सिद्ध होता है)
एतत् = ये, **प्रत्येकं** = प्रत्येक फल का

साधनं = साधन है
द्वितीयार्थे = दूसरे पुरुषार्थों को देने में
महान् = बड़ा, **श्रमः** = श्रम (**भवति** = होता है)

भावार्थ : शिवजी को जो अत्यन्त प्रिय होता है उसको शिवजी किसी समय मोक्ष देते हैं और विष्णु को जो अत्यन्त प्रिय होता है उसको विष्णु भोग देते हैं, यह बात भी लोकसिद्ध है। शिवभजन भोग को सिद्ध करता है और विष्णुभजन मोक्ष को सिद्ध करता है; ये प्रत्येक साधन हैं। दूसरे-दूसरे पुरुषार्थों को देने में शिव और विष्णु को (गुण परिवर्तन करने से) अतिश्रम होता है।

व्याख्या :

जो यथार्थ में अतिप्रिय है, यदि आप सचमुच शिव के इतने प्रिय बने तो शिव क्यों नहीं मुक्ति देंगे? उनकी सामर्थ्य में कोई न्यूनता नहीं है। शिव की आप अतिप्रियता प्राप्त करें तो शिव आपको मुक्ति देंगे। आप विष्णु की अतिप्रियता प्राप्त करें तो वे आपको भोग भी देंगे। क्यों नहीं देंगे यदि आप अतिप्रिय हैं तो। जैसे सुदामा को भोग प्रदान किया। अतः विष्णु भोग भी दे सकते हैं।

परन्तु ''नियतार्थ-प्रदानेन तदीयत्वं तदाश्रयः'' - के नियमानुसार तदीयत्व (भगवदीयता) और तदाश्रय (भगवदाश्रय) प्रत्येक के साधन हैं और ''नियतार्थ-प्रदानेन ..... द्वितीयार्थे महान् श्रमः'' - क्योंकि वे जो नियतार्थ हैं उन्हीं का दान करते हैं जिसका उनके यहाँ उपभोग नहीं हो रहा। उसको (जिसका उनके यहाँ उपभोग हो रहा अर्थात् द्वितीयार्थ) आप उपभोग करने के लिए मांग रहे हैं तो उनको अत्यन्त श्रम दे रहे हैं। अतः शिव से आप मुक्ति मांगते हैं तो शिव से थोड़ा स्मरश्रम निकलेगा और विष्णु से आप भोग प्राप्त करना चाहते हैं तो विष्णु को आप स्मरश्रम दे रहे हैं। जब भोग प्राप्त करना चाहते हैं तो भोग तो वे स्वयं भोग रहे हैं, यह बात ध्यान से समझेंगे तो दूसरे अर्थ

(पुरुषार्थ) के लिए प्रत्येक स्थिति में तदीयत्व और तदाश्रय की आवश्यकता है! शिव का आश्रय, विष्णु का आश्रय प्राप्त करके आप सच्चे शैव और सच्चे वैष्णव हो जाएँ, बस हो गया। इसमें तकलीफ क्या है? श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि भाई तकलीफ यह है कि –

(स्वाभाविकदोषनिवृत्त्यर्थं तत्तदाश्रय-तत्तदीयत्वबुद्धया स्वधर्माचरणस्य आवश्यकता) – स्वाभाविक दोष को दूर करने के लिए तदाश्रय और तदीयता प्राप्त करने की बुद्धि से स्वधर्माचरण को निभाना आवश्यक है।

जीवाः स्वभावतो दुष्टा दोषाभावाय सर्वदा।।16।।

अन्वयार्थ :

जीवाः = जीवमात्र
स्वभावतः = स्वभाव से
दुष्टाः = दोषवाले (**सन्ति** = हैं)
दोषाभावाय = दोष दूर करने के लिए
सर्वदा = निरन्तर (श्रवणादि करने)

भावार्थ : जीव भगवान के अंश हैं इसलिए स्वरूप से दुष्ट नहीं हैं परन्तु स्वभाव से दुष्ट हो गए हैं। इस दोष की निवृत्ति के लिए सर्वदा श्रवणादिक करने चाहिए।

व्याख्या :

स्वभाव से जीव दुष्ट है। वह अपने दोष वहाँ भी घुसाए बिना मानेगा नहीं। शिव के भजन में भी झमेला कर देंगे और विष्णु के भजन में भी झमेला कर देंगे। अतः ''दोषाभावाय सर्वदा'' – तो अपने इन दोषों पर आप किस प्रकार नियंत्रण पाएंगे?

श्रवणादि ततः प्रेम्णा सर्वं कार्यं हि सिध्यति।।

अन्वयार्थ :

श्रवणादि = श्रवण आदि
(**कर्तव्यं** = करने)
ततः = उससे
प्रेम्णा = प्रेम से
सर्वं = सब
कार्यं = कार्य
हि = अवश्य, **सिध्यति** = सिद्ध होते हैं

भावार्थ : श्रवणादि करने से प्रेम होता है और प्रेम से सब कार्य सिद्ध होते हैं।

व्याख्या :

शिव के भक्त हैं तो शिव के शास्त्र का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन करें। विष्णु के भक्त हैं तो विष्णु का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन करें। ''श्रवणादि ततः प्रेम्णा'' – प्रेम से ये सब करेंगे तो उस मोक्षदायक देवता को आप रिझा सकेंगे और प्रेम से न किया तो आपके स्वाभाविक दोष उनके साथ किए जाते व्यवहार में कहीं न कहीं आड़े आ जाएंगे। जैसे अपना स्वाभाविक दोष श्रीकृष्ण के साथ किए गए व्यवहार में अपने लिए बाधक बन गया कि नहीं? इस प्रकार इनके साथ भी बाधक बन जाएगा। जब श्रीकृष्ण के साथ अपना स्वाभाविक दोष बाधक बन गया तो इन देवताओं के साथ क्यों नहीं बन सकता? इनके साथ भी बाधक बनेगा।

मोक्षस्तु सुलभो विष्णोर् भोगश्च शिवतस् तथा ।।17।।

अन्वयार्थ :

मोक्षः = मोक्ष, **तु** = तो

विष्णोः = विष्णु से, **सुलभः** = सुलभ
(**भवति** = होता है) **तथा** = और
भोगः = भोग, **च** = भी, **शिवतः** = शिव से
(**भवति** = होता है)

भावार्थ : मोक्ष तो विष्णु से सुलभ है और वैसे ही भोग शिव से सुलभ है ।

व्याख्या : विष्णु से मोक्ष सुलभ है, शिव से भोग सुलभ है परन्तु किससे क्या सुलभ है, इसके अतिरिक्त यह भी विचारने की आवश्यकता है कि –

समर्पणेनात्मनो हि तदीयत्वं भवेद् ध्रुवम् ।

अन्वयार्थ :

आत्मनः = आत्मा के
समर्पणेन = समर्पण द्वारा
हि = निश्चय ही
ध्रुवं = निश्चल, **तदीयत्वं** = भगवदीयता, **भवेत्** = आती है

भावार्थ : समस्त आत्मीय वस्तुसहित आत्मा को भगवच्चरणारविन्द में अर्पण करने से निश्चय ही निश्चल तदीयता आती है ।

व्याख्या : आप शिव के प्रति समर्पित हैं कि नहीं, आप विष्णु के प्रति समर्पित हैं कि नहीं, यही मुख्य बात है । मराठी भाषा की कहावत – ''बाप दाखव नाहीं तर श्राद्ध करा'' (किसी भी बात के लिए प्रमाण मांगना) की भाँति आप शिव से मोक्ष चाहते हैं या विष्णु से मोक्ष चाहते हैं, यह सब बाद की बात है । पहले यह विचारणीय है कि आप शिव अथवा विष्णु के प्रति समर्पित हैं कि नहीं, इसका खुलासा करें । यदि आप शिव अथवा विष्णु के प्रति समर्पित हैं तो आप सच्चे शैव या सच्चे वैष्णव हो जाएंगे और यदि आप तदीय बन गए तो आपका सारा काम सिद्ध हो जाएगा, परन्तु यदि आप तदीय नहीं बन सकते, क्योंकि

''जीवाः स्वभावतो दुष्टा'' – ऐसा कोई स्वभाविक दोष हो तो क्या करना ? तो कहते हैं कि कोई चिन्ता की बात नहीं –

अतदीयतया चापि केवलश्चेत् समाश्रितः ।।18।।

अन्वयार्थ :

च = और, **अतदीयतया** = भगवदीयता सिद्ध न हुई हो
अपि = तो भी, **चेत्** = यदि
केवलः = केवल
समाश्रितः = सम्यक्तया आश्रित हो
(तर्हि = तो)

भावार्थ : तदीयता सिद्ध न हुई हो और केवल (प्रभु मेरे रक्षक हैं ऐसे अनुसंधानवाला) आश्रित हो तो भी ..... ।

व्याख्या :

आप अतदीय हैं, सच्चे शैव नहीं बन सके, थोड़ी कोई इतर गतिविधि साथ में चालू है – अर्थात् ''**काफिर तो नहीं हूँ पर कहियो ना मुसलमान। एक बुत से भी निबाह किये जा रहा हूँ**'' – जैसी कोई अतिरिक्त अन्य प्रवृत्ति कर रहे हैं कि काफिर नहीं परन्तु मुसलमान भी नहीं क्योंकि मेरा अल्लाह के साथ वापस एक निबाह है । ऐसे अल्लाह के सिवाय अन्य कोई भी मुझ से कुछ निभा रहा है, कोई अतदीय सम्बन्ध है तो श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि चिन्ता की कोई बात नहीं है । आश्रय दृढ़ कर सकते हैं कि नहीं ? जो भी आपकी अन्य अतिरिक्त गतिविधि या व्यावृत्ति हो जो तदीयता में बाधक है, उसे थोड़े समय के लिए भूल कर दृढ़ आश्रय तो करें । चाहें तो शिव का या चाहें तो विष्णु का करें ।

तदाश्रय-तदीयत्वबुद्ध्यै किञ्चित् समाचरेत् ।
स्वधर्मम् अनुतिष्ठन् वै भार-द्वैगुण्यम् अन्यथा ।।

अन्वयार्थ :

तदाश्रय-तदीयत्वबुद्ध्यै = भगवदाश्रय और भगवदीयता जानने के लिए
स्वधर्मम = स्वधर्म का
अनुतिष्ठन् = पालन करते हुए
किञ्चित् = कुछ
समाचरेत् = आचरण करे
अन्यथा = नहीं तो
भार - द्वैगुण्यं = दुगुना भार
(**भवति** = होता है)

भावार्थ : अपने वर्णाश्रमधर्म का आचरण करे और आश्रय तथा तदीयता की बुद्धि पाने के लिए कुछ श्रवणादिक करे। अन्यथा दुगुना भार होता है।

व्याख्या :

आप जीवन में जो भी काम करें वह आश्रय से करना शुरू करें कि अमुक काम करने से मेरा शिव के प्रति आश्रय दृढ़ होगा, अमुक काम करने से मैं सच्चा शैव बन जाऊँगा। यह काम करने से विष्णु का सच्चा आश्रय मुझे दृढ़ होगा, यह काम करने से मुझे सच्ची वैष्णवता सिद्ध होगी।

जो वेद का धर्म है उसे निरस्त नहीं किया तो आपका काम हो जाएगा, नहीं तो ''**भार-द्वैगुण्यम् अन्यथा**'' - दुगुने भार से लद जाएंगे। क्योंकि आप लौकिकमोक्ष के शास्त्र की प्रक्रिया से मुक्त होना चाहते हैं और उसके भरोसे आपने वेद को छोड़ दिया तो ''धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का''। क्योंकि वेद ने जितनी समग्रता के साथ चारों पुरुषार्थ की देखभाल की है उतनी देखभाल लौकिकशास्त्रों ने नहीं की। परन्तु यदि आप उनको निभाकर लौकिकशास्त्र से कोई अतिरिक्त प्रवृत्ति करके सोने में सुगन्ध उत्पन्न करना

चाह रहे हैं तो श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि कोई चिन्ता की बात नहीं है। वैदिकधर्म को निभाते हुए, यदि आप सच्चे शिवभक्त हो गए, यदि आप सच्चे विष्णुभक्त हो गए तो आपको घबराने की कोई आवश्यकता नहीं है।

यहाँ देख लें ''कहना बेटी को और सुनाना बहू को'' इस बात का बालबोध प्रबोधन करता है परन्तु श्रीमहाप्रभुजी पुष्टिजीव को समझा रहे हैं कि यदि शिव और विष्णु के सम्बन्ध में मैं यह बात बता रहा हूँ तो श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में कोई दूसरी बात नहीं बता रहा। यही बात श्रीकृष्ण के सन्दर्भ में समझनी है कि आप श्रीकृष्ण का आश्रय करें। श्रीकृष्ण के तदीय बन जाएँ। कृष्णाश्रित, कृष्ण के भगवदीय बन जाएँ और ''स्वधर्मम् अनुतिष्ठन् वै'' - व्यर्थ में स्वधर्म तोड़ने का आग्रह न रखें। यथासम्भव पालन करने का आग्रह रखें अन्यथा आप दुगुने भार से लद जाएंगे।

हमने ऐसा मान लिया है कि वैदिकमार्ग तो मर्यादामार्ग है और अपना प्रमेयमार्ग है। प्रमेयमार्ग में आपने क्या-क्या छल-छद्म नहीं किए, समूची जवाबदारी का ख्याल आप भूल गए। प्रमेयमार्ग में कोई अच्छा काम तो किया नहीं, केवल उपद्रव ही उपद्रव किए तो यही बात श्रीमहाप्रभुजी पुत्री को कह कर अपनी बहू को सुनाना चाहते हैं। जो बात बालक को कह रहे हैं उसमें पुत्री न आती हो तो उसके स्थान पर जमाई को समझ लें तो पुत्री को कह कर जमाई को सुनाना चाहते हैं, ऐसा समझ लें। बात तो एक ही है, उसमें तात्पर्य नहीं बदल रहा।

मूल बात यह है कि श्रीमहाप्रभुजी इस बालप्रबोधन में पुष्टिमार्गीय जीव को यह बताना चाहते हैं कि कृष्ण के साथ आपको कैसा व्यवहार करना है। जैसा व्यवहार विष्णु के साथ करना है, जैसा व्यवहार शिव के साथ करना है, वैसा ही व्यवहार यदि आप पुष्टिमार्गीय हैं तो आपको श्रीकृष्ण के साथ भी करना है।

इत्येवं कथितं सर्वं नैतज्ज्ञाने भ्रमः पुनः ।।19।।

अन्वयार्थ :

इति एवं = इस प्रकार से, **सर्वं** = सब, **ज्ञाने** = जानने पर, **पुनः** = फिर से
कथितं = कहा, **एतत्** = ये, **भ्रमः** = भ्रम, **न** = नहीं (**भवति** = होता है)

भावार्थ : इस प्रकार पूर्वोक्त प्रकार से अपने और दूसरों के सिद्धान्तों का सर्वसंग्रहरूप सब कहा है। इसका ज्ञान हो तो पुरुषार्थों का स्वरूप समझने में अन्यथा ज्ञान पुनः नहीं होता।

व्याख्या :

यह सारी बातें आपको मैंने भलीभाँति समझा दीं। यदि आप यह बात समझ गए तो अब आपको कभी भी भ्रम नहीं होना चाहिए। श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि यह बात समझ गए तो फिर अब मैं कभी भी तुम्हें बालक नहीं कहूँगा। फिर मैं कहूँगा कि तुम समझदार हो गए। परन्तु यदि इस बात को नहीं समझे तो तुम वापस बालक ही रह गए, नासमझ रह गए। यही महाप्रभुजी का कहना है।

इस प्रकार हमने श्रीमहाप्रभुजी के मतानुसार बालप्रबोधन समझा, उसका सारांश समझा।

इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितो बालबोधः सम्पूर्णः ।।

प्रश्न :

उत्तर : बहुत जटिल उदाहरण देता हूँ। सभी से अनुरोध है कि किसी अन्य अर्थ में न लें।

एक बात ध्यान से समझें कि सांख्य के त्याग की जो प्रक्रिया है और सांख्य के साधक जितना त्याग करते थे, उससे दस गुना त्याग जैन दिगम्बर संन्यासी करते हैं। यह निन्दा के रूप में नहीं कह रहा लेकिन त्याग करते हैं कि नहीं? वह त्याग अपने वैदिकत्याग की प्रक्रिया के अनुकूल है या प्रतिकूल है? श्रीमहाप्रभुजी के सिद्धान्त के हिसाब से प्रतिकूल है। यद्यपि वह त्याग है परन्तु स्वतःमोक्ष दायक नहीं है। और योग की प्रक्रिया के सम्बन्ध में भी लोगों को ऐसी भ्रान्ति है कि पतञ्जलियोग ही योग है। दुनिया में योग के सैकड़ों प्रकार हैं– हिन्दुस्तान में और दुनिया में भी। अपने हिन्दू धर्म में ही नहीं बल्कि प्रत्येक धर्म में हैं। उन्होंने इसको 'योग' नाम नहीं दिया तो नाम नहीं देने से क्या फर्क पड़ता है? ईसाइयत में योग की बहुत व्यवस्थित प्रक्रिया है जो अपने योग की प्रक्रिया का बाप है। जैन धर्म में भी योग है और वह सारी प्रक्रिया उपलब्ध है। ऐसी सभी योग सम्बन्धी प्रक्रियाओं की जवाबदारी श्रीमहाप्रभु नहीं लेना चाहते।

वेद के अनुसार ''फलम् एकम् अबाह्यतः'' – ऐसी भी योग की प्रक्रिया है। एक बात समझने जैसी है कि चित्त को एकाग्र करने के लिए किसी सुन्दर स्त्री का ध्यान करें, उससे छेड़खानी नहीं करें। चित्त में उसका कोई रूप आकृष्ट करके मन में ला कर केवल उसका ध्यान करें। बहुत ही जोखिमभरी प्रक्रिया है। प्रक्रिया तो सही है, चित्त का निरोध भी हो सकता है, क्योंकि अन्त में प्रत्येक वस्तु का मूल्य एक बिन्दु जितना है। जैसे आपने एक दीपक की ज्योति पर अपना चित्त एकाग्र किया या भगवान की मूर्ति पर चित्त एकाग्र किया या किसी स्त्री के सौन्दर्य पर एकाग्र किया या किसी कुत्ते पर

एकाग्र किया तो चित्त को एकाग्र करने के ढेरों साधन हो सकते हैं। चित्त एकाग्र हो सकता है, क्यों नहीं हो सकता? परन्तु शास्त्र ने यह बात समझाई है कि यदि आप चित्त की एकाग्रता के लिए सात्त्विक विषय को पसन्द करेंगे, सात्त्विक मूर्ति को लेंगे तो सात्त्विकता के साथ चित्त एकाग्र होगा। तामसी मूर्ति पसन्द करेंगे तो तामसिकता के साथ चित्त एकाग्र होगा, राजस मूर्ति पसन्द करेंगे तो चित्त राजसता के साथ एकाग्र होगा। अब जब चित्त समाधिअवस्था में जाएगा तो कुछ प्राप्त हो जाएगा परन्तु उसके मध्य का जो संकीर्णमार्ग है उसमें विद्यमान राजसता, तामसता आपके साथ कोई खिलवाड़ कर सकती है, कोई कठिनाई खड़ी कर सकती है। जैसे हम किसी सुन्दर स्त्री के रूप का ध्यान करें कि हम इस प्रकार से चित्त को एकाग्र करना चाहते हैं परन्तु चित्त एकाग्र नहीं हुआ और कोई कामवासना जाग गई तो? अध्ययन करते समय भी ध्यान उसके रूप पर गया तो? ऐसे में चित्त एकाग्र हुआ कि भटक गया? यह एक झमेला हो गया। अत: चित्त एकाग्र करने के लिए भी किसी सात्त्विक मूर्ति का ध्यान धरेंगे तो चित्त की एकाग्रता सात्त्विकता के साथ होगी। चित्त की एकाग्रता के लिए किसी भैंस का ध्यान करें, बहुत अच्छी बात है। चित्त एकाग्र क्यों नही हो सकता? निरन्तर, भैंस के सींग कैसे हैं, भैंस का मुँह कैसा है, भैंस के चार पैर कैसे हैं, भैंस की पूँछ कैसी है, भैंस किस प्रकार कीचड़ में पड़ी है - इन सभी बातों पर चित्त को एकाग्र करें। चित्त एकाग्र हो जाएगा। अन्तत: भैंसवाली तामसता मार्ग में आई तो कुछ झंझट पैदा कर सकती है। आप किसी भैया की तरह दूध दुहने लग जाएंगे। यह जोखिम भरा है।

अत: श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं ''फलम् एकम् अबाह्यत:'' - यह जो प्रक्रिया बता रहे हैं उसकी सम्पूर्ण जिम्मेदारी उनकी है - यह हम किस प्रकार जान सकते हैं, क्या कर सकते हैं? वेदशास्त्र के संदर्भ में मूल बात इतनी ही है - ''फलम् एकम् अबाह्यत:'' - अत: त्याग की प्रक्रिया यदि वेद से प्रतिकूल है

तो अपने लिए ग्रहण करने योग्य नहीं और चित्त को एकाग्र करने की प्रक्रिया भी अपने लिए अग्राह्य है।

चित्त को सूली पर एकाग्र करें, जिस सूली पर चढ़ाए गए ईसा अपने पाप का प्रायश्चित्त भोग रहे हैं। अब उस पर चित्त एकाग्र करके आप रोएँ, अत्यन्त दीन-हीन बन जाएँ कि हम पापी हैं और हमारे सारे पापों का दंड बेचारे ईसा भोग रहे हैं और फिर करूणा उत्पन्न करके दु:खी हों। चित्त एकाग्र क्यों नहीं हो सकता? ईसाई लोग इस बात की साधना करते हैं। परन्तु इसका परिणाम सत् होगा अथवा दुष्ट परिणाम आएगा, यह मापने का पैमाना हमारे वेद में नहीं है।

यदि आपको इस प्रकार से रोना आ गया तो कैसे मापना? जैसे अपने यहाँ भगवदीय कथाकार प्रतिपल बात-बात में रोते हैं - ऊ हू हू हू...। इसी प्रकार ईसा .... ऊ हू हू हू... मेरे पापों के कारण सूली पर चढ़ गए। अब मेरा क्या होगा? अरे भाई रोने से क्या फायदा, अपने पास तो वेद का पैमाना है न! वेद के अनुसार माप कर हम बता सकते हैं। जो वेद से प्रतिकूल ही है उसकी ग्राह्यता अथवा अग्राह्यता हम किस प्रकार बता सकते हैं? कोई भी कार्य अपराध है कि नहीं, यह जानकारी कानूनी नियम से मिलेगी। अब यदि भारतीय कानून का निर्देशन न करें तो यह कैसे ज्ञात होगा कि कोई कार्य अपराध है कि नहीं?

जैसे बहिन के साथ विवाह करना पाप है। ईसाई धर्म अपना कर किया तो क्या पाप है? ईजिप्ट में देखें, वहाँ के संदर्भ में पाप नहीं है। सहोदरा बहिन के साथ विवाह करते थे। ईसाइयत अथवा बाईबल आदि का संदर्भ देखें - चचेरी बहिन से विवाह करना पाप नहीं है।

दक्षिण भारत की परम्परा और रीति-रिवाजों के अनुसार चचेरी बहिन से विवाह करना पाप नहीं है परन्तु उत्तर भारत की परम्परा देखें तो पाप है। कोई

चीज पाप है कि पाप नहीं है, इसे मापने का कोई पैमाना तो होना चाहिए या नहीं? इस प्रकार त्याग अथवा चित्त की एकाग्रता सफल है अथवा विफल है, उसको मापने का पैमाना हमारे पास वेद है। अत: वेद के नियम से जो नियंत्रित नहीं हो रहा है उस प्रकरण को हम बन्द करके बैठ गए। हम क्यों जानें, जिसने कहा है वह जाने!

प्रश्न : शैव-वैष्णव को लौकिक मोक्ष कैसे कहा है?

उत्तर : यहाँ इस संदर्भ में बात नहीं कह रहे। यहाँ शैव और वैष्णव तंत्रों का संदर्भ बताया गया है। शैव और वैष्णव तंत्रों ने, तंत्र के माध्यम से ऋषियों द्वारा जो शिव की, विष्णु की आराधना की प्रक्रिया बताई गई, उस प्रक्रिया के संदर्भ में लौकिक कहा है। इस अर्थ में नहीं कि शिव अथवा विष्णु लौकिक हैं या वह साधना लौकिक है। साधना अलौकिक है परन्तु जिन ऋषियों द्वारा बनाई गई है वे ऋषि लोक में प्रकट हुए हैं - इस अर्थ में वह लौकिक है। वेद की साधनाप्रक्रिया वाणी द्वारा प्रकट हुई है, वक्ताओं में प्रकट नहीं हुई है इसलिए इस अर्थ में अलौकिक है।

प्रश्न : भक्ति को धर्म क्यों नहीं कह सकते?

उत्तर : मैंने बताया ही है कि धर्म एक अलग चीज है। धर्म क्या है? आपके लिए जो आवश्यक रूप से करणीय है, वह धर्म है। नहीं करते तो अपराध कर रहे हैं। आप भक्ति नहीं करते तो आप अपराधी होते हैं? आप भक्ति नहीं करते तो कोई सजा नहीं है। यदि सजा है तो भक्ति विधर्म है। भक्ति न करने से आपको किसी प्रकार की सजा - शिक्षा नहीं मिलती, परन्तु आप भक्ति नहीं करते, इससे बड़ी सजा और क्या हो सकती है! आप भक्ति नहीं करते यही सजा है। इस रूप में आप भक्ति और धर्म को मानेंगे तो भक्ति और धर्म का भेद समझ में आ जाएगा।

पुष्टिमार्ग में, जैसे, आप भक्ति नहीं करते तो इससे बड़ी कोई सजा है ही नहीं। भक्त न होने से कोई सजा नहीं है। जैसे पुष्टिमार्ग में आप भक्ति करते हैं तो उससे महान - अधिक फल कोई है ही नहीं - ''सेवायां फलत्रयम्, नतु सेवाया: फलत्रयं'' - अर्थात् सेवा करना - यही फल है। सेवा नहीं करते तो विफल है। इसी प्रकार भक्ति करते हैं तो एकदम उचित है। भक्ति नहीं करते तो आप पापी हैं, अर्थात् भक्ति नहीं हो सकती यही पाप है। भक्ति न करने से कोई पाप उत्पन्न नहीं हो रहा अपितु हम भक्ति नहीं कर सकते, यही पुष्टिमार्ग में पाप है। दूसरा कोई पाप ही नहीं है। अत: इस अर्थ में जब समझेंगे तो भक्ति धर्म से स्वतंत्र एक पाँचवां पुरुषार्थ उभर कर आएगा।

प्रश्न : शिव और विष्णु के अलावा अन्य देवताओं का उल्लेख क्यों नहीं किया?

उत्तर : यह शिव - विष्णु के वर्णन से उपलक्षित है। अन्य जो देव हैं वे शिव-परिवार अथवा विष्णु-परिवार के हैं। शिव और विष्णु को परिवार का कर्ता कह दिया है। हिन्दू अविभक्त परिवार (Hindu Undivided Family) का संदर्भ दे दिया। अत: हिन्दू अविभक्त परिवार (Hindu Undivided Family) के सभी सदस्य आ गए न! इसी प्रकार उनका भी एक हिन्दू अविभक्त परिवार है। इस प्रकार एच.यू.एफ. के कर्ता का उल्लेख जब कर दिया तो उसमें सभी सदस्य आ गए।

*****

।। सिद्धान्तमुक्तावली ।।

भूमिका :-

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, पुरुषार्थ रूप चार पुरुषार्थों का विवेचन श्रीमहाप्रभुजी के सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में हमने कल देखा। कल मैंने आपको बताया कि भक्ति श्रीमहाप्रभुजी के मत से पाँचवां पुरुषार्थ है और उस पाँचवें पुरुषार्थ को हम न तो धर्म में समाविष्ट कर सकते हैं, न अर्थपुरुषार्थ में समाविष्ट कर सकते हैं, न कामपुरुषार्थ में और न मोक्षपुरुषार्थ में समाविष्ट कर सकते हैं। साथ ही साथ हमने यह भी देखा कि भक्ति को आज की भाषा में हमें बताना हो तो उसके घटक-द्रव्य बताने होंगे। भक्ति किस से बनी, भक्ति का मसाला क्या है- यह सब हमने बालबोध में देखा। तदाश्रय, तदीयत्व का निर्वाह करना है और तदाश्रय-तदीयत्व के निर्वाह के साथ ''स्वधर्मम् अनुतिष्ठन् वै भारद्वैगुण्यम् अन्यथा'' - भी निभाना है जो कि हमारा धर्म है।

एक बात ध्यान से समझें कि हम में कई प्रकार के अभिमान हैं। लौकिक अभिमान और शास्त्रीय अभिमान। लौकिक अभिमान अर्थात् मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं भारतीय हूँ, मैं अभारतीय हूँ, मैं गुरु हूँ, मैं सैनिक हूँ, मैं व्यापारी हूँ अथवा नौकरीपेशा वर्ग का हूँ अथवा श्रमजीवी वर्ग का हूँ - इस प्रकार के जो लौकिक क्रियाकलाप हैं उन क्रियाकलापों का अभिमान। और शास्त्रीय अभिमान अर्थात् क्या? जब शास्त्र किसी संस्कार से इन लौकिक क्रियाकलापों को संस्कृत करे।

आपको ख्याल हो तो प्राचीन समय में लोग गुफा में रहते थे। गुफा में रहकर भी हम जीवनयापन कर सकते हैं। जैसे आप एलीफेण्टा जाएँ या कैनरीकेव्स जाएँ तो गुफा को भी इस प्रकार से बनाया गया है कि उसकी रचना के कारण उस गुफा में भी एक प्रकार के घर जैसी संस्कृति उत्पन्न होती है।

कभी भी एलीफेण्टा या कैनरीकेव्स जा कर देखें तो पता चलेगा कि गुफा तो गुफा है परन्तु उसमें पानी किस प्रकार इकट्ठा होगा, उसका संग्रह किस प्रकार होगा, पानी कहाँ जाएगा, गुफाओं में से किस गुफा में भोजन करना, किस गुफा में प्रार्थना की जाएगी, किस गुफा में शास्त्र का अध्ययन किया जाएगा, किस गुफा में आराम किया जाएगा - इस प्रकार के अनेक विभाग गुफाओं में बने हुए होते हैं। वह क्या है? गुफा का संस्कार है।

गुफा तो गुफा है पर्वत की, परन्तु इस प्रकार से जब हम उसको संस्कृत करें तो गुफा में भी एक प्रकार की रहने की योग्यता अर्थात् निवासस्थल हो जाता है कि रहने के लिए एकदम अच्छी है। तो इस प्रकार से जो निवासस्थल की योग्यता आ रही है वह उसका संस्कार है।

इसी प्रकार जो कुछ भी हमारे लौकिक क्रियाकलाप हैं उन क्रियाकलापों का शास्त्र द्वारा जब संस्कार किया जाता है तब वे क्रियाकलाप संस्कृत हो जाते हैं। अब जैसे कि हमारी माँ होती है, पिता होता है, बेटा होता है, पति होता है, पत्नी होती है तो लोगों में इन सभी सम्बन्धों के कारण एक उत्तरदायित्व आ जाता है। साथ ही हमारे कोई अधिकार आ जाते हैं और कुछ अपने कर्तव्य भी आते हैं, हमारी कोई जवाबदारी आती है। अब शास्त्र के अभाव में भी हम इन कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों को निभा सकते हैं। परन्तु शास्त्र क्या करता है? हमारे इन कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का एक विशिष्टरूप से संस्कार करता है। संस्कार करने का क्या तात्पर्य है?

जैसे गुफा का संस्कार करके उसको रहने लायक बनाया गया अथवा जैसे स्वर्णकार सोने को घड़ कर आभूषणरूप संस्कार करता है इसी प्रकार हमारे जो लौकिक क्रियाकलाप हैं, हमारे लौकिक सम्बन्ध हैं, हमारा लौकिक अभिमान है, जब शास्त्र उनका संस्कार करके बताता है तब वे शास्त्र के हिसाब से त्रिवर्गसाधक पुरुषार्थ हो गए। वे ही लौकिक क्रियाकलाप त्रिवर्गसाधक

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम रूप त्रिवर्ग के साधक पुरुषार्थ हो गए।

ध्यान से समझने की आवश्यकता है कि जैसे हमारी कोई जवाबदारी है, कोई उत्तरदायित्व है तो उस उत्तरदायित्व के समानान्तर हमारे कुछ अधिकार भी हैं। जिस समय हम शास्त्रानुरूप संस्कार के द्वारा अपने उन अधिकारों को संस्कृत करके निभा रहे हैं तो उनमें एक प्रकार की पुरुषार्थरूपता आती है अन्यथा वे लौकिक रह जाते हैं, बेडौल रह जाते हैं। 'संस्कार' का अर्थ उनको गढ़ना। 'असंस्कार' अर्थात् क्या? अनगढ़ होना। उदाहरण के लिए मिट्टी के विषय में कहें तो वह अनगढ़ मिट्टी है। कुंभकार क्या करता है? उसको चाक पर चढ़ा कर उसका संस्कार करके घड़ा बनाता है। जब घड़ा बना दिया तो यह मिट्टी का एक संस्कार हो गया। जिस किसी कारण से मिट्टी पानी को अपने आप में सम्भाल नहीं सकती, पानी को धारण नहीं कर सकती, संस्कारोपरान्त वह भी पानी को धारण करने में समर्थ हो जाती है। इस समय गर्मी की ऋतु चल रही है। हम श्रीठाकुरजी को कुञ्जा धराते हैं, तो कुञ्जा क्या है? वह मिट्टी का ही एक संस्कृत रूप है। कुंभकार ने मिट्टी का संस्कार किया, जिसके कारण मिट्टी अपने में पानी को संभाल कर रख सकी।

इसी प्रकार शास्त्र भी हमारे लौकिक क्रियाकलापों को, लौकिक अभिमान को, हमारी लौकिक जवाबदारी को संस्कार से संस्कृत करता है अर्थात् घड़ता है – उसको अनगढ़ नहीं रहने देता। अतः जो गढ़े गए संस्कार, अभिमान, अधिकार और उत्तरदायित्व हैं, उन सबको श्रीमहाप्रभुजी ने त्रिवर्गसाधक बताया। अर्थात् ''धर्मशास्त्राणि नीतिश्च कामशास्त्राणि च क्रमात् त्रिवर्ग साधकानीति न तन्निर्णय उच्यते'' – ये त्रिवर्ग साधक जो हैं वे पुरुषार्थ हैं। त्रैवर्गिक पुरुषार्थ हैं। त्रैवर्गिक पुरुषार्थ की एक श्रेणी है और चौथा आपवर्गिक पुरुषार्थ अर्थात् मोक्षपुरुषार्थ। श्रीमहाप्रभुजी ने यह भी बताया कि उस मोक्षपुरुषार्थ के भी दो भेद हैं– लौकिक और अलौकिक।

लौकिकपुरुषार्थ के सम्बन्ध में एक बात समझ लेनी चाहिए कि सामान्य रूप से जो लौकिक आपवर्गिक पुरुषार्थ हैं अर्थात् मोक्ष का लोक में प्रारम्भिक अपरिष्कृत रूप समझना हो तो हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि कितने दिन व्यापार किया, कितने दिन नौकरी की, कितने दिन नौकरी–धंधा करके अब निवृत्त हो गए। यह निवृत्त होना एक प्रकार की मुक्ति हो गई। अतः उस अधिकार से, उस जवाबदारी से, उस कर्तव्य से, उस अभिमान से हमें जब निवृत्त होना पड़े तो यह एकदम प्राथमिक–अपरिष्कृत रूप है। वह मुक्त होने का सर्वथा अनगढ़ रूप है, सर्वथा लौकिक रूप है। अपने धंधे–रोजगार से हम निवृत्त हो गए।

जैसे इस धंधे–रोजगार से हम निवृत्त हो जाते हैं उसी प्रकार हमारा शास्त्रीय त्रैवर्गिक धंधा–रोजगार है उससे भी किसी परिस्थिति में निवृत्त होना है या नहीं? शास्त्र हमें यह पूछता है। मैं तुलना की दृष्टि से कह रहा हूँ, लौकिक धंधे के अर्थ में नहीं कह रहा कि जैसे धंधे से हम निवृत्त हो जाते हैं, नौकरी से हम निवृत्त हो जाते हैं उसी प्रकार इस धर्मपुरुषार्थ से, कामपुरुषार्थ से आपको कभी किसी समय निवृत्त होना है कि नहीं? आपकी उम्र की ऐसी कोई सीमा आ रही है कि नहीं? उम्र भी न आए, परन्तु आपके मन की कोई ऐसी अवस्था या थकावट आ रही है कि नहीं कि अब बहुत हो गया, खूब धर्म किया, खूब पैसा कमाया, बहुत सी इच्छाओं को संतुष्ट किया, अब कुछ शान्ति से बैठना चाहिए।

यहाँ ध्यानपूर्वक समझने की बात यह है कि यह जो निवृत्ति की भावना है, वह निवृत्ति की संस्कृत भावना है, वह मोक्षपुरुषार्थ है। दुनिया की जो निवृत्ति है वह एकदम अनगढ़ निवृत्ति है और यह एक चिरस्थायी निवृत्ति है अर्थात् आध्यात्मिक स्तर पर निवृत्ति है। दिव्य स्तर पर निवृत्ति की एक भावना है। यह हमारा इस प्रकार का एक पुरुषार्थ है, इस प्रकार की हमारी

महत्त्वाकांक्षा है। उस महत्त्वाकांक्षा को मोक्षपुरुषार्थ कहते हैं और हम जानते हैं कि प्रत्येक प्राणी, प्रत्येक समाज में, प्रत्येक देश में, प्रत्येक काल में ऐसे अनेक क्षुद्र लोग होते हैं जो वृद्ध होने के बावजूद निवृत्त होना नहीं चाहते। उनके मन के साथ कुछ न कुछ झमेला लगा रहता है, इस कारण वे निवृत्त होना नहीं चाहते। जस के तस उसमें रचे-पचे रहना चाहते हैं, उसमें जुड़े ही रहने की इच्छा रखते हैं।

किसी की धर्मपुरुषार्थ की वृत्ति होती है, किसी की अर्थपुरुषार्थ की वृत्ति होती है, किसी की कामपुरुषार्थ की वृत्ति होती है और उसमें वे मृत्युपर्यन्त रचे-पचे रहना चाहते हैं। यह एक अलग कथा है परंतु जो निवृत्त होना चाहते हैं वे इस कथा को कुछ समय के लिए भूल जाएं। जो आध्यात्मिक स्तर पर निवृत्त होना चाहते हैं, उनकी निवृत्ति को लक्ष्य में रख कर, शास्त्र द्वारा उसे मोक्षपुरुषार्थ माना गया है। कल हमने पंचम पुरुषार्थ के विषय में बात की थी। उसको यदि हम मुक्तिरूप पुरुषार्थ समझें कि अब हमें कुछ नहीं करना, केवल भगवत्सेवा करनी है क्योंकि हमको सभी के सम्बन्ध में मुक्ति प्राप्त हो गई है। इस प्रकार की भगवत्सेवा की वृत्ति मोक्ष पुरुषार्थरूपा भक्ति हो सकती है।

यह बात ध्यान से समझें कि अपने यहाँ श्रीमहाप्रभुजी इन धर्म, अर्थ, काम, मोक्षपुरुषार्थ की भाँति इस प्रकार की भक्ति को पुरुषार्थ नहीं कहते। इन चारों प्रकार की वृत्तियों से कुछ अलग प्रकार की वृत्ति, भक्तिपुरुषार्थ है। जैसे इन चार वृत्तियों के प्रति मेरा जिस प्रकार का अभिमान है, उसी प्रकार मुझे कर्तव्य करना चाहिए। मुझे यह अभिमान है कि मैं डॉक्टर हूँ, तो मुझे क्या करना चाहिए? औषधियों का जो शास्त्र है, जो आयुर्विज्ञान का शास्त्र है उसका अध्ययन करना चाहिए। उसका अध्ययन करके तदनुसार मुझे अपना जीवन जीना चाहिए। मेरा अर्थपुरुषार्थ उससे जुड़ा हुआ होगा कि मेरा व्यवसाय क्या है? तो स्पष्ट है कि मेरा मेडिकल का व्यवसाय है।

यहाँ पुनः ध्यान से समझें कि आपकी कामना क्या है? हम अपनी कामना यह समझें कि रोगी को मूर्ख बनाएँ, बेहोश करके किडनी काट कर बेच दें तो आपने अपना उत्तरदायित्व धर्मपुरुषार्थ न समझ कर अर्थपुरुषार्थ ही समझा। जिस समय आप यह समझ रहे हैं कि मेरा काम यह है कि मैं अपना धर्म निर्वाह करूँ - समाज में मैं डॉक्टर हूँ तो समाज की व्यवस्था के अनुसार मैं अपनी आजीविका जरूर कमाऊँगा पर साथ ही साथ जो रोगी हैं उनको स्वस्थ करने की मेरी कामना है। अब यहाँ देखें कि हमारी कामना का किञ्चित् सुन्दर संस्कार हो गया, त्रैवर्गिक संस्कार हो गया। आपने कुछ सालों तक डॉक्टरी की और उसके बाद आप निवृत्त होना चाहेंगे। तत्पश्चात् आपने पुत्र को डॉक्टर बना दिया, कई विद्यार्थियों को भी आपने डॉक्टर बना दिया कि अब आप लोग काम करें। मैं शान्ति से निवृत्त हो गया। यह लौकिकमोक्ष हुआ।

जैसे यह एक प्रकार का लौकिकमोक्ष है, जैसे त्रैवर्गिक पुरुषार्थ से मुक्त होने की भावना है कि धर्म पर ध्यान नहीं देना, अर्थ पर ध्यान नहीं देना, काम पर ध्यान नहीं देना बल्कि केवल मुक्ति पर ध्यान देना तो यह अपने आत्मा को स्वरूपस्थ बनाना है - ''स्वरूपस्थो यदा जीवः'' - अन्य किसी भी झमेले में नहीं पड़ना है, स्वरूपस्थ हो जाना। तो ''स्वरूपस्थो यदा जीवः कृतार्थः स निगद्यते'' - अथवा चित्त में इस प्रकार की निरुद्धता आ गई जिसको श्रीमहाप्रभुजी ने योग में बताया है कि यम, नियम करने से ''सिद्धे योगे कृतार्थता'' अर्थात् आपका चित्त इतना निरुद्ध हो गया कि अब आप दुनिया में जीवित होने पर भी आपको दुनिया का किसी भी प्रकार का आकर्षण विचलित नहीं कर सकता, आप कृतार्थ हो गए, आप मुक्त हो गए। योगी की मुक्ति का अर्थ क्या? योगी की मनोवृत्ति को विषय आकर्षित नहीं कर सकते अपितु विषय में से योगी अपनी वृत्ति को खींच लेता है यही योगी की मुक्ति है।

हमारी मनोवृत्ति को प्रत्येक विषय आकर्षित कर लेता है। विषयाकर्षण के कारण हम कुछ काम करना चाहते हैं परन्तु हमसे हो जाता है कुछ दूसरा काम। अध्ययन करने बैठते हैं और हमारा ध्यान किसी दूसरी तरफ चला जाता है। यह क्या है? विषय अपनी मनोवृत्ति को आकर्षित करता है। योगी और हममें क्या अन्तर है? योगी विषय में से अपनी मनोवृत्ति को खींच सकता है। मनोवृत्ति को साधने में उसको अभ्यास करना पड़ता है। अत: वह ''सिद्धे योगे'' – अर्थात् अपनी मनोवृत्ति को विषय में से जब खींच लेता है तो योगी के रूप में कृतार्थ हो जाएगा। इस प्रकार का एक मोक्षपुरुषार्थ बताया जाता है।

क्या इन चारों पुरुषार्थ में से भक्ति एक है? श्रीमहाप्रभुजी निषेध करते हैं कि भक्ति इन चारों में से एक नहीं है। भक्ति पंचम पुरुषार्थ है, कैसा पंचम पुरुषार्थ है? यहाँ देखें कि आपके मन की दोनों प्रकार की सम्भावनाएँ हैं। धर्म करने के लिए हमें पैसों को छोड़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती। पैसा कमाने के लिए हमें किसी कामना को असन्तुष्ट रखने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती।

मनुष्य जब त्रैवर्गिक पुरुषार्थ से निवृत्त होता है तो क्या करता है ? प्रत्येक व्यक्ति अपनी किसी न किसी निजी आनुपातिक सृजनात्मकता को उत्पन्न करता है। इतना काम मैं अपना कर्तव्य निभाने के लिए करूंगा। इतना काम मैं पैसा कमाने के लिए करूंगा। यदि हमारे यहाँ रविवार की छुट्टी हो तो रविवार की छुट्टी का अर्थ है कि इस दिन कमाई के, काम के चक्कर में नहीं फंसेंगे। उस दिन घर में अथवा पिकनिक पर जा कर मन को प्रसन्न रखने का प्रयास करेंगे। यह जो पद्धति है उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने परिमाण से सृजनात्मकता करता है कि मैं अमुक प्रमाण में धर्म करूंगा, अमुक प्रमाण में अर्थ करूंगा और अमुक प्रमाण में कामपुरुषार्थ करूंगा। अन्त में

स्वस्थ व्यक्ति किसी न किसी समय इस बात को स्वीकार करेगा कि अब मुझे मोक्षपुरुषार्थ के, फिर वह चाहे लौकिक सन्दर्भ हो या शास्त्रीय सन्दर्भ हो, मुकाम पर आना चाहिए। प्रत्येक स्वस्थ चेतना में किसी न किसी समय यह मुकाम आना चाहिए।

जानवरों में देखें तो यह मुकाम स्वत: आ जाता है। एक अवस्था के पश्चात् जानवर स्वयं सभी झंझटों से दूर हो जाता है, क्योंकि उसके सभी कार्य स्वत: संचालित होते हैं। हमने अपने सभी कार्य, सभी प्रयासों को अपने आप होने देने के स्थान पर ऐच्छिक बना दिया है। इसलिए अपने बहुत से नितान्त स्वाभाविक कार्यों में भी हम स्वैच्छिक अवरोध उत्पन्न कर देते हैं। जैसे सामान्य उदाहरण की बात करें तो स्वाभाविकरूप से हमें नींद आती है। सहजरूप से जो नींद आती है उसको भी हम स्वैच्छिकरूप से लाने की कोशिश करते हैं। स्वाभाविकरूप से हमें भूख लगती है और भूख लगना एक बहुत स्वाभाविक कार्य है, शरीर के भीतर किसी इच्छा के कारण भूख नहीं लगती। भूख लगनी हो तो लग जाती है। परन्तु कोई चीज, जैसे रसगुल्ला, ढोकला हमें प्रिय लगते हों तो भूख न लगती हो तो भी हम एक ऐच्छिक भूख लगाने का प्रयास करते हैं। ढोकला सामने हो तो खाये बिना कैसे चलेगा ?

अत: यह बात समझें कि इस प्रकार के अपने बहुत से कार्य स्वाभाविक हैं परन्तु उनको हमने अपनी बुद्धि से स्वैच्छिक बना दिया है। यह किसी घोड़े या गधे ने नहीं बनाये बल्कि मनुष्य ने बनाये हैं, अधिकांश स्वाभाविक कार्यों को स्वैच्छिक बना दिया। यह मनुष्यता है कि बुद्धिमत्ता है !! इससे क्या होता है कि वृद्धावस्था में यदि स्वैच्छिक कार्य करने की आदत हो तो उस उम्र में तकलीफ उत्पन्न होती है। जिस समय नींद आती हो तब सो जाएं और इच्छा से सोएं तब क्या होता है ? किसी समय बहीखाते का काम, हिसाब का काम बढ़ गया हो और कोई दूसरा तनाव आ गया तो नींद आने के समय

नींद नहीं आती है और स्वेच्छा से काम करना होता है तब सोने की इच्छा हो तो क्या होता है ? इससे हमें तकलीफ होती है।

जब हमको नींद नहीं आती तो नींद आने के स्वाभाविक कार्य को ऐच्छिक बनाने का प्रयास करना होता है। तब किसी परिस्थिति में हम उसे ऐच्छिक की भांति करना चाहें और नींद इच्छा से नहीं आती तो तकलीफ होती है। जानवर को खाने की बहुत अच्छी समझ होती है कि कितना खाना और कितना नहीं खाना। जिस समय हम काम को इच्छातंत्र के अधीन कर लेते हैं और फिर कभी हम अपेक्षा करें कि जब हम वह कार्य करते हुए थक जाएं तब हमें अनिच्छा से अर्थात् स्वाभाविक रूप से नींद आए तो किस प्रकार आएगी!

जब इच्छातंत्र के अधीन कर लिया तब इच्छा में स्वयं में गड़बड़ शुरू हो जाती है। फिर हम विचार करते हैं कि जैसे हमें सोचे-विचारे बिना नींद आती थी वैसी नींद वापस आए परन्तु आपने समझे-विचारे बिना आनेवाली नींद को इच्छापूर्वक करके अपने को कितना अधिक इच्छा के अधीन बना दिया। इसके बाद वह इच्छा अपने आप उत्पन्न होना बन्द हो जाती है। फिर हमें वापस परेशानी होती है कि अब नींद क्यों नहीं आती ? देर हो गई इसलिए !

सामान्य तौर पर समझें कि एक भूख की वृत्ति है, जानवर की भूख की वृत्ति ऐसी होती है कि पेट भर जाने पर वह अपने आप खाना बन्द कर देता है, परन्तु ढोकला, फाफड़ा और गांठिया के कारण हमने भूख को इच्छातंत्र के अधीन बना दिया। अत: एक उम्र के बाद डायबिटीज बढ़ता है और ब्लडप्रेशर बढ़ता है। उस समय डॉक्टर कम खाने के लिए कहता है तो हम कहते हैं कि थाली में परोसे जाने के बाद इच्छा हो जाती है। मन उसमें चला जाता है क्योंकि इच्छातंत्र के अधीन बना दिया। इच्छातंत्र शैतान है। अधीन होने के बाद

प्राकृतिक रूप से निवृत्त होना चाहिए परन्तु ऐसा नहीं होता और फिर हम परेशान होते रहते हैं।

ऐसा नहीं है कि डॉक्टर की बात हमें समझ में नहीं आती। डॉक्टर की बात समझ में आती है कि नमकीन नहीं खाना, नहीं तो प्रेशर बढ़ जाएगा, मिठाई नहीं खाना अन्यथा डायबिटीज बढ़ जाएगी, तली हुई चीजें नहीं खाना वरना रक्त के थक्के बढ़ जाएंगे - ये सारी बातें समझ में आती हैं परन्तु हमने खाने की वृत्ति को इच्छातंत्र के अधीन बना दिया, फिर जब हमें डॉक्टर कहता है कि ये सब मत करो तब तक तो बहुत देर हो गई ! कई दिनों तक हमने खाने की वृत्ति को इच्छा के अधीन रख कर ही खाया है। फिर वह इच्छा अपने ऊपर हावी हो जाती है।

कई बार टैक्सीवाले बहुत अच्छी बातें कहते हैं। कई टैक्सीवालों के मुँह से मैंने ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया है। टैक्सी का स्टीयरिंग शैतान का चक्कर है। या तो आप उस पर हावी हो जाएँ नहीं तो वह आप पर हावी हो जाएगा। इसी प्रकार इच्छा भी एक शैतानी चक्कर है यदि हम इच्छा पर हावी नहीं होते तो वह हम पर हावी हो जाती है।

उस समय हम दु:खी होते हैं कि भाई बात सच्ची थी पर इच्छा हावी होते हुए दिखती नहीं थी, लेकिन इच्छा होती है तो क्या करें? इच्छा को वापस अपने अधीन लाना। इच्छा का कोई कार्य ही न रह जाए। हम स्वयं अपने शरीर में स्वाभाविक रूप से होते कार्यों को, जो इच्छा के अधीन नहीं थे, अच्छे भले कार्यों को हम इच्छा के अधीन कर लेते हैं। मनुष्य समाज का जो समग्र व्यवहार है उस पर ध्यान दें तो बात समझ में आएगी कि समग्र समाज का व्यवहार हममें इस प्रकार का है कि अपनी अनिच्छा होने पर भी जो कार्य (सम्पन्न) होते हैं उन सबको हम इच्छा के अधीन करना शुरू कर देते हैं और उसके बाद अधिकांश कार्यों को इच्छा के अधीन करते-करते वापस वह इच्छा ही हम पर

हावी हो जाती है और फिर हम विचार करते हैं कि इच्छा पर हमारा नियंत्रण होना चाहिए।

इस प्रकार वापस ऐसा शैतानी चक्कर शुरू हो जाता है कि उस इच्छा पर नियंत्रण ही नहीं होता। क्योंकि हमने अपनी प्रत्येक इच्छा के सामर्थ्य से प्रत्येक वृत्ति पर नियंत्रण प्राप्त कर लिया है। फिर कोई ऐसा सामर्थ्य नहीं रहता जिससे हम इच्छा पर नियंत्रण प्राप्त कर सकें। प्रत्येक स्वस्थ जानवर में मुक्ति की इच्छा स्वत: उत्पन्न होती है। हमने अपने त्रैवर्गिक पुरुषार्थ सिद्ध करने में अपनी देह को व्यस्त रख-रख कर मुक्ति प्राप्त करने की जो स्वत: वृत्ति हम में जाग्रत होनी चाहिए थी उस पर नियंत्रण प्राप्त कर लिया।

ऐसा करने से अपनी मृत्यु होने तक भी हमारी वासनाएँ शेष रह जाती हैं। भूत-प्रेत हो कर भी हम कुछ न कुछ इच्छा करते ही रहते हैं परन्तु इच्छा पर हमारा नियंत्रण नहीं होता। यह अमुक्ति की अवस्था है। इस प्रकार के चारों पुरुषार्थों में भक्ति को समाविष्ट करना श्रीमहाप्रभुजी को अभीष्ट नहीं था। श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि धर्म के, अर्थ के, काम के अथवा मोक्ष के अभिमान से, जिस किसी भी अभिमान के कारण हमारे कुछ अधिकार होते हैं, उन अधिकारों के कारण कुछ कर्तव्य भी होते हैं।

जैसे मैं विचार करूँ कि मैं डॉक्टर हूँ तो मेरा अधिकार है कि मैं किसी का इलाज कर सकूँ। जब मेरा अधिकार किसी का इलाज करना है तब मेरा यह कर्तव्य भी है कि मैं रोगी को स्वस्थ करूँ। जब वह मेरा कर्तव्य हो जाता है तब उसमें से किसी अर्थपुरुषार्थ, उसमें से किसी कामपुरुषार्थ को भी प्रकट करने का मुझे विशेष अधिकार प्राप्त हो जाता है। मुझे उस प्रकार की महत्ता प्राप्त होती है कि इससे आप अपना अर्थपुरुषार्थ और कामपुरुषार्थ सिद्ध करें। उसमें से वापस मुक्त होने का भी कोई एक मुकाम आना चाहिए।

यह पद्धति असंस्कृत रूप में आती है तो लौकिक हो जाती है और शास्त्रीय संस्कार से संस्कृत हो कर आती है तो उसे 'त्रैवर्गिक पुरुषार्थ' कहा जाता है। अब इसमें ध्यान से देखें तो यह भी प्रश्न उठता है कि इन चारों पुरुषार्थों को हम एक साथ तो नहीं कर सकते। सामान्य पद्धति ऐसी है कि त्रैवर्गिक पुरुषार्थ का एक विभाग है और आपवर्गिक अर्थात् चौथा पुरुषार्थ लोक में अथवा शास्त्र में एक अलग विभाग है। एक ऐसा भी प्रयास हो सकता है कि चारों पुरुषार्थों को भी कोई व्यक्ति थोड़े-थोड़े परिमाण में आनुपातिक रूप से आचरण में ला कर निभाना चाहे तो निभा सकता है।

थोड़ा धर्म करे, थोड़ा बहुत अर्थ कमाए, थोड़ा बहुत काम करे और थोड़ा बहुत मुक्ति का पुरुषार्थ भी वह साथ-साथ निभा सकता है। इसके लिए परिमाण के अनुसार कैसे करना? यह सब व्यक्तिगत फेर-बदल पर आधारित होगा। व्यक्तिगत ऐसी किसी भी प्रकार की आनुपातिकता परिस्थितिजन्य होती है। वस्तुत: इसी परिस्थिति को ध्यान से समझने की आवश्यकता है।

भक्ति इन पुरुषार्थों के साथ भी उत्पन्न हो सकती है कि भक्तिपुरुषार्थ आप एकदम भक्ति में डूब कर करें अथवा भक्ति को इन पुरुषार्थों के साथ किसी अनुपात में करें। ये सभी सम्भावनाएँ आपके समक्ष सुलभ हैं। यहाँ एक बात खास तौर पर ध्यान में रखने लायक यह है कि यदि आपको भक्ति के अतिरिक्त- भक्ति जिस अभिमान से उत्पन्न हो रही है उस अभिमान के अतिरिक्त - दूसरा भी कोई अभिमान है तो वह पुरुषार्थ भी आपको करना पड़ेगा और वह अभिमान नहीं है तो मात्र भक्ति भी कर सकते हैं।

जैसे मोक्ष के विषय में बताया कि त्रैवर्गिक पुरुषार्थ करते-करते मनुष्य के अंदर एक ऐसी अवस्था विकसित होनी चाहिए जिसके करने से वह सहजता से विचार करने लगे कि अब बहुत हो गया। धंधा करते-करते, बैंक में

नौकरी करते-करते, डॉक्टरी करते-करते एक ऐसी अवस्था आ जाए कि जिस उम्र में व्यक्ति ऐसा विचार करने लगे कि अब मुझे निवृत्त होना चाहिए, अब बच्चें को पढ़ा-लिखा कर तैयार कर दिया है, अब बच्चे लोग संभाल लेंगे, अब मुझे क्या करना है - शान्ति से बैठना है।

जैसे यह अवस्था निवृत्ति की आती है उसी प्रकार त्रैवर्गिक पुरुषार्थ में भी कोई निवृत्ति की अवस्था आनी चाहिए। नहीं आती तो व्यक्तिगत रूप से एक साथ चारों पुरषार्थों की आनुपातिकता भी निर्मित हो सकती है। परन्तु यह बात हम में हमारा अभिमान कैसा है इस बात पर निर्भर करती है। हम में धर्मपुरुषार्थ का अभिमान अधिक है, अर्थपुरुषार्थ का अभिमान अधिक है, कामपुरुषार्थ का अभिमान अधिक है अथवा मोक्षपुरुषार्थ का अभिमान अधिक है या मुक्त होने का अभिमान अधिक है - इनमें से हमारे लिए कौनसा पुरुषार्थ मुख्य बनेगा और कौनसा पुरुषार्थ गौण रहेगा?

जैसे मैं व्यापारी हूँ, मुझे धंधा करना है, कमाना है, क्योंकि मेरा अभिमान एक व्यापारी होने का है। तो समझ लें कि अर्थपुरुषार्थ मुख्य हो गया और कामपुरुषार्थ, धर्मपुरुषार्थ और मोक्षपुरुषार्थ इसकी तुलना में गौण हो जाएंगे। मुझमें धर्म का अभिमान अधिक है तो मेरे लिए धर्मपुरुषार्थ मुख्य हो जाएगा। अर्थ, काम और मोक्षपुरुषार्थ उसकी तुलना में गौण बन जाएंगे। मेरा अभिमान मुक्ति के लिए अधिक है, मुझे मुक्त होना है तो मोक्षपुरुषार्थ मेरे लिए मुख्य पुरुषार्थ होगा तथा धर्म, अर्थ, कार्म पुरुषार्थ गौण हो जाएंगे।

जैसे अपने यहाँ तमाशेबाजी में ब्रह्मसम्बन्ध दे-दे कर हमने ऊटपटांग बातें समझा दीं कि पुष्टिमार्ग में सेवा कर्तव्य है और वह सेवा आपसे नहीं हो सकती। क्योंकि आपको यदि याद हो तो ठठाई हॉल में प्रश्न आया था कि सुबह साढ़े सात बजे उठकर धंधे पर जाना पड़ता है और रात को साढ़े दस बजे वापस

आता हूँ फिर किस प्रकार सेवा करनी? अब देखो! ऐसे लोगों को ब्रह्मसम्बन्ध लेना ही नहीं चाहिए लेकिन हमने ब्रह्मसम्बन्ध दे दिया है। उसमें ऐसा अभिमान जाग्रत कर दिया है कि मैं वैष्णव हूँ और मेरा मुख्य कर्तव्य सेवा है। अब सेवा तो मेरा मुख्य कर्तव्य है परन्तु सेवा करने का समय नहीं। समय नहीं सो तो नहीं परन्तु यथार्थ में सेवा करने की इच्छा भी नहीं। इसके बावजूद येन-केन-प्रकारेण मुझे सेवा करने का संतोष प्राप्त करना है। ऐसे में मंदिरों की दुकानदारी चल निकली क्योंकि वापस सीधे ही अपने सामने प्रस्ताव आएगा कि सेवा किस प्रकार करनी? मंदिर की दुकान सुबह से खुलती है और दोपहर तक खुली रहेगी। वापस शाम को खुलती है और रात तक खुली रहेगी। दर्शन कर जाओ। भेंट की राशि लिखा दो और धंधे पर जाओ।

हम भक्ति को गौण बना कर भक्ति का पुरुषार्थ सिद्ध करते हैं परन्तु हमारा मुख्य पुरुषार्थ क्या है- धंधा करना। भक्त होने का अभिमान मन में रखते हैं। उसको आनुपातिकरूप में किस प्रकार देखते हैं? अनुपात हम इस प्रकार बैठाते हैं कि धंधा किए बिना काम कैसे चले? इस जमाने में धंधा तो करना ही पड़ता है। जब धंधा करना पड़ता है और उसको छोड़ भी नहीं सकते तो क्या छोड़ देते हैं? सेवा। सेवा को छोड़कर धंधा करना है। अब वह सेवा छूटती नहीं है। क्योंकि हमें ब्रह्मसंबंध के द्वारा अभिमान हो गया है कि ब्रह्मसंबंध लिया है तो सेवा तो हमें करनी है। और सेवा किस प्रकार करनी कि जहाँ से होती है वहाँ से करनी।

उदाहरण के लिए हमने अभिमान रखा कि अच्छा भोजन करना है तो अच्छा खाना अभिमान हो गया। अब अच्छा खाने में, पत्नी भी कमाने जाती है और हम भी कमाने जाते हैं तो उसमें अच्छा खाना किस प्रकार बने? घर में रसोई कौन बनाए? अत: हम उसको इस प्रकार संतुष्ट करते हैं कि हम दोनों मियाँ-बीवी होटल में जा कर अच्छा खाना खा लेंगे। इस प्रकार हमारा खाने का

पुरुषार्थ गौण हो गया और कमाने का पुरुषार्थ प्रबल - मुख्य हो गया।

इसी प्रकार भक्ति का पुरुषार्थ गौण हो गया और किसी अर्थ का, काम का, किसी धर्म का पुरुषार्थ प्रबल - मुख्य हो गया तो इस प्रकार की आनुपातिकता भी हो सकती है, यह बात नहीं है कि नहीं हो सकती। इसमें क्या उचित और क्या अनुचित है, इस बात की मीमांसा मैं नहीं कर रहा। परन्तु किस प्रकार अलग-अलग अनुपात हो सकता है और उस आनुपातिकता के विषय में श्रीमहाप्रभुजी का अभिप्राय क्या है, मात्र उतना ही समझाना चाहता हूँ कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के साथ भक्ति का पुरुषार्थ इस प्रकार करना अथवा उन सबसे आप निवृत्त हो गए। उक्त अभिमान के कारण हमें धर्म प्राप्त हो रहा है।

सरल भाषा में समझें कि आपमें अभिमान है कि आप किसी के पिता हैं, आपको अभिमान है कि आप किसी के पति हैं, आपमें अभिमान है कि आप किसी की पत्नी हैं। अब जैसे ही यह अभिमान उत्पन्न हुआ वैसे ही अधिकार उत्पन्न होगा कि मैं पति हूँ, मैं पिता हूँ, मैं मित्र हूँ तो मेरा अधिकार है। पुत्र के रूप में, पिता के रूप में, पति के रूप में, भाई के रूप में आप अधिकार का दावा करेंगे तब कर्तव्य भी आपके सिर पर आ पड़ेंगे। यदि ये आपके अधिकार हैं तो आपके कर्तव्य भी हैं। अब इन कर्तव्यों का निर्धारण स्वत: करना या शास्त्रानुमोदित रूप में करना। शास्त्र के आधार पर आपने अपना कर्तव्य समझा तो वह तुरन्त ही धर्मपुरुषार्थ बन जाएगा। इसी प्रकार ऐसे अभिमान से धर्म होगा, ऐसे ही अभिमान से अर्थ होगा।

अभी कल-परसों कोई मुझे बता रहा था। बहुत मजेदार बात है। सरकार ने बहुमंजिला इमारतों की तरह बड़े-बड़े मकान बना दिए हैं। महाराष्ट्र हाऊसिंग बोर्ड की तरह कई लोगों ने उसमें अपना नाम लिखा दिया। उनको

फ्लेट भी मिल गया। पुराना घर छोड़ कर नए घर में रहने के लिए फ्लेट मिल गया। उस फ्लेट को बेच कर वापस अपने घर में जहाँ थे वहाँ चले गए और कमाई कर गए। इसलिए मूल अभिमान यह नहीं था कि हमें अच्छे घर में रहना है बल्कि अभिमान यह था कि भाई लॉटरी में नम्बर लग जाएगा इसलिए फ्लेट के लिए नंबर लगाओ। वहाँ उनका नम्बर लग कर फ्लेट आवंटित हो गया परन्तु रहने के लिए वे वहीं गए जहाँ पहले रहते थे। फ्लेट ले-ले कर झोंपड़ीवाले वापस अपनी झोंपड़ियों में चले गए।

उक्त अभिमान क्या है और उसके अनुसार अधिकार क्या हैं, उसके अनुसार कर्तव्य क्या हैं? यह सब हमारे जीवन के कार्यक्षेत्र का निर्णय करते हैं। अत: इसी प्रकार धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का जो अभिमान है उस विषय में श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि आप उसे लौकिक तरीके से पूरा न करें। ''स्वधर्मम् अनुतिष्ठन् वै भारद्वैगुण्यम् अन्यथा'' - शास्त्र के अनुसार वह अभिमान यदि होगा तो शास्त्र आपका कोई अधिकार मानने के लिए तैयार है। आपके अन्दर यह अभिमान है कि आप पिता हैं तो शास्त्र आपका यह अधिकार मानता है कि आप पुत्र को कुछ कह सकते हैं। पुत्र का निर्वाह करना आपका अधिकार है। जब आपका अधिकार है तो आपका पुत्र के पालन-पोषण का कर्तव्य भी होता है। जब पुत्र का पालन-पोषण करना आपका कर्तव्य है तो पुत्र का भी आपके प्रति कुछ कर्तव्य होता है। इस प्रकार प्रत्येक चीज पारस्परिक रूप से सम्बद्ध है। श्रीमहाप्रभुजी इस बात को केन्द्र में रखकर कह रहे हैं कि तुम्हारे भीतर कौनसा अभिमान है वह मैं तय नहीं कर रहा हूँ, वह तुम्हें ही तय करना है। ध्यान से समझें कि मनुष्य के भीतर अभिमान है कि मैं गृहस्थ हूँ तो शास्त्र आपका अधिकार मानेगा कि आप गृहस्थी हैं। इसलिए सभी अधिकार आपको दिए जाते हैं। इस अभिमान के अनुरूप आपको गृहस्थी के अधिकार मिलेंगे और वे आपको उसके योग्य बना देंगे।

शास्त्र के अनुरूप गृहस्थी के कर्तव्य निभाने पड़ेंगे। आप गृहस्थी के अधिकार को भोगना चाहते हैं परन्तु कर्तव्य नहीं निभाएंगे तो शास्त्र आपको पापी बताएगा कि तुम पापी हो। क्योंकि आप अधिकार भोगना चाहते हैं परन्तु कर्तव्य निभाना नहीं चाहते। अत: इस प्रकार प्रत्येक चीज सहसम्बद्ध है और वह भक्त के विषय में भी जुड़ी हुई है, यह बात नहीं भूलेंगे। यदि भक्त भी किसी प्रकार का अभिमान रखता हो तो उसके साथ अधिकार और कर्तव्य की बात लागू होती ही है फिर आप यह नहीं कह सकते कि मेरा काम तो मंदिर में दर्शन करने, प्रसाद लेने और फिर धंधे पर जाने जितना है। ऐसा है तो भाई इस अभिमान(भक्त होने के) को छोड़ दें।

इस अभिमान को स्पष्ट रखें, यदि आपको भक्त होने का अभिमान रखना है तो उसे स्पष्ट रखें। भक्त होने का अभिमान हमें ब्रह्मसंबंध होने के कारण प्राप्त हुआ है और वह अभिमान कौनसा है? वह अभिमान है 'दासोऽहम्' का। ब्रह्मसंबंध लेने के कारण 'दासोऽहम्' का अभिमान प्राप्त हुआ तो 'दासोऽहम्' का अभिमान प्राप्त होने के कारण हमें कोई अधिकार मिल रहा है। प्रभु के साथ हमारे 'दासोऽहम्' वाले व्यवहार में जो अधिकार आता है तो साथ ही साथ कर्तव्य भी आता है। उस कर्तव्य के रूप में सेवा आती है। उस कर्तव्यरूप सेवा में आपको तय करना पड़ेगा कि इसके अतिरिक्त हमारे कितने अभिमान हैं? यदि आपके दूसरे किसी प्रकार के अभिमान हैं तो उनको आप आनुपातिक रूप से निभाएँ - ''स्वधर्मम् अनुतिष्ठन् वै भारद्वैगुण्यम् अन्यथा।''

यदि कोई अभिमान नहीं है तो श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि चिन्ता की कोई बात नहीं है। यदि आपको ये सभी अभिमान नहीं हैं और आपको मात्र यही अभिमान है कि मैं प्रभु का दास हूँ तो फिर ढोंग न करें कि वैसे तो परम भगवदीय दासानुदास हूँ परन्तु धंधे पर जाए बिना कैसे चले? फिर यह तो

झमेला हो गया न! लाभ कुछ और ले रहे हैं और काम कुछ दूसरा ही कर रहे हैं। अभिमान एक है और करते हैं कुछ दूसरा, इस प्रकार तो सबके साथ छल कर रहे हैं। ऐसे नहीं चलेगा। सफाई से बात को समझें।

जिस प्रकार का आपके भीतर अभिमान है उस प्रकार का आपका अधिकार मान्य है। जिस प्रकार का आपका अधिकार मान्य है उस प्रकार का कर्तव्य भी आपके गले पड़ रहा है और जिस प्रकार का कर्तव्य आपके गले पड़ रहा है उसी कर्तव्य को निभाते हुए आपको भक्तिपुरुषार्थ करना है। यदि आपमें उस प्रकार का अभिमान नहीं है तो फिर उस प्रकार का अधिकार भी मान्य नहीं रहता और उस प्रकार का अधिकार नहीं तो उससे सम्बन्धित कर्तव्य भी आपका नहीं रह जाता।

जैसे गृहस्थ होने का अभिमान निवृत्त हो गया तो शास्त्र कहता है ''**यदहरेव विरजेत् तद हरेव् प्रव्रजेत्**'' - आपने संन्यास ले लिया। संन्यास लेने के बाद आपका बेटा जी रहा है या मर रहा है, आपकी पत्नी जी रही है या मर रही है, उन्हें भोजन मिल रहा है या भूखे मर रहे हैं - अब वह आपका कर्तव्य नहीं है। आप मुक्त हो गए। अब बच्चे उनको संभालेंगे। बेटों-लड़कों के लिए क्या करना है वह आपका कर्तव्य नहीं रहा। परन्तु इससे पहले यदि आप ऐसा अभिमान रख रहे हैं कि मैं गृहस्थी हूँ, मैं पिता हूँ, मैं पति हूँ और फिर आप ऐसा कहें कि वे खा रहे हैं या भूखे मर रहे हैं, उनके लिए भगवान विश्वम्भर हैं, उसमें मैं कौन हूँ तो आपको गृहस्थी होने का अभिमान किसलिए रखना चाहिए? भगवान की गृहस्थी के वे गृहस्थ होंगे, आप किसलिए गृहस्थ होने का अभिमान रख रहे हैं ? आप यदि गृहस्थी का अभिमान रख रहे हैं तो आपको छोटे-बड़े भगवान होने का एक अधिकार मिल रहा है कि मैं इस घर का भगवान हूँ (I am the Lord in this house)। ऐसा कहते हैं न कि इस घर का मालिक मैं हूँ और मेरी पत्नी ने मुझे यह अधिकार दिया है कि सबको कह दो

कि इस घर का मालिक मैं हूँ। यह बात समझनी पड़ेगी।

इस प्रकार से बात को समझेंगे तो यह सेवाकथा का एक परिपूर्ण प्रतिरूप (Perfect Model) श्रीमहाप्रभुजी ने बालबोध से हमें समझा दिया। शिव और विष्णु के संदर्भ से हमें समझा दिया है कि ''तदाश्रय-तदीयत्व-बुद्ध्यै किञ्चित् समाचरेत् स्वधर्मम् अनुतिष्ठन् वै भारद्वैगुण्यम् अन्यथा'' - यह सूत्र कोई व्याकरण पढ़े तो समझेगा कि वह सूत्र यहाँ अनुवृत्त हो रहा है। जैसे 'इकोयणचि' में अचि किस प्रकार अनुवृत्त हो रहा है? 'इकोयण' निवृत्त हो रहा है और 'अचि' अनुवृत्त हो रहा है। इस प्रकार इतना ही अंश यहाँ अनुवृत्त हो रहा है। ''तदाश्रय-तदीयत्व-बुद्ध्यै किञ्चित् समाचरेत्, स्वधर्मम् अनुतिष्ठन् वै भारद्वैगुण्यम् अन्यथा'' - यदि आपको इस विषय का कोई अभिमान है तो शास्त्र के आधार पर अपने अधिकार को मान्य रखें। अधिकार के अनुसार आप अपने कर्तव्य को निभाएँ और उस कर्तव्य को निभाते हुए आप तदाश्रयी और तदीय बनें। श्रीमहाप्रभुजी ने बालबोध में भक्ति का यही आदर्श प्रस्तुत किया है।

यहाँ एक बात ध्यान से समझने की आवश्यकता है कि शिव और विष्णु के संदर्भ में जो तदाश्रय - तदीयता की बात कही गई थी उसमें श्रीमहाप्रभुजी ने मोक्षपुरुषार्थ के प्रकार से भक्ति को इसलिए निरूपित किया कि जब आपको परत:मोक्ष अभिलषित है तो परत:मोक्ष किसी अभक्त को नहीं मिलता। कभी आश्रयविहीन को नहीं मिलता, अनाश्रित को परत:मोक्ष नहीं मिलेगा। यदि आपको अनाश्रित रहना है, आपको अभक्त रहना है तो शास्त्र के आधार पर आपके पास स्वत: मोक्ष की सभी साधनाएँ और सभी द्वार खुले हैं। यदि आपमें यह अभिमान है कि हमें किसी अन्य से मोक्ष किसलिए प्राप्त करना चाहिए तो ''**उद्धरेद् आत्मना आत्मानं न आत्मानम् अवसादयेद्**'' - जैसे कल मैंने आपको बुद्ध की बात बताई थी न - ''**अत्ताहि अत्तनो नाथ**'' -

आत्मा का नाथ और कौन हो सकता है? आत्मा का नाथ आत्मा स्वयं ही है। ''**अत्ताहि अत्तनो गति**'' - आत्मा ही आत्मा की गति है। आत्मा को अन्यत्र कहाँ जाना है?

यदि आपके हृदय में इस प्रकार की बुद्धवाली मस्ती आप रख रहे हैं तो आपको परत: मोक्ष की दरकार ही नहीं रखनी चाहिए। परत:मोक्ष की आपको दरकार है और आप वापस यह कहें कि हम उसके आश्रित नहीं रहेंगे, उसके तदीय नहीं बनेंगे, तदाश्रित नहीं होंगे तो आप दोनों पक्ष ग्रहण कर रहे हैं कि नहीं? इसे दूर करने के लिए श्रीमहाप्रभुजी ने यहाँ मोक्षपुरुषार्थ के अन्तर्गत भक्ति को महत्त्वपूर्ण पताका के रूप में निरूपित किया है। मैंने आपको पताका की बात बताई थी तो उसी प्रकार पताका के रूप में निरूपित किया और भक्ति को निरूपित करते-करते श्रीमहाप्रभुजी ने एक ऐसी जबरदस्त सावधानी बताई है कि भक्ति करने के साथ-साथ आप अपने अभिमान के प्रति उपेक्षित न हो जाएँ कि आप अभिमान भी रखें और अपना कर्तव्य भी न निभाएँ। तात्पर्य कि दोनों बातें एक साथ नहीं चलेंगी।

आप गृहस्थ का अभिमान रख रहे हैं तो आपको गृहस्थी निभानी पड़ेगी। गृहस्थ होने का अभिमान छोड़ दिया तो गृहस्थी के कर्तव्य के रूप में आपका घर के प्रति कोई कर्तव्य नहीं रह जाता। भारतीय होने का अभिमान रख रहे हैं तो भारतीय नागरिक के जो कर्तव्य हैं वे आपको निभाने पड़ेंगे। आप कर्तव्य नहीं निभाना चाहते तो पहले भारतीय नागरिक होने का अभिमान छोड़ दें। अभिमान छोड़ने का अर्थ क्या है? अभिमान छोड़ने का सीधा अर्थ यह है कि उसके बाद आप भारतीय नागरिक की हैसियत से प्राप्त होनेवाली किसी भी सुविधा के लिए हक या अधिकार की मांग नहीं कर सकते।

जैसे आपके यहाँ नल की पाईपफिटिंग खराब हो गई है। आप नगरपालिका को फोन करते हैं कि हमारे नल की लाईन में पानी अच्छी तरह

नहीं आ रहा है, बिजली की आपूर्ति ठीक से नहीं हो रही है, बिजली कट गई है और सम्बन्धित कर्मचारी नहीं आते तो आप उनके साथ झगड़ा नहीं कर सकते कि हमने कई दिन से शिकायत की हुई है परन्तु आजतक क्यों नहीं आए? नहीं आए तो आप यहाँ शिकायत करनेवाले कौन हैं? यहाँ आपका अधिकार क्या है? आप अनधिकृत रूप से रह रहे हैं तो आपका अधिकार क्या है? यह तो स्पष्ट करेंगे कि नहीं? अत: जब आप अधिकार स्पष्ट करेंगे तब आपके कर्तव्य का प्रश्न आ जाता है कि यदि आपको बिजली का उपयोग करना है तो आपको टैक्स भरना पड़ेगा, यदि आपको पानी का उपयोग करना है तो टैक्स भरना पड़ेगा और यह आपका कर्तव्य हो जाता है। आपको अधिकारों का उपयोग नहीं करना है तो पहले उनसे सम्बन्धित कर्तव्यों को छोड़ दें। आपको बिजली नहीं चाहिए तो पहले उसका कर्तव्य छोड़ दें। कौन कहनेवाला है कि आप बिजली का टैक्स भरें। आप कहेंगे कि हमें टैक्स नहीं भरना, हम दिन के उजाले और रात के अंधेरे में सो जाएंगे तो फिर कौन दावा कर सकता है कि आपको टैक्स भरना ही पड़ेगा। तब आप आनन्द से नींद लें। फिर आप दावा नहीं कर सकेंगे कि हमने तीन बार शिकायत की लेकिन आज तक कनेक्शन नहीं हुआ।

ठीक इसी प्रकार इस बात को समझें कि आपका कोई भी शास्त्रीय अभिमान है और आपमें शास्त्र ने धर्म का, अर्थ का, काम का कोई भी अभिमान उत्पन्न किया और उस अभिमान को आप निभा रहे हैं तो आपको कर्तव्य भी निभाना पड़ेगा। श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि यदि आपमें अभिमान छूट गया तो आपके लिए वह स्वधर्म नहीं रह जाता। फिर आपके लिए केवल भक्ति ही स्वधर्म रह गया। क्योंकि अब आपमें वह अभिमान नहीं रहा, अब उसका अनुपात कितना रहेगा? श्रीमहाप्रभुजी हमें यह नहीं बताएंगे। श्रीमहाप्रभुजी को हमें यह प्रश्न पूछना भी नहीं है क्योंकि श्रीमहाप्रभुजी हमें यह प्रश्न पूछ रहे

हैं कि तुम अपने हृदय पर हाथ रख कर कहो कि तुम्हारा अभिमान क्या है और कैसा है? उसके अनुसार आपका कर्तव्य निर्धारित करने के लिए मार्गदर्शक सिद्धान्त श्रीमहाप्रभुजी दे सकते हैं - ''स्वधर्मम् अनुतिष्ठन् वै भारद्वैगुण्यम् अन्यथा।''

इस प्रकार आप में जब 'दासोऽहम्' का अभिमान जाग्रत हुआ तो यदि यह अभिमान है कि मैं प्रभु का दास हूँ तो श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि भक्ति की दृष्टि से यह अभिमान न तो शास्त्रीय अभिमान है और न लौकिक अभिमान है। यह लोक-वेदातीत कोई तीसरे ही प्रकार का अभिमान है। इस सम्बन्ध में श्रीमहाप्रभुजी आगे पुष्टिप्रवाहमर्यादा में खुलासा करेंगे - ''लौकिकत्वं वैदिकत्वं कापट्यात् तेषु नान्यथा, वैष्णवत्वं हि सहजं ततोऽन्यत्र विपर्यय:'' - वह अभिमान कोई तीसरी श्रेणी का अभिमान है। इस अभिमान के कारण आपके जो अधिकार उत्पन्न होते हैं वे भी किसी तीसरी कोटि के हैं। वे लौकिक अधिकार नहीं हैं और न ही वैदिक अधिकार हैं।

एक बात ध्यान से समझें कि आपके सेवा करने के अधिकार के लिए आप कोर्ट में दावा करने जाएंगे तो कोर्ट किस प्रकार निर्णय करेगा? आप शास्त्र को पूछने जाएंगे तो शास्त्र तो निषेध करेगा कि स्त्री, शूद्र को तो सेवा करने का अधिकार ही नहीं है। स्त्री ने जब विवाह किया तब पति से वचन लिया था कि आप जितना धर्म करेंगे उसमें मेरा आधा भाग है। अब उसको छूट तो उसी समय मिल गई अत: स्त्री को धर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं है। एक बात ध्यान से समझें कि स्त्री कब पति को वचन देती है? जब पति धर्म कर रहा है। वह कहती है कि मैं आपको निभाऊँगी। आपके निर्वाह का ध्यान मैं रखूँगी। मुझे जो धर्म के कर्तव्य करने थे, किए। अत: आप जो भी धर्म करेंगे, उसका आधा भाग मेरा है। अब कोई कपटी धर्म ना करे तो करार तो रद्द हो गया न!

कोई बदमाश धर्म को न निभाए तो करार रद्द हो गया। करार रद्द होने से परिस्थिति अलग प्रकार की हो गई। उसकी हम यहाँ चर्चा नहीं कर रहे। परन्तु समझें कि दोनों के करार की अथवा अनुबन्ध की जो शर्तें हैं वे भलीभाँति निभ रही हैं तो स्त्री को धर्म करने की आवश्यकता ही नहीं। शास्त्र तो कहता है कि वह (स्त्री) किसलिए धर्म करे? शास्त्र ने तो विवाह के समय ही इन सभी बातों का खुलासा कर दिया था कि पत्नी को धर्म करने की आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार शूद्र के सम्बन्ध में भी शास्त्र का स्पष्टीकरण है कि वे त्रैवर्णिक की सेवा करें। त्रैवर्णिक जो धर्म करेंगे उस धर्म का लाभ उनको (शूद्र) मिलेगा। आपको स्वतंत्ररूप से धर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं है। शास्त्र जब इस प्रकार कहता है तो शास्त्र की दृष्टि से सेवा कहाँ से प्राप्त होगी?

अपनी वार्ताएँ पढ़ेंगे तो आपको ध्यान में आएगा कि आबू के पास सिरोही की दो राजकुँवरी थीं। वे सेवा करती थीं। सिरोही के राजा को उनके सगे-सम्बन्धियों ने उकसा दिया कि तुम्हारी पत्नी विचार कर रही है कि तुम मर जाओ, इसलिए सेवा कर रही है। क्योंकि आप जीवित अवस्था में जो धर्म कर रहे हैं उसका लाभ आपकी रानियों को भी मिल रहा है। आपके जीतेजी वे भगवान की सेवा कर रही हैं अर्थात् आपको मरा हुआ मान रही हैं। मरा हुआ इसलिए कि उनमें यह भावना है कि आप मर जाएँ। इसलिए राजा तलवार लेकर मारने आया कि तुम स्वयं को विधवा मान कर श्रीठाकुरजी की सेवा कर रही हो? वे भी क्षत्राणी थीं। उन्होंने कहा कि तुम हमें क्या मारोगे, हम तुम्हारा गला काट देंगी। वे दोनों बहनें थी। राजा ने कहा कि मुझे छोड़ दो, तुम्हें जहाँ जाना हो वहाँ जाओ। मेरा पीछा छोड़ो।

पुष्टिमार्ग के झमेले की बात बता रहा हूँ। स्त्रियों को धर्म करने की आवश्यकता ही नहीं है। पुराने समय में उनके धर्म करने पर बहुत झगड़े हुआ करते थे कि तुम धर्म किसलिए कर रही हो? उसका कारण क्या है? पति मर

गया है जो तुम धर्म कर रही हो? क्या पति धर्म नहीं करता जो तुम्हें धर्म करना पड़ रहा है? शास्त्र से पूछेंगे तो शास्त्र निषेध करेगा कि स्त्री को धर्म करने की आवश्यकता ही नहीं है। पतिसेवा की आवश्यकता है। तुम्हें धर्म करने के लिए किसने कहा?

यहाँ यह बात गौर करने लायक है कि 'दासोऽहम्' का जो अभिमान है वह शास्त्रीय अभिमान तो नहीं हो सकता। ऐसी परिस्थिति में विचार करना अपेक्षित है कि शास्त्रीय अभिमान नहीं हो सकता तो क्या लौकिक अभिमान है? यदि लौकिक अभिमान है तो कृष्ण भी लौकिक हो गया और आपका सम्बन्ध भी लौकिक हो गया। परन्तु यहाँ श्रीमहाप्रभुजी निषेध कर रहे हैं कि ''न लौकिकः प्रभुः कृष्णो मनुते नैव लौकिकम्'' - यदि आप लौकिक अभिमान से कृष्ण की सेवा करेंगे तो उस सेवा को कृष्ण स्वीकार ही नहीं करेंगे और यदि आपने स्वयं को कृष्ण का लौकिक दास माना तो आपका दासत्व भी स्वीकार नहीं होगा। कृष्ण अपना स्वामित्व आपको जताएंगे ही नहीं। अतः इस सम्बन्ध को लौकिक माना तो विवाह के पहले ही विवाहविच्छेद जैसी बात हो गई न!

अतः ध्यान से समझें कि यह जो 'दासोऽहम्' का अभिमान है वह न तो वैदिक अभिमान है और न लौकिक अभिमान है। श्रीमहाप्रभुजी लौकिक-वैदिक अभिमान के अनुसार यह अभिमान आपमें नहीं जगाना चाहते। श्रीमहाप्रभुजी को तीसरा ही अभिमान जगाना अभीष्ट है। यह एक प्रकार का आध्यात्मिक अभिमान है। कोई भौतिक अथवा मनोवैज्ञानिक अभिमान नहीं। यह दिव्य-अलौकिक अभिमान है। जिस अभिमान के संदर्भ से ''मैं प्रभु का दास हूँ'' - ऐसा अभिमान जाग रहा है उस दास के संदर्भ में आपका कर्तव्य क्या है? इसी कर्तव्य का निरूपण सिद्धान्तमुक्तावली में आ रहा है।

सिद्धान्तमुक्तावली, भक्ति पुरुषार्थ से प्राप्त होनेवाले आपके कर्तव्य का निरूपण करता है। धर्मपुरुषार्थ से प्राप्त होनेवाले कर्तव्य, अर्थपुरुषार्थ से प्राप्त होनेवाले कर्तव्य, कामपुरुषार्थ या मोक्षपुरुषार्थ से प्राप्त होनेवाले कर्तव्य और अधिकार की विवेचना सिद्धान्तुक्तावली का विषय नहीं है। यह बात हमें एकदम स्पष्टरूप से समझ लेनी चाहिए। तभी सिद्धान्तमुक्तावली को पहनने लायक हमारा गला बनेगा। जैसे हम ये दो कंठी धारण करते हैं, ऐसी ही एक सिद्धान्तमुक्तावली की कंठी भी श्रीमहाप्रभुजी हमें धारण कराना चाहते हैं। हम वह कंठी गले में किस अभिमान से पहनेंगे?

लौकिक अभिमान के अन्तर्गत नहीं, शास्त्रीय अभिमान के अन्तर्गत भी नहीं वरन् किसी आधिदैविक अथवा आध्यात्मिक अभिमान से पहनेंगे। एक तात्त्विक अभिमान से पहनेंगे और उस तात्त्विक अभिमान का तात्पर्य यह है कि अपने आत्मा और परमात्मा का जो सम्बन्ध है – **''यो यद् अंशः स तम् भजेत्''** – अर्थात् जो जिसका अंश है वह उसका भजन करता है। यह भजन उतना ही आवश्यक है जितना पृथ्वी सूर्य का अंश है। इसीलिए पृथ्वी सूर्य के चक्कर लगाती है। सभी ग्रह सूर्य के अंश हैं। वे जिस प्रकार सूर्य के चक्कर लगाते हैं उसी प्रकार, यदि हम भगवदंश हैं तो यह अभिमान हमारे अन्दर जाग्रत है कि मैं भगवान का अंश हूँ, मैं कृष्ण का अंश हूँ, मैं कृष्ण का – कृष्णात्मक पुरुषोत्तम का अंश हूँ।

श्रीयमुनाष्टक से, सर्वोत्तम से और स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत से जो मैंने आपको बताया कि मैं पुरुषोत्तम का पुरुषोत्तमात्मक अंश हूँ – ऐसा अभिमान यदि जाग जाता हो तो बस आपको अपना कर्तव्य प्राप्त हो रहा है। उस अभिमान, उस अधिकार से आपको कृष्णसेवा करनी चाहिए।

*****

।। सिद्धान्तमुक्तावली।।

(स्वसिद्धान्तविनिश्चयोपदेशः) - स्वमार्गीय सिद्धान्त के विनिश्चय का उपदेश।

नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामि स्वसिद्धान्तविनिश्चयम्।।

अन्वयार्थ :

हरिं = हरि को
नत्वा = नमन करके
स्वसिद्धान्तविनिश्चयम् = अपने सिद्धान्त के विशेष निश्चय को
(**अहं** = मैं)
प्रवक्ष्यामि = भलीभाँति कहता हूँ

भावार्थ : सर्वदुःख दूर करने में समर्थ श्रीहरि को नमन करके, अपने सिद्धान्त के निश्चय को मैं कहूँगा।

व्याख्या :

यह सिद्धान्त का विनिश्चय है। यहाँ सिद्धान्तमुक्तावली के निरूपण में पहला आधा चरण स्वसिद्धान्तविनिश्चयोपदेश है। अर्थात् अपने सिद्धान्त के विनिश्चय का उपदेश है। 'विनिश्चय' का अर्थ क्या? 'निश्चय' अर्थात् एकत्रित करना, भलीभाँति किसी वस्तु को इकट्ठा करना और 'वि' उपसर्ग लगाने से आधिक्य की विशेषता प्रकट हो रही है। यदि आपके भीतर भक्त होने का अभिमान है तो विशेषरूप से किसी उत्तम वस्तु को भलीभाँति एकत्र करके आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं कि आपका कर्तव्य क्या है? यदि भक्त होने का अभिमान नहीं है तो कर्तव्य प्राप्त नहीं होता।

जैसे आपमें पिता होने का अभिमान नहीं है तो पिता होने का कर्तव्य भी प्राप्त नहीं होता। क्योंकि अभिमान आपको अधिकार प्रदान करेगा और अधिकार कभी भी उत्तरदायित्वविहीन नहीं होता। जब-जब अधिकार उत्तरदायित्वविहीन हो जाता है, तब-तब, हम गीता के शब्दों में कहें तो ''यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर् भवति भारत।'' अब धर्म की ग्लानि का अर्थ संक्षेप में समझें कि कर्तव्यविहीन अधिकार भोगनेवाला पुरुष जब-जब समाज में उत्पन्न होता है, तब-तब धर्म की ग्लानि होती है। तब-तब भगवान को अवतीर्ण होना पड़ता है - यह समस्या है।

इस कर्तव्यविहीन अधिकार को भोगनेवाला पुरुषोत्तम जब उत्पन्न हो जाता है तब फिर समाज में असामाजिकता उत्पन्न हो जाती है और फिर भगवान को उसे मारने के लिए अवतार लेना पड़ता है। सभी असुरों का नाश करो। क्यों ये कर्तव्यविहीन अधिकार को भोग रहे हैं? ''यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर् भवति भारत! अभ्युत्थानम् अधर्मस्य'' - तब अधर्म का अभ्युत्थान होता है। कैसे? अधर्म और कुछ नहीं बल्कि अधिकार के अनुरूप कर्तव्य को न निभाना ही अधर्म है। आप अधिकार भोग रहे हैं और उसके अनुरूप कर्तव्य निभा नहीं रहे - बस यही अधर्म की सबसे पहली परिभाषा है। आप अधिकार के अनुरूप अपने कर्तव्य को निभा रहे हैं तो वह धर्म की सबसे पहली परिभाषा है। यदि आप अधिकार की मांग कर रहे हैं तो उस कारण से आपका कुछ कर्तव्य होता है कि नहीं?

आप विद्यार्थी होने के अधिकार की मांग कर रहे हैं और उसके लिए पहले दिन से ही आप सबको हाथ जोड़ कर बता दिया था कि भाई, यहाँ अध्ययन करना चाहते हैं तो अध्ययन की भावना से आएँ, प्रवचन सुनने की भावना से न आएँ क्योंकि यहाँ प्रवचन नहीं हो रहे, अध्ययन चल रहा है। अतः यदि पढ़ने का अधिकार रखते हैं कि हमें पढ़ना है तो आपको अपना कर्तव्य

निभाना पड़ेगा कि यहाँ आप सुनने की भावना से न आएँ, पढ़ने की भावना से आएँ। यदि आप सुनने की भावना से आए तो आप महान अधर्मी, घोर अधर्मी, पापी अथवा पतित जीव हैं – यह बात समझ जाएँ।

आप यहाँ अनधिकृत प्रवेश ले कर अधिकार तो प्राप्त कर रहे हैं परन्तु कर्तव्य नहीं निभा रहे। अत: सबसे पहले अधर्म की परिभाषा यहीं से शुरू होगी कि मनुष्य अधिकार तो भोगे और कर्तव्य न निभाए। अरे भाई! अधिकार भोगना है तो कर्तव्य भी निभाएँ। कर्तव्य नहीं निभाते तो कौन कह सकता है कि आप अधिकार भोग सकते हैं। शांति से घर में बैठें, टी.वी. देखें, वीडियो देखें, टी.वी. पर बहुत से सुन्दर कार्यक्रम प्रसारित हो रहे हैं। यहाँ किसलिए आते हैं? अपने अधिकार का दावा करने और कर्तव्य न निभाने से बड़ा पाप कोई हो ही नहीं सकता।

इसी प्रकार हम तुलसी समर्पित कर-करके 'दासोऽहम्' का अधिकार प्राप्त कर लेते हैं। ये सभी श्रीठाकुरजी के दास हैं। इन सबकी टिकिट निश्चित रूप से वैकुण्ठ में आरक्षित है। जब मरेंगे तब नित्यलीला में लीन हुए कहलाएंगे। जिस दिन मरेंगे उस दिन से 'गोलोकवासी' कहलाएंगे। अरे, अभी से टिकिट आरक्षित करा ली, नालायक शर्म नहीं आई? शर्म आनी चाहिए। पहले से ही टिकिट ले ली परन्तु क्या पूछताछ की कि गोलोक में गया या नर्क में गया? अधिकार तो प्राप्त कर लिया परन्तु कर्तव्य नहीं निभाया तो गोलोक में गया या गधालोक में गया इस बात का पता कैसे चला? मरने के साथ ही शोक पत्रिका आ जाती है अथवा मृत्युसंदेश में लिख दिया जाता है कि गोलोकवासी हो गए। परन्तु किस प्रकार गोलोक में गए और गधालोक में नहीं गए उसकी क्या गारन्टी है? जब कर्तव्य नहीं निभाया तो कैसे नित्यलीला में लीन हो गए? किसी अन्धतम (नरक) लीला में लीन हो गए होंगे। अत: हम अधिकार प्राप्त कर लेते हैं परन्तु कर्तव्य नहीं निभाते, यही सारा झमेला है, यही पाप है, यही जीवन का महानतम पातित्य है।

अतएव हमें 'दासोऽहम्' का जो अधिकार प्राप्त हो रहा है और उससे जो कर्तव्य प्राप्त हो रहा है उस कर्तव्य का विवेचन श्रीमहाप्रभुजी आगे करते हैं। ''कृष्णसेवा सदा कार्या'' – यहाँ देखें कि श्रीमहाप्रभुजी बता रहे हैं कि तुम्हारा कर्तव्य क्या है।

(श्रीकृष्णसेवाया: फलावस्थालक्षणं[1] स्वरूपलक्षणं[2] साधनावस्थालक्षणं[3] अवान्तरफललक्षणं[4] च)

श्रीमहाप्रभुजी उक्त कर्तव्य की चार अवस्थाएँ इन तीन श्लोकों से बता रहे हैं। क्रमश: – फलावस्था, स्वरूपलक्षण, साधनावस्था और अवान्तरफल। फलावस्था का तात्पर्य क्या है और जब आपने अपने कर्तव्य का सम्यक्रूपेण निर्वाह किया तब वह कर्तव्य आपके समक्ष किस प्रकार फलित हो जाएगा? जैसे एक वृक्ष का हमने भलीभाँति पोषण किया तो उस वृक्ष में फल आएंगे कि नहीं? फल को वृक्ष पर लटकाना नहीं पड़ता और न ही फल को वृक्ष पर से खींचना पड़ता है। हमने भलीभाँति वृक्ष का पोषण किया – जमीन में पानी दे कर, उसके लिए प्रकाश की व्यवस्था करके, उसकी मिट्टी को भलीभाँति उपजाऊ बना कर, जानवरों से बचा कर। ऐसा करने से वह वृक्ष अपने आप फलवान् हो जाता है।

इस प्रकार कर्तव्य को आपने भलीभाँति निभाया तो वह वृक्ष की तरह अपने आप सफल हो जाएगा अर्थात् फलसहित हो जाएगा। यह कर्तव्य की फलावस्था का पहला लक्षण है। वह फलावस्था कब आएगी? इसके लिए विद्यापति ने बहुत ही सुन्दर बात कही है – ''**समय पाय तरुवर फरै, केतिक सींचो नीर**'' – स्पष्ट है कि बहुत अधिक पानी देने से किसी वृक्ष पर फल नहीं आते। प्रत्येक वृक्ष फल देने के लिए अपना समय तो लेता ही है। खूब जलसिंचन से समय से पहले जल्दी फल नहीं आते बल्कि धैर्य के साथ जल सींचते रहना पड़ेगा। तबतक सींचते रहना पड़ेगा जबतक कि वृक्ष फल देने में

सक्षम न हो जाए। अत: वृक्ष तो समय आने पर ही फलवान् होता है। चाहे जितना पानी डालें परन्तु समय से पहले वह फलरूप नहीं होता।

हमारा जो कर्तव्य है उसे निभाते रहें तो एक समय वह हमें फल प्रदान करेगा। कर्तव्य ही आपको फल प्रकट कर देगा, बाहर से कोई फल नहीं मिलेगा परन्तु जब तक कर्तव्य फलरूप से फलित नहीं हो रहा, कर्तव्य की फलावस्था जबतक प्रकट नहीं हो रही तबतक उसका स्वरूप क्या है? तो समझें कि जैसे कोई आम का वृक्ष हो, कोई जामुन का वृक्ष हो, कोई सेब का वृक्ष हो, तो उन वृक्षों पर फल आएंगे या नहीं, उनके स्वरूप को देख कर कोई वृक्ष का जानकार पहचान जाएगा। आम के या केले के पेड़ को देख कर तो हम तुरन्त पहचान जाते हैं परन्तु क्योंकि आम और अशोक के पेड़ के पत्ते एक जैसे होते हैं तो उनके बारे में तो कोई जानकार ही पहचान पाएगा कि अमुक पेड़ अशोक का है, आम का नहीं तथा अमुक पेड़ आम का है, अशोक का नहीं। किस प्रकार पहचान गया? पत्ते तो दोनों के एक जैसे ही हैं। इसी प्रकार कई पेड़ों के पत्ते एक जैसे होते हैं परन्तु जानकार व्यक्ति उनको देख कर पहचान जाएगा कि अमुक वृक्ष कौनसा है? अत: वह उसका एक स्वरूप है।

जैसे हम गुजराती व्यक्ति को देखते ही पहचान जाते हैं कि यह गुजराती है, मराठी को देख कर पहचान जाते हैं कि यह मराठी है, बंगाली को देख कर पहचान जाते हैं कि यह बंगाली है – तो वह उनका एक स्वरूप है। प्रत्येक वस्तु के स्वरूप के आधार पर हम उसको पहचान पाते है कि यह क्या है, अत: वह स्वरूपलक्षण है।

इसी प्रकार उसकी साधनावस्था है। कौनसा साधन करने से उसका स्वरूप निभता है और कौनसा साधन न करने से उसक स्वरूप खण्डित हो जाता है। इसे अब ध्यान से समझें। ऐसे कई कारीगर हैं जो प्लास्टिक के ऐसे वृक्ष बनाते हैं जिन्हें देख कर हमें लगता है कि वे असली वृक्ष हैं। अब वह वृक्ष

सच्चा है या कृत्रिम है – यह बात केवल उसे देखने से समझ में नहीं आएगी। उसके साधन से समझ में आएगी कि पानी पीता है या नहीं, उसकी मिट्टी गीली है या सूखी है। दो-तीन दिन देखने के बाद उस वृक्ष को स्पर्श किए बिना ही हम कह सकते हैं कि तीन दिनतक जिस वृक्ष ने पानी नहीं पिया, सात दिनतक जिसे प्रकाश की आवश्यकता नहीं हुई, उसका स्वरूप भले ही वृक्ष जैसा दिखाई देता हो परन्तु वास्तव में वहाँ वृक्ष का स्वरूप नदारद है।

जैसे मजाक में बात कही गई कि मेकअप करके सुन्दर हो जानेवाले वर-वधू का स्वरूप रिसेप्शन के समय भले ही बहुत सुन्दर लगे परन्तु चार-छ: दिन बाद वे वापस अपने स्वरूप में स्थित हो जाते हैं। रिसेप्शन के समय तो बहुत सुन्दर लगते हैं परन्तु पाँच-छ: दिन बाद देखेंगे तो काले दिखाई देते हैं। अत: स्वरूपस्थता को ध्यान से समझें कि हमारा स्वरूप एक अलग तत्त्व है और उस स्वरूप को स्वरूप में निभने देने के लिए क्या साधन हैं? जैसे वृक्ष के वृक्षस्वरूप के निर्वाह के लिए प्रकाश, मिट्टी, खाद, पानी आदि उसके सभी साधन मौजूद हैं तो वृक्ष, वृक्षस्वरूप में जीवित है और यदि ये साधन नहीं हैं तो वृक्ष, वृक्ष के स्वरूप में जीवित नहीं है। उसके स्थान पर कोई प्लास्टिक का बनावटी या कृत्रिम वृक्ष आ गया। वृक्ष का मूल स्वरूप वहाँ सिद्ध नहीं हुआ। इस प्रकार यह साधनावस्था का लक्षण है।

बहुत से लोग हमको मूर्ख बनाते हैं कि यह तो साधनावस्था की बात है, फलावस्था में तो सब कुछ छोड़ देना होता है। अरे, फलावस्था में क्यों छोड़ देना? आम के पेड़ पर फल आ गया तो क्या पानी पिलाना छोड़ देना? आम के पेड़ पर कैरी आ गई तो प्रकाश की व्यवस्था को बंद करके उस पर तंबू तान देना कि अब तो फल आ गया है, अब उसको प्रकाश की आवश्यकता नहीं है और मिट्टी की जगह केवल पत्थर भर देने से काम चल जाएगा? नहीं चलेगा। स्वरूप खण्डित हो जाएगा तो फल भी नहीं रहेगा।

फल प्राप्त करने के लिए, फलावस्था में रहने के लिए स्वरूप का भी निर्वहन अपेक्षित है। स्वरूप के निर्वाह के लिए उसके साधनों का भी निर्वाह अपेक्षित है और आम का पेड़ जैसे हमें कैरी दे रहा है वैसे छाया भी देता है और ठंडी हवा भी देता है। इसी प्रकार आँखों को एक प्रकार की शांति भी देता है कि सघनकुञ्जयुक्त सुन्दर आम का वृक्ष है। ऐसा घना झुरमुट देख कर ही आँख को वातावरण से ठण्डक मिलती है और छाया भी मिलती है। पशु-पक्षी भी उस पर किलोल करते हैं। उस पर कोयल बोलती है। ये सब आम के फल के अवान्तर फल हैं। आम का आम्रकुञ्जयुक्त वृक्ष बना तो यह सब अवान्तर फल तो वहाँ प्रकट होने ही हैं। उनका कैरी के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होने पर भी फल प्रकट हो रहा है। कारण यह है कि आम का घटादार वृक्ष है - उस पर मोर आएंगे, मोर आएंगे तो कोयल बोलेगी, कोयल बोलेगी तो भँवरे भी वहाँ गुंजन करेंगे। ये सभी अवान्तर फल के स्वरूप हैं।

कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता[1] ।।1।।
चेतस्तत्प्रवणं सेवा[2] तत्सिद्धयै तनुवित्तजा[3]।
ततः संसार-दुःखस्य निवृत्तिर् ब्रह्म-बोधनम्[4] ।।2।।

अन्वयार्थ :

कृष्णसेवा = श्रीकृष्ण की सेवा
सदा = सदैव
कार्या = अवश्य करनी
सा = वह
मानसी = मानसी
(**चेत् तदा** = हो तब)
परा = फलरूप, **मता** = मानी जाएगी
तत्प्रवणं = उसमें (कृष्ण में) पिरोना

चेतः = चित्त को **सेवा** = सेवा है
तत्सिद्धये = उसकी सिद्धि के लिए
तनुवित्तजा = तनुवित्तजा
(**कर्तव्या** = करनी) **ततः** = जिससे
संसारदुःखस्य = संसारदुःख की
निवृत्तिः = निवृत्ति
(किञ्च = और **)**
ब्रह्मबोधनं = ब्रह्म का बोध
(**भवति** = होता है)

भावार्थ : श्रीकृष्ण की सेवा सर्वकाल में करनी चाहिए। वह सेवा यदि मानसी हो तो फलरूपा मानी जायेगी। श्रीहरि में चित्त का एकतान होना ही सेवा कही जाती है। वैसी सेवा की सिद्धि के लिए शरीर से और द्रव्य से सेवा (भक्ति) करनी चाहिए। उस मानसिक भक्ति से अहन्ता-ममतात्मक संसार की निवृत्ति और भगवन्माहात्म्य का ज्ञान, ये दो अवान्तर फल मिलते हैं।

व्याख्या :

श्रीमहाप्रभुजी ने कृष्णसेवा रूपी कर्तव्य के चार स्वरूप तीन पंक्तियों में बताए हैं, उन्हें हमें देखना चाहिए - ''कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता।'' यह उसकी फलावस्था का लक्षण है।

''चेतस्तत्प्रवणं सेवा'' - सेवा का स्वरूपलक्षण है अर्थात् कृष्णसेवा सदैव करनी चाहिए। कृष्णसेवा करते रहेंगे तो आपका मन भी कृष्णसेवा करनेवाला हो जाएगा। अब आप सेवा तो कर रहे हैं परन्तु आपका मन कृष्णसेवा में नहीं लगता तो मन आपका कृष्णसेवा नहीं कर रहा। तन से की जानेवाली कृष्णसेवा जिस दिन मन में होने लगे, समझ लें कि मन से हम कृष्णसेवा कर रहे हैं - यह एक अवस्था है। परन्तु हम कहें या न कहें, मन का

कृष्णसेवा करने लग जाना एक दूसरी अवस्था है। अर्थात् जो हम स्वेच्छया कर रहे थे वह सहज स्वाभाविकरूप से होने लग जाए तो वह कृष्णसेवा की फलावस्था है। उस समय हमारा चित्त सेवा में लग गया होता है।

अब देखें कि प्रत्येक व्यक्ति की चित्त को लगाने की अपनी-अपनी सामर्थ्य होती है। किसी को एक घण्टा लगेगा तो किसी को आठ घण्टे भी लगेंगे। समय कितना लगेगा इस सम्बन्ध में श्रीमहाप्रभुजी को कोई आपत्ति नहीं है। ''कृष्णसेवा सदा कार्या'' एक हकीकत है परन्तु ''चेतस्तत् सदा प्रवणम्'' - ऐसा अनर्थ श्रीमहाप्रभुजी ने नहीं किया है। बहुत ही निश्चिंतता के साथ निर्णयपूर्वक इतनी ही बात कही है कि - ''चेतस्तत् प्रवणम् सेवा।'' चित्त का सेवा में लग जाना सेवा का स्वरूप है। आपका चित्त सेवा में नहीं लग रहा तो सेवा का स्वरूप नहीं बना। संभवत: साधन हो रहा होगा परन्तु स्वरूप नहीं बना। और चित्त लग गया तथा यदि वह सदैव लगा रहे तो फिर मानसी हो गई। सदैव नहीं लगा, जितने समय लगा - ''एक कालं, द्विकालं वा त्रिकालं वा'' - जितने समय चित्त लगा, वह सेवा का स्वरूप बन गया।

जैसे वृक्ष घटादार बन गया तो स्वरूप तो बन गया। अब आप पहचान पाएंगे कि यह कौनसा वृक्ष है, किसका वृक्ष है। आनन्दपूर्वक पहचान पाएंगे। फल तो जब आने होंगे तभी आएंगे परन्तु स्वरूप आप पहचान पायेंगे।

इस प्रकार स्वरूप बन जाएगा, परन्तु स्वरूप बन जाना इतना आवश्यक नहीं। इसका भारी अनर्थ किया जाता है कि ''चेतस्तत् प्रवणम् सेवा'' - चित्त का सदैव पिरोए हुए रहना। ऐसे छल-छद्म भरे उपदेश श्रीमहाप्रभुजी नहीं करना चाहते। कर्तव्य के उपदेश के लिए यह बात कहना चाह रहे हैं, तत्त्व के उपदेश के लिए यह बात नहीं कह रहे। आपको क्या करना है यह बात कहना चाहते हैं। श्रीमहाप्रभुजी ''चेतस्तत् प्रवणम् सेवा'' की सीमा इतनी रखना चाहते हैं कि आप अपना चित्त प्रभु में लगाएं। तात्पर्य यह है कि सहज रूप से

नहीं लगता हो तो प्रयत्नपूर्वक लगाएं। सदैव न लगता हो तो जितने समय लगता हो, उतने समय लगाएं - एककाल, द्विकाल अथवा त्रिकाल लगाएं। चित्त को सेवा में लगा कर सेवा के स्वरूप को गढ़ना है।

आपका चित्त प्रयत्न बिना स्वत: सदैव सेवा में लगा हुआ है तो मानसी सिद्ध हो गई। वह फलावस्था हो गई। जब हम चित्त को लगा रहे हैं तो वह स्वरूप है और स्वत: लग गया तो फल है तथा उसे लगाने की साधनावस्था है ''तत्सिद्धयै तनुवित्तजा।'' जब आप अपना तन, वित्त प्रभु सेवा में लगाएंगे तो ये तन और वित्त आपके अहंकार और ममकार की एक प्रकार की कणिकाएं हैं।

'दासोऽहम्' कह कर आपने अपनी अहंता - ममता प्रभु के साथ जोड़ी है या नहीं? ''श्रीकृष्ण: शरणं मम'' - कह कर आपने अपनी अहंता-ममता श्रीकृष्ण से जोड़ी है तो उस अहंता-ममता के प्रतीक के रूप में आपको कुछ तो श्रीकृष्ण से जोड़ना पड़ेगा। आप अपनी अहंता-ममता को मात्र शब्द से ही जोड़ना चाह रहे हैं। **''हा हा दद्यात्, हुं हुं दद्यात्, न दद्यात् सिंहगर्जना''** - यह संस्कृत में एक कहावत है - अर्थात् जिसको कर्ज ले कर जीने की आदत पड़ गई है वह क्या करता है, कर्ज लेते समय तो ले लेता है और जब मांगनेवाला आता है तो कहता है कि हाँ-हाँ, कल दे दूँगा, कल वापस आए तो कहता है कि दो दिन में जब पैसे आएंगे तब दे दूँगा। अरे हमें समझ क्या रखा है, आपका कर्ज लौटा दूँगा। क्या पैसे खा जाऊँगा? अरे एक तो कर्ज लिया और ऊपर से दादागीरी करता है।

इस प्रकार श्रीकृष्ण के साथ दादागीरी मत करें। ''हा हा दद्यात्, हुं हुं दद्यात्, न दद्यात् सिंहगर्जना'' न करें। जब आपने श्रीकृष्ण के साथ अपनी अहंता-ममता को जोड़ा है तो सच में ही वापस कुछ दें, केवल झूठी गर्जना न करें। हम गर्जना करते हैं। ''मारूं मन मोह्युं रे गिरिधरलाल ने लटके'' -

लेकिन आपके भी कुछ हाव-भाव हैं कि नहीं? गिरिधरलाल के ही सारे लटके! आपके नहीं? आपको जो कुछ दिया है तो आप अपनी अहंता-ममता के प्रतीक के रूप में कुछ तो श्रीकृष्ण के साथ जोड़ें।

अपनी अहंता-ममता के प्रतीक के रूप में हम अपना तनुवित्त जोड़ते हैं। यहाँ उसका विस्तार नहीं कर रहा परन्तु यह जोड़ने की जो प्रक्रिया है वह चित्त को कृष्ण में जोड़ने की साधनावस्था है। हम अपनी अहंता-ममता कृष्ण के साथ जोड़ रहे हैं तो धीरे-धीरे हमारा चित्त इस साधन से कृष्ण के साथ जुड़ जाएगा। अर्थात् जैसे प्रकाश, जल, खाद से वृक्ष अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है और वह स्वरूप प्राप्त हो जाने के बाद फलावस्था प्रकट होती है उसी प्रकार तनुवित्त के साधन से सेवा में फलावस्था प्रकट होगी।

जब फलावस्था प्रकट हो रही है तो कुछ अवान्तर फल भी उसका होगा और वह अवान्तर फल क्या है - ''ततः संसार-दुःखस्य निवृत्तिर् ब्रह्म-बोधनम्'' - और इस संसार का दुःख क्या है? संसार के दुःख की सरल परिभाषा ध्यान से समझें। अहंता और ममता दुःख हैं। यदि हमें किसी प्रकार की अहंता न हो तो संसार का कोई दुःख नहीं होता। यदि हमें किसी के साथ ममता न हो, कोई मरे या जिए, हमारा क्या जाता है, रास्ते में कितनी ही दुर्घटनाएँ होती हैं पर क्या कभी हमें रोना आता है, गाड़ी के नीचे आ कर मर जाएँ तो भी दुःख नहीं होता। कारण यह है कि उसमें हमारी अहंता-ममता नहीं है। वह मेरा पिता है, मैं उसका पुत्र हूँ अथवा वह मेरा पुत्र है ऐसी हमारी अहंता-ममता नहीं है। व्यक्ति रास्ते पर चलते-चलते गाड़ी के नीचे आ कर मर जाता है। ''मुम्बई शहर में तो ट्रैफिक ही ऐसा है कि मनुष्य मर जाता है''- ऐसा तत्त्वज्ञान हममें प्रकट हो जाता है। कोई एक्सीडेन्ट में मर जाता है तो तत्त्वज्ञान क्यों प्रकट होता है, क्योंकि उसमें हमारी अहंता-ममता नहीं है इसलिए कोई दुःख ही नहीं होता। यदि अहंता-ममता हो तो सारा तत्त्वज्ञान

भाड़ में चला जाता है। तुरन्त दौड़ा-दौड़ी करते हैं। हँसी-मजाक में मैंने एक बार बहुत ही विनोदभरी बात बताई थी। एक बार एक्सीडेन्ट हुआ तो बहुत भीड़ हो गई। वहाँ पत्रकार आया। भीड़ ने पत्रकार को अन्दर नहीं घुसने दिया। पत्रकार ने सोचा कि रिपोर्ट छापनी है लेकिन अन्दर कैसे घुसें? पत्रकार ने कहा ''क्या हुआ?'' दुर्घटना हुई है। पत्रकार ने कहा ''मेरे पिता का एक्सीडेन्ट हो गया है'' तो सारी भीड़ खिसक गई। वास्तव में मोटर के साथ गधे का एक्सीडेन्ट हुआ था। भीड़ को पता ही नहीं चला कि पत्रकार का पिता इस गधे के रूप में कैसे हो सकता है! उस रहस्य का किसी को पता नहीं चला। अतः अहंता-ममता का चक्कर बहुत ही खराब है।

इस बात को भली-भाँति समझ लें कि सभी दुःखों की कोई सरल परिभाषा है तो केवल इतनी कि कहीं हमारी कोई अहंता है तो हमें दुःख दे रही है अथवा कहीं हमारी कोई ममता है तो हमें दुःख दे रही है। यदि अहंता या ममता नहीं है तो फिर दुःख का कोई प्रश्न ही खड़ा नहीं होता।

हमारे किशनगढ़ के मदनसिंहजी राजा थे। एक बार वे पोलो खेलते-खेलते गिर गए। उस जमाने में बेहोश करके ऑपरेशन करने की अभी शुरुआत ही हुई थी। इस बात का सभी को पता नहीं था। राजा ने पूछा कि क्या हो रहा है? उनको बताया गया कि आपको बेहोश करके आपका पैर काट कर हड्डी को फिर से ठीक से बैठाया जाएगा। उनकी अहंता इतनी प्रबल थी कि उन्होंने कहा कि मैं क्षत्रिय हूँ, बनिया नहीं जो मुझे बेहोश करके मेरा पैर काटना पड़ेगा। वे हाथ में कोई पुस्तक ले कर बैठ गए और उन्होंने अपना पैर कटवाया। ध्यान देने वाली बात है कि ऐसा कब संभव हो सकता है कि क्षत्रियत्व के अहंकार ने उनको इतना निर्मम होने का सामर्थ्य प्रदान किया कि पैर की ममता को तोड़ कर उन्होंने कहा कि मैं क्षत्रिय हूँ, मेरा पैर काट सकते हैं। क्या दर्द नहीं हुआ होगा? क्या दुःख नहीं हुआ होगा? जरूर दुःख तो हुआ होगा।

मैंने जब टॉन्सिल का ऑपरेशन करवाया तो मेरे साथ भी समस्या हो गई। डॉक्टर ने पूछा - आ गए, मैंने कहा हाँ, तो लेट जाएँ, मैं हिम्मत से लेट गया। फिर क्या हुआ कि उसने इंजेक्शन पर इंजेक्शन लगा दिए परन्तु पीड़ा नहीं हुई। बहुत देर तक मुँह में हाथ घुमाता रहा, घरर की आवाज आई, चित्त में घबराहट होने लगी कि यह क्या हो गया? ऑपरेशन के पहले घबराहट नहीं थी। ऑपरेशन करते समय भी घबराहट नहीं हुई। ऑपरेशन हो जाने के बाद चित्त में बहुत घबराहट हुई कि क्या हो गया। बहुत देर बाद दर्द होना शुरू हुआ। अपने गले में इतनी देर तक कोई हाथ घुमाता रहे, बहुत देर तक आवाज आती रहे तो ममता के कारण यह स्वीकार्य नहीं होता। मेरे बहनोई की हड्डी बढ़ गई थी। जब उनका ऑपरेशन होनेवाला था तो वे रो रहे थे। मैं हॉस्पिटल में उनको समझाने गया कि आप रोते क्यों हैं, हड्डी का ऑपरेशन होता है तो पीड़ा तो होती ही है। किसी दूसरे का ऑपरेशन हो तो हमें तत्त्वज्ञान होता है परन्तु स्वयं का ऑपरेशन हो तो मनुष्य नर्वस हो जाता है। क्योंकि अपने टॉन्सिल को मैंने अपना माना था, अपने गले को अपना माना। मेरे जीजाजी के नाक की हड्डी बढ़ी तो मैंने उसे अपना नहीं माना। इसलिए तत्त्वज्ञान प्रकट हो गया।

अहंता-ममता के कारण ये सारी तकलीफें हैं। जितना तत्त्वज्ञान होता है वह सब भुला जाता है (अहंता-ममता दूर न होने से जितना तत्त्वज्ञान संग्रहित है वह सब में सहज स्वाभाविकरूप से विद्यमान होता है) जब अहंता-ममता आड़े आती है तब सारा तत्त्वज्ञान भाग जाता है, रफूचक्कर हो जाता है परन्तु जब अपनी अहंता-ममता नहीं होती तब दूसरे के ऑपरेशन के समय तत्त्वज्ञान याद आ जाता है कि भाई ऑपरेशन होता है तो दर्द तो होगा ही। यही ज्ञान अपने ऑपरेशन के समय याद आना बहुत कठिन है।

''तत: संसार-दु:खस्य निवृत्तिर्'' - इसलिए तनुवित्तजा साधनरूप सेवा से संसार के दु:ख की निवृत्ति होती है और ब्रह्म का बोध होता है। कारण

कि आपकी अहंता-ममता आपने प्रभु के साथ जोड़ दी है। जिस अनुपात में अहंता-ममता को प्रभु के साथ जोड़ना शुरू किया उसी मात्रा में संसार दूर होने लगेगा। जिस प्रमाण में वह दूर होना शुरू हुआ उसी प्रमाण में आपके सांसारिक दु:ख कम होते जाएंगे और सांसारिक दु:ख जिस प्रमाण में कम होने लगेंगे उसी प्रमाण में आपमें ब्रह्मबोध उभरने लगेगा।

मुझे कैसा ब्रह्मबोध उभरकर आया? मेरे बहनोई की हड्डी कटी तो इसमें रोने की क्या बात है, ऑपरेशन में तो दर्द होता ही है। ऐसा ब्रह्मबोध अपनी हड्डी कटे तब क्यों नहीं उभरता, क्यों याद नहीं आता? क्योंकि वहाँ अपनी अहंता-ममता आड़े आती है। वह अहंता-ममता आड़े आना बन्द हो जाए तो भीतर रहा हुआ ब्रह्मबोध धीमे-धीमे उभरने लगेगा।

''तत: संसार-दुखस्य निवृत्तिर्ब्रह्म-बोधनम्'' - तनुवित्तजा साधनरूप सेवा से संसारदु:ख की निवृत्ति होती है और ब्रह्मबोध होता है। यह सम्पूर्ण कर्त्तव्यरूप सेवा का स्वरूप है, एक समुच्चय है। श्रीमहाप्रभुजी इस स्वरूप से, इस समुच्चय से कर्तव्यरूप सेवा करने को ''कृष्णसेवा सदा कार्या'' से कह रहे हैं। यह सेवा ''सदा कार्या '' कब कही जाएगी? तो बताते हैं कि आपमें 'दासोऽहम्' का अभिमान है या नहीं? 'दासोऽहम्' का अधिकार आपको मिला है या नहीं? यदि आपको 'दासोऽहम्' का अभिमान और अधिकार प्राप्त हुआ है तो दास होना आपको कर्तव्यरूप से प्राप्त होगा। अर्थात् चित्त का दासत्व आपको कर्तव्यरूप से प्राप्त हो रहा है।

इस सिद्धान्तमुक्तावली में सेवा को कर्तव्यरूप से बताया जा रहा है। किसी अभिमान की भाँति पंचम पुरुषार्थ के रूप में, पुरुषार्थ के अनुरूप सेवा को बताना हो तो सेवा कभी भी ऐसा सम्बन्ध नहीं हो सकती अर्थात् सेवा पंचम पुरुषार्थ नहीं है। सेवा कर्तव्य का स्वरूप है, पुरुषार्थ का नहीं। जैसे मनुष्य होना एक ऐसा गुणधर्म है कि आप किसी के सापेक्ष मनुष्य नहीं हैं। आप कोई रमेश,

सुरेश, दिनेश, गणेश हैं तो किसी के सापेक्ष सुरेश, रमेश, दिनेश, गणेश नहीं हैं। स्वयं के रूप में जो हैं, वही हैं। परन्तु आप किसी के काका हैं तो किसी भतीजे के सम्बन्ध में आप काका हैं, यदि पिता हैं तो किसी बेटे के सम्बन्ध में पिता हैं।

इसी प्रकार सेवा रूपी जो कर्तव्य है वह कर्तव्य एक प्रकार का सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध, उस विषय को आप जब तक स्पष्ट नहीं करते हैं कि सेव्य कौन, सेवक कौन, तब तक सेवा की स्पष्टता किस प्रकार आएगी? अत: पहले सम्बन्ध क्या है, इस बात की सभी पहलूओं से श्रीमहाप्रभुजी ने स्पष्टता की है। अब बता रहे हैं कि सेव्य कौन और सेव्य को बताने के बाद सेवक कौन और सेवक को बताने के बाद बदमाश कौन – यह भी श्रीमहाप्रभुजी बताएंगे। इस प्रकार सभी पहलुओं के आधार पर सम्पूर्ण विवेचन है। सिद्धान्तमुक्तावली में कोई एकांगी विवेचन नहीं है। सभी बातों का सम्यक्रूपेण विवेचन किया है। इसके अन्तर्गत सेवा के चारों पक्षों का हमने अवलोकन किया। उसके पश्चात् श्रीमहाप्रभुजी ने आगे के तीन से ले कर साढ़े ग्यारह श्लोक तक सेव्य के स्वरूप को समझाया है।

इन तीन श्लोक से ले कर साढ़े ग्यारह श्लोक तक अर्थात् ''अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिर् विधीयताम्'' तक सेव्य के विषय में समझाया गया है। इसके बाद समझाएंगे कि सेवक क्या है। उसके अन्तर्गत यह भी बताएंगे कि सेवकों में बदमाश सेवक कौन है। अत: यह सिद्धान्तमुक्तावली का सारांश है। उसमें हम सर्वप्रथम देखेंगे कि सेव्य क्या है!

(पुष्टिमार्गीयसेवायां सेव्यस्य ब्रह्मण: पराक्षर[क-ख] रूपद्वैविध्यम्)

पुष्टिमार्गीय सेवा में सेव्य, जो ब्रह्म है, उसके दो रूप हैं जैसे पूर्व में हमने सेवा के चार रूप देखे हैं, चार लक्षणों का विवेचन किया है अर्थात् फलावस्थालक्षण, स्वरूपलक्षण, साधनावस्थालक्षण और अवान्तरफललक्षण।

इसी प्रकार सेव्य के सबसे पहले श्रीमहाप्रभुजी दो रूप बता रहे हैं।

परं ब्रह्म तु कृष्णो[क] हि सच्चिदानन्दकं बृहत्[ख]।
द्विरूपं तद्धि[ख] सर्वं स्याद्[ख/1] एकं तस्माद् विलक्षणम्[ख/2] ।।3।।

अन्वयार्थ :

परं ब्रह्म = परब्रह्म, **तु** = तो
कृष्णो = श्रीकृष्ण, **हि** = ही (**अस्ति** = हैं)
सच्चिदानन्दकं = सत्–चित् और आनन्द, अल्प जैसा
बृहत् = विशाल अक्षरब्रह्म (**अस्ति** = है)
तद् हि = वही
एकं = एक, **सर्वं** = सर्व
स्याद् = होता है
अपरं = दूसरा
तस्माद् = उससे
विलक्षणम् = विलक्षण (**अस्ति** = है)

भावार्थ : तैत्तिरीयोपनिषद् की आनन्द–ब्रह्म–वल्ली में अक्षरब्रह्म के आनन्द की गणना की गई है किन्तु उसके आगे कहा गया है कि परब्रह्म के आनन्द में मनवाणी की भी पहुँच नहीं है। अत: शास्त्र में श्रीकृष्ण को ही परब्रह्म कहा है। इससे परब्रह्म तो श्रीकृष्ण ही हैं। सत्–चित्–अल्पानन्द जैसा अक्षरब्रह्म है। इसलिए अक्षरब्रह्म निश्चितरूप से दो प्रकार का है। एक सर्वजगत्रूप है और दूसरा उस जगत्रूप से पृथक् है जिसका ज्ञानीजन विचार करते हैं।

व्याख्या :

उक्त श्लोक में जैसे 'पर' और 'अक्षर' को क्रम से मैंने 'क' और 'ख' से चिह्नित किया है तो जहाँ 'क' है वहाँ 'पर' है और जहाँ 'ख' है वहाँ

'अक्षर' है। इस प्रकार देखने से ''परं ब्रह्मतु कृष्णो हि'' - भलीभाँति समझ में आएगा कि यह अपना कृष्ण है। कैसा कृष्ण? परब्रह्मरूप कृष्ण। परब्रह्म कैसा? कृष्णरूप परब्रह्म। इस प्रकार रोटी को उल्टे-सीधे दोनों तरफ से सेकना है। एक तरफ से सेकेंगे तो कच्ची रह जाएगी।

अत: 'कृष्ण' अर्थात् परब्रह्मरूप कृष्ण। 'परब्रह्म' अर्थात् कृष्णरूप परब्रह्म। इस प्रकार दोनों रूप से देखेंगे तो आपको सेव्य का रूप स्पष्ट हो पाएगा। केवल एक तरफ से सेकेंगे तो दूसरी तरफ से कच्चापन रह जाएगा। दोनों तरफ से जल्दी-जल्दी सेकते रहोगे तो अच्छी तरह सिक कर स्वादिष्ट बनेगा। ''सच्चिदानन्दकं बृहत्'' और 'बृहत्' अर्थात् अक्षर जो है वह सच्चिदानन्द है। सच्चिदानन्द कहकर उसका अक्षररूप बताया गया है।

''द्विरूपं तद्धि'' अर्थात् वह द्विरूप है। अब द्विरूप कौन? इसे मैंने 'ख' से चिह्नित किया है। 'ख' चिह्न देख कर आपको स्पष्ट समझ में आ जाना चाहिए कि 'पर' का द्विरूप यहाँ नहीं बता रहे। यहाँ 'अक्षर' की द्विरूपता समझा रहे हैं कि 'अक्षर' द्विरूप है। उसका एक रूप कैसा है? ''सर्वं स्याद्''। दूसरा रूप कौनसा? ''तस्माद् विलक्षणम्''। इस पंक्ति को टीका के बिना देखने का प्रकार क्या है जिससे आपको सारांश स्पष्ट हो जाए, यह समझने की यहाँ कोशिश करें। यह बहुत आवश्यक है। इसका विवेचन मैंने कल भी आपको बता दिया है। यदि जगत् ब्रह्मरूप नहीं है तो ब्रह्म आपको प्राप्त नहीं रह जाता। कारण यह है कि परब्रह्म कृष्ण को आप सेव्य के रूप में जगत् में लाएंगे कहाँ से?

यदि आपने भूल से चेतावनी दे दी कि ब्रह्मसंबंध देते ही नित्यलीला प्रवेश हो जाएगा, जिस प्रकार गिरधर जी के साथ होता था कि ब्रह्मसंबंध देते तो तुरंत ही नित्यलीला में पहुँचा देते उसी प्रकार आज कोई महाराज ऐसा कह दें कि ब्रह्मसंबंध तो देने को तैयार हैं परन्तु लेते ही नित्यलीलास्थ हो जाओगे तो ऐसी स्थिति में कितने लोग ब्रह्मसंबंध लेने आएंगे? सब यही कहेंगे कि

नित्यलीला नहीं चाहिए, हमारे लिए अनित्यलीला ही भली। यहाँ अनित्यलीला में ही रहेंगे। बीस, पच्चीस, पचास-जितने वर्ष निकालने होंगे उतने यहीं निकालने हैं, नित्यलीला में नहीं। भाई साहब कैसे ब्रह्मसंबंध देते हैं? यह तो ठीक है कि कोई नित्यलीला में नहीं जाता इसलिए सब ब्रह्मसंबंध ले लेते हैं। गिरधरजी की जैसी सामर्थ्य प्रकट हो जाए तो पता चलेगा कि कितने लोग ब्रह्मसंबंध लेने के लिए तैयार हैं। हममें यह सामर्थ्य नहीं है कि ब्रह्मसंबंध देते ही नित्यलीला में पहुँचा सकें। एकाध बालक पहुँचा दें तो उनकी पाँच-दस गुना प्रसिद्धि हो जाए, अखबार में विज्ञापन आ जाए कि अमुक बालक से ब्रह्मसंबंध लिया और नित्यलीला में प्रवेश! फिर देखें कोई गली में भी नहीं आएगा कि उस गली में नहीं जाते, ब्रह्मसंबंध दे देंगे तो पंचायत हो जाएगी। किसी को नित्यलीला नहीं चाहिए, सभी को अनित्यलीला ही चाहिए।

अत: इस अनित्यलीला में परब्रह्म को लाएं कहाँ से? यदि यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मात्मक नहीं है तो इस अनित्यलीला में परब्रह्म कृष्ण को कहाँ से लाएं? बुनियादी कठिनाई को समझें जो सर्वत्र मौजूद समस्या है। इस बात को समझें कि हम कहते हैं कि ''**निर्गुणनो निर्देश अटपटो रसना शी पेरे कहिये रूप वर्ण वपु दृष्ट पदारथ त्यां एको नव लहिये, ते थकी पुरुषोत्तम अळगा लीला अचल विहारी**''- यदि उसके कारण पुरुषोत्तम निराला है तो उस पुरुषोत्तम को यहाँ कहाँ से लाएँ? वह आएगा तो आपको नित्यलीला में बुला लेगा, फिर सेवा करना किसी को भी रुचेगा ही नहीं।

अत: यह जो अनित्य जगत् है उसमें नित्यलीलाविहारी पुरुषोत्तम को हम कहाँ से प्राप्त करें? उसी को प्राप्त करने की दृष्टि से श्रीमहाप्रभुजी यहाँ बता रहे हैं कि ''द्विरूपं तद्धि सर्वं स्याद्'' अर्थात् जो कुछ जगत् के नाम, रूप, कर्म के साथ दिखाई देता है वह अक्षरब्रह्म ही है और वह अक्षरब्रह्म परब्रह्म का धाम है। यदि एक बार आपकी दृष्टि इस बात पर गई कि अक्षरब्रह्म, परब्रह्म का धाम

है और उसमें ही ये पुरुषोत्तम विराज रहे हैं, जिस समय आपमें इस जगत् को अक्षरब्रह्म के रूप में स्वीकार करने की भावना जाग्रत हुई, जगत् के जो नाम, रूप, कर्म हैं उनको अक्षरब्रह्म के रूप में स्वीकार करने की भावना आपके अन्दर पैदा हुई तो आपको स्वत: ही यह बात समझ में आ जाएगी कि इसमें पुरुषोत्तम तो रह ही रहा है। क्योंकि अक्षरब्रह्म तो पुरुषोत्तम का धाम है। जगत् अक्षरात्मक है। कारण यह है कि जगत् के नाम, रूप, कर्म अक्षरब्रह्म से प्रकट हुए हैं।

जैसे 'नाम' अर्थात् 'घट' नाम है। 'रूप' अर्थात् वही घट। उस 'घट' का कर्म यह कि उसमें पानी भरा जा सकता है। गाय अर्थात् सींगवाली, पूँछवाली गाय - यह उसका नाम। उसका नाम, रूप, कर्म कुछ भी पूछेंगे तो उस रूप में अक्षरब्रह्म प्रकट है, यह आपको समझ में आएगा। वह गाय भले ही जिए या मरे, आपके घर में घड़ा (घट) टूटे या अखंड रहे परन्तु इस घड़े में एक अक्षरात्मक पहलू भी है।

नाम-रूप के अन्तर्गत एक अक्षरात्मक पक्ष है। वह कैसे है? जैसे नायक-नायिका के मरने से अभिनेता अथवा अभिनेत्री नहीं मर जाते। नायक मर जाता है, नायिका मर जाती है, खलनायक मर जाता है परन्तु वहाँ जो अभिनेता या अभिनेत्री हैं वे नहीं मरते। जैसे रामलीला में रावण मर गया परन्तु त्रिवेदी थोड़े ही मर गया। अत: खलनायक के मर जाने से अभिनेता नहीं मर जाता। इन नाम, रूप, कर्म के जो पात्र हैं उनको निभानेवाले अभिनेता जैसे जीवित हैं वैसे ही अक्षरब्रह्म को देखने की आपको एक दृष्टि विकसित होगी कि कृष्ण अब आपको दुर्लभ क्यों नहीं।

अक्षरब्रह्म, कृष्ण का धाम है। कृष्ण अक्षर में रहता है। अक्षर में कृष्ण रहता है और जगत् के नाम-रूप-कर्म अगर अक्षरात्मक हैं तो कृष्ण वहाँ रह ही रहा है। कृष्ण कहीं भी आपको अप्राप्य नहीं है। कृष्ण आपके सामने कभी

अप्रकट नहीं रह सकता। क्योंकि कृष्ण का धाम अक्षर है और यह जगत् अक्षरात्मक है।

''द्विरूपं तद्धि सर्वं स्याद्'' और आप ऐसे नहीं मान लेते कि आपके यहाँ जो नाम-रूप-कर्म प्रकट हो रहे हैं, उतना ही अक्षर है। अक्षर केवल इतना ही नहीं, क्योंकि अक्षर नाम-रूपात्मक प्रकट हो रहा है। नाम-रूप अक्षरात्मक प्रकट नहीं हुए इसलिए अक्षर का जो वृत्त है वह बहुत बृहत् है। नाम-रूप उसके भीतर हैं और उस अक्षर में परब्रह्म रह रहा है। अक्षर बहुत ही विशाल है, इतना कि जिसमें सभी नाम-रूप प्रकट हुए और उसमें पुरुषोत्तम भी रह रहा है। अत: जब नाम-रूप अक्षर में हैं और उसमें पुरुषोत्तम रह रहा है तो नाम-रूप अक्षरात्मक हैं, अक्षर नामरूपात्मक नहीं।

कारण यह है कि इस विस्तार में अक्षर नामरूपात्मक है और इस विस्तार में जो नाम-रूप नहीं है वह भी अक्षर है। इस प्रकार अक्षर का विस्तार है। अत: यहाँ नित्यलीलात्मक अक्षर है और अनित्यलीलात्मक अक्षर है। इसलिए अक्षर में ये दोनों वस्तुएँ विद्यमान हैं - कृष्ण भी और नाम-रूप-कर्म भी। अतएव किसी भी नाम-रूप को जिस समय आप अक्षर के रूप में पहचानना शुरू करेंगे तो कृष्ण आपके लिए विद्यमान होगा, प्राप्त हो जाएगा। जब नाम-रूप-कर्म को आपने अक्षर की दृष्टि से नहीं बल्कि अनित्य वस्तु के रूप में जानना शुरू किया अर्थात् नायक के मरने पर अथवा नायिका के मरने पर आपने अभिनेता या अभिनेत्री के मरने की बुद्धि स्वयं में प्रकट की तब परेशानी होगी। क्योंकि अभिनेता या अभिनेत्री, नायक के प्रकट होने से या नायक के मर जाने से मर नहीं जाते। इस प्रकार यह सब नाम-रूप-कर्म नायक-नायिका की तरह हैं और अक्षर मुख्य अभिनेता की तरह है जो कृष्ण है, ऐसा समझ लें कि उनका निर्देशक है। वह अभिनेता के साथ मौजूद है। निर्देशन करने के लिए वह हर समय अभिनेता के भीतर मौजूद है। यदि आपको अभिनेता मिल गया तो

आपको घबराने की आवश्यकता नहीं कि निर्देशक कहाँ है क्योंकि निर्देशक न होता तो अभिनेता आता कहाँ से? निर्देशक बिना तो अभिनेता नहीं आ सकता।

इस प्रकार परब्रह्म निर्देशक है, अक्षरब्रह्म मुख्य अभिनेता है और जो कुछ नाम-रूप-कर्म हमें दिखाई दे रहा है - रमेशभाई या चिमनभाई या श्याम भाई आदि-आदि ये सब दूसरे बहुत से पात्र ही हैं। वे चाहे पुरुष होने का दावा करते हों, चेतन होने का दावा करते हों, जड़ होने का दावा करते हों या पुरुषोत्तम होने का दावा करते हों - सभी पात्र ही हैं। अथवा ये जो नायक-नायिका हैं वे अभिनेता हैं, अभिनेता तो अक्षर है और उनका निर्देशक ''परं ब्रह्म तु कृष्णो हि'' है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत इसे समझेंगे तो आपको समझ में आ जाएगा।

जब हमने यह बात समझी कि ''द्विरूपं तद्धि सर्वं स्याद्, एकं तस्माद् विलक्षणम्'' तो उससे विशिष्टरूप भी अक्षरब्रह्म का है। इस प्रकार आपको अब कोई वस्तु अप्राप्य नहीं रहती। सेवा करने में सेव्य की अप्राप्ति का भार अर्थात् संशय या अनिश्चय आपको खटकेगा नहीं, हृदय से यदि इस रहस्य को आप समझ गए कि हम सेवा तो कर रहे हैं पर कृष्ण कहाँ है? यह बात खटकेगी नहीं।

जिस प्रकार किसी ने ईसा से पूछा था कि आप भगवान के राज्य की बात करते हैं पर भगवान हैं कहाँ? भगवान का राज्य कहाँ है? ईसा ने इतना सुन्दर, स्पष्ट जवाब उस समय दिया - The kingdom of God is within you, among you. अर्थात् भगवान का राज्य आपके भीतर और आपके बीच ही है। इसलिए यह बात ध्यान से समझें कि यह जो भगवान की लीला है वह हमारे भीतर-बाहर सब तरफ है। किसके कारण है? इस कारण है कि जहाँ अक्षर है वहाँ अपना सब नाम-रूप का खेल (लीला) चल रहा है, इसी अक्षर में कृष्ण परब्रह्मरूप से विराजमान हैं।

इस प्रकार नाम-रूप का खेल जहाँ चल रहा है और वह अक्षरात्मक है तो उस अक्षर में विराजमान पुरुषोत्तम कभी भी किसी को भी अप्राप्य नहीं रहता। यदि आप अप्राप्य मान रहे हैं तो वह आपकी बुद्धि की कोई क्षुद्रता है, यह बात श्रीमहाप्रभुजी ने ''द्विरूपं तद्धि सर्वं स्याद्, एकं तस्माद् विलक्षणम्'' कह कर समझाई है कि अक्षर इस प्रकार का है। यथार्थतः तो तीन रूप बताए परन्तु ऐसे देखें तो दो रूप बताए - पर और अक्षर। अक्षर के दो रूप - एक सर्वात्मक और एक सर्वातीत।

प्रश्न : ब्रह्म और परब्रह्म में क्या अन्तर है?

उत्तर : ब्रह्म और परब्रह्म में वही अन्तर है जो मंत्री और प्रधानमंत्री में है अथवा मुख्यमंत्री और प्रधानमंत्री में है। प्रधानमंत्री, प्रधान तो है न और जो प्रधानमंत्री नहीं है वह भी मंत्री है परन्तु जो मंत्रियों का मंत्रीमंडल है उसमें बैठने वाला एक प्रधानमंत्री है तो यदि कोई विशेषता अलग से बतानी है तो उसके साथ 'प्रधान' विशेषण जोड़ना पड़ेगा। इसी प्रकार कृष्ण भी ब्रह्म है और अक्षर भी ब्रह्म है और हम भी ब्रह्म हैं, यह टेबल भी ब्रह्म है - ''सर्वं खलु इदं ब्रह्म''। परन्तु इसमें कृष्ण को विशेषरूप से कुछ अलग बताना है तो हम ब्रह्म के साथ 'पर' विशेषण जोड़ देते हैं। इसलिए वह विशेषरूप से अलग स्तर हो जाएगा। जैसे निदेशक और प्रबन्ध निदेशक तो प्रबन्ध निदेशक, निदेशक है कि नहीं? निदेशक तो है ही लेकिन जब निदेशकमण्डल का गठन होता है और उसमें हमें यदि कोई विशेषता अलग से बतानी है तो एक 'प्रबन्ध' विशेषण उसमें अधिक जोड़ देते हैं। बात अलग हो जाएगी इसलिए अलग स्तर आएगा कि यह निदेशक है और यह प्रबन्ध निदेशक है - यह मंत्री है और यह प्रधानमंत्री है।

इस प्रकार सब कुछ ही ब्रह्म है - ''सर्वं खलु इदं ब्रह्म'' - यह पुस्तक, माईक, टेबल, कुर्सी, चप्पल परन्तु सबको परब्रह्म नहीं कहा जा सकता। इनको ब्रह्म कह सकते हैं और कृष्ण को यदि अलग से उभारने के लिए कहना हो तो

उसके साथ 'पर' विशेषण लगा देते हैं कि ''परं ब्रह्म तु कृष्ण'' तो बात बन गई निदेशकमंडल में हमें एक अलग प्रबन्ध निदेशक मिल गया, मंत्रीमण्डल में आपको एक प्रधानमंत्री मिल गया। शेष दूसरा कोई अन्तर नहीं है।

प्रश्न :

उत्तर : ''सर्वं स्याद्'' जो अक्षर नाम-रूप-कर्म बन रहा है वह अक्षर और जो अक्षर नाम-रूप नहीं बन रहा है, नित्यलीलात्मक है - वह भी अक्षर। नाम-रूप-कर्म एक अनित्यलीला है - मंच पर नाट्य जैसी, मंच पर जो कोई आ रहा है वह अभिनेता नहीं आ रहा। मंच पर अभिनेता आए तो नाटक का सत्यानाश हो जाए। अत: मंच पर नायक आता है, खलनायक आता है, नायिका आती है - अभिनेता या अभिनेत्री नहीं आते। अभिनेता और अभिनेत्री आ गए और मान लें कि शिवाजी का कोई रूप लिया और वह सिर में जूँ खुजाने लगे तो ऐसा शिवाजी किसी दिन मंच पर आ जाए तो क्या शिवाजी का नाटक चलेगा? नाटक का सत्यानाश हो जाएगा।

इसी प्रकार जो ''सर्वं स्याद्'' है वे नायक-नायिका हैं, पात्र हैं और ''एकं तस्माद् विलक्षणम्'' अभिनेता है जो अक्षर है। इसीलिए '[ख/1]' और '[ख/2]' से चिह्नित किया है। अब यह जो बात है उसको श्रीमहाप्रभुजी निर्विवाद बनाना चाहते हैं। क्योंकि यह अपनी समझ है। यह सभी की समझ तो नहीं, अब सबकी समझ ऐसी नहीं है इसलिए अपनी समझ दूसरों की समझ के साथ टकराएगी। आज की तारीख में भी अपनी समझ वैष्णव की समझ के साथ टकरा रही है। वैष्णव की समझ महाराज लोगों की समझ के साथ टकरा रही है। महाराज और वैष्णव की समझ श्रीमहाप्रभुजी की समझ के साथ टकरा रही है।

इस सबका कारण यह है कि हमें श्रीमहाप्रभुजी ये सभी बातें जिस प्रकार समझा रहे हैं उस प्रकार हम समझना नहीं चाहते। कई वैष्णव ऐसा कहते

हैं कि भगवान तो सर्वत्र हैं, इसमें आप ही ऐसा आग्रह क्यों रखते हैं कि श्रीठाकुरजी केवल आपके हैं? भगवान सर्वत्र हैं फिर ऐसा आग्रह क्यों रखना कि मेरे श्रीठाकुरजी की सेवा मुझे ही करनी, मेरे श्रीठाकुरजी की सेवा आपको नहीं करनी। आपके श्रीठाकुरजी की आपको सेवा करनी, आपके श्रीठाकुरजी की सेवा मुझे नहीं करनी - ऐसा दुराग्रह क्यों रखना? यह दुराग्रह रखने का मतलब यह है कि श्रीठाकुरजी का सर्वेश्वर होने का, सर्वव्यापी होने का अथवा सर्वोपादान होने का आप खण्डन कर रहे हैं। हम यदि इस प्रकार समझना चाहते हैं तो समस्या हो रही है। इसलिए ध्यान से समझें।

आखिर कृष्ण की ही सेवा किसलिए करनी? मंदिर में ही सेवा किसलिए करनी? मस्जिद क्या बुरी है, क्या मस्जिद में कृष्ण नहीं, जो कण-कण में व्याप्त है वह क्या मस्जिद में नहीं है, क्या चर्च में नहीं है, क्या हाजीअली में नहीं है - ये सब तो अत्यन्त पवित्र स्थल हैं। इनसे भी अधिक बुनियादी प्रश्न यह आएगा कि क्या शौचालय में नहीं हैं? जो सर्वत्र व्याप्त है, जो सर्वव्यापी है तो वहाँ क्यों नहीं सेवा कर रहे?

कारण यह है कि सर्वव्यापी होना उसका कोई एक पहलू है और हम सर्वव्यापी नहीं हैं। हम उसकी सर्वव्यापकता को समझ सकते हैं परन्तु सर्वव्यापकता को अपने व्यवहार में नहीं ला सकते। सर्वव्यापकता के साथ हम बोल नहीं सकते। दयाराम भाई ने बहुत ही सुन्दर धोल लिखा है - ''**प्रकट मळे सुख थाये श्रीगिरधर, प्रकट मळे सुख थाये, व्यापकथी वातो न थाये ते विना जीव अकळाये**'' - अत: व्यापक के साथ बात नहीं हो सकती। व्यापक से किस दिशा में मुँह रख कर बात करेंगे? पूर्व में मुँह रख कर बात करेंगे तो कहेगा कि हट, मैं पश्चिम में हूँ, पश्चिम की तरफ घूम कर बात करेंगे तो कहेगा कि मैं दक्षिण में हूँ, चक्कर मारते-मारते बात करेंगे तो कहेगा कि हट में नीचे हूँ, नीचे देखने जाएंगे तो कहेगा कि मैं ऊपर हूँ। क्या नीचे देख कर बात

कर रहे हो? व्यापक से किस दिशा में मुँह रखकर बात कर रहे हो?

''व्यापकथी वातो न थाये ते विना जीव अकळाये, प्रकट मळे सुख थाये, श्रीगिरधर प्रकट मळे सुख थाये '' – अत: व्यापक के साथ हम किसी प्रकार की सेवा का व्यवहार तो नहीं कर सकते। सेवा का व्यवहार व्यापकब्रह्म के साथ नहीं हो सकता। व्यापकब्रह्म में सेवा का व्यवहार कृष्ण के साथ होगा। यह बात ध्यान से समझने की है।

'अक्षर' और 'पर' की बात यहाँ इसलिए प्रस्तुत करनी पड़ी कि व्यापक जो अक्षरब्रह्म है उसमें कृष्ण की सेवा करनी है। व्यापक अक्षरब्रह्म की सेवा नहीं करनी। यदि व्यापक अक्षरब्रह्म की सेवा करनी हो तो विभाजन की सभी रेखाएँ आपको हटानी पड़ेगी, मिटानी पड़ेगी और उनको मिटाने के पश्चात् तो न हम हवेली का आग्रह रख सकेंगे और न हम मन्दिर का आग्रह रख सकेंगे क्योंकि उस व्यापक में तो सभी वस्तुएँ समान हैं।

जैसे उक्त विषय में शौचालय और मन्दिर में कोई अन्तर नहीं, शराब में और प्रसाद में कोई अन्तर नहीं क्योंकि व्यापक में तो सभी स्थानों पर सभी वस्तुएँ व्याप्त हैं। अत: अपने जीवन में आप उस व्यापकता के साथ व्यवहार कर सकेंगे? जैसे गाय में हम भगवान देखते हैं, सभी देवों का स्थान गाय में देखते हैं, उसी तरह क्या सूअर में देख सकेंगे? यदि व्यापकता की अनुभूति हो रही है तो गीता में स्पष्ट उल्लेख है कि ''**शुनि चैव श्वपाके च पण्डिता: समदर्शिन:**'' अर्थात् सूअर में, कुत्ते में सब में आपको परब्रह्म को देखने की दृष्टि विकसित करनी पड़ेगी। वह दृष्टि विकसित होने के बाद न कोई सेव्य रह जाएगा और न कोई सेवा रह जाएगी। सेव्य, सेवक, सेवा के द्वैत का स्विच ऑफ हो जाएगा।

किसी सेव्य के साथ यदि सेवा रूपी व्यवहार निभाना है तो व्यापक में

आप कृष्ण के साथ सेव्य का व्यवहार निभा सकेंगे? व्यापकब्रह्म में कृष्ण को सेव्य बना कर उसके अंशरूप जीव से आप सेवक बन कर सेवा रूपी संबंध निभा सकते हैं परन्तु व्यापक के साथ आप सेवा निभाना चाहेंगे तो आप कबीर की तरह कहेंगे कि ''**पानी बीच मीन प्यासी, मोहे सुन-सुन आवे हांसी**'' – पानी में तैरती मछली प्यासी कैसे रह गई? हंसने जैसी बात है।

ब्रह्म तो व्यापक है और व्यापकब्रह्म में आपको ब्रह्म की जिज्ञासा किसलिए हुई? कबीर कहते हैं कि आपको ब्रह्म को प्राप्त करने की इच्छा कैसे हुई? पानी में रहनेवाली मछली कह रही है कि बहुत प्यासी हूँ, मुझे पानी चाहिए। तो तुम समझीं या नहीं समझीं कि पानी तत्त्व क्या है? या फिर किसी अन्य वस्तु की इच्छा कर रही हो – यह प्रश्न उत्पन्न होगा।

व्यापक की यह स्थिति है। उसमें सेवा नहीं हो सकती। व्यापक सेव्य नहीं बन सकता और व्यापक सेवक भी नहीं बन सकता। श्रीमहाप्रभुजी ने इस बात को श्रीसुबोधिनीजी में बहुत सुन्दर रूप से स्पष्ट किया है – ''**अपरिमिता ध्रुवास्तनभृतो यदि सर्वगता तर्हि न शास्यते इति नियमो ध्रुव नियतेरथा**'' – यदि जीव को व्यापकता की अनुभूति करनी है तो फिर सेवा की कोई जरूरत ही नहीं है, फिर तो सब एकाकार हो गया। व्यापकता की अनुभूति अपेक्षित नहीं है तो सेवा उपलब्ध है।

शास्त्र में इसके लिए एक बहुत ही सुन्दर बात समझाई गई है कि बरसात होती है तो गाँव में बाढ़ आ जाती है, चारों ओर पानी भर जाता है तब कोई भी वस्तु अस्पृश्य नहीं है – न गटर का पानी अपवित्र कहलाएगा, न कुएँ का पानी अपरस में गिना जाएगा क्योंकि बाढ़ आ गई है। बाढ़ आने का मतलब यह कि गटर कुएँ में मिल गया और कुआँ गटर में मिल गया। बाढ़ आ गई तो सब शुद्ध है। वर्षा का जल सब तरह से शुद्ध है क्योंकि सभी तरफ बरस रहा है। अत: अपवित्रता और अपरस का अन्तर बारिश के पानी में नहीं है।

आप अपरस में नहाए हैं और लोटे से पानी गिराया और जो अपरस में नहीं नहाया तथा उसने उस पानी में पैर रख दिया तो उस पानी को स्पर्श नहीं किया जा सकता क्योंकि पानी अपवित्र हो गया है। कारण यह है कि आपने जो पानी गिराया है वह व्यापक नहीं है। गलती से यदि व्यापक पानी गिरा दिया जाए तो पानी अपवित्र होना बन्द हो जाए क्योंकि छुआ-छूत का भेद, ग्राह्य-अग्राह्य का भेद, सुन्दर-असुन्दर का भेद, पाप-पुण्य का भेद ये सभी अव्यापक में हैं, व्यापक में कोई भेद नहीं है।

इसी प्रकार से सेव्य-सेवक का भेद व्यापक में नहीं, अव्यापक में है। अत: आपको अपने सेव्य को अव्यापक मानना पड़ेगा। अव्यापक मानेंगे तो वह सेव्य बनेगा। अव्यापक मानेंगे तो आप भी सेवक बनेंगे। यदि वह भी व्यापक और आप भी व्यापक तो फिर क्या सेवक और क्या सेव्य और क्या सेवा! कुछ समझते ही नहीं कि भगवान तो सबके हैं! भगवान सबके तो यार आपको किसलिए सेवा करने की इच्छा हो रही है? अरे, सभी सेवा कर रहे हैं, जाने दो न, यही समस्या है। श्रीमहाप्रभुजी की समझ हमें है नहीं और जो श्रीमहाप्रभुजी समझा रहे हैं कि तुम समझो उसे हम समझना नहीं चाहते। कोई बेतुकी ही बात समझ रहे हैं। अत: दूसरे लोग इस बात को किस प्रकार समझ रहे हैं, वह श्रीमहाप्रभुजी बता रहे हैं।

(सच्चिदानन्दकबृहद्[ख/1] विषये बहुविधवैमत्यपरिगणना तत्र श्रौतमतनिष्कर्ष: च) - सच्चिदानन्दक बृहद् के विषय में प्रचलित विविध मतावलम्बियों की गणना और उस विषय में श्रौतमत का निष्कर्ष।

अपरं[ख/1] तत्र पूर्वस्मिन्[ख/2] वादिनो बहुधा जगु:।
मायिकं सगुणं कार्यं स्वतन्त्रं चेति नैकधा।।4।।
[ख/1] तदेवैतत्[ख/2] प्रकारेण भवतीति श्रुतेर् मतम्।।

अन्वयार्थ :

तत्र = उसमें
पूर्वस्मिन् = पूर्व में
वादिन: = वाद करनेवाले
अपरं = दूसरा
बहुधा = बहुत प्रकार से
मायिकं = मायिक
सगुणं = गुणसहित
कार्यं = कार्य
स्वतन्त्रं = स्वतन्त्र **च** = और
इति = इस प्रकार से
न एकधा = एक प्रकार से नहीं
जगु: = कहते हैं
तद् = वह (अक्षरब्रह्म) **एव** = ही
एतत्प्रकारेण = इस प्रकार से
भवति = होता है
इति = ऐसा **श्रुते:** = वेद का
मतं = मत है

भावार्थ : अक्षरब्रह्म के उन दोनों रूपों में से पहले जगत्रूप ब्रह्म के विषय में वादी अनेक प्रकार से कहते हैं। कितने ही इस जगत् को माया से दिखाई देनेवाला कहते हैं। कितने ही त्रिगुणात्मक अर्थात् सत्त्व-रजस्-तमस् इन तीन गुणों से बना हुआ कहते हैं और कोई कहते हैं कि यह जगत् परमाणु से बना है अर्थात् ईश्वर का कार्य है। कितने ही कहते हैं कि प्रवाह की तरह यह जगह अनादिकाल से स्वतंत्र ही चला आ रहा है। अत: (जगत् को)एक प्रकार से

नहीं कहते हैं। वह अक्षरब्रह्म ही इस जगत् के रूप में बना है, यह वेद का मत है।

व्याख्या :

यह जो ''एकम् तस्माद् विलक्षणम्'' है अर्थात् नाम-रूप-कर्म विहीन जो व्यापक अक्षरब्रह्म है उसमें नाम रूप कर्मात्मक जो अक्षरब्रह्म बना है उस अक्षर की लोग अलग-अलग व्याख्या कर रहे हैं।

कोई कहते हैं कि यह नाम-रूप-कर्म जो है वह मायिक है। कोई कहते हैं कि नाम-रूप-कर्म, प्रकृति का कार्य है। कोई कहते हैं कि नाम-रूप-कर्म उत्पत्ति के पहले थे ही नहीं। कोई कहते हैं कि नाम-रूप-कर्म का भगवान के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, ये तो अनादिकाल से चले आ रहे हैं। एक नाम में से दूसरा नाम उत्पन्न हुआ, एक रूप में से दूसरा रूप उत्पन्न हुआ, एक कर्म में से दूसरा कर्म उत्पन्न हुआ।

जैसे प्रत्येक क्रिया में से एक प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाती है, प्रत्येक वृक्ष में से कोई एक कैरी उत्पन्न हो जाती है, प्रत्येक कैरी की गुठली में से वापस एक वृक्ष उत्पन्न हो जाता है, प्रत्येक नाम में से कोई दूसरा नाम उत्पन्न हो जाता है। अत: इस प्रकार नाम-रूप की कोई एक स्वतन्त्र संतति चली आ रही है - नाम-रूप-कर्म को कई लोग इस प्रकार भी मानते हैं। अत: कई प्रकार के मत हैं।

उक्त सब मतों के चक्कर में फंसोगे तो कृष्णसेवा करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। यदि आपने नाम-रूप-कर्म को मायिक माना, यदि आपने नाम-रूप-कर्म को प्राकृतिक माना, यदि आपने नाम-रूप-कर्म को अनित्य माना अर्थात् अभी जिस प्रकार से है वह पहले नहीं था और बाद में उत्पन्न हुआ अर्थात् नाम-रूप कर्म की अक्षररूपता को आपने नहीं माना और

यदि आपने नाम-रूप-कर्म को स्वतंत्र माना कि अक्षर एक अलग विभाग है और एक नाम से दूसरा नाम, एक रूप से दूसरा रूप, एक कर्म से दूसरा कर्म सतत उत्पन्न होता मिल रहा है, नदी की भाँति, तो बस समझ लें कि फिर न सेव्य की आवश्यकता है और न सेवक की आवश्यकता है। कारण यह है कि जब भी आपको कोई न कोई नाम-रूप कर्मात्मक सेव्य मिलेगा, आप चाहे जैसे सेवक हों परन्तु कोई न कोई नाम-रूप कर्मात्मक सेवक ही रहेंगे अत: वह यदि मायिक है तो निरस्त, यदि प्राकृतिक है तो भी निरस्त और यदि सर्वथा नश्वर ही है अर्थात् उसका कोई अनश्वर पहलू नहीं है, उसका कोई अक्षरात्मक पहलू नहीं है तो सेवा निरस्त और वह स्वतन्त्र है, जिसका ईश्वर के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

यह तो ''**लाई हयात, आए, कजा ले चली, चले। अपनी खुशी न आए न अपनी खुशी चले**'' - वाली बात है। इस प्रकार जो नाम-रूप आ रहे हैं और जा रहे हैं तो फिर सेवा की क्या आवश्यकता? क्योंकि जिसको आप सेवा द्वारा सेव्य बना रहे हैं वह न तो अपनी खुशी से आ रहा है, न ही अपनी खुशी से जा रहा है और न ही आप अपनी खुशी से आ रहे हैं और न ही आप अपनी खुशी से जा रहे हैं। व्यर्थ में सेवा की परम्परा का किसलिए पालन कर रहे हैं? यदि किसी की खुशी के लिए आप आ रहे हैं, किसी की खुशी के लिए आप जी रहे हैं तो ''**आनन्दाद् हि एव खलु इमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्ति अभिसंविशन्ति**'' - इसलिए श्रुति कहती है ''**तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म**'' - जो आनन्द से प्रकट नहीं हो रहा है, आनन्द से जीवित नहीं है, आनन्द में लीन नहीं है और स्वत: ही कुछ आ रहा है, अपने आप कुछ जा रहा है, अपने आप कुछ ठीक हो रहा है, कोई नष्ट हो रहा है तो व्यर्थ में कोई किसी की सेवा किसलिए करे?

शांकर मत में एक बहुत मजेदार श्लोक है। लिख लेंगे तो भी काम

आएगा और याद रखेंगे तो भी काम आएगा – ''**उभावपि अश्रुत ग्रंथौ उभावपि जडात्मकौ, अहो मोहस्य माहात्म्यं तत्रैकः शिष्यतां गतः**'' – अर्थात् दोनों में से किसी ने भी ग्रन्थ नहीं पढ़े, दोनों भैंस के अवतार हैं परन्तु इस मोह का माहात्म्य तो देखो कि इसके बावजूद एक गुरु है और एक शिष्य है। यह क्या आश्चर्य है? यह दुनिया का सबसे बड़ा आश्चर्य है कि दोनों मूर्ख, दोनों भैंस के अवतार, दोनों कुछ नहीं जानते फिर भी एक गुरु है और एक शिष्य है, एक बालक है और एक भगवदीय है। उनका यह अद्‌भुत माहात्म्य है। किस प्रकार का माहात्म्य है, कुछ पता ही नहीं चलता। अतः यह बात समझें कि इस तरह से बात आगे नहीं बढ़ेगी।

यदि सेवा करनी है तो दोनों को आनन्दात्मक होना पड़ेगा। ''**आनन्दाद् हि एव खलु इमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति।**'' पहुँचेंगे लेकिन आनन्द में, आनन्द में से आए हैं, आनन्द में स्थिर हो रहे हैं, आनन्द में ही लीन हो जाएंगे। इसीलिए श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि सेवा कर न भाई! सेवा क्यों नहीं करते? अब सेवा करने में क्या तकलीफ है?

सेवा करने में जो भी कुछ कठिनाई थी वह संसार की ही कठिनाई थी। लेकिन यदि आपको भरोसा है कि आनन्द में से आए हैं, आनन्द में स्थित हैं, आनन्द में लीन होनेवाले हैं तो फिर सेवा करने में क्या कठिनाई है? अब तो भक्ति पंचम पुरुषार्थ हो गई क्योंकि भक्ति इसके सिवा अन्य कोई बात नहीं कहती। आनन्द की ही तो बात कह रही है। आनन्दात्मिकासेवा नहीं कर रहे, कर्मात्मिकासेवा कर रहे हैं, कामात्मिकासेवा कर रहे हैं, दुःखात्मिकासेवा कर रहे हैं, हाय-हाय कर रहे हैं तो फिर वह सेवा ही नहीं रही। फिर तो परिश्रम हो गया, नरक यातना हो गई।

अतएव श्रीमहाप्रभुजी ने कितना सुन्दर अपना अन्तिम निर्णय दिया है – ''तदेवैतत् प्रकारेण भवतीति श्रुतेर् मतम्।'' बाकी लोग क्या कह रहे हैं, उनको

उनकी बात कहने दें। सेव्य के साथ सेवा का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए आपको यह समझना बहुत ही आवश्यक है कि ''तदेवैतत् प्रकारेण भवतीति'', ''तदैव अक्षरब्रह्ममैव एतत् प्रकारेण भवतीति।''

यदि कोई माया कह रहे हैं तो मायिक भी दुनिया में कोई वस्तु है और वह अक्षरब्रह्म ही बना है, यदि कोई उसे प्रकृति कह रहा है तो प्रकृति कोई पदार्थ है और वह अक्षरब्रह्म ही बना है। यदि कोई कह रहा है कि ये नाम-रूप-कर्म प्रकट हो रहे हैं और नष्ट हो रहे हैं तो प्रकट होनेवाली और नष्ट होनेवाली वस्तु यदि कोई बना है तो वह अक्षरब्रह्म ही बना है।

यदि आपको ऐसा लग रहा है कि नियंत्रण के बिना, अपने आप एक में से दूसरा प्रकट हो रहा है, बीज में से वृक्ष और वृक्ष में से बीज प्रकट हो रहा है, कोई स्वतंत्र प्रवाह चल रहा है तो वह स्वतंत्र प्रवाहरूप भी वही बना है। ''तदेवैतत् प्रकारेण भवतीति श्रुतेर् मतम्'' – इसमें घबराएं नहीं। वे जो कुछ भी कह रहे हैं उनकी बात सुन लें और सुनकर घबनाएँ नहीं। मन में यह बात निश्चय करके जान लें कि कोई माया का बिगुल बजा रहा है तो उसको माया का बिगुल बजाने दें। आप मन में इस बात को हर समय स्पष्टरूप से ध्यान में रखें कि माया के कारण से यदि कोई मायिक है तो स्वयं माया नहीं बल्कि अक्षरब्रह्म मायिक बना है। प्रकृति के कारण कोई वस्तु प्राकृतिक है तो प्रकृति मूलतत्त्व नहीं बनी बल्कि अक्षरब्रह्म प्रकृतिरूप बना है। यह बात आप भलीभाँति समझ लें कि प्रकृति अर्थात् पदार्थ। जड़ पदार्थ को प्रकृति कहा जाता है।

''तदेवैतत् प्रकारेण भवतीति श्रुतेर् मतम्'' – इस बात को समझने के लिए एक उदाहरण देते हैं – आपके समक्ष यह बात स्पष्ट हो गई है कि दूसरे किसी की समझ से अपनी समझ दूषित नहीं हो सकती। जैसे कम्प्यूटर में

वायरस डिटेक्शन फाइल आती है और उससे वायरस को हटाते हैं, ऐसे ही सभी विषाणु (वायरस) श्रीमहाप्रभुजी ने अपने विषयों में से दूर कर दिये हैं। अब जो बचा है उसमें क्या करना है? उस प्रोग्राम की फाइल श्रीमहाप्रभुजी खोल रहे हैं।

(भक्त्या दृष्टव्यं परं, श्रुत्यादिविहितश्रवणाद्युपायैः ज्ञेयं बृहद्, भजनौपयिकाखिलसामग्री च ब्रह्मात्मिकैव इति गंगादृष्टान्तेन उपपत्तिः)- अक्षरब्रह्म का प्रत्यक्ष ज्ञान श्रुत्यादिविहित श्रवण आदि साधनों से होता है। भजनोपयोगी अखिल सामग्री ब्रह्मात्मक है। उसकी गंगाजी के दृष्टान्त से उपपत्ति (प्रतिपादन)।

द्विरूपं चापि गंगावज् ज्ञेयं सा जलरूपिणी।।5।।
माहात्म्य-संयुता नृणां सेवतां भुक्ति-मुक्ति-दा।
मर्यादामार्गविधिना तथा ब्रह्मापि बुध्यताम्।।6।।

अन्वयार्थ :

च = और
द्विरूपं = दो रूपवाला (जगत्‌रूप और अक्षररूप)
अपि = भी
गंगावत् = गंगाजी की तरह
ज्ञेयं = जानना
(एका = एक **) सा** = वह
जलरूपिणी = जलरूपवाली
(अपरा = दूसरी **)**
माहात्म्यसंयुता = माहात्म्य से संयुक्त
मर्यादामार्गविधिना = मर्यादामार्गीय विधि से

सेवतां = सेवा करने पर **नृणां** = पुरुष को
भुक्ति-मुक्तिदा = भोग-मोक्ष देनेवाली
(अस्ति = है **)** **तथा** = उस तरह से
ब्रह्म अपि = ब्रह्म भी **बुध्यताम्** = जानना

भावार्थ : और दो रूपवाले अक्षरब्रह्म को भी गंगा की तरह जानना। एक गंगा जलरूप है और दूसरी माहात्म्य से संयुक्त तीर्थरूप जो मर्यादामार्ग की पद्धति से सेवन करनेवाले मनुष्यों को भोग और मोक्ष देनेवाली है। ऐसे ही अक्षरब्रह्म को भी दो प्रकार का जानना।

व्याख्या :

ऊपर दिए गए शीर्षक ''भक्त्या दृष्टव्यं परं'' में भक्ति से परब्रह्म दिखाई दे रहा है। ''श्रुत्यादिविहितश्रवणाद्युपायैः ज्ञेयं बृहद्'' अर्थात् श्रुति से विहित, श्रुत्यादि शास्त्रों के द्वारा विहित श्रवणादिक के जो उपाय हैं उन उपायों में से जो बात अपनी समझ में आ रही है वह अक्षरब्रह्म है। ''भजनौपयिकाखिलसामग्री'' - भजन के उपयोग में आनेवाली सम्पूर्ण सामग्री ''च ब्रह्मात्मिकैव इति गंगादृष्टान्तेन उपपत्तिः'' - ब्रह्मात्मिका ही है या नहीं? यह सारी बात गंगाजी के दृष्टान्त से आप समझ सकेंगे।

अर्थात् अन्य मतों के जो विषाणु (वायरस) हैं वे आपकी सेवा की फाइल को दूषित नहीं करते। यह बात अब आपको समझ में आएगी कि जो भक्ति से दिखाई दे रहा है वह ब्रह्म, परब्रह्म है। शास्त्रविहित जो श्रवणादि उपाय हैं, उनसे समझ में तो आता है पर दिखाई नहीं देता क्योंकि दिखाई देने के लिए स्नेह की आवश्यकता है। समझ में आने हेतु स्नेह की आवश्यकता नहीं, मस्तिष्क में बुद्धि की आवश्यकता है। यह बुद्धि कैसी? शास्त्र हमें जैसी बुद्धि दे रहा है उस हिसाब से समझेंगे तो बात समझ में आ जाएगी।

''**श्रुत्यादिविहितश्रवणाद्युपायैः ज्ञेयं बृहद्**''''**आत्मावारे दृष्टव्य, श्रोतव्य, मंतव्य, निदिध्यासितव्य**'' अथवा ''**श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्**'' – इन सभी विहित उपायों से जो बात समझ में आ सकती है वह दिखाई नहीं देगी क्योंकि अक्षर जो सबका आधार है, वह दिखेगा कहाँ से?

गालिब ने बहुत ही सुन्दर बात कही है – ''**उसे कौन देख सकता के यगाना है वो यकता। जो दुई की बू भी होती कहीं तो दो-चार होता**'' – वह एक है या एकदम एकाकी है, यह बात कौन देख सकता है? दिखाई क्यों नहीं देता? दिखाई नहीं देने का कारण यह है कि दृष्टा के समक्ष दृश्य हो तभी तो कोई वस्तु दिखाई देगी। देखनेवाला भी स्वयं ही है और जिसे देखा जाना है वह भी स्वयं ही है। इसलिए दृष्टा जब देखने जाता है तो स्वयं को किस प्रकार देख सकता है? इसीलिए उसको कुछ दीख ही नहीं रहा।

जो दुई (द्वैत) की गंध होती, द्वैत की गंध भी कहीं होती तो दो-चार होते, देखनेवाला स्वयं ही दिखनेवाला है और दिखाई देनेवाला स्वयं ही देखने वाला है। तो जब दिखनेवाले और देखनेवाले में कोई भेद ही नहीं है तो उसे कौन देख सकता है? अतः अक्षरब्रह्म की अवस्था तो ऐसी है कि जहाँ दिखनेवाला और देखनेवाला एक हो रहा है। अक्षरब्रह्म दिखाई नहीं देता परन्तु स्नेह से तो परब्रह्म को देखा जा सकता है क्योंकि स्नेह की दृष्टि ही ऐसी है। अक्षरब्रह्म समझ में आ सकता है परन्तु दिखाई नहीं देता। परब्रह्म समझ में आना बहुत मुश्किल है पर उसको ठीक-ठीक देखा जा सकता है। कारण यह है कि परब्रह्म को समझने में बहुत ही मुश्किल हो जाएगी।

हम कहते हैं कि यह परब्रह्म है और हमें दिखाई दे रहा है, अद्वैतियों को इसीलिए ही उसकी परब्रह्मता अनुभूत नहीं होती कि वह दिखाई दे रहा है तो

परब्रह्म किस प्रकार हुआ? यही तो बात है कि भक्ति हो तो वह दिखे, भक्ति ना हो तो कैसे दिखाई दे सकता है? अतः देखने के लिए भक्ति की आवश्यकता है। समझ में आने के लिए बुद्धि की आवश्यकता है और बुद्धि तथा स्नेह दोनों मिल जाएं तो आपको अक्षरब्रह्म में परब्रह्म दिखाई देने लगेगा।

अतएव दिखाई देते परब्रह्म की सेवा करने के लिए आप यदि कुछ भी सामग्री एकत्र करेंगे, सामग्री अर्थात् लड्डू, पूरी, मठरी, आदि को न समझें, सामग्री का तात्पर्य सिंहासन, गादी, तकिया, शृंगार अथवा गुंजामाला है। यह सभी सेवा की सामग्री है।

ये सभी ब्रह्मात्मिका ही हैं, कोई भी वस्तु मायिक नहीं, प्राकृतिक नहीं, अनित्य नहीं और कोई भी वस्तु स्वतंत्र नहीं है। ''ब्रह्मात्मिकैव इति गंगादृष्टान्तेन उपपत्तिः'' – इस बात को गंगाजी के दृष्टान्त से समझा रहे हैं। ''द्विरूपं चापि गंगावज् ज्ञेयं'' – द्विरूप को गंगाजी के उदाहरण से किस प्रकार समझना? गंगा तो जलरूपा है और वह बहता प्रवाह है और इस गंगा को बांध बना कर रोका जा सकता है। यह गंगा गर्मी में सूख सकती है और इस गंगा में बरसात में बाढ़ भी आ सकती है।

मान लें कि गंगा में बरसात में बाढ़ आ गई तो ऐसा नहीं है कि उसका माहात्म्य बढ़ गया और यदि गंगाजी में बाढ़ नहीं आई और गर्मी में सूख गई तो गंगा का माहात्म्य सूख गया – ऐसा नहीं। ''माहात्म्य-संयुता नृणां सेवतां भुक्ति-मुक्ति-दा'' – जो माहात्म्यवाली तीर्थरूपा गंगाजी हैं, वे जहाँ-जहाँ गंगा के किनारे तीर्थता प्रकट हुई है वहाँ उनकी तीर्थरूपता प्रकट हो रही है। गंगा के उस तीर्थरूप का सेवन करनेवाले को गंगाजी भोग-मोक्ष सब देनेवाली हैं।

''भोगः शिवेन मोक्षस्तु'' – बालबोध का स्मरण हो तो यह बात समझ में आएगी, नहीं तो समझ में नहीं आएगी। बालबोध किस प्रकार बालबोध है

और किस प्रकार बालबोध के पश्चात् सिद्धान्तमुक्तावली शुरू हो रही है, इसे समझने की कोशिश करेंगे तो उसकी सुन्दरता दिखाई देगी।

''माहात्म्य-संयुता नृणां सेवतां भुक्ति-मुक्ति-दा'' - इस आध्यात्मिक स्तर पर ला कर श्रीमहाप्रभुजी ने वह वृत्त बन्द कर दिया। आधिदैविक तक जाने की आवश्यकता नहीं, इतना काम तो आपका आध्यात्मिक पक्ष से हो जाएगा। आपको भोग चाहिए, आपको मोक्ष चाहिए तो वह सब आध्यात्मिकता से मिल जाएगा।

''मर्यादामार्गविधिना तथा ब्रह्मापि बुध्यताम्'' - त्रैवर्गिक जो मर्यादामार्गीय विधि है - ''वेदाद् आद्या यत: स्थिता:''''त्रिवर्ग साधकानीति न तन्निर्णय उच्यते'' - इसी बात का यहाँ संदर्भ दे रहे हैं। यहाँ सिद्धान्तमुक्तावली है पंचम पुरुषार्थ के अनुसंधान में और वहाँ मोक्षपुरुषार्थ के अन्तर्गत निरूपण था। यहाँ पंचम पुरुषार्थ के अन्तर्गत निरूपण हो रहा है।

''मर्यादामार्गविधिना तथा ब्रह्मापि बुध्यताम्'' - में जो सबसे मुख्य बात अब आ रही है अर्थात् पंचम पुरुषार्थ के अनुरूप किसी एक पक्ष की बात है, ब्रह्म के उस आधिभौतिक पक्ष की बात नहीं, आध्यात्मिक पक्ष की बात नहीं है, आधिदैविक पक्ष की बात है और वह अब सामने आ रही है।

तत्रैव देवतामूर्तिर् भक्त्या या दृश्यते क्वचित्।
गङ्गायां च विशेषण प्रवाहाभेदबुद्धये।।7।।

प्रत्यक्षा सा न सर्वेषां प्राकाम्यं स्यात् तया जले।
विहिताच्च फलात् तद् हि प्रतीत्यापि विशिष्यते।।8।।

अन्वयार्थ :

तत्र = वहाँ, **एव** = ही
या = जो, **देवतामूर्ति:** = देवीस्वरूप

(सा = वह) **भक्त्या** = भक्ति से
गङ्गायां = गंगा में, **विशेषेण** = विशेष से
प्रवाहाभेदबुद्धये = प्रवाह से अभेद बुद्धि होने से
च = भी, **क्वचिद्** = कभी
दृश्यते = दिखाई देती है, **सा** = वह
सर्वेषां = सब को
प्रत्यक्षा = प्रत्यक्ष, **न** = नहीं
तया = उसके, **जले** = जल में
प्राकाम्यं= उत्तम कामना से
स्यात् = होता है, **तद्** = वह
हि = तो, **विहितात्** = शास्त्र में बताए गए
फलात् = फल से, **च** = और
प्रतीत्या = प्रतीति से, **अपि** = भी
विशिष्यते = विशेष होता है

भावार्थ : उस तीर्थरूप और जलरूप गंगा में ही जो देवतारूप गंगा की मूर्ति है वह गंगा, भक्ति का उत्कर्ष होने पर और विशेषरूप से जिसको प्रवाह और मूर्ति में अभेद बुद्धि होती है उस भक्त को ही किसी समय गंगा में दिखाई देती है। वह देवमूर्ति गंगा सबको प्रत्यक्ष नहीं दिखती है। उस गंगा से ही जल में स्नान, आचमन आदि उत्तम कार्य करना सिद्ध होता है। क्योंकि वह जल, शास्त्र में कहे गये फल को देनेवाला होने से और महात्माओं के विश्वास से भी अन्य जल की अपेक्षा उत्तम समझा जाता है।

व्याख्या :

''**तत्रैव देवतामूर्तिर् भक्त्या या दृश्यते क्वचित्**'' - अर्थात् आपको स्नेह है तो वह देवमूर्ति दिखाई देगी। केवल ज्ञान से वह देवमूर्ति दिखाई नहीं

देगी। आपमें कुछ समझ विकसित हो गई, आपने वे सभी काम जो शास्त्रविहित रीति से करने थे – धर्म, अर्थ, काम आपने कर लिए अथवा आप समझ गए कि इन सबमें कुछ न कुछ झमेला है तो आपको मुक्त होना है तो आप मुक्त हो गए। लेकिन मुक्त हो गए तो भी उससे आधिदैविक देवमूर्ति दिखाई नहीं देगी।

आधिदैविक मूर्ति को देखने के लिए तो आपको अपने भीतर भक्ति की आँख विकसित करनी ही पड़ेगी। भक्ति की आँख अर्थात् जैसे माँ की आँख होती है जो बेटे का सौन्दर्य समझती है। भले ही काला हो, टेढ़े मुँहवाला हो लेकिन माँ की आँख हो तो समझ में आएगा कि बेटा कितना प्यारा है! माँ की आँख न हो तो यह समझ में नहीं आएगा कि बेटा कितना प्यारा है! इसी प्रकार मजनू की आँख से लैला की खूबसूरती समझ में आएगी। मजनू की आँख के बिना लैला की खूबसूरती समझ में नहीं आ सकती।

इसी प्रकार आधिदैविक मूर्ति को देखने के लिए भक्ति की आँख चाहिए। **''तत्रैव देवतामूर्तिर् भक्त्या या दृश्यते क्वचित्, गङ्गायां च विशेषण प्रवाहाभेदबुद्धये''** – वह किसको दिखाई देगी? श्रीमहाप्रभुजी ने उसकी शर्त एकदम कस कर बांध दी है। इसको भेददृष्टि से अनुभव नहीं कर रहे कि जल तो कोई जल है और गंगा कोई दूसरी गंगा है। अरे, उस जल को देख कर इतना उत्साह आ जाए कि बस यही गंगा है, यह गंगा माँ है। गंगा माँ किस प्रकार हो गई? यह तो केवल जल है, बहती नदी है।

मुसलमानों और ईसाइयों को अपनी यह दृष्टि समझ में नहीं आती। वे कहते हैं कि कितने बेवकूफ हैं! हमें असंस्कारी मूर्तिपूजक कहते थे और जंगली भी। किसलिए मूर्तिपूजा करते हैं? कभी जल को, कभी वृक्ष को, कभी पर्वत को, कभी पत्थर को देव मानते हैं। बात तो यह सच है क्योंकि अपनी धरती के प्रत्येक पहलू से उनको स्नेह नहीं है। इसलिए उनको हम जंगली

लगते थे। यदि एक बार स्नेह हो जाए – जैसे ईसाइयों को सूली से स्नेह है,सूली में उनको ईसा दिखाई देते हैं। मुसलमानों को मस्जिद से स्नेह है तो खाली मकान में उनको अल्लाह दिखाई देता है। स्नेह है तो उनको भी दिखाई दे रहा है। जहाँ उनको स्नेह नहीं है वहाँ उनको ऐसा लग रहा है कि सब जंगली ही जंगली मौजूद हैं।

यार, जंगली मौजूद नहीं हैं बल्कि आपकी दृष्टि में स्नेह नहीं है। स्नेह को समझने का आपमें कौशल नहीं है। आप केवल अपने स्नेह को ही स्नेह मान रहे हैं, दूसरे के स्नेह को स्नेह नहीं मान रहे, जंगलीपन मान रहे हैं। तो इस कारण से स्वाभाविक है कि एक अलग स्थिति निर्मित हुई लेकिन यदि स्नेह की दृष्टि है तो आपको भी दिखाई देगा, क्यों नहीं दिखाई देगा?

''प्रत्यक्षा सा न सर्वेषां'' – वह सबके समक्ष प्रत्यक्ष नहीं होता। प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता? क्योंकि सबकी आँख में वह स्नेह नहीं झलक रहा, जिसकी आँख में माँ की तरह अपने बेटे के लिए स्नेह झलकता हो कि बेटा कितना प्यारा है तो माँ की आँख से छलकते प्रेम से ही वह पहचाना जा सकता है। मजनू की आँख में छलकते प्रेम से ही लैला की खूबसूरती पहचानी जा सकती है।

इसी प्रकार इस ब्रह्म में जो परब्रह्म की मूर्ति है उसे देखने के लिए एक स्नेहवाली, एक भक्तिवाली आँख की आवश्यकता है और यदि वह आँख आपको मिल गई तो बड़ी कामना प्रकट हो जाएगी।

धर्म का, अर्थ का, काम का और मोक्ष का जो भी कुछ फल है, उन सब में जो अतिसुन्दर कोई फल है तो वह आपको आपकी आँख से दिखाई दे गया। किसी हॉस्पिटल में जो नर्स किसी बालक की अच्छी प्रकार से सेवा कर रही है, उस बालक की सारी बातें उसे समझ में आ रही हैं, सम्भवत: माँ को जितनी समझ में न आए उससे अधिक नर्स को समझ में आ जाए लेकिन उस बालक

के स्वरूप में वह प्यार नहीं दिखाई देता जो माँ की आँख में होता है। अपना बालक काना हो, काला हो, टेढ़े दाँतवाला हो, बिना केशवाला हो या केशवाला हो, रीछ जैसा हो तो भी माँ को तो उस स्वरूप में सच्चा प्रेम ही समझ में आएगा।

आपके छप्पर पर जब कभी कबूतरी अण्डे दे तो उसे देखें। उसमें से निकलते हुए नये बच्चे कितने गंदे लगते हैं। कबूतर जितना सुंदर होता है उतने ही कुरूप कबूतर के अण्डों में से निकलनेवाले बच्चे लगते हैं, घिन आती है परन्तु वे कबूतरी को कितने प्यारे लगते हैं! बच्चे एकदम घृणास्पद होते हैं परन्तु कबूतरी को बच्चों में जो सुन्दरता दिखाई देती होगी वह हमें समझ में नहीं आ सकती। छोटे-छोटे पिल्लों के बारे में भी कुतिया को ही समझ में आता है। हमें समझ में नहीं आता। हमें वह बहुत खराब लगता है। हो सकता है हमारे बच्चे भी उनको खराब लगते हों परन्तु हमें वे गंदे नहीं लगते। यही खूबसूरती देखने जैसी है।

अपने में वह स्नेह की आँख है इसलिए उस स्नेह की आँख से तो दिखाई देगा - ''विहितात् च फलात् तद्धि'' - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के जो भी विहित फल हैं उन सब में यह बात हमें विशेषरूप से दिखाई देने लगेगी- ''प्रतीत्यापि विशिष्यते।''

यथा जलं तथा सर्वं यथा शक्ता तथा बृहत्।
यथा देवी तथा कृष्णः .....।।9।।

अन्वयार्थ :

यथा = जैसे, **जलं** = जल
तथा = वैसे, **सर्वं** = सब
यथा = जैसे, **शक्ता** = शक्तिमान

(गंङ्गा पवित्रीकर्तृ = पावनकारिणी गंगाजी)
तथा = वैसे, **बृहत्** = विशाल
(**ब्रह्म सर्वशक्तं** = सर्व समर्थ अक्षरब्रह्म)
यथा = जैसे, **देवी** = देवी (गंगा)
तथा = वैसे, **कृष्णः** = श्रीकृष्ण (परब्रह्म)

भावार्थ : अतः जैसे संकोच-विकासयुक्त गंगा का जल है वैसे ही यह जगत्रूप ब्रह्म भी आविर्भाव-तिरोभाव धर्मवाला है। और जैसे पवित्र करने वाली सामर्थ्यरूप गंगा है वैसे ही सर्वशक्तिमान अक्षरब्रह्म है। तथा जैसे आधिदैविक देवीरूप गंगा है वैसे ही परब्रह्म श्रीकृष्ण भी आधिदैविक स्वरूप हैं।

व्याख्या :

जैसे वर्षा और गर्मी की ऋतु में जल बढ़ता-घटता है वैसे ही ये सम्पूर्ण जगत् है। जैसे प्रयाग एक तीर्थ है, हरिद्वार एक तीर्थ है, ऋषिकेश एक तीर्थ है अर्थात् गंगाजी के जो अलग-अलग तीर्थ हैं उनका एक आध्यात्मिक पक्ष है और उस गंगाजल को स्नेह से देखनेवाली भक्त की जो आँख है उसमें कभी-कभी उसको गंगा देवी दिखाई देती है। भक्ति की आँख से देवी दिखाई देती है। ''**यथा देवी तथा कृष्णः**'' - जैसे देवी है वैसे ही ये कृष्ण हैं। क्यों यह बात समझा रहे हैं कि परब्रह्म कौन है? यदि बात समझ में आ रही हो तो सेवा का सम्बन्ध स्थापित हो सकेगा। बात समझ में नहीं आ रही तो सेवा का सम्बन्ध आपसे निभ नहीं पाएगा।

वह तीर्थ नहीं, वह बहता जल नहीं, वह स्नेहभरी दृष्टि से दिखाई देनेवाली देवी की मूर्ति है। इसी प्रकार आपको स्नेह होगा कि मेरे माथे विराजता स्वरूप कितना प्यारा है तो आपको परब्रह्म दिखाई देगा और यदि आप समझ रहे हैं कि हवेली में विराजनेवाला स्वरूप परब्रह्म कृष्ण है, आपके

घर में विराजनेवाला स्वरूप क्षुद्र है, वह पुष्ट भी नहीं है, उसके वोल्टेज कम हैं, वह मठड़ी नहीं खा रहा, वह केवल नागरी खा रहा है तो समझ लें कि वह बारिश में बढ़ने और गर्मी में घटनेवाला जल ही है। फिर वह पुरुषोत्तम नहीं रहा। एक बार अपने श्रीठाकुरजी को निरखने के लिए प्रेम की दृष्टि प्रकट करें कि जैसे देवी है वैसे मेरा कृष्ण है, फिर देखें वह परब्रह्म हो जाएगा। वही कृष्ण परब्रह्म हो जाएगा। अतः आपको वह दृष्टि प्रकट करने की आवश्यकता है।

(लौकिकं जगत् त्रिविधमिति लौकिकव्यवहारनियामकाः देवताः तिस्रः, स्वमार्गीया भक्तिर्हि श्रीकृष्णे अनन्यासक्तिरूपेति तन्नियामकोऽपि श्रीकृष्णः एकएव) – लौकिक जगत् के तीन रूप हैं इसलिए लौकिक व्यवहार के नियामक देव भी तीन हैं परन्तु जागतिक व्यवहार उत्पन्न होनेवाले, स्थित होनेवाले और नष्ट होनेवाले व्यवहार हैं। इसलिए इस जगत् के आधिदैविक अधिष्ठाता देव भी तीन हैं – ब्रह्मा, विष्णु और शिव।

परन्तु श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि सेवा करने में आप ब्रह्मा, विष्णु और शिव देवताओं की चिन्ता न करें। यहाँ देखें, बालबोध से किस प्रकार हमारी निवृत्ति करा रहे हैं! वहाँ बालबोध में प्रौढ़ व्यक्ति को बालक बना कर बताया और यहाँ बालक को वापस प्रौढ़ किस प्रकार बना रहे हैं – यह बात समझें।

..... तत्राप्येतद् इहोच्यते।।9।।
जगत्तु त्रिविधं प्रोक्तं ब्रह्म-विष्णु-शिवास् ततः।
देवतारूपवत्-प्रोक्ता ब्रह्मणीत्थं हरिर् मतः ।।10।।

अन्वयार्थ :

तत्रापि = उसमें भी, **इह** = यहाँ
एतद् = यह, **उच्यते** = कहते हैं

जगत् = जगत् **तु** = तो
त्रिविधं = तीन प्रकार का
प्रोक्तं = कहा गया है
ततः = इससे
ब्रह्मविष्णुशिवाः = ब्रह्मा-विष्णु-शिव
देवतारूपवत् = देवतारूप से
प्रोक्ताः = कहे गये हैं
इत्थं = इस प्रकार से
ब्रह्मणि = ब्रह्म में **हरिः** = श्रीकृष्ण
मतः = माने गये हैं

भावार्थ : उसमें भी यहाँ इतना और कहा जाता है। जगत् तो सत्त्वादि गुणों के भेद से तीन प्रकार का है, इसलिए उस जगत् के अधिष्ठाता ब्रह्मा, विष्णु और शिव लोक में उपास्य देवता कहे गये हैं और अक्षरब्रह्म में श्रीकृष्ण को ही सेव्य देवता माना है। अर्थात् ब्रह्मज्ञानी मुक्तजीव द्वारा भजने लायक तो श्रीकृष्ण हैं।

व्याख्या :

यह जगत् तीन प्रकार का है। यहाँ कुछ उत्पन्न हो रहा है, यहाँ किसी का पालन हो रहा है, यहाँ किसी का नाश हो रहा है इसलिए अधिष्ठाता देव भी तीन हैं – ब्रह्मा, विष्णु और शिव।

आप न तो उत्पन्न हो रहे, न आपका पालन हो रहा, न आपका नाश होना है। आप तो सेवा कर रहे हैं। बस उसमें (अक्षरब्रह्म में) आप सेवा कर रहे हैं। यहाँ भी सेवा करेंगे, वहाँ भी सेवा ही करेंगे। पहले भी सेवा ही करते थे, अब भी सेवा कर रहे हैं और आगे भी सेवा ही करनेवाले हैं। पहले भी कृष्ण थे, अब भी कृष्ण हैं और आगे भी कृष्ण रहेंगे। इस बात को समझाने के लिए

''**ब्रह्मणीत्थं हरिर् मतः**'' कहा। क्योंकि आप अक्षरब्रह्म में कृष्ण की सेवा कर रहे हैं। उसमें उत्पत्ति, स्थिति और नाश तक की जो प्रक्रिया है वह क्षर (जगत्) में उत्पन्न हो रही है।

इसलिए अपनी सेवा, अपने सेव्य अथवा अपने सेवकत्व में व्यवधान उत्पन्न न करें। आप अक्षरब्रह्म में स्थित हो कर सेवा कर रहे हैं तो आप भलीभाँति सेवा कर रहे हैं। जब आप क्षरब्रह्म में स्थित हो कर सेवा करेंगे तो आपके पल्ले या तो विष्णु पड़ जाएंगे अथवा शिव पड़ जाएंगे अथवा आपके पल्ले ब्रह्मा पड़ जाएंगे। इस बात का स्पष्टीकरण मैंने पूर्व में बालबोध में भी दे दिया है कि मोक्ष चाहिए तो सारे पुरुषार्थ करें, आपको सब मिलेगा। ''**भोगः शिवेन मोक्षस्तु विष्णुनेति विनिश्चयः।**'' वह भोग और मोक्ष आपको आध्यात्मिक ब्रह्म से यहाँ भी मिल जाएगा – ''**मर्यादामार्गविधिना तथा ब्रह्मापि बुध्यताम्।**''

यदि आपको पंचम पुरुषार्थ भक्ति की अपेक्षा है तो फिर इस सारे झंझट में न पड़ें, अपने दिमाग को अड़चन में न डालें। निश्चिन्त हो जाएँ, एकदम स्वस्थ हो जाएँ कि आप कृष्णसेवा कर रहे थे, कृष्णसेवा कर रहे हैं और कृष्ण सेवा ही करते रहेंगे परन्तु शर्त यह है कि आप अक्षरब्रह्म में कृष्ण को देख सकें। अक्षरब्रह्म में आप कृष्ण को नहीं देख सकते तो आप वापस ब्रह्मा, विष्णु और शिव के विभागों के विषय हो जाएंगे, कृष्ण के विषय नहीं बन सकते।

अक्षरब्रह्म में आपने श्रीहरि (कृष्ण) के लिए ''**माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिको स्नेह**'' की ज्ञान भरी दृष्टि विकसित कर ली तो सब सिद्ध हो गया। उत्पत्ति, स्थिति और नाश के विभाग से आप ऊपर उठ गए। अब आप कृष्णसेवा करते हुए ही उत्पन्न हुए थे, कृष्णसेवा करते हुए जिएंगे, कृष्णसेवा करते हुए मरेंगे और मृत्यु के बाद भी कृष्णसेवा ही करेंगे। आपको जगत् का त्रिविधरूप परेशान नहीं कर सकेगा। यह बात श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं

और यहाँ सेव्य के स्वरूप का, श्रीमहाप्रभुजी यह समग्र प्रकरण उपसंहृत करते हैं, उपसंहार करते हैं।

कामचारस्तु लोकेऽस्मिन् ब्रह्मादिभ्यो न चाऽन्यथा।
परमानन्दरूपे तु कृष्णे स्वात्मनि निश्चयः।।11।।
अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिर् विधीयताम्।

अन्वयार्थ :

अस्मिन् = इस, **लोके** = लोक में
कामचारः = भोग, **तु** = तो
ब्रह्मादिभ्यः = ब्रह्मादि से
(भवति = होता है), **च** = परन्तु
अन्यथा = और किसी प्रकार से, **न** = नहीं
स्वात्मनि = आत्मा के विषय में
तु = तो, **परमानन्दरूपे** = परमानन्द
कृष्णे = कृष्ण में
निश्चयः = निश्चित
(**भवति** = होता है)
अतः = इसलिए **तु** = ही
ब्रह्मवादेन = ब्रह्मवाद से
कृष्णे = श्रीकृष्ण में
बुद्धिः = बुद्धि
विधीयतां = स्थापित करो

भावार्थ : इस सात्त्विकादि तीन प्रकार के लोक में उन-उन के भक्तों के लौकिक मनोरथों की पूर्ति तो ब्रह्मादि तीनों देवताओं से ही होती है, किसी और

तरह से नहीं हो सकती। तथा अपने आत्मा के लिए तो नित्य निरवधिक आनन्दरूप श्रीकृष्ण में ही सकल मनोरथ पूर्ति का समूह होता है। इसलिए सर्व वस्तु ब्रह्मात्मक है – इस भाव से श्रीकृष्ण में अन्त:करण लगाओ।

व्याख्या :

यह जो कामचार है कि हमारी अमुक इच्छा है अथवा कामना है उसे शास्त्रविधि से आप पूरा करेंगे तो उन सभी कामनाओं के विभाग ब्रह्मा, विष्णु और शिव के हाथ में हैं। अत: कामनाएँ पूरी करनी हों तो वहाँ से पूरी कर लें। कृष्णसेवा की झंझट में न पड़ें – **''ना कही थी, बरजे पर आए ताको फल पाय रहे हैं।''** – यहाँ आ कर यह सब करेंगे तो कठिनाई तो होगी ही।

अपने विषय में हमको इन सभी के बारे में ख्याल करना आवश्यक नहीं कि हमारी इच्छा कैसे पूरी होगी। हमारे आत्मा के लिए तो नित्य निरवधि आनन्दरूप श्रीकृष्ण में ही सभी मनोरथों, इच्छाओं की पूर्ति होती है। जैसे मैंने कल आपको एक बात कही थी कि एक वैष्णव ने मुझे कहा कि सिद्धान्त की आपकी सारी बात सच है परन्तु महाराज यदि सेवा का धंधा न करें तो खाएंगे क्या? अरे खाएंगे नहीं तो भूखे मर जाएंगे। कौनसी बड़ी बात है – भूखे मर जाओ। अब यह चिन्ता भी हमें ही सता रही है कि महाराज बेचारा क्या खाएगा?

खाने को नहीं है तो बूटपॉलिश करेगा, पचासों धंधे हैं। धंधे के लिए क्या कृष्णसेवा करने की आवश्यकता है? किसको खाने की इच्छा कर रहे हैं? कृष्ण को खाने की इच्छा कर रहे हैं, भक्ति को खाने की इच्छा कर रहे हैं, श्रीमहाप्रभुजी को खाने की इच्छा कर रहे हैं – आखिर किसको खाने की इच्छा कर रहे हैं? इस बात का तो खुलासा करें यार! वैष्णवों को बहुत चिंता सता रही है कि महाराज श्रीठाकुरजी के नाम पर पैसा न लें तो खाएंगे क्या? किसे खाएंगे – पहले इस बात का खुलासा करें।

''अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिर् विधीयताम्'' अरे यार! ब्रह्मवाद को समझें, कामवाद को न समझें। कृष्णसेवा करने में आपको कामवाद काम नहीं आएगा, ब्रह्मवाद काम आएगा। जब कामवाद का आप उपयोग करेंगे कि खाएंगे क्या और आज जीवन कैसे जीना तो उसके लिए बहुत विभाग उपलब्ध हैं, बहुत उपाय हैं। बैंक भी लोन देता है। बूटपॉलिश के लिए आपके पास पैसे न हों तो बैंक लोन दे देगा, आजकल बूटपॉलिश की डिब्बी के लिए लोन बैंक से मिल जाएगा। किसी के पास से उधार ले सकते हैं, किसी का पॉकिट मार लें। लेकिन कामवाद के लिए कृष्णसेवा किसलिए कर रहे हैं? यह बात श्रीमहाप्रभुजी समझाना चाहते हैं।

''अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिर् विधीयताम्'' ब्रह्मवाद के आधार पर कृष्ण में अपनी बुद्धि जोड़ें। ब्रह्म में बुद्धि नहीं जोड़नी है बल्कि कृष्ण में बुद्धि जोड़नी है। कृष्ण में भी बुद्धि कामवाद से नहीं जोड़नी, ब्रह्मवाद से जोड़नी है। यह बात समझकर श्रीमहाप्रभुजी ने सेव्य का सम्पूर्ण प्रकरण पूरा किया।

हमने सेव्य का स्वरूप देखा कि सेव्य के स्वरूप से 'पर' और 'अक्षर' का भेद समझा। 'पर' और 'अक्षर' के भेद से हमने उनके त्रिविध भेद समझे कि कृष्ण का कोई एक आधिदैविक परब्रह्म रूप है, कृष्ण का कोई एक आध्यात्मिक अक्षरब्रह्म रूप है और कृष्ण का एक आधिभौतिक रूप है जो कृष्णसेवा की कृष्णात्मिका सामग्री है।

इस बात को हम इस तरह से भलीभाँति समझ सकते हैं कि जैसे हम मथुरा जाते हैं, गोकुल जाते हैं तो हम श्रीयमुना जल में से लोटा भर कर घाट को धो कर साफ करते हैं, घाट पर तिलक करने के बाद ध्यान करते हैं कि श्रीयमुनाजी घाट पर प्रकट हुए। घाट को धोया किससे – श्रीयमुना जल से। धोने के बाद श्रीयमुनाजी प्रकट हुए तो वे श्रीयमुनाजी कैसे और उन श्रीयमुनाजी को हम वापस भोग किससे लगाते हैं? कुएँ के जल से नहीं, श्रीयमुनाजी में से

ही लोटा भर कर झारीजी का भोग धराते हैं कि आरोगें।

अतः ध्यान से समझें कि धोने और श्रीयमुनाजी को भोग धरने की जो सेवोपयोगी सामग्री झारीजी हैं वे भी यमुनात्मिका हैं और जिनको हम यह भोग धरा रहे हैं वे श्रीयमुनाजी भी आधिदैविक - आध्यात्मिक हैं तथा उन श्रीयमुनाजी के दर्शन, हममें स्नेह भरी दृष्टि हो तो हो सकते हैं अन्यथा नहीं। फिर तो हमें केवल जल और तीर्थ ही दिखाई दे रहा है। तीर्थ हमें समझ में आ रहा है कि श्रीयमुनाजी, गोकुल, मथुरा के तीर्थ पर विराजमान हैं, हमें जल दिखाई दे रहा है। इस जल से हम घाट को धो कर साफ कर सकते हैं। परन्तु यदि स्नेह की दृष्टि हो, जैसे माँ की दृष्टि प्यार की होती है, वैसी हममें श्रीयमुनाजी के प्रति स्नेह की दृष्टि हो तो श्रीयमुनाजी के आधिदैविक स्वरूप के श्रीयमुनाजी में भी दर्शन हो सकते हैं।

इसी प्रकार **''परं ब्रह्मतु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत्''** - हम सेवा में जिस सामग्री का उपयोग कर रहे हैं वह भी कृष्णात्मिका है और यह नहीं भूलना चाहिए कि हम भी उस सेवा की एक सामग्री हैं। हम भी कृष्णात्मक हैं और हम पुष्ट करके जो अक्षरब्रह्म में प्रकट कर रहे हैं वह अक्षरब्रह्म भी कृष्णात्मक है और जिस कृष्ण की इस सारे परिवेश में सेवा कर रहे हैं वह स्वयं श्रीकृष्ण तो है ही परन्तु दिखाई तब देगा जब हममें स्नेहभरी दृष्टि हो। नहीं तो नहीं दिखाई देगा।

इस प्रकार सेव्य के स्वरूप का वर्णन करने के बाद अब श्रीमहाप्रभुजी सेवक के स्वरूप का वर्णन कर रहे हैं। (**सेवाकर्तुः जीवात्मनः स्वस्वरूपज्ञानं परब्रह्ममाहात्म्यज्ञानं श्रीकृष्णानन्यरतिः तदनुकूलक्रियाः**) अर्थात् सेवा करनेवाले जीवात्मा को अपने स्वरूप का ज्ञान हो, परब्रह्म के माहात्म्य का ज्ञान हो, श्रीकृष्ण में अनन्य रति हो और रति के अनुकूल क्रिया भी हो। अर्थात् मात्र रति है परन्तु क्रिया नहीं और क्रिया है परन्तु रति नहीं, ऐसे

नहीं। कृष्ण में रति भी हो और रति के अनुकूल क्रिया भी हो।

जैसे कोई मेहमान आया और वह मेहमान हमें प्रिय भी लग रहा है और हम उसका प्रेमात्मक स्वागत भी कर रहे हैं। प्रिय लग रहा है परन्तु प्रेमात्मक स्वागत नहीं कर रहे अथवा प्रेमात्मक स्वागत कर रहे हैं परन्तु प्रिय नहीं लग रहा तो उस स्थिति में वह तथ्य हमें दिखाई नहीं देगा। वह तथ्य हमें कब दिखाई देगा? जब अनन्य रति भी है और अनन्य रति के अनुकूल हम कोई क्रिया भी प्रकट कर रहे हैं।

(चेति चतुष्टयसाहित्ये उत्तमाधिकारित्वं[1] एतेषु अन्यतमराहित्ये मध्यमाधिकारीत्वं केवलक्रियाकारित्वे वा कनिष्ठाधिकारित्वं[2/3] लोकार्थितया भगवत्सेवने हीनाधिकारित्वम्[4] इति अधिकारिचातुर्विध्यम्) - उक्त चारों लक्षण हों तो उत्तमाधिकारित्व, एकाध न हो तो मध्यमाधिकारित्व और केवल क्रियापरायण कनिष्ठाधिकारी और लौकिक अर्थ से भगवत्सेवन करने से हीनाधिकारित्व कहा जाता है। इस प्रकार चार प्रकार के अधिकारी हैं।

ऊपर की चारों बातें एकत्रित हो गईं तो हम उत्तम सेवक। इन चार बातों में से जितनी-जितनी छूटना शुरू हो गई उतनी-उतनी हमारी सेवकता की योग्यता में कुछ न कुछ गड़बड़ होने की शुरुआत हो रही है। अतः कोई एक भी गुण है तबतक अधमसेवक भी सेवक तो है ही। परन्तु एक भी गुण नहीं तो फिर गिलीण्डर (बदमाश) हो रहा है।

इसमें वापस वही प्रश्न आ रहा है कि ''मेरे अंगने में तुम्हारा क्या काम है'' - आप यहाँ किसलिए आ गए? चारों में से एक भी बात आप में नहीं है तो फिर यहाँ आए किसलिए? फिर तो तालियाँ बजना शुरू हो जाएंगी। अतः बात को समझ जाएं कि ताली नहीं बजनी चाहिए, उन तालियों को टालना चाहिए। इसलिए सेवक का स्वरूप समझ लेना बहुत आवश्यक है।

आत्मनि ब्रह्मरूपे हि छिद्रा व्योम्नीव चेतना: ।। 12 ।।
उपाधिनाशे विज्ञाने ब्रह्मात्मत्वावबोधने ।

अन्वयार्थ :

हि = क्योंकि
ब्रह्मरूपे = ब्रह्मरूप में
आत्मनि = आत्मा में
व्योम्नि = आकाश में
इव = जैसे **छिद्रा** = छेद
चेतना: = चेतना
(**सन्ति** = है)
उपाधिनाशे = उपाधि का नाश होने पर
(च = और)
ब्रह्मात्मत्वावबोधने = ब्रह्मात्मकता का बोध होने पर
विज्ञाने = विशेष ज्ञान होने पर

भावार्थ : ब्रह्मांश होने से ब्रह्मरूप आत्मा में भी, आकाश में छिद्र की तरह, अनेक तरह की (ब्रह्मभिन्नता की) बुद्धि प्रतीत होती है अर्थात् आकाश में छलनी आदि आड़े आने से जैसे छिद्र न होने पर भी छिद्र दिखते हैं वैसे ही आत्मा में अन्यथा बुद्धि भी औपाधिक और विविध प्रकार की है तथा उन्हीं से जीव को बंधन हो रहा है। जीव की अविद्यारूप उपाधि का नाश होने पर ''सर्व वस्तु ब्रह्मरूप है।'' – यथार्थ ज्ञानरूप अनुभव होता है।

व्याख्या :

इस आत्मा के विषय में क्या समझना? तो श्रीमहाप्रभुजी ने उस जमाने के उपलब्ध उदाहरण दिये हैं। इनको हमें अधिक सरलरूप से समझना हो तो

समझ सकते हैं। उदाहरणस्वरूप प्रत्येक शहर के ऊपर उस शहर का एक क्षितिज होता है, उसकी एक त्रिज्या होती है, उतनी त्रिज्या में आकाश को देखते हैं। जैसे आप मुम्बई से पूना चले गए अथवा नासिक चले गए तो वह क्षितिज प्राप्त नहीं होगा। दूसरा क्षितिज उत्पन्न हो जाएगा। अत: अलग-अलग शहर के अलग-अलग क्षितिज हैं और अलग-अलग क्षितिज के अलग-अलग सूर्योदय और सूर्यास्त हैं।

इन अलग-अलग क्षितिज के अलग-अलग सूर्योदय और सूर्यास्त में न तो आकाश अलग है, न सूर्य अलग है, न सूर्योदय अलग है और न सूर्यास्त अलग है। जैसे आपको ज्ञात होगा कि कोलकता में मुम्बई की बजाय जल्दी सूर्योदय हो जाता है और मुम्बई में कोलकता की बजाय देर से सूर्यास्त होता है। ऐसा किसलिए हो रहा है? क्योंकि कोलकता में जो क्षितिज है (चारों तरफ दिखाई देनेवाली आकाश और भूमि की जो रेखा बनती है, उसे 'क्षितिज' कहते हैं।)वह कोई दूसरा क्षितिज है और मुम्बई का कोई दूसरा क्षितिज है अत: मुम्बई के क्षितिज में सूर्य थोड़ा देर से उगता है और देर से अस्त होता है तथा कोलकता के क्षितिज में सूर्य जल्दी उग जाता है और जल्दी अस्त हो जाता है।

अत: प्रत्येक शहर के क्षितिज अलग-अलग हैं, इतना ही नहीं बल्कि प्रत्येक सूर्योदय और सूर्यास्त का समय भी अलग-अलग है। इस सबके बावजूद उनका आकाश अलग नहीं है अथवा सूर्य अलग नहीं है। एक ही सूर्य किसी एक जगह, किसी एक क्षितिज के अनुसार किसी एक ढंग से उग रहा है। यह बात आप भलीभाँति समझ जाएंगे तो श्रीमहाप्रभुजी की बात समझ में आ जाएगी।

प्रत्येक जीव का अपना एक खुद का क्षितिज होता है - परब्रह्म के साथ, अक्षरब्रह्म के साथ। अक्षरब्रह्म को समझें या आकाश को समझें - जैसे परब्रह्म को सूर्य समझ लें और प्रत्येक जीव को एक शहर समझ लें तो प्रत्येक

जीव के शहर में अक्षरब्रह्म का आकाश मौजूद है। उस अक्षरब्रह्म के आकाश में पुरुषोत्तम का एक सूर्योदय हो रहा है। वह उसी का सूर्योदय है, अन्य किसी का नहीं। इस प्रकार वह सूर्योदय तो उसका है लेकिन इससे सूर्य अलग नहीं हो जाता। अर्थात् पुरुषोत्तम अलग नहीं।

सूर्य वही है, आकाश भी वही है, अक्षरब्रह्म भी दूसरा नहीं है परन्तु अक्षरब्रह्म का जो क्षितिज है वह जीव के द्वारा स्वयं उत्पन्न किया हुआ क्षितिज है। बस इसी बात को श्रीमहाप्रभुजी छलनी के उदाहरण से समझाना चाह रहे हैं। बहुत ही सुन्दर बात है जो आपको जल्दी में कहना भूल गया था कि प्रत्येक शहर वापस पृथ्वी का ही कोई एक अंश है या कोई अन्य बात है? कोलकता भी हिन्दुस्तान का एक अंश है और मुम्बई भी हिन्दुस्तान का एक अंश है, वह कोई अलग तत्त्व नहीं है। परन्तु मुम्बई ने अपना कोई एक क्षितिज बना लिया है और कोलकता ने अपना एक अलग क्षितिज बना लिया है। अपनी अंशरूपता के कारण क्षितिज अलग बनने से सूर्योदय का समय तो अलग-अलग हो गया परन्तु सूर्य अलग नहीं, आकाश अलग नहीं, पृथ्वी अलग नहीं। छोटे-छोटे शहर अलग हो रहे हैं तो वह क्षुद्रता उन शहरों की क्षुद्रता है, पृथ्वी की क्षुद्रता नहीं, आकाश की क्षुद्रता नहीं, सूर्य की क्षुद्रता नहीं है। इस प्रकार से समझें।

''**आत्मनि ब्रह्मरूपे हि छिद्रा व्योम्नीव चेतना:**'' अर्थात् आत्मा ब्रह्मरूप में है। जैसे हमने एक छलनी आकाश के सामने रखी तो हमें आकाश में बहुत से छेद दिखाई देने लगते हैं। उस छलनी के कारण आकाश में अलग-अलग छेद दिखते हैं। अलग-अलग दिखते होने के बावजूद भी आकाश एक ही है। इसी प्रकार सभी जीवात्मा, परमात्मा द्वारा धारण किए गए अलग-अलग रूप हैं।

''**उपाधिनाशे विज्ञाने ब्रह्मात्मत्वावबोधने**'' उसको अलग करने की कोई उपाधि (अवच्छेदक गुण) है, अर्थात् कोलकता से मुम्बई तक एक

अनवच्छिन्न बस्ती नहीं बसी हुई है। बीच में कई पुल आ रहे हैं, कितने ही जंगल आ रहे हैं, कितने ही शहर आ रहे हैं। इसलिए हमें कोलकता और मुम्बई अलग-अलग लगते हैं। एक बात आपको याद होगी कि पहले मुम्बई, वरली तक थी, बाद में बढ़ते-बढ़ते माहिम तक आई और फिर बोरीवली तक गई और अब कहाँ पहुँच गई? बाहर से आनेवाले लोगों को समझ में नहीं आता कि वह पार्ला है, मुम्बई नहीं। हमें भी अब समझ में नहीं आता परन्तु एक जमाना ऐसा था कि पार्ला आना मुम्बई से जाना कहा जाता था, अब तो पार्ला में रहना मुम्बई में ही रहना कहा जाता है। अब ऐसा नहीं कहते कि मुम्बई से आया। पहले तो कहते थे कि भाई मुम्बई से कहाँ जा रहे हैं? तो कहा जाता था कि पार्ला जा रहा हूँ। पार्ला से कहाँ जा रहे हैं? मुम्बई जा रहा हूँ।

अब हम पार्ला में रह रहे हैं अथवा कांदिवली में रह रहे हैं अथवा बोरीवली या घाटकोपर में रह रहे हैं फिर भी यही कहते हैं कि मुम्बई में ही रह रहे हैं। क्योंकि मुम्बई ही फैल कर इतना बड़ा हो गया है। अत: इस प्रकार जो फैला हुआ है वह फैला हुआ नहीं होने के कारण उपाधि उत्पन्न हो जाती है। एक बात दूसरी बात से अलग पड़ जाती है। किसलिए? अब बीच के जो रास्ते के खाली प्लॉट हैं वे दिखते नहीं हैं। इसलिए पूरा एक मुम्बई दिखाई दे रहा है। मेरे बचपन में ये सब खाली प्लॉट मैंने देखे हैं। यहाँ से यहाँतक आने में बीच में खाली जगह आती थी। मकान नहीं होते थे। इसलिए लगता था कि पार्ला अलग है। मुम्बई से जाना पड़ता था।

इसी प्रकार कोलकता से मुम्बई अलग लगता है परन्तु कल्पना करें कि नारायण न करे, हिन्दुस्तान में ऐसा कोई दु:खद अध्याय कभी उत्पन्न हो जाए कि कोलकता से मुम्बई तक एक बस्ती बसी हुई दिखाई दे, जिससे हमें न कोलकता अलग लगे और न मुम्बई अलग लगे। सब एकाकार हो जाएंगे। एक बड़े भाग में प्रलय की स्थिति आ जाएगी।

अत: यह बात समझ लें कि इस प्रकार का अद्वैत उत्पन्न होना बहुत ही खतरनाक बात है परन्तु वह उपाधि यदि नष्ट हो जाए तो आपको अपनी ब्रह्मात्मकता समझ में आ जाएगी। यह जो बीच की उपाधि है वह आपमें छोटे-छोटे वृत्त उत्पन्न कर रही है। उसके कारण आपको भेद की अनुभूति हो रही है। उन वृत्तों को उत्पन्न करनेवाली उपाधि यदि खत्म हो गई तो प्रत्येक वस्तु हिन्दुस्तान है, यह समझ में आ जाएगा। कोलकता भी हिन्दुस्तान है और मुम्बई भी हिन्दुस्तान है, यह बात समझ में आ जाएगी।

गङ्गातीरस्थितो यद्वद् देवतां तत्र पश्यति।।13।।
तथा कृष्णं परं ब्रह्म स्वस्मिन् ज्ञानी[1] प्रपश्यति।।

अन्वयार्थ :

यद्वत् = जैसे
गङ्गातीरस्थित: = गंगा तट पर स्थित
तत्र = वहाँ
देवतां = देवता को
पश्यति = देखते हैं, **तथा** = वैसे
ज्ञानी = ज्ञानी
स्वस्मिन् = अपने में
परंब्रह्म = परब्रह्म, **कृष्णं** = कृष्ण का
प्रपश्यति = सम्यग्दर्शन करते हैं

भावार्थ : जैसे गंगा के तीर पर स्थित, और प्रवाह-तीर्थ-मूर्ति आदि गंगा में एक भाववाला गंगा का भक्त, गंगा में ही देवतारूप गंगाजी का दर्शन करता है वैसे ही ज्ञानी भी अपनी आत्मा में परब्रह्म श्रीकृष्ण का दर्शन करता है। क्योंकि आत्मा सहित सब जगत् अक्षररूप है और अक्षर तो प्रभु के रहने का धाम है। इसलिए ऐसे अक्षरज्ञानी को आत्मा में प्रभु के दर्शन होने सहज हैं।

व्याख्या :

जो समझदार व्यक्ति है, ज्ञानी है - जो स्वयं को जान रहा है कि खुद क्या है, कृष्ण के माहात्म्य को जान रहा है कि कृष्ण कौन है, माहात्म्य क्या है, कृष्ण में उसकी अनन्यरति भी है तो जैसे मैं पूर्व में बता चुका हूँ - ''तत्रैव देवता मूर्ति: भक्त्या या दृश्यते क्वचित्'' भक्ति होगी तो कृष्ण दिखाई देगा अन्यथा अक्षरब्रह्म ही दिखाई देगा और समझ में अक्षरब्रह्म ही आएगा। अत: ''गंगातीरस्थितो यद्वत्'' गंगा के तीर पर खड़े भक्त को जब गंगाजी के दर्शन हो जाते हैं तब वह इस हकीकत को समझ जाता है कि मैं और कृष्ण अलग नहीं। इसके बावजूद मैं कृष्ण की सेवा करने के लिए कृष्ण में से प्रकट हुआ दूसरा कृष्ण हूँ तो उसे कृष्ण दिखाई देने लगेगा।

''तथा कृष्णं परं ब्रह्म'' इस प्रकार परब्रह्म श्रीकृष्ण को ''स्वस्मिन् ज्ञानी प्रपश्यति'' - ज्ञानी का तात्पर्य अक्षरब्रह्मवाले ज्ञानी से नहीं है बल्कि ऊपर जो चार बातें बताई हैं - जीवात्मा के स्वरूप का ज्ञान, परब्रह्म के माहात्म्य का ज्ञान, श्रीकृष्ण में अनन्य रति और उसके अनुकूल क्रिया - ऐसा ज्ञानी अपने अन्दर कृष्ण को पोषित करेगा कि कृष्ण तो मेरे भीतर है, कृष्ण मेरे चारों ओर है।''जित देखूँ तित कृष्णमयी री''इस प्रकार से।

संसारी[2/3] यस्तु भजते स दूरस्थो यथा तथा।।14।।
अपेक्षित-जलादीनाम् अभावात् तत्र दु:खभाक्।

अन्वयार्थ :

यथा = जैसे
दूरस्थ: = दूर रहा हुआ
अपेक्षितजलादीनां = अपेक्षित जल आदि के
अभावात् = अभाव से
तत्र = वहाँ

दु:खभाक् = दु:ख का भागी
(भवति = होता है **)**
तथा = वैसे
य: = जो
संसारी = संसार में रहा हुआ
तु = तो (**श्रीकृष्णं** = श्रीकृष्ण को)
भजते = भजता है, **स:** = वह
(**दर्शनाभावात्** = दर्शन के अभाव में)
दु:खभाक् = दु:ख का भागी
(भवति = होता है **)**

भावार्थ : जैसे गंगा से दूर स्थित मनुष्य, इच्छित जल और दर्शन के न होने से वहाँ दु:खी होता है वैसे ही जो अहन्ता-ममता में बंधा जीव कृष्ण का भजन करता है तो वह भगवद्दर्शन न होने से केवल दु:खी होता है।

व्याख्या :

संसारी क्या करेगा? वह श्रीकृष्ण का भक्त है परन्तु अपने भीतर कृष्ण को खोज नहीं सकेगा और बाहर भी कृष्ण को खोज नहीं सकेगा। फिर कहाँ खोजेगा? किसी न किसी हवेली में कि हाँ, कृष्ण मात्र इस हवेली में कैद है और वह हवेली में कैद कृष्ण के दर्शन करके अपने धन्धे पर जाता है, नहीं तो संसार किस प्रकार चलेगा?

''संसारी यस्तु भजते स दूरस्थो'' उसको दूर रखने के लिए एक झापटिया भी तैयार है। मार झापड़, मार झापड़। हमारे सेतु ने नाथद्वारा दर्शन करके बहुत ही सुन्दर टिप्पणी की कि नानाजी, बहुत ही आनन्द आया। श्रीनाथजी बाबा के दर्शन करने जाएँ तो उन लोगों को कोड़े मारे जा रहे थे।

किसलिए? 'दूरस्थो' - वे पास पहुँच ही न सकें, वे कोड़े खाने के लायक हैं। नालायक कृष्ण की सेवा घर में नहीं करते इसलिए कृष्ण उनसे दूर ही रहनेवाला है। पास जाएंगे तो कोड़े पड़ेंगे, एक नहीं पचास तरीके से कोड़े पड़ेंगे।

''**अपेक्षित-जलादीनाम् अभावात् तत्र दु:खभाक्**'' - वह दु:खी ही रहनेवाला है कोड़े खा कर। कारण कि कृष्ण की सेवा घर में नहीं पधरा रहा है। श्रीजी को घर में पधरा कर सेवा नहीं करना चाहता। कृष्ण से दूरी ही चाहता है कि कृष्ण तो कहीं दूर हवेली में विराजे हुए हैं और वहाँ जा कर फटाफट दर्शन करके थोड़ी मठड़ी - मोहनथाल ले कर धंधे पर जाना ज्यादा जरूरी है, कृष्ण के पास रहना जरूरी नहीं, कृष्ण को घर में पधराना जरूरी नहीं। यह सब दूरी को ही प्रकट करता है। अपने आपसे श्रीकृष्ण को अधिक दूर करके अब वह वापस भजन करना चाहेगा तो दु:खी और केवल दु:खी ही रहेगा। ''स दूरस्थो यथा तथा अपेक्षित जलादीनाम्'' उसको अपेक्षित जल कभी नहीं मिलता। क्योंकि गंगा मिलेगी कहाँ?

इसीलिए अपने पुरखों ने बहुत ही सुन्दर बात कही है कि - ''**मन चंगा तो कठौती में गंगा**'' और मन में दंगा है तो गंगा के तट पर होने के बावजूद भंगा (बिगाड़) ही होगा। भाग जाएगा, कुछ रहेगा ही नहीं। वहाँ गंगा थोड़े ही है, नदी बह रही है। उपदेश भी इस प्रकार का हो रहा है तो मन में भी कुछ दंगा ही होगा। इसलिए वहाँ भी गंगा प्राप्त नहीं होगी - ''मन चंगा तो कठौती में गंगा।''

आप लोगों को ज्ञात है कि नहीं - अपने यहाँ श्रीठाकुरजी की सेवा में जब नहाते हैं तो उसके लिए श्लोक है कि ''**श्रीकृष्णवल्लभे देवी यमुने तापहारिणी, सेवायै स्नातुम् इच्छामि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु**'' हे

श्रीकृष्ण की प्रिया श्रीयमुनाजी ! मैं श्रीकृष्ण की सेवा करने के लिए स्नान करना चाहता हूँ। अत: आप इस जल में प्रकट हो जाएँ। तो अपने घर में श्रीयमुनाजी प्रकट हो कर हमें इतना शुद्ध कर देती हैं कि तनुनवत्व से हम श्रीकृष्ण की सेवा कर सकें।

''**जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु**'' इस जल में आप प्रकट हो जाएँ। इस प्रकार श्रीयमुनाजी को प्रार्थना करके स्नान करते हैं। घर में ही, हाँ, श्रीयमुनाजी के किनारे नहीं। यहाँ घर में श्रीयमुनाजी प्रकट हो सकती हैं। यह श्लोक इसका प्रमाण है। कृष्णसेवा के लिए मेरे हृदय में कुछ ताप है और मुझे सेवा करनी है इसलिए आप जल में प्रकट हो जाएँ तो श्रीयमुनाजी प्रकट हो जाती हैं, यदि मन चंगा हो तो। मन में दंगा हो तो चुन्दड़ी चढ़ाने के लिए वहाँ ही जाना पड़ेगा। फिर तो कथा बदल गई।

''**अपेक्षित-जलादीनाम् अभावात् तत्र दु:खभाक्**'' - हर समय यही तकलीफ रहेगी कि वह जल आएगा कहाँ से? वह जल नहीं आए तो फिर लें फ्रंटीयर मेल का टिकिट, डीलक्स का टिकिट लें, राजधानी का टिकिट लें। फिर श्रीयमुनाजी का जल मिलेगा कहाँ? वहाँ जा कर देखो तो पता चलता है कि श्रीयमुनाजी को तो बीस मील दूर दिल्ली के पहले ही बांध बना कर रोक लिया है और जो बह रहा है वह दिल्ली के गटर शोधित करके श्रीयमुनाजी में बह रहा है। इसलिए वहाँ भी श्रीयमुनाजी नहीं मिलेगी, मन में दंगा उत्पन्न हो गया न ! यह अपने पुष्टिमार्ग की बात है। ''भक्त्या या दृश्यते क्वचित्'' - भक्ति के बिना यह बात नहीं दीखती। डीलक्स के टिकिट से श्रीयमुनाजी के दर्शन नहीं होते। दृष्टि डीलक्स होनी चाहिए, डीलक्स अर्थात् उत्कृष्ट। अत: उत्कृष्ट दृष्टि है तो यह बात दिखाई देगी, डीलक्स ट्रेन से श्रीयमुनाजी दिखाई नहीं देगी।

तस्मात् श्रीकृष्ण-मार्गस्थो विमुक्त: सर्वलोकत: ।।15।।

आत्मानन्द-समुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेत्।

अन्वयार्थ :

तस्मात् = इससे
श्रीकृष्णमार्गस्थ: = श्रीकृष्ण के मार्ग में रहा हुआ
सर्वलोकत: = सभी लोक से
विमुक्त: = विशेषरूप से मुक्त (**सन्** = होकर)
आत्मानन्दसमुद्रस्थं = आत्मानन्द रूपी समुद्र में रहा हुआ
कृष्णं = श्रीकृष्ण का, **एव** = ही
विचिन्तयेत् = विशेषरूप से चिन्तन करता है।

भावार्थ : इसलिए श्रीभगवन्मार्ग में रहनेवाला पुरुष तो अहंता-ममतारूप संसार से अलग रहते हुए, निज आनन्दसमुद्र में विहार करते हुए श्रीकृष्ण का ही स्मरण करता है। अर्थात् लौकिक इच्छा का परित्याग करके केवल प्रभुसेवा करता है।

व्याख्या :

अत: श्रीकृष्णमार्गस्थ हो कर, सर्वलोक से विमुक्त हो कर ''आत्मानन्दसमुद्रस्थं'' अपने आत्मा में भरा हुआ व्रजभक्तों का जो आनन्द है उस आनन्द में विहार करनेवाले श्रीकृष्ण का चिन्तन करो यार, जहाँ-तहाँ मत भटको। आपको कृष्ण नहीं मिलेगा, कोई दूसरा ही झमेला प्राप्त हो रहा है।

''आत्मानन्दसमुद्रस्थं'' व्रजभक्तों के भाव अपने हृदय में लाएँ। यदि व्रजभक्तों के भाव हृदय में लाएंगे तो उन भावों में नित्य विहार करनेवाला, शाश्वत विहार करनेवाला कृष्ण आपको सर्वत्र उपलब्ध है। उसके लिए आपको दु:खी होने की कोई आवश्यकता नहीं। श्रीयमुनाजी भी सभी स्थलों पर उपलब्ध हैं, परन्तु आप कहते हैं कि डीलक्स से वहाँ गए बिना हमें संतोष

किस प्रकार मिलेगा? मथुरा का चना - चिवड़ा - रेवड़ी - गजक की पूरी आहा... हा... हा...लार टपक गई न! फिर वहाँ यमुनाजी नहीं मिलेगी क्योंकि गजक-रेवड़ी कौन लाएगा? चना-चिवड़ा कहाँ से आएगा? पेड़े कहाँ से आएंगे? सूखा-मीठा पेड़ा, बुन्दी, मनोहर, मोहनथाल, केसरी नेग लाओ न, घनश्याम प्यारे पेड़ा, बर्फी, बादाम पाक, पेठा पाक, मावादार गुंजा खा कर, अर्थात् यह सब खाने के लिए, इन सबके स्वाद लेने के लिए जाते हैं तो यहाँ कहाँ से आएगा। उसके लिए तो डीलक्स का टिकिट लेना पड़ेगा। डीलक्स दृष्टि की जरूरत नहीं पड़ेगी- यह बात भलीभाँति समझ लें।

लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा।।16।।
क्लिष्टोऽपि चेद् भजेत् कृष्णं लोको नश्यति सर्वथा।

अन्वयार्थ :

(यः = जो) **लोकार्थी** = लोकार्थी
(सन् = होकर) **चेत्** = जो
कृष्णं = श्रीकृष्ण को, **भजेत्** = भजता है
(तर्हि = तो, **सः** = वह)
सर्वथा = सब तरह से
क्लिष्टः = क्लेशवाला, **भवति** = होता है
क्लिष्टः = क्लेशवाला
अपि = भी (**जनः** = लोग)
चेत् = जो, **कृष्णं** = श्रीकृष्ण को
भजेत् = भजता है (**तस्य** = उसका)
लोकः = लोक, **सर्वथा** = सब तरह से
नश्यति = नष्ट होता है

भावार्थ : जो पुरुष लौकिक कामनाओं के प्रयोजन से कदाचित् श्रीकृष्ण की सेवा करता है तो वह सब तरह से क्लेश पाता है। और क्लेश सहन करते हुए भी पुरुष यदि भगवद्भजन करता जाए तो उसका अहंता-ममतारूप संसार सब तरह से दूर होता है।

व्याख्या :

अब श्रीमहाप्रभुजी गिलीण्डर (बदमाश) का वर्णन कर रहे हैं। ''लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णम्'' डीलक्स टिकिट ले कर जल्दी से जाएँ, पेड़ा खाएँ गजक-रेवड़ी खाएँ आनन्द ही आनन्द है। सारे स्वाद वहाँ मिलेंगे। फिर दृष्टि की आवश्यकता नहीं है।

''लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णम्'' - परन्तु होगा क्या? ''क्लिष्टो भवति सर्वथा''- डायबिटीज हो जाएगा, ब्लडप्रेशर बढ़ जाएगा, एसिडिटी बढ़ जाएगी। वहाँ आपको पंडे लोग लूट लेंगे। कुछ डंडे मारेंगे तो भटकते-भटकते आपकी श्रद्धा खत्म हो जाएगी, पचासों झमेले खड़े हो जाएंगे। ''क्लिष्टो भवति सर्वथा'' अन्त में एक बात श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि प्रयत्न करते-करते जो भी कुछ तुम्हारा कृष्णभजन में क्लेश है, उस को सहन करते-करते भी यदि श्रीमहाप्रभुजी के बताए हुए प्रकार से कृष्णसेवा करते रहेंगे तो सारे क्लेश खत्म हो जाएंगे। ''**क्लिष्टोऽपि चेद् भजेत् कृष्णं लोको नश्यति सर्वथा**'' यह सारी बात श्रीमहाप्रभुजी ने सेवक के तीन-चार प्रकार के रूपों के लिए बताई है।

(उत्तमाधिकाराभावे भगवत्सेवानुष्ठानप्रकारस्थलयोः उपदेशः)- श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा कर रहे हैं कि इस प्रकार का उत्तमाधिकार नहीं हो तो क्या करना अपेक्षित है -

ज्ञानाऽभावे पुष्टिमार्गी तिष्ठेत् पूजोत्सवादिषु।।17।।
मर्यादास्थस्तु गङ्गायां श्रीभागवततत्परः।

अन्वयार्थ :

पुष्टिमार्गी = पुष्टिमार्ग में रहा हुआ
ज्ञानाभावे = ज्ञान के अभाव में
श्रीभागवततत्परः = श्रीभागवतपरायण
(सन् = हो कर)
पूजोत्सवादिषु = पूजा-उत्सवादि में
तिष्ठेत् = रहे
मर्यादास्थः = मर्यादा में रहा हुआ
तु = तो, **ज्ञानाभावे** = ज्ञान के अभाव में
श्रीभागवततत्परः = श्रीभागवतपरायण
(सन् = हो कर), **गङ्गायां** = गंगाजी पर
तिष्ठेत् = रहे

भावार्थ : पुष्टिमार्गीय भक्त ज्ञान के अभाव में अर्थात् अपने स्वरूप और भगवत्स्वरूप का ज्ञान न हो तो श्रीभागवत में तत्पर रहता हुआ एकादश स्कन्ध में कही गई पूजा की रीति और पर्वों में अनेक उत्सव जहाँ होते हों वहाँ रहे। मर्यादामार्गीय भक्त तो ज्ञान के अभाव में श्रीभागवत में तत्पर रहता हुआ श्रीगङ्गा तट पर रहे।

व्याख्या :

पूजा और उत्सव, माहात्म्य बढ़ाने के उपाय हैं। ये स्नेह बढ़ाने के उपाय नहीं हैं।

अन्यथा न लें परन्तु आज के समय में भारतीय संस्कारों के अनुसार पति को देव मान कर पति की पूजा करनेवाली कितनी पत्नियाँ होंगी हिन्दुस्तान में? कोई पति यदि बताए तो पता चले कि किसी की पत्नी ऐसी है! ऐसी पत्नियाँ सभी नदारद हैं। अपने पति को स्नेह करनेवाली कई पत्नियाँ होंगी, वह मैं नहीं पूछूँगा क्योंकि वह एक गूढ़ रहस्य है परन्तु पूजा करनेवाली तो एकाध कोई भूले-चूके मिले तो मिले। देव मान कर पति की पूजा करनेवाली पत्नियाँ कहाँ हैं? बहुत ही कठिन काम है। सेवा करनेवाली पत्नी मिल सकती है परन्तु पूजा करनेवाली नहीं मिल सकती। पूजा कब करते हैं- जब माहात्म्य बहुत ही बढ़ गया हो तो।

पूजा और उत्सव माहात्म्य बढ़ाने के उपाय हैं। यदि हमें माहात्म्य समझ में नहीं आ रहा और निरन्तर उसकी पूजा करते रहें, उसके उत्सव मनाते रहें तो धीरे-धीरे उसका माहात्म्य हमारे मस्तिष्क में दृढ़ हो जाता है कि इसके साथ पूजा और उत्सव के सभी प्रकार जुड़े हुए हैं।

स्नेह बढ़ाने का उपाय है - भागवततत्पर हो कर रहना, इसका अर्थ केवल कथा सुनना नहीं है। नित्य नियम से भागवत की जो लीलाएँ हैं उनका पुनः-पुनः स्मरण करना। भागवत में जो भगवान की लीलाएँ वर्णित हैं उनके सभी प्रकार के अनुवाद आज हमें उपलब्ध हैं। अष्ट सखाओं द्वारा, दयाराम भाई द्वारा और इनके अतिरिक्त भी बहुत से धोल-पदों द्वारा भगवान की लीलाओं के स्मरण के लिए कई अनुवाद हमारे पास उपलब्ध हैं। उनको समझने की आवश्यकता है; सप्ताहविधि करने की आवश्यकता नहीं है। वह तो पूजा-उत्सव का प्रकार है। यह स्नेह बढ़ाने का प्रकार नहीं है। अतः भागवततत्पर होकर रहना चाहिए।

अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः।।18।।
उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यति।

ज्ञानाधिको भक्तिमार्गः एवं तस्मात् निरूपितः ।।19।।

अन्वयार्थ :

पुष्टिमार्गे = पुष्टिमार्ग में
अनुग्रहः = कृपा, **नियामकः** = नियामक है
इति = इस प्रकार की
स्थितिः = स्थिति (**अस्ति** = है)
उभयोः = दोनों को
तु = तो, **क्रमेण** = क्रम से, **एव** = ही
पूर्वोक्ता = पूर्व में कही गई
एव = ही, फलिष्यति = फलित होगी
(यतः = क्योंकि **) भक्तिमार्गः** = भक्तिमार्ग
ज्ञानाधिकः = ज्ञान से अधिक है
तस्मात् = इसलिए, **एवं** = इस प्रकार से
निरूपितः = निरूपण किया

भावार्थ : पुष्टिमार्ग में भगवान का अनुग्रह ही स्थान आदि का नियमन करनेवाला है। यह भगवन्मार्ग की मर्यादा है। मर्यादामार्गीय और पुष्टिमार्गीय भक्तों को क्रम से पूर्व में कही गई मानसी सेवा ही प्राप्त होगी। भेद इतना ही है कि मर्यादामार्गीय को अनुग्रहमार्ग में आने से प्राप्त होगी। क्योंकि **''क्लेशोधिकतरस् तेषां''(भग. गीता 12/5)** इत्यादि वचनों से यह सिद्ध है और इसीलिए भक्तिमार्ग ज्ञानमार्ग से अधिक है। इसीलिए ऐसा निरूपण किया है।

व्याख्या :

श्रीमहाप्रभुजी अन्त में एक बात कह रहे हैं – **''अनुग्रहः पुष्टिमार्गे**

नियामक इति स्थितिः'' – पुष्टिमार्ग में कोई सर्वाधिक नियामक शक्ति है तो वह अनुग्रह है। भगवान आप पर अनुग्रह करेंगे तो आपमें माहात्म्य और ज्ञान दोनों प्रकट हो जाएंगे। आपमें माहात्म्यज्ञान और स्नेह दोनों प्रकट हो गए तो उनको अपनी बुद्धि अथवा हृदय की कोई उपलब्धि ना मानें। उनको भगवान का अनुग्रह मानकर चलें।

भगवान अनुग्रह करेंगे तो आपकी बुद्धि में माहात्म्यज्ञान और हृदय में स्नेह प्रकट हो जाएंगे। आपके हृदय में यदि भगवान के प्रति थोड़ी भी ललक है, थोड़ा भी स्नेह है, आपको भगवान के माहात्म्य की थोड़ी भी समझ है तो ऐसा मत मानें कि यह तो मैंने सत्संग किया था, मैंने ग्रंथों का अभ्यास किया था, मैंने पुस्तक का अध्ययन किया था, मैंने परीक्षा दी थी, उसके कारण है बल्कि ऐसा मानें कि प्रभु ने मुझ पर अनुग्रह कर दिया है। और मुझे क्या चाहिए!

भगवान अनुग्रह करते हैं तो कोई सींग नहीं उग जाते। अनुग्रह यह है कि प्रभु का माहात्म्य मुझे समझ में आया, प्रभु के प्रति थोड़ा भी स्नेह मुझमें प्रकट हुआ तो बस मुझ पर प्रभु का अनुग्रह हो गया। यदि इस बात को समझेंगे तो अनुग्रह भी बढ़ता जाएगा, आपके हृदय में स्नेह भी बढ़ता जाएगा, आपको भगवान की समझ भी बढ़ती जाएगी क्योंकि आपकी अहंता-ममता आपके स्नेह और ज्ञान में बाधक नहीं बनेगी। आपने अपने भगवत्स्नेह और माहात्म्यज्ञान को भगवदनुग्रहरूप न मान कर अपनी उपलब्धि मान लिया तो आपकी अहंता और ममता न जाने कब बाधक हो कर आपके ज्ञान और स्नेह को भ्रष्ट कर देगी। कोई न कोई वायरस उस फाइल में घुस जाएगा। अतः वायरस के घुसने की प्रक्रिया को भलीभाँति समझ लें।

''उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यति'' श्रीमहाप्रभुजी कितनी सुन्दर बात कह रहे हैं – **''ज्ञानाधिको भक्तिमार्ग एवं तस्मात् निरूपितः''** –

इस प्रकार आपको अब समझा दिया कि भक्तिमार्ग ज्ञान से कितना अधिक है। कितना अधिक दान आपको कर रहा है। ज्ञान आपको दे-दे कर अक्षरब्रह्म दे देगा। मैं आपको इस भक्ति के पंचम पुरुषार्थ द्वारा अक्षरब्रह्म में कृष्ण को देने जा रहा हूँ। आपमें लेने की तैयारी है? ले कर देखें। एक बार ऐसा करके देखें फिर आपको अनुभूति होगी कि कृष्ण कितना अनुग्रहशील है, अनुग्रह-नियामक है। आपके प्रेम और स्नेह में आपकी अहंता-ममता नियामक नहीं है।

मैंने पहले इस बात का खुलासा कर दिया है कि भक्ति पंचम पुरुषार्थ है और भक्त का कर्तव्य क्या है? पंचम पुरुषार्थाकांक्षी व्यक्ति का यह कर्तव्य स्वसिद्धान्त विनिश्चय से समझा रहे हैं। यदि पंचम पुरुषार्थ आपको पुरुषार्थ नहीं लगता, भक्ति की महत्वाकांक्षा आपके भीतर नहीं है और फिर भी आप कृष्णसेवा के झमेले में पड़ेंगे तो आपका सत्यानाश हो जाएगा। आपका उद्धार नहीं हो सकता- यह बात भलीभाँति समझ लें।

(भक्त्यभावेऽन्यथाभावमापन्नस्य भगवत्सेवा व्यर्था) - भक्ति के अभाव में अन्यथाभाव से की जाती भगवत्सेवा तो व्यर्थ ही होती है।

भक्त्यभावेतु तीरस्थो यथा दुष्टैः स्वकर्मभिः।
अन्यथाभावम् आपन्नस् तस्मात् स्थानात् च नश्यति।।20।।

अन्वयार्थ :

यथा = जैसे
तीरस्थः = तीर पर स्थित
भक्त्यभावे = भक्ति के अभाव में
तु = तो, **दुष्टैः** = दुष्ट
स्वकर्मभिः = स्वयं के कर्मों से
अन्यथाभावम् = अन्यथाभाव को

आपन्नः सन् = प्राप्त हो कर
तस्मात् = उस **स्थानात्** = स्थान से
नश्यति = नष्ट होता है
(तथा = उसी प्रकार **)**
(भक्तोऽपि = भक्त भी **)**
नश्यति = नष्ट होता है

भावार्थ : जैसे गंगातीर पर स्थित पुरुष, भक्ति न हो तो अपने दुष्ट कर्मों से पाखण्ड को प्राप्त हो कर तीर्थरूप स्थान से भी नष्ट हो जाता है। ऐसा भक्त भी भक्ति के अभाव में अपने दुष्ट कर्मों से उस स्थान से भ्रष्ट हो कर नीच योनि में जन्म लेता है।

व्याख्या :

श्रीमहाप्रभुजी बहुत ही सुन्दर उदाहरण दे कर समझा रहे हैं कि जिन्हें गंगाजी में भक्ति नहीं, वे गंगाजी के किनारे रह कर गंगाजी को शौच के लोटे के लिए उपयोग करेंगे (गंगाजी का अन्य खराब उपयोग करेंगे।) अतः जो पाप गंगाजी के किनारे पर न रहनेवाले को कभी नहीं लगता वही पाप गंगाजी के किनारे पर रहनेवाले को ही लगेगा। हम पुष्टिमार्गीयों में भक्ति नहीं है इसलिए हमने कृष्ण का अपने धंधे में उपयोग किया, भक्ति नहीं की। इसलिए हमने कृष्ण को अपनी आजीविकार्थ व्यावसायिक स्वरूप दे दिया।

भूल से हमारे हृदय में भक्ति होती तो हमें श्रीकृष्ण की भक्ति के प्रदर्शन की आवश्यकता ही नहीं होती, श्रीकृष्ण को कमाई का साधन बनाने की जरूरत ही नहीं रहती। भक्ति न होने से ही अपना सत्यानाश हुआ है। हमने भक्ति को परम पुरुषार्थ नहीं माना बल्कि अर्थ और काम को परम पुरुषार्थ माना। बेवकूफ वैष्णवों ने इस सेवा को धर्म मान लिया कि यही सेवा धर्म है।

धर्मपुरुषार्थ की तरह भक्ति करनी चाही, इसीलिए आज पुष्टिमार्ग का सत्यानाश हुआ है।

''भक्त्यभावेतु तीरस्थो यथा दुष्टैः स्वकर्मभिः'' अपने दुष्ट कर्मों से **''अन्यथाभावम् आपन्नस् तस्मात् स्थानाच्च नश्यति''** - उस स्थान पर होने के कारण नष्ट हो रहे हैं, उस स्थान पर न होते तो बच जाते। मैंने ऐसी स्थिति के लिए ही धोल बनाया था कि **''लक्ष्मीना नाथ अने देवाधि देव तोय भीख विना भोग नव लागे, देवताओ सौ मारी ठेकड़ी उड़ावे मारी मनडानी लाज ना भांगे। ओ वल्लभ मारे ठाकोरजी नथी थावुं।''** अर्थात् हे लक्ष्मी नाथ और देवाधिदेव! आपको भीख लिए बिना भोग नहीं लगता, सभी देव मेरा मजाक उड़ाते हैं, मेरे मन की लाज नहीं जाती। ओ वल्लभ! मुझे ठाकुरजी नहीं होना।

लक्ष्मी के नाथ के नाम पर हमने भीख मांगी और एक दिन का भोग भी हम भीख मांगे बिना जिनको नहीं धरा सकते तो लक्ष्मी के नाथ की तो देवता भी मजाक उड़ाते हैं कि यार! आपने किसलिए लक्ष्मी के साथ विवाह किया? हमें क्यों नहीं विवाह करने दिया? ऐसी दुर्गति तो हमारे भक्त नहीं करते, कोई शिवजी के नाम पर भीख मांग कर शिवजी का भक्त शिवजी को भोग नहीं धरा रहा, कोई भिक्षावृत्ति करके गणपति को भोग नहीं धरा रहा। किसी भी देवी-देवता को इस प्रकार भिक्षावृत्ति करके उसके भक्त भोग नहीं धराते जिस प्रकार हमने कृष्ण के नाम पर भिक्षावृत्ति को महिमामंडित किया है।

हम यह किसलिए कर रहे हैं? हमने अपने श्रीठाकुरजी की यह दुर्गति की इसीलिए **''तस्मात् स्थानाच्च नश्यति''** अपने हाथ से श्रीकृष्ण निकल गया, खो गया, श्रीकृष्ण को हमने खो दिया है। क्योंकि श्रीकृष्ण ने हमें खो दिया है।

श्रीकृष्ण ने हमको खो दिया है क्योंकि हमने श्रीकृष्ण के साथ सेवा का सम्बन्ध भक्तिपुरुषार्थ के अन्तर्गत स्थापित नहीं किया। किसी अर्थपुरुषार्थ, किसी कामपुरुषार्थ, किसी धर्मपुरुषार्थ के अन्तर्गत स्थापित किया है। इसीलिए हम सब बेवकूफी में फंस गए हैं। इसीलिए श्रीमहाप्रभुजी ने बहुत ही जिम्मेदारी के साथ आलोचना की। अन्यथा श्रीमहाप्रभुजी जैसे भक्तिमार्ग के आचार्य, श्रीमहाप्रभुजी जैसे भगवत्सेवा के आचार्य, भगवत्सेवा से नाश होने की बात कैसे कर सकते हैं? कथा कितनी गंभीर है और इसे कितनी गंभीरता से लेना चाहिए परन्तु हमने इसे कितने हल्के में लिया है!

(भगवत्सेवोपदेशोपसंहारः) - भगवत्सेवा के उपदेश का उपसंहार।

एवं स्वशास्त्र-सर्वस्वं मया गुप्तं निरूपितम्।
एतद् बुद्ध्वा विमुच्येत पुरुषः सर्व-संशयात्।।21।।

अन्वयार्थ :

एवं = इस प्रकार से, **मया** = मेरे द्वारा, **गुप्तं** = गुप्त का
निरूपितं = निरूपण किया गया, **स्वशास्त्रसर्वस्वं** = अपने शास्त्र का सर्वस्व
एतत् = इसको, **बुद्ध्वा** = जान कर, **पुरुषः** = पुरुष
सर्वसंशयात् = सभी संशय से
विमुच्येत् = विशेषरूप से मुक्त होता है

भावार्थ : इस प्रकार मैंने अपने शास्त्र का गोप्य सेवारूप सिद्धान्त कहा। इसको जान कर पुरुष सर्वसन्देह से मुक्त होता है।

व्याख्या :

श्रीमहाप्रभुजी जो बात कह रहे हैं उस पर कभी तो ध्यान दें, कभी तो

इस श्लोक पर ध्यान दें। श्रीमहाप्रभुजी ग्रंथ का उपसंहार करते समय, भगवत्सेवा के उपदेश का उपसंहार करते समय क्या बात कहना चाह रहे हैं कि मैंने अपने स्वशास्त्र का, जो कुछ भी मेरा भक्तिशास्त्र था, उस भक्तिशास्त्र का सर्वस्व, अतिगुप्त आपको समझा दिया। यदि आप इस बात को समझ गए तो आपको सभी संशय से मुक्त होना चाहिए और नहीं समझे तो इस सेवा के कारण आपका सत्यानाश ही होना है। यह बात ध्यान से समझ लेनी चाहिए।

।। इति श्रीवल्लभाचार्यविरचिता सिद्धान्तमुक्तावली संपूर्णा।।

॥ पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः ॥

भूमिका :-

यों तो अपनी बोलचाल की भाषा में अभिमान और अहंकार एक-दूसरे के पर्याय के रूप में व्यवहृत होते हैं परन्तु दोनों की अर्थच्छटा अलग-अलग है जिसे हमको ध्यान में रखना पड़ेगा। 'अहंकार' एक निर्दोष शब्द है और उसकी निर्दोषता को बताने के लिए 'कार' लगाया जाता है - जैसे अकार। 'अकार' का अर्थ क्या है? आजकल की चलती भाषा में किसी भी शब्द को अथवा अक्षर को अवतरण चिह्न (इन्वर्टेड कॉमा) में लिख लेते हैं। जैसे 'अ' अथवा जैसे 'भोगीलाल' को अवतरण चिह्न में लिखें तो उसका अर्थ व्यक्ति न हो कर उसका अर्थ नाम हो जाएगा। भोगीलाल नाम जब अवतरण चिह्न में न प्रयुक्त हो तो भोगीलाल निश्चितरूप से एक व्यक्ति के अर्थ में माना जाएगा।

इसी प्रकार अहंकार अर्थात् 'अहं' अवतरण चिह्न के भीतर बहुत ही निर्दोष बात है। अब इस अहंकार को जिस समय हम मान का और अभित: मान का ही विषय बना लें और हर बार इसको इस्तेमाल करते जाएं तो वह अहंकार अभिमान कहलाएगा तथा प्रत्येक अभिमान को हम इतना नम्र करें कि धीरे-धीरे हममें बहुत थोड़ा अहं रह जाए तो उसे अहंकार शब्द से अभिव्यक्त किया जाएगा।

हमें अपने होने का एक प्रकार का अहसास है। जब हम कहते हैं - देशाभिमान, धर्माभिमान तो यहाँ धर्माभिमान का अर्थ क्या है? हमारे भीतर कोई इस प्रकार का अपना होने का अहसास (धार्मिक होने का अहसास) है कि जिसके अन्तर्गत हम धर्म को कभी भूल न सकें। अत: यह आपका धर्माभिमान है।

हम इसमें 'स्व' जोड़ दें - स्वधर्माभिमान, स्वदेशाभिमान तो अभिमान शब्द बहुत मृदु हो गया। अहंकार को आपने अभिमान तक खींचा तो वहाँ भी वही अभिमान है, अहंकार ही है। परन्तु जब आप अपने अहं को अधिक विस्तार देना चाहते हैं और इतना विस्तार दें कि उस अहंकार को लोग पसन्द न करें तो वह 'अभिमान' कहा जाता है।

प्रत्येक नदी के किनारे को हम बांधना चाहते हैं। यदि नदीकिनारे के गांव में हम रहने जाएँ तो? मनुष्य समाज अधिकांशत: निर्बन्ध नदी के किनारे रहना पसन्द नहीं करेगा। अत: जब नदी के किनारों को हम बाँधते हैं तब हमारी यह अपेक्षा रहती है कि नदी दो किनारों के बीच बहे। फिर उन किनारों के बीच बहनेवाली नदी को बाढ़ नहीं कहा जाएगा और जिस नदी के किनारों को आपने नहीं बांधा उस नदी की बाढ़ को आप कैसे चित्रित करेंगे। आपने किनारे बांधे होंगे तो उस नदी की बाढ़ का आप निरूपण कर सकते हैं कि पहले अमुक स्थान पर बहती थी, अब यहाँ आ गई तो बाढ़ में बदल गई।

प्रत्येक समाज, प्रत्येक परिवार, प्रत्येक धर्म, प्रत्येक संस्था व्यक्तियों का एक समुदाय होता है - केवल एक व्यक्ति नहीं बल्कि बहुत से व्यक्ति। तो जब कई व्यक्ति होते हैं, जैसे बहुत सी गाड़ियाँ चलानी हैं तो हम दाईं पटरी, बाईं पटरी, दाईं पटरी में भी पहली, दूसरी, तीसरी लाईन के लिए बहुत कुछ बनाते हैं जिससे हमारी चलती हुई गाड़ी किसी अन्य गाड़ी से न टकराए और दूसरी चलनेवाली गाड़ी हमारी गाड़ी से न टकराए।

इसी प्रकार समाज, धर्म, सम्प्रदाय, राष्ट्र, जो कुछ भी कहें, वह व्यक्तियों का एक समुदाय है और उनके कुछ किनारों को बांधना पड़ता है कि भैया, आप अपने अहंकार की सरिता इन दो किनारों के बीच बहाएंगे तो सामान्यरूप से आप अपने होने का अहसास घोषित कर रहे हैं। लेकिन

किनारों को नहीं बांधा और आप अपने अहं की सरिता को अपेक्षाकृत अधिक बहाएंगे तो लोग कहेंगे कि अभिमान की बाढ़ आ गई है।

ऐसे तो सरिता प्रवहमान होती है परन्तु किनारों को पार करके बहती हो तो हम उसको बाढ़ कहते हैं। किनारे सरिता को नहीं बनाते, सरिता किनारे नहीं बनाती, बल्कि किनारे हम बनाते हैं। हमारे बांधे हुए किनारों को तोड़ कर सरिता बहे तो उसको 'बाढ़' कहा जाता है। हम किनारे ही नहीं बाँधते तो क्या उस नदी का विस्तारित पट भी बाढ़ कहलाएगा?

अब जैसे आप गुजरात की यात्रा करें और नर्मदा, तापी आदि नदियों पर आप दृष्टि फैला कर देखें तो दिखाई देगा कि कहीं बहुत ही पतली धारा बंधे हुए किनारे के बीच बहती रहती है और कहीं उन दोनों किनारों से सट कर छलकती हुई बहती दिखाई देती है, कभी-कभी वर्षा के समय पट के किनारों को लांघकर भी बहती है, तब हम कहते हैं कि बाढ़ आ गई।

अपना अहंकार, अपने होने का अहसास है, उस अहसास से जो भी कुछ वाचिक अथवा मानसिक व्यवहार करते हैं उस व्यवहार में आपका अहसास कितना छलक रहा है, कितना प्रवहमान है। यदि समुदाय में बंध कर किनारों के अन्दर प्रवाहित हो रहा है तो कोई भी अभिमान नहीं कहेगा। परन्तु जब आप अपने अहसास को अथवा अपने होने के दावे को किनारे लांघ कर बहाओगे, ऐसा व्यवहार करोगे तो दूसरे कहेंगे कि अभिमानी है। बहुत झीना अन्तर अभिमान और अहंकार के बीच में है। प्रत्येक मंद अभिमान अहंकार है और प्रत्येक तीव्र अहंकार अभिमान हो जाता है।

यह जो शब्द की पर्यायता है उसके कारण हमें 'अहंकार' शब्द दोषरूप लगना शुरू हो गया कि अहंकार मत करो, अहंकार मत करो। लेकिन वास्तव में अहंकार में ऐसे किसी दोष का प्रश्न है ही नहीं। जो भी कुछ दोष का प्रश्न

आता है वह अभिमान में आता है और वह भी तब आता है जब आपने उस मर्यादा को, जितनी रखनी है, उससे अधिक को अपना धर्म बना लिया है। उस मर्यादा से अधिक अभिमान रखा तो उसके लिए हम अन्य शब्दों का प्रयोग करते हैं - गर्व है, दर्प है। इस प्रकार जैसे-जैसे उसका वेग मर्यादा के बाहर बढ़ता जाता है वैसे-वैसे उसके निन्दावाचक शब्द भी बढ़ते जाते हैं। इस प्रकार बहुत ही झीना अन्तर है।

पत्रावलम्बन में मैंने इस विषय पर चर्चा करते हुए बताया था कि एक प्रयोग तिङन्त है और एक कृदन्त प्रयोग है। तिङन्त प्रयोग को संस्कृत में 'करोति' कहते हैं जिसे गुजराती में हम 'करे छे' कहते हैं (हिन्दी में 'करता है') और कृदन्त प्रयोग कर्ता है। 'कर्ता' अर्थात् जो करनेवाला है। जो कर्ता है वह करता है या नहीं करता परन्तु उसमें 'करोति' के प्राधान्य से, क्रिया के प्राधान्य से हम वस्तु का निर्देश करते हैं। यहाँ वस्तु के प्राधान्य से क्रिया का निर्देश करते हैं।

जब आप कर्ता कह रहे हैं तो आप क्रिया के विषय में नहीं बोल रहे, करनेवाले के विषय में बोल रहे हैं। अत: देखें कि आप करने की क्रिया के विषय में नहीं बोल रहे, करनेवाले के विषय में बोल रहे हैं। और जब आप 'करोति' कह रहे हैं तब भी आप कर्ता के विषय में बोल रहे हैं परन्तु क्रिया के प्राधान्य से बोल रहे हैं।

अत: तिङन्त और कृदन्त के जो भेद हैं वहाँ अहंकार एक प्रकार से कृदन्त रूप है और शुद्ध 'अस्मि' अर्थात् 'मैं हूँ' उसका तिङन्त रूप है। गुजराती में कहना चाहें तो 'हुँ छूँ' (मैं हूँ)। अब कुछ मैं-मैं-मैं करते हैं और कोई हूँ-हूँ-हूँ करते हैं तो जो हूँ-हूँ-हूँ करें तो अस्मिता है और जो मैं-मैं-मैं करें तो अहंकार है।

उदाहरण के लिए आप किसी एक प्रसंग अथवा किसी एक पदार्थ का संदर्भ दे रहे हैं और मान लें कि गुणी या विद्वत्ता कह रहे हैं अथवा ज्ञानिता और ज्ञान कह रहे हैं तो जब आप विद्वत्ता कह रहे हैं या ज्ञानिता कह रहे हैं तो आप वस्तु के बारे में बोल रहे हैं, क्रिया को ले कर नहीं बोल रहे हैं। इसी प्रकार कभी क्रिया की प्रधानता से बोला जाता है - जैसे जानकार और जानता है, ''मैं जानता हूँ'' - यह क्रिया को ले कर बोला जा रहा है। परन्तु 'यह जानकार है' - बोला जाए तो व्यक्ति को ले कर बोला जा रहा है। अस्मिता के लिए क्रिया को ले कर बोला जाता है, वही बात अहंकारपरक वस्तु को ले कर कर्ता द्वारा बोली जाती है। यहाँ से हमें आज का विषय शुरू करना है।

इसे हमें थोड़ा ध्यान से समझना पड़ेगा। बालबोध में सांख्य के प्रकरण में श्रीमहाप्रभुजी ने कहा कि ''अहंता-ममता नाशे'' और सिद्धान्तमुक्तावली में भी कहा कि ''ततः संसार दुःखस्य निवृत्तिर्'' इस प्रकार इस समग्र विषय की जो परिधि है वह अहंता-ममता की परिधि है इसे हम थोड़ा ध्यान से समझते हैं।

हम अहंता-ममता को जिस प्रकार समझते हैं, उसकी हमें दो प्रकार की अनुभूति होती है। जो कुछ हम अपनी जाति को मानते हैं वह हमारी अहंता है और जो कुछ हम अपना स्वयं का मानते हैं वह हमारी ममता है।

हम अहंता-ममता के रूप को अथवा अहंता-ममता की व्याख्या को जितनी सरल समझते हैं उतनी सरल नहीं है। क्योंकि किसी विषय में हमारी ममता इतनी दृढ़ होती है कि उस विषय की ममता के कारण हम अपनी अहंता छोड़ देते हैं। यह ममता का विस्तार ही है कि हम अपनी अहंता को छोड़ देते हैं। हमारी ममता उस विषय में इतनी प्रगाढ़ हो गई है कि हमारी अहंता को छोड़ने में हमें तकलीफ नहीं होती।

कोई विषय ऐसा होता है कि जहाँ हमारी अहंता इतनी घनीभूत होती है कि हमें ममता को छोड़ने में तकलीफ नहीं होती। अपना कोई विषय ऐसा होता है कि जहाँ हम अपनी अहंता और ममता दोनों को निभाना चाहते हैं, अतः वह अहंता और ममता का विस्तार है। इसे जरा ध्यान से उदाहरण के साथ इस प्रकार समझें :

एक गुंडे ने हमें धमकी दी कि पॉकिट में जितने रुपये हैं, सब निकालो। हमें रुपयों में ममता है परन्तु गुंडे के साथ लड़ने की अहंता नहीं है। हम कहते हैं कि गुंडों से कौन माथा-फोड़ी करे, दे दो। इस प्रकार हम बहुत ही निर्मम हो जाते हैं। पैसे की कोई कीमत नहीं रह जाती। मूल बात यह है कि वहाँ हम अपनी अहंता को छोड़ रहे हैं। कारण कि हमें यह लगता है कि गुंडे के सामने हमने अपनी ममता को टकराया तो सत्यानाश हो जाएगा, सब कुछ चला जाएगा - समूले विनश्यति।

इसी प्रकार हमारी कोई अहंता होती है जिसे हम ममता के चक्कर में छोड़ देते हैं। हमारी कोई ममता ऐसी होती है कि उसे हम कायम नहीं रख सकते। जैसे घर में आग लग जाए तो कोई विरले ही लोग ऐसे होंगे जो आग लगने पर भी बाकी सब कुछ साथ ले कर भागना चाहेंगे। वरना तो आग लग गई, 'भागो, किसी भी तरह से बचो' वाली सोच रखते हैं। जो बच जाते हैं उनके लिए हम कहते हैं कि बहुत अच्छा हुआ कि आप आ गए। जो मर जाते हैं उनके लिए रोने को तैयार हो जाते हैं कि बहुत ही दुःख की बात है कि मर गए। मूल बात यह है कि उस समय अपनी ममता ऐसी स्थायी कौन रख सकता है?

यहाँ सैंडहर्स्ट रोड पर होटल में आग लग गई थी। उस समय शाम को मैं कॉलेज से आ रहा था इसलिए वहाँ खड़ा था। होटल का मालिक था नहीं। जब आग लगी तो बहुत ही धुआँ निकल रहा था और खूब आग निकल रही

थी। होटल का मालिक आया। जब वह बाहर था तब उसने देखा कि उसकी तिजोरी होटल में रह गई है। उस समय सभी लोग उसको समझा रहे थे कि अन्दर मत जाओ। परन्तु उसने कहा कि मेरे जीवन की सारी कमाई अन्दर रह गई है। वह अन्दर गया और मर गया। इतनी ममता हरेक को नहीं हो सकती, किसी-किसी को होती है।

अब देखो, पैसे के लिए मर जाते हैं, अपने को हँसी आती है। ऐसे बहुत से विषय हो सकते हैं जिनमें हमें इतनी ममता होती है कि जहाँ हम अपनी अहंता को मूल्यवान नहीं मानते। ऐसा ही सूरतवाले बेटीजी के बारे में कहा जाता है कि जिस समय मन्दिर में आग लगी तो सूरतवाले बेटीजी अन्दर पधारे, पूरा शरीर जल गया परन्तु श्रीठाकुरजी को पधरा कर बाहर ले आए और उनकी मृत्यु हो गई। श्रीठाकुरजी में इतनी ममता बहुत दुर्लभ है, विरल व्यक्ति में ही होती है। बाकी हम तो यही मानते हैं कि श्रीठाकुरजी सर्वसमर्थ हैं, श्रीठाकुरजी को बचानेवाले हम कौन? श्रीठाकुरजी हमें बचाएँ या हम श्रीठाकुरजी को बचाएँ? हम क्या समझ सकते हैं कि श्रीठाकुरजी की लीला क्या है?

हमें भक्त होने की अहंता किस प्रकार की है और दूसरी तरफ बेटीजीवाली ममता कि श्रीठाकुरजी के प्रति ममता के संदर्भ में जीवित, स्फूर्त, स्वस्थ अहंता जल गई। अन्दर जाने की कोई जरूरत नहीं, किसने कहा कि जाएँ? परन्तु श्रीठाकुरजी अन्दर हैं, घर में आग लगी है तो बाहर कैसे रह सकती हूँ - यह उनकी ममता थी। अत: अपनी अहंता का कोई पहलू ऐसा भी हो सकता है जिसमें हम अपनी ममता को छोड़ देते हैं। इसका सम्बन्ध भली-बुरी दोनों बातों से है। उसे कभी अच्छा कभी खराब मान कर नहीं चलना चाहिए। दोनों तरफ से, बल्कि तीन प्रकार से - अच्छा, खराब और उदासीन अर्थात् न अच्छा न खराब - ऐसे इसके तीन संदर्भ हो सकते हैं।

अहंता-ममता की इस प्रकार की आँख-मिचौली हमारे साथ निरन्तर चल रही है। किसको कितनी है - वह तो उसका पेट ही जान सकता है कि पाप क्या है? दूसरा कोई किस प्रकार कह सकता है कि किस में अधिक है और किस में कम है? हमें ही अपनी छाती पर हाथ रख कर सारा रहस्य समझना है कि कहाँ हमारी अहंता अधिक है, कहाँ हमारी ममता अधिक है। कहाँ हम अहंता और ममता का, किसी एक का नहीं बल्कि दोनों का, समुचितरूप से प्रयोग कर रहे हैं।

सिद्धान्तमुक्तावली शुरू हुई थी तब इस भावना से शुरू की गई थी कि आपमें पंचम पुरुषार्थ के लिए उपयोगी कोई अहंता है अथवा नहीं। पंचम पुरुषार्थ में उपयोगी कोई ममता है अथवा नहीं? इसी प्रकार की अहंता, उसी प्रकार की धर्मसम्बन्धी ममता, अर्थसम्बन्धी ममता - जिसमें मैंने होटल की बात बताई कि इतना पैसे से प्यार किसको हो सकता है, ऐसा प्यार होना किसी विरले समर्थ का काम है, प्रत्येक का काम नहीं। मनुष्य भाग जाता है, कहावत है कि ''जीवतो नर भद्रा पामे'' अर्थात् जीवित मनुष्य ही मनचाहे सुख भोग सकता है।

मुक्ति की अहंता, मुक्ति की ममता - ये सारी बातें संभव हैं परन्तु यदि पंचम पुरुषार्थ में उपयोगी अहंता और ममता हो तो सिद्धान्तमुक्तावली शुरू हो सकती है अन्यथा हमें सिद्धान्तमुक्तावली बन्द कर देनी चाहिए। कारण यह है कि यदि पंचम पुरुषार्थ में उपयोगी अहंता-ममता न हो तो फिर कोई न कोई अपसिद्धान्तमुक्तावली हो रही है।

अब यदि यह बात समझ गए हों तो इसमें एक दूसरा सोपान आ रहा है। उस बात को हम संक्षेप में यों समझ सकते हैं कि पंचम पुरुषार्थ में उपयोगी अहंता-ममता को हम अपने प्रभु का अंश होने के अहसास के रूप में ग्रहण करें कि मैं प्रभु का अंश हूँ, प्रभु मेरे अंशी हैं - इस प्रकार की अहंता-ममता में प्रभु

को बांधें। अथवा इस प्रकार की अहंता-ममता में बांधें कि मैं प्रभु का सेवक हूँ, प्रभु मेरे स्वामी हैं अथवा इन शब्दों में कहें कि मैं दास हूँ, वह ईश्वर है। इस प्रकार की अहंता-ममता में बांधें।

बात हमें बहुत सरल लगती है परन्तु उसके अलग-अलग पक्षों को समझना पड़ेगा। जैसे किसी भी तरीके से समझ लें, किसी भी शब्द का उपयोग करें - दास और स्वामी अथवा दास और ईश्वर, ईश्वर और जीव, आत्मा और परमात्मा अथवा अंश-अंशी अथवा अपने यहाँ की भाषा में ठाकुर और सेवक अथवा मेरे माथे विराजते ठाकुर और मैं ठाकुर का सेवक।

इस बात को समझने के लिए एक चतुष्कोण बनाते हैं। एक ऐसा चतुष्कोण जिसका चिह्न अर्थात् सम्बन्ध कि वह मेरा परमात्मा है, मैं उसकी आत्मा हूँ अथवा वह मेरा ईश्वर है मैं उसका ईशितव्य हूँ, इस प्रकार की अहंता-ममता, अथवा वह मेरा स्वामी है मैं उसका सेवक हूँ, वह मेरा भगवान है, मैं उसका भक्त हूँ। इस प्रकार के किसी भी शब्द के साथ चतुष्कोण की व्याख्या करने की छूट है। यह खुला विकल्प है, जैसे भी इसे लेना हो। इसमें विशेषरूप से क्या अभीष्ट है, इस पर हम बाद में विचार करेंगे, अभी इसे खुला रखते हैं। इसकी शब्द रूपान्तर की उपयोगिता को समझ कर चलें। आपको यह देखना पड़ेगा कि यह चतुष्कोण कहां-कहां उपयोगी हो सकता है।

इसके लिए सर्वप्रथम हमें चतुष्कोण को ध्यान से देखना पड़ेगा। जैसे एक चतुष्कोण (अहंता-ममता का प्रभु के साथ सम्बन्ध) इस प्रकार भी सम्भव है। उसी प्रकार दूसरे रूप से भी चतुष्कोण संभव है और उन दोनों से अलग एक तीसरा प्रकार भी संभव है परन्तु यह स्मरण रखना है कि वही अहंता-ममता है। ये तीन प्रकार के चतुष्कोण संभव हैं।

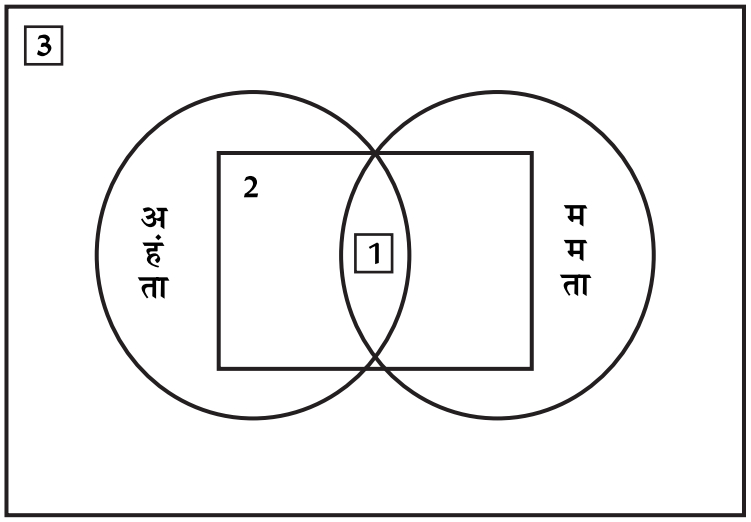

1. सबसे छोटा चतुष्कोण [1] है जिसके अनुसार सबमें जैसी अहंता-ममता है वैसी भगवान में भी है - हमारी अहंता-ममता अल्पांश में भगवान से जुड़ी है।
2. दूसरे बड़े चतुष्कोण [2] में हमारी अहंता-ममता पहले से अधिकांश में प्रभु से जुड़ी है फिर भी अहंता-ममता सर्वांश में प्रभु से नहीं जुड़ी है।
3. इस तीसरे चतुष्कोण [3] में हमारी कोई अहंता-ममता ऐसी नहीं है जो प्रभु से जुड़ी न हो।

वह मेरा स्वामी है - मैं उसका सेवक हूँ, वह मेरा परमात्मा है - मैं उसका आत्मा हूँ, वह मेरा ठाकुर है - मैं उसका सेवक हूँ, इसमें हमारी सम्पूर्ण अहंता-ममता आ गई। जो कुछ भी अहंता है, जो कुछ भी ममता है वह सब इस अहसास का भाग है। अथवा जो अपनी अहंता-ममता है उसमें वह परमात्मा और मेरा आत्मा, वह स्वामी और मैं सेवक, वह भगवान और मैं भक्त होने का मेरा अहसास है। एक प्रकार यह भी हो सकता है। इसके अतिरिक्त तीसरा प्रकार भी हो सकता है। इन बहुत ही छोटी-छोटी अहंता-ममताओं के

अहसास के भीतर भी कई अहसास हैं। अपनी अहंता-ममता का अहसास बहुत विस्तृत है। सैकड़ों वस्तुओं, पदार्थों को वह व्याप्त कर रहा है। इसमें एक अहसास हमारे भीतर यह भी है कि हमें यह लग रहा है कि घर भी मेरा है, पत्नी भी मेरी है, पति भी मेरा है, धंधा भी मेरा है, बेटा भी मेरा है, भगवान भी मेरा है।

अत: अपनी अहंता-ममता की परिधि में उसके भगवान और मेरे भक्त होने का अहसास भी एक है, कहीं भी नहीं, ऐसी बात नहीं है। मेरी अहंता-ममता दोनों उसके साथ जुड़ गई ''तत्सिद्धयै तनुवित्तजा'' और उसे मैंने पूरी तरह ढक लिया। परन्तु ऐसी स्थिति नहीं है कि उसके सिवा मेरी अहंता-ममता नहीं हो सकती। उससे मैंने अपनी अहंता-ममता दोनों को जोड़ दिया।

ध्यान से देखें, यहाँ भी अहंता-ममता है - **''काफिर तो नहीं हूँ पर कहियो न मुसलमान, एक बुत से भी निबाह किए जा रहा हूँ''** - परिस्थिति यह है कि यों तो सब कुछ प्रभु को समर्पित है परन्तु कुछ-कुछ असमर्पित भी है और कुछ-कुछ असमर्पित का आनन्द आ रहा है और यदि समर्पित हो जाएगा तो सत्यानाश हो जाएगा। अत: ऐसी भी कुछ अहंताएँ और ऐसी भी कुछ ममताएँ होती हैं। किन्तु जब हमें ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाती है कि हमारी कोई अहंता, कोई ममता ऐसी नहीं कि जो इस प्रकार के अहसास का हिस्सा न हो कि वह परमात्मा है - मैं आत्मा हूँ, वह स्वामी है - मैं सेवक हूँ, वह भगवान है - मैं उसका भक्त हूँ। अर्थात् वह भी उसका हिस्सा होगी, ऐसी भी अहंता-ममता हो सकती है।

एक, दो, तीन यहाँ हैं, तीसरा जो है वह अहंता-ममता की पारस्परिक क्रिया है। एक ऐसा विस्तार है जिसमें हम न तो अपनी अहंता के कारण अपनी कोई ममतास्पद वस्तु छोड़ सकते हैं और न ममता के कारण अपनी कोई अहंता छोड़ सकते हैं। ऐसा विस्तार, ऐसे पदार्थ, ऐसे अपने कार्य, ऐसा अपना व्यवहार-बर्ताव, ऐसी अपनी चल-अचल सम्पत्ति, अपने स्वामित्व की वस्तु

आदि-आदि। उसमें सैकड़ों-हजारों, बहुत से ब्यौरे हो सकते हैं। उनमें से एक सूची भगवान की भी है जो तीसरी बात हो गई।

अत: यहाँ भी हमने अपनी अहंता-ममता भगवान से जोड़ी है। हम सबको पूरी सच्चाई के साथ एक बात स्वीकार करनी चाहिए कि किसी भी प्रकार की शुरुआत खराब अथवा अनुचित नहीं होती। शुरुआत करनी है तो कोई भी कार्य गैरवाजिब अथवा अनुचित नहीं होगा। जैसे बोलने की शुरुआत करनी है तो तुतला कर बोलना कोई खराब बात नहीं, वह बहुत ही मीठी वस्तु है परन्तु उम्र बढ़ने के बाद भी तुतला कर ही बोलते रहें तो फिर समस्या है।

दो लड़के तुतला कर बोलते थे। उनको लड़की के पिता के पास भेजा कि जाओ, तुम्हारे चेहरे दिखा कर आओ कि तुम कितने खूबसूरत हो। दोनों लड़की के पिता के पास गए और चुप-चाप बैठे रहे। उन दोनों को देख कर लड़की के पिता ने कहा कि बहुत सुन्दर लगते हो। छोटे लड़के से रहा नहीं गया तो उसने कहा कि अभी कहाँ, अभी तो तलमा तितारे की तोपी पहनी ही नहीं। उसे देखकर बड़े लड़के ने कहा कि टुम बोले, टुम बोले, मैं तो तुपताप हूँ। दोनों की मुसीबत हो गई न! इस प्रकार बड़े होने के बाद भी तोतलापन रह जाए तो लग्न होना मुश्किल है।

बाकी अगर लड़के तुतला कर न बोले होते तो? तो भी कठिनाई होती। जो व्यक्ति बोलने का प्रयास कर रहा है वह बोलने के प्रयास में तुतलाता है तो उसमें हमें एक मधुररस टपकता दिखाई देता है और यदि प्रस्तावित दूल्हा शादी करने जा रहा है और तुतला कर बोले तो बहुत कटुता आ जाएगी - क्या हो गया? क्या समस्या है? क्या कारण है? उसका तुतला कर बोलना अच्छा है या खराब है? उचित है या अनुचित है? प्रश्न यह नहीं है। प्रश्न यह है कि यह आपकी शुरुआत है या शुरुआत करने के पश्चात् वहीं विराम लग गया। प्रश्न मात्र इतना ही है।

शुरुआत करना अनुचित नहीं परन्तु शुरुआत में ही आप अटक गए, आगे नहीं बढ़े तब प्रश्न तो उत्पन्न होगा कि हमारे साथ समस्या क्या हुई? इस स्वरयंत्र में क्या रुकावट या कमी आई कि इतने बड़े होने के बाद भी तुतला कर बोलना पड़ता है। अत: शुरुआत के लिए इसमें किंचित् भी दोष नहीं है।

ब्रह्मसंबंध के विषय में हम ऐसा ही कुछ करते हैं। यह ऐसी ही एक छोटी सी शुरुआत है, बहुत बड़ी शुरुआत नहीं है। तनुवित्तजा सेवा जो हम करते हैं वह बहुत ही छोटी शुरुआत है, कोई महान उपलब्धि नहीं। इसके बावजूद आज पुष्टिमार्ग की अवस्था अथवा दुरावस्था, जो भी समझें, इतनी दयनीय हो गई है कि तनुवित्तजा की बात हमें मानो एवरेस्ट चढ़ने जैसी कठिन लगती है। यह अपना अध:पात है।

भलीभाँति समझें तो यह अपना अध:पात ही है। इतनी छोटी बात भी हमें कितनी बड़ी लगती है। जबकि यह कोई इतनी बड़ी बात नहीं है, बहुत छोटी बात है और इस छोटी बात का स्पष्ट प्रमाण यह है कि जो भी वैष्णव घर में सेवा करता है वह किसी महाराजश्री को नहीं मूंडता, वह गरीब तो तनुवित्तजा सेवा घर में ही कर रहा है। जिसके यहाँ सेवा का पूरे दिन का क्रम नहीं है वह भी जब तनुवित्तजा सेवा कर रहा है तो जिसके यहाँ पूर्ण दिवसीय सेवाक्रम है, जिसकी सेवा सम्पूर्ण विकसित प्रवृत्ति की है, उसके द्वारा तनुवित्तजा सेवा किए जाने में कैसा प्रश्न उत्पन्न होना चाहिए? जिसके यहाँ पूर्ण दिवसीय सेवा नहीं है, आंशिक है वह भी तनुवित्तजा सेवा तो कर ही रहा है तो यह कितनी आसान बात है। और जिसके यहाँ सेवा का पूरे दिन का क्रम है वह सम्पूर्ण तनुवित्तजा नहीं कर सकता तो कोई भयंकर झमेला है।

अतएव शुरुआत करने के लिए कोई भी बात खराब अथवा अनुचित नहीं है लेकिन बात वहीं अटक रही है तो सारी ही बात अटक गई। वह अटक गई अर्थात् यहाँ अटकी या वहाँ अटकी - कहीं तो भी अटकी ही है। अटक

जाने का अर्थ है कि किसी न किसी कारण से आप उस बात के योग्य नहीं अथवा तो वह बात आपके योग्य नहीं। बालक चलने की शुरुआत करता है तो घुटनों के बल चलता है लेकिन बाद में खड़ा नहीं हो सकता अथवा खड़े होने पर भी कदम नहीं बढ़ा सकता, लड़खड़ा कर गिर पड़ता है तो पता चलता है कि उसके पैर में कोई तकलीफ है। भगवान ने चलने के लिए उसके स्वस्थ पैर उत्पन्न नहीं किए।

जब बालक तुतला कर बोलना शुरू करता है तब हम उसकी उम्र की एक औसत सीमा तय कर देते हैं कि इस वय तक बालक तुतला कर बोलता है। उसका बोलना बहुत मीठा लगता है परन्तु वह मिठास कभी डायबिटीज नहीं बननी चाहिए। उसका कहीं तो अंत आना चाहिए। उस अंतिम सीमा के बाद भी तुतलाहट की मिठास चालू रहे तो धीरे-धीरे वह मिठास कड़वाहट का रूप ले लेती है।

ऐसी ही स्थिति अहंकार और ममता की भी है। जो मैंने आपको बताया कि अहंता बहुत मीठी है परन्तु वह मीठी अहंता किसी बंधे हुए किनारे को तोड़ कर सीमा लांघ जाए तो बहुत ही कड़वी अर्थात् अनुचित हो जाती है। ममता भी बहुत मीठी है लेकिन वह भी बंधे हुए किनारे को तोड़ कर, मर्यादा का उल्लंघन करके बहे तो वह भी उस समय बहुत कड़वी हो जाती है।

ये जो अहंता-ममता के दो वृत्त हैं उनमें पंचम पुरुषार्थरूप भक्ति में उपयोगी जो चतुष्कोण है, वह चतुष्कोण इसलिए बनाया कि उत्तम अधिकारी के हमने चार सोपान गिने थे। यह बात सिद्धान्तमुक्तावली देखेंगे तो पता चलेगी।

ऐसा समझें कि मेरी कोई अहंता अथवा कोई ममता ऐसी नहीं कि जो भगवान के साथ मेरे सम्बन्ध के किनारों की मर्यादा को तोड़ कर बहती हो। प्रभु के साथ अपने सम्बन्ध का किनारा अर्थात् प्रभु के साथ के संबंध की सीमा के

भीतर मेरी अहंता-ममता भरी है तो वह बाढ़ नहीं है अर्थात् वह अनुचित नहीं है।

यहाँ क्या है? थोड़ी बहुत उसके भीतर, सम्बन्ध के किनारे के भीतर रही हुई अहंता-ममता है और थोड़ी बहुत उसके बाहर भी बह रही है। अब यहाँ देखें तो किसी बात में मेरी अहंता ऐसी है कि जिस अहंता को मैं श्रीठाकुरजी के साथ जोड़ कर ही स्वयं का अहसास रखना चाहता हूँ, मेरी कोई अतिरिक्त अहंता भी है, जिस अहंता के विषय में श्रीठाकुरजी के साथ अपने सम्बन्ध की परवाह नहीं करना चाहता।

तात्पर्य यह है कि श्रीठाकुरजी के साथ सम्बन्ध टूटता है तो सम्बन्ध टूटने की परवाह नहीं करना चाहता, परवाह नहीं कर रहा ऐसी भी परिस्थिति हो सकती है। सहज स्वाभाविकरूप में भी हो सकती है। मेरी कुछ ममताएँ ऐसी हैं जिनमें मेरा श्रीठाकुरजी के साथ सम्बन्ध टूट रहा है। कोई ममता ऐसी है जिसमें श्रीठाकुरजी के साथ मेरा सम्बन्ध निभ रहा है। मेरी ममता का कोई सम्बन्ध ऐसा भी है कि श्रीठाकुरजी के साथ सम्बन्ध टूटता हो तो भले टूटे, कहाँ तक परवाह करनी? क्योंकि दुनिया में मुझे जीना तो है न, इस प्रकार की ममता भी हो सकती है।

यह वृत्त या चतुष्कोण यदि इतना बड़ा हो अर्थात् विस्तृत हो तो ऐसी कोई भी मेरी अहंता अथवा ऐसी कोई भी मेरी ममता नहीं है जो श्रीठाकुरजी के सम्बन्ध को तोड़ कर बाहर जा सके। श्रीठाकुरजी के साथ सम्बन्ध निभाते हुए उसमें घर-परिवार के बच्चे भी हो सकते हैं, घर भी हो सकता है, पैसा भी हो सकता है, मोटर गाड़ी भी हो सकती है, रेडियो भी हो सकता है, विडियो भी हो सकता है, हेलीकॉप्टर भी हो सकता है - श्रीठाकुरजी के साथ सम्बन्ध के निर्वाह में सबकुछ हो सकता है। लेकिन श्रीठाकुरजी के साथ सम्बन्ध नहीं निभ रहा है तो कुछ भी नहीं। यही बात श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि **''यस्य वा**

भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते, तदा विनिग्रहस् तस्य कर्तव्य इति निश्चयः।''(निरोध लक्षण)

व्यसनअवस्था अथवा निरोधअवस्था सिद्ध हो गई कि सभी वस्तुएँ आपके भगवत्सम्बन्ध का अंग बन गईं और जो भगवत्सम्बन्ध का अंग नहीं उनको आप तोड़ने के लिए समर्थ हैं कि भैया, भगवत्सम्बन्ध का अंग नहीं है तो चलो इसको तोड़ डालें, इसमें डांवाडोल स्थिति है। यदि थोड़ा बहुत सम्बन्ध निभ रहा है तो ऐसी स्थिति है कि **''काफिर तो नहीं हूँ पर कहियो न मुसलमान''** - मैं काफिर भी नहीं और मुसलमान भी नहीं। कैसे? क्योंकि मस्जिद में भी थोड़ा नमाज पढ़ता हूँ और मंदिर में जा-जाकर पत्र-पुष्प भी चढ़ाता हूँ। अतः **''काफिर तो नहीं हूँ पर कहियो न मुसलमान, एक बुत से भी निबाह किए जा रहा हूँ''** - ऐसी स्थिति है।

यह ऐसी स्थिति है जिसमें भगवत्सम्बन्ध इतना गौण है कि अपनी अहंता-ममता के ही एक क्षुद्र विस्तार में संकुचित है। जहाँ अपनी अहंता इतनी तीव्र है कि अपनी ममता को छोड़ने के लिए तैयार है, जहाँ अपनी ममता इतनी तीव्र है जो अपनी अहंता को छोड़ने के लिए तैयार है वहाँ भी हम भगवत्सम्बन्ध को खींच नहीं सकते अथवा उसको दीर्घकालिक नहीं कर सकते।

भगवत्सम्बन्ध का अपना अहसास इतना क्षीण, इतना क्षुद्र, इतना लघु, इतना संकुचित है कि बहुत छोटे भाग में स्थित है। यह रेखाचित्र अपने सामने रखेंगे, यह ग्राफ अपने सामने रखेंगे तो पुष्टिप्रवाहमर्यादा भलीभाँति शुरू हो सकेगा।

जैसा हमने देखा कि प्रभु को मेरा कहना, अर्थात् मैं प्रभु का हूँ - ऐसी मेरी अनुभूति। इस अनुभूति की शुरुआत एक छोटे से चतुष्कोण से भी हो सकती है जिसमें हमारी प्रत्येक वस्तु श्रीठाकुरजी के लिए नाममात्र के रूप मे

होगी जिसे हम गुजराती भाषा में कहना चाहें तो कहेंगे कि ''फूल नहीं तो फूलनी पांखड़ी'' (फूल नहीं तो पंखुड़ी)। इस प्रकार इससे अधिक हममें समर्पण की कोई योग्यता नहीं होगी।

इससे कुछ अधिक योग्यता हमें दूसरे वृत्त में मिल रही है और वह जो तीसरा वृत्त है वह ठीक ऐसा वृत्त है जिसमें आकर ''**असमर्पित वस्तूनां तस्माद् वर्जनम् आचरेत्**'' कहने की श्रीमहाप्रभुजी को आवश्यकता नहीं रहती। तब फिर श्रीमहाप्रभुजी ऐसा कहते हैं कि ''**यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते, तदा विनिग्रहस् तस्य** '' - दूर रहो, छोड़ दो, जो भगवदोपयोगी नहीं उसको निभाने की क्या आवश्यकता है!

तो यह तीन बातें हमारे समक्ष भक्ति में आनेवाली अपनी अहंता-ममता के सम्बन्ध में हैं। ये अहंता-ममता लौकिक और वैदिक दोनों अहंता-ममता को व्याप्त कर लेनेवाली अहंता-ममता का वृत्त है। दोनों इसलिए कि लौकिक में मेरी जो अहंता है उसका ठोस उदाहरण दूँ तो लौकिक दृष्टि से मैं श्याम मनोहर हूँ, वैदिक दृष्टि से मैं एक ब्राह्मण हूँ। अत: मैं श्याम मनोहर हूँ और मैं ब्राह्मण हूँ - ये दोनों अहंताएँ मुझमें हैं तो इन दोनों अहंता की तरह मेरा शरीर है तथा इस शरीर से संबंधित दूसरी भी कई वस्तुएँ मुझसे जुड़ी हुई हैं। वे सभी मेरी लौकिक अहंताएँ हैं।

मैं, सूक्ष्म नहीं बल्कि बहुत स्थूल उदाहरण दे रहा हूँ। उसकी स्थूलता पर ध्यान न दे कर उसके उपलक्षण पर ध्यान दें कि जब मैं ब्राह्मण हूँ तो मेरे संध्या के पंचपात्र हैं। उन पंचपात्र में मेरी जो ममता है वह कोई लौकिक ममता नहीं है। संध्या करनी है तो पंचपात्र तो चाहिए! इस प्रकार पंचपात्र में मेरी ममता है और ब्राह्मण होने की जो मेरी अहंता है वह मुझे समझा रही है कि ब्राह्मण हूँ तो पंचपात्र तो रखना पड़ेगा। यह मेरी वैदिक ममता है।

मैं ब्राह्मण हूँ तो मुझे अपना यज्ञोपवीत संभाल कर रखना पड़ेगा और उस यज्ञोपवीत के प्रति मेरी जो ममता है वह कोई लौकिक ममता नहीं है। क्योंकि लौकिक दृष्टि से तो यह यज्ञोपवीत एक धागा है, तीन लड़ी का गूंथा हुआ एक धागा है, आखिर उसकी कीमत क्या? गर्दन पर रहे तो क्या और टूटे तो क्या? क्या फर्क पड़ रहा है? गर्मी लगती हो तो दुनिया में बहुत से ब्राह्मण यज्ञोपवीत को उतार कर दीवार पर टांग देते हैं। मूलत: तो कोई नुकसान नहीं पहुँचता।

आजकल जैसे अपने बालक क्या कहते हैं कि कान पर यज्ञोपवीत बांध कर लघुशंका करने से अपनी लघुशंका करने की व्यवस्था संतुलित रहती है। यज्ञोपवीत में इस प्रकार की ममता है तो वह ब्राह्मणवाली ममता नहीं है, लघुशंका करनेवाली ममता है। ऐसे-ऐसे बेवकूफ बालक अपनी धरती को अलंकृत करते हैं; ऐसे भी बालक भूतल पर विद्यमान हैं। अत: यज्ञोपवीत में इस प्रकार की ममता रखनेवाले भी हैं और उनका बहुत माहात्म्य है।

तिलक किसलिए लगाते हैं? उसकी भी उन्होंने व्याख्या बताई कि तिलक में हल्दी है, चूना है, पानी है जिससे वात-पित्त-कफ का नाश होता है इसलिए तिलक लगाते हैं। इसका अर्थ यह है कि उनमें जो तिलक लगाने की ममता है वह भगवच्चरण को मस्तक पर धारण करने की ममता नहीं है। तिलक से वात-पित्त-कफ का नाश करने की ममता है, ऐसी-ऐसी बेवकूफियाँ हैं। बालक ऐसी-ऐसी बातें करते हैं, यदि समझदारी की बात करें तो फिर बालक कैसे कहलाएँ!

इस प्रकार जो वहाँ की वस्तु है उसको हम यहाँ भी ममतास्पद बना सकते हैं और यहाँ की जो वस्तु है उसे हम वहाँ भी ममतास्पद बना सकते हैं। इस प्रकार दोनों तरफ से संभव है। इसमें कोई घबराने की बात नहीं है। अब जब भगवान के साथ हम उनके सम्बन्ध में मापतोल कर रहे हैं अथवा मोलभाव

कर रहे हैं तो ऐसी स्थिति में हमें उनके स्वरूप को स्पष्ट समझना पड़ेगा और उसकी शुरुआत पर ही अटक जाने की दुर्गति के तथ्य को भी ठीक-ठीक स्पष्टरूप से समझना पड़ेगा।

इस प्रकार हमने देखा कि हमारी मोक्षपुरुषार्थ सम्बन्धी जो अहंता-ममता थी उसका श्रीमहाप्रभुजी ने बालबोध में निरूपण किया। जो पंचम पुरुषार्थ सम्बन्धी अपनी अहंता-ममता है उसका सिद्धान्तमुक्तावली में निरूपण किया और जो त्रिवर्ग संबंधी अहंता-ममता थी वह यदि वेदशास्त्र के प्रतिकूल है तो श्रीमहाप्रभुजी बात ही नहीं करना चाहते क्योंकि प्रतिकूल के सम्बन्ध में श्रीमहाप्रभुजी स्पष्ट कहते हैं -

वेदोक्ताद् अणुमात्रेऽपि विपरीतन्तु यद् भवेत्।
तादृशं वा स्वतंत्र चेति उभयो मूलतो मृषा।।

यह कपट है, पाखण्ड है, चर्चा करने से क्या लाभ होगा? और यदि वेदशास्त्र के अनुकूल है तो जिन षोडशग्रन्थों का उपदेश देने हेतु श्रीमहाप्रभुजी तैयार हुए हैं उन षोडशग्रन्थों में उस समस्या की चर्चा-मीमांसा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसलिए श्रीमहाप्रभुजी ने पहले ही उस विषय को छोड़ दिया है। **''त्रिवर्गसाधकानीति न तन्निर्णय उच्यते''** - इस सबका हम बालबोध में अनुशीलन कर आए हैं। पुष्टिप्रवाहमर्यादा में पंचम पुरुषार्थवाली भावना का यह चतुष्कोण है। पंचम पुरुषार्थ की भावना को आधार प्रदान करनेवाला, उसकी नींव रखनेवाला जो चतुष्कोण है उसे आपने कितना तुच्छ बना दिया है।

बात यह है कि जो कोई श्रीमहाप्रभुजी के अथवा भगवान के अथवा श्रीयमुनाजी के कृपापात्र हैं वे ही शुरुआत से इतनी बड़ी शुरुआत कर सकते हैं। बाकी यदि पाखण्ड न करना हो तो सभी मनुष्य छोटी शुरुआत करेंगे। लेकिन

छोटी शुरुआत करने के बाद तथ्यात्मकता पर नहीं रुकेंगे और यदि रुक रहे हैं तो हमें यह भलीभाँति समझना पड़ेगा कि वापस चक्कर क्या है? पुष्टि है, प्रवाह है या मर्यादा है?

कहाँ अटक गया, क्यों अटक गया? पुष्टि हो तो अटकना नहीं चाहिए और प्रवाही हो तो यहाँ भटकना नहीं चाहिए। अत: सीधी बात यह समझें कि भाई, यहाँ किसलिए आ गया- जैसे गौरांग महाप्रभुजी अपने यहाँ आ गये थे वैसे नहीं आना चाहिए।

यह बात ध्यान से समझें कि प्रवाही है तो भाई यहाँ किसलिए आया, अपने स्थान पर आनन्दपूर्वक रहो। ऐसे ही भटकते हुए यहाँ आ जाते हैं! इस प्रकार ये सभी परिस्थितियाँ भी संभव हैं और जो संभावित परिस्थितियाँ हैं उनको हम सब प्रकार से समझ नहीं सकेंगे जबतक कि पुष्टिप्रवाहमर्यादा को नहीं समझते। इस तथ्यात्मकता का खुलासा पुष्टिप्रवाहमर्यादा करता है।

इसी वजह से हमारा यह वृत्त बढ़ नहीं रहा, छोटा और छोटा ही रह गया है। यह यदि पारस्परिक प्रभाव के भीतर घिरा हुआ होने से विस्तृत नहीं हो सकता, बढ़ नहीं सकता तो चक्कर क्या है? यह चक्कर हमें कभी भी समझ में नहीं आ सकता, यदि हम पुष्टिप्रवाहमर्यादा को नहीं समझे तो। यह बात पुष्टिप्रवाहमर्यादा को समझने से पहले जान लेना बहुत आवश्यक है। अत: इस बात को फिर से समझें कि यहाँ श्रीमहाप्रभुजी पुष्टि क्या है, प्रवाह क्या है, मर्यादा क्या है, उसे समझाना चाहते थे जिससे हम अपनी इस व्यवस्था या अव्यवस्था को भली प्रकार से दर्पण की तरह सामने रख कर देख सकें कि भाई मेरी शक्ल कैसी है?

हम अपना चेहरा देख सकें, इसलिए श्रीमहाप्रभुजी ने पुष्टिप्रवाहमर्यादा कहा है। परन्तु हमारे दुर्भाग्य से यह ग्रन्थ लगभग अपूर्ण

उपलब्ध है। जैसे पुष्टि, प्रवाह, मर्यादा तीनों होने चाहिए थे उनमें से पुष्टि का निरूपण पूर्ण है, प्रवाह का निरूपण अधूरा है और मर्यादा का सम्पूर्ण निरूपण छूट गया है। हम यदि ग्रन्थ का रूपरेखा के अनुसार अध्ययन करें तो यह बात हमें स्पष्ट हो जाएगी कि इसका स्वरूप क्या है? पुष्टि–'क', प्रवाह–'ख' और मर्यादा–'ग'।

पुष्टि को हम 'क' मान कर चलते हैं क्योंकि श्रीमहाप्रभुजी ने क्रमशः पुष्टि, प्रवाह और मर्यादा कहा है। इसलिए हम पुष्टि को 'क' मान कर चलते हैं, प्रवाह को 'ख' मान कर चलते हैं और मर्यादा को 'ग' मानकर चलते हैं। यहाँ पुष्टि, प्रवाह और मर्यादा में भी मार्ग [1], सर्ग [2] और फल [3] – इन तीन दृष्टिकोण से पार्थक्य समझाना है। गणित के तरीके से समझ लें – 'क[1]', 'क [2]', 'क [3]' 'ख[1]', 'ख [2]', 'ख [3]', 'ग[1]', 'ग[2]', 'ग [3]'। पुष्टिप्रवाहमर्यादा की सम्पूर्ण रूपरेखा का इतना विस्तार है।

सैद्धान्तिकरूप से पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थ इतना होना चाहिए था और आज हमारे पास कितना उपलब्ध है, वह ध्यान से देखें। अन्तिम अनुच्छेद में **''प्रवाहमार्गे जीवानाम्''** 'ख [2]' अर्थात् सर्गभेद में वापस 'य, र, ल' उपभेद कहे गए हैं। इस 'ख' भाग में भी दो अवान्तर भेद बाकी हैं। 'र' अर्थात् जीवों के सर्गभेद में जीव के स्वरूप का वर्णन बाकी है और 'ल' अंश अर्थात् जीव की क्रिया का अंश बाकी है और तीसरे भाग में फल अंश संपूर्ण बाकी है। इस प्रकार 'ख' भाग में (प्रवाह में) मार्गभेद का पहला अंश पूरा आता है। दूसरा अंश अर्थात् जीव के विविध सर्ग में 'य' अंश अर्थात् जीव का स्वरूप आता है। परन्तु दूसरे अंश का 'र' और 'ल' अंश नहीं आए अर्थात् प्रवाह के देह और क्रिया का निरूपण नहीं है और तीसरे भाग अर्थात् फल का सम्पूर्ण भाग नहीं है। 'ग' अंश के सभी अंशों का निरूपण पूरा नहीं है।

अतः इतना ग्रन्थ या तो श्रीमहाप्रभुजी ने लिखा था परन्तु कहीं खो गया। श्रीमहाप्रभुजी के कई ग्रन्थ खो गए, उनमें से अधूरे उपलब्ध हैं। जैसे– भाष्य आदि–आदि। इस प्रकार यह अधूरा उपलब्ध ग्रन्थ है अथवा ज्ञात नहीं है कि श्रीमहाप्रभुजी ने पूरा किस कारण से नहीं लिखा। वस्तुतः क्या हुआ उसकी आज कोई ऐतिहासिक स्पष्टता हमारे पास नहीं है। परन्तु इस रूपरेखा का अवलोकन करेंगे तो ग्रन्थ का एक विहंगावलोकन हमें मिलेगा कि कितना ग्रन्थ होना अपेक्षित है और कितना उपलब्ध है। यह एकदम आपके सामने स्पष्ट हो जाएगा।

*****

।। पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः ।।

(पुष्टि[क] प्रवाह[ख] मर्यादानां [ग] मार्ग[1] सर्ग[2] फल[3] - पार्थक्य निरूपणम्) - हमें सारांशरूप में जो इसके विषय दिखाई देते हैं वे 'क-ख-ग' हैं। 'क[1]' अर्थात् पुष्टिमार्ग, 'क[2]' अर्थात् पुष्टिसर्ग, 'क[3]' अर्थात् पुष्टिफल। 'ख[1]' अर्थात् प्रवाहमार्ग, 'ख[2]' अर्थात् प्रवाहसर्ग, 'ख[3]' अर्थात् प्रवाहफल और 'ग[1]' अर्थात् मर्यादामार्ग, 'ग[2]' अर्थात् मर्यादासर्ग, 'ग[3]' अर्थात् मर्यादाफल। यह पूरे ग्रन्थ की रूपरेखा है।

पुष्टि[क/1] प्रवाह[ख/1] मर्यादा[ग/1] विशेषेण पृथक्-पृथक्।
जीव[र/य] देह[र/र] क्रिया[र/य] भेदैः प्रवाहेण[2] फलेन[3] च।।1।।
वक्ष्यामि सर्व-सन्देहा न भविष्यन्ति यच्छ्रुतेः।

अन्वयार्थ :

पृथक्-पृथक् = अलग-अलग
विशेषेण = विशेषरूप से
जीव-देह-क्रिया-भेदैः = जीव, देह और क्रिया के भेद से
प्रवाहेण = प्रवाह से
च = और , **फलेन** = फल से
पुष्टि-प्रवाह-मर्यादाः = पुष्टि, प्रवाह और मर्यादा (**अहं** = मैं)
वक्ष्यामि = कह रहा हूँ
यत् = जो **श्रुतेः** = सुनने से
सर्वसन्देहाः = सब प्रकार के सन्देह
न = नहीं **भविष्यन्ति** = होंगे।

भावार्थ : पुष्टि, प्रवाह और मर्यादा तीनों अलग-अलग जाने जाते हैं- 1. उनके

धर्म के द्वारा, 2. जीवादि के भेद से चली आती सृष्टि की अविच्छिन्न परम्परा के द्वारा, 3. उनका जो फल मिलता है, उसके द्वारा- यह सब कहूँगा, जिसके श्रवण से उनके धर्म, जीव का स्वरूप, देह, क्रिया के भेद, सृष्टि तथा उनके फल का ज्ञान होगा तब सब सन्देह निवृत्त होंगे।

व्याख्या :

अभी देखना, अक्षर पर ध्यान देंगे तो सारी बात समझ में आएगी कि जब श्रीमहाप्रभुजी पुष्टि कहते हैं तो 'क[1]'। 'क[1]' का अर्थ है पुष्टिमार्ग। प्रवाह मतलब प्रवाहमार्ग, मर्यादा मतलब मर्यादामार्ग। समीकरण करके देखेंगे तो स्पष्ट होगा कि पुष्टि, प्रवाह, मर्यादा अलग-अलग मार्ग हैं। **''जीवदेह क्रियाभेदैः''** - और जीव, देह, क्रिया के भेद का अर्थ क्या है? उसमें पुनः भेद करते हैं अर्थात् सर्ग का निरूपण तीन प्रकार से किया है। 'य' में जीव, 'र' में उसका देह और 'ल' में उसकी क्रिया। बस ग्रन्थ के इतने सारांश से मार्ग का निरूपण, सर्ग का निरूपण और फल का निरूपण अभिप्रेत है।

इस प्रकार तीनों मार्ग का - पुष्टि, प्रवाह और मर्यादामार्ग होने का निरूपण अलग-अलग है। इन तीनों मार्ग का सर्ग कैसे है, उस सर्ग का निरूपण और फल कैसे है, उस फल के स्वरूप का निरूपण कैसा है। इसी प्रकार इसमें जो सर्ग है, 'सर्ग' अर्थात् सृजन, वह सृजन कितने प्रकार से हो रहा है।

सृजन के अन्तर्गत जीव का सृजन हो रहा है, उसके देह का सृजन हो रहा है, उसकी क्रिया का सृजन हो रहा है। जीव, देह और क्रिया को एक प्रकार से ध्यान से देखेंगे तो एकदम स्पष्ट हो जाएगा कि वे कर्ता, साधन, करण और क्रिया हैं। देह करण है, जीव कर्ता है और क्रिया अर्थात् वह कार्य किस प्रकार से करेगा। कौन क्रिया करेगा, किस प्रकार क्रिया करेगा, इस मार्ग में और कैसी क्रिया करेगा?

यहाँ 'य, र, ल' अर्थात् जीव, देह, और क्रिया से आपको लगेगा कि यह सब गड़बड़ किसलिए फैलानी चाहिए। किसलिए द्विधा बढ़ानी चाहिए परन्तु ध्यान से देखेंगे तो यहाँ श्रीमहाप्रभुजी जीव, देह और क्रिया को कभी स्वरूपांग क्रिया कह रहे हैं तो कभी स्वरूपांग क्रिया को जीव, देह क्रिया कह रहे हैं जिससे उसमें भेद आ जाता है। वह और उसके जैसा ''**प्रवाहस्थान् प्रवक्ष्यामि स्वरूपाऽङ्ग क्रिया युतान्**'' यहाँ जीव, देह, क्रिया युतान् नहीं कहा। यहाँ देह और जीव के स्थान पर स्वरूप शब्द का प्रयोग किया है। देह के स्थान पर 'अंग' शब्द का प्रयोग किया है। क्रिया के स्थान पर 'क्रिया' शब्द का प्रयोग किया है। यह बात ठीक है परन्तु जो पारस्परिक परिवर्तन है वह व्याख्या का विषय है। यह सारांश का विषय नहीं है इसलिए हम इस विषय की चर्चा यहाँ नहीं करते।

अब थोड़ी देर के लिए उस भेद को भूल कर उन दोनों प्रकार के प्रयोगों को हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि 'र-य','र-र','र-ल' - देह को इंगित करते हैं, जीव को इंगित करते हैं और जीव का स्वरूप भी कहा गया होने से उसके लिए प्रयुक्त है। यहाँ क्रिया के लिए श्रीमहाप्रभुजी ने अन्य किसी शब्द का प्रयोग नहीं किया। परन्तु उसके लिए 'र-ल' अर्थात् क्रिया समझेंगे तो आपके हाथ उसकी सामान्य विशेषताएँ/ लक्षण आ जाएंगे, अन्यथा सामान्य लक्षण हाथ नहीं आएंगे। क्योंकि यहाँ प्रभेद आ रहे हैं और उनके कारण पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थ को समझने में बहुत दुविधा होती है।

इसे बीजगणित के प्रकार से ही समझ लेना चाहिए जिससे हमें कोई समस्या नहीं होगी। फिर उसका मूल्य चाहे जो हो - 'ए' का मूल्य पाँच भी हो सकत है, दस भी हो सकता है परन्तु हमारे पास ए, बी, सी, हो तो हम एक तटस्थ शब्द से बात को समझ सकेंगे।

इस प्रकार हम तटस्थ शब्द से बात को समझ सकते हैं। यहाँ ''**जीव-**

देहक्रियाभेदैः प्रवाहेण फलेन च'' इन तीनों के प्रवाह और फल के भेद से भी श्रीमहाप्रभुजी पुष्टिप्रवाहमर्यादा का निरूपण कर रहे हैं। जब आप 'र' को देखेंगे तो आपके ध्यान में आएगा और उसके लिए 'प्रवाह' शब्द को देखें। पुष्टि, प्रवाह और मर्यादा के अन्तर्गत 'प्रवाह' शब्द है और एक सर्ग के अन्तर्गत भी पुनः 'प्रवाह' शब्द है। अब यह बात नहीं समझने के कारण मुझे किसी ने कहा था कि श्रीमहाप्रभुजी द्वारा प्रयुक्त 'प्रवाह' शब्द के स्थान पर पाठ को सुधार दें, ''**प्रमाणेन फलेन च**'' कर दें। मैंने कहा ''प्रमाणेन फलेन च'' किसलिए करना? तो उन्होंने कहा कि देखो यहाँ आगेवाले एक श्लोक में ''**प्रमाण भेदाद् भिन्नोहि पुष्टिमार्गो निरूपितः**'' इसमें 'प्रमाण' शब्द आया है इसलिए यहाँ पर प्रवाह के स्थान पर ''प्रमाणेन फलेन च'' कर दें। जब निर्दिष्ट रूपरेखा को न समझें तो हमें ऐसी मनमानी धांधल करने की इच्छा होती है। एक बार पुष्टिप्रवाहमर्यादा की रूपरेखा या सारांश को समझ लें तो श्रीमहाप्रभुजी के 'प्रवाहेण' पाठ को सुधारने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। ''**प्रवाहेण फलेन च**'' एकदम शुद्ध, सतर्कतापूर्वक किया गया उचित पाठ है और उसका तात्पर्य वापस व्याख्या का विषय है। परन्तु बहुत ही दुविधा भरा विषय लगता है। इसलिए इतना कह देता हूँ।

जैसे मर्यादामार्ग में एक बहुत ही प्रसिद्ध लोकप्रिय श्लोक है। यद्यपि इसका कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता परन्तु सभी उसका संदर्भ देते हैं -

जन्मना जायते शूद्रःसंस्काराद् द्विज उच्यते।
वेदाभ्यासाद् भवेद् विप्रः ब्रह्मज्ञो ब्राह्मणः स्मृतः।।

यह किसी पंडित की कहावत है जो इतनी प्रचलित हो गई कि सब लोग ऐसा मानते हैं कि कहीं न कहीं शास्त्र में होगी। जैसे तेनसिंग जबतक एवरेस्ट पर नहीं गया था तबतक भारत में सबको ऐसा लगता था कि हिमालय पर कहीं न कहीं स्वर्ग आदि सब होगा और जब तेनसिंग पहुँच गया तो सबको

चिन्ता हो गई कि स्वर्ग दिखाई दिया या नहीं दिखाई दिया? अत: तेनसिंग चढ़ा और हिलेरी भी। अब तो सब जा आते हैं। हवाई जहाज से भी सब घूम आते हैं परन्तु हिमालय में स्वर्ग कहीं नहीं मिलता। इसी प्रकार सबको एक आशा, विश्वास है कि शास्त्र में कहीं तो यह श्लोक होगा ही पर शास्त्र में है कहाँ? कम से कम मुझे तो मेरे इस सीमित ज्ञान के आधार पर आज तक यह श्लोक नहीं मिला, यह वचन नहीं मिला और यदि मिल जाए तो पूरा हो जाए।

जैसे यह प्रचलित धारणा है कि "**जन्मना जायते शूद्र: संस्काराद् द्विज उच्यते**" उसी प्रकार श्रीमहाप्रभुजी की धारणा है कि जो भी किसी मार्ग में प्रकट हो रहे हैं वे किसी न किसी प्रवाही प्रकार से उत्पन्न हो रहे हैं, भले ही वह पुष्टिमार्ग हो, प्रवाहमार्ग हो या मर्यादामार्ग हो। जो सर्ग है वह किसी न किसी प्रवाह का ही रूप है इसीलिए श्रीमहाप्रभुजी ने परस्पर शब्दों को बदल कर कहीं प्रवाह को सर्ग कहा है, कहीं सर्ग को प्रवाह कहा है। जिन जीवों को प्रवाही कहा है उनको भी अपशब्द कह कर तुच्छ नहीं कहा बल्कि ऐसे बताया कि जैसे उत्पन्न हुए थे वैसे ही हैं। उनमें कोई आपेक्षिक परिमार्जन नहीं आया।

वे जितना जानते हैं उतना ही जानते हैं, उससे आगे कुछ नहीं जानते। लेकिन जो जानते हैं उससे कुछ अधिक जानें तो मर्यादा और उनसे भी अधिक जानें तो पुष्टि - यह क्रम है। अत: प्रवाह का अर्थ है कि जैसे पैदा हुए वैसे ही हैं। जैसे तुतला कर बोलता था तो अब भी तुतला कर ही बोलता है। इस प्रकार जो प्रवाह है उसमें सभी जीव पैदा हो रहे हैं, चाहे वे पुष्टिमार्ग के हों या मर्यादामार्ग के हों, सामान्यत: पैदा हो रहे हैं। वे अपरिपक्व अवस्था में हैं, उनका कोई संस्कार नहीं हुआ। उनमें भीतर से कोई नई बात विकसित होकर नहीं आई तो सभी मूलत: प्रवाही तो हैं ही लेकिन उनकी समझदारी में कुछ खिला, कुछ शुद्धता हुई तो ऐसा माना जाएगा जैसे पेट्रोल का डीजल है, डीजल

का भी कोई अशोधित स्वरूप है। अशोधित ऑयल में से डीजल बन जाता है, डीजल में से पेट्रोल हो जाता है, पेट्रोल में से विमानवाला पेट्रोल बन जाता है। ये सब क्या है - परिष्करण के अलग-अलग स्तर हैं।

इसी प्रकार जैसे-जैसे शुद्धता आई वैसे-वैसे प्रवाहिता कम होती गई। जैसा खान में से निकला वैसा ही ड्रम में भर कर रख दिया तो उसको हम कच्चा (क्रूड) ऑयल कहते हैं। अत: यह जो क्रूड ऑयलवाला चक्कर है वह प्रवाह का चक्कर है। यह बात समझने जैसी है। इसीलिए 'सर्ग' और 'प्रवाह' के लिए यहाँ तो नहीं लेकिन सुबोधिनी आदि ग्रन्थों में श्रीमहाप्रभुजी ने अनेकश: परस्पर विनिमय के साथ 'सर्ग' और 'प्रवाह' शब्द का प्रयोग किया है। 'प्रवाह' शब्द अपने ग्रन्थ में भी आया है। कदाचित् हरिरायजी या अन्य कोई कहते हैं कि "**प्रावाहिका.... तेपिस्यु उपेक्षितोचिता**" अर्थात् यदि प्रावाहिक है तो उसकी उपेक्षा करो। अब क्या करना चाहिए? हमने ब्रह्मसंबंध दिया है, सब कुछ कराया है परन्तु वह अपना प्रावाहिक स्वभाव प्रकट करे तो श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि उसकी उपेक्षा करो। कहाँतक उसके साथ झगड़ा करना!

वह पुष्टिजीव भले ही हो परन्तु अपना क्रूर स्वभाव ही प्रकट कर रहा है तो उसकी उपेक्षा करो। वह लगभग श्रीहरिराय वाङ्मुक्तावली का श्लोक है या सिद्धान्तवचनावली की टीका में कदाचित इसको उद्धृत किया है। "**प्रावाहिका.... तेपिस्यु उपेक्षितोचिता**" ऐसे कुछ श्रीहरिरायजी के वचन हैं अथवा श्रीगुसांईजी के वचन हैं।

अब श्रीमहाप्रभुजी आगे आज्ञा करते हैं जिसमें एक बात ध्यान से समझने जैसी है - "**विशेषेण पृथक्-पृथक्**" - उसकी विशेषता भी समझाएंगे और उसकी पृथक्ता भी समझाएंगे तथा उसको पृथक् करके भी समझाएंगे अर्थात् एक से दूसरे को मुक्त कर देना अलग कथा है परन्तु पृथक् करने के बाद उसकी विशिष्टता हम नहीं समझते तो उसका स्वरूप नहीं बनता।

तात्पर्य यह है कि स्वरूप समझ में नहीं आता। फिर उसको विशेषण भी समझाना है और अलग-अलग करके भी समझाना है। मात्र जीवन्तता ही नहीं बल्कि वर्गीकरण और व्याख्या भी समझाएंगे।

प्रश्न : संस्कार और शोधन दोनों एक ही हैं?

उत्तर : ऐसा मैंने नहीं कहा। शुद्ध हुआ तो मर्यादा जिसके लिए मैंने शब्द प्रयुक्त किए ''अन्दर से खिलना।'' यह शोधन नहीं है। उस शब्द को मैंने पुष्टि के संदर्भ में प्रयुक्त किया था कि पुष्टि, शोधन नहीं है अपितु जो आपके भीतर विद्यमान बीजभाव है उसका विकसन है। मर्यादा, शुद्धता का संस्कार है।

अत: जो प्रवाह है उसको मर्यादामार्ग के लिए, उसके प्रावाहिक पहलुओं या अंशों को मर्यादानुसार गढ़ कर, संस्कारित करके सुघड़ बनाया जाता है। जो अपने जीव, देह, क्रिया के अनगढ़ अंश हैं उनको शास्त्र के नियमानुसार सुघड़ किया जाता था। शास्त्र के नियमानुसार अपने पुष्टिमार्ग में भी सुघड़ बनाने के कई संस्कार हैं। जैसे ब्रह्मसंबंध को हम एक संस्कार मानते हैं। इसको आजकल हम वैकुण्ठ का टिकट भी मानते हैं। यथार्थ में वैकुण्ठ का टिकट नहीं, ब्रह्मसंबंध एक संस्कार है। अष्टाक्षरदीक्षा एक संस्कार है। ऐसे कई प्रकार के संस्कार अपने यहाँ वर्णित हैं। कौन-कौनसी वस्तु संस्कार है, यह अध्ययन का एक अलग विषय है। परन्तु अमुक संस्कार है और उस संस्कार के कारण कहीं भीतर विद्यमान अपनी जो सामर्थ्य है वह खिलती है।

जैसे हीरे को आप तराश कर उसको संस्कारित करें तो वह चमकते पत्थर के रूप में बन सकता है लेकिन काँच को घिस-घिस कर तराशेंगे तो वह टूट जाएगा। क्योंकि काँच में इतना तराशे जाने की सामर्थ्य नहीं है। काँच की उत्पत्ति का प्रवाह ही ऐसा है कि वह इतना संस्कार झेल नहीं सकता।

श्रीमहाप्रभुजी एक बात बहुत सन्दर कहते हैं कि जब संस्कार द्रव्य का नाशक बन जाए तो उस समय द्रव्य का पक्ष लें, संस्कार का पक्ष न लें। यद्यपि

संस्कार बहुत ही उत्तम वस्तु है परन्तु कबतक उत्तम है - जबतक द्रव्य का नाश न हो। जैसे अंगीठी पर हम दाल-भात बनाते हैं तो उसे कबतक पकाना चाहिए- जबतक दाल-भात का नाश न हो। जिस स्तर पर दाल-भात का नाश हो रहा है तो फिर आप पका नहीं रहे वरन् कुछ सत्यानाश कर रहे हैं।

इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु का संस्कार होता है और उसकी एक मर्यादा है और कितनी मर्यादा है कि जबतक वह सुघड़ बन जाए। जबतक सुघड़ बन रही है तबतक संस्कार है और जब टूटने की शुरुआत हो गई तो वहाँ से संस्कार नहीं हो रहा अपितु द्रव्य का नाश हो रहा है। अत: संस्कार और द्रव्य नाश में प्रत्येक समय श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि जिस समय संस्कार के कारण द्रव्यनाश हो रहा है तो संस्कार का पक्ष न ले कर द्रव्य का पक्ष लें। यदि द्रव्य नाश नहीं हो रहा, अनगढ़ द्रव्य सुघड़ बन रहा है तो द्रव्य का पक्ष न लेकर संस्कार का पक्ष लें। बहुत ही सुन्दर बात है। थोड़ा बुद्धि से काम लें तो दैनिक जीवन में उसकी उपयोगिता बहुत अद्‌भुत और व्यावहारिक है।

हमारी जो प्रावाहिकता है उसको मर्यादा से संस्कृत करना है - जबतक प्रावाहिकता पूर्णरूप से नष्ट न हो जाए तबतक। मर्यादा भी बहुत अच्छी वस्तु है। जहाँ अपनी प्रावाहिकता ही नष्ट हो रही है वहाँ मर्यादा, मर्यादा न रह कर अमर्यादित संस्कार हो गया। इसलिए श्रीमहाप्रभुजी ने पुष्टि को संस्कार नहीं कहा, श्रीमहाप्रभुजी पुष्टि को संस्कार नहीं मानते। पुष्टि को भीतर स्थित मूलपात्रता मानते हैं, ऊपर से किया हुआ संस्कार नहीं मानते। अनुग्रह, जीव का संस्कार नहीं है, जीव के अन्दर से खिलनेवाला बीजभाव है। बात की खूबसूरती पर ध्यान दें कि कितना गजब का भेद श्रीमहाप्रभुजी ने किया है। मर्यादा एक अनगढ़ को सुघड़ बनाने का संस्कार है। पुष्टि अनगढ़ को सुघड़ बनाने का संस्कार नहीं है। पुष्टि भीतर विद्यमान बीजभाव है जो थोड़े से संस्कार से खिल उठेगा, यदि पुष्टि है तो, नहीं तो नहीं खिलेगा।

अत: पुष्टि संस्कार नहीं, पुष्टि के खिलने के लिए कुछ थोड़े बहुत गौण संस्कार बताए हैं जिनको आज हम अपने स्वार्थ से अभिभूत होने के कारण, स्वार्थलोलुपता के कारण संस्कार के रूप में न देख कर किसी असंगतरूप में ही देखने लग गए हैं।

इसलिए पुष्टि एक अलग वस्तु है। मर्यादा निश्चितरूप से संस्कार है। प्रवाह का संस्कार मर्यादा है और प्रवाह में से प्रस्फुटित कोई बीज, जिसे हम बिलकुल कीचड़ और कमल की भाँति समझें तो समझ में आ सकता है कि प्रवाह एक कीचड़ है, तो पुष्टि उसमें से कमल की भाँति प्रस्फुटित हो कर बाहर आनी चाहिए। यदि कीचड़ में से कमल की भाँति खिल कर बाहर नहीं आ रहा तो इसका अर्थ यह है कि कुछ न कुछ समस्या है, बीज नहीं है। वह संस्कार नहीं है। कभी कीचड़ का ऐसा संस्कार नहीं हो सकता कि जिसके संस्कार के कारण उस में से कमल खिल सके। बहुत पानी डालना या गर्मी से उसे सुखा देना – ये सब कीचड़ के संस्कार होंगे। उन संस्कारों से कीचड़ अर्थात् पंक में पंकज उत्पन्न नहीं किया जा सकता। पंक में पंकज तब उत्पन्न होगा जब प्रवाह के पंक में पुष्टि का बीज होगा। मर्यादा के साथ अपना मूलभूत अंतर है। पुष्टि का फर्क यह है कि वह संस्काररूप नहीं बल्कि वह बीजरूप है।

(मार्गत्रयभेदसाधकप्रमाणसङ्कलनम्) – तीन प्रकार के मार्ग हैं– पुष्टि, प्रवाह, मर्यादा। इन तीन प्रकार के मार्ग के ऐसे भेद हैं। यह मार्गभेद दर्शनशास्त्र में बहुत ही विवाद का विषय रहा है। जैसे कई लोग यह मानते हैं कि मार्ग तीन नहीं बल्कि एक ही है लेकिन कई झंडाबाज धर्म ऐसे हैं कि अपना झंडा इस तरह से फहराते हैं कि सब इस मार्ग में आ जाएँ। झंडाबाजी के कैंसर से अब पुष्टिमार्ग भी ग्रस्त हो गया है।

ऐसे लोगों की हमेशा यह धारणा होती है कि मार्ग एक ही है। श्रीमहाप्रभुजी ने कभी भी इस प्रकार की झंडाबाजी पसन्द नहीं की। इस

झंडाबाजी को पसन्द नहीं करने के कारण श्रीमहाप्रभुजी को बहुत से झगड़े करने पड़े और श्रीमहाप्रभुजी को ही नहीं बल्कि अन्य भी कई आचार्य ऐसे हैं जिन्हें ये युद्ध लड़ने पड़े। ऐसे युद्ध करने के लिए हमें गीता में कहा गया है। इसलिए हम लड़ सकते हैं लेकिन वह एक अलग प्रकार है।

गीता के वचनों का भी झंडाबाज धर्म अन्यथा अर्थ करता है कि मार्गभेद नहीं है, मार्ग तो एक ही है लेकिन मार्ग पर चलनेवालों में समस्या है। कोई चल सकता है, कोई नहीं चल सकता। कोई ठीक ढंग से चल रहा है, कोई अनुचित रीति से चल रहा है और कोई मध्यम स्थिति से चल रहा है। अत: चलनेवालों के भेद हैं, मार्ग के भेद नहीं, मार्ग तो एक ही है। इसलिए अधिकांश जितने भी विश्वधर्मवाले हैं उनके अनुसार हमारा धर्म पुष्टिमार्ग एक विश्वधर्म है। वह सबके लिए है – ऐसी भ्रान्ति में जीनेवाला झंडाबरदार धर्म है। अपना धर्म भी ऐसा ही हो गया है। लेकिन श्रीमहाप्रभुजी ऐसा कभी भी नहीं मानते थे कि हमें झंडाबाजी करनी चाहिए।

श्रीमहाप्रभुजी अत्यन्त स्नेहपूर्वक, सादगी के साथ और सहायता की भावना से यह बात कहने को तैयार हैं कि सबका मार्ग एक नहीं है। सबके अलग-अलग मार्ग हैं, अब जो होना हो वह हो।

इसके बाद यह बात भी ध्यान से समझें। द्वैतवादी तात्त्विकरूप से मार्गद्वैत अर्थात् मार्गभेद मान कर अपनी सहमति दिखाएंगे। स्पष्ट सहमति तो एक तरफ, तत्त्व के स्वरूप के स्तर पर भी श्रीमहाप्रभुजी शुद्धाद्वैत कहते हैं और दूसरी तरफ लीला के स्तर पर श्रीमहाप्रभुजी छाती ठोक कर कहते हैं कि मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। यह कहने की श्रीमहाप्रभुजी में हिम्मत इसलिए है कि श्रीमहाप्रभुजी का जो अद्वैत है वह जड़ अद्वैत नहीं है, वह डिब्बाबंद अद्वैत नहीं है।

श्रीमहाप्रभुजी का द्वैत स्वयं ''**एकोऽहं बहु स्याम्**'' वाला अद्वैत है। इसलिए जो ''एकोऽहं बहु स्याम्'' वाला अद्वैत है तो श्रीमहाप्रभु छाती ठोक कर कह सकते हैं कि नहीं, तत्त्व एक है, परमात्मा एक है, उस परमात्मा की एकता में कोई भी द्वैत नहीं, देशकृत द्वैत नहीं, कालकृत द्वैत नहीं, स्वरूपकृत द्वैत नहीं परन्तु मार्ग अनेक हैं।

यह जो बात है वह कहने के लिए साहस चाहिए। जो द्वैत ही मानते हैं उनको तो कोई समस्या नहीं है। जैसे तात्त्विक दर्शन में कुछ अनुकरण हुए हैं। इसी प्रकार गणित और तर्कशास्त्र में भी हुए हैं। इसी प्रकार धर्म में भी अनुकरण हुए हैं। जिन्होंने द्वैत माना उन्होंने एक मार्ग माना, श्रीमहाप्रभुजी जैसे अनेक आचार्यों ने अनेक मार्ग मान लिए कि चलो अद्वैत तो है पर कई अलग-अलग प्रकार के मार्ग हो सकते हैं।

इसका कारण यह है कि एक तरफ आपने अद्वैत कहा और मार्गभेद को आपने स्वीकार नहीं किया तो झण्डाबाजी तो प्रकट होगी ही इसलिए अद्वैत के बोध को श्रीमहाप्रभुजी मार्गद्वैत से संतुलित कर रहे हैं। यद्यपि मैं निन्दा के अर्थ में कह रहा हूँ परन्तु बहुत ही सत्यानाशी ख्याल है इसलिए बात को समझें। जैसे हम बालक को शैतान कहते हैं न, उस रूप में कह रहा हूँ कि सत्यानाशी ख्याल है - अद्वैत अर्थात् एक ही मार्ग का ख्याल बहुत सत्यानाश फैलाता है क्योंकि यदि एक ही है तो फिर दूसरा कोई विकल्प अपने पास है ही नहीं।

एक ओर तत्त्व के स्तर पर श्रीमहाप्रभुजी एक कहते हैं और उसी तत्त्व के स्तर पर जिस समय हमें तुलना करना है, जिस समय हमें समझना है, उस समय बहुत से प्रमाणों के भेद, कई मार्गों के भेद श्रीमहाप्रभुजी मान रहे हैं। चलो, बैठ जाओ अब इस तत्त्व का अभेद कभी भी बाधक नहीं होगा अथवा यदि मार्गभेद है तो तत्त्व की अभेदता की झंडाबाजी अब कभी चलेगी नहीं।

सीमा अकबराबादी ने बहुत ही सुन्दर बात कही है - ''**जिस जगह से ले चला था राहबर, हम वहीं आए फिर घूमके।**'' जिस झंडाबाजी को खत्म करने के लिए श्रीमहाप्रभुजी ने कितनी गजब की बात खोज निकाली कि तत्त्व के अभेद में मार्ग का भेद है, हमने उस मार्ग के भेद को पूरी तरह से तितर-बितर कर दिया। इस मार्ग के सम्पूर्ण भेद को तितर-बितर करके पुष्टिमार्ग को विश्वधर्म कह कर वापस मार्ग का अभेद घोषित कर दिया, यह बेवकूफी है, बालकों की लीला है। इसमें कोई सार नहीं है। न कोई श्रीमहाप्रभुजी की वाणी का अवगाहन करता है कि श्रीमहाप्रभुजी की वाणी के प्रति हमारी किसी प्रकार की कोई जवाबदारी भी है। इस बात को ध्यान से समझें।

भक्तिमार्गस्य कथनात्[क/1] **पुष्टिर् अस्तीति निश्चयः।।2।।**

''द्वौ भूतसर्गावि''त्युक्तेः[ख/1] **प्रवाहोऽपि व्यवस्थितः।**
वेदस्य विद्यमानत्वात्[ग/1] **मर्यादापि व्यवस्थिता।।3।।**

अन्वयार्थ :

भक्तिमार्गस्य = भक्तिमार्ग के
कथनात् = कहने से
पुष्टिः = पुष्टि
अस्ति = है **इति** = ऐसा
निश्चयः = निश्चय (**अस्ति** = है)
द्वौ = दो
भूतसर्गौ = जीवसृष्टि
इति = ऐसा, **उक्तेः** = कहने से
प्रवाहः = प्रवाह
अपि = भी

व्यवस्थितः = विशेषरूप से स्थित
(अस्ति = है) **(किंच** = और)
वेदस्य = वेद के
विद्यमानत्वात् = विद्यमान होने से
मर्यादा = मर्यादा, **अपि** = भी
व्यवस्थिता = विशेषरूप से स्थित
(अस्ति = है)

भावार्थ : शास्त्र में भक्तिमार्ग अलग ही कहा गया है। इससे निश्चय होता है कि भगवान का अनुग्रह है और इसी से यह भी मालूम पड़ता है कि पुष्टि (अनुग्रह) मार्ग भी अलग ही है।

गीताजी में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि ''इस लोक में दैव और असुर भेद से प्राणियों की दो तरह की सृष्टि है।'' (इस वचन में आसुरी जीवों की पृथक् गणना की है) इससे प्रवाहमार्ग भी सिद्ध है तथा कर्मादि की व्यवस्था करनेवाला वेद विद्यमान है, उससे सिद्ध है कि मर्यादामार्ग भी अनादिकाल से चला आ रहा है।

व्याख्या :

इसके लिए श्रीमहाप्रभुजी बता रहे हैं कि मार्ग तीन हैं। यह हम कहाँ से समझेंगे? ''**भक्तिमार्गस्य कथनात् पुष्टिर् अस्तीति निश्चयः**'' - शास्त्र में भक्ति वर्णित है कि नहीं? एक बार के लिए सारी बात भूल जाएँ। भक्ति का विधान है या नहीं - कहना बहुत ही मुश्किल है क्योंकि विधान करो तो भक्ति नहीं रह जाती और भक्ति है तो विधान रहेगा ही नहीं। कोई यह कहे कि प्रेम करो और फिर प्रेम किया तो वह प्रेम नहीं, प्रेम का कोई प्रदर्शन हो जाएगा। विधान से प्रेम का प्रदर्शन हो सकता है, प्रेम नहीं हो सकता और यदि प्रेम है तो उसका विधान नहीं हो सकेगा।

अतः श्रीमहाप्रभुजी ने एक बहुत ही सुन्दर शब्द प्रयुक्त किया है - ''**भक्तिमार्गस्य कथनात्**'' - शास्त्र में कही-कहीं भक्तिमार्ग कहा है कि नहीं? तो यार, कोई बुद्धि का प्रयोग करे तो समझ में आ जाएगा कि यदि ऐसा भक्तिमार्ग कहा गया है तो पुष्टि के अभाव में ऐसा भक्तिमार्ग किस प्रकार हो सकता है? ''**भक्तिमार्गस्य कथनात् पुष्टिर् अस्तीति निश्चयः**'' - पुष्टि के विषय में तो आप निश्चिन्त रहें क्योंकि भक्ति कही है।

कोई ऐसी भक्ति जो विलक्षण है, जो लोकवेदातीत है, कही है कि नहीं? पंचम पुरुषार्थरूपा भक्ति का वर्णन आया है कि नहीं? अतः लोकवेदातीत होने से इस लोकवेदातीत रूप में हम उसको चाहते होते हैं। लौकिकविषय के रूप में नहीं, वैदिकविषय के रूप में नहीं बल्कि लोकवेदातीतरूप में उसे चाह सकते हैं। ऐसी किसी भक्ति के स्वरूप का वर्णन हुआ है अथवा नहीं? अतः स्वस्थ रहें कि कहीं न कहीं पुष्टि का बीज काम कर रहा है।

अब प्रश्न यह आएगा कि प्रवाह और मर्यादा को कहाँ से समझना तो श्रीमहाप्रभुजी गीता को सामने ला रहे हैं - ''**द्वौ भूतसर्गाव्वि'' त्युक्तेः** - दो प्रकार के भूतसर्ग हैं। दो प्रकार के जीवों का भगवान ने सृजन किया है - ''**दैवी आसुर एव च**'' - दैवी है और आसुरी है। अतः दो प्रकार के सर्ग हो गए इसलिए प्रवाह भी है और वह व्यवस्थित है। उसकी व्यवस्था करने की कोई आवश्यकता नहीं है। आप छोड़ देंगे तो भी वह व्यवस्थित है। प्रवाह में उसके लिए किसी व्यवस्था की आवश्यकता ही नहीं। श्रीमहाप्रभुजी ने आगे इसका बहुत ही सुन्दर एक अन्य संदर्भ दिया है। उसे हम जब श्लोक आएगा तब देखेंगे।

इससे पहले श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि मर्यादा किस प्रकार व्यवस्थित होगी? तो कहते हैं - ''**वेदस्य विद्यमानत्वाद् मर्यादापि व्यवस्थिता**'' - वेद में बताया गया है। अतः मर्यादा की भी कोई व्यवस्था हमें उपलब्ध है जो

अनगढ़ को सुघड़ बना सकती है।

''द्वौ भूतसर्गावि'' त्युक्तेः – एक अनगढ़ है और दूसरा सुघड़ है। ऐसा कह कर श्रीमहाप्रभुजी यह सूचित कर रहे हैं कि प्रवाह तो व्यवस्थित हो गया। अमुक अनगढ़ है तो प्रवाह तो है। नदी भी इसी प्रकार अगनढ़ और सुघड़ होती है। किसी के घाट गढ़े हुए होते हैं और किसी के अनगढ़ होते हैं।

इस प्रकार अनगढ़ और सुघड़ सभी स्थानों पर विद्यमान हैं। सोना भी अनगढ़ और सुघड़ हो सकता है, रत्न भी अनगढ़ और सुघड़ हो सकता है, मनुष्य भी अनगढ़ और सुघड़ हो सकता है, धर्म भी अनगढ़ और सुघड़ हो सकता है। **''द्वौ भूतसर्गावि'' त्युक्तेः प्रवाहोऽपि व्यवस्थिता**– उसको सुघड़ बनाने की कोई प्रक्रिया कही गई है अथवा नहीं? अतः मर्यादा भी व्यवस्थित है। श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि घबराने की क्या आवश्यकता है? सारी मर्यादा समझ में आ गई। उसी प्रकार अनगढ़ को मर्यादा में बांध लें तो वह सुघड़ हो जाएगा। जो कुछ भी उत्पन्न हो रहा है वह अनगढ़ ही तो उत्पन्न हो रहा है।

उदाहरणस्वरूप सर्राफा बाजार में जा कर देखें, घड़ा हुआ सोना और अनगढ़ सोना मिलता है कि नहीं? हीरा बाजार में जा कर देख लें – कच्चा हीरा और घड़ा हुआ हीरा मिलता है कि नहीं? कपड़ा बाजार में कपड़े के थान और बने हुए तैयार कपड़े मिलते हैं कि नहीं? अतः **''द्वौ भूतसर्गौ''** सब स्थानों पर उपलब्ध है। इसी प्रकार मानव जाति की तरफ देखें तो कितने ही अनगढ़ और कितने ही सुघड़ व्यक्ति मिल रहे हैं या नहीं?

अतः यह बनाने की बात नहीं है बल्कि बात यह है कि हमारे पास किस तरीके से, किस रूप में उपलब्ध हैं। जो भी सुघड़ सोना उपलब्ध है वह मूलतः अनगढ़ प्रकार है कि नहीं? जो भी सुघड़ हीरा है उसका कोई अनगढ़ रूप है कि नहीं? पच्चीस-तीस वर्ष पहले मोहम्मद रफी ने एक गीत गाया था – **''बिंध**

जाए सो मोती कहना, बाकी कंकड़ होय'' – तो मोतीवाला क्या करता है? मोती में छेद करता है और जब उसमें छेद हो जाता है तब तो वह मोती कहलाता है और यदि छेद करने की प्रक्रिया में टूट गया तो पत्थर है। **''प्रेम दीवानी आस न छोड़े चाहे जीवन खोये''** – बहुत वर्ष पहले मोहम्मद रफी का गीत था।

अर्थात् जिन्होंने मर्यादा को सहन कर लिया वे मर्यादित जीव हैं, जो मर्यादा सहन नहीं कर सके अथवा जिनका मर्यादा में प्रवेश नहीं हो सका वे अनगढ़ हैं। अतः इस प्रकार **''द्वौ भूतसर्गौ''** हो गया कि नहीं? मोती जब उत्पन्न होता है और हीरा जब उत्पन्न होता है तो मोतीवाले और हीरेवाले को यह पूछ कर देखें कि मोती की उत्पादकता में, हीरे की उत्पादकता में यह समस्या होती है कि नहीं कि किसी में छेद कर सकते हैं और किसी में नहीं कर सकते, किसी को तराश सकते हैं और कोई तराशा नहीं जा सकता।

कई हीरे ऐसे भी होते हैं जिनको घिसते समय उनमें जीरम आ जाता है। जीरम को दाग-धब्बा समझ सकते हैं। उसमें एक दरार होती है। आवश्यक नहीं कि वह काली हो, कई बार हीरे से भी अधिक सफेद होती है, कई बार काली भी होती है, कई बार अन्य किसी रंग की भी होती है, कई बार हीरे के रंग से भी अधिक सफेद, अधिक चमकदार जीरम होता है। सभी संभावनाएँ हो सकती हैं। अतः जीरम आ गया तो हीरे का मूल्य घट गया। यदि अच्छा जानकार व्यक्ति है तो वह हीरे की अच्छी कीमत नहीं देगा।

अब यह बात बना कर नहीं कही गई है। अगर यह बात समझ में आई हो तो उत्पत्ति जिस प्रकार प्रवाही है उसी प्रकार मोती की उत्पत्ति भी ऐसी है कि कोई मोती छेद की प्रक्रिया को झेल सकता है और कोई मोती छेद करने की प्रक्रिया में टूट जाता है। **''बिंध जाए सो मोती कहना, बाकी कंकड़ होय''**– अर्थात् सुधरना कौन नहीं चाहता – सब सुधरना चाहते हैं परन्तु सब सुधर नहीं सकते – इस नियति की यहाँ चर्चा हो रही है– **''द्वौ भूतसर्गौ''** से।

अत: जो सुधरना चाह रहे हैं और प्रयास के बाद भी नहीं सुधर रहे हैं तो समझ लेना चाहिए कि **''द्वौ भूतसर्गावि''त्युक्ते:।**

जैसे कपड़े के लिए सूत बनाते हैं तब कभी उसमें गाँठ आ जाती है। अब सूत तो सूत है, उसमें गांठ आ गई तो वह कपड़े तक अड़चन पैदा करती रहती है। सूत को छू कर देखेंगे तो सूत की गांठ कपड़े में भी खुरदरेपन के रूप में हमें कहीं न कहीं महसूस होती ही है। भरसक प्रयास के बाद भी उसमें सुधार नहीं कर सकते – यही परिस्थिति होती है।

(पुष्टिमार्ग [क/1] **पार्थक्यस्य विशेषेण प्रमाणोपपत्ति:)** – पुष्टिमार्ग एक भिन्न मार्ग है। यद्यपि भिन्नता की तीन बातें बताईं कि तीन भिन्न-भिन्न मार्ग हैं परन्तु अब इनकी भिन्नता की विशेषरूप से उपपत्ति भी होनी चाहिए। अर्थात् जो बात कही गई है उसे ठोसरूप से सिद्ध भी करना चाहिए। इसलिए श्रीमहाप्रभुजी **''भक्तिमार्गस्य कथनात्''** सूत्र का भाष्य कर रहे हैं। किस प्रकार?

''कश्चिदेव हि भक्तो हि''''यो मद्भक्त:''इतीरणात्।
सर्वत्रोत्कर्षकथनात् पुष्टिर् अस्तीति निश्चय:।।4।।

अन्वयार्थ :

यो = जो, **मद्** = मेरा
भक्त: = भक्त, **इति** = ऐसा
ईरणात् = कहने से (**किंच** = और)
सर्वत्र = सब जगह
उत्कर्षकथनात् = श्रेष्ठता कहने से
पुष्टि: = पुष्टि
हि = निश्चित ही

अस्ति = है, **इति** = ऐसा
निश्चय: = निश्चय
भक्त: = भक्त, **कश्चित्** = कोई (विरला)
एव = ही (**भवति** = होता है)

भावार्थ : गीताजी में भगवान ने **''जो मेरा भक्त है वह मुझे प्रिय है''** ऐसा कहा है इससे और सभी शास्त्रों में भक्ति का उत्कर्ष कहा गया है उससे भी, यह सिद्ध होता है कि पुष्टिमार्ग भिन्न है। ''भक्त कोई ही होता है, सब नहीं होते हैं।''

व्याख्या :

सामान्यरूप से श्लोक में इन्वर्टेड कॉमा नहीं होते। इसलिए हमें यह पता नहीं चलता कि कहाँ स्वयं महाप्रभुजी कह रहे हैं और कहाँ वे शास्त्र को उद्धृत कर रहे हैं। अब इस दृष्टि से हम इस विषय को देखेंगे तो हमें स्पष्ट हो जाएगा कि **''कश्चिदेव हि भक्तो हि''** – यह बात श्रीमहाप्रभुजी नहीं बोल रहे बल्कि शास्त्र से उद्धृत कर रहे हैं। अब उद्धृत इस प्रकार से कर रहे हैं कि जैसे स्वयं बोल रहे हों। अत: हमें भ्रान्ति हो जाती है।

इन्वर्टेड कॉमा (अवतरण चिह्न) लगाते ही यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि **''कश्चिदेव हि भक्तो हि यो मद्भक्त:''** – कह कर भगवान 'किन्हीं भक्त' के स्थान पर 'कोई भक्त' कह कर छूट गए हैं या नहीं? श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि कोई भक्त ऐसे होते हैं अर्थात् भक्त के कुछ प्रकार हैं उनमें से कोई एक प्रकार अलग रूप से भगवान ने बताया है कि नहीं बताया?

''यो मद्भक्त:'' – अर्थात् जो मेरा भक्त का तात्पर्य है कि कई प्रकार के भक्त हैं उनमें से 'जो मेरा भक्त' जब भगवान कह रहे हैं तो भक्तों में से कोई एक अलग प्रकार के भक्त हुए। भगवान ने स्वयं भक्तों को इस प्रकार से मुक्त कर दिया है। अत: निश्चितरूपेण भक्तिमार्ग का कथन हो गया।

इसका अर्थ यह है कि इस कथन में यह निहित है कि जीव का भक्ति का सामर्थ्य नहीं है, भक्ति की पुष्टि इसमें झलक रही है। भगवान किसी जीव पर इस प्रकार पुष्टि करते हैं कि जिस जीव को श्रीठाकुरजी यह कहते हैं – **''यो मद्भक्तः स मे प्रियः।''** कोई मेरा भक्त ऐसा है जो लोक–वेद का त्याग करके मेरी भक्ति कर सकता है तो कोई लोकवेदातीत भक्ति का स्वरूप प्रभु ने स्वतंत्र रखा है इसीलिए पुष्टिमार्ग एक अलग मार्ग है, यह प्रमाणतः सिद्ध हो गया।

''सर्वत्रोत्कर्षकथनात्'' – और इस प्रकार का भक्तों का उत्कर्ष एक स्थान पर नहीं बल्कि अनेक स्थानों पर वर्णित है। सर्वत्र इस प्रकार के भक्तों के उत्कर्ष का वर्णन हुआ है। उत्कर्ष का वर्णन होने का तात्पर्य यह है कि किसी एक भक्त की ऐसी गुणवत्ता है कि वह गुणवत्ता उसके संस्कार से प्रकट नहीं हुई। उस भक्त की गुणवत्ता अनगढ़ भी नहीं थी और वह उसको भी अनगढ़ नहीं रहने देती तथा उसे संस्कृत भी नहीं रहने देती।

फिर भक्ति आई कहाँ से? श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि अवश्य और अवश्य ही उसमें कोई पुष्टि का बीज था। वह न होता तो भक्ति आती कहाँ से? मनुष्य या तो अनगढ़ रह सकता है या सुघड़ रह सकता है, वह अनगढ़ अथवा सुघड़ से भिन्न तीसरा, जिसे हम न अनगढ़ में परिभाषित कर सकते हैं और न सुघड़ में परिभाषित कर सकते हैं, अनगढ़ता और सुघड़ता दोनों को मापने में जहाँ मापदण्ड कम पड़ जाता हो, छोटा पड़ता हो, जिसे पैमाने से मापा न जा सके, इस प्रकार का भी कोई भक्त हो सकता है अथवा नहीं? यदि हो सकता है तो वह जीव की अपनी सामर्थ्य से तो नहीं हो सकता। प्रभु के अनुग्रह की सामर्थ्य से हो सकता है। इसीलिए – ''पुष्टिर् अस्तीति निश्चयः।''

न सर्वोऽतः प्रवाहाद्धि भिन्नो वेदाच्च भेदतः।
''यदा यस्ये''ति वचनात् ''नाहं वेदैर्''इतीरणात्।।5।।

अन्वयार्थ :

सर्वः = सब
न = नहीं, **अतः** = इससे
प्रवाहात् = प्रवाह से
हि = भी (**पुष्टिमार्गः** = पुष्टिमार्ग)
भिन्नः = अलग (**अस्ति** = है)
च = और, **यदा** = जब
यस्य = जिसको, **इति** = इस
वचनात् = वचन से
न = नहीं, **अहं** = मैं
वेदैः = वेद से, **इति** = ये
ईरणात् = कहने से
वेदतः = वेद से (**अपि** = भी)
भेदतः = अलग हो कर (**स्थितः इति शेषः** = स्थित है, ऐसा आशय है)

भावार्थ : इसीलिए पुष्टिमार्ग, प्रवाहमार्ग से भिन्न है, यह निश्चय है तथा ''जब भगवान अनुग्रह करते हैं तब भक्त लोकमार्ग और वेदमार्ग में बुद्धि नहीं लगाता है।'' भागवत के इस वचन से तथा ''मेरा ऐसा दर्शन वेदादि से नहीं होता है'' – भगवान के इस वचन से भी यह निश्चय होता है कि पुष्टिमार्ग मर्यादामार्ग से भी भिन्नतया स्थित है, अर्थात् भिन्न है।

व्याख्या :

''न सर्व अतः'' – इसलिए प्रत्येक जीव, पुष्टिजीव नहीं हो सकता। यहाँ पर देखें कि पुष्टि को विश्वधर्म माननेवालों को श्रीमहाप्रभुजी क्या कह रहे हैं – **''न सर्वोऽतः पुष्टि''** – सभी पुष्टिजीव नहीं हो सकते। ऐसा कोई एक मार्ग नहीं है जिसमें हम सबको पुष्टिजीव बना सकते हैं, सभी पुष्टिजीव नहीं बन

सकते। जिस पर अनुग्रह है वही पुष्टिजीव बनेगा। जिस पर अनुग्रह नहीं उसको कितना भी मारो-पीटो, वह पुष्टि को बिगाड़ देगा, पुष्टि उसको सुधार नहीं सकती। हम उसको कंठी पहना दें, उसको मनोरथी बना दें, उसको ब्रह्मसंबंध दे दें फिर भी वह आ कर पुष्टि को बिगाड़ देगा, पुष्टि उसको सुधार नहीं सकती।

कारण यह है कि भीतर सब कुछ नदारद है। भीतर जीरम (दाग) है और यदि भीतर दाग है तो करें क्या? उसको तराशा और यदि तराशा नहीं होता तो दाग दिखाई नहीं देता। हीरे को तराशा न जाए तो संभवत: कच्चे हीरे में कभी भी दाग न दिखाई दे। जब खूब तराशेंगे तो वह दाग साफ-साफ दिखाई देना शुरू हो जाएगा। इसलिए इसमें बहुत समस्या है।

यदि तराशते नहीं हैं तो दाग चुपचाप छुपा रहता है - तेरी भी चुप और मेरी भी चुप। हाथ में पकड़ा दिया होता तो कोहिनूर हीरा भी पकड़ने में आ पाता परन्तु जब तराशना शुरू किया और झूठी शान (पुष्टिमार्ग को विश्वधर्म बनाने की) के कारण दाग न दिखता हो तो मार्ग में आने पर दिखाई देगा - यह सिद्धान्त है। अत: दाग दिखाना नहीं चाहने के बावजूद हम जबरदस्ती सबको पुष्टिमार्ग में बुला-बुला कर पुष्टिमार्ग में शामिल करके दाग दिखा देते हैं।

अत: **''न सर्वोऽत: प्रवाहाद् हि''** - अर्थात् प्रवाह से निश्चितरूपेण अलग है। वह अनगढ़ नहीं है परन्तु वह जीव सुघड़ भी नहीं है। **''वेदाच्च भेदत:''** - अनगढ़ भी नहीं और सुघड़ भी नहीं इसलिए ''यदा यस्येति वचनात् नाहं वेदैर् इतीरणात्।'' क्योंकि **''यदा यमनुगृहणाति भगवान् आत्मभावित: स जहाति मतिं लोके वेदे लोके च परिनिष्ठिताम्''** - (श्रीमद्भागवत, स्कन्ध 4/29/46) तो **''यदा यस्येति वचनात्''** - अर्थात् भगवान जिस पर अनुग्रह करते हैं वह जीव वेद और लोक दोनों से ऊपर उठ कर भगवान को चाह सकता है।

''नाहं वेदैर् न तपसा न दानेन् न चेज्यया, शक्य एवं विधो दृष्टुंदृष्टवान् असि मां यथा'' (गीता 11/53) यह भगवान ने कहा है कि नहीं? यहाँ देखें कि हम कितने बेवकूफ हैं, उदाहरण दे कर श्रीमहाप्रभुजी हमें प्रमाण पत्र दे रहे हैं। **''नाहं वेदैर्...''** - ये गीता के वचन हैं? अर्जुन को दिव्य दृष्टि प्रदान करने के बाद भगवान ने यह बात कही कि भाई, जैसा मैंने तुम्हें दिखाया, ऐसा वेद से मैं नहीं दिखाई दे सकता। हम कहते हैं कि गीता तो मर्यादामार्ग है। लेकिन यह तो गीता का मुख्य रहस्य है। गीता का यदि कोई हृदय है तो वह विश्वरूप दर्शन है अर्थात् सिद्धान्त और व्यवहार दो विषय हैं। गीता का कुछ भाग सिद्धान्त है और गीता का एक भाग व्यवहार है जो भगवान ने व्यावहारिक रूप से बता दिया है कि जो कुछ मैं कह रहा हूँ वह वही है।

जिस प्रकार से भगवान ने श्लोक का उपसंहार अथवा अर्थ बताया है उसी प्रकार का उपसंहार इस श्लोक का उस अध्याय में श्रीमहाप्रभुजी ने किया है। इसे श्रीमहाप्रभुजी पुष्टि होने के प्रमाण के रूप में उद्धृत कर रहे हैं और हम कहते हैं कि पूरी गीता मर्यादामार्ग है, कि गीता से हमें क्या लेना देना! श्रीमहाप्रभुजी के हिसाब से हमारी बुद्धि घास चरने गई है इसलिए कि गीता को हम मर्यादामार्गीय मानते हैं! यह विचारणीय है।

मार्गैकत्वेऽपि चेदन्त्यौ तनू भक्त्यागमौ मतौ।
न तद् युक्तं सूत्रतो हि भिन्नो युक्त्या हि वैदिक:।।6।।

अन्वयार्थ :

मार्गैकत्वे = मार्ग एक होने पर
अपि = भी
अन्त्यौ = अन्तिम दो
तनू = अङ्ग
भक्त्यागमौ = भक्ति देनेवाले

मतौ= माने गए हैं, **इति** = ऐसा
चेत् = यदि हो तो
तत् = वह
युक्तं = ठीक
न = नहीं है
हि = क्योंकि
सूत्रतः = सूत्र से
युक्त्या = युक्ति से
वैदिकः = वैदिक (**मार्गः** = मार्ग)
हि = निश्चय ही
भिन्नः = अलग (**अस्ति** = है)

भावार्थ : भक्तिमार्ग एक ही है और प्रवाह तथा मर्यादा भक्ति के अङ्गरूप हैं तथा भक्ति की प्राप्ति के साधनरूप हैं, ऐसा शास्त्र में माना गया है - यह वादी कहते हैं। वहाँ कहते हैं कि ऐसा कहना सूत्र और युक्ति से भी युक्त नहीं है। इसलिए वैदिकमार्ग भिन्न है और अनुग्रहप्रयुक्त मार्ग भिन्न है।

व्याख्या :

श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि ऐसा क्यों नहीं मान लेते कि मार्ग तो एक है। मार्ग एक है और उस मार्ग के दो प्रकार के तनु (स्वरूप) हैं। मार्ग का एक स्वरूप भक्ति है और उसी मार्ग में दूसरा स्वरूप उसका आगम (वैदिक) है।

श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि - ''न तद् युक्तं'' अर्थात् यह बात सिद्ध नहीं हो सकती। मानना हो तो मान लें, परन्तु यह बात सिद्ध नहीं हो सकेगी। कारण - ''**भिन्नो युक्त्या हि वैदिकः**'' - इस पुष्टिमार्ग के विषय में ब्रह्मसूत्र में विस्तार से विचार किया गया है। उस सब पर हम फिलहाल यहाँ चर्चा नहीं कर

सकते। परन्तु ''**सूत्रतोहि भिन्नो युक्त्या**'' अर्थात् युक्ति से जो बात हमें समझ में आ सकती है वह यह है कि वैदिकमार्ग एक अलग मार्ग है और जो पुष्टिमार्ग है वह एक अलग मार्ग है।

अब यहाँ देखें कि झण्डाबाजी वापस हो सकती है। मैंने इसीलिए सावधानीपूर्वक पहले ही बता दिया कि श्रीमहाप्रभुजी पुष्टि में भी प्रवाह के लक्षण मान रहे हैं। श्रीमहाप्रभुजी पुष्टि में मर्यादा का अंश भी मान रहे हैं। अर्थात् पुष्टि केवल अनगढ़ ही हो, ऐसा नहीं है। पुष्टि को सुघड़ भी होना चाहिए। पुष्टि अनगढ़ रहे अथवा सुघड़ रहे, अपने में स्वयं का जो पुष्टिभाव है वह अनगढ़ और सुघड़ से अलिप्त एक अलग भाव है।

इसका ऐसा अर्थ नहीं है कि पुष्टि को अनगढ़ ही रहना चाहिए क्योंकि वैदिकमार्ग तो अलग है लेकिन भाई, वैदिकमार्ग अलग है तो लौकिकमार्ग भी अलग है। यह बात न करें क्योंकि इसमें झमेला है। फिर सच बात क्या रही? यदि अलग है तो लौकिकमार्ग भी अलग है, अतः लौकिकता भी नहीं होनी चाहिए। आपको लौकिकता तो पूरी ठूंस-ठूंस कर भर रखनी है और वैदिकता का प्रश्न आता है तब कहते हैं कि नहीं, वैदिकमार्ग अलग है।

हमारे शरीर में सभी पहलू या अंश लौकिकता के भी हैं और वैदिकता के भी हैं। दूसरों को किसलिए पूछते हैं - अपने अहंकार को पूछ कर देख लें। श्रीमहाप्रभुजी को पूछने की जरूरत नहीं। अपने अहंकार को पूछें कि आपका अहम् क्या-क्या हो सकता है, आप स्वयं को क्या-क्या मान रहे हैं?

आप स्वयं को पिता मान रहे हैं या नहीं, आप स्वयं को पुत्र मान रहे हैं या नहीं, आप स्वयं को दुकानदार मान रहे हैं या नहीं, आप स्वयं को नौकर मान रहे हैं कि नहीं? ये सब क्या कोई वैदिक अहम् हैं? ये तो लौकिक अहम् हैं। जब आप स्वयं को ब्राह्मण मान रहे हैं, जब स्वयं को क्षत्रिय मान रहे हैं, वैश्य

मान रहे हैं, शूद्र मान रहे हैं, ब्रह्मचारी मान रहे हैं, गृहस्थी मान रहे हैं, वानप्रस्थ मान रहे हैं, संन्यासी मान रहे हैं, कर्ममार्गी मान रहे हैं, ज्ञानमार्गी मान रहे हैं तो आप में ये सब वैदिक अहम् आ गए।

जब आप स्वयं लौकिक अहम् रख रहे हैं तो ऐसे कैसे निषेध कर सकते हैं कि आपका कोई लौकिक पहलू नहीं है। जब आप स्वयं को ब्राह्मण आदि मान रहे हैं तो मना कैसे कर सकते हैं कि आप में वैदिक पहलू नहीं है और कि हमारा तो पुष्टिमार्ग है! ऐसा नहीं है। इस शरीर की जिस प्रकार की हमारी संरचना है उसमें कुछ प्रावाहिक पहलू भी हैं, कुछ अनगढ़ - कुछ सुघड़ पहलू भी हैं तथा सुघड़ और अनगढ़ के बीच में से खिलता भक्तिप्रवण एक तीसरा प्रकार भी है जिसे श्रीमहाप्रभुजी 'पुष्टि' कहना चाह रहे हैं।

जीव-देह-कृतीनां च भिन्नत्वं नित्यताश्रुतेः।
यथा तद्वत् पुष्टिमार्गे द्वयोरपि निषेधतः।।7।।
प्रमाणभेदाद् भिन्नोहि पुष्टिमार्गो क/1 **निरूपितः।**

अन्वयार्थ :

यथा = जैसे
पुष्टिमार्गे = पुष्टिमार्ग में
श्रुतेः = वेद से
जीवदेहकृतीनां = जीव-देह-कृति का
भिन्नत्वं = पार्थक्य (**अस्ति** = है)
तद्वत् = वैसे ही
नित्यता = नित्यत्व
च = भी (**सिद्धयति** = सिद्ध होता है)
द्वयोः = दोनों को **अपि** = भी
निषेधतः = निषेध से (**किञ्च** = और)

प्रमाणभेदात् = प्रमाण के भेद से
पुष्टिमार्गः = पुष्टिमार्ग
भिन्नः = अलग
निरूपितः = निरूपित किया है

भावार्थ : जैसे तीनों के जीव, देह तथा कृति भिन्न-भिन्न हैं वैसे ही श्रुति के प्रमाण से ब्रह्मवाद में जीवों की नित्यता है। वैसी नित्यता का प्रवाह तथा मर्यादामार्गी जीवों के विषय में निषेध होने से प्रमाण के भेद से भी पुष्टिमार्ग दोनों मार्गों से भिन्न है।

व्याख्या :

इससे आपको जीव प्राप्त होगा, अर्थात् आपके जीव में वह स्वभाव प्रकट होगा, आपके देह में भी वह स्वभाव प्रकट होगा, आपकी कृति में, कर्म में भी वह स्वभाव प्रकट होगा। यदि आप पुष्टिजीव हैं तो आपका जीव भी उस प्रकार का होगा। आपके शरीर से भी उस प्रकार के संकेत मिलेंगे और आप जिस समय काम करना शुरू करेंगे "**जीवदेह-कृतीनां च**" वापस देखें, वही बात आ गई "**जीवदेह-क्रियाभेदैः**" के समान देखें। यहाँ मैंने क्रमांक नहीं दिया है परन्तु समझने के लिए देना चाहें तो आप सुखेन दे सकते हैं।

"**जीव-देह-कृतीनां च भिन्नत्वं नित्यताश्रुतेः**" नित्यताश्रुते अर्थात् यह मार्ग, नित्यमार्ग है। अनित्यमार्ग नहीं कि अभी हम प्रवाही थे, अब हम मर्यादामार्गी हो गए और फिर हम पुष्टिमार्गी हो गए। ऐसे नहीं होता क्योंकि यह मार्ग नित्यमार्ग है। नित्यमार्ग होने के कारण इस मार्ग के गुण-धर्म को प्रकट करनेवाला हमारा जीव, हमारा देह और हमारी क्रिया भी अलग-अलग होगी।

"**यथा तद्वत् पुष्टिमार्गे द्वयोरपि निषेधतः**" जैसे प्रवाही जीव, प्रवाहीदेह, प्रवाहीक्रिया, मर्यादाजीव, मर्यादादेह, मर्यादाक्रिया वैसे ही

पुष्टिजीव, पुष्टिदेह, पुष्टिक्रियाएँ अलग होंगी। वे इस देह में प्रकट होंगी अर्थात् प्रवाहीदेह की क्रियाएँ प्रवाहीरूप में प्रकट होंगी, मर्यादादेह की क्रियाएँ मर्यादारूप में प्रकट होंगी। जैसे प्रवाहीरूप से हमने जन्म लिया तो पुष्टिजीव का देह आकाश से नहीं टपकता। माँ के गर्भ से ही जन्म होता है, इसी प्रक्रिया से पुष्टिजीव भी माँ के गर्भ में ही जाता है।

पुष्टिजीव जो काम करता है, वे काम ऐसे नहीं होते कि सभी लोक-वेदातीत हों, कुछ लौकिक काम भी करता है और कुछ वैदिक काम भी करता है। जैसे लौकिक काम करता है वैसे वैदिक काम भी करता है। इसी प्रकार कोई भगवदीयता के काम भी करता है। ऐसे किसी वृत्त के भीतर यदि कोई चतुष्कोण बना सकता है और उस चतुष्कोण को धीरे-धीरे विस्तृत कर सकता हो तो उसका यह लौकिक-वैदिक अहंता-ममता का जो वर्तुल है उसमें कोई चतुष्कोण उक्त रूप में प्रकट होता हो और वह चतुष्कोण धीरे-धीरे अपने समयानुसार विस्तृत हो सकता हो तो उसमें पुष्टिजीव है, उसमें पुष्टिदेह है, वह पुष्टिक्रिया कर रहा है।

अब यह सहज सम्भव है कि पुष्टिजीव हो परंतु पुष्टिदेह न मिल सकने के कारण उसका वह वर्तुल विस्तृत नहीं हो सकता हो। पुष्टिजीव है, पुष्टिदेह भी मिला है परन्तु कोई परिस्थिति ऐसी बन गई जिसके कारण वह क्रिया में पुष्टि प्रकट नहीं कर सका हो तो इससे इस चतुष्कोण का विस्तार होना वापस रुक जाएगा। ये सभी सम्भावनाएँ लीला की अनेकता हैं जो मार्ग की अनेकता को प्रकट करनेवाली हैं। ये सम्भावनाएँ इसमें विद्यमान हैं।

''यथा तद्वत् पुष्टिमार्गे द्वयोरपि निषेधतः'' - क्योंकि पुष्टिमार्ग न प्रवाहमार्ग है और न मर्यादामार्ग है। पुष्टिमार्ग में इस प्रवाहिता को और मर्यादा को निषिद्ध करके पुष्टि अलग ही कही जा रही है। कैसे? **''यदा यमनुगृह्णाति भगवान् आत्मभावितः स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्''** -

अर्थात् दोनों का निषेध इस एक कारण से किया।

''प्रमाणभेदाद् भिन्नोहि पुष्टिमार्गो निरूपितः'' प्रमाणभेद से एक अलग पुष्टिमार्ग का यहाँ मैंने निरूपण कर दिया जिससे आप निश्चित हो जाएँ। ऐसा कह कर श्रीमहाप्रभुजी सबसे पहले तीन मार्गों, 'क-ख-ग' में से 'क' का यहाँ निरूपण करके पुष्टिमार्ग के एक पृथक् मार्ग होने की बात करते हैं। मिलान करके देख लें।

पुष्टि=क और मार्ग=1 अतः 'क' को अर्थात् पुष्टिमार्ग को यहाँ श्रीमहाप्रभुजी पूर्ण कर रहे हैं कि 'क' मैंने तुम्हें भलीभाँति समझा दिया, जिसमें आपको कोई संदेह नहीं होना चाहिए। **''पुष्टिमार्गो निरूपितः''** अब जब यह आप समझ गए तो फिर यह समझें कि सर्ग क्या है।

प्रश्न : पुष्टिजीव है परन्तु तदनुरूप देह नहीं मिलने का तात्पर्य क्या है?

उत्तर : यदि पुष्टिदेह नहीं है तो पुष्टिजीव विस्तृत नहीं होगा। वैसा देह नहीं मिला तो पुष्टिदेह नहीं मिला न! या तो मर्यादादेह मिल गया या प्रवाहीदेह मिल गया। अनगढ़ रह गया तो प्रवाही है और सुघड़ हुआ तो मर्यादादेह हो गया लेकिन पुष्टिदेह तो नहीं हुआ। अब यदि ऐसा देह मिल गया जहाँ इस वर्तुल, इस चतुष्कोण को विस्तृत किया जा सके तो इसका अर्थ यह हुआ कि उसे पुष्टिदेह मिल गया।

जो इस चतुष्कोण को विकसित कर सकता है, ऐसा देह प्राप्त हुआ तो पुष्टिदेह है, यदि ऐसा देह न मिला तो वह कैसा हो सकता है - सुसंस्कृत देह, शास्त्र के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष पुरुषार्थ के विभागानुसार सुसंस्कृत देह है। अतः मर्यादादेह है। असंस्कृत देह है तो प्रवाहीदेह है। देह भी संस्कृत है, अनगढ़ भी नहीं है अर्थात् थोड़ी बहुत अनगढ़ता होगी और थोड़ी बहुत सुघड़ता

भी होगी। ऐसा भी हो सकता है।

जैसे हम निश्चय कर लें कि क्रोध नहीं करना। क्रोध न करने से क्रोध नहीं आता और यदि क्रोध आ जाए तो यह भीतर रही हुई अनगढ़ता है। क्रोध आ गया और उस क्रोध का हम किसी न किसी तरह शमन कर लें तो हमारे भीतर रही हुई थोड़ी सुघड़ता प्रकट हो गई। लेकिन फिर क्रोध आ गया तो यह वापस अनगढ़ता प्रकट हो गई है। इस प्रकार अनगढ़ता और सुघड़ता की आँख-मिचौली हमारे भीतर चलती रहती है।

अब देह है परन्तु क्रिया उसके अनुरूप प्रकट नहीं हो रही तो आपका जीव-देह तो हो गया पुष्टि का परन्तु वैसी क्रिया प्रकट नहीं हो रही है। क्रिया कैसी प्रकट हो रही है? एक बात ध्यान से समझें कि हमनें पुष्टिमार्ग में जन्म लिया, हमनें कंठी धारण की, हमने ब्रह्मसंबंध लिया और हम मर्यादा में विचरण कर रहे हैं - आज एक देव की मान्यता मानते हैं, कल अमुक देवी की मान्यता मान रहे हैं, आज अमुक उद्यम कर रहे हैं, आज कोई और उद्यम कर रहे हैं तो यह किसी न किसी मर्यादा की क्रिया का प्रकटीकरण हो रहा है न! अधिक कुछ उपद्रव बढ़ गया तो बोतल पी रहे हैं, किसी क्लब में जा रहे हैं, कुछ और भी कर रहे हैं तो क्रिया में यह पूरी अनगढ़ता आ गई। देह तो ठीक है लेकिन क्रिया में इस प्रकार की अनगढ़ता आ गई या नहीं?

यह हमारा दुर्भाग्य है कि प्रवाहीदेह का जहाँ वर्णन आनेवाला था उसके पहले ही यह ग्रन्थ पूरा हो गया। ऐसी स्थिति में प्रमाणभूत कुछ भी कह पाना आज की तारीख में बहुत कठिन बात है। परन्तु हम श्रीमहाप्रभुजी की पद्धति का विचार करें, सुबोधिनी और भाष्य के अनुकूल विचार करें और इन सबसे इस रिक्त स्थान को पूर्ण करने की कोशिश करना चाहें तो कर सकते हैं।

यह जो मैंने बीजगणितवाली पद्धति से इसकी पूरी रूपरेखा बताई है वह इसलिए कि जब कभी हमें अवकाश मिले तो बैठ कर भाष्य, सुबोधिनी,

विद्वन्मंडन आदि सभी ग्रन्थों में से वचन शोध कर कहीं 'ख/2' लगा दें, कहीं 'ख/1' लगा दें, कहीं 'ख[यर]।' इस प्रकार जिस दिन सभी वचन खोज निकालेंगे उस दिन यह पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थ पूरा हो जाएगा। अंतर क्या रहेगा? छंदबद्ध न हो कर गद्य में रहेगा। एक बार सुबोधिनी का इस प्रकार का सर्वे कर लें तो यह कोई बहुत कठिन बात नहीं है। बहुत सम्भव है कि प्रत्येक शीर्षक के अनुरूप हमें वचन न मिलें परन्तु कुछेक न मिले तो न मिले अन्यथा अधिकांश प्राय: मिल जाते हैं।

बाकी मेरी एक इच्छा थी, श्रीठाकुरजी चाहेंगे तो पूरी हो जाएगी। प्रत्येक षोडशग्रन्थ के श्लोक की श्रीमहाप्रभुजी की अपनी स्वयं की व्याख्या क्या है, हम क्या व्याख्या कर रहे हैं - इस दृष्टि से प्रत्येक षोडशग्रन्थ के श्लोक के नीचे कोई सुबोधिनी का वचन, कोई भाष्य का वचन, कोई निबन्ध का वचन उद्धृत करके उस श्लोक की व्याख्या करके देखना चाहता था। मैंने अंशत: सर्वेक्षण किया था परन्तु पूरा न हो पाया क्योंकि चौथे ग्रन्थ में काम अधूरा ही अटक गया।

बाकी थोड़ा बहुत सर्वेक्षण मैंनें किया है। कभी आप देखेंगे तो बहुत मजा आएगा। आपको प्रत्येक रूपरेखा का शीर्षक देख कर, एक शीर्षक ले कर केवल सुबोधिनी का पारायण करना है, निबन्ध का पारायण करना है। जहाँ से जितने वचन मिलें वहाँ उनको एक बार शीर्षक दे दें फिर क्रमानुसार एक नोटबुक तैयार करें। जिस दिन वह नोटबुक तैयार हो जाएगी उस दिन आपका पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा ग्रन्थ पूरा हो जाएगा।

जो अपूर्ण ग्रन्थ है और जो पूर्ण ग्रन्थ है, उसकी व्याख्या के रूप में भी आप चाहें तो उसको रख सकते हैं। इस प्रकार एक बार सुबोधिनी का, निबन्ध का सर्वेक्षण करें। बहुत मजेदार विषय है। कभी आप आएंगे तो मैं बताऊँगा। थोड़ा बहुत करके रखा है, परन्तु फिलहाल वह काम अटक गया। खैर!

(सर्ग[2] भेदकारकहेतूनां सङ्कलनम्) – पुष्टि–प्रवाह–मर्यादा के सर्ग भिन्न होने के हेतु।

सर्गभेदं[2] प्रवक्ष्यामि स्वरूपा[ग] ङ्ग[र]–क्रिया[ल] युतम्।।8।।
इच्छामात्रेण[ख/2] मनसा प्रवाहं सृष्टवान् हरिः।
वचसा[ग/2] वेदमार्गो हि पुष्टिं कायेन[क/2] निश्चयः।।9।।

अन्वयार्थ :

स्वरूपाङ्ग–क्रियायुतं = स्वरूप अंग और क्रिया के साथ
सर्गभेदं = सृष्टि का भेद
प्रवक्ष्यामि = भलीभाँति कहता हूँ
हरिः = श्रीकृष्ण
इच्छामात्रेण = इच्छामात्र से
मनसा = मन से, **प्रवाहं** = प्रवाह को
वचसा = वाणी से
वेदमार्गं = वेदमार्ग को
हि = निश्चय ही
कायेन = शरीर से
पुष्टिं = पुष्टि को
सृष्टवान् = रचा है (**इति** = ऐसा)
निश्चयः = निश्चय **(अस्ति** = है **)**

भावार्थ : स्वरूप = जीव, अंग = देह और क्रियायुक्त सृष्टि का भेद कहूँगा। जिनका सर्वदा एकीभाव है ऐसे हरि ने इच्छामात्र से, मन के द्वारा प्रवाहमार्ग का, वचन के द्वारा वेदमार्ग (मर्यादामार्ग) का और काया के द्वारा पुष्टिमार्ग का सृजन किया।

व्याख्या :

श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि अब मैं सर्गभेद के विषय में समझा रहा हूँ – स्वरूप, अंग और क्रिया। अब देखें सर्ग भेद[2], पहला क्या था? मार्गभेद। दूसरा सर्गभेद और तीसरा है फलभेद। सर्गभेद के पुनः तीन प्रकार बताए जा रहे हैं। स्वरूप, अंग और क्रिया अर्थात् जीव, देह और क्रिया। आज रसिक भाई ने पूछा था न कि नियामक कौन बनेगा?

श्रीमहाप्रभुजी यही बात समझा रहे हैं – **''इच्छामात्रेण मनसा प्रवाहं सृष्टवान् हरिः''** अर्थात् प्रभु ने इच्छा की कि अनेकविध रूप होने चाहिए। घोड़ा ही होना चाहिए ऐसा नहीं, गधा भी होना चाहिए। गधा ही नहीं, कुत्ता भी होना चाहिए। कुत्ता ही नहीं, ऊँट भी होना चाहिए। ऊँट ही नहीं, जिराफ भी होना चाहिए।

अतः **''इच्छामात्रेण''** अर्थात् केवल इच्छा से। **''एकोऽहम् बहु स्याम्''** – यह जो इच्छा है, उससे मन से इस सृष्टि की भिन्नता, स्वरूपाङ्ग क्रियायुक्त प्रवाहसृष्टि की भिन्नता प्रभु ने प्रकट की है। इसमें लगभग क्या होता है कि कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि मन का कोई एक डिब्बा है। प्रभु ने उस मन के डिब्बे में से निकाल–निकाल कर सारे प्रवाहीजीव बाहर टपका दिए, लेकिन ऐसा नहीं है। सर्ग का तात्पर्य समझें – 'सर्ग' अर्थात् रचना। प्रवाह का ही सर्ग है अर्थात् प्रवाहीसृष्टि की जो रचना है उसके घटक के रूप में जीव, देह और क्रिया है।

उस सर्गभेद की रचना भगवान ने किस प्रकार की? **''इच्छामात्रेण मनसा''** – मन में इच्छा की कि इसमें अनेकविधता प्रकट होनी चाहिए। इसलिए अनेकविधता प्रकट हो गई। अब इसमें प्रभु के अनेकविध होने की इच्छा के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नियामक नहीं है। अर्थात् प्रवाह के सर्ग में,

प्रवाहीजीव में, प्रवाही के देह में प्रकट होनेवाली क्रिया, जिसमें विविधता है, उसका नियामक कौन है? प्रभु के मन के द्वारा की गई इच्छा।

अब यह देखें कि मन की उसी इच्छा के कारण हम सब भी अनेक हुए हैं। "**एकोऽहम् बहु स्याम्**" - के अनुसार हम प्रकट हुए हैं। हम किसी अन्य प्रकार से अनेक नहीं हुए परन्तु "**वचसा वेदमार्गं हि**" - जिस इच्छा से विविधता प्रकट की और उससे जो भी कुछ अनगढ़ जीव, देह और क्रियाओं की अनेकविधता प्रकट हुई उसे वाणी से भगवान ने पुनः व्यवस्थित करने की कोशिश की कि ये अनगढ़ प्रकट हो गए। अब उनको इस प्रकार से सुघड़ बनाऊँ।

जैसे हम बालक को, जन्म होने के बाद, अपने घर के, कुल के, समाज के संस्कारों से सुघड़ बनाते हैं कि तुम्हें ऐसा करना चाहिए और ऐसा नहीं करना चाहिए ऐसा करोगे तो दो थप्पड़ पड़ेगी। यह 'वचसा' उसको सुघड़ बनाने का चक्कर है।

"**वचसा वेदमार्गं हि पुष्टिं**" - पुष्टि का नियमन कौन करता है? न वाणी से नियमन करते हैं और न मन से नियमन करते हैं - बात यह नहीं है। मन से जो पुष्टि की सृष्टि उत्पन्न हुई है उसको वाणी से सुघड़ बनाने के बावजूद पुष्टि की जो पुनः रचना करते हैं तो ऐसा समझ लें कि उसका वर्गीकरण करते हैं। जैसे आप कच्चे हीरे को ला कर आपने उसे कुछ तराशा, उसमें से जो एकदम उत्तम, सुन्दर ढंग से तराशा गया उसे हमने ऊपर रख दिया और जो इस प्रकार तराशा गया कि पूरे ढंग से नहीं तराशा जा सका उसे हमने दूसरी कक्षा में रख दिया और जो बिलकुल तराशा नहीं जा सका वह एकदम कच्चा है। इस प्रकार हीरे के तीन वर्ग किए।

जैसे आपको ध्यान हो तो इत्र बनानेवाले तीन-चार प्रकार के इत्र बनाते

हैं। एक तो रूह (सत्त्व) बना देता है, एक उससे उतरता हुआ इत्र बना देता है और एक उससे भी सस्ता इत्र बना देता है। जैसे चन्दन का तेल होता है। उसका ढक्कन खोलने पर इत्र की सुगन्ध तो आती है परन्तु सुगन्ध अधिक देर तक नहीं रहती अर्थात् मनसा सृष्टवान्। इस प्रकार सृष्टि की अलग-अलग प्रकार की वर्गीकरण - व्यवस्था है।

इस प्रकार सृष्टि की प्रभु ने अपने स्वरूप से पुनः रचना की। इसलिए उस सृष्टि का जीव, उस सृष्टि का देह, उस सृष्टि की क्रियाएँ प्रभु की स्वरूपासक्ति से संचालित हो रही हैं। प्रभु की वाणी से संचालित नहीं हो रही। प्रभु की जो "**एकोऽहम् बहु स्याम्**" होने की इच्छा है, वह मानसिक इच्छा है, उससे संचालित नहीं होती। स्वतंत्र छोड़ दिया परन्तु प्रभु का जो स्वरूप है, प्रभु की उस स्वरूपासक्ति से संचालित हो रही है। इस प्रकार समझना चाहिए।

एवरेस्ट 29 हजार फुट का है और जो इतनी ऊँचाई पर है केवल वही एवरेस्ट है, ऐसा नहीं है। कुछ तो 10 हजार फुट पर भी एवरेस्ट का स्वरूप है, कुछ 20 हजार फुट पर एवरेस्ट का स्वरूप है और सम्भव है कि 25 हजार फुट पर भी होगा। एवरेस्ट का अन्तिम स्वरूप 29 हजार फुट तक जा रहा है। अतः गणना वहाँ से शुरु हो रही है कि एवरेस्ट सबसे ऊँचा है परन्तु वह सबसे ऊँचा है अपने शिखर पर, अपनी तलहटी में नहीं।

इसी प्रकार जीव की सभी प्रवृत्तियों और भगवत्स्वरूपासक्ति से उसके जीव, देह और क्रिया सभी नियत हो रहे हैं। यह एक अत्यन्त आदर्श विधान है। इसकी शुरुआत वहाँ से हो सकती है जहां एक प्रकार से तलहटी है और इसका विस्तार वहाँतक हो सकता है जहाँ 29 हजार फुट है। अतः यहाँ से वहाँतक समझना चाहिए।

आप हेलीकॉप्टर से जा रहे हैं या चढ़ कर जा रहे हैं या रोपवे से जा रहे हैं - फिलहाल रोपवे लगाया नहीं है, बाकी रोपवे लगा दिया जाए तो सीधे चले

जाएँ और उससे खड़े-खड़े भी जा सकते हैं, अत: जो उपलब्ध हो उससे ऊपर जा सकते हैं। इसी प्रकार प्रभु जैसे आपको प्राप्त हुए, सत्संग जैसे आपको प्राप्त हुआ, गुरु जैसे आपको प्राप्त हुए, आपकी मनोवृत्ति जैसे आपको प्राप्त हुई, आपका परिवार जैसे आपको प्राप्त हुआ अर्थात् जो कुछ आपके पास प्राप्त है उससे भक्तिमार्ग में आगे बढ़ सकते हैं।

प्रश्न : बीजभाव सब में समान होता है?

उत्तर : बीजभाव तो सब में समान ही होता है परन्तु सभी बाह्य परिस्थितियाँ जिस प्रकार आपको प्राप्त होती हैं उन पर निर्भर करेगा।

प्रश्न : सब कुछ प्रभु की इच्छा से ही होता है न?

उत्तर : प्रभु की इच्छा से बाहर तो कुछ हो ही नहीं सकता न! और प्रभु की इच्छा से बहुत कुछ हो सकेगा। ऐसा भी होता है जो प्रभु की इच्छा के अनुरूप है अथवा जो प्रभु की इच्छा के अनुकूल नहीं बल्कि प्रतिकूल है। ऐसा भी प्रभु की इच्छा के अन्दर हो सकता है।

अभी नरसिंहराव ने कहा था न कि न बोलना, निर्णय नहीं लेना भी एक निर्णय है। नरसिंहराव ने कहा कि हम निर्णय नहीं ले रहे तो सब हम पर दोषारोपण करते हैं परन्तु यह भी तो एक निर्णय है कि हम निर्णय नहीं ले रहे। अत: अपने लिए प्रभु कोई निर्णय नहीं ले रहे परन्तु यह भी तो प्रभु का ही निर्णय है। प्रभु यदि निर्णय लेते होते कि भाई, इसके लिए कुछ निर्णय लो तो वह भी प्रभु का ही निर्णय है। प्रभु हमारे लिए कह रहे हैं कि छोड़ो न इसको, कुछ समय तक इसके बारे में कोई निर्णय नहीं लेना, कभी फुरसत में विचार करेंगे। इस प्रकार यह भी प्रभु का ही निर्णय है न, उसके बारे में क्या कहेंगे? प्रभु की इच्छा के बाहर तो कुछ भी नहीं हो सकेगा।

वस्तुत: तीन, दो, एक का क्रम है। आदर्श रूप से तो एक, दो, तीन का

क्रम है - शरीरशास्त्र की तो आपको थोड़ी बहुत समझ होगी - हम जितने प्राणी हैं, हममें सबसे पहला एक स्वरूप इस मेरूदण्ड का है। मेरूदण्ड के ऊपर एक अनुमस्तिष्क (cerebellum)का कवर (खोल) है, उस अनुमस्तिष्क के ऊपर एक तीसरा प्रमस्तिष्क (cerebrum) का कवर है जो बंदर में नहीं था लेकिन मनुष्य में आ गया है। वह जो मेरूदण्ड की नियंत्रण की पद्धति है, वह लगभग स्वयं संचालित ज्ञानतंतु की पद्धति है। उसमें आप इच्छा करें या न करें, सब काम संचालित हो रहे हैं।

तात्पर्य यह है कि कुछ दिखता है तो दिखाई दे रहा है, सुनाई देनेवाली ध्वनि सुनाई दे रही है, चलना है तो चल रहे हैं, हाथ के स्थान पर हाथ चल रहा है, श्वास के स्थान पर श्वास चल रहा है, रक्त दौड़ रहा है, भोजन का पाचन हो रहा है, पचा हुआ अंश निकल रहा है अर्थात् सम्पूर्ण प्रणाली अपने ढंग से चल रही है। इसमें आपको कुछ समझने की आवश्यकता नहीं है। थोड़ी बहुत समझ भी उत्पन्न हो रही है। जो इस मेरूदण्ड के ऊपर दूसरे अनुमस्तिष्क का एक डिब्बा बिठाया गया है वह इसे निरस्त नहीं कर रहा बल्कि इसको यथासमय नियंत्रित कर रहा है। यह जो तंत्र की पद्धति है कि नीचे से ले कर ऊपर तक सभी काम चल रहे हैं, उससे ध्यान में आता है कि प्रत्येक वरिष्ठ सत्ता क्या करती है? जो नीचे के दर्जे की पद्धति है उसमें कुछ न कुछ अपनी वरिष्ठता का आश्रय देती रहती है।

जैसे, सबसे छोटा पुलिसकर्मी होता है वह पुलिस कमिश्नर से निर्देशित हो रहा है। वह पुलिस का काम कर रहा है पर उसके ऊपर कोई दूसरा इंस्पेक्टर काम कर रहा है, उस इंस्पेक्टर के ऊपर कोई दूसरा इंस्पेक्टर काम कर रहा है और इस प्रकार अन्त में पुलिस कमिश्नर आ रहा है। अत: सबसे ऊपर का सत्ताधारी क्या कर रहा है? हर बार किसी बात, किसी निर्णय आदि को रद्द करके वह अपना काम नहीं कर रहा बल्कि समयानुसार निर्णय ले रहा है - यह

इंगित करने के लिए कि भाई, मुझे भूल कर कुछ मत करो, मैं वरिष्ठ अधिकारी हूँ।

इस प्रकार प्रत्येक पद्धति की यही व्यवस्था है। जैसे आपके पैर चलने के हिसाब से चल रहे हैं, आपका श्वास चलने के हिसाब से चल रहा है। आप यदि चाहें तो अपनी इच्छा से भी चला सकते हैं और चाहें तो अपनी इच्छा से रोक सकते हैं। किसी गधे को आपने प्राणायाम करते सुना? क्यों नहीं सुना? इसलिए कि उसकी ऐसी पद्धति नहीं है। ऐसी पद्धति होती तो गधे भी प्राणायाम करते। गधे भी श्वास लेते हैं और सब काम करते हैं परन्तु प्राणायाम नहीं करते।

अत: हममें इच्छा से श्वास लेने, इच्छा से श्वास रोकने की सामर्थ्य है तो वह नीचे की व्यवस्था को रद्द करके नहीं वरन् नीचे की व्यवस्था में समयानुसार अपनी सामर्थ्य से मध्यस्थता स्थापित करने के कारण है। जैसे यह बात समझें कि हम गुजराती में कहते हैं कि जीभ में हड्डी नहीं होती इसलिए ऐसे ही चल जाती है। किस प्रकार चल जाती है? हड्डी होती तो क्या नहीं चलती? इसका अर्थ यह है कि जीभ कभी अपने आप भी चलती है और कभी चलाने से चलती है, कभी रोकी भी जा सकती है। सारी व्यवस्था इस जीभ में मौजूद है।

''जिह्वाग्रे बंधमोक्षौ जिह्वाग्रे मरणं ध्रुवं'' - जिह्वाग्र में आपके बन्धनमोक्ष व्यवस्थित हैं और जिह्वाग्र में आपके शत्रु-मित्र, दोस्त-दुश्मन मौजूद हैं तथा जिह्वाग्र में ही आपका जीवन और मृत्यु निश्चित है। अब ऐसा काम जीभ किस प्रकार कर सकती है? तो बात समझें कि कभी आप आत्मनिरीक्षण करते हैं, कभी नहीं करते तो वह अपने ढंग से भी हो रहा है अर्थात् सभी प्रकार के उत्तम कक्षा के तत्त्व हैं। ऐसा होने से हम मशीन नहीं हो जाते। आज भी मशीन में ऐसी व्यवस्था सम्भव नहीं है। अच्छा होना अथवा खराब होना अलग बात है लेकिन हम कर सकते हैं या नहीं, बस इसी बिन्दु पर हम मशीन नहीं हैं। बाकी तो हम मशीन ही हैं।

इसी प्रकार प्रभु ने कुछ भी निरस्त नहीं किया। प्रभु ने आपकी अहंता, ममता, बुद्धि, इच्छा निरस्त नहीं की, आपके देह के जो कोई आवेग हैं उनको निरस्त नहीं किया। वे सब स्वचालित की भाँति समय-समय पर चल रहे हैं।

अत: निर्णय ले रहे हैं तो वह भी प्रभु का एक निर्णय है और जब-जब आप निर्णय नहीं ले रहे, वह आपका ही निर्णय है। अब जो चल रहा है उसे चलने दो - नरसिंहराव ने बहुत ही आध्यात्मिक वक्तव्य दिया है। शासकीय दृष्टि से उसमें जो कुछ भी सूचित हो रहा हो परन्तु आध्यात्मिक अर्थवाला वक्तव्य है या नहीं ''निर्णय न लेना भी अपने आप में एक निर्णय है कि हम निर्णय नहीं कर रहे'' - यह निर्णय तो किया है कि नहीं?

इस बात से सर्ग के नियामक हेतु में समझें कि हमारे सामने यह स्पष्ट हो गया एक आदेश में। अर्थात् मूल इच्छा से जो अनेकता प्रकट कर रहे हैं उसमें वाणी से मर्यादा प्रकट की है और स्वरूप से पुष्टि प्रकट की है। जिस समय आपके देह, आपके जीव, आपकी क्रियाओं का प्रभु की स्वरूपासक्ति से नियमन होने लगा उस समय आपकी पुष्टि की पूर्ण क्षमता प्रकट हो गई और जिस समय आपके देह, जीव और क्रियाओं का भगवत्स्वरूपासक्ति से नियमन नहीं हो रहा, किसी मर्यादित अभिमान से प्रकट हो रहा है तो उसका नियंत्रण वाणी करेगी।

मर्यादा के अभिमान से प्रकट न हो कर आपके प्रवाही अभिमान से प्रकट हो रही है तो भी भगवान की मूल इच्छा तो काम कर ही रही है कि निर्णय नहीं लेना। भगवान ने निर्णय लिया हुआ है कि उसको करने दो काम, जैसे करे वैसे करने दो, व्यर्थ खटपट क्यों करना, आराम करो। **''किस-किस को याद करिए, किस-किस को रोइए। आराम बड़ी चीज है, मुँह ढँक कर सोइए''** - यह कितना बड़ा निर्णय है भगवान का अपने विषय में। यह निर्णय है इसीलिए सारे धंधे चल रहे हैं, भगवान यदि यह निर्णय नहीं लेते तो इस

समय ही सारे खाते छिन्न-भिन्न हो जाते।

प्रश्न : अन्तर्यामी अर्थात् क्या? (समझ में नहीं आता)

उत्तर : ठीक, अच्छी और सच्ची बात कही। एक बात समझो कि अन्तर्यामी के दोनों स्वरूप श्रीमहाप्रभुजी ने बताए हैं। अन्तर्यामी का कारयिता स्वरूप भी है और साक्षी स्वरूप भी है। कभी अन्तर्यामी साक्षितया होता है और कभी अन्तर्यामी कारयिता होता है।

जैसे कई बार मैं प्रवचन में बताता हूँ - **''एष ह एव एनं साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यो उन्निनीषते एष एव एनं असाधु कर्म कारयति तं यम् अधो निनीषते'' (कौ-उप. 3/8)**। यहाँ कारयिता के रूप में अन्तर्यामी है। साक्षी के रूप में नहीं - **''द्वासुपर्णा सयुजासखायौ समानं वृक्षं परिषस्वजाते तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नऽन्यो-अभिचाकशीति''** यहाँ अन्तर्यामी के साक्षितया रूप का वर्णन है, कारयिता रूप का वर्णन नहीं है।

अन्तर्यामी दोनों तरफ से काम करता है और वह कब किस रूप से काम करता है इसकी भी खूबसूरत व्यवस्था बताई गई है। अभी उसके विस्तार में जाने का हमारे पास समय नहीं है, कभी अवकाश मिला तो बताऊँगा। श्रीमहाप्रभुजी ने इस सबकी बहुत खूबसूरत व्यवस्था बताई है कि कब वह कारयिता बन कर काम करता है और कब वह साक्षितया काम करने लग जाता है। साक्षितया अर्थात् अनिर्णय ही निर्णय है (No Decision is Decision) और कारयिता अर्थात् आप किस प्रकार काम कर रहे हैं, वह मैं तय करूँगा।

(मार्गत्रये फलभेदकारकहेतूनां सङ्कलनम्) - तीनों मार्गों के अलग-अलग फल प्राप्त होने के पीछे के हेतुओं को अब ध्यान से समझें। यहाँ फिर से 'क/3','ख/3','ग/3' - तीनों आ रहे हैं।

मूलेच्छातः[ख/3] फलं लोके वेदोक्तं[ग/3] वैदिकेऽपि च।
कायेन[क/3] तु फलं पुष्टौ भिन्नेच्छातोऽपि नैकधा।।10।।

अन्वयार्थ :

लोके = लोक में
मूलेच्छातः = मूल इच्छा से
फलं = फल (**भवति** = होता है)
च = और, **वैदिके** = वैदिक में
अपि = तो
वेदोक्तं = वेद में कहा गया
(फलं = फल) **पुष्टौ** = पुष्टि में
तु = तो, **कायेन** = काया से
फलं = फल (**एवं** = ऐसे)
भिन्नेच्छातः = इच्छा के भिन्न होने से
अपि = भी
एकधा = एक प्रकार से, **न** = नहीं

भावार्थ : अविच्छिन्न सृष्टि चलती रहे, ऐसी मूल इच्छा से प्रावाहिकजीवों को लौकिकफल प्राप्त होता है। मर्यादामार्गीयजीवों को वेद में कहा गया फल मिलता है और पुष्टिमार्गीयजीवों को प्रभु के स्वरूप से फल मिलता है। इस प्रकार फल भी एक प्रकार से नहीं होता है।

व्याख्या :

मूल इच्छा से लोक में फल हो रहा है। लोक में आपके जो प्रवाहीकर्म हैं उनकी क्रिया का आपको क्या फल मिलनेवाला है यह किससे निर्णीत होगा? कोई मूल इच्छा प्रभु ने **''एकोऽहं बहु स्याम्''** की प्रकट की है। आप

कोई क्रिया करें और उसका कुछ अप्रत्याशित फल आपको मिल रहा है, जिसे शास्त्र की दृष्टि से हम उत्पन्न नहीं कर सकते परन्तु आप अपनी बुद्धि से उस फल को प्राप्त कर सके हैं, अपनी बुद्धि से उस फल को खा सकते हैं तो प्रवाह के जो फल हैं वे सब मूलेच्छातः हैं। इस मूलेच्छातः को ध्यान से समझ लेना चाहिए।

निर्णय नहीं लेने के निर्णय से फल है। आपको क्या फल देना – यह निर्णय मैं नहीं लेता, उस निर्णय से मिलनेवाला, उस मूलेच्छा से मिलनेवाला फल है। कर्म का सिद्धान्त भी यहाँ आ रहा है – **''कर्म प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करहिं सो तस फल चाखा''** – इसमें प्रभु का हस्तक्षेप नहीं है।

एक से अनेक होने की जो मूल इच्छा है तो एक अनेक किस प्रकार बना? काल, कर्म, स्वभाव, प्रकृति और पुरुष के रूप में वह एक से अनेक हुआ है। उसके आसपास एकत्रित वस्तुओं के क्रम चयन – संचयन (Permutation & Combination) से जो-जो संभावित विविधता प्रकट हो रही है वह सब अपने आप होती ही रहती है, उसमें भगवान का किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं है कि भाई, अमुक को दिया जानेवाला फल मैं तय करूँ!

जैसे हम कहते हैं कि इतना धर्म करके मनुष्य दुःखी क्यों है? कई बार यह बात हमें सुनने को मिलेगी कि धर्म करके मनुष्य दुःखी क्यों है? स्मगलर सुखी क्यों है? तो भाई, **''मूलेच्छातः फलं लोके''** – इसमें भगवान हस्तक्षेप कर ही नहीं रहे हैं। करने दो न! जाने दो न – इस सिद्धान्त पर अवलम्बित है। अतः जहाँ 'जाने दो न' का सिद्धान्त है वहाँ हम व्यर्थ दुःखी होते रहते हैं कि स्मगलर सुखी क्यों है और अत्यन्त धार्मिक व्यक्ति दुःखी क्यों है? अरे, आप किसलिए दुःखी हो रहे हैं? मूलेच्छा का विचार करना चाहिए न!

''वेदोक्तं वैदिकेपि च'' – कितनी सुन्दर पंक्ति है कि जो मर्यादामार्ग में फल मिल रहा है वह 'जाने दो न' के सिद्धान्त से नहीं मिल रहा। जैसा कर्म किया बिलकुल शत-प्रतिशत उसी हिसाब से भोगना पड़ेगा। इसमें आपको कोई रियायत नहीं है। कर्म में थोड़ी भी भूल की तो खूब थप्पड़ पड़ेंगे। क्योंकि वहाँ छोड़ नहीं रहे हैं कि जाने दो भाई!

जब आपके लिए आदेश हुआ है, जब आपको सुघड़ बनाया है तो एक बात समझ लें जैसे कच्चे माल को तो फैक्ट्री वाले फेकेंगे ही न, 'जाने दो न' की तर्ज पर। जिस वस्तु पर उसने उत्पादित वस्तु की भाँति अपने यहाँ क्रियाविधि की है उसे 'जाने दो न' किस प्रकार करेगा? अगर जाने दें तो बीमा का दावा करेगा, पुलिस में फरियाद करेगा, जाने नहीं देगा। पर कच्चा माल है, खराब माल है तो ऐसा करना ही पड़ेगा कि 'जाने दो न।' चार मिलते हैं, जाने दो, दो मिल रहे हैं, जाने दो न, अच्छा, ले जा यार, इतने में ही ले जा। ले जा, जो करना था वह तो कर लिया अब उसमें जितने मिल रहे हैं वे ही ठीक हैं। उसमें यह सिद्धान्त काम कर रहा है।

परन्तु जिसे क्रियाविधि के द्वारा हमने उत्पादित माल की तरह तैयार किया है उसे हम 'जाने दो न' के सिद्धान्त से जाने नहीं देते। हस्तक्षेप करना पड़ेगा। उसे किस प्रकार जाने दे सकते हैं। जब उसके पीछे इतनी मेहनत की है तो उसे जाने कैसे दे सकते हैं? नहीं जाने देते।

''कायेन तु फलं पुष्टौ'' – पुष्टि का जो फल है वह प्रभु केवल वाणी से नहीं दे रहे। स्वरूपासक्ति से उसके समक्ष अपना स्वरूप प्रकट कर रहे हैं ताकि वह जा नहीं सके। जा रहा होगा तो भी वापस आ जाएगा, जिसे सूरदासजी कहते हैं – **''जैसे उड़ जहाज को पंछी फिर जहाज पे आवे, मेरो मन अनत कहाँ सुख पावे''** अतः भाग गया होगा तो भी उसके पास कोई विकल्प सम्भव होगा ही नहीं। क्योंकि स्वरूप का जो आकर्षण है वह इतना मजबूत

होगा कि उड़ कर चला गया होगा तो भी वापस आ जाएगा, जाएगा कहाँ? इसको रोकने की भी जरूरत नहीं पड़ती क्योंकि रोका तो मर्यादा हो गई है। बात को ध्यान से समझें कि रोका तो मर्यादा हो जाएगी। वह नहीं जा सकता तो यह पुष्टि है।

''जैसे उड़ जहाज को पंछी फिर जहाज पे आवे, मेरो मन अनत कहाँ सुख पावे।'' सूरदासजी का ''**कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावे**'' वाला भाव उसमें जग जाएगा। ''**कायेन तु फलं पुष्टौ भिन्नेच्छातोऽपि नैकधा।**'' यह सब जो फल की व्यवस्था है, जो एक के अनेक होने की इच्छा है, अलग-अलग इच्छा है। अत: एक ही डंडे से गाय, गधा नियंत्रित नहीं हो रहे। इसमें विविधता है - एक तत्त्व की अनेक होने की। इसको इस प्रकार से समझना पड़ेगा।

''**भिन्नेच्छातोऽपि नैकधा**'' - आप एकधा करना चाहेंगे कि पुष्टिमार्गीय सभी स्थान पर हैं, पुष्टिमार्ग विश्वधर्म है तो भगवान की कृति में व्यवधान उत्पन्न करेंगे। बात समझ में आई न कि यह भगवान की कृति ''**भिन्नेच्छातोऽपि नैकधा**'' में एकधा नहीं हो सकती।

इसके पश्चात् श्रीमहाप्रभुजी (**जीवानां त्रिविध: सर्ग:** [क/ख/ग-2]) - जीवों के त्रिविध सर्ग समझा रहे हैं। अब यहाँतक जो था वह ''**सर्गभेदे कारकहेतुनां संकलनं स्वरूपाङ्गक्रियायुतम्**'' था। अब उसके अन्तर्गत जीव के विषय में पुन: निरूपण कर रहे हैं।

'तान् अहं द्विषतो' वाक्याद् भिन्ना जीवा: प्रवाहिण:।।
अत एवेतरौ भिन्नौ सान्तौ मोक्ष-प्रवेशत:।।11।।

अन्वयार्थ :

तान् = उनको, **अहं** = मैं

द्विषतो = द्वेष करनेवाले (**इति** = इस)
वाक्यात् = वाक्य से
प्रवाहिण: = प्रवाही
जीवा: = जीव
भिन्ना: = अलग (**सन्ति** = हैं)
अत: = इसलिए, **एव** = ही
इतरौ = दूसरे दो
मोक्षप्रवेशत: = मोक्ष में प्रवेश करनेवाले होने से
सान्तौ = अन्तवाले
भिन्न = अलग (**स्त:** = हैं)

भावार्थ : गीताजी में कहा है कि ''द्वेष करनेवाले... प्रावाहिक जीवों को मैं सर्वदा आसुरीयोनि में डालता हूँ'' (भग. गीता 16/19) इसलिए प्रावाहिक-जीव मर्यादामार्गीय तथा पुष्टिमार्गीयजीवों से भिन्न हैं और मर्यादामार्गीयजीवों को अक्षरब्रह्मप्राप्तिरूप मोक्ष होता है तथा पुष्टिमार्गीयजीवों को पुरुषोत्तम में प्रवेश प्राप्त होता है जिससे ये अन्त सहित हैं अर्थात् उन दोनों का जीवभाव निवृत्त होता है।

व्याख्या :

तान् अहं द्विषत: क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रम् अशुभान् आसुरीष्वेव योनिषु।।
आसुरीं योनिम् आपन्ना: मूढा: जन्मनि जन्मनि।
माम् अप्राप्यैव कौन्तेय! ततो यान्त्यधमां गतिम्।।
(गीता 16/19,20)

इस वचन के अनुसार श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि प्रवाहीजीव वापस भिन्न है। हर समय श्रीठाकुरजी यह विचार कर रहे हैं कि 'जाने दो न' जाता है

तो उसे जाने दो।

एक जूनागढ़वाले भाई ने बहुत ही अच्छा प्रसंग सुनाया। बालक प्रवचन करने विराजे और बालक होने के कारण वचन याद नहीं आते कि कौनसे वचन हैं, क्या है? जाता है, हाँ... हाँ... आया, नहीं ... नहीं... जाता है। एक वचन उधर भागवत में चला गया। श्रोताओं ने पूछा कौन गया? वे उस तरफ बैठे थे। जाने दो न, याद ही नहीं आता महाराजश्री को तो आप क्यों व्यर्थ ही याद करने की चिन्ता करते हैं। प्रवचन करते-करते वचन गया, जाता है, जाता है। गया तो जाने दो।

''तान् अहं द्विषतो वाक्यात्'' - इस प्रकार भगवान भी कहते हैं कि जाता है, जाता है, कौन था? अन्ततः पता चलता है कि गया वह तो। अतः श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि जाने दो न, गया तो किसलिए व्यर्थ चिन्ता करना। यह प्रवाह का स्वभाव है।

''भिन्ना जीवाः प्रवाहिणः'' - अतः प्रवाहीजीव भिन्न है इसलिए वह 'जाने दो न' की श्रेणी में है। **''अत एवेतरौ भिन्नौ सान्तौ मोक्ष-प्रवेशतः''** - प्रवाहीजीव, मर्यादाजीव और पुष्टिजीव से स्वयं ही भिन्न साबित हो जाएगा। क्योंकि उसको प्रभु जाने नहीं दे रहे, या तो वाणी से अथवा स्वरूप से; अथवा वाणी का आकर्षण प्रभु ने ऐसा उत्पन्न कर दिया है कि प्रभु से स्वतंत्र हो कर वह जीव जा नहीं सकता। प्रभु की वाणी से अलग हो कर अथवा प्रभु ने स्वरूपासक्ति का आकर्षण ऐसा प्रकट किया है कि वह जीव प्रभु से अलग हो कर कहीं जा ही नहीं सकता।

''अत एवेतरौ भिन्नौ'' - इतरौ अर्थात् मर्यादा। **''पुष्टिमार्गीयौ भिन्नौ जीवौ सान्तौ मोक्षप्रवेशतः''** - कारण यह है कि उनको तो प्रभु इस प्रवाह से मुक्त करके अपने पास रखते हैं, उनको जाने नहीं देते। यहाँ मुक्ति की जो बात है वह प्रवाह से मुक्ति की बात है, उस पुरुषार्थवाली मुक्ति की बात नहीं

है। यह बात विशेषरूप से ध्यान से समझ लें।

(तत्र पुष्टिमार्गसर्गे विशेषेण जीव [2/च] देह [2/र] क्रिया[2/ल]णाम् उपभेदाः) - इस पुष्टिमार्ग के सर्ग में जीव, देह, क्रिया के विशेष उपभेद हैं। उन्हें अब आचार्यचरण आगे के श्लोक में समझा रहे हैं।

तस्माज् जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्नाएव न संशयः
भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर् नान्यथा भवेत्[क-2-च]।।12।।

अन्वयार्थ :

तस्मात् = इस कारण से
पुष्टिमार्गे = पुष्टिमार्ग में
जीवाः = जीव, **भिन्ना** = अलग
एव = ही (**सन्ति** = हैं)
संशयः = शंका
न = नहीं (**अस्ति** = है)
तत्सृष्टि = वह सृष्टि
भगवद्रूपसेवार्थं = श्रीकृष्ण की रूपसेवा के लिए (**अस्ति** = है)
अन्यथा = अन्य प्रकार से
न = नहीं
भवेत् = होता है

भावार्थ : इसलिए पुष्टिमार्गीयजीव दूसरे मार्गों के जीवों से भिन्न हैं, इसमें संशय नहीं है। यदि पुष्टिमार्गीयजीव भिन्न न हों तो भगवद्रूप की सेवा के लिए पुष्टिमार्गीयजीवों की सृष्टि भी नहीं होती।

व्याख्या :

भगवत्स्वरूपासक्ति होने की योग्यता रखनेवाले जीव कोई दूसरे ही हैं।

वे प्रवाहीजीव अथवा मर्यादाजीव नहीं हैं। वे जीव कैसे हैं? श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं **''भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिः''** – कारण कि वे भगवत्स्वरूप से संचालित हो रहे हैं, इसीलिए भगवत्स्वरूप की सेवापरायणता ही पुष्टिसृष्टि है। यदि भगवत्स्वरूप में सेवापरायण उनको नहीं बनाना था तो सृष्टि होती ही कैसे? **''न अन्यथा भवेत्''** – वह सृष्टि अन्यथा हो ही नहीं सकती। जब यह बात आई तो ध्यानपूर्वक देखें कि क्या आया है। ' क $^{2-च}$ ' में क=पुष्टिमार्ग, 2 = सर्ग और य = जीव। अतः पुष्टिमार्गीय सर्ग में जीव का निरूपण इस वचन में किया है।

स्वरूपेणावतारेण लिङ्गेन च गुणेन च।
तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा तत्क्रियासु वा।।13।।
तथापि यावता कार्यं तावत् तस्य करोति हि।

अन्वयार्थ :

स्वरूपेण = स्वरूप से
अवतारेण = अवतार से
लिङ्गेन = चिह्न से, **च** = और
गुणेन = गुण से, **च** = भी
(**पुष्टिजीवानां** = पुष्टिजीवों के)
स्वरूपे = स्वरूप में, **वा** = अथवा
देहे = देह में, **वा** = अथवा
तत्क्रियासु = उनकी क्रिया में
तारतम्यं = भेद
न = नहीं (**अस्ति** = है)
तथापि = तो भी, **यावता** = जितना
कार्यं = कार्य को, **तावत्** = उतना

तस्य = उसका, **करोति** = करता है
हि = निश्चित

भावार्थ : भक्तों के स्वरूप, देह अथवा क्रियाओं में स्वरूप से, अवतार से, चिह्न से और गुणों से भगवान से यद्यपि तारतम्य नहीं है तथापि जितने तारतम्य से रमणात्मक कार्य सिद्ध होता है उतना भक्तों में तारतम्य भगवान करते हैं।

व्याख्या :

अपने स्वरूप से, अवतार से, लिंग से, गुण से उसके स्वरूप में, देह में और उसकी क्रियाओं में कोई तारतम्य नहीं है अर्थात् उसका देह, स्वरूप, क्रियाएँ देखने जाएंगे तो कुछ दिखाई नहीं देगा। आज ही किसी ने पूछा था कि दिखाई दे रहा है पर समझ में नहीं आता और समझ में आता है तो दिखाई नहीं देता। यह बात ध्यान से समझें कि मैंने कल यह बात बताई थी कि अक्षरब्रह्म समझ में आता है परन्तु दिखाई नहीं देता जबकि पुरुषोत्तम दिखाई दे रहा है पर समझ में नहीं आता।

इस प्रकार पुष्टिजीव के ये जो स्वरूप, देह और क्रियाएँ हैं वे हमें दिखाई तो देती हैं और जिस प्रकार दिखाई देती हैं उनमें कोई तारतम्य समझ में नहीं आ रहा। जैसे जल की बूँद, दूध की बूँद, तेल की बूँद के स्वरूप में तारतम्य समझ में आता है। उनकी पद्धति में भेद समझ में आता है। जल का वाष्पीकरण, तेल का वाष्पीकरण और अन्य वस्तुओं का वाष्पीकरण – ये सभी अलग-अलग विषय होंगे।

उनकी क्रिया में, उनकी कार्यपद्धति में, उनके स्वरूप में तारतम्य समझ में आता है। कल ही नयागाँव से कोई एक वैष्णव मेरे यहाँ आए थे। उन्होंने मुझसे बहुत ही दिलचस्प प्रश्न किया। प्रश्न सुन कर कुछ देर के लिए तो मैं एकदम अवाक् रह गया। उन्होंने कहा कि जै-जै, सब कहते हैं कि भगवदीयों

के मुख पर भगवान का तेज झलकता है। उस तेज को मापने का वाकई कोई थर्मामीटर है? कितना तेज झलकता है? उस तेज को मापने का कोई थर्मामीटर आज दिन तक तो मुझे मिला नहीं। वे कहते हैं कि जिसको भी पूछो तो बताते हैं कि भगवदीय है। इनके मुख पर अत्यधिक भगवत्तेज झलकता है। अब अधिक झलकता है या कम झलकता है इसका पता कैसे चले? मैंने कहा प्रश्न बहुत गम्भीर है।

एक बार गहराई से विचार करना पड़ेगा। बात गम्भीर है। वे बेचारे अन्दर जा कर बैठ गए। थोड़ी देर विचार करते रहे कि कहाँ जाऊँ? एकदम व्यग्र भाव भरी पूछताछ थी कि भगवदीयों के मुखारविन्द पर अत्यधिक भगवत्तेज झलकता है उसको मापने का थर्मामीटर कौनसा? वह कहाँ से लाना? बहुत कठिन पूछताछ की। मैं एकदम स्तब्ध रह गया। छोटे-छोटे गाँववालों के प्रश्न भी कभी-कभी बड़े-बड़ों की अक्ल को चकरा देनेवाले होते हैं, मेरे जैसे की तो बात ही क्या! किसी को भी पूछ कर देख लें, किसी को पता है इसका जवाब? थर्मामीटर कौनसा है? बहुत ही कठिन समस्या है।

एक बात समझें कि "**तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा तत्क्रियासु वा**" - यह भी एक समझ मन में प्रकट करें। देखें, कितनी खूबसूरत बात श्रीमहाप्रभुजी बता रहे हैं। "**तथापि यावता कार्यं तावत् तस्य करोति हि**" - जिससे जैसा काम लेना है उस देह से वैसा काम लेने के लिए प्रभु समर्थ हैं। उस जीव के पास से वैसी क्रिया कराने के लिए प्रभु समर्थ हैं। वही तो प्रभु का सामर्थ्य है, वही तो पुष्टि है कि इस जीव को इस देह से ऐसी क्रिया कराने के लिए प्रभु समर्थ हैं।

उसकी सम्पूर्ण लौकिक आसक्ति, वेदासक्ति छुड़ा कर अपने स्वरूप से उसके देह, उसके जीव और उसकी क्रियाओं को कराने का जो प्रभु का सामर्थ्य है, "**तथापि यावता कार्यं**" जितना काम कराना है उतना उससे कराने में

समर्थ हैं। यह बात समझ लें कि यह जो प्रभु का सामर्थ्य है उसके अनुरूप भेद यहाँ प्रकट हो रहा है और वह भेद प्रभु की इच्छा, सामर्थ्य का भेद है। इसे समझ जाएंगे तो भेद समझ में आ जाएगा लेकिन देखने जाएंगे तो दिखाई नहीं देगा। समझ में आए ऐसा भेद है, दिखाई दे वैसा भेद नहीं है।

ते हि द्विधा शुद्ध-मिश्र-भेदान् मिश्रास् त्रिधा पुनः ।। 14 ।।
प्रवाहादि-विभेदेन भगवत्-कार्यसिद्धये ।
पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञाः प्रवाहेण क्रियारताः ।। 15 ।।
मर्यादया गुणज्ञास्ते शुद्धाः प्रेम्णाऽतिदुर्लभाः[क/2/ल] ।
एवं सर्गस्तु तेषां हि .....।

अन्वयार्थ :

ते = वे (पुष्टिमार्गीयजीव), **हि** = अवश्य ही
शुद्ध-मिश्रभेदात् = शुद्ध और मिश्र के भेद से
द्विधा = दो प्रकार के
पुनः = और फिर
भगवत्कार्यसिद्धये = भगवत्कार्य की सिद्धि के लिए
मिश्राः = मिश्र
प्रवाहादिविभेदेन = प्रवाह आदि के भेद से
त्रिधा = तीन प्रकार के (**सन्ति** = हैं)
पुष्ट्या = पुष्टि द्वारा
विमिश्राः = विशेषरूप से मिश्र
सर्वज्ञाः = सब कुछ जाननेवाले
(भवन्ति = होते हैं **)**
प्रवाहेण = प्रवाह द्वारा (मिश्रित)
(विमिश्राः = विशेषरूप से मिश्र)

क्रियारताः = क्रियापरायण
(**भवन्ति** = होते हैं)
मर्यादया = मर्यादा द्वारा (मिश्रित) (**विमिश्राः** = विशेषरूप से मिश्र)
गुणज्ञाः = गुणों को जाननेवाले, (**भवन्ति** = होते हैं)
(**किंच** = और) **प्रेम्णा** = प्रेम से
शुद्धाः = शुद्ध, **ते** = वे
अतिदुर्लभाः = अत्यन्त दुर्लभ, (**भवन्ति** = होते हैं)
एवं = इस प्रकार से
तेषां = उनकी, **सर्गः** = सृष्टि
तु = तो
हि = निश्चय (**निरूपितं** = निरूपित की)

भावार्थ : शुद्धपुष्टि और मिश्रपुष्टि के भेद से पुष्टिजीव दो प्रकार के हैं। उनमें पुनः भगवान के कार्य की सिद्धि के लिए प्रवाहादिक के भेद से मिश्रपुष्टिजीव तीन प्रकार के हैं। उनमें पुष्टि से मिश्र जो पुष्टिजीव हैं वे सर्वज्ञ हैं अर्थात् भगवान के अभिप्राय को जाननेवाले हैं तथा प्रवाह से मिश्रपुष्टिजीव हैं वे क्रिया में प्रीतिवाले हैं और मर्यादा से मिश्र जो पुष्टिजीव हैं वे भगवान के गुण को जाननेवाले हैं अर्थात् भगवान के गुणों में ही आसक्त रहते हैं। इस प्रकार मिश्रपुष्टि के तीन भेद हैं और जो शुद्धपुष्टि हैं वे केवल प्रेम से हैं अर्थात् शुद्धपुष्टिजीवों को भगवान में अत्यन्त प्रेम होता है और ऐसे भक्त अतिदुर्लभ हैं। इस प्रकार जीवों का सर्ग अलग-अलग है।

व्याख्या :

अब उसकी क्रिया का स्वरूप बता रहे हैं कि वह कार्य किस प्रकार करेगा? उसकी देह की बात बता कर अब उसकी क्रिया का स्वरूप बता रहे हैं। ''**पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञाः**'' - 'सर्वज्ञा' अर्थात् उस चतुष्कोण को याद कर

लें। ''**प्रवाहेण क्रियारताः**'' - अर्थात् चतुःश्लोकी देखें, केवल ''**क्रिया कारित्वम्**'' - बात ध्यान में आई! और ''**मर्यादया गुणज्ञास्ते**'' - गुणज्ञास्ते का अर्थ क्या? वे गुणों को जाननेवाले हैं। ''**स्वस्वरूपज्ञानम्**'' और ''**परब्रह्ममाहात्म्यज्ञानम्**'' - से वह गुणज्ञ है, यह जान रहा है कि स्वयं का गुण क्या है, भगवान का गुण क्या है? वह जान रहा है। यह ''**मर्यादया गुणज्ञास्ते।**'' और ''**शुद्धाः प्रेम्णा**'' से श्रीकृष्ण में उसकी अनन्य रति स्वभाव से सिद्ध प्रकट हो रही है। अतः ''**शुद्धाः प्रेम्णातिदुर्लभाः**''- उसकी सभी क्रियाओं में समझ प्रकट होती हो या नहीं, स्वयं के विषय में, प्रभु के माहात्म्य के विषय में क्रिया प्रकट हो या नहीं परन्तु रति उसकी सब तरफ से झलक रही है। कृष्ण के प्रति उसकी अनन्य रति सभी तरफ से टपक रही है।

इसलिए श्रीमहाप्रभुजी उसे चौथी कक्षा में पधरा रहे हैं कि यह ''**शुद्धाः प्रेम्णातिदुर्लभाः**'' इसका पाखण्ड हो सकता है, इसका दम्भ हो सकता है परन्तु यथार्थतः ऐसी गुणवत्ता आना ही बहुत दुर्लभ बात है कि जो न कुछ समझता है, न कुछ करता है लेकिन उसका प्रत्येक कार्य ऐसा होता है कि जिसमें से उसकी कुछ न कुछ भगवद्रति प्रकट होती है। अतः यह शुद्ध प्रेम का उदाहरण है। इस प्रकार चार प्रकार की उसकी क्रिया बताई।

हमने यहाँ देखा कि 'क^{2}' अर्थात् क=पुष्टिमार्ग 2 = सर्ग और ल = क्रिया। चार प्रकार की क्रिया कैसी है अर्थात् पुष्टिमार्गीय क्रिया का सर्ग कैसा है, यह यहाँ बताया गया है। ''**एवं सर्गस्तु तेषां हि**'' इस प्रकार उसका सर्ग बता दिया। अतः 'क^{2}' पूरा हो गया और अब 'क^{3}' शुरू हुआ है। ध्यान से देखें (**पुष्टिमार्गे** $^{क/3}$ **विशेषेण फलनिरूपणम्**) - अब पुष्टिमार्ग के फल का निरूपण करते हैं।

..... **फलं त्वत्र निरूप्यते।।16।।**

भगवानेव हि फलं स यथाविर्भवेद् भुवि।
गुण-स्वरूप-भेदेन तथा तेषां फलं भवेत्।।17।।
आसक्तौ भगवानेव शापं दापयति क्वचित्।
अहङ्कारेऽथवा लोके तन्मार्गस्थापनाय हि।।18।।

अन्वयार्थ :

अत्र = यहाँ, **तु** = तो
फलं = फल का
निरूप्यते = निरूपण करते हैं
हि = निश्चय
भगवान् एव = भगवान ही
फलं = फल, **स** = वह
भुवि = पृथ्वी पर
गुणस्वरूपभेदेन = गुण और स्वरूप के भेद से
यथा = जिस प्रकार से
आविर्भवेत् = प्रकट होते हैं
तथा = उस प्रकार से
तेषां = उनको, **फलं** = फल
भवेत् = होता है
आसक्तौ = आसक्ति होने पर
अथवा = या, **अहङ्कारे** = अभिमान होने पर
लोके = भूतल पर
तन्मार्गस्थापनाय = उस मार्ग की स्थापना के लिए
क्वचित = कभी
भगवान् = भगवान

एवं = ऐसे, **शापं** = शाप
दापयति = दिलाते हैं

भावार्थ : पुष्टिमार्गीयजीवों के फल का निरूपण करते हैं। पुष्टिमार्ग में गुण और स्वरूप के भेद से भगवान जैसे प्रकट होते हैं वैसे पुष्टिजीवों को फल (प्राप्त) होते हैं।

मिश्रपुष्टिजीवों को अन्य में आसक्ति हो अथवा अहंकार हो तो किसी समय भगवान ही उनको शाप दिलाते हैं। उसी प्रकार कभी लोक में मर्यादा का स्थापन करने के लिए भी भगवान शाप दिलाते हैं।

व्याख्या :

अब यहाँ फल का निरूपण करते हैं। 'क^{3}' अर्थात् क=पुष्टिमार्ग और 3 = फल। पुष्टिमार्गीयजीव के लिए यदि कोई फल है तो वह **''भगवान्एव हि फलम्''** भगवान ही है। दूसरा कोई फल नहीं है। **''स यथा आविर्भवेद् भुवि''** - भगवान आपके सामने किस प्रकार प्रकट होते हैं? यह व्यक्तिगत प्रश्न है, कोई सैद्धान्तिक प्रश्न नहीं है। एकदम सच्चा प्रश्न है, वास्तविकता का प्रश्न है कि आपके समक्ष किस प्रकार प्रकट हुए।

चाहें तो गुण से प्रकट हो जाएँ, चाहें तो स्वरूप से प्रकट हो जाएँ, चाहें तो गुण और स्वरूप दोनों से प्रकट हो जाएँ। अर्थात् आपके सामने अपने गुण प्रकट कर रहे हैं परन्तु स्वरूप प्रकट नहीं कर रहे अथवा स्वरूप प्रकट कर रहे हैं लेकिन गुण प्रकट नहीं कर रहे या फिर गुण और स्वरूप दोनों प्रकट कर रहे हैं। अत: भगवान चाहे जिस प्रकार से अपनी इच्छा से आपके सामने बाहर अथवा आपके भीतर प्रकट हो रहे हैं। भूतल पर प्रकट होते समय आपके भीतर अथवा बाहर प्रकट हो रहे हैं।

सामान्यरूप से एक बात समझ लें कि बाहर भगवान के गुण प्रकट होना बहुत ही कठिन बात है। भीतर भगवान के गुण प्रकट होना बहुत ही सरल बात है। बाहर स्वरूप प्रकट होना बहुत ही सरल बात है परन्तु भीतर स्वरूप प्रकट होना बहुत ही कठिन बात है। गुण और स्वरूप दोनों का भीतर अथवा बाहर प्रकट होना उससे भी उत्तम कक्षा की बात है तथा भीतर और बाहर गुण और स्वरूप दोनों का प्रकट हो जाना सर्वोत्तम कक्षा की बात है। इससे अधिक चतुष्कोण का किसी भी प्रकार से विस्तृत होना सम्भव नहीं है। इतनी सम्भावनाएँ इसमें हैं। यह ध्यान में रखें। यह सारांश का विषय नहीं है इसलिए अधिक स्पष्ट नहीं किया, यह व्याख्या का विषय है।

''आसक्तौ भगवानेव शापं दापयति क्वचिद्, अहङ्कारेऽथवा लोके तन्मार्गस्थापनाय हि'' – यदि जीव की आसक्ति, गुण और स्वरूप आदि से कहीं अन्यत्र दिखाई देती है तो भगवान उसको शाप भी दिला सकते हैं। किसलिए? भगवान उसको जाने नहीं देते, उसको पकड़ कर लाएंगे, शाप दिला कर लाएंगे, उसे मरवा कर लाएंगे, मार कर लाएंगे अर्थात् किसी भी प्रकार से लाएंगे, लाएंगे और लाएंगे ही, छोड़ेंगे नहीं।

जैसे माँ अपने बच्चे को छोड़ नहीं सकती वैसे ही भगवान भी इस जीव को कभी छोड़ नहीं सकेंगे। जिनको छोड़ दिया है, वे ये जीव नहीं हैं, कोई दूसरे ही जीव हैं। चाणक्य का एक बहुत सुंदर प्रसंग है। चाणक्य के राजकीय संघर्ष में एक ऐसा मोड़ आया जिसमें चाणक्य की छावनी में से उसके कई विश्वासपात्र सैनिक उसको धोखा दे-दे कर राक्षस की छावनी में दल-बदल करके चले गए। किसी ने जा कर चाणक्य को बताया कि भाई, सैनिक तुम्हारी छावनी छोड़ कर चले गए।

चाणक्य तो चाणक्य था। उसने बहुत ही खूबसूरत बात कही कि

छावनी छोड़ कर कोई नहीं गया। तब सूचना देनेवाले ने बताया कि दिखाई तो दे रहा है कि तुम्हारे सैनिक तुम्हें छोड़ कर राक्षस की छावनी में चले गए हैं। चाणक्य ने बहुत सुन्दर जवाब दिया – **''ये याताः किमपि प्रधार्य हृदये पूर्वं गता एव ते''** – अपने हृदय में किसी न किसी प्रकार की गांठ बांध कर जो मेरी छावनी को छोड़ कर गए हैं, समझ लो कि, वे मेरे हृदय से पहले ही निकल चुके थे; इसलिए चले गए वरना दरवाजे से निकलते समय ही उनकी मौत हो गई होती। उनके निकलते समय ही उनका गला काट लिया गया होता परन्तु मैं नहीं चाहता था कि उनको यहाँ रखूँ। वे यहाँ उपद्रव करते इसलिए उनको जाने दिया ताकि वे यहाँ सत्यानाश न करें। वे वहाँ पहुँच जाएंगे तो स्वतः ही वहाँ सत्यानाश हो जाएगा, मुझे करवाने की जरूरत ही नहीं रहेगी। मूलतः वे नालायक थे। यह तो चाणक्य का सामान्य रूप है परन्तु इसके पश्चात् चाणक्य की एक योग्यता भी उभर कर प्रकट हो रही है – **''ये तिष्ठन्ति भवन्तु तेऽपि गमने कामं प्रकामोद्यमाः''** – जो रह गए हैं और जिनको मैं रखना चाहता हूँ वे भी यदि जाना चाहते हों तो दरवाजे खुले हैं। कृपया दरवाजे से बाहर जाएँ।

''ये तिष्ठन्ति भवन्तु तेऽपि गमने कामं प्रकामोद्यमाः एका केवलम् अर्थसाधनविधौ सेनाशतेभ्योधिका नन्दोन्मूलनदृष्टवीर्यमहिमा बुद्धिस्तु मा गान्मम'' – चाणक्य ने कहा कि जो गए वे जा सकते हैं, दरवाजे खुले हैं। जो बात मुझे अभिलषित नहीं है वह यह है कि मेरी यह बुद्धि मुझ में से, मेरे मस्तिष्क में से कहीं निकल न जाए। यदि ऐसा होता है तो बहुत कठिनाई होगी। बाकी सेना जितनी भागती हो, सैनिक जितने भागते हों, भाग जाएँ। मुझे कोई नुकसान नहीं। किसलिए? जबतक भगवान की दी हुई बुद्धि मेरे मस्तिष्क में है तबतक कोई नुकसान नहीं।

इसी प्रकार प्रत्येक पुष्टिमार्गीय को यह भाव रखना चाहिए कि जो सिद्धान्त छोड़ कर जा रहे हैं **''भवन्तु ते अपि गमने कामं प्रकामोद्यमाः**

एका केवलम् अर्थसाधनविधौ'' ''प्रभु सर्वसमर्थो हि'' **''सेनाशतेभ्योधिका नन्दोन्मूलनदृष्टवीर्यमहिमा बुद्धिस्तु मा गान्मम''** (मुद्राराक्षस, विशाखदत्त, प्रथम अंक, 26) - श्रीमहाप्रभुजी के सिद्धान्तानुगामिनी जो हमारी बुद्धि है वह हमारे मस्तिष्क से नहीं जानी चाहिए। मनुष्य तो आते रहेंगे और जाते रहेंगे - ''किस-किस को याद करिए किस-किस को रोइए, आराम बड़ी चीज है मुँह ढंक के सोइए'' - इसलिए आनेवाले आते रहेंगे और जानेवाले जाते रहेंगे।

यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि आने-जानेवालों से क्या अन्तर पड़ता है? यदि नहीं जाना चाहते तो हममें यह दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि महाप्रभुजी के मार्ग में हम हैं तो श्रीमहाप्रभुजी के सिद्धान्तों को समर्पित हमारी बुद्धि इस खोपड़ी में से कहीं जानी नहीं चाहिए। बाकी तो कोई रहे तो क्या और न रहे तो क्या? कल जाना है तो आज जाओ न यार! क्या फर्क पड़ेगा? तुम्हारी परवाह किसे है? Please Getout. यह बात हमें स्वीकार होनी चाहिए तभी आपकी पात्रता पुष्टिमार्गीय होने की है।

''अहङ्कारेऽथवा लोके तन्मार्गस्थापनाय हि'' - हम यदि कभी इस बात का अहंकार करेंगे कि हमारी छावनी में इतने हैं और हमारी छावनी में उतने हैं - किसी ने कल बहुत मजेदार बात कही कि आप सबके सामने सिद्धान्त इसलिए कहते हैं कि आपको भय लगता है कि आपकी छावनी में से वैष्णव दूसरे बालकों के यहाँ चले जाएंगे। मैं आपको निवेदन करता हूँ कि यार, चले जाओ, बहुत भीड़ हो गई है। पाँच-दस होंगे तो सिखाने में भी अधिक मजा आएगा। यदि नहीं जाना चाहते हैं तो इस बात को सतर्कता के साथ समझ लें कि श्रीमहाप्रभुजी के सिद्धान्तों को समझने की हमारी बुद्धि हमारा साथ न छोड़े। एक यहाँ रहे, दो वहाँ चले जाएँ तो क्या फर्क पड़ेगा? प्रत्येक वैष्णव, प्रत्येक पुष्टिमार्गीय को यह बात दृढ़तापूर्वक अपने मस्तिष्क में बैठा लेनी

चाहिए कि श्रीमहाप्रभुजी के सिद्धान्तों की जो हमारी समझ है, श्रीमहाप्रभुजी के सिद्धान्तों में जो हमारी निष्ठा है वह नहीं जानी चाहिए।

बाकी तो आते-जाते रहेंगे। वैसे भी अपने यहाँ छावनी में रहेंगे तो कोई अमरपट्टा लिखा कर थोड़े ही आते हैं कि हमारी ही छावनी में रहेंगे। हमारे शिविर में रहेंगे और कोई मर जाएंगे तो! नित्यलीला में तो सभी प्रवेश करेंगे, फिर चाहे वह प.भ. हो या गो.बा. हों। कोई अमरपट्टा लिखा कर थोड़े ही आए हैं कि इसी शिविर में रहेंगे। जानेवाले जाते रहेंगे, आनेवाले आते रहेंगे। आनेवालों को भी जाना पड़ेगा। जो नहीं जाना चाहिए वह है - श्रीमहाप्रभुजी के सिद्धान्तों में अपनी निष्ठा। श्रीमहाप्रभुजी के सिद्धान्तों के प्रति हमारा विश्वास नहीं जाना चाहिए। श्रीमहाप्रभुजी के सिद्धान्तों के प्रति समझ हमारी खोपड़ी में से नहीं जानी चाहिए। इस बात को ध्यान से समझ लें। हम यदि यह अहंकार रखें कि सब हमारे ही शिविर में रहें तो मुश्किल हो जाएगी। हम अहंकार रखें कि उसके शिविर में इतने (तथाकथित वैष्णव) कैसे बढ़ गए तो मुश्किल हो जाएगी।

न ते पाषण्डतां यान्ति न च रोगद्युपद्रवाः।
महानुभावाः प्रायेण शास्त्रं शुद्धत्वहेतवे।।19।।
भगवत्-तारतम्येन तारतम्यं भजन्ति हि।
लौकिकत्वं वैदिकत्वं कापट्यात् तेषु नान्यथा।।20।।
वैष्णवत्वं हि सहजं ततोऽन्यत्र विपर्ययः।

अन्वयार्थ :

ते = वे
पाषण्डतां = पाखण्डता को
न यान्ति = प्राप्त नहीं होते हैं
च = और (**तेषां** = उनको)

रोगाद्युपद्रवाः = रोगादि उपद्रव
न = नहीं **(भवन्ति** = होते हैं **)**
प्रायेण = अधिकांशतः (**ते** = वे)
महानुभावाः = महानुभाव (**भवन्ति** = होते हैं)
शास्त्रं = शास्त्र की
शुद्धत्वहेतवे = शुद्धि के कारण (**भवति** = होते हैं)
भगवत्तारतम्येन = प्रभुके स्वरूप के तारतम्य से (**ते** = वे) **हि** = भी
तारतम्यं = तर-तम भाव को
भजन्ति = प्राप्त होते हैं
तेषु = उनमें
वैदिकत्वं = वैदिकता (**च** = और)
लौककत्वं = लौकिकता
कापट्यात् = कपट से (**अस्ति** = है)
अन्यथा = और प्रकार से, **न** = नहीं (**अस्ति** = है)
वैष्णवत्वं = वैष्णवता
हि = ही, **सहजं** = सहज
अन्यत्र = अन्य सब जगह
ततः = इसलिए, **विपर्ययः** = विरुद्ध (**अस्ति** = है)

भावार्थ : जिनको भगवान शाप दिलाते हैं वे भक्त, लोक-वेद-भक्तिमार्ग से विरुद्ध नहीं होते हैं तथा उनको रोगादि उपद्रव नहीं होते हैं। अधिकांशतः वे महानुभाव हो जाते हैं। उनको भगवान शापरूप जो शिक्षा देते हैं वह केवल उनका मिश्रभाव मिटा कर शुद्ध प्रेम करने के लिए ही समझना चाहिए।

''यद् एकम् अव्यक्तम्अनन्तरूपं'' इस श्रुति से ज्ञात होता है कि भगवान अनेक रूपवाले हैं। इसलिए भगवान जैसे-जैसे स्वरूपभेद को

स्वीकार करते हैं उनके भक्त भी वैसे-वैसे भाव के तारतम्य को ग्रहण करते हैं।

पुष्टिभक्तों में जो वैदिक क्रिया और लौकिक क्रिया है वह कापट्य से है, आसक्ति से नहीं है और जो वैष्णवत्व है वह उनका स्वभाव ही है। परन्तु मर्यादाजीव और लौकिकजीवों में इससे विरुद्ध होता है। अर्थात् (मर्यादाजीवों में) वैष्णवत्व कापट्य से और वैदिकता स्वभाव से तथा (लौकिकजीवों में) वैष्णवता कपट भाव से और व्यवहारासक्ति स्वभाव से होती है।

व्याख्या :

''**न ते पाषण्डतां यान्ति**'' - जो पुष्टिमार्गीयजीव हैं वे पाखंडी नहीं होते, ''**न च रोगाद्युपद्रवः... तारतम्यं भजन्ति हि**'' - उनमें तारतम्य होगा अर्थात् कोई यहाँ होगा, कोई वहाँ होगा। क्योंकि ''**गुणस्वरूपभेदेन**'' फल है तो तारतम्य ही होगा, परन्तु पाखण्डी नहीं होते। पाखण्ड और तारतम्य का अन्तर समझें। अमुक आचरण पाखण्ड नहीं भी हो और पाखण्ड हो भी सकता है।

तारतम्य होना एक अलग वस्तु है और पाखण्ड होना एक दूसरी वस्तु है। तारतम्य हो सकता है पर गुणस्वरूप के भेद से जिसके समक्ष प्रभु जितने प्रकट हुए हैं उतने अनुपात से उसमें तारतम्य आएगा। पाखण्ड नहीं आएगा, सजगता रहेगी कि जो मैं हूँ, वह हूँ। यह बात ध्यान से समझने की आवश्यकता है। ''**लौकिकत्वं वैदिकत्वं कापट्यात् तेषु नान्यथा**'' - अर्थात् उनमें लौकिकत्व और वैदिकत्व कापट्य से होगा। उनमें वैष्णवत्व कापट्य से नहीं होगा। वैष्णवता सहज होगी। ''**ततोऽन्यत्र विपर्ययः**''

प्रश्न : क्या पुष्टिजीव का निर्धारण हम कर सकते हैं?

उत्तर : ऐसा है बावा कि कभी भी किसी भी जीव का निर्धारण हम ''**इदम् इत्थम्तया**'' नहीं कर सकते, असम्भव बात है। फिर भी, जैसे

अनुमान के दो स्वरूप होते हैं - अनुमान का एक स्वरूप होता है निश्चय, जहाँ हमको हेतुव्याप्ति और साध्य की व्याप्ति का सही-सही अनुभव है और हेतु का दर्शन ठीक-ठीक हो रहा है तो निश्चयाकार अनुमान होता है। अब जैसे निश्चयकार अनुमान होता है उसी प्रकार अनिश्चयाकार अनुमान भी होता है।

इसको कदाचित् गुजराती अथवा हिन्दी में कहना हो तो हम यह कह सकते हैं कि ''एवुं लागे छे'' ''ऐसा लगता है'' ''ऐसा होगा'' अर्थात् यह हम निश्चय करके नहीं कह सकते परन्तु कुछ ऐसे लक्षण दिखाई दे रहे हैं तो होगा। इस प्रकार एक अनिश्चयाकार अनुमान भी होता ही है। यदि मार्ग में उसकी रुचि है तो एक अनिश्चयाकार अनुमान भी जीव का होता है तथा देह और उसकी क्रियाओं को यदि हमने अनिश्चयाकार अनुमान के रूप में माना, जो आज की पुष्टिमार्ग की कथा है, तो हम गुनहगार हैं, वह गुनहगार नहीं।

मार्ग में रुचि है तो ऐसा लगता है कि पुष्टिजीव होगा परन्तु देह में तो अनिश्चय की कोई आवश्यकता नहीं है न, इसलिए जिस समय हम उसको ब्रह्मसंबंध दे रहे हैं उस समय हमें इस स्थिति का निश्चयाकार अनुमान करना चाहिए कि उसके देह की स्थिति कैसा आचरण बता रही है। अब यदि निश्चयाकार अनुमान कर रहे हैं तो फिर हम अपराधी नहीं। इसके पश्चात् हमने निश्चयाकार अनुमान किया कि अमुक कारण से हमें (जीव में) पुष्टि लग रही है।

जैसे क, ख, ग, किसी भी कारण से हमें ऐसा लगता हो कि इसका देह भी भगवत्सेवा योग्य है और इसका व्यवहार भी भगवत्सेवा योग्य है। इसके बाद मान लें कि वह बीमार पड़ गया। तब निबन्ध में जैसा विवरण बताया गया है **''विक्षेपाद् अथवा अशक्त्या, प्रतिबन्धाद् अपि क्वचित्, अत्याग्रहप्रवेशे वा परपीडादि सम्भवे'' ''सेवा त्यक्तव्या''** - इस परिस्थिति में देह में अथवा क्रिया में किसी प्रकार का तारतम्य प्रकट हो रहा है

तो उस तारतम्य के कारण दीक्षादाता अपराधी नहीं और न दीक्षा ग्रहण करनेवाले का कोई अपराध है। इस तारतम्य का कैसे निराकरण करना, ये सभी उपाय श्रीमहाप्रभुजी ने एक के बाद दूसरे, दूसरे के बाद तीसरे विकल्प अथवा एक-एक कर आनेवाले अनुकल्प में निरूपित किये हैं। सर्वोत्तमस्तोत्र में मैंने यह विस्तार से बताया था, उसे कभी हम देख लेंगे।

अतः देह में, विषय में अनुमान करने के बजाय मैं समझता हूँ कि सीधी-प्रत्यक्ष छानबीन अधिक उत्तम है और हम उसे भलीभाँति समझ लें। हम अपनी समझ से पूरा निश्चय कर लें। इसके पश्चात् भी उसमें कोई अन्तर आए तो वह भगवदिच्छा का विषय है। उसके व्यवहार में दोबारा कोई अन्तर आए तो फिर भगवदिच्छा। ऐसी स्थिति में अनिश्चयाकार अनुमान नहीं चलता। न्यूनतम निश्चयकार अनुमान होना चाहिए और अधिकतम यह कि हमें वैसा प्रत्यक्षीकरण होना चाहिए। यह व्यवस्था कहीं बताई नहीं गई है परन्तु सभी ग्रन्थों का सम्यक् अवलोकन करने के पश्चात् इस प्रकार की व्यवस्था को हमें समझना पड़ेगा।

हमने कल सामान्यरूप से यह बात देखी कि ''**पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञाः प्रवाहेण क्रियारताः मर्यादया गुणज्ञास्ते शुद्धाः प्रेम्णाति दुर्लभाः**'' - जीव की यह ''क-2-ल'' शीर्षक के अन्तर्गत जो व्यवस्था थी अर्थात् जीव, देह और क्रिया। तात्पर्य है - पुष्टिजीव की क्रिया। ध्यान से देखें कि क्रिया का यहाँ बड़ा नमूना बताया है - एक स्थूल स्वरूप। वह क्या है? वह क्रिया के सम्बन्ध में कोई छोटी-छोटी खोज करके नहीं बताया है प्रत्युत उस क्रिया में कल हमने अहंता-ममता के दो वृत्त में भगवत्सेवा के जो चार उत्तमाधिकारिता के आदर्श हैं, उनको छोटा रख कर, बड़ा रख कर, अधिक बड़ा करके त्रिविध संभावनाएँ देखी थीं। यों तो वे तीन संभावनाएँ इस कारण से बताई थीं कि अपने यहाँ भक्ति के प्रेम, आसक्ति और व्यसन - तीन सोपान बताए गए हैं। मूल हेतु यह था। परन्तु यदि रुचि से शुरुआत करनी है तो अब भी

थोड़ी संभावना है कि उसे नीचे की तरफ और घटा कर चार भी बनानी हो तो बना सकते हैं।

भक्ति के प्रेम, आसक्ति, व्यसन – तीन सोपान बताए इसलिए उसकी तीन सम्भावनाएँ बताई हैं और रुचि की सम्भावना के विषय में विचार करना हो तो उसे और छोटा बना सकते हैं। अत: इस रुचि, प्रेम, आसक्ति, व्यसन के हिसाब से जीव पुष्टिमार्गीय है। भगवत्सेवा में, भगवद्भक्ति में उसकी रुचि है, परमात्मा के साथ भक्ति का सम्बन्ध बांधने में उसकी रुचि है और उस रुचि के अन्तर्गत उत्तमाधिकारिता की चारों योग्यताएँ निभाने के लिए वह सक्षम है तो वह पुष्टिजीव हो गया।

यदि इसके अन्तर्गत चार में से किसी भी एक सम्भावना को छोड़ कर शेष तीन सम्भावनाएँ हैं तो वह तीन सम्भावनाओं को प्रकट कर रहा है और उसकी जितनी भी गणितीय विविधताएँ हो सकती हैं, मैं आपसे अपेक्षा करता हूँ कि आप लोग गणना करके देख लें कि मध्यमाधिकारी कितने प्रकार के हो सकते हैं। यद्यपि वे सभी मध्यमाधिकारी होंगे परन्तु सैद्धान्तिकरूप से हमें ध्यान में रखना पड़ेगा कि **''मर्यादया गुणज्ञास्ते''** अर्थात् जहाँ जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान, (प्रभु के गुणों का ज्ञान और प्रभु के माहात्म्य का ज्ञान) दोनों ज्ञान हैं तो वह मर्यादापुष्टि का जीव हो जाएगा। अन्तिम कक्षा में, यदि तीनों सम्भावनाओं में से हम एक अन्तिम – केवल क्रिया – निभा सकते हैं, जिसमें न तो कोई समझ पड़े, न उसके अन्दर रति है परन्तु अल्परुचि है, क्योंकि क्रिया निभाना भी एक रुचि है। यह समझने जैसी बात है कि रुचि नहीं हो तो कोई जीव किसलिए क्रिया निभाए, पाखण्ड के लिए निभाना एक अलग कथा है। उसकी चर्चा हम यहाँ नहीं कर रहे, लेकिन क्रिया भी निभा रहा है कोई तो रुचि तो उसकी है ही! अत: यदि उसकी रुचि है और उस रुचि के कारण वह क्रिया निभा रहा है तो प्रवाहपुष्टि का जीव है।

इसके पश्चात् यह बताया कि जो लोकार्थिता से भी एकदम गया, जो केवल आजीविका के लिए भगवद्भजन करता है तो यह पूर्णत: अनधिकारी की ही चर्चा है। वह हीन में भी हीन है जिसके लिए हरिरायजी ने 'अतिजघन्य' शब्द का प्रयोग किया है। जिन्होंने निवेदन किया है उनको असमर्पित वस्तु का त्याग करना है – **''निवेदिभि: समर्प्यैव सर्वं कुर्याद् इति स्थिति:''** अर्थात् समर्पित का ही उपभोग करना – यह दूसरा नियम है और **''सामिभुक्त असमर्पणम्''** अर्थात् जिसका हमने पहले उपभोग कर लिया हो उसका समर्पण नहीं करना है।

इससे **''तस्माद् आदौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम्''** – मैंने आपको पहले ही बता दिया है कि जब भी हम कोई बात करेंगे तब निश्चयाकार अनुमान तो होगा नहीं, अनिश्चयाकार अनुमान ही होगा। अत: जब अनिश्चयाकार अनुमान होगा तब हमारे पास उसके स्वरूप का निश्चय करने का कोई भी साधन नहीं रहा परन्तु पुष्टिजीव होने के स्वरूप का निश्चय करने के लिए और ऐसे जीव के प्रवाही होने का निश्चय करने के लिए हमारे पास सभी लक्षण मौजूद हैं।

अब एक बात स्पष्ट रूप से समझ लें कि प्रवाहीजीव का कोई लक्षण दिखाई दे रहा है पर सहज संभव है कि वह प्रवाहीजीव न भी हो, पुष्टिजीव हो परन्तु उसका देह अथवा क्रिया इतने खराब हैं कि उसमें प्रवाहिता अथवा आसुरी भाव प्रकट हो रहा है, आसुरावेश के कारण देह में अथवा व्यवहार में आसुरीभाव प्रकट हो रहा है तो इसका हम निश्चय नहीं कर सकते।

जीव के विषय में जो भी अनुमान करेंगे वह अनिश्चयाकार अनुमान ही कर सकेंगे। ऐसे गुणधर्म प्रकट होने पर हम उसका पुष्टिजीव होना अनिश्चयाकार मानेंगे और ऐसे गुणधर्म प्रकट नहीं कर रहा तथा प्रवाहिता के गुणधर्म प्रकट कर रहा है तो हमें उसके सम्बन्ध में सतर्कता रखनी चाहिए। हमें

उससे संभलना चाहिए, सुरक्षित अन्तर रखना चाहिए। भगवान उसकी क्या गति करना चाहते हैं, इस सम्बन्ध में निश्चितरूपेण कहने का हमारा सामर्थ्य नहीं है। वह हमारी अनधिकार चेष्टा होगी।

समझें कि कोई सांप है। वह विषैला है अथवा विषहीन है - यदि हमें निश्चय हो कि वह विषहीन है तो इतना भयभीत होने की आवश्यकता नहीं लेकिन यदि विषैला है तो हमें सावधानीपूर्वक वर्तन करना पड़ेगा। यदि हमें अनिश्चय हो, हमें पता ही न चले कि वह विषैला है अथवा विषहीन है तो ऐसी स्थिति में उसे विषैला मान कर चलने में ही हमारी सुरक्षा है। न तो हम उसे मारें न उसके सम्पर्क में आने का दुस्साहस करें।

इसी प्रकार श्रीमहाप्रभुजी, इस संदर्भ में नहीं परन्तु अन्य संदर्भ में, **''अदूरे विप्रकर्षे वा''** कहते हैं। अर्थात् ऐसी स्थिति आए तो बहुत नजदीक भी नहीं और बहुत दूर भी नहीं, हर समय ऐसी सतर्कता में ही हमारी उत्तम सुरक्षा है। न तो बहुत भयभीत होना और न व्यर्थ में किसी के बहुत नजदीक जाना जिससे हमें किसी प्रकार की परेशानी उठानी पड़े। जहाँ हम यह निर्णय नहीं कर सकते कि क्या हो रहा है वहाँ इस प्रकार की स्थिति **''अदूरे विप्रकर्षे वा''** सुरक्षा की दृष्टि से उत्तम स्थिति है।

इसके पश्चात् पुष्टिमार्ग में 'क ^{3}' विशेष फलनिरूपण को दर्शाता है। उसके अनुसार श्रीमहाप्रभुजी ने अमुक लक्षण भी बता दिए थे कि सुषुप्तरूप से पुष्टिजीव होने की पात्रता किसकी है। उसमें **''लौकिकत्वं-वैदिकत्वं-कापट्यात्''** हो परन्तु **''वैष्णवत्वं सहजम्''** हो। यह लक्षण पुष्टिजीव को पहचानने के लिए है। जिसमें हमें वैष्णवत्व कापट्य से लगता हो और लौकिकत्व तथा वैदिकत्व सहज दिखता हो तो लौकिकत्व सहजरूप से दिखने पर प्रवाही जीव समझना चाहिए और उसमें वैदिकत्व सहज दिखता हो तो उसको मर्यादाजीव समझना चाहिए। परन्तु यह मुझे अनिश्चयाकार अनुमान

की भाँति लगता है कि ऐसा कुछ होना चाहिए। जीव के विषय में निश्चयाकार अनुमान तो जीव कर नहीं सकता। प्रभु ही कर सकते हैं अथवा श्रीमहाप्रभुजी या श्रीगुसांईजी जैसी दिव्य, सूक्ष्म, वेद्य दृष्टि हो कि हम देखते ही पहचान जाएँ कि अमुक प्रकार का जीव है। अत: यह एक अलग कथा है।

संदेह का लाभ (Benefit of Doubt) तब दिया जाता है जब किसी को अपराधी सिद्ध करना हो परन्तु जब किसी को संत सिद्ध करना हो और उसमें हम संदेह का लाभ देना शुरू करें तो क्या होगा? मान लें कि एक गुंडा आया। हम कहें कि संदेह का लाभ दो - कदाचित् वह सन्त हो, उसे घर में आने दो। मान लें कि वह पिस्तौल लेकर आया और हम सन्देह का लाभ दें कि भाई, कदाचित् आत्मरक्षा के लिए पिस्तौल रखता होगा तो यह अतिरेक हो जाएगा। संदेह के लाभ का सिद्धान्त किसी को अपराधी ठहराने के लिए प्रयुक्त होता है। जब किसी के बारे में सन्त के रूप में निर्णय करना हो कि सज्जन है कि नहीं तो उसमें संदेह का लाभ नहीं देना चाहिए। सावधानी रखनी चाहिए कि सन्देह का लाभ किसी को अपराधी ठहराने के लिए दिया जाता है। यह एक स्वस्थ दृष्टिकोण अथवा भाव है।

जब किसी को सज्जन सिद्ध करना हो, जब किसी को साधु बताना हो, सत्संग करने के लिए किसी के भगवदीयत्व का निर्णय करना हो, दीक्षा लेने के लिए सद्गुरु का निर्णय करना हो तब हम संदेह का लाभ देना शुरू कर दें तो फिर कोई गुंजाइश अथवा सीमा ही न रहे। सत्संग और असत्संग का, सद्गुरु और असद्गुरु की परीक्षा के प्रमाण या जो मापदण्ड हैं वे ही ठप्प हो जाएंगे। अत: हर बार अपराध में संदेह का लाभ दिया जाए और सत्कर्म के निर्धारण में संदेह का लाभ न दिया जाए - सभी विषयों में यह युक्तियुक्त है।

अपवाद के रूप में, यह बात समझें कि इस बारे में पूर्वानुमान अथवा भविष्यवाणी नहीं कर सकते। मान लें कि आपकी गाड़ी के आगे एक गाड़ी

चल रही है तो आपको अपनी गाड़ी और आगे की गाड़ी के बीच एक सुरक्षित अन्तर रखना पड़ेगा। सुरक्षित अन्तर का अर्थ यही कि आगे की गाड़ीवाला एकाएक ब्रेक लगाए तो आपको भी अपनी गाड़ी को ब्रेक लगा कर रोकने जितना अन्तर रखना चाहिए। एकाएक वह गाड़ी को ब्रेक लगाएगा यह कैसे निश्चित होगा? इसके लिए दो बात ध्यान में रखनी चाहिए - एक तो गतिवाले घटक को ध्यान में रखना पड़ेगा कि गाड़ी कितनी गति से जा रही है और दूसरा, इतनी गति से चलती हुई गाड़ी को ब्रेक लगाने के लिए कितना अन्तर चाहिए। इन दो तत्त्वों को जब ध्यान में रखेंगे तब समझ में आएगा कि दोनों गाड़ियों के बीच कितना अन्तर रखना चाहिए। इसको सुरक्षित अन्तर कहते हैं।

जैसे 100 की स्पीड में गाड़ी जा रही है तो आपको जो अन्तर रखना चाहिए वह अन्तर 100 की स्पीड से अधिक वेग के लिए सुरक्षित अन्तर नहीं कहा जाएगा क्योंकि वह अन्तर तो आपकी गाड़ी को धीमी करने में लगेगा और तबतक गाड़ी टकरा जाएगी। यह क्या है? आगे गाड़ी जा रही है, हम भी उसके पीछे-पीछे जा रहे हैं। अब हम संदेह का लाभ लेने के लिए यह विचार करें कि आगे की गाड़ी कौन जाने कब रुक जाए। ऐसा मान कर हम उसके पीछे न जाएँ तो भी लाइन तो नहीं तोड़ी जा सकती, लाइन में ही जाना पड़ेगा और इसके लिए एक सुरक्षित अन्तर का ध्यान रखना पड़ेगा परन्तु सुरक्षित अन्तर में परिवर्तन आता रहेगा। इसके बारे में एक कुशल ड्राईवर ही भलीभाँति जानता है। यदि आगे की गाड़ी का वेग बढ़ रहा है तो सुरक्षित अन्तर थोड़ा बढ़ाना पड़ेगा और वेग घट रहा है तो सुरक्षित अन्तर का प्रमाण थोड़ा कम भी हो सकता है।

इसी प्रकार जीव के साथ, उसे दीक्षा देने के लिए अथवा सत्संग करने के लिए अथवा किसी से दीक्षा लेने के लिए, सुरक्षित अन्तर आवश्यक है।

ऐसी स्थिति में हममें उसको परखने की सिफत होनी चाहिए कि भाई, वह कितने वेग से काम कर रहा है। अर्थात् वह अपनी भगवदीयता कितनी त्वरा के साथ प्रकट कर रहा है। आप देखें कि श्रीहरिरायजी ने 'दुस्संग विज्ञान निरूपण' में यही मापदण्ड बताया है कि जो कोई अपनी भगवदीयता बहुत वेग से अर्थात् अधिक परिमाण में प्रकट कर रहा है और उसके निकट आपने गाड़ी चलाई अर्थात् आपने भी उसी प्रकार भगवदीयता प्रकट की और अचानक गाड़ी को ब्रेक लगाया तो टकराए बिना नहीं रहेंगे अर्थात् भक्ति में उसका परिणाम विपरीत आएगा।

इस प्रकार हमेशा सुरक्षित अन्तर रखने के सिद्धान्त को इस प्रकार समझ सकते हैं कि वेग के अनुसार समयान्तर को अनुकूल करना चाहिए। यदि किसी की गति बढ़ रही है तो थोड़ा अन्तर बढ़ा देना चाहिए। गति घट रही है तो थोड़ा उसके नजदीक देखें कि भाई क्या अड़चन है। आपकी सहायता उसको मिल जाएगी और उसकी सहायता आपको मिल जाएगी। इसी प्रकार सत्संग में भी श्रीहरिरायजी ने 'दुस्संग विज्ञान प्रकार' में बताया है कि यदि कोई अपनी अतिशय भगवदीयता प्रकट कर रहा है तो हमें उससे थोड़ी दूरी बनाए रखनी चाहिए।

कारण यह है कि जाने किस वेश में नारायण मिल जाएँ, उसका ज्ञान नहीं। जब हमें मालूम नहीं है तो सावधानी रखना आवश्यक है। व्यर्थ में इतना दूर रहना कि हमें आगे की गाड़ी दिखना बन्द हो जाए अथवा इतना नजदीक जाना कि वह अपनी गाड़ी रोके तो हम अपनी गाड़ी रोक न सकें। ये दोनों ही अकुशल ड्राईवर के लक्षण हैं। इसमें सीधी बात यह है कि अचानक कोई मोड़ आया तो हम मुड़ नहीं सकते। गाड़ी में छू छू छू छू हो जाएगी। यह सब छल-छद्म क्या है! इस प्रकार के घोटाले सही-सही गणना के अभाव के कारण होते हैं।

हम यदि इतने वेग से गाड़ी चलाएँ कि एकाएक कोई कारवाला आए तो हम अपनी गाड़ी को मोड़ सकें, गाड़ी उलटे नहीं तो कोई चिंता की बात नहीं है। यद्यपि गति सीमा का कोई मापदण्ड नहीं है, कोई निर्धारित गति नहीं है, 120 मील की गति सीमा भी हो सकती है और 10-20 मील की गति सीमा भी हो सकती है। मान लें कि 30 मील की गति से चलाएँ तो वह शहर के हिसाब से सुरक्षित गति है परन्तु भुलेश्वर में सत्यानाश हो जाएगा, यदि आप 30 की गति से चलाएंगे। वहाँ तो 5-10 से अधिक चलाते ही कुछ न कुछ अव्यवस्था हो जाएगी क्योंकि वहाँ भीड़ बहुत होती है। यह सावधानी का चक्कर है।

सेवाहेतु दीक्षा देने के लिए, भक्तिहेतु दीक्षा लेने के लिए अथवा सत्संग के लिए पुष्टिजीव का जो आदर्श स्वरूप है, एक निर्धारित स्वरूप है वह हमने **'पुष्टिमार्गे विशेषेण फलनिरूपणम्'** की भाँति समझा। उसका सही अर्थ में जो प्रारंभिक बिन्दु है अर्थात् पुष्टिजीव के आदर्श स्वरूप का जो बिन्दु है वह भी हमनें **''पुष्टया विमिश्राः सर्वज्ञाः प्रवाहेण क्रियारताः, मर्यादया गुणज्ञास्ते''** आदि के रूप में देखा। इस सब के अनुशीलन के पश्चात् जो पुष्टिजीव नहीं है परन्तु पुष्टिजीव की भाँति व्यवहार कर रहा है, उसको भी पहचानने की आवश्यकता है या नहीं? अतः उसकी पहचान श्रीमहाप्रभुजी यहाँ से शुरू कर रहे हैं।

(पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा-मार्गेषु कर्मणां गहनया गत्या परिभ्रमन्तः एकस्मिन् मार्गे समागताः अतन्मार्गीयत्वेऽपि तन्मार्गीयत्वाभासं प्रकटयन्तः चर्षण्यो जीवाः) - पुष्टिप्रवाहमर्यादा के मार्ग में कर्म की गहन गति से परिभ्रमण करते-करते किसी एक मार्ग में कोई जीव आ गया परन्तु वह उस मार्ग का जीव नहीं तो यह कर्म की गहन गति है। गहन होने से किसी कारण से उसमें आ गया। कोई किस प्रकार, कब कहाँ पहुँच जाए यह पता नहीं चलता। अतः कोई जीव प्रवाह (मार्ग) का नहीं परन्तु प्रवाह में चला गया, पुष्टि

का नहीं परन्तु पुष्टि में आ गया, मर्यादा का नहीं परन्तु पुष्टि में आ गया या पुष्टि का जीव मर्यादा में चला गया, इस प्रकार की सभी सम्भावनाएँ निरन्तर बनती रहती हैं।

इसलिए **''अतन्मार्गीयत्वेऽपि तन्मार्गीयत्वाभासं प्रकटयन्तः''** जो एक मार्ग में होने पर भी दूसरे मार्ग का आभास प्रकट करनेवाले जीव हैं वे चर्षणीजीव हैं। चर्षणी अर्थात् क्या? चक्कर मारने वाले जीव। अपने यहाँ चर्षणी को प्रवाहीजीव के साथ माना जाता है। इसलिए चर्षणी का जो अभिधार्थ है वह अपने यहाँ बहुत नकारात्मक हो गया है। अब यह बात ध्यान से समझें कि वेद में 'चर्षणी' शब्द कोई निन्दावाचक शब्द नहीं है, वेद में चर्षणी शब्द मनुष्यवाचक है। प्रत्येक मनुष्य चर्षणी है।

जैसे कल मैंने आपको बताया कि प्रत्येक व्यक्ति जो जन्म लेता है, चाहे वह पुष्टिजीव हो, मर्यादाजीव हो या प्रवाहीजीव हो, उसने जन्म तो प्रवाह में ही लिया है। इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य मूलतः तो चर्षणी ही है। इस प्रकार चर्षणी कोई निन्दात्मक शब्द नहीं है परन्तु अपने यहाँ इसे पारिभाषिक बना दिया गया है। निन्दा के अर्थ में यह शब्द निन्दार्थक नहीं है, यह ध्यान में रखना चाहिए। अब यदि निन्दा के अर्थ में किसी शब्द को पारिभाषिक बना लिया जाए तो उसके दोनों अर्थघटन पर ध्यान रखना बहुत आवश्यक है।

एक सामान्य उदाहरण देने से आपको बात स्पष्ट हो जाएगी। हमारे किशनगढ़ में कई वर्षों तक एक विवाद चला। वैष्णव इस बात पर बहुत संवेदनशील हो गए थे कि जिसको हमने गुरु माना या गुरु बनाया वह हमारे पिता हैं, इसलिए पति-पत्नी एक ही गुरु से ब्रह्मसंबंध नहीं लेते थे। वे समझते थे कि पत्नी ने भी एक ही गुरु से ब्रह्मसंबंध लिया तो हम भाई-बहन हो जाएंगे। वे ऐसा समझते थे कि पति ने जिस गुरु से ब्रह्मसंबंध लिया है उसी गुरु से पत्नी भी ब्रह्मसंबंध ले तो दोनों भाई-बहन हो जाएंगे।

अब आज की भाँति प्राचीन बालकों में ब्रह्मसंबंध देने के विषय में व्यक्तिगत छीना-झपटी की स्थिति नहीं थी। सम्प्रदाय में सभी बालक ऐसे व्यवहार करते थे कि हम सब एक हैं, इसलिए किशनगढ़ के राजा ने जब जाना कि सारे बालक एक ही हैं अर्थात् सभी बालक वल्लभवंशज हैं तो उन्होंने विचार किया कि पति ने यदि पुष्टिमार्ग में ब्रह्मसंबंध लिया है तो पत्नी को पुष्टिमार्ग में ब्रह्मसंबंध नहीं लेना चाहिए, नहीं तो दोनों भाई-बहन हो जाएंगे। किशनगढ़ में कई वर्षों तक यह स्थिति चलती रही कि राजा सभी पुष्टिमार्ग से और रानियाँ सभी निम्बार्कसम्प्रदाय की थीं। क्योंकि वे इतने डर गए थे कि भूल से कहीं भाई-बहन न हो जाएँ।

आज भी गुजरात में सास-ससुर को मम्मी-पप्पा कहते हैं। गुजरात के बाद अन्य प्रान्तों में भी यह प्रचलन हो गया। अब मम्मी-पप्पा कह दिया तो कोई भाई-बहिन थोड़े ही हो गए और थोड़ा भेद करके कोई मम्मीजी कह दे या कोई पप्पाजी कह दे तो 'जी' लगाने से अंग्रेजी में तो अर्थपरिवर्तन ऐसा नहीं है कि वे ससुराल पक्ष के मम्मी-पापा हैं। पप्पा को 'जी' लगा दिया तो ससुर और पप्पा कहा तो पिता ऐसा अर्थ तो अंग्रेजी में नहीं हैं परन्तु ऐसा एक अलग भेद बनाए रखने के लिए लोग व्यवहार में उसका उपयोग करते हैं।

यह बात भी ध्यान से समझें कि गुरुभाई अथवा गुरुबहन अपारिभाषिक शब्द हैं। सामाजिक अथवा पारिवारिक संदर्भ में भाई और बहन पारिभाषिक शब्द होते हैं। एक ही गुरु के शिष्य होने से उस प्रकार के भाई-बहिन नहीं हो जाते जिस प्रकार रक्त संबंध से भाई-बहिन होते हैं। किसी भी पारिभाषिक शब्द को जब हम अपरिभाषिक अर्थ में लेते हैं तो गड़बड़ होती है। इसलिए दोनों अर्थ हमारी दृष्टि में हों, हमें दोनों अर्थ ज्ञात हों तो विषय सुस्पष्ट रहेगा।

जब गट्टुलालाजी किशनगढ़ पधारे तब वहाँ इस बात पर तुमुल शास्त्रार्थ हुआ कि इस प्रकार राजा-रानी को एक ही गुरु से ब्रह्मसंबंध लेना चाहिए या

नहीं। गट्टुलालाजी ने शास्त्रार्थ द्वारा सिद्ध किया कि पति-पत्नी एक गुरु के शिष्य हों तो भी वे भाई-बहिन नहीं होते। पति-पत्नी न हो और एक गुरु के शिष्य हों तो उनमें यह मनोभाव होता है कि हम एक गुरु के शिष्य हैं इसलिए अमुक हमारा गुरुभाई है या हमारी गुरुबहन है। इस प्रकार का मनोभाव होना बहुत सुन्दर बात है।

ऐसा कोई कठोर नियम अथवा संगत सिद्धान्त नहीं है कि एक गुरु से दीक्षा लेने से, शिष्यत्व लेने से जो पति-पत्नी हैं वे भाई-बहन हो गए। इस विषय पर '**दाम्पत्योः एकंगुरुशिष्यत्व**' शीर्षक से दाम्पत्य और एक गुरु शिष्यत्व पर विचार करते हुए पुस्तक लिखी गई है। गट्टुलालाजी ने किशनगढ़ में इस विषय पर काफी प्रवचन वगैरह किए, तब से किशनगढ़ की रानियाँ भी पुष्टिमार्ग में दीक्षित होना शुरु हुईं। उससे पूर्व तक घर में दो सेवाएँ चलती थीं - एक पुष्टिमार्गीय सेवा और दूसरी निम्बार्कसम्प्रदाय की सेवा। श्रीठाकुरजी भी तदनुरूप दो प्रकार के थे।

हैदराबाद में आज भी आपमें से कोई जा कर देखे तो पित्ती परिवार में पहले तल पर रामानुजसम्प्रदाय की सेवा है और दूसरे तल पर पुष्टिमार्गीय सेवा है। वहाँ स्त्रियाँ सभी पुष्टिमार्गीय हैं और पुरुष सभी रामानुजसम्प्रदाय में दीक्षित हैं। कारण वही है कि इनको डर लगता है कि एक गुरु के शिष्य हो गए तो कहीं भाई-बहिन न हो जाएँ। इस प्रकार यह पारिभाषिक शब्द का अपारिभाषिक प्रयोग हो गया। इसके कारण यह गड़बड़ फैली।

पारिभाषिक शब्दों का अपारिभाषिक संदर्भों में प्रयोग सोच-समझ कर करना चाहिए। उनका अर्थ समझ लेना चाहिए। पर्याप्त सोच समझ के बिना उन शब्दों का अर्थ उक्त प्रकार से नहीं लेना चाहिए।

अब यहाँ पुनः देखें कि हमारे पुष्टिमार्ग में चर्षणी शब्द भी एक पारिभाषिक शब्द है। इस बात को बताने के लिए मैंने कल एक उदाहरण दिया

था – ''जन्मना जायते शूद्र'' – यहाँ जो शूद्र कहा है कि जन्म से ही सभी शूद्र पैदा होते हैं, वह किसी अपारिभाषिक अर्थ में नहीं वरन् पारिभाषिक अर्थ में कहा गया है। यदि जन्म से ही सब शूद्र पैदा हुए होते तो सभी बालक अस्पृश्य हो जाने चाहिए, जन्म से ही यदि अस्पृश्य हो जाते हैं तो उनका कोई संस्कार ही नहीं हो सकता। इस प्रकार जन्म से ही सभी बालक शूद्र पैदा नहीं होते। यह पारिभषिक शब्द 'शूद्र' का अपारिभाषिक प्रयोग हो गया।

सम्बन्धिनस्तु ये जीवाः प्रवाहस्थास् तथाऽपरे।।21।।
'चर्षणी' शब्द-वाच्यास्ते ते सर्वे सर्व-वर्त्मसु।
क्षणात् सर्वत्वम् आयान्ति रुचिस् तेषां न कुत्रचित्।।22।।
तेषां क्रियाऽनुसारेण सर्वत्र सकलं फलम्।।

अन्वयार्थ :

ये = जो, **सम्बन्धिनः** = सम्बन्धवाले
जीवाः = जीव, **तथा** = और (**ये** = जो)
प्रवाहस्थाः = प्रवाहमार्ग में रहे हुए
अपरा = दूसरे (**जीवाः** = जीव)
ते = वे, **तु** = तो, **सर्वे** = सभी
'चर्षणी' शब्दवाच्याः = 'चर्षणी' नाम से पहचाने जाते हैं
ते = वे, **सर्वे** = सब स्थानों पर
सर्ववर्त्मसु = सबमार्गों में
क्षणात् = क्षणभर, **सर्वत्वं** = सर्वत्व को तन्मयता को
आयान्ति = प्राप्त होते हैं
तेषां = उनकी, **रुचिः** = रुचि
कुत्रचित् = कहीं, **न** = नहीं
(भवति = होती है **)**

सर्वत्र = सब जगह, **तेषां** = उनको
क्रियानुसारेण = क्रिया के अनुसार
सकलं = सकल, **फलं** = फल
(**भवति** = होता है)

भावार्थ : पुष्टि, प्रवाह और मर्यादा इन तीनों मार्गों से सम्बन्धित (मार्ग के नहीं) जो जीव हैं और उनसे भी हीन दूसरे जो प्रवाहीजीव हैं, वे सब मार्गों में क्षण-क्षण में आते-जाते हैं। किसी भी मार्ग में उनकी रुचि नहीं होती। जैसी क्रिया वे करते हैं तदनुसार सब मार्गों में उनको थोड़ा-थोड़ा फल (प्राप्त) होता है।

व्याख्या :

सम्बद्धजीव अर्थात् किसी एक मार्ग में आए हुए जीव, उस मार्ग में आए हुए होने से मार्ग से सम्बन्धित जीव। परन्तु वे उस मार्ग के नहीं होते। इस कारण से उनको 'चर्षणी' कहा जाता है। अब ग्राम्यभाषा में अर्थात् नकारात्मक भाव में कहना हो तो आवारागर्दी करने वाले, भटकते रहने वाले जीव। कुछ जीव आवारागर्दी करने वाले ही होते हैं। वे प्रत्येक स्थान पर भटकते रहते हैं, उनको व्यर्थ भटकना ही पसन्द होता है, उनको भटकने का शौक होता है। इस प्रकार भटकते-भटकते कोई जीव पुष्टिमार्ग में आ जाता है, पुष्टिमार्ग का कोई जीव भटकते हुए मर्यादा में चला जाए, कोई जीव भटकता हुआ प्रवाह में आ जाता है, कोई प्रवाह का जीव मर्यादा में आ जाता है। ऐसे भटकनेवाले जो जीव हैं **''सम्बन्धिनस्तु ये जीवाः प्रवाहस्थास् तथाऽपरे''** और जो यथार्थतः प्रवाहस्थ जीव हैं उन सबको 'चर्षणी' कहा जाता है। इस शब्द पर ध्यान देंगे तो बात समझ में आ जाएगी कि चर्षणी और प्रवाहस्थ जीव को प्रवाही नहीं कहा जाता बल्कि 'चर्षणी' एक ऐसा शब्द है जो प्रवाही के अर्थ में भी और भटकनेवाले जीव के अर्थ में भी समान है। क्योंकि प्रवाही जिस प्रवाह में है उससे और क्या अपेक्षा रखी जा सकती है! वह भटक रहा है और भटकता-

भटकता कोई प्रवाहीजीव पुष्टिमार्ग में आ गया अथवा मर्यादामार्ग में चला गया तो वह पुष्टिमार्गीय अथवा मर्यादामार्गीय नहीं हो जाता । यह विशेषरूप से समझने जैसी बात है।

प्रवाही नहीं है लेकिन भटकनेवाला ही कोई जीव है तो वह किसी बीच के मार्ग का अर्थात् तीनों मार्ग का अथवा सभी मार्गों के जीवों के अन्तर्गत आनेवाला एक प्रकार है। तीनों मार्गों से परस्पर सम्बन्धित जीव है। जैसा मैंने कल बताया था कि ऐसा कोई परस्पर सम्बन्धित जीव क्या है? चूँकि ग्रन्थ अधूरा है इसलिए आज हम कह पाने की स्थिति में नहीं हैं कि श्रीमहाप्रभुजी यथार्थरूप से क्या आज्ञा करना चाहते हैं। कारण यह है कि आगे यह बात स्पष्ट होती तो इसकी अधिक स्पष्टता होती परन्तु चर्षणीजीव तीनो मार्गों का कोई एक जघन्य वर्ग है, प्रकार है।

पुष्टि, प्रवाह, मर्यादा के अन्तर्गत सामान्यरूप से यह एक उपविभाग है अथवा पुष्टि, प्रवाह, मर्यादा के अतिरिक्त कोई अलग प्रकार का वर्ग है अथवा प्रवाह की कोई दो शाखाएँ हैं - ये सभी संभावनाएँ यहाँ विद्यमान हैं। ग्रन्थ पूरा होता तो हम उसका निर्णय कर सकते थे, आज की तारीख में हमारे लिए वस्तुत: यह एक समस्या है कि इसका निर्णय किस प्रकार करना कि यह कौन है? जितना ग्रन्थ उपलब्ध है उसके आधार पर हम जितना समझ सकते हैं उसके अनुसार यहाँ तीन संभावनाएँ हैं।

पुष्टि का कोई एक जघन्यतम, मर्यादा और प्रवाह का कोई एक जघन्यतम प्रकार है। दूसरा पुष्टिप्रवाहमर्यादा का कोई एक संकीर्ण प्रकार है अथवा तीसरा, इन सबसे अलग कोई अन्य ही प्रकार है जिसका वर्गीकरण इन तीनों में नहीं हो सकता।

सामान्यत: वर्गीकरण के बाद यदि कोई वस्तु वर्गीकृत न हो सके तो उसे अलग प्रकार कहा जाता है। आय-व्यय के खाते में जैसे अलग-अलग

शीर्ष से खाते बनाए जाते हैं और अमुक खाते में वह अमुक खर्च आता है अर्थात् उस खाते में वह खर्च लिखा जाता है। इनमें से किसी खर्च का खाताशीर्ष न बन सकता हो तो उसको एक अलग प्रकार के फुटकर (miscellaneous) खर्च में लिखा जाता है। ऐसे सभी खर्च जो अलग प्रकार के होते हैं, जो किसी खर्च में नहीं रखे जा सकते उनको फुटकर खर्च कह सकते हैं। उसी प्रकार चर्षणी, एक प्रकार का कोई अलग जीव है अथवा चर्षणी उक्त तीनों प्रकारों में से एक अंतरानुभागीय (Intersectional) जीव है अथवा चर्षणी, पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा तीनों का एक जघन्य प्रकार है। यह आज की तारीख में यथार्थ रूप में निर्णय करना बहुत ही कठिन है। इन तीन में से कोई होना चाहिए- ऐसा प्रतीत होता है। कम से कम मुझे तो ग्रन्थ को देख कर इस विषय में निश्चयाकार कोई ज्ञान नहीं है।

अभी, एक बात बताऊँ कि कितने ही ऐसे ड्राईवर होते हैं कि उनको लाइन पकड़ कर चलने के लिए कहें तो उनसे ड्राईविंग नहीं हो सकती। वे स्टीयरिंग इधर-उधर करते ही रहते हैं और ट्रैफिक लांघने में ऐसे ड्राईवर जो करते हैं वैसे दूसरा कोई नहीं कर सकता। अपने यहाँ तो बहुत कम स्पीड में गाड़ियाँ चलती हैं तो अधिक हाल-बेहाल नहीं होता। आजकल पुलिस ट्रैफिक सिग्नल है, ऐसे ड्राईवरों के कारण वे लाइन बदलने के लिए अपने पास से 100-50 रुपये खा जाते हैं। बाकी जहाँ बहुत स्पीड से गाड़ी चल रही हो वहाँ ऐसे लाइन बदलनेवाले विनाश कर सकते हैं।

कारण यह है कि एकाएक एक लाइन में से दूसरी लाइन में क्रॉस करने के लिए हम गाड़ी का स्टीयरिंग इधर-उधर करें तो कई गाड़ियाँ टकरा जाएंगी। अमेरिका जैसे देश में जहाँ ड्राईविंग की गति बहुत अधिक है वहाँ ऐसी सम्भावना अधिक है। एक लाइन पकड़ कर ड्राईविंग करना- उनके गुरुओं ने ये गुणधर्म उनको नहीं सिखाए। ईश्वर जाने कि इधर-उधर स्टीयरिंग करके

ड्राईविंग करने में क्या मजा आता है परन्तु ऐसे ड्राईवर में कुछ तो है, ऐसा ही चर्षणी का एक प्रकार होता है।

वस्तुत: आध्यात्मिकमार्ग में भी चर्षणी के ऐसे प्रकार होते हैं जिन्हें किसी भी एक मार्ग में स्थिर साधना करने की कहें तो वे अदृश्य हो जाएंगे। वे निरन्तर नई साधना करते रहते हैं – कभी यह तो कभी कोई और, कभी देवी को तो कभी कृष्ण को भजते हैं। मैंने ऐसे ही चर्षणी को लपुपंडा कहा है। उसका चित्त चंचल होने के कारण वह निरन्तर कभी इस देवता को तो कभी दूसरे देवता को भजता रहता है। कभी एक गुरु के पास जाता है, कभी दूसरे गुरु के पास जाता है। वस्तुत: ऐसे जीव मूल में खराब नहीं होते, बदमाशी नहीं करते वरन् उनका चित्त ही इस प्रकार का चलायमान है तो उसका क्या उपाय?

प्रश्न : उनको मनकिया कहा जाता है न?

उत्तर : मनकिया अलग थे। वे बहुत ही दुष्ट और पाखंडी थे। उनकी प्रवृत्ति दूसरों को ठगने की थी। 'चर्षणी' शब्द में यह जरूरी नहीं कि वे दूसरों को ठगें ही। उनकी योग्यता अथवा शक्ति ही ऐसी है अर्थात् उनमें इस कौशल का अभाव है कि वे एक चीज को निश्चितरूप से, स्थिररूप से पकड़ नहीं सकते। आजकल अपने यहाँ ऐसे मनकिया भी बहुत हैं।

अपने यहाँ मनकिया का पर्यायवाची शब्द 'कौल' था। "**अन्त: शैवा: बहि शाक्ता: सभामध्ये च वैष्णवा:। नानारूपधरा: कौला विचरन्ति महीतले**" – "**अन्त: शैवा:**" अर्थात् दिल में शिव, "**बहि शाक्ता:**" – गाँव को बताने के लिए शक्ति के भक्त और "**सभामध्ये च वैष्णवा:**" – सभा जुड़ी हो तो वैष्णव बन जाएँ। अपने यहाँ भी मनकिया प्रकार के पहले बहुत लोग थे जो दुराशयपूर्वक प्रत्येक धर्म के साथ अस्वाभाविक ढंग का व्यवहार या दृष्टिकोण रखते थे। किसी एक धर्म का गम्भीरता से अनुसरण नहीं करते थे अर्थात् उस धर्म के साथ प्रामाणिकरूप से अनुसरण नहीं करते थे बल्कि

औपचारिकता के साथ अनुसरण करते थे। जहाँ जैसी भीड़ देखी वहाँ वैसा हो जाना। इसलिए उनको 'कौल' कहा जाता था। संक्षेप में, परिस्थिति के अनुसार रंग बदलनेवाले को 'कौल' कहा जा सकता है।

आजकल 'कौल' बहुत सम्माननीय हो गए हैं। प्राचीनकाल में जब लोगों को मालूम पड़ता कि यह 'कौल' है तो सब उसको घृणा की दृष्टि से देखते थे। क्योंकि सब डरते थे कि कब, कैसा उद्यम 'कौल' कर देगा उसका कुछ पता नहीं चलता था। इस सम्बन्ध में एक प्राचीन श्लोक भी है – "**कौलो धर्मो कस्स नो भाई पाई**" – कौल धर्म किसको प्रिय नहीं लगता? सबको प्रिय लगता है क्योंकि किसी धर्म से बंधा हुआ नहीं था। जिस समय जो अच्छा लगे, उस समय वैसा बन जाना। इसीलिए यह प्राकृत भाषा का आज से डेढ़ हजार वर्ष पुराना श्लोक है – "**कौलो धर्मो कस्स नो भाई पाई।**" अत: कौल धर्म सभी को पसन्द आ सकता है क्योंकि कोई जवाबदारी नहीं है। थोड़े दिन एक जवाबदारी निभाना, बाद में आगे बढ़ो तो पता चलता है कि पाखण्ड के लिए कर रहा था। और यह चित्त की चंचलता के कारण नहीं बल्कि दूसरों को ठगने के लिए करते होते हैं।

इस प्रकार का चर्षणी स्वभाव दूसरों को ठगने के लिए ही हो तो वह तो अतिजघन्य हो गया और यदि दूसरों को ठगने के लिए नहीं वरन् अपने चित्त की चंचलता के कारण हो या उसकी अपनी मन:स्थिति ही ऐसी है कि किसी एक वस्तु पर उसका चित्त नहीं टिक सकता, स्थिर नहीं रहता हो तो चर्षणी है। चर्षणी में इस प्रकार के जीवों का भी समावेश होता है। अत: श्रीमहाप्रभुजी इनमें से वस्तुत: किसको सही अर्थ में चर्षणी कह रहे हैं, यह आज निश्चय करना बहुत कठिन है क्योंकि अपने दुर्भाग्य से एकदम नाजुक परिस्थिति में ग्रन्थ अधूरा रह गया है।

प्रवाहस्थजीव अपने प्रवाहमार्ग में एकदम स्थिर होता है, उसके लिए

चर्षणी होना जरूरी नहीं। एक सुन्दर उदाहरण से बात समझ में आ जाएगी। बर्ट्रेंड रसेल एक नास्तिक, अनीश्वरवादी, अधार्मिक चिन्तक था। वह एकदम सीधा-साधा चिन्तक था और उसकी पुत्री कट्टर ईसाई थी। वह अपनी पुत्री की सब प्रकार से सहायता करता था, ईसाई सम्प्रदाय के काम के लिए भी। जब लोग उसको पूछते कि यह क्या है तो वह कहता कि ईसाई धर्म महान मूर्खता है और मेरी बेटी मूर्ख ईसाई है तो मैं क्या करूँ? बेटी के साथ झगड़ा तो नहीं कर सकता इसलिए बेटी की सब प्रकार से सहायता करता था।

पुत्री को वह जो कुछ मदद करता था वह पुत्री के रूप में ही करता, किसी पंथ या सम्प्रदाय की मदद करने के हेतु से नहीं करता था। वह अपने ढंग का बिलकुल सीधा-साधा नास्तिक था और उसने कभी किसी धर्म अथवा ईश्वर अथवा ऐसी किसी बात पर आस्था या श्रद्धा प्रकट नहीं की। उसने कभी भी चर्षणी स्वभाव व्यक्त नहीं किया। मुझे लगता है कि दुनिया में ऐसे बहुत से लोग होंगे जो बर्ट्रेंड रसेल की पुस्तकें पढ़ कर नास्तिक हो गए होंगे। उसकी अपनी पुत्री अफ्रीका में ईसाइयत का प्रचार करती थी और उसको जब-जब पैसों की आवश्यकता पड़ती तब-तब बर्ट्रेंड रसेल से पिता होने के कारण मंगवा लेती। बर्ट्रेंड रसेल भी पिता होने के कर्तव्यभाव से पैसे भेज देता था।

वह कहता कि मेरी पुत्री बेवकूफ है। अब बेवकूफ है इसलिए पुत्री नहीं है - इसका अर्थ यह नहीं। पुत्री है तो है ही। वह कहता कि ईसाइयत के लिए पैसे नहीं भेजता, मेरी बेटी के लिए पैसे भेजता हूँ। अत: वह सीधा-साधा सज्जन था, इस बारे में उसने कभी भी कोई बात छुपाई नहीं, कभी ढोंग नहीं किया। इस प्रकार बर्ट्रेंड रसेल को हम प्रवाहीजीव कह सकते हैं परन्तु चर्षणी नहीं कह सकते। मेरे कहने का यह तात्पर्य है।

प्रवाही निश्चितरूप से है लेकिन उसे हम कभी भी चर्षणी नहीं कह सकते क्योंकि वह बहुत ही सज्जन और पारदर्शी व्यक्ति था। जैसा था, वैसा

सबके सामने था। उसको पाखंडी अथवा चर्षणी नहीं कह सकते। उसके लिए द्विविधा या उलझन का अनुभव नहीं करना चाहिए। इस प्रकार श्रीमहाप्रभुजी के कहने का आशय है कि 'चर्षणी' शब्द ऐसा है जिसमें प्रवाह भी आ सकता है और चर्षणी भी आ सकता है। प्रत्येक चर्षणी प्रवाही होता है ऐसा वे नहीं कह रहे।

''**सम्बन्धिनस्तु ये जीवा:**'' अर्थात पुष्टिमार्ग अथवा मर्यादामार्ग से सम्बन्ध रखनेवाले जीव को और ''**प्रवाहस्थास् तथाऽपरे**'' - दूसरे प्रवाहमार्गीय जीव को, सबको, हम पारिभाषिकरूप से 'चर्षणी' कह सकते हैं क्योंकि वे स्थिर रहनेवाले जीव नहीं हैं। प्रवाहस्थजीव किसी एक स्थान पर स्थिर नहीं रह सकता। हम ऐसा कह सकते हैं कि चर्षणी के दो भाग कर दें। एक प्रवाही और दूसरा अ-प्रवाही। अब अ-प्रवाही चर्षणीजीव होना क्या है? वह पुष्टि और मर्यादा का कोई अलग ही प्रकार है अथवा पुष्टि और मर्यादा का कोई अतिजघन्य प्रकार है अथवा पुष्टि, मर्यादा और प्रवाह के अन्तर्गत कोई प्रकार है।

आगे ग्रन्थ उपलब्ध हो तो ज्ञान हो, बाकी मुझे इस विषय का आजतक कोई हल अथवा निराकरण नहीं मिला। इसलिए आचार्यचरण का तात्पर्य क्या है, वह मालूम नहीं पड़ता। जो कुछ भी शब्द से व्यक्त हुआ है वह बहुत ही मजेदार है। हमें साफ-साफ, स्पष्टरूप से इस प्रकार के विशिष्ट लक्षणवाले अथवा चर्षणी प्रकार की अस्थिर मनोवृत्तिवाले जीव कई स्थानों पर दिखाई देते हैं और इस प्रकार के चर्षणी लक्षणवाले जीव खतरनाक हैं। अत: हम इतना तो समझ सकते हैं कि कई बार चर्षणी के द्वारा भटका दिए जाएँ तो उनसे सावधान रहने की बहुत आवश्यकता है। प्रवाही से सावधान रहने की इतनी आवश्यकता नहीं, क्योंकि प्रवाही को हम समझ सकते हैं कि यह प्रवाही है, परन्तु चर्षणी को समझना बहुत ही मुश्किल है। वह टेढ़ी खीर जैसा होता है।

श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि **'''चर्षणी' शब्द-वाच्यास्ते ते सर्वे सर्व-वर्त्मसु , क्षणात् सर्वत्वम् आयान्ति''** - वे प्रत्येक मार्ग में, जिस किसी भी मार्ग में भटकने जाते हैं, उसमें महान् सिद्ध हो जाते हैं। परम भगवदीय हो जाते हैं, आदरणीय/ आदरणीया वैष्णव (बापा, बापी) हो जाते हैं, कुछ भी हो जाते हैं। **''रुचिस्तेषां न कुत्रचित्''** - उनकी वास्तविक रुचि एक मार्ग का अनुसरण करने की होनी चाहिए परन्तु किसी भी मार्ग का अनुसरण करने की नहीं होती। ऐसे बदमाश (गिलिण्डर) होते हैं।

उनको फल क्या मिलेगा? देखिए, श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं **''तेषां क्रियानुसारेण सर्वत्र सकलं फलम्''** - उन्होंने जैसा काम किया वैसा उनको अपनी क्षणिक रुचि के अनुरूप क्षणिक फल मिलता रहता है। अर्थात् अभी भगवान के नाम पर उनकी आँखों से टप-टप आँसू बहने लगेंगे और थोड़ी देर बाद भगवान को गाली देने लगेंगे। अभी वे कृष्ण के लिए रोते हुए दिखेंगे और कल वे राम के लिए रोने लग जाएंगे, परसों शिवजी के लिए रोने लगेंगे, फिर कभी चर्च में जा कर रोने लगेंगे कि अरे, यीशु बिना हमारा उद्धार कौन करेगा।

जिस बेचारे पुष्टिमार्गीयजीव को हृदय के भाव को तन्मय करने में पन्द्रह वर्ष लगते हैं तो चर्षणी को पन्द्रह मिनिट भी नहीं लगते। आने के साथ ही उनको ऊँ-ऊँ करके कृष्ण के नाम पर रोना आ जाए और जब तक हम समझें कि वह रो रहा है तब तक तो ''बोलो बालकृष्णलाल की जय, बोलो श्यामसुन्दर श्रीयमुना महारानी की जय'' दूसरी ही कथा शुरू हो जाती है। पता ही नहीं चलता कि क्या चक्कर है। अभी रो रहा था और अभी हँसना कैसे आ गया? इस प्रकार चर्षणी की माया अपरम्पार है।

''सर्वत्र सकलं फलम्'' - उसको सब फल मिल जाता है परन्तु जो

भी फल मिलता है वह क्षणिक ही मिलता है। उस फल में भी वह स्थिर नहीं रह सकता, उसकी रुचि भी स्थिर नहीं रहती और उसकी क्रिया भी स्थिर नहीं रहती। अब देखें कि ग्रन्थ कैसे मोड़ पर आ कर खण्डित हो गया। आपको ग्रन्थ की तकलीफ समझ में आई होगी। अब श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं **''प्रवाहस्थान् प्रवक्ष्यामि''** - इस प्रकार चर्षणी का निरूपण करने के पश्चात् अब मैं प्रवाहस्थजीव की बात बता रहा हूँ।

निश्चय ही प्रवाह से चर्षणी कोई अलग प्रकार है। इतना संकेत हमें मिल ही रहा है। क्योंकि प्रवाहस्थ एक निर्णीत अथवा निश्चित प्रकार है और चर्षणी कोई निश्चित प्रकार नहीं है। प्रवाहस्थ का कोई निर्धारित, निश्चित फल होता है, चर्षणी का कोई निर्धारित फल नहीं होता।

अब आगे प्रवाहमार्ग का वर्णन करते हैं।

(प्रवाहमार्गे जीवा [ख/2/य] नां भेदः) - जीवों के भेद बता रहे हैं। ''ख-2-य'', 'ख' अर्थात् प्रवाह, ''2'' अर्थात् सर्ग और ''य'' अर्थात् जीव। इस समीकरण को भलीभाँति समझ लिया तो **''प्रवाहमार्गे जीवानां भेदः''** स्पष्ट दिखाई दे रहा है। शीर्षक के अनुसार प्रवाहमार्ग में जीव के भेद का हमारे लिए प्रतीकरूप चिह्न ''ख-2-य'' है।

प्रवाहस्थान् प्रवक्ष्यामि स्वरूपा[ख/2/य]ऽङ्ग[ख/2/र]-क्रिया[ख/2/ल]युतान्।।23।।
जीवास्[ख/2/य] ते ह्यासुराः सर्वे ''प्रवृत्तिं चेति'' वर्णिताः।
ते च द्विधा प्रकीर्त्यन्ते ह्यज्ञ-दुर्ज्ञ-विभेदतः।।24।।
दुर्ज्ञास्ते भगवत्प्रोक्ता ह्यज्ञास् तान् अनु ये पुनः।
प्रवाहेऽपि समागत्य पुष्टिस्थस् तैर् न युज्यते।।25।।
सोऽपि तैस् तत्कुले जातः कर्मणा जायते यतः।

अन्वयार्थ :

स्वरूपाङ्ग-क्रिया-युतान् = स्वरूप, अंग और क्रिया सहित
प्रवाहस्थान् = प्रवाहमार्गियों को
प्रवक्ष्यामि = भलीभाँति कहूँगा
ते = वे, **सर्वे** = सभी
जीवाः = जीव, **हि** = निश्चितरूप से
आसुराः = आसुर (**सन्ति** = हैं)
प्रवृत्तिं च = प्रवृत्ति और
इति = इस प्रकार से
वर्णिताः = वर्णित
(**सन्ति** = हैं) **च** = और
अज्ञ-दुर्ज्ञविभेदतः = अज्ञ और दुर्ज्ञ के भेद से
द्विधा = दो प्रकार के
प्रकीर्त्यन्ते = कहे जाते हैं (**ये** = जो)
भगवत्प्रोक्ताः = भगवान द्वारा कहे गये हैं
ते = वे, **दुर्ज्ञाः** = दुर्ज्ञ
ये = जो, **पुनः** = फिर
तान् = उनको, **अनु** = अनुकरण करते हैं
ते = वे, **अज्ञाः** = अज्ञ हैं
पुष्टिस्थः = पुष्टिमार्ग में रहा हुआ
प्रवाहे = प्रवाहमार्ग में
समागत्य = आकर, **अपि** = भी
तैः = उनके (**सह** = संग)
न = नहीं, **युज्यते** = मिल जाता है

सः = वह, **अपि** = भी
तैः = उनसे (**न** = नहीं, **युज्यते** = मिल जाता है)
यतः = क्योंकि
कर्मणाः = कर्मों से
तत्कुले = उस कुल में
जातः = जन्मा (**अस्ति** = है)

भावार्थ : स्वरूप, देह और क्रिया से युक्त प्रवाहमार्गीयजीवों के विषय में कहूँगा। ''प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः'' इत्यादि श्लोकों से गीताजी में जिनका वर्णन भगवान ने किया है वे सब आसुर (प्रवाही) जीव हैं। वे जीव अज्ञ और दुर्ज्ञ, इन दो भेदों से दो प्रकार के कहे गये हैं, यह निश्चय है। जो जीव उन आसुरी का अनुकरण करते हैं वे 'अज्ञ' कहे जाते हैं।

जो पुष्टिमार्गीयजीव हैं वे भगवान का अथवा भक्त का अपराध करें तो उनका जन्म आसुर कुल में होता है। तथापि प्रवाह में आकर भी वे आसुर धर्म में आसक्त नहीं होते हैं।

व्याख्या :

स्वरूप अर्थात् 'ख-2-य' तथा अंग अर्थात् 'ख-2-र' और क्रिया अर्थात् 'ख-2-ल' हैं। चिह्नों का तात्पर्य श्लोक-1 के अनुसार इस प्रकार है - क=पुष्टि, ख= प्रवाह, ग=मर्यादा, 1=मार्ग, 2=सर्ग, 3=फल, य=जीव, र=देह, ल=क्रिया। अब यह समीकरण स्पष्टरूप से आपको समझ में आ गया होगा।

अब ध्यान से देखें कि 'जीवास्ते' अर्थात् 'ख-2-य' प्रवाह के सर्ग और जीव हैं। 'ह्यासुराः सर्वे' - वे सब जीव आसुर हैं। अर्थात् सभी आसुरीजीवों को प्रवाहमार्गीय समझना चाहिए (गीता-16-7)। और यहाँ ध्यान देंगे तो ज्ञात होगा कि यहाँ हमारे पास कोई रक्षणात्मक उपचार या निराकरण है अर्थात् कोई

लक्षण या विशेषता है जिससे हम निर्णय कर सकते हैं कि ये आसुर हैं। चर्षणी का निर्णय करना अथवा पहचानना कठिन है। क्योंकि हम निर्णय करने का प्रयत्न करें उसी बीच वह दूसरे मार्ग में चला गया होगा। चर्षणी के माहात्म्य का हम निर्णय करने जाएँ तब तक तो उसने अपना रूप ही बदल लिया होगा।

जैसे बहुत दूर के तारे के विषय में खगोलशास्त्री कहते हैं कि उस तारे के बारे में कुछ भी निर्णय करना चाहें कि वह क्या है, वह उत्पन्न हो रहा है अथवा खत्म हो रहा है तो तारे का अन्तर इतना दूर है कि हम निर्णय लें उससे पहले वह वहाँ से खत्म भी हो गया होता है। अभी कल एक खगोलविज्ञानी ने उत्पन्न होता हुआ तारा देखा। गत वर्ष उत्पन्न होते दिखाई पड़ा था और वह घटना दो या तीन करोड़ वर्ष पहले की थी अर्थात् तब उत्पन्न हुआ था, ऐसा वैज्ञानिक कह रहे हैं।

अब आज की तारीख में वह उत्पन्न हो गया है और जहाँ उत्पन्न हुआ दिखाई दिया वहीं का वहीं है अथवा खत्म हो गया, यह ज्ञात नहीं होता। आने वाले दो करोड़ वर्ष बाद वापस ज्ञात होगा क्योंकि वह दो करोड़ वर्ष पूर्व उत्पन्न हुआ था और अब गत वर्ष उत्पन्न हुआ। जबतक यह समझा जाए कि इसमें क्या कारण है तबतक वह वहाँ होगा कि नहीं, प्रश्न यह है।

चर्षणीजीव का स्वभाव भी ऐसा ही होता है कि हम समझने जाएँ कि यह क्या है तब तक तो वह अन्यमार्ग ग्रहण कर लेता है। पहले मुझे एक वैष्णव ने कहा था कि पुष्टिमार्ग-पुष्टिमार्ग करते हैं तो यह क्या है? 500 वर्ष पुराने सिद्धान्तों के बारे में अब माथा-पच्ची करने से क्या फायदा? भाई, 500 वर्ष पुराने सिद्धान्त हैं तो आप इसमें किसलिए आए? उसने कहा कि भले ही आप मुझे पुष्टिमार्गीय न माने पर सारी दुनिया मुझे गौ-भक्त के रूप में तो जानती है, इसलिए गौ-भक्त मान लें। मैंने कहा कि गौ-भक्त तो जैन लोग भी बहुत हैं, उसमें आपसे मुझे क्या लेना-देना? चर्षणी कहीं भी नाच आता है, कहीं भी गा

आता है, उसका पता ही नहीं चलता, हमें समझ ही नहीं आता कि वह क्या है?

चर्षणी को पहचानने के लक्षण क्या हैं? ''प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः'' (गीता 16/7)। किसमें प्रवृत्त होना, किससे निवृत्त होना इस विषय में वे बिलकुल बेपरवाह होते हैं। जो किसी की परवाह न करता हो, जिसमें इच्छा हो उसमें प्रवृत्त हो जाए, जिस काम में प्रवृत्त होना हो उसमें प्रवृत्त हो जाए, जिस काम से निवृत्त होना हो उससे निवृत्त हो जाए, जिसको शास्त्र की तनिक भी परवाह न हो - ऐसा जीव आसुरी है। गीताजी का यह श्लोक बहुत सुन्दर है और श्रीमहाप्रभुजी ने यह उपलक्षणविधि से बताया है।

इस प्रकार जिस समय हमें यह प्रतीत हो कि प्रवृत्ति-निवृत्ति की कोई विभाजक-रेखा है, जिसे निभाने की इच्छा न हो तो हमें अनिश्चयाकार अनुमान कर लेना चाहिए कि यह आसुरीजीव है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि कोई निश्चित समझ हमें न दिखाई देती हो तो हमें अनिश्चयाकार अनुमान कर लेना चाहिए कि वह चर्षणी भी हो सकता है अथवा आसुरी भी। अब जब हमें ऐसी निश्चित समझ किसी में दिखाई दे रही है, हमारी समझ में ऐसी लाक्षणिकता निश्चितरूप से हमें दिखाई दे रही है तो उसको आसुरी मान कर चलना बेहतर है।

''**ते च द्विधा प्रकीर्त्यन्ते ह्यज्ञ-दुर्ज्ञ-विभेदतः**'' - जैसे पुष्टिजीव के दो प्रकार बताए हैं उसी प्रकार आसुरीजीव के भी दो भेद बता रहे हैं। ''**दुर्ज्ञास् ते भगवत्प्रोक्ता ह्यज्ञास्तान् अनु ये पुनः**'' - अर्थात् दुर्ज्ञ वे हैं जो तुरन्त ''**प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः**'' - उनको हमें तत्काल दुर्ज्ञ समझ जाना चाहिए। जो उनका अनुसरण करनेवाले आसुरीजीव हैं अर्थात् अपनी रुचि के कारण, समझ के कारण, निष्ठा के कारण, प्रवृत्ति-निवृत्ति की विभाजक रेखा का वे उल्लंघन नहीं कर रहे परन्तु किसी के अनुसरण के कारण उल्लंघन कर रहे हैं, उनको अज्ञ समझना चाहिए।

यहाँ यह याद रखें कि वह अज्ञ वापस चर्षणी भी हो सकता है और चर्षणी, अज्ञ भी हो सकता है। बात केवल इतनी ही नहीं, इस प्रकार का अज्ञ कोई पुष्टिजीव भी हो सकता है जो किसी दुर्ज्ञ आसुरी के चक्कर में फंस कर उसका अनुसरण करने लग जाता है। कोई मर्यादा का जीव भी हो सकता है जो किसी दुर्ज्ञ आसुरी के चक्कर में फंस जाता है। अब इस स्तर पर आ कर यह ग्रन्थ अधूरा रह गया है। इसलिए हम तय नहीं कर सकते कि आगे आचार्यचरण क्या कहना चाहते हैं परन्तु जो बात कह रहे हैं वह इतनी तो स्पष्ट है कि यदि पुष्टिजीव, प्रवाह में आ गया तो वह कभी प्रवाह के साथ घुल-मिल नहीं सकता, खुश नहीं रह सकता, उसके अनुकूल नहीं हो सकता। उसे कुछ न कुछ विक्षोभ होता ही रहेगा। **''सोऽपि तैस् तत्कुले जातः''** - और प्रवाहीजीव पुष्टिमार्ग में आ गया तो चाहे उसे कंठी दे दें, ब्रह्मसंबंध दे दें, उसके माथे श्रीठाकुरजी पधरा दें लेकिन वह अयोग्य का अयोग्य ही रहेगा। क्योंकि वह मूल में तो प्रवाहीजीव है। वह मर्यादा में आ गया तो मर्यादा में भी वह अनुपयुक्त ही रहेगा क्योंकि वह प्रवाहीजीव है। इस प्रकार जो अनुपयुक्त जीव हैं और वे स्वयं अपनी प्रवृत्ति से, प्रवृत्ति-निवृत्ति की विभाजक रेखा का उल्लंघन कर रहे हैं तो उनको स्पष्ट रूप से दुर्ज्ञ समझ लेना चाहिए। यदि किसी के बहकावे में आ कर प्रवृत्ति-निवृत्ति की विभाजक रेखा का उल्लंघन कर रहे हैं तो उनको अज्ञ आसुरी समझना चाहिए।

अब आज की तारीख में अपने सामने जो प्रश्न है वह केवल यह है कि अज्ञ आसुरी क्या प्रवाही का प्रकार है अथवा चर्षणी का प्रकार है अथवा पुष्टिजीव, दुर्ज्ञ आसुर का अनुयायी हो गया और इससे उसमें किसी प्रकार के आसुरावेश के कारण अज्ञता रही हुई है अथवा जो मर्यादाजीव है वह प्रवाही दुर्ज्ञ आसुर का अनुगामी हो गया और इससे उसमें आसुरावेश के कारण अज्ञता प्रकट हो रही है। इस समग्र प्रकरण में आचार्यचरण क्या निरूपण करना चाहते

थे, यह आज की तारीख में हमारे पास, हमारे लिए एक गम्भीर समस्या है जिसका निराकरण ग्रन्थ के अधूरा रह जाने से मिलना कठिन है।

इस विषय से सम्बन्धित आंशिक निराकरण सुबोधिनी में प्राप्त होता है। चर्षणी का तो अधिक नहीं है परन्तु इस विषय में थोड़ा उसे भी मैंने रेखांकित किया हुआ है। कभी हम इस परिस्थिति की व्याख्या-विश्लेषण का सिलसिलेवार उपक्रम करेंगे कि श्रीमहाप्रभुजी के स्वयं के शब्द क्या हैं। जैसे हम प्रह्लाद के उदाहरण से समझ सकते हैं, अक्रूरजी के उदाहरण से समझ सकते हैं, कौरवों में हम भीष्म के उदाहरण से समझ सकते हैं। प्रभु के ऐसे बहुत से भक्त थे जिनका समूचा निर्माण प्रवाही था परन्तु उसमें वे बेचारे अनुपयुक्त थे। वे स्वयं उसमें कभी भी अनुकूल नहीं हो सके और इसके विपरीत पुष्टिमार्ग में आए हुए प्रवाहीजीव जो पुष्टिमार्ग में अनुकूल नहीं हो सके वैसे आज बहुत से हैं। एक ढूँढो तो हजार मिलेंगे, मिलते ही रहेंगे, ढूँढने की भी आवश्यकता नहीं है। हमें प्रतिदिन उनका साक्षात्कार होता है।

(इतो ग्रन्थस्य 'ख' भागे '2/र-ल' अंशयोः '3' अंशस्य च; तथैव 'ग' भागे '2/य-र-ल' + '3' अंशानामपि त्रुटिः)

यह ..... (बिन्दु) बताकर मैंने ग्रन्थ में त्रुटि होने की सूचना दी है और कोष्ठक में यह कह रहा हूँ कि ग्रन्थ के 'ख' भाग में 2 और '2-ल' अंश और 'ख' भाग में तीसरा अंश भी छूट गया है। इसी प्रकार 'ग' भाग में '2-य', '2-र' और '2-ल' और तीसरा भाग छूट गया है। इतना अंश इस ग्रन्थ में छूट गया है। वह था या नहीं था अथवा तो खो गया, यह ज्ञात नहीं है।

समग्रतः पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थ हम यों समझ सकते हैं कि प्रत्येक पुष्टिजीव के समक्ष श्रीमहाप्रभुजी ने एक दर्पण प्रस्तुत किया है कि कोई आपके बारे में निर्णय ले उसके पूर्व आप स्वयं अपना चेहरा इस पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थ

के दर्पण में देख लें। इस चेहरे को देख कर समझ जाएँ कि आप पुष्टिजीव हैं तो आगे सिद्धान्त-रहस्य ग्रन्थ शुरू हो रहा है और पुष्टिजीव नहीं हैं तो व्यर्थ ही किसलिए सिद्धान्त-रहस्य शुरू करना? मूल बात इतनी सी है।

यदि आप प्रवाहीजीव हैं तो पुष्टिमार्ग ने आपका क्या बिगाड़ा है कि आप पुष्टिमार्ग को बिगाड़ना चाहते हैं, पुष्टिमार्ग आपका कुछ नहीं बिगाड़ना चाहता तो आप किसलिए पुष्टिमार्ग को बिगाड़ते हैं? जहाँ जाना हो वहाँ जाओ। क्योंकि सिद्धान्तमुक्तावली में सेवा की जब बात आई तो हमने देखा था कि सेवा के साथ सेव्य की बात आई थी और सेव्य के साथ सेवाकर्ता की बात आई थी। अत: सेवाकर्ता के उत्तम, मध्यम और अधम अधिकार तक तो पुष्टिजीव की सीमा का विस्तार हो सकता है परन्तु जहाँ से पुष्टिमार्ग में अधम अधिकार भी निवृत्त हो रहा है उसके पश्चात् यदि कोई पुष्टिमार्ग में घुसपैठ करता दिखाई दे रहा है तो सबसे उत्तम बात यह है कि पुष्टिप्रवाहमर्यादा के दर्पण में अपना चेहरा देख लें।

सुन्दर और सार की बात तो यही है। यह सम्भव न हो तो फिर हमें भी किसी को आईना दिखाना चाहिए - **''आईने से बिगड़के बैठ गए, जिनकी सूरत जिनको दिखाई गई''** - गुस्सा आता हो तो भले ही आए, गाली देते हों तो वह भी खानी चाहिए। इसमें क्या जाता है? आईना बताने पर किसी को गुस्सा आए और वह कहने लगे कि तुमने मेरा फोटो बिगाड़ दिया तो भाई, फोटो नहीं बिगाड़ा, आपका चेहरा बिगड़ा हुआ है, मात्र आईना दिखाया है।

सर्वोत्तम बात यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को इसके लिए प्राचीनकाल के नियम के अनुसार शयनकक्ष में एक आईना रखना चाहिए ताकि सवेरे उठ कर पहले भगवान का ध्यान करके अपना चेहरा देखे ले। बाद में पूरे दिन आपको याद रहेगा कि आप कौन हैं? किसी और का चेहरा देखने से पहले अपने यहाँ यह अपना नियम था। यह नियम जान कर हम श्रीठाकुरजी को भी कहें कि

आप अपने कमलनयन से दर्शन कर लें कि कौन आया है जिससे हमारे साथ व्यवहार में आपको भी ठीक लगे और हमें भी आपके साथ व्यवहार में ठीक लगे।

अत: सदैव श्रीठाकुरजी के चरणारविन्द की तरफ अथवा सुविधा हो तो चारों तरफ देख लें। प्राचीन प्रकार यही था कि स्वयं को देखने के लिए दर्पण रखते थे। यह मुझे अच्छा लगा कि एक बार अपना चेहरा देख लें फिर पूरे दिन न देखें तो भी हर्ज नहीं है लेकिन सवेरे जब स्वस्थ चित्त से हम उठें तो एक बार स्वयं को पहचान लें कि हम क्या हैं? इसके बाद सारा कामकाज भलीभाँति चल सकता है। अत: श्रीमहाप्रभुजी ने हमें आईना दिखा दिया है और उसे देखने के बाद हम यदि पुष्टिजीव हैं तो श्रीमहाप्रभुजी हमें सिद्धान्त-रहस्य समझा रहे हैं।

यह बात ध्यान से समझ लें कि संस्कार की सारी बातों को कल मैंने इसलिए आग्रहपूर्वक स्पष्ट किया था और दाग (जीरम) की बात इसलिए बताई थी कि संस्कृत होने की प्रकिया को सहने से जीव की सच्चाई प्रकट होती है। संस्कार को सहन नहीं कर पाने से जीव की अन्य नकारात्मक सच्चाई प्रकट हो जाती है। जैसे हीरा घिसने पर एकदम चमकदार निकला, बिना दाग के, तो वह कीमती हो जाएगा। गढ़ने के दौरान हीरे में दाग दिखाई देता है तो उस हीरे का मूल्य घट जाता है।

कई बार ऐसा भी होता है कि जो पत्थर होता है वह मूल में हीरे जैसा दिखाई नहीं देता। अनुभवी आँख को ही पता लग पाता है कि यह हीरा है, बाकी दूसरों को पता नहीं लगता कि यह हीरा है। इसलिए थोड़ा बहुत घिसने पर ज्ञात होता है कि हीरा ही है और हीरा है तो किस गुणता का है। अत: संस्कार सहने की क्रिया के दौरान ही पता लगता है। इस संस्कार के कारण प्रवाही जीव, पुष्टिजीव नहीं हो जाता, प्रवाहीजीव, मर्यादाजीव नहीं हो जाता परन्तु

जिसे हम प्रवाहमय समझ रहे थे वह यदि मर्यादा के संस्कार को सहन कर ले तो सिद्ध हो जाता है कि वह मर्यादाजीव है।

इसी प्रकार मर्यादा के संस्कार से संस्कृत जो जीव है वह भगवत्स्वरूपासक्त हो जाए तो हमारे पास प्रमाण आ गया कि यह पुष्टिजीव है। प्रवाहीजीव अथवा मर्यादाजीव, पुष्टिजीव नहीं होते। अब रही बात चर्षणी की, तो चर्षणी के विषय में हम स्वयं ही हैरान हैं कि चर्षणीजीव कैसा है? ग्रन्थ अधूरा छूट जाने के कारण कुछ भी कहना बहुत कठिन है। कुछ भी कहेंगे तो लोंगजम्प या हाईजम्प हो जाएगा। इसलिए किस प्रकार निश्चय करना? जब हम आज की तारीख में निर्णायक दृष्टि से तय नहीं कर सकते कि आचार्यचरण निश्चयात्मकरूप से चर्षणी को क्या कहना चाह रहे हैं तो हमें कैसे पता चले? अत: कोई संस्कारित चर्षणी जिसे हम चर्षणी समझ रहे हैं, वह किसी संस्कार से सुसंस्कृत होने के बाद मर्यादा में स्थिर हो रहा है अथवा पुष्टिमार्ग में स्थिर हो रहा है तो हमें अनिश्चयाकार अनुमान ऐसे ही करना होता है कि जिसमें स्थिर हुआ है उसमें उस प्रकार का जीव होगा। इससे अधिक जीव के बारे में हमें क्या पता चल सकता है? हम तो देह और क्रिया को पहचान सकते हैं। जीव को पहचानना तो अपने वश की बात नहीं।

जैसे एक मनुष्य ने श्वास छोड़ दिया तो उसमें से जीव निकल गया कि नहीं निकला, यह हमें पता नहीं चलता। श्वास छोड़ दिया तो हम समझते हैं कि जीव निकल गया होगा। बहुत से ऐसे भी होते हैं कि श्मशान में पहुँचाने के बाद बैठे हो जाते हैं। सभी भूत समझ कर घर भाग आते हैं। इसलिए ऐसे बहुत से जीव होते हैं जिनकी अर्थी बना कर श्मशान में ले जाते हैं और वे वापस आ जाते हैं।

अतएव, प्राण निकल गए अथवा नहीं निकले हम नहीं समझ सकते। शरीर को देख कर हम केवल अनुमान लगा सकते हैं कि श्वास नहीं ले रहा,

बोल नहीं रहा, निश्चेष्ट पड़ा है तो कदाचित् प्राण निकल गए होंगे। बाकी वास्तव में प्राण निकले या नहीं निकले यह कैसे समझ सकते हैं! इस प्रकार जीव तो हमें समझ में आता हो तभी समझ सकते हैं। शरीर को हम समझ सकते हैं, शरीर की क्रिया को समझ सकते हैं कि अमुक व्यक्ति जीवित की भाँति क्रिया कर रहा है अथवा मृतव्यक्ति की भाँति क्रिया कर रहा है पर जीव के सम्बन्ध में इदम् इत्थं तया निर्धारण करना बहुत मुश्किल है।

थोड़ा विषयान्तर है, आपने पूछा इसलिए बता रहा हूँ। समझने लायक बहुत गहरी और सुन्दर बात है। यदि ऐसा न हो तो प्रत्येक व्यक्ति क्रूर हो जाएगा। निश्चयपूर्वक हमें यदि यह ज्ञात हो जाए कि आज की तारीख में कौन प्रवाहीजीव है और कौन दुर्ज्ञ है तो प्रत्येक पुष्टिमार्गी ए.के.47 लेकर मारने दौड़ेगा कि मारो , मारो। जैसे जीवन-मरण का अधिकार भगवान ने मनुष्य को नहीं दिया उसी प्रकार जीव के स्वरूप के निर्धारण का अधिकार भी प्रभु ने हमको नहीं दिया। कुछ अनिश्चित अनुमान हम कर सकते हैं परन्तु निर्णय करने का अधिकार नहीं है और यह बहुत अच्छी बात है।

अगर ऐसा न हो तो हम तनुवित्तजा सेवा करें और मान लें कि कोई यह कहे कि यह तो आसुरीजीव है। तनुवित्तजा क्यों करता है, तनुजा और वित्तजा क्यों नहीं करता इसलिए मारो, मारो। हम कहें कि भाई, हम आसुरीजीव नहीं हैं बल्कि श्रीमहाप्रभुजी वचन कर रहे हैं और आप वचन का गलत अर्थ कर रहे हैं कि मारो, मारो। इस प्रकार अपने सम्प्रदाय में भी ऐसी हिंसावृत्ति उत्पन्न हो सकती है कि यह तनुवित्तजा नहीं कर रहा, तनुजा और वित्तजा कर रहा है, इसलिए मारो, शूट करो, फांसी पर चढ़ाओ।

अत: ऐसी बातों के कारण कई बार धर्म, हिंसाप्रधान हो जाता है। कुछेक जो प्रभु के अधिकार हैं, उनको हम अपने हाथ में लेना चाहते हैं लेकिन जो प्रभु के अधिकार हैं उनको प्रभु के हाथ में ही रहने देने में भलाई है। जो

अधिकार अपने हाथ में हैं, उतनी ही सीमा में हम यथाधिकार काम करें तो ठीक है अन्यथा अनधिकार चेष्टा हुए बिना नहीं रहेगी। यह बात विशेषरूप से समझना बहुत आवश्यक है।

एक बार इसी प्रकार की मारपीट हो गई। जैन बेचारे अहिंसक और बौद्ध भी अहिंसक। फिर भी जैनों में और बौद्धों में इतनी मारपीट हुई कि 800 जैन साधु और कितने ही बौद्ध साधु भीतर ही भीतर लड़-कट कर मर गए, बहुत छोटी सी घटना के कारण। इसीलिए सब लोगों के हाथ में हथियार ना होना ही अच्छा है। श्रीमहाप्रभुजी ने हथियार रखने का लाईसेन्स किसी को नहीं दिया, प्रभु के हाथ में छोड़ दिया है क्योंकि हम बिलकुल अनजान हो कर व्यवहार करेंगे तो हमारा सत्यानाश हो जाएगा।

मान लें कि हमारे हाथ में हथियार आ गया तो हमें किसी को मारने की इच्छा हो जाएगी। दूसरे के हाथ में हथियार रहेगा तो वह हमें मार देगा। इसलिए दोनों बातों की सावधानी रखने के लिए उचित यही है कि जहाँतक सम्भव हो, हथियार किसी के हाथ में न रहे। यही उत्तम बात है। व्यवहार में सबको सावधानी रखनी चाहिए क्योंकि किसको पता है कि किसके हाथ में हथियार है!

आजकल सब अच्छे-अच्छे घर बनाते हैं। लाखों-करोड़ों रुपए रखनेवाले गुंडे सब जेल के बाहर रहते हैं और सज्जनों को सबको जेल में रहना पड़ता है। अपने बचाव के लिए हमें जालियाँ लगवा-लगवा कर जेल खड़ी करनी पड़ेगी क्योंकि बाहर जब गुंडे घूम रहे हैं तो चलो, आप बाहर घूम रहे हैं तो हम जेल में रहते हैं। और तो क्या कर सकते हैं! मैं जब भी जाली देखता हूँ तो मुझे लगता है कि सज्जनों को जेल हो गई क्योंकि बाहर गुंडे आ गए। वास्तव में गुंडे होने चाहिए थे सलाखों के अन्दर और सज्जन बाहर होने चाहिए परन्तु ठीक उल्टा हो गया है।

हमारे तातजी महाराज के साथ इसी प्रकार की कठिनाई थी। बहूजी सब दक्षिण से आए और उनको घूंघट निकालना नहीं आता था। तातजी बेचारे जोधपुर के, उनको यह बात असह्य हो जाती कि बहुएँ घूंघट बिना कैसे आती हैं? इसलिए जब भी कोई बहू बिना घूंघट के आती तो तातजी महाराज उपरणे का घूंघट निकाल लेते। क्या कर सकते थे?

गुंडालोग सब बाहर आ गए तो हमें जाली लगा कर जेल में बैठ जाना चाहिए कि चलो भाई, हम अपनी जेल में कैद। क्या करें? इसी प्रकार पुष्टिमार्ग में समझ लें कि गुंडे बाहर हों तो हमें अपनी जेल में बैठना चाहिए। इसीलिए मैं कहता हूँ कि बहुत भटकना नहीं। एक अपनी जाली बनवा कर उसमें बैठ जाएं अन्यथा आपको गुंडे लूट लेंगे। यही कह सकता हूँ, बाकी मारने तो किसको जाएं? किसके साथ लड़ने जाएँ?

एक बार एक व्यक्ति को मैंने समझाया था कि भाई, दूसरे की सेवा में अवांछित टोका-टोकी न किया करो क्योंकि उसे टोका-टोकी की आदत थी। उसने सबको इसी बात की टोका-टोकी शुरू कर दी, इसका अन्त कैसे आए? मनुष्य की आदत खराब हो तो जिसके स्वभाव में अभिमान है, उसको हम कह दें कि अभिमान नहीं करना तो उसे इस बात का अभिमान हो जाता है कि मुझे अभिमान नहीं है। आप अभिमान क्यों करते हैं? अरे छोड़ दो भाई, मैं तेरी गाय, छोड़ दो मुझे। किसी भी प्रकार से उसे समझा दें कि उसका अभिमान का स्वभाव नहीं है तो उसको इसी बात का अभिमान आ जाता है। इस अभिमान को वह छोड़ नहीं सकता। दूसरे दस बखेड़े करेगा क्योंकि स्वभाव ही अभिमान करने का हो गया। बस यही चक्कर है।

मैंने एक बार एक जोक सुना था, आपने भी सुना होगा, अब तो यह प्रकार कम हो गया। दूध की दुकान पर दूधवाला भैया काफी ऊपर से बर्तन में दूध डालता है जिससे फेन (झाग) बढ़ जाते हैं और दूध ऊपर आता जाता है।

किसी ने यह देखा। उसने कहा कि एक मीटर दूध कितने का? अब दूध एक लीटर होता है या एक मीटर होता है? ऐसा करने से लोगों को ऊपर से नीचे एक मीटर दिखाई देता है। इसलिए कहा कि एक मीटर दूध के कितने पैसे - इसमें बेचारा दूध देनेवाला किस प्रकार समझे कि एक मीटर दूध के कितने पैसे?

जिसके पास माप का अंदाज नहीं वह माप किस प्रकार समझे? दूध के माप का अंदाज लीटर से होता है। अब ईसाइयत क्या है, मुस्लिम धर्म क्या है, यहूदी धर्म क्या है, यदि हमारे पास जो पैमाना (मापदण्ड) है उसका यह विषय न हो तो माप कैसे हो सकता है। हम एक मीटर दूध मापेंगे तो कोई किस प्रकार देगा? यही कठिनाई है। इसलिए इस विषय में चुप रहना ही अच्छा है। हमें नहीं पता चलता कि यह कितना दूध है? चुप रहना अच्छा है।

प्रश्न : चर्षणी ठीक से समझ में नहीं आया?

उत्तर : यही तो कठिनाई है क्योंकि ग्रन्थ इस स्थिति में आ कर अधूरा छूट गया है तो मैं निश्चयपूर्वक क्या कह सकता हूँ? आगे ग्रन्थ होता तो हम निश्चयपूर्वक कुछ कह सकते थे। अब जो कुछ थोड़ा बहुत हम कह सकते हैं, छोटा-मोटा कोई तुक्का लगा सकते हैं वह यह कि जिस प्रकार की शैली है उससे ऐसा लग रहा है कि चर्षणी कदाचित् स्वयं में ही कोई एक वैविध्यपूर्ण प्रकार है जो पुष्टिप्रवाहमर्यादा में नहीं मिल सकता। ऐसा ही कुछ है। ग्रन्थ आगे उपलब्ध नहीं है, बहुत ही कठिन मोड़ पर आ कर ग्रन्थ खण्डित हो गया अपने दुर्भाग्य से। मर्यादा का एक बहुत महत्त्वपूर्ण अंश छूट गया है, प्रवाह के भी कितने ही महत्त्वपूर्ण अंश छूट गए हैं तो क्या कह सकते हैं।

हम आगे बढ़ते हैं- यह प्राचीन बालकों का हम पर उपकार है कि षोडशग्रन्थ पर श्रीगुसांईजी के पश्चात् निरन्तर सभी बालकों ने यह सावधानी

रखी कि वे इन ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखते रहे। इसी वजह से ग्रन्थ आज हमें उपलब्ध भी हैं। नहीं होते तो क्या हालत होती? आज इन ग्रन्थों से किसका सम्बन्ध रह गया है? साधारण रूप से समझें कि आज हमारी ऐसी दुरवस्था है कि नवरत्न के पाठ करने से चिंता मिट जाए इसलिए कई वैष्णव नवरत्न के पाठ करते हैं। यमुनाजी के पाठ करने से पति मिल जाए, इस आशय से कई लड़कियाँ यमुनाष्टक का पाठ करती हैं। षोडशग्रन्थ के अन्य ग्रन्थों का पाठ कौन करता है? चार श्लोक का छोटा ग्रन्थ है इसलिए कई लोग गलती से ''सर्वदा सर्वभावेन'' का पाठ कर लेते हैं। बाकी तो सब षोडशग्रन्थ किनारे रख देते हैं। किसी को पाठ करना अच्छा नहीं लगता।

मैं अपने प्रत्येक प्रवचन में इसीलिए आग्रहपूर्वक यह बात बार-बार कहता ही रहता हूँ कि भाई, सम्पूर्ण षोडशग्रन्थ का पाठ रोज न करें तो एक-एक ग्रन्थ का पाठ रोज करें, जिससे अर्थ समझ में न आए तो कोई बात नहीं लेकिन कम से कम एक आवर्तन तो पूरा हो जाएगा। दस-पच्चीस आवर्तन पूरे होने पर हमारा प्रत्येक पाठ से कुछ तो संवाद होगा। इससे हम सभी ग्रन्थों का पाठ करते रहेंगे। हम चार ग्रन्थों का पाठ रोज करें, बाकी सब छोड़ दें। मैं तो कहता हूँ चार ग्रन्थों के पाठ के बदले एक-एक ग्रन्थ का पाठ रोज करें, रोज एक नए ग्रन्थ का पाठ करें। कम से कम श्रीमहाप्रभुजी ने जो हमें समझाने के लिए कहा है, वह हम बोलते रहेंगे, पाठ करते रहेंगे तो कभी तो श्रीमहाप्रभुजी के साथ संवाद का निर्माण हो ही जाएगा। आज तो हमने मौन धारण कर लिया है।

एक दिन मुझे एक बालक ने पूछा कि तनुवित्तजा का सिद्धान्त यदि इतना सच्चा था तो आजतक किसी को इसका पता क्यों नहीं चला? मैं भी अकुला गया कि इसमें मैं किसका अपराध बताऊँ - आपका या मेरा अथवा हमारे बाप-दादा का? तो कहने लगे कि नहीं, नहीं, मैं पूछ रहा हूँ कि किसी

को मालूम क्यों नहीं था? अब टीका पढ़ें तो सबको पता था और टीका नहीं पढ़ें तो किसी को भी पता नहीं था। ग्रन्थ पढ़ें ही नहीं तो जानकारी कैसे हो?

जो ग्रन्थ हमारे लिए लिखे गए हैं, जिन ग्रन्थों को लिख-लिख कर श्रीमहाप्रभुजी ने हमें आश्वासन दिया है कि ''एतत् बुद्धवा विमुच्येत पुरुषः सर्वसंशयात्'' इस संशय में ही जीने के लिए हम उन ग्रन्थों का पाठ भी न करें, अर्थ का विचार तो बहुत दूर है, तो इस मार्ग में हम भलीभाँति किस प्रकार चल सकेंगे? किस प्रकार इस मार्ग के प्रति हम अपनी निष्ठा निभा सकेंगे? एक ग्रन्थ का पाठ करना हो तो कितना समय लगता है। बहुत धीरे-धीरे करें तो अधिकतम पाँच मिनिट लगेंगे। हम श्रीमहाप्रभुजी के लिए इतना भी नहीं कर सकते तो इस मार्ग में किसलिए आना चाहिए? जान-बूझ कर ऐसे षड़यन्त्र किए गए हैं और अब तो ऐसी खराब स्थिति है कि बालक यह आज्ञा करने लग गए है कि पाठ न करें, अर्थ न करें अन्यथा पाखण्डी हो जाओगे।

श्रीमहाप्रभुजी के ग्रन्थों का पाठ करने से, श्रीमहाप्रभुजी के ग्रन्थों का अर्थ करने से हम पाखण्डी हो जाएंगे तो फिर हम किस तरीके से पुष्टिमार्गीय होंगे- कुरान पढ़ कर या बाईबल पढ़ कर? क्या पढ़ने से हम पुष्टिमार्गीय होंगे? यह एक गम्भीर समस्या हमारे मार्ग के सामने है। मैं तो हर समय हर व्यक्ति को यह बात कहता रहता हूँ कि भाई, एक पाठ रोज करो। अधिक नहीं होता है तो मत करो। बाकी दूसरी सभी बातें भूल जाएँ परन्तु श्रीमहाप्रभुजी के ग्रन्थों का, एक ग्रन्थ का पाठ रोज करें। कुछ तीन मिनिट में पूरा हो जाएगा। कभी अधिक हुआ तो पाँच मिनिट चलेगा। इस प्रकार वर्ष में आपने दस आवृत्ति कर ली तो कंठस्थ चाहे न हो पर हृदय-पटल पर श्लोक तो अंकित हो जाएगा। कितना फायदा होगा!

इन पाठों के बारे में वापस यह बात समझें कि अपरस का नियम नहीं है। सर्वोत्तमस्तोत्र के स्वरूप का जो पाठ है उसमें अपरस का नियम है। बाकी तो सब ऐसे पाठ हैं कि हम चाहें तो सोने के पहले कर सकते हैं, जागते हैं तब भी कर सकते हैं, नहा कर भी कर सकते हैं। लेकिन ऐसा कुछ नहीं करते। अपने यहाँ सम्पूर्ण प्रणाली भ्रष्ट कर दी गई है।

।। इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितः पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः सम्पूर्णः।।

।। सिद्धान्तरहस्यम् ।।

भूमिका :-

(अनेकविधदोषग्रस्तेन हि जीवेन दोषाशंकालेशरहितो भगवान् कथं सेवनीयो भवेदिति चिन्तानिवारणार्थं भगवता प्रादुर्भूय समर्पणपूर्वकसेवायां दोषाणां स्वसेवाऽबाधकताबोधनम्)

जीव अनेकविध दोषों से भरा हुआ है। वार्ताएँ पढ़ने से ही हमें सिद्धान्तरहस्य की उत्थानिका समझ में आएगी। यह कोई नई उत्थानिका नहीं। अनेकविध दोषों से घिरा हुआ जीव, दोषों की शंका के लेश से रहित जीव भगवान की सेवा किस प्रकार कर सकता है - यह मूल चिंता है। क्योंकि सिद्धान्तमुक्तावली में श्रीमहाप्रभुजी ने कहा है कि सेवा करो, जो दोष जीव में भरे हुए हैं, उन दोषों से भरा हुआ जीव सेवा किस प्रकार करेगा? और यदि सेवा करेगा तो निर्दोष भगवान से सदोषजीव का वार्तालाप किस प्रकार स्थापित होगा?

उदाहरण के लिए समझें कि संगीतशास्त्र का नियम है कि दो तानपूरे एक स्वर में मिले हुए हों तो एक तानपूरे के तार छेड़ने पर दूसरा तानपूरा बिना तार छेड़े भी गूंजने लगेगा बशर्ते कि दोनों एक स्वर में मिले हुए हों अर्थात् यदि दोनों निर्दोष हैं तो किसी एक को छेड़ने पर दूसरे में स्पंदन उत्पन्न होगा। यदि दोनों दो अलग-अलग सुर में मिले हुए हैं - एक सर्वविध दोष से भरा है और एक सर्वथा निर्दोष है तो किसी भी एक को छेड़ने से दूसरे में स्पंदन किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है? ऐसी स्थिति में इन दोनों में स्पंदन कौन उत्पन्न कर सकता है?

जैसे, उस दिन मैंने सर्वोत्तमस्तोत्र के प्रवचन में कहा था कि श्रीमहाप्रभुजी ऐसी शृंखला हैं जो दोनों को बजा रहे हैं, दोनों में स्पंदन उत्पन्न

कर रहे हैं। एक तरफ निर्दोषता के तार को स्पंदित कर रहे हैं और दूसरी तरफ सदोषता के तार को। ऐसी स्थिति के अभाव में आज जब श्रीमहाप्रभुजी हमारे बीच भूतल पर प्रकट नहीं हैं तो सदोषजीव निर्दोष भगवान की सेवा किस प्रकार कर सकेंगे? श्रीमहाप्रभुजी की यह जो चिंता थी, उस चिंता का निवारण है।

यह चिन्ता तर्कसंगत क्रम से कैसे निरूपित हुई है। सिद्धान्तमुक्तावली में सेवा, पुष्टिप्रवाहमर्यादा में जीव के दोष, इन दोषों के बाद चिन्ता तार्किक क्रम में एकदम पके आम की भाँति, पके नारियल की भाँति नीचे टपक रही है। इस रूप में सिद्धान्तरहस्य आ रहा है। सिद्धान्तमुक्तावली में सेवा, सेवाकर्ता और सेव्य तथा पुष्टिप्रवाहमर्यादा में उसके दोष और निर्दोषता का वर्णन है। जब यह बात हम समझेंगे तो यह बात भी बिलकुल सीधी सामने आ रही है कि निर्दोष प्रभु की सेवा सदोषजीव करे तो कैसे करे? अतः जो चिन्ता श्रीमहाप्रभुजी को सता रही थी उसमें प्रभु ने स्वयं प्रादुर्भूत हो कर और समर्पणपूर्वक सेवा करने पर दोषों के अबाधक होने का प्रबोधन किया है - ''सेवायां दोषाणां स्वसेवाऽबाधकता बोधनम्''

यह समर्पण का सन्दर्भ है। समर्पण का यह सन्दर्भ वैसा संदर्भ नहीं है जो आज हमने खड़ा कर दिया है कि वैष्णव, महाराज के यहाँ भेंट रख जाएँ उसका नाम समर्पण है। समर्पण का शुद्ध-शुद्ध संदर्भ यह था कि निर्दोष भगवान की सेवा सदोषजीव किस प्रकार कर सकता है। यह एक बात अनवधानतावश भी यदि आपके हृदय में स्थिर हो गई तो सारी भ्रान्तियाँ दूर हो जाएंगी।

समझनेवाला प्रश्न यह है कि निर्दोषप्रभु की सदोषजीव सेवा कैसे कर सकता है? सेवा की तो संवाद किस प्रकार करेगा और इसकी स्वीकार्यता किस प्रकार सिद्ध हो सकेगी? इस चिन्ता के निवारणार्थ प्रभु ने प्रकट हो कर

आश्वासन दिया कि समर्पणपूर्वक सेवा करने से ये दोष सेवा में बाधक नहीं रहते। इस समर्पण का हमने कितना विकृत अर्थ किया है कि बस, मन्दिर में भेंट धर आओ, लड्डू, पूरी की सेवा लिखवा दो और आपका समर्पण पूरा हो गया। इस प्रकार के समर्पण का प्रश्न यहाँ कहाँ आ रहा है!!

सिद्धान्तरहस्य में रहस्य की भाँति सिद्धान्त का समर्पण बताया जा रहा है। वह समर्पण यह है कि सदोषजीव निर्दोषप्रभु की सेवा कैसे करे। इस प्रकार के समर्पण की बात की जा रही है और यह समर्पण क्या कह रहा है कि उक्त दोष सेवा में बाधक नहीं रहेंगे। ऐसे समर्पण का अर्थ हमने आज यह कर दिया कि मन्दिर में भेंट लिखा आओ। मैंने इसीलिए यह पद बनाया है –

मंदिर के भीतर रहनेवाले दर्शन खाली हाथ करते जी।
और बाहर से दर्शन करनेवाले पुष्टिनियम अनुसरते जी।
गाँव के बीच बाजार है और बाजार के बीच मन्दिर जी।
ठाकुरजी के खाली हाथ दर्शन न हों अंदर जी।।

कोई भी महाराज श्रीठाकुरजी को भेंट नहीं धरते। किसी भी दिन जा कर देख लें, महाराज कभी भी भेंट नहीं धरते और आपको समझाते हैं कि खाली हाथ दर्शन नहीं होते।

यदि समर्पण का यह नियम सच्चा है, यदि इसका आशय श्रीठाकुरजी के खाली हाथ दर्शन नहीं करवाना है तो रोज कम से कम दिखावे के लिए तो (महाराज) एक-एक रुपया धराया करें। बाद में भले ही वापस अपनी जेब में डाल दें। कम से कम वैष्णव को तो यह नियम सच्चाई से समझा दें कि खाली हाथ दर्शन नहीं हो सकते। जब श्रीठाकुरजी को जगाएँ, जब मंगलाआरती करें, तुरन्त ले कर सवा रुपया तो न्यौछावर कर दें दिखावा करने के लिए। यार, प्रवंचना तो ठीक से करें। छलावे में भी वापस छलावा, छलावा भी ठीक से नहीं

कर रहे। कितना अंधेरखाता है! एक ढोंग तो यार कम से कम अच्छी प्रकार से करो कि जब सुबह मंगलाआरती करो तब सबसे पहले बहुत श्रद्धाभाव-भक्ति से आँख बंद करके नमन करो और फिर न्योछावर करो।

हमारे किशनगढ़ में मुखिया जी ऐसे थे कि श्रीठाकुरजी के दर्शन करें तो कभी इधर झुकें, कभी उधर झुकें। सुरेशबाबा आए तो उन्होंने मुझे कहा कि ''दादा, आप भाग्यशाली हैं कि ऐसे मुखियाजी मिले।'' मैंने कहा ''आप अंदर आ कर देखें तो पता चले कि कैसे मुखियाजी हैं और मैं भाग्यशाली हूँ कि नहीं!'' श्रीठाकुरजी को पकड़ते हैं तो कभी आदर दर्शाने के भाव से नहीं पकड़ते, स्नान कराते हैं तो मस्तक की तरफ से पकड़ते हैं। श्रीठाकुरजी पर उनको इतना गुस्सा कि स्नान कराने के बाद झटक देते हैं कि कहीं अंगवस्त्र में पानी न चला जाए। सारा पानी झटकने के बाद वापस झटका लगा दें, पानी सूखा नहीं कि जैसे-तैसे श्रीठाकुरजी को अंगवस्त्र कर देते हैं। बस हो गई सेवा। दर्शन खुलते ही दर्पण को हृदय से लगा कर कभी इधर झुकते हैं, कभी उधर झुकते हैं आदि-आदि।

सुरेशबाबा के एक मन्दिर में श्रीठाकुरजी श्याम हो गए। बहुत दिन तक कठिनाई होती रही। न्यासीगण (ट्रस्टी) क्रोधित हो गए तो उन्होंने नए मुखियाजी रख दिए। पुराने मुखियाजी को हटा दिया कि बरसों से स्नान भी नहीं कराया इसलिए श्रीठाकुरजी श्याम हो गए। नए मुखियाजी ने ट्रस्टी लोगों के गुस्से से बचने के लिए कई दिन तक प्रयत्न किया कि किसी तरह श्रीठाकुरजी गोरे हो जाएँ। वे गोरे नहीं हुए तो एक दिन चाकू ले कर श्रीठाकुरजी के श्रीअंग पर से सारा कचरा निकाल दिया। ट्रस्टीलोग खुश हो गए कि ओहो, हो! नए मुखियाजी कितने अच्छे हैं, श्रीठाकुरजी एकदम चमक रहे हैं। सुरेशबाबा बेचारे सिर पर हाथ रख कर रोएँ कि क्या करें? इसलिए इन ट्रस्टी-भ्रष्टियों ने ऐसा काम बिगाड़ा कि भगवान ही मालिक है।

मुझे एक बैठकजी के मुखियाजी ने एक बात बताई। एक बालक पधारे, बैठकजी में ग्वालमंडली में श्रीठाकुरजी विराजमान थे। कितने ही लोग श्रीठाकुरजी की सेवा करते हैं। ग्वालमंडली में श्रीठाकुरजी श्याम हो गए। बालक बोले कि बरतन मांजने के विम से श्रीठाकुरजी को मांज लें ताकि कम से कम श्रीठाकुरजी चमकें। मुखियाजी घबरा गए उन्होंने कहा बालक हैं, क्या कह सकते हैं? विम से श्रीठाकुरजी को कैसे मांज सकते हैं?

इस प्रकार अपने यहाँ ऐसी-ऐसी लीलाएँ चलती हैं। यह बात सच है कि जैसे बर्ट्रेंड रसेल सच्चा था वैसे मेरे मुखियाजी भी एकदम सच्चे हैं। उन्होंने मुझे पहले ही एक दिन कह दिया था कि दर्शन खुलने के बाद आपके ऊपर कोई उंगली नहीं उठा सकता। इतनी गारन्टी मेरी, दास की। बाकी टेरा बन्द होने के बाद तो मैं और श्रीठाकुरजी होते हैं। अब क्या कर सकते हैं? जैसे चले वैसे चलते रहने दें।

हमारे बेचारे मुखियाजी में इतनी सच्चाई तो है, उन्होंने मुझे स्पष्ट कह दिया कि टेरा खुलने के बाद कोई आप पर उंगली नहीं उठा सकता। सुरेशबाबा अचम्भित हो गए कि भाग्यशाली हैं आप कि ऐसे मुखियाजी आपको मिले, अत: ऐसी सब दुर्गति होती है और इसे हम सेवा समझते हैं। वस्तुत: इसका सेवा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। जिस बात को आज हम समर्पण का नाम दे रहे हैं उसका शुद्ध समर्पण से कोई सम्बन्ध नहीं। सिद्धान्तरहस्य देखेंगे तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

''समर्पणपूर्वकसेवायां दोषाणां स्वसेवाऽबाधकताबोधनम्'' - जो भी दोष हैं, वे दोष रहेंगे। सदोषजीव के दोष निवृत्त नहीं होते पर वे दोष सेवा में बाधक नहीं रह जाते। हम इसे इस प्रकार स्पष्टरूप से समझ सकते हैं कि जैसे किसी तार में करन्ट चल रहा है और हम जमीन पर खड़े हो कर तार को हाथ लगाएंगे तो झटका लगेगा लेकिन लकड़ी की टेबल पर खड़े हो कर

हाथ लगाएंगे तो तार में करंट तो है, वह खत्म नहीं होनेवाला लेकिन आपको बाधक नहीं रहेगा।

अत: समर्पण आपके लिए एक प्रकार से लकड़ी की टेबल का कार्य कर रहा है जिससे आपके दोषों का करंट श्रीठाकुरजी को नहीं लगेगा। आपके अंदर दोषों का करंट बहुत तेज है, हाई वॉल्टेज है, उसका झटका श्रीठाकुरजी को न लगे, श्रीठाकुरजी झटके को झेले बिना आनन्दात्मिकासेवा आनन्दरूप से स्वीकार करते हैं, इसके लिए समर्पण हमें लकड़ी की टेबल की भाँति उपलब्ध हो रहा है।

समर्पण का जो अर्थ आज हम समझ रहे हैं कि मन्दिर में भेंट जमा कराना समर्पण है, पैसे जमा कराके मनोरथ कराना समर्पण है, इसका समर्पण के साथ कोई स्नान-सूतक का भी सम्बन्ध नहीं है। दस पीढ़ी की बात जाने दें, चौदह पीढ़ी की बात जाने दें, इक्कीस पीढ़ी तक कोई सम्बन्ध नहीं है। श्रीमहाप्रभुजी को अभिमत समर्पण कुछ और बात है और यह कोई दूसरी ही बात है।

*****

।। सिद्धान्तरहस्यम् ।।

श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि।
साक्षाद् भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते।।1।।

अन्वयार्थ :

श्रावणस्य = श्रावण के
अमले = अमल, शुक्ल, **पक्षे** = पक्ष में
एकादश्यां = एकादशी को
महानिशि = मध्यरात्रि में
भगवता = भगवान द्वारा
साक्षाद् = साक्षात् (**यत्** = जो)
प्रोक्तं = कहा
तद् = वह
अक्षरशः = अक्षर-अक्षर
उच्यते = कहा जा रहा है

भावार्थ : श्रावण मास के शुक्ल पक्ष में, एकादशी तिथि में, मध्यरात्रि के समय साक्षात् भगवान ने अपने अभिप्रायपूर्वक जो कहा है वह एक-एक अक्षर इस ग्रन्थ में कहा जा रहा है।

व्याख्या :

श्रावण के शुक्ल पक्ष में एकादशी की महारात्रि को प्रभु ने साक्षात् प्रकट होकर जो मुझे (श्रीमहाप्रभुजी को) कहा वह मैं तुम्हें समझा रहा हूँ, ऐसा श्रीआचार्यचरण कह रहे हैं।

(स्वात्मात्मीयानां परमात्मने समर्पणं ब्रह्मसम्बन्धेन भवति, तेन च

पञ्चविधदोषाणां [1-5] भगवत्सेवायाम् अबाधकता) - स्वात्मा अर्थात् हमारा स्वयं का आत्मा और जो हमारे आत्मीय हैं। स्वात्मा कहने से अहंकार और आत्मीय कहने से ममता अर्थात् अपनी अहंताममतास्पद वस्तुओं का परमात्मा को समर्पण करने से, ब्रह्मसंबंध से समर्पण होता है और इस समर्पण के कारण पाँच प्रकार के दोष भगवत्सेवा में बाधक नहीं रह जाते, निवृत्त हो जाते हैं। किस अर्थ में सेवा में बाधक नहीं रह जाते? कोई अंधा व्यक्ति ब्रह्मसंबंध लेने से देखने नहीं लग जाता, क्रोधी मनुष्य ब्रह्मसंबंध लेने से शान्त नहीं हो जाता, लोभी मनुष्य ब्रह्मसंबंध लेने से निर्लोभी नहीं हो जाता और कामी मनुष्य ब्रह्मसंबंध लेने से निष्काम नहीं हो जाता।

कोई भी दोष निवृत्त नहीं हो रहे हैं पर आपके जो कुछ भी दोष हैं वे सेवा में बाधक नहीं रहते। वे हाई वॉल्टेज में होंगे तो उनका 440 वोल्ट का झटका लगेगा परन्तु प्रभु को नहीं लगेगा। समर्पण के कारण प्रभु एकदम लकड़ी की टेबल पर विराज गए हैं। इन दोनों का झटका प्रभु को नहीं लगेगा।

ब्रह्मसम्बन्ध-करणात् सर्वेषां देहजीवयोः।
सर्वदोष-निवृत्तिर् हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः।।2।।
सहजाः[1] देश-कालोत्थाः[2-3] लोक-वेद-निरूपिताः।
संयोगजाः[4] स्पर्शजाश्च[5] न मन्तव्याः कथञ्चन।।3।।
अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन।

अन्वयार्थ :

ब्रह्मसम्बन्धकरणात् = ब्रह्मसंबंध करने से
सर्वेषां = सब के
देहजीवयोः = देह और जीव के
सर्वदोषनिवृत्तिः = सब दोषों की निवृत्ति

हि = निश्चित ही (**भवति** = होती है)
दोषाः = दोष
पञ्चविधाः = पांच प्रकार के
स्मृताः = हैं
लोक-वेदनिरूपिताः = लोक-वेद में निरूपित
सहजाः = सहज
देश-कालोत्थाः = देश-काल जन्य
संयोगजाः = संयोगजनित
च= और
स्पर्शजाः = स्पर्शजन्य
कथञ्चन = किसी भी तरह से
(हरिसेवायां = प्रभु की सेवा में, **प्रतिबन्धकाः** = प्रतिबन्धक **)**
न = नहीं, **मन्तव्याः** = मानने चाहिए
अन्यथा = नहीं तो
सर्वदोषाणां = सब दोषों की
निवृत्तिः = निवृत्ति
कथञ्चन = किसी भी प्रकार से
न = नहीं (**भवति** = होती है)

भावार्थ : ब्रह्मसंबंध करने से सबके देह और जीव के सब दोषों की निवृत्ति होती है। ये दोष पाँच प्रकार के प्रसिद्ध हैं- सहजदोष, देश से उत्पन्न हुए दोष, काल से उत्पन्न हुए दोष, संयोग से होनेवाले दोष, स्पर्श से होनेवाले दोष - ऐसे पाँच प्रकार के दोष लोक में तथा वेद में निरूपित किए गए हैं। अथवा सहजदोष, देशकाल से उत्पन्न हुए दोष, लोक तथा वेद में निरूपण किए गए दोष, संयोग से होनेवाले दोष और स्पर्श से होनेवाले दोष - ये पाँच प्रकार के

दोष हैं जो किसी भी प्रकार से नहीं मानने चाहिए। देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण आदि सब भगवान को अर्पण किए बिना सब दोषों की निवृत्ति किसी अन्य प्रकार से नहीं होती है।

व्याख्या :

उन दोषों को मानना नहीं चाहिए। इसका तात्पर्य है कि सेवा में ये दोष बाधक रहेंगे परन्तु उन्हें मानना नहीं चाहिए। सेवार्थ उनकी निवृत्ति अन्य किसी भी प्रकार से नहीं हो सकती।

(कृतात्मनिवेदनस्य असमर्पितवस्तुत्यागः[1] समर्पितस्यैव उपभोगः[2] सामिभुक्तस्यासमर्पणम्[3] इति त्रयो नियमाः)

इस प्रकार जिसने आत्मनिवेदन किया अर्थात् अपने आत्मा और आत्मीयों का, तात्पर्य है अपनी अहंता-ममता का जिसने प्रभु को निवेदन किया तब उस पर तीन नियम लागू होते हैं। पहला नियम असमर्पित वस्तु का त्याग, दूसरा नियम समर्पित का उपभोग और तीसरा नियम अर्धभुक्त का असमर्पण। ये तीनों नियम एक के बाद एक देख लें।

असमर्पित-वस्तूनां तस्माद् वर्जनम् आचरेत्[1] ।।4।।
निवेदिभिः समप्यैव सर्वं कुर्याद् इति स्थितिः[2]।
न मतं देवदेवस्य सामिभुक्त-समर्पणम्।।5।।
तस्माद् आदौ सर्वकार्ये सर्ववस्तु-समर्पणम्[3]।

अन्वयार्थ :

तस्मात् = इससे
असमर्पित-वस्तूनां = समर्पित न हों ऐसी वस्तुओं का
वर्जनं = त्याग

आचरेत् = करना
समर्प्य = समर्पण करके
एव = ही
निवेदिभिः = निवेदित के द्वारा
(**पदार्थैः** = पदार्थों से)
सर्वं = सबकुछ
कुर्यात् = करे
इति = ऐसा
स्थितिः = सिद्धान्त (**अस्ति** = है)
देवदेवस्य = देवों के भी देव को
सामिभुक्तसमर्पणं = अर्धभुक्त का समर्पण
न = नहीं
मतं = सम्मत है
तस्मात् = इससे
सर्वकार्ये = सब कार्य के
आदौ = आरम्भ में
सर्ववस्तु-समर्पणम् = सभी वस्तुओं का समर्पण
(कर्तव्य = करना **)**

भावार्थ : अतः जिसका समर्पण भगवान को नहीं हुआ हो ऐसी असमर्पित वस्तु अपने उपयोग में नहीं लेनी चाहिए, असमर्पित वस्तु का त्याग ही करना चाहिए। पुष्टिमार्ग की रीति से आचार्य द्वारा जिस जीव का निवेदन हुआ है उस जीव को भगवान को अर्पण करके ही सब कार्य करने चाहिए। यह भक्तिमार्ग की दोषरहित मर्यादा है। इसमें जो अर्धभुक्त पदार्थ हों वे देवों के देव प्रभु को समर्पण करने योग्य नहीं हैं। निवेदित पदार्थ प्रभु को समर्पित करके ही सब कार्य करने चाहिए ऐसी भक्तिमार्ग की मर्यादा है। इसलिए सब कार्यों में सर्व

वस्तु अर्पण करनी चाहिए।

व्याख्या :

पहला नियम, असमर्पित वस्तु का त्याग करें, दूसरा नियम, समर्पित का उपभोग करें और तीसरा सामिभुक्त का असमर्पण। आप नवरत्न देखेंगे तो वहाँ भी यही समस्या खड़ी है कि यदि हम असमर्पित का त्याग कर देते हैं तो फिर निर्वाह किससे करना? समर्पित से करना या असमर्पित से करना? इस प्रकार आगे भी यही समस्या वापस खड़ी हो रही है। उसको वहाँ भी समझ लेंगे पर यहाँ से समझ कर चलेंगे तो समझने में अधिक आसानी रहेगी। नियम दो प्रकार के होते हैं - एक विधि और दूसरा निषेध, अर्थात् एक विधि प्रकार का नियम है और दूसरा निषेध प्रकार का नियम है। इस प्रकार समझेंगे तो बात साफ हो जाएगी। "**तस्माद् आदौ सर्वकार्ये सर्ववस्तु-समर्पणम्**" अर्थात् प्रत्येक कार्य की शुरुआत में सभी वस्तुओं का समर्पण करना है। उपभोगान्तर (उपभोग करने के बाद) उसका समर्पण नहीं करना, यह बात बताई।

(लोके दासस्य स्वस्वीययोः यथा स्वस्वामिने समर्पणमेव नतु दानं तथा जीवस्य भगवते समर्पणं नतु दानमिति न दत्तापहारदोषाशंका)

लोक में जो दास होता है वह अपनी अहंतास्पद और ममतास्पद वस्तुओं का अपने स्वामी को समर्पण ही कर सकता है, दान नहीं कर सकता। दास है तो दान कैसे करेगा? क्योंकि दास होने के कारण स्वामित्व तो उस पर पहले से ही हो गया था। इसलिए जब उस पर उसका स्वामित्व हो गया तो उसकी वस्तुओं पर भी उसका स्वामित्व हो जाने के कारण अर्थात् जिस पर स्वामी के स्वामी का स्वाम्य (प्रभुत्व) है उन पर भी उसका स्वामित्व सिद्ध होगा।

अतः दान का तो प्रश्न ही नहीं है। दिया हुआ के अर्थ में है इसलिए दत्तापहार वचन के अनुसार देगा तो वापस किस प्रकार लेगा? दत्तापहार तो

कभी हो ही नहीं सकता। कोई वस्तु किसी को दान कर दी तो उससे वापस नहीं ली जा सकती। इसलिए दान दें तो वापस लेने का प्रश्न ही नहीं उठता। अपनी सेवा में प्रभु को दान करने के प्रकार से सेवा का क्रम है ही नहीं। समर्पण के प्रकार से सेवा का क्रम है।

हम प्रभु को कुछ दे नहीं रहे या प्रभु हमसे कुछ ले नहीं रहे। समर्पण का अर्थ है कि जो स्वामी के उपभोग की वस्तु है वह स्वामी के सामने प्रस्तुत करने (धराने) के पश्चात् हम भी उसका उपभोग कर रहे हैं। पहले धरानी चाहिए, बस आवश्यकता इतनी ही है। अपने उपभोग के बाद स्वामी के उपभोग के लिए प्रस्तुत नहीं करनी चाहिए और स्वामी को समर्पण ही हो सकता है दान नहीं दिया जा सकता। इसलिए दत्तापहार का दोष अपने यहाँ नहीं लगता। इस समर्पण की प्रक्रिया में हम प्रभु को दान नहीं कर सकते ऐसा अर्थ नहीं है। कर सकते हैं पर सेवा में जो समर्पण की बात बताई गई है तो समर्पण के कारण सेवा में दोष अबाधक हो जाएंगे।

यह जो नियम आया है कि **''असमर्पित-वस्तूनां तस्माद् वर्जनम् आचरेत्''** और **''निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्याद् इति स्थितिः''** - सबकुछ प्रभु को समर्पित कर दें और असमर्पित का त्याग करें। असमर्पित का त्याग किस प्रकार करें? जब समर्पित कर दिया तो उसको वापस लेना ही नहीं चाहिए फिर तो समर्पित का ही त्याग करना चाहिए। असमर्पित का त्याग नहीं करना चाहिए। क्योंकि समर्पण यदि दान करना है तो समर्पित का त्याग करना चाहिए। इससे स्पष्ट होता है कि समर्पण में दान सम्मिलित नहीं है। समर्पण केवल सेवार्थ (वस्तुएँ) प्रस्तुत करना है।

इस बात को समझाने के लिए मुझे प्रथमेश काकाजी का एक उदाहरण सदैव बहुत अच्छा लगता है। काकाजी से मिलने के लिए एक साधुबाबा जतिपुरा आए। बहुत देर तक गपशप करते रहे। रात को जाने के लिए काकाजी

ने उनको गाड़ी दी कि आप वृंदावन चले जाएं। वह गाड़ी उन्होंने वापस दी ही नहीं। चार-छः महीने बाद गाड़ी आगरा में मिली। गाड़ी उन्होंने दान थोड़े ही कर दी थी यार! वृंदावन जाने के लिए दी थी अर्थात् समर्पित की थी, दान नहीं दी थी। काकाजी ने कहा अच्छा ले जाओ। अब प्रथमेशजी जैसा उदार कौन हो सकता है! साधुबाबा ने स्वयं रख ली और फिर बेच डाली। केवल वृंदावन जाने के लिए दी हुई गाड़ी को वापस बेच भी दिया।

इस प्रकार यदि समर्पण का अर्थ दान हो जाए तो मनुष्य घबरा जाए। महाराज को वैष्णव के यहाँ पधरावनी के समय कार भेजी जाती है। महाराज को कार भेजी, भेजी तो बस अब हमारी हो गई! अतः समर्पण एक अलग अवधारणा है। काकाजी ने उनको कार समर्पित की थी, उपभोग के लिए। घर में अतिथि आए, रात को देर तक बैठे, भाई वृंदावन कैसे जाएँ? कार समर्पित कर दी तो उसका अर्थ दान समझ लेना? समर्पित को प्रभु न तो दान समझते हैं और न हमने दान के रूप में दिया है। इसलिए असमर्पित वस्तु का त्याग उचित ही होता है।

दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः।।6।।
न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्।
सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिद्ध्यति।।7।।
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः।

अन्वयार्थ :

तथा = और, **हरेः** = हरि को
सकलं = सब, **न** = नहीं
ग्राह्यं = ग्रहण करने योग्य
इति = ऐसे

'दत्तापहार' वचनम् = ''हरि को दिया हुआ कुछ भी लेना नहीं'' ऐसा श्रीभागवत का वचन है

(तत् = वह) **वाक्यं** = वाक्य

भिन्नमार्गपरं = अलग मार्ग से सम्बन्धित है

यथा = जैसे, **लोके** = लोक में

सेवकानां = सेवकों का

व्यवहारः = व्यवहार

प्रसिद्ध्यति = प्रचलित होता है

तथा = उस प्रकार से

समर्प्य = समर्पण करके

एव = ही

(सर्वं = सब) **कार्यं** = करना

ततः = इससे, **सर्वेषां** = सब की

ब्रह्मता = ब्रह्मता, **स्यात्** = होती है

भावार्थ : इसी प्रकार भगवान की निवेदित वस्तु अपने उपयोग में नहीं लानी इत्यादि जो ''अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्याद् निवेदितम्'' एकादशस्कन्ध का वाक्य भक्तिमार्ग से अलग मार्ग के लिए हैं। लोक में सेवकों का व्यवहार जैसे सिद्ध होता है वैसे ही प्रभु को अर्पण करके ही सब कार्य करना चाहिए। ऐसा करने से सबकी ब्रह्मरूपता सिद्ध होती है।

व्याख्या :

दत्तापहार का यह वचन है कि जो दिया हुआ दान वापस ले लेता है, उसके जैसा पापी कोई नहीं। इस निन्दा और ''हरि का कुछ भी लेना नहीं'' इस वाक्य को ध्यान से समझें। यह वचन यहाँ श्रीमहाप्रभुजी ने उद्धृत नहीं किया बल्कि शास्त्र के वचनाशय को उद्धृत किया है, जिसे टीकाकार ने खोज कर

टीका में प्रस्तुत किया है। अतः श्लोक में अवतरण चिह्न (`` '') नहीं दिया। यदि शास्त्र का वचन उद्धृत किया गया होता तो अवतरण चिह्न आवश्यक था लेकिन नहीं दिया। इसलिए हमने यहाँ अवतरण चिह्न नहीं दिया।

उक्त वचन का आशय क्या है? श्रीमहाप्रभुजी अर्थात् श्रीठाकुरजी ने अपने शब्दों में कह दिया ''तथा च सकलं हरेः न ग्राह्यम्'' हरि की कोई भी वस्तु लेनी नहीं - ''**अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यात्**'' जैसे प्राचीन वचनामृत की वार्ता में आता है कि बैलगाड़ी में बालक पधार रहे थे, और बैल को पानी पिलाया। पानी पिलाने के बाद उन्होंने पूछा कि यह कुआं किसका है? पता चला कि श्रीनाथजी को भेंट किया हुआ था। उन्होंने कहा कि अब यह बैल हमारा नहीं रहा। श्रीजीबाबा का हो गया। क्योंकि श्रीनाथजी के कुएँ का जल इसने पी लिया। इसलिए यह बैल अब हमारा नहीं रहा। प्राचीन बालक इतनी कठोरता से इस बात का पालन करते थे। आज हम सब श्रीनाथजी को ही खा जाएँ, बैल की बात तो दूर रही। गोस्वामी बैल खा जाएँ, यह तो एक अलग कथा है। लेकिन प्राचीन बालक इस बात पर बहुत विचार करते थे।

इसलिए प्रभु को दान की हुई वस्तु वापस नहीं ली जाती परन्तु जो प्रभु को समर्पित किया जाता है वह हम ले सकते हैं। इसके लिए अमृतवचनावली में रणछोड़लालजी महाराज, अहमदाबादवाले के वचनामृत पढ़ें, बहुत ही सुन्दर वचनामृत हैं। प्रत्येक बात का खुलासा कर देंगे। कभी अवकाश मिले तो पढ़ लेना चाहिए। इन सब बातों का स्पष्टीकरण अमृतवचनावली में मिल जाएगा।

''भिन्नमार्गपरं मतम्'' का हमने ऐसा अर्थ समझ लिया कि सेवा, पुष्टिमार्ग का प्रकार नहीं। वह मर्यादामार्ग का प्रकार है। यदि यह बात सच्ची है कि पुष्टिमार्ग में सेवा का प्रकार नहीं तो फिर हमें जगदीश में सखड़ी आरोगने

नहीं जाना चाहिए। जगदीश में सखड़ी आरोगने के लिए तो वैष्णवों को इकट्ठा कर-करके ले जाते हैं। रेट फिक्स कर-करके ले जाते हैं कि एक के पन्द्रह रुपए, पच्चीस रुपए।

जब ''भिन्नमार्गपरं मतम्'' में इस बात पर कायम रहते हैं तो यह नियम भिन्नमार्ग, मर्यादामार्ग पर भी लागू होता है। या तो जगदीश को पुष्टिमार्ग मानें और यदि मानें तो फंस गए और अगर जगदीश मर्यादामार्ग है तो वहाँ प्रसाद नहीं खाना चाहिए। ''भिन्नमार्गपरं मतम्'' का अर्थ समझे-विचारे बिना कुछ भी हाँकते रहते हैं। भिन्नमार्ग का यह मतलब नहीं है। भिन्नमार्ग का स्पष्ट अर्थ है कि हमने सेवा में जो समर्पण का मार्ग अपनाया है, इसमें ''दत्तापहार वचन'' बाधक नहीं हो रहा।

हम भी सेवा के लिए दान का कोई मार्ग, कोई प्रकार अपनाएँ तो वहाँ यह वचन बाधक हो ही जाएगा कि प्रभु को जो कुछ हमने दिया वह हम ले नहीं सकते। जो हमने समर्पित किया वह हम वापस ले सकते हैं। अब इस दान और समर्पण के भेद के अनुसार काकाजी ने उन बाबाजी को गाड़ी समर्पित की थी, दान नहीं की थी अथवा महाराज को पधराने के लिए वैष्णव जो गाड़ी भेजते हैं, वे समर्पित करते हैं, बेचारे दान नहीं करते। इन उदाहरणों से समझ जाना चाहिए।

कई बार वैष्णवों के घर में पधरावनी होती है। बदाम, पिस्ता खाने के लिए चाँदी की थाली, कटोरा आदि हमारे सामने सजाए जाते हैं। यदि कहें कि चाँदी का कटोरा, थाली में सामग्री सजाई इसलिए अब आपने हमें समर्पित कर दी, चलो हम ले जाते हैं तो ऐसा करना भूल जाएंगे, वैष्णव। सब महाराज की पधरावनी कराना बन्द कर देंगे। ऐसा थोड़े ही होता है भाई! वैष्णव बेचारे महाराज आते हैं इस खुशी में चाँदी की थाली, कटोरा समर्पित करते हैं कोई दान में नहीं दे रहे।

इस प्रकार दान और समर्पण में भेद है। सोने या चाँदी की थाली या कटोरा जो वैष्णव, महाराज को देते हैं उनको बेचारे ट्रस्टी ले जाते हैं, वैष्णव कोई नहीं लेते। ट्रस्टी वैष्णव नहीं होते, इसलिए ले लेते हैं। लेकिन वैष्णव महाराज को कभी कोई वस्तु भेंट करते हैं तो वापस नहीं लेते। यह अन्तर देखें कि सिद्धान्तरहस्य को समझे बिना भी महाराज के साथ वैष्णव नियमानुसार निभा रहे हैं लेकिन महाराज श्रीठाकुरजी के साथ इस भेद को आचरण में नहीं लाना जानते। समस्या यह है। वैष्णव अपने घर में महाराज की पधरावनी करें, चाँदी के थाली, कटोरा में महाराज को दूधघर इत्यादि आरोगाएं तो कोई भेंट किया हुआ नहीं मानते। चाँदी के थाली, कटोरा अपने पास ही रखते हैं।

''दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः, न ग्राह्यम् इति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्।।'' यदि कभी वैष्णव, महाराज को चाँदी की थाली, कटोरा भेंट कर दें और वापस मांगने आज तक कभी आए हों, ऐसा कोई प्रसंग मेरे सुनने में नहीं आया। ट्रस्टी ले लेते हैं और ट्रस्टी तो वैष्णव नहीं होते। उनका अधिकार दूसरा है, यह हमें समझ जाना चाहिए।

इस प्रकार वैष्णव सिद्धान्तरहस्य को पढ़े बिना जानते हैं, आचरण करते हैं, निष्ठा से पालन करते हैं परन्तु कठिनाई यह है कि महाराज इस बात को जानते नहीं, जानते हैं तो समझना नहीं चाहते, समझते हों तो बोलना नहीं चाहते। यदि बोलना भी पड़े तो पालन नहीं करना चाहते और पालन करते हों तो पालन करवाना नहीं चाहते। इसलिए मैंने इसमें अपने पूरे वचन में जो लिखा है इसे थोड़ा देख लें। बहुत ही मजेदार है, आपको भी आनन्द आएगा। पढ़ें, बहुत आनन्द आएगा।

ध्यान रखें कि यह सिद्धान्तरहस्य है, इसलिए सुना रहा हूँ कि श्रीमहाप्रभुजी का सुस्पष्ट घोष है - **''शास्त्रम् अवगत्य मनोवाक् देहैः कृष्णः सेव्यः''** - निबन्ध की शुरुआत में ही श्रीमहाप्रभुजी ने कहा है।

चौरासी वैष्णव की वार्ता में आता है –

आचार्यचरण :– ''दमला ते कछु सुन्यो''

श्रीदामोदरदासजी :– ''महाराज मैंने श्रीठाकुरजी के वचन तो सुने, पर समज्यो नाहीं।''

श्रीठाकुरजी के वचन हमें सुनाने के लिए ही आज भी श्रीमद्-आचार्यचरण और श्रीमत्प्रभुचरण उतने ही आतुर हैं। हम आधुनिक पुष्टिमार्गीय कहीं यह तो नहीं कहना चाहते कि महाराज समझा तो सही पर सुनना नहीं चाहता। सब समझ रहा हूँ लेकिन बोलना नहीं है और बोलना हो तो सबके सामने नहीं बोलें। चुपचाप दरवाजा बन्द करके बोलें। अरे यार, यह क्या झंझट है? यह कोई चोरी की बात है या बदकारी की बात है? किसलिए सार्वजनिक रूप से नहीं बोलना?

अत: महाराज, समझा तो सही, पर सुनना नहीं चाहता और सुनाई भी दे तो कहना नहीं चाहता। कितने ही बालक कहते हैं कि बात सच है लेकिन कहें कैसे? सबके सामने कैसे कहना? क्या इसलिए यह वचन कहे हैं कि कभी पक्षग्रहण में कहना ही पड़े, तो कुछ भी करने-कराने की इच्छा नहीं। श्रीमहाप्रभुजी किसलिए पूछ रहे हैं? ऐसा क्या कांड तुमसे हो गया?

आधुनिक पुष्टिजीव क्या कह रहा है, देखें। कितना दीन-हीन है- ''**सेवा-कथा-प्रपत्तिमार्गेषु नष्टेषु, कलौ च खलधर्मिणि। पाषंडप्रचुरे लोके कृष्णएव आजीविका मम**'' – यही तो एक आजीविका है जहाँ से पूरा पेट भर रहा है। विवाह प्रसंग आदि सब कुछ हो रहा है। यह आजीविका छीन लेंगे तो क्या भूखे मरें? दरिया में पड़ें? मर जाएँ? अब क्या करना यार? इसका उपाय किस प्रकार तलाशना – ''**कृष्णएव आजीविका मम**'' न हो तो बहुत मुश्किल है! अब वैष्णव भी यही विचार रहे हैं और बालक भी यही विचार रहे हैं। ऐसा न करें तो क्या भूखे मरें? मर जाएँ? स्मगलिंग करें? क्या करें? एक ही

तो धंधा है और यह वास्तविक कठिनाई है। वैष्णव इस रहस्य को भलीभाँति समझ रहे हैं। आप अपने व्यवहार को समझ जाएँ तो आपको सिद्धान्तरहस्य समझ में आ जाएगा।

बालक जो समझा रहे हैं कि ''कृष्णएव आजीविका मम'' तो उनकी मुश्किल के कारण, विवशता के कारण उनसे आपको सिद्धान्तरहस्य समझ में नहीं आएगा। आप बालक के साथ किस प्रकार का व्यवहार कर रहे हैं, पुरुषोत्तम के साथ व्यवहार पर आप ध्यान देंगे तो आपको सारा सिद्धान्तरहस्य समझ में आ जाएगा।

संक्षेप में, आपको एक गुरुमंत्र दे रहा हूँ। जैसे श्रीठाकुरजी ने ब्रह्मसंबंध दिया वैसे गुरुमंत्र आपको दे रहा हूँ कि आप पुरुषोत्तम के साथ कैसा वर्तन कर रहे हैं, उससे सिद्धान्तरहस्य समझ में आएगा परंतु ये सारे पुरुषोत्तम, सच्चे पुरुषोत्तम के साथ कैसा वर्तन कर रहे हैं यह जान लेने से सिद्धान्तरहस्य कभी भी समझ में नहीं आएगा।

''सेवकानां यथा लोके'' – जैसे सेवक को स्वामी के साथ व्यवहार करना चाहिए वैसे आप (वैष्णव) व्यवहार कर रहे हैं परन्तु हम अपने स्वामी के साथ वैसा व्यवहार नहीं कर रहे। जैसे हम सेवकों को अपने स्वामी के साथ व्यवहार करना चाहिए वैसे हम नहीं कर रहे। हम तो उसके मालिक बन कर व्यापारी की भाँति व्यवहार कर रहे हैं, पण्य-वस्तु की भांति उसके साथ व्यवहार कर रहे हैं। सेवक की भांति हम श्रीठाकुरजी के साथ व्यवहार नहीं कर रहे। इसलिए हमारे व्यवहार से आपको सिद्धान्तरहस्य कभी भी समझ में नहीं आएगा। आपका जो हमारे प्रति व्यवहार है उससे आपको पूरा सिद्धान्त रहस्य समझ में आ सकता है। ''**तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता तत:**'' इस प्रकार आपने समर्पण किया तो आपके सभी पदार्थों में ब्रह्मात्मकता प्रकट हो जाएगी।

(निखिलस्वात्मात्मीयानां भगवत्समर्पणेन सेवायां विनियोगौपयिकशुद्धिः भवत्येव)

अपना आत्मा और आत्मीय अर्थात् अहंता-ममतास्पद जो कोई भी वस्तु है उसे भगवान को समर्पित करने से, समर्पण के कारण सेवा में उसके विनियोग अर्थात् सेवा में उसके उपयोग लायक शुद्धि हो जाती है। इसे श्रीमहाप्रभुजी गंगा के उदाहरण से समझा रहे हैं।

गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादि-वर्णना।।8।
गङ्गात्वे न निरूप्या स्यात् तद्वद् अत्रापि चैव हि।

अन्वयार्थ :

सर्वदोषाणां = सब दोषों का
गङ्गात्वं = गंगात्व
च = और
गुणदोषादिवर्णना = गुण-दोष आदि का वर्णन
गङ्गात्वेन = गंगारूप से, **एव** = ही
निरूप्या = निरूपण योग्य
स्यात् = होता है
हि = इसलिए, **तद्वत्** = वैसे
अत्र = यहाँ, **अपि** = भी

भावार्थ : परनाला प्रभृति का जल गङ्गा में मिलता है तो परनाला प्रभृति में रहे हुए ऐसे सब दोषों का गंगात्व होता है। इसलिए उसके गुण-दोषों का वर्णन भी गंगात्व से ही होता है। ऐसे ही ब्रह्मसंबंध होने के बाद यहाँ भी सबका ब्रह्मत्व होता है।

व्याख्या :

कोई साधारण वस्तु नहीं बल्कि कोई गटर इत्यादि गंगा में मिलता है तो वह गंगा की भाँति ही मान्य हो जाता है। फिर चाहे वह पुण्यनाशक कर्मनाशा नदी हो या और कुछ। हम पुष्टिमार्गीय हैं, इसलिए श्रीयमुनाजी को मानते हैं अन्यथा दुनिया में तो यह सिद्धान्त मान्य है कि गंगाजी में मिल गई तो गंगा, यमुना नहीं हुई वरन् श्रीयमुनाजी, गंगाजी बन गईं। इसलिए जैसे गंगात्व है कि जो कोई गंगा में मिल गया वह गंगामय बन जाता है, इसी प्रकार जो भी भगवान को समर्पित किया, सारे दोषों के बावजूद वह ब्रह्म के लायक उपयोगी हो जाता है। यदि ये दोष ब्रह्मसंबंध से निवृत्त हो जाते तो फिर श्रीमहाप्रभुजी को इस प्रकार गटर का उदाहरण देने की जरूरत ही नहीं पड़ती।

इस रहस्य को ध्यान से समझें कि यदि ब्रह्मसंबंध करने से सारे दोष निवृत्त हो जाते होते तो इस गटर के उदाहरण की आवश्यकता ही नहीं थी, नाली के जल के उदाहरण की आवश्यकता ही नहीं थी। श्रीमहाप्रभुजी नाली के जल का उदाहरण इसलिए दे रहे हैं कि नाली का जल गंगा में मिल जाने के बाद नाली का जल नहीं कहलाता, गंगाजल ही कहलाता है। फिर से यह रहस्य ध्यान से समझें कि नाली में यदि गंगाजल मिला तो नाली का जल ही कहलाएगा, गंगाजल नहीं कहलाएगा। यह बात समझें कि गंगा की मुख्यता होनी चाहिए।

इसी प्रकार भगवान को समर्पण करने की मुख्यता होनी चाहिए। ऐसा करने से दोष भी समर्पित हो गए और वे सेवा में विनियोगार्ह शुद्ध भी हो जाएंगे। यदि अपने उपभोग की चिंता होगी तो समर्पण की प्रक्रिया द्वारा आप गंगा को गटर में मिला रहे हैं, गटर को गंगा में नहीं मिला रहे हैं। यदि गंगाजल की एक लोटी ले आएँ और उसे मीठी नदी में डाल दें तो क्या वह गंगा हो जाएगी? नहीं होगी।

हाल ही में यहाँ गिरिराज जी बने हैं। मुझे हमारे एक पड़ौसी ने यह रहस्य बताया। वे पूर्णिमा को गिरिराजजी की परिक्रमा करने जतिपुरा जाते हैं। उन्होंने यह रहस्य बताया कि गिरिराजजी यहीं पधार गए हैं। उन्होंने कहा अब तो आनन्द हो गया। अब गिरिराजजी की परिक्रमा करने किसलिए जतिपुरा जाना? यहीं परिक्रमा करेंगे। मुखियाजी को पूछा कि भाई, गिरिराजजी पधारे हैं और इतना-इतना सोना देकर पधारे हैं। उन्होंने कहा, कुछ नहीं। पत्थर यहाँ के हैं और उन पर वहाँ से रज ला कर छिड़क दी है।

भगवान में भी प्रदूषण! हमने दूध में प्रदूषण सुना, हवा में प्रदूषण सुना, घी में प्रदूषण सुना, अब भगवान में भी प्रदूषण कि पत्थर सब मुम्बई के और मिट्टी गिरिराजजी के यहाँ से ला कर छिड़क दी और गिरिराजजी हो गए! अब धंधा चालू हो गया। करो परिक्रमा, चढ़ाओ दूध, लाओ पैसा। इस प्रक्रिया में गिरिराजजी भी बेचारे प्रदूषित होते जाते हैं। अतः समर्पण का सच्चा अर्थ समझने के लिए हमें यह बात विशेषरूप से ध्यान में रखनी चाहिए।

हम यही चिन्ता करते हैं कि हम समर्पण करते हैं तो समर्पित और असमर्पित का निर्वाह कैसे करेंगे? हमने समर्पण किया, निवेदन किया तो समर्पण हुआ कि नहीं? समर्पण हुआ तो विनियोग हुआ कि नहीं? विनियोग नहीं हो रहा है तो हमने जो समर्पण किया होगा, निवेदन किया होगा उसका समर्पण हुआ कि नहीं हुआ - इसकी चिन्ता रहेगी। विनियोग हुआ कि नहीं हुआ उसकी चिन्ता होगी। इसलिए सिद्धान्तरहस्य के बाद वापस चिन्ता प्रकट हो रही है, उस चिन्ता के निवारण के लिए नवरत्न ग्रन्थ आता है।

प्रश्न : ''गंगात्वे न निरूप्या'' है कि ''गंगात्वेन निरूप्या'' है?

उत्तर : इसके लिए **''गुणदोषादिवर्णना, गंङ्गात्वे न निरूप्या स्यात्''** का उपक्रम है। कारण यह है कि इसके बाद उसके जो गुण-दोष हैं

वे निरूपित ही नहीं रह जाते। बहुत ही सुन्दर प्रश्न पूछा। ध्यान से समझें कि यदि हम ऐसा अर्थ करते हैं कि जो साधारण जल है वह गंगाजी में मिल जाए तो उस साधारण जल के गुण-दोष गंगात्वेन निरूपित नहीं होंगे तो गंगा में दोष मानना पड़ेगा। इस प्रकार गंगा में दोष उत्पन्न करनेवाले समर्पण की तो आवश्यकता ही नहीं है इसलिए हमें यहाँ विराम लेना चाहिए, यदि ''गंङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोष'' में 'निरूप्या' और ''गुणदोषादि वर्णना'' समान विभक्ति के हैं।

फिर जो लौकिकवत् जल है, उसके गुण-दोष का वर्णन गंगात्व होने से निरूप्य नहीं रह जाता। उसका गंगात्व ही हो जाता है और यदि ऐसे अर्थ लेते हैं कि ''गंगात्वे न निरूप्या स्यात्'' तो लौकिक जल के गुण-दोष गंगा के गुण-दोष के रूप में हो गए। अब गंगा के गुण के रूप में तो बात ठीक है पर दोष के रूप में अर्थ करने से तो सिद्धान्तरहस्य के सारतत्त्व पर कुठाराघात होगा। क्योंकि सार यह है कि सदोष (जीव) निर्दोष (प्रभु) की सेवा कैसे करे। यहाँ समर्पण आ रहा है, उसमें गंगा और लौकिक जल की बात आ रही है तो फिर ''गुणदोषादि वर्णना'' नहीं रह जाता। आप सब इसमें इस बात को लिख लें कि **''गुणदोषदृषिर् दोषो गुणस्तूभयवर्जितः''** - जब आप गुण और दोष की विवेचना कर रहे हैं तो यह दोष का ही एक प्रकार हो जाता है।

यह ब्रह्मज्ञान के स्तर पर की गई बात है। अपने लौकिक स्तर की बात नहीं है। इसे ऊटपटांग अर्थ में नहीं लेना चाहिए कि जिस समय जिसे ब्रह्मज्ञान होगा तो उसके लिए ब्रह्मज्ञान के पश्चात् किसी भी वस्तु में गुण और दोष के दर्शन करना भी एक दोष है। और गुण क्या है कि न गुण दिखाई दे और न दोष दिखाई दे, केवल ब्रह्म ही दिखाई दे।

अपने यहाँ पुष्टिमार्ग में जैसे हमने कोई पुरुषार्थ किया, पुरुषार्थ करके कोई गुण हमने अपने भीतर विकसित किया अथवा प्राप्त किया तो हम उसका

अभिनन्दन किस प्रकार करते हैं कि उन पर प्रभु की बहुत कृपा है या उनको सामग्री बहुत सुन्दर बनाना आता है या उनको कीर्तन बहुत अच्छे आते हैं, प्रभु की कृपा है। मतलब क्या हुआ? व्यक्ति के गुणों की प्रशंसा करने के बदले प्रभु की कृपा की प्रशंसा करते हैं, व्यक्ति के गुणों की प्रशंसा नहीं करते।

जब व्यक्ति की निंदा करने का प्रसंग आता है, अवगुणों का प्रसंग आता है तो हम कहते हैं कि भाई, भगवदिच्छा कुछ विपरीत लग रही है। कैसे-कैसे दोष उनमें प्रकट हो रहे हैं! यह अपनी चित्त की भक्तिमयी वृत्ति को संभाले रखने की एक प्राचीन नियमप्रियता है। अब वह छूट गई है। प्राचीन लोग इसका निष्ठा से पालन करते थे। व्यक्ति की न तो प्रशंसा करनी, न व्यक्ति की निंदा करनी अर्थात् भगवदिच्छा और भगवत्कृपा से ही प्रत्येक बात का समाधान करते रहना।

इस परिपाटी का सिक्के की तरह इतना उपयोग किया कि उसकी चमक और छपाई दोनों घिस गए। इसलिए सावधानीपूर्वक वापस पहचानना पड़ेगा। इसके लिए वापस थोड़ी सावधानी की आवश्यकता है। प्रमाणतः यह बात बहुत उत्तम है परन्तु केवल सिक्के के अर्थ में उपयोग में आए तो खोटा सिक्का भी चल सकता है! जब उस पर की गई छपाई घिस जाती है तो उसके एवज में खोटा सिक्का भी चल सकता है। अतः खोटा सिक्का न चले इसके लिए उसकी चमक और छपाई को देख लेना वापस आवश्यक बन जाता है।

प्रश्न : अक्षरशः का अर्थ क्या है?

उत्तर : ''अक्षरशः'' अर्थात् प्रभु ने जो कहा वह सब, उसमें न कुछ बढ़ाया जा सकता है, न कुछ घटाया जा सकता है।

''**गुणदोषदृषिर् दोषो गुणस्तूभयवर्जितः**'' - ब्रह्मज्ञान होने के बाद किसी के गुण और दोष का परीक्षण करना एक दोष है। ब्रह्मज्ञान होने के बाद

''गुणस्तु उभय वर्जितः'' अर्थात् न किसी के गुण देखने को मिले और न किसी के दोष देखने को मिले। जहाँ गुण हैं वहाँ भी ब्रह्म दिखाई देगा और जहाँ दोष हैं वहाँ भी ब्रह्म दिखाई देगा अर्थात् ''**शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः**'' **(भ.गी. 5/18)** गीताजी का सिद्धान्त है। ''गुणस्तु उभय वर्जितः'' गुण-दोष न दिखाना, ब्रह्म ही दिखाई देना। क्योंकि गुण भी दिखाई दे रहे हैं तो आपकी ब्रह्मदृष्टि में थोड़ी सकारात्मक बाधा आ रही है और जब किसी वस्तु का गुण नहीं दिखाई दे रहा और ब्रह्म ही दिखाई दे रहा है तो फिर आपकी ब्रह्म की अनुभूति में कोई बाधा नहीं आती। यही बात है।

।। इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितं सिद्धान्तरहस्यं सम्पूर्णम्।।

।। नवरत्नम्।।

भूमिका :-

जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विट्ठलेश्वर प्रभुः श्रीमान्।
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर् जयति।।

सिद्धान्तों को अपनी सक्रिय बुद्धि से समझने का जो अभिगम है, उसी का हम उत्सव मना रहे हैं - पुष्टिसिद्धान्त चर्चासभा का वार्षिक उत्सव। निष्क्रियरूप से केवल सुनते रहना और अपनी बुद्धि का प्रयोग नहीं करना, ऐसा तो हमने बहुत सुना पर अपनी सक्रिय रुचि ले कर श्रीमहाप्रभुजी की वाणी का अवगाहन करने का जो अभिगम था वही पुष्टिसिद्धान्त चर्चासभा थी और सभा के वार्षिक महोत्सव को इसी अभिगम से केवल हम गोस्वामी बालकों को ही नहीं, केवल आप वैष्णवों को ही नहीं बल्कि हम सब पुष्टिमार्गीयों को साथ मिल कर मनाना चाहिए।

उसी कड़ी के रूप में अब हम नवरत्न का सघन स्वाध्याय करेंगे। जो पत्रिका यहाँ है वह जिन लोगों को रखनी हो वे हाथ में रखें, नवरत्न के श्लोकों का अन्वय करके प्रत्येक शब्द के अन्वय के बाद होनेवाली वाक्यरचना के घटक, जो-जो उपादान हैं उनको अलग-अलग रूप से इसमें दर्शाया गया है। कहीं टाइप को सघन किया गया है, कहीं किसी टाइप केस के नीचे रेखांकन किया गया है, किसी टाइप को तिरछा किया है, किसी टाइप को सीधा रहने दिया है, किसी टाइप के ऊपर अर्थात् अक्षरों के ऊपर कोष्ठक बनाया गया है और एक तरफ एक बॉक्स ब्रेकिट दिया गया है ताकि वाक्यों के अलग-अलग अंगों को हम भलीभाँति समझ सकें।

इसे समझने से पहले नवरत्न के उपदेश के पीछे जो कुछ मुख्य मुद्दे हैं उन्हें हमें ठीक प्रकार से समझना पड़ेगा।

नवरत्न के सम्बन्ध में सबसे पहला मुद्दा यह है कि नवरत्न षोडशग्रन्थों में से एक है। हम पुष्टिमार्गीय हैं और हमारे पुष्टिमार्ग की यदि कोई आचार संहिता है तो पुष्टिमार्गीयों के लिए उस आचार-संहिता का प्राथमिक उपदेश श्रीमहाप्रभुजी ने षोडशग्रन्थों द्वारा किया। इसके अतिरिक्त भी कुछेक आचार-संहितारूप ग्रन्थ श्रीमहाप्रभुजी के हैं और प्रत्यक्षरूप से जो उपदेश श्रीमहाप्रभुजी नहीं दे सके वे उपदेश श्रीगुसांईजी ने दिए हैं। षोडशग्रन्थ के अतिरिक्त भी ऐसे अमुक ग्रन्थ हैं। इसीलिए मैंने एक प्रोजेक्ट हाथ में लिया है। लगभग 22 ग्रन्थों का एक समेकित ग्रन्थ (Consolidated Volume) हम प्रकाशित कराने जा रहे हैं। जब श्रीमहाप्रभुजी कृपा करेंगे तब निश्चितरूप से बाहर आ जाएंगे।

यह सब ग्रन्थ ऐसे हैं जो हमारी आचार-संहिता को समझाते हैं। इनमें श्रीगुसांईजी द्वारा रचित सर्वोत्तमस्तोत्र, वल्लभाष्टकम्, स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत, श्रीमहाप्रभुजी द्वारा रचित पंचश्लोकी, शिक्षाश्लोकी और सर्वनिर्णय के साधन प्रकरण सहित मंगलाचरण जैसे ग्रन्थों का इसमें समावेश करके लगभग 22 ग्रन्थों की हमारी एक आचार-संहिता का निकट भविष्य में ही प्रकाशन करूँगा। फिलहाल जो हमें समझने की आवश्यकता है वह यह है कि षोडशग्रन्थ हमारी सबसे पहली आचार-संहिता है।

षोडशग्रन्थ के उपदेशों से हम विमुख हो गए और किसी दूसरे ही मार्ग पर भटक गए। इसलिए समझ जाएँ कि आप पुष्टिमार्ग पर नहीं चल रहे हैं। षोड़शग्रन्थ को समझें, जिस प्रकार से समझ सकते हैं उस प्रकार से समझें। बालकों से समझें, स्वयं अध्ययन कर समझें, चर्चा करके समझें, अनुवाद से समझें, बशर्ते कि अनुवाद सच्चा हो, फिर कोई आपत्ति नहीं। इसी बात को ध्यान में रख कर श्रीगुसांईजी ने यहाँ नवरत्नग्रन्थ के अन्त में एक बहुत सूचनापरक बात हमें बताई है और वह प्रत्येक पुष्टिमार्गीय को ख्याल में रखने

जैसी है। श्रोताओं को तो ध्यान में रखनी ही है लेकिन जो पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों का उपदेश करना चाहते हैं उनको सविशेष ख्याल में रखने जैसी है। श्रीगुसांईजी आज्ञा करते हैं –

''भक्तिमार्गे प्रवृतस्य दार्ढ्यार्थम् इदम् उच्यते।
अन्धस्य सूर्यइव तद् विमुखस्यात्र नार्थिता।।''

जो पुष्टिमार्ग पर प्रवृत्त हुआ है, जो पुष्टिमार्ग पर चलना चाहता है – **''भक्तिमार्गे प्रवृतस्य दार्ढ्यार्थम् इदम् उच्यते''** अर्थात् यह जो कुछ भी उपदेश दिया जा रहा है वह उसके लिए है जो पुष्टिमार्ग पर अपने दृढ़ कदमों से, दृढ़ चरणों से चल सके। ''अन्धस्य सूर्यइव'' – अंधे मनुष्य को सूर्योदय और सूर्यास्त से कोई असर नहीं पड़ता, वैसे ही जो पुष्टिमार्ग से विमुख है उसके लिए नवरत्न में चिन्ता करने या न करने के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया है।

जो पुष्टिमार्ग पर चलना चाहता है और उसे जो चिन्ता हो रही है उसकी चिन्ता का निराकरण यहाँ उपदिष्ट है। हमें शादी के लिए लड़की नहीं मिलती, परीक्षा में पास होना है, व्यापार नहीं चलता और ''चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापीति'' के पाठ करेंगे तो भगवान आपकी लौकिक गति ही करनेवाला है। अतः इस बात को सत्य समझ कर रखें क्योंकि ऐसी चिन्ताओं के सम्बन्ध में इस नवरत्न का कुछ भी लेना-देना नहीं है। ''तद् विमुखस्यात्र नार्थिता'' अर्थात् यहाँ उसको दृष्टि में रख कर कुछ भी नहीं कहा जा रहा है। यह बात हमें सबसे पहले समझ लेनी है। आपके हाथ में कागज है, चाहें तो लिख कर स्पष्ट कर लें, चाहें तो मन में उकेर कर रख लें, पर यह बात सबसे अहम मुद्दा है। इसे हरेक को समझ लेना चाहिए।

आज समय ऐसा विचित्र आ गया है कि मुझे भय लगता है कि आनेवाले कुछ दिनों में किसी को कोई चिन्ता होती होगी तो नवरत्न महायाग

भी कराने लगेंगे – ''चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापीति स्वाहा'' ''भगवानपि पुष्टिस्थो स्वाहा'' ''न करिष्यति लौकिकीञ्च गतिम् स्वाहा।'' कर दें सबको स्वाहा पर यहाँ यह बात नहीं कही जा रही है भाई साहब, स्वाहा-स्वाहा का सिद्धान्त नहीं कहा जा रहा, उस चिन्ता के विषय में यहाँ कुछ नहीं कहा जा रहा है।

इसलिए सबसे पहले हमें अपने हृदय में यह बात स्पष्ट कर लेनी चाहिए कि यह स्वाहाकार जो हम कर रहे हैं उसका पुष्टिमार्ग के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। यह मर्यादामार्गीय प्रणाली है। हमें मर्यादामार्ग का भी अनुसरण करना है। ऐसा नहीं है कि पुष्टिमार्गीय हो गए इसलिए ''सैंया भये कोतवाल, अब डर काहे का।'' सारी मर्यादाओं को तोड़ने का नाम पुष्टि है, हमें इस भ्रम में नहीं रहना चाहिए, लेकिन मर्यादा और पुष्टि का मिश्रण न करें। प्रत्येक का उसकी सच्चाई के साथ अनुसरण करें, यह एक सबसे पहली आवश्यकता है। नवरत्न अथवा किसी भी षोडशग्रन्थ को समझने से पहले यह बात समझ लेने की महती आवश्यकता है।

इसके अतिरिक्त एक बात यह भी समझें कि श्रीमहाप्रभुजी ने षोडशग्रन्थ के अन्य पंद्रह ग्रन्थों में कहीं भी उक्त चिन्ताओं के बारे में कुछ नहीं कहा है। द्वितीय उपदेश को बालबोध कहा है। इससे हमें सूचना प्राप्त करनी हो तो हम प्राप्त कर सकते हैं। जैसे एक बालक का शारीरिक-मानसिक विकास, परिवार में समाज में जिस प्रकार होता है उस सब को लक्ष्य में रख कर बाल्यावस्था, कुमारावस्था, किशोरावस्था, यौवनावस्था, प्रौढ़ावस्था, वृद्धावस्था ऐसी लगभग छः प्रकार की अवस्थाएं मान्य हैं।

अब षोडशग्रन्थ के द्वितीय उपदेश को बालबोध कहा तो इस हिसाब से भी हमें षोडशग्रन्थ को देखने की एक दृष्टि विकसित करनी चाहिए। यमुनाष्टक और बालबोध हमारे लिए बालोपदेश हैं। पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों की

समझ, पुष्टिभक्ति और पुष्टिशरणागति को जीने के बारे में हमारे अभिगम, उसके प्रति निष्ठा, श्रद्धा के स्तर को दृष्टि में रख कर ये दो उपदेश किए गए हैं - यमुनाष्टकम् और बालबोध।

इसके बाद आती है कुमारावस्था। बाल्यावस्था और कुमारावस्था के बीच का भेद हम संक्षेप में इस प्रकार समझ सकते हैं कि जो अभी अपने पैर पर नहीं चल सकता वह बाल। थोड़ा डगमगा कर कदम भरता हो तो आपत्ति नहीं है पर चलने लग जाए तो कुमार। सिद्धान्तमुक्तावली और पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद ये दोनों कुमारावस्था के ग्रन्थ हैं। पुष्टिमार्गीय दृष्टि से कुमारावस्था को लक्ष्य में रखकर ये दो उपदेश दिए गए हैं। इसके बाद किशोरावस्था - 16 वर्ष की उम्र तक किशोरावस्था कही जाती है। पुष्टिमार्गीय दृष्टि से किशोरावस्था के 4 ग्रन्थ गिन सकते हैं - (1) सिद्धान्तरहस्यम् (2) नवरत्नम् (3) अन्तःकरणप्रबोधः (4) विवेकधैर्याश्रयः। ये 4 चार ग्रन्थ किशोरावस्था की दृष्टि से उपदिष्ट ग्रन्थ हैं। किशोरावस्था अर्थात् जिसे हम teen age कहते हैं।

16 से 30 वर्ष की उम्र युवावस्था अथवा यौवनावस्था कही जाती है। षोडशग्रन्थ के अन्तर्गत (1) कृष्णाश्रय (2) चतुःश्लोकी (3) भक्तिवर्धिनी युवावस्था के ग्रन्थ कहे जाते हैं। ये 3 ग्रन्थ पुष्टिमार्गीय युवावस्था का उपदेश देनेवाले ग्रन्थ हैं। पुष्टिमार्गीय युवा कैसा होना चाहिए - इस बात को समझानेवाले ये 3 ग्रन्थ हैं।

अब समझें प्रौढ़ावस्था, 30 वर्ष की उम्र के बाद प्रौढ़ गिने जाते हैं। पुष्टिमार्गीय दृष्टि से प्रौढ़ावस्था के 3 ग्रन्थ हैं - (1) जलभेदः (2)पञ्चपद्यानि (3) संन्यासनिर्णयः। ये 3 ग्रन्थ प्रौढ़ावस्था को लक्ष्य में रख कर उपदेश देनेवाले ग्रन्थ हैं। अन्तिम वृद्धावस्था कही जाती है, जब सिर के बाल सफेद हो जाते हैं, घर में दवाओं का जमावड़ा कम ही नहीं होता, ऐसी अवस्था को वृद्धावस्था कहते हैं। षोडशग्रन्थ के अन्तर्गत निरोधलक्षणम् और सेवाफलम् ये

2 ग्रन्थ पुष्टिमार्गीय वृद्धावस्था की दृष्टि से उपदिष्ट ग्रन्थ हैं अर्थात् पुष्टिमार्गीय वृद्ध कैसा होना चाहिए, इसे समझानेवाले ये दो ग्रन्थ हैं।

हमने ब्रह्मसम्बन्ध ले लिया लेकिन हमारे समक्ष आज ऐसी जड़ता पुष्टिमार्ग में उत्पन्न हो गई है कि अतिशयोक्ति यह है कि जो महाराज लंदन, अमेरिका, खाड़ी के देश आदि स्थानों पर जा रहे हैं वहाँ वे कोई कुएँ नहीं खुदवाते। वहाँ जो जल प्राप्त होता है सब वही पी रहे हैं। विदेश में रहते किसी भी वैष्णव को पूछ लें, पता चल जाएगा कि रहस्य क्या है लेकिन वैष्णव को कहा जाता है कि आप कुएँ के जल से नहीं नहाए तो ब्रह्मसम्बन्ध मन्त्र बोल ही नहीं सकते। अब वैष्णव कुएँ का जल कहाँ से लाएं और ब्रह्मसम्बन्ध मन्त्र कहाँ से बोलें? अर्थात् ब्रह्मसम्बन्ध ले लिया हो तो भी आपको उसे भुलाने के दुष्प्रयत्न हैं।

यह ध्यान देनेवाली बात है कि किसी भी ली हुई दीक्षा को भूल जाने से बड़ा दोष दुनिया में दूसरा नहीं है। सबसे बड़ा दोष दुनिया में यह है कि आप हाल ही ली गई दीक्षा को भूल गए। यह बात मुझसे नहीं, पचास परिचित वैष्णवों का सर्वे करके देख लें, पचास ब्रह्मसम्बन्धी वैष्णवों को पूछ कर देखें कि क्या उनको ब्रह्मसम्बन्ध मन्त्र आता है? यदि पचास में से पाँच भी यह कह दें कि हाँ, आता है तो पुष्टिमार्ग को जीवित मान लेना चाहिए। मैं तो इस परिस्थिति में निराशावादी हूँ। पाँच भी मुश्किल से कह पाएंगे कि आता है, ऐसी स्थिति है।

सब ब्रह्मसम्बन्ध ले लेते हैं लेकिन किसी को भी ब्रह्मसम्बन्ध का मन्त्र नहीं आता, अर्थ तो खैर आता ही नहीं, वह तो हम बालकों को भी नहीं आता। पूछने पर खवास को निर्देश दे देते हैं कि भगाओ-भगाओ, कहाँ सिर खाने आ गए। तो अर्थ तो हमें भी नहीं आता और वैष्णव को मूलमंत्र भी नहीं आता कि मंत्र के शब्द क्या हैं! यह हालत है फिर भी हम सब जी रहे हैं। कैसी विकट स्थिति है!

आचार्यचरण नवरत्न में जो कुछ भी कह रहे हैं उससे सर्वथा विपरीत परिस्थिति है, हम जो कुछ भी कर रहे हैं वह बिलकुल विपरीत है। निरन्तर श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि तुम्हें सारी चिन्ता इसलिए हो रही है कि ब्रह्मसंबंध लेते समय आखिर तुमने क्या लिया? उस पर ध्यान नहीं दिया। थोड़ा ध्यान देना चाहिए। आपने ब्रह्मसंबंध लिया, परमात्मा को जीवात्मा ने आत्मनिवेदन किया। एक तथ्य है परमात्मा और एक तथ्य है जीवात्मा तथा एक तथ्य है आत्मनिवेदन। हमने आत्मा और आत्मीय का निवेदन किया है। आत्मनिवेदन का तात्पर्य थोड़ा ध्यान से समझें।

जीवात्मा, आत्मनिवेदन, पुष्टिमार्गीय परमात्मा या पुष्टिप्रभु, बस इतनी बात आपको याद रही तो सारी समस्याओं का समाधान हो रहा है। आज जो कुछ हम भूल गए हैं, इन तीन में से किसी एक पक्ष को भूल जाने से सारी समस्याएँ खड़ी हो रही हैं। पहला, दूसरा या तीसरा-आत्मनिवेदन में तीन पक्ष उभर कर सामने आ रहे हैं। आत्मनिवेदन अर्थात् आत्मा, और आत्मीय का तात्पर्य हमारी अहंता और ममता का निवेदन है।

निवेदन कैसा? मर्यादामार्ग जैसा नहीं बल्कि पुष्टिमार्गीय प्रकार से। किसका आत्मा? किसके आत्मीय? पुष्टिजीवात्मा की आत्मा और पुष्टिजीवात्मा के आत्मीय। किसको निवेदन? परमात्मा को, जो पुष्टिप्रभु है। इसमें बस वह पुष्टिवाला पक्ष प्रत्येक वस्तु को उचित ठहरा रहा है। प्रत्येक वस्तु को चिन्तानिवृत्ति से उचित बना रहा है। अतः वह हमने ध्यान में रखा तो कभी कोई चिन्ता नहीं हो सकती। अर्थात् उसकी (पुष्टि की) सभानता हममें हो, भान हमें हो, अनुभूति हमारे भीतर बनी हुई हो तो कभी किसी चिन्ता का प्रसंग खड़ा नहीं हो सकता। इन तीन में से किसी एक पहलू को जिस समय हम भूल रहे हैं तो सारी चिन्ताएँ उत्पन्न हो रही हैं।

*****

॥ नवरत्नम् ॥

(आत्मनिवेदनस्वरूपस्य चिन्तनेन लौकिक्याः अलौकिक्याः वा, सेवोपयोगवस्तुविषयिण्याः तदनुपयोगिवस्तुविषयिण्याः वा, क्रियमाणायाः सर्वविधचिन्तायाः अकर्तव्यत्वस्य उपदेशः)

आत्मनिवेदन के स्वरूप का चिन्तन करने से आत्मनिवेदन में ठीक-ठीक तीन बातें आ गई हैं। आत्मनिवेदन एक पारिभाषिक शब्द है। सर्वत्र आत्मनिवेदन का अर्थ यही नहीं होता, लेकिन अपने यहाँ जो 'आत्मनिवेदन' शब्द है उसकी परिभाषा यह है। इस परिभाषा को स्पष्टरूप से समझ लें, उसका चिन्तन करने से लौकिक चिन्ता अथवा अलौकिक चिन्ता, सेवा में उपयोगी वस्तु के विषय में अथवा सेवा में अनुपयोगी वस्तु के विषय में की जाती सारी चिंता "**अकर्तव्यत्वस्य उपदेशः**" - आप जो चिन्ता कर रहे हैं वह न करें।

अब देखें कि चिन्ता के दो मुख्य विभाग हैं। वैसे तो मैंने हाल ही में भलीभाँति नवरत्न का अध्यापन किया है इसलिए अधिक अपेक्षा रखने का अधिकार नहीं है परन्तु "**भई है उदास, तोऊ मिलन की है आस**" के अनुसंधान से थोड़ी आशा रखता हूँ कि आपको स्मरण होगा कि चिन्ता के मूल दो भेद हैं - एक क्रियमाणा चिन्ता और दूसरी जायमाणा चिन्ता। अर्थात् एक स्वैच्छिक (की जानेवाली) चिन्ता और एक अनैच्छिक चिन्ता (साहजिक होनेवाली)। एक ऐसी चिन्ता जिसे हम खुजा-खुजा कर फोड़ा बना रहे हैं और एक वह जिसमें अन्दर से ही फोड़ा फूट गया हो। यों दो प्रकार के फोड़े होते हैं कि एक फुन्सी को हम खुजा-खुजा कर फोड़ा बना देते हैं। मूल में फुन्सी होती है परन्तु बहुत खुजाने से वह फोड़ा बन जाती है। तेलुगु में एक कहावत है - "**कोटि पुंडरू ब्रह्मराक्षस**" - छोटी फुन्सी को खूब मसलें तो उसमें से एक ब्रह्मराक्षस जैसा फोड़ा तैयार हो जाएगा।

इस प्रकार एक ऐसी चिन्ता जो फुन्सी को खुजा कर फोड़ा बना दे और एक ऐसी चिन्ता जो भीतर से फोड़ा फूट कर कैंसर की गाँठ जैसा बन जाता है। ये दो प्रकार की मूल चिंताएँ हैं - स्वैच्छिक और अनैच्छिक। अत: जो अन्तिम दो श्लोक हैं, आठवाँ और नवाँ, उनमें अनैच्छिक चिन्ता के निवारण का उपदेश है और सातवें श्लोक तक स्वैच्छिक चिन्ता न करने की बात कह रहे हैं।

नौ श्लोक में से आठवाँ और नौवाँ अनैच्छिक चिन्ता के निवारण के विषय में हैं और एक से सात श्लोक तक यह कहा जा रहा है कि स्वैच्छिक चिन्ता न करें। ऐसा कहें तो उस उपदेश का कोई अनुसरण कर सकता है। यदि कोई अनैच्छिक चिन्ता न करने के लिए कहे तो कोई किस प्रकार उसका अनुसरण कर सकता है? इसी कारण से वहाँ चिन्ता नहीं करने का उपदेश नहीं है। जो हो रही है उसको नियंत्रण में रखने का उपदेश है। अब चिन्ता तो हो ही रही है पर उस पर नियंत्रण कैसे रखें, वहाँ यह उपदेश है। जहाँ चिन्ता कर रहे हैं, वहाँ चिन्ता न करने का उपदेश है। अब न करने में कौन-कौनसी वस्तु सहायक होगी? यह बात मैंने नवरत्न के प्रवचन में बहुत विस्तार से बताई थी। अत: यहाँ विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है।

चिन्ता काऽपि न कार्या निवेदितात्मभि: कदाऽपीति।
भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम्।।1।।
निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनै:।
सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छात: करिष्यति।।2।।

अन्वयार्थ :

निवेदितात्मभि: = आत्मनिवेदन किए हुए भक्तों को
कदा = किसी समय
अपि = भी, **का** = कोई

अपि = भी, **चिन्ता** = चिन्ता
न = नहीं, **कार्या** = करनी
इति = क्योंकि, **भगवान्** = श्रीकृष्ण
अपि = निश्चितरूप से
पुष्टिस्थ: = कृपा में स्थित हैं
लौकिकीं = लौकिक
गतिं = गति को
न = नहीं
करिष्यति = करेंगे
तादृशै: = तादृशी
जनै: = लोगों को
निवेदनं = निवेदन का
तु = तो
सर्वथा = सब प्रकार से
स्मर्तव्यं = स्मरण करना
सर्वेश्वर: = सबके ईश्वर
च = और
सर्वात्मा = सबके आत्मारूप
(**भगवान्** = भगवान्)
निजेच्छात: = अपनी इच्छा के अनुसार
करिष्यति = करेंगे

भावार्थ : जिन्होंने अपने आत्मादिक सब निवेदित किए हैं उनके लिए किसी भी समय किसी बात की चिन्ता कर्तव्य नहीं है। क्योंकि यह जीव पुष्टिमार्ग में रहा है इसलिए भगवान उसकी लौकिक गति कभी नहीं करेंगे।

जो सर्वथा तादृश हुए हैं अर्थात् निवेदितात्मा हैं उनको (उनके समक्ष) निवेदन का स्मरण अवश्य करना चाहिए। प्रभु सबके ईश्वर हैं और सबके आत्मा हैं इसलिए अपनी इच्छा से करेंगे।

व्याख्या :

''चिंता कापि'' में 'कापि' का अर्थ क्या है? सेवा में उपयोगी वस्तु के विषय में अथवा सेवा में अनुपयोगी वस्तु के विषय में कोई भी चिन्ता न करें। ''न कार्या'' अर्थात् न करें। तात्पर्य यह है कि आप चिन्ता कर रहे हैं, हो नहीं रही है। तभी तो यह कह सकेंगे कि न करें। ''न कार्या'' - किसको नहीं करनी चाहिए? ''निवेदितात्मभि: कदापीति'' - जो निवेदित आत्मा हैं, उन्हें कोई भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

कारण यह है कि ''भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम्'' अरे! जिसको आपने आत्मसमर्पण किया उस पर थोड़ा तो विश्वास प्रकट करें। यह बिलकुल आज के आधुनिक विवाह जैसी परिस्थिति है कि बेटी का हम विवाह कर देते हैं लेकिन हमें विश्वास नहीं आता कि लड़की की कोई हत्या तो नहीं कर देगा, लड़की को कोई जला तो नहीं देगा! भाई देखो, जब इतना अविश्वास है तो विवाह नहीं करना चाहिए। विवाह करने के बाद थोड़ा तो विश्वास करना चाहिए। लेकिन होता क्या है? दोनों तरफ से बखेड़े खड़े हो जाते हैं। विश्वास करके लड़की देते हैं पर कोई जला देता है, ऐसे दो-चार किस्से अखबार में पढ़ कर हमारा विश्वास डगमगा जाता है। पहले ही अविश्वास से लड़की देंगे तो जमाई बेचारा स्वस्थ सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकेगा। जब ससुर अविश्वास से बेटी देता है तो स्वस्थ सम्बन्ध नहीं बनता। इस प्रकार से दोनों हाथ से ताली बजती ही रहती है, इस चिन्ता का अन्त ही नहीं आता।

इस परिस्थिति को दृष्टिगत रखते हुए श्रीमहाप्रभुजी ध्यान दिला रहे हैं कि इस बात को समझें कि आप निवेदितात्मा हैं और वह पुष्टिस्थ भगवान है तथा आपने पुष्टिमार्गीय आत्मनिवेदन किया है। इन तीन बातों को आप ध्यान में रखेंगे तो चिन्ता करने के लिए आपके पास कोई उचित कारण नहीं रह जाता। निवृत्त कैसे करेंगे? तो श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि ''निवेदनन्तु स्मर्तव्यं।''

अब देखें, हमें निवेदन मंत्र ही याद नहीं तो स्मरण किस प्रकार करेंगे? अगर प.भ. को पूछेंगे तो वह वापस भटका ही देगा। प.भ. सारे खुराफाती जीव हैं। वे निवेदन के बदले कोई दूसरी बात समझा देंगे कि यहाँ रासलीला करने आएं, यहाँ फलाँ (अमुक) करने आएं। अरे भाई क्या मुसीबत है। ''निवेदनन्तु स्मर्तव्यं'' की बात है। उस रासलीला की बात नहीं। ज्यादा कहोगे तो कहेंगे- ''रासलीलैक तात्पर्य: कृपयैतत्कथा प्रद:'' अब बेचारे श्रीमहाप्रभुजी क्या करें? दु:खी हैं श्रीमहाप्रभुजी अपने अनुयायियों से। ''रासलीलैक तात्पर्य:'' का सम्बन्ध यहाँ कैसे आ गया तो कहेंगे कि रासलीला में गोपीजन ने चिन्ता नहीं की थी! अपने पतियों को छोड़ कर भाग गई थीं। वैसे भाग कर मेरे पास आएँ। यह कोई समाधान नहीं है। ''निवेदनन्तु स्मर्तव्यं'' द्वारा कोई दूसरी ही बात कही जा रही है।

फिर ठीक से समझें कि क्या बात समझनी है। ''रासलीलैक तात्पर्य:'' की नहीं बल्कि ''सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छात: करिष्यति'' - वह सर्वेश्वर है और केवल सर्वेश्वर हो तो भी चिन्ता का कारण हो सकता है लेकिन सर्वात्मा भी है। केवल सर्वात्मा हो तो भी चिन्ता का कारण हो सकता है पर सर्वेश्वर भी है। तात्पर्य यह है कि आपका स्वामी भी है और आपके भीतर भी है। अत: आपका स्वामी भी है और आत्मा भी है फिर आपको चिंतित कैसे रहने देगा? किस वजह से आपके समक्ष चिन्ता का कारण उत्पन्न करेगा? जो कुछ प्रकट हो रहा है उसको आप चिन्ता का कारण मान रहे हैं।

बात यह है कि उस पर आप विश्वास प्रकट नहीं कर रहे हैं कि वह सर्वेश्वर और सर्वात्मा है, उसकी सर्वेश्वरता पर, उसकी सर्वात्मकता पर आप विश्वास रखें। यथार्थत: यह सर्वेश्वर - सर्वात्मा उसको पुष्टिप्रभु बना रहा है। परमात्मा यदि सर्वात्मा है और सर्वेश्वर नहीं तो पुष्टिप्रभु नहीं रह जाता, सर्वेश्वर है और सर्वात्मा नहीं तो भी पुष्टिप्रभु नहीं रह जाता।

यह ठीक ऐसी परिस्थिति है कि जहाँ शुद्धाद्वैत का बहुत ही संवेदनशील संतुलन हमें समझना है। जैसे मैं आपको निरन्तर समझाता रहा हूँ कि हम कृष्ण हैं और कृष्ण की सेवा हमें करनी है। ऐसे ही वह अपना आत्मा है और अपना ईश्वर है वह अपना ऐसा आत्मा नहीं कि अपना ईश्वर न हो और ऐसा ईश्वर नहीं कि अपना आत्मा न हो।

जैसे रोमन लोग गुलामों को लड़ने के लिए सिंह के सामने छोड़ देते थे और जब सिंह उनको खा जाता तो बहुत खुश हो कर ताली बजाते, ईश्वर ऐसा क्रूर नहीं है। वह आपका आत्मारूप ईश्वर है। यदि सिंह आपको खा रहा है तो वह स्वयं ही स्वयं का भक्षण कर रहा है, वह आपका भक्षण नहीं करा रहा। ऐसा भी न समझें कि वह खानेवालों को रोकने में समर्थ नहीं है। उसके पास कुछ ऐसी गणना है कि जो आपके काम आना है, उसके अतिरिक्त भी वह कुछ कर सकता था परन्तु ईश्वर होने के कारण उसने प्राथमिकरूप से यह पसन्द किया है।

जैसे डॉ. दवा दे कर आपको ठीक कर सकता है पर रोग यदि ऐसी परिस्थिति मे आ पहुँचे कि सड़े हुए अंग को न काटने से मर जाओगे तो ऑपरेशन करके आपको तकलीफ दे कर भी रोग को दूर करना चाहता है। इसी प्रकार आप उसकी सर्वेश्वरता और सर्वात्मकता पर ध्यान देंगे तो आपको चिन्ता का कोई कारण नहीं दिखाई देगा।

(निवेदितात्मना निवेदितेषु अनिवेदितेषु वा स्वस्य स्वकीयानां वा विनियोगेपि भक्त्यर्थं क्रियमाणा चिन्ता आत्मनिवेदन-स्वरूपविचारेण निवर्तनीया)

जो निवेदित आत्मा हैं उनकी निवेदित अथवा अनिवेदित वस्तु का, अपना अथवा अपनी आत्मीय वस्तु का अथवा सेवा में स्वयं का विनियोग अथवा अपने स्वकीयों का विनियोग लौकिक में होगा तो मेरी भक्ति सिद्ध नहीं होती। फिर भक्ति कैसे सिद्ध हो?

मैंने आत्मनिवेदन किया पर मैं अपना विनियोग सेवा में नहीं कर सकता। मैंने आत्मनिवेदन किया इसका क्या तात्पर्य है? मैंने आत्मीयों का भी निवेदन किया है और उनका सेवा में विनियोग नहीं हो रहा तो मेरी भक्ति कैसे सिद्ध होगी? इस भक्ति के लिए आप जो चिन्ता कर रहे हैं, उस चिन्ता के संदर्भ में अपने आत्मनिवेदन के स्वरूप के विचार से इन तीनों पक्षों पर ध्यान दें। आत्मनिवेदन के स्वरूप के विचार से आप चिन्ता को भुला दें। यदि कर रहे हैं चिन्ता, तो न करें।

सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकम् इति स्थिति:।
अतोऽन्यविनियोगेऽपि चिन्ता का स्वस्य सोऽपि चेत्।।3।।
अज्ञानाद् अथवा ज्ञानात् कृतम् आत्मनिवेदनम्।
यै: कृष्णसात्कृतप्राणै: तेषां का परिदेवना।।4।।

अन्वयार्थ :

सर्वेषां = सबका
प्रभुसम्बन्ध: = प्रभु के साथ सम्बन्ध
प्रत्येकं = एक-एक का, **न** = नहीं,
इति = ऐसा, **स्थिति:** = सिद्धान्त है

अतः = इसलिए
अन्यविनियोगे = और कहीं विनियोग होने पर
अपि = भी, **का** = कैसी
चिन्ता = चिन्ता, **चेत्** = यदि
स्वस्य = अपना
सः = वह (अन्य विनियोग हो तो)
अपि = भी **(का** = कैसी; **चिन्ता** = चिन्ता!)
यैः = जिन्होंने
कृष्णसात्कृतप्राणैः = जिन्होंने अपने प्राण श्रीकृष्ण के साथ एकमेक कर दिए हैं उन्होंने
अज्ञानात् = अज्ञान से
अथवा = अथवा
ज्ञानात् = ज्ञान से
आत्मनिवेदनं = आत्मनिवेदन
कृतं = किया है
तेषां = उनको
का = कैसी
परिदेवना = चिन्ता

भावार्थ : आत्मा सहित समग्र आत्मीय पदार्थों के साथ श्रीहरि का संबंध समान ही है, अलग-अलग नहीं है इसलिए आत्मीय वस्तुओं का अपने में और अपना आत्मीय वस्तुओं में विनियोग हो तो भी क्यों चिन्ता करनी! अर्थात् किसी तरह की चिन्ता नहीं है।

जिन भक्तों ने ज्ञान से अथवा अज्ञान से एक बार जब आत्मनिवेदन कर दिया है तो उनको चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है, तब जिन्होंने श्रीहरि के

अधीन प्राण कर दिए हैं ऐसे भक्तों को कौनसी चिन्ता करना शेष रह जाता है अर्थात् उनको किसी तरह की चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

व्याख्या :

आत्मनिवेदन के बाद प्रभु का जो सम्बन्ध है वह ''सर्वेषां'' है, ''न प्रत्येकम्'' एक-एक के साथ नहीं। सामान्य है। निश्चय ही एक के साथ सम्बन्ध नहीं। अतः किसी विशिष्ट मामले में किसी का कुछ विनियोग होता हो, किसी का विनियोग न होता हो तो उसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

जैसे हमने अपने यहाँ कोई मेहमान बुलाए। हमारे पास जो कोई भी वस्तु है उसको थाली में परोस दिया। सामान्यरूप से सभी वस्तुएँ थाली में परोस दीं। कोई एक विशिष्ट वस्तु तो परोसी नहीं। अब उसके ऊपर छोड़ देना चाहिए कि उसे जो वस्तु पसन्द आए उसे खाए, जो न भाए वह न खाए। हमारी तरफ से तो हमारा कर्तव्य था कि हम पूरी थाली सजा कर पाँच, छः, दस, जितनी वस्तुएँ हम परोस सकते थे वे सब परोस दीं अब हमें मेहमान को खाने की स्वतन्त्रता देनी चाहिए। परोसने का काम आप संभालें और खाने की स्वतंत्रता उसकी स्वीकार करें कि ''**रुचे आपको करूँ ऐसी टहल रे, अन्य रखे भावो रे**'' जो आपको रुचे वह ''**रुचि-रुचि भोजन कीजे**'' के भाव से।

अतः कोई चीज अन्य के विनियोग में जा रही है, प्रभु के विनियोग में नहीं आ रही अथवा हमारा अन्यविनियोग हो रहा है तो चिन्ता न करें। फिर से चिन्ता करने से विनियोग नहीं रह जाता। चिन्ता करने से दो रोग उत्पन्न होंगे। एक तो विनियोग नही हुआ और आपके कुछ ज्यादा चिन्ता करने से कोई निराकरण भी नहीं होगा।

जैसे आपको किसी रोग की तकलीफ हुई तो एक तो रोग हुआ और उसकी ज्यादा चिन्ता शुरू कर देंगे तो जब ऑपरेशन थियेटर में जाएंगे तो

डॉक्टर आपको वापस भेज देगा कि अभी इसका चिन्ता के कारण ब्लडप्रेशर बढ़ गया है। चिन्ता नहीं की और विश्वास से देखेंगे कि भाई, रोग हो गया है तो हो ही गया है। डॉ. खराब अंग को काट कर ठीक कर देगा तो फिर दबाव नहीं बढ़ेगा। अब आप उस समय भी वापस चिन्ता शुरू कर देते हैं कि रोग तो हुआ ही है, ऊपर से ऑपरेशन भी होगा। इस तरह अधिक चिन्ता करेंगे तो दो रोग उत्पन्न हो गए न! बढ़े हुए प्रेशर में ऑपरेशन नहीं हो सकता। इसलिए इस बात को समझ कर चिन्ता छोड़ दें।

''अज्ञानाद् अथवा ज्ञानात्...'' अर्थात् अज्ञान से अथवा ज्ञान से। इसमें देखें कि ज्ञान का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। ज्ञान तो केवल गणना करने के लिए किया है। मूल बात तो चिन्ता का कारण है। नवरत्न याद हो तो आपके अज्ञान का मूल कारण यह है कि आपने जाने बिना आत्मनिवेदन कर दिया। उसके कारण आपको चिन्ता हो रही है तो श्रीमहाप्रभुजी प्रतिप्रश्न कर रहे हैं कि आपने आत्मनिवेदन किया उसके कारण स्वयं को ''कृष्णसात्कृतप्राण'' मान रहे हैं अथवा नहीं? ''कृष्णसात्कृतप्राण'' मान रहे हैं तो अज्ञान से किया तो भी क्या फर्क पड़ता है? अब चिन्ता करने की आवश्यकता क्या है?

यदि ज्ञान से किया और आप स्वयं को ''कृष्णसात्कृतप्राण'' नहीं मान रहे तो चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है? क्योंकि आप कृष्ण के साथ ''कृष्णसात्कृतप्राण'' तो हैं ही नहीं। अब जब ''कृष्णसात्कृतप्राण'' नहीं हैं तो ज्ञान से भी निवेदन किया होगा तो चिन्ता की क्या आवश्यकता रह गई है क्योंकि आत्मनिवेदन का अर्थ स्वयं को और कृष्ण को, परस्पर एक-दूसरे से जोड़ना था। आपने ज्ञान से जोड़ा अथवा अज्ञान से जोड़ा लेकिन जोड़ लिया तो अब विनियोग में अथवा अविनियोग में चिन्ता का कोई कारण नहीं रह जाता।

(आत्मनिवेदनाविश्वासाद् वा निवेदितस्य भगवत्सेवायाम्

विनियोगाद् वा क्रियमाणापि चिन्ता श्रीपुरुषोत्तमस्वरूपचिन्तनेन निवर्तनीया)

आत्मनिवेदन में अविश्वास अथवा निवेदित के भगवत्सेवा में अविनियोग के कारण जो हम चिन्ता कर रहे हैं उसका दूसरी तरफ जा कर विचार कर लें। यह इस तरफ का विचार था। अब कह रहे हैं कि दूसरी तरफ जा कर भी विचार कर लें।

तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे।
विनियोगेऽपि सा त्याज्या समर्थोहि हरिः स्वतः।।5।।

अन्वयार्थ :

निवेदने = निवेदन के विषय में
श्रीपुरुषोत्तमे = श्रीकृष्ण के विषय में
चिन्ता = चिन्ता
त्याज्या = छोड़नी
तथा = और
विनियोगे = विनियोग के विषय में
अपि = भी
सा = वह (चिन्ता)
त्याज्या = छोड़नी
हि = निश्चितरूप से
हरिः = श्रीकृष्ण, **स्वतः** = आप
समर्थः = सब प्रकार से शक्तिमान् हैं

भावार्थ : ''मेरा निवेदन श्रीहरि ने स्वीकार किया कि नहीं'' - श्रीपुरुषोत्तमसम्बन्धविषयक ऐसी चिन्ता का भी परित्याग करना चाहिए तथा

कदाचित् अन्य कार्यादिक में विनियोग हो जाए तो भी चिन्ता का त्याग करना चाहिए। क्योंकि श्रीहरि स्वयं समर्थ हैं।

व्याख्या :

पुरुषोत्तम स्वरूप के चिन्तनपूर्वक चिन्ता को हटा दें।

(निवेदितात्मना स्वस्य स्वकीयानां वा लौकिके वैदिकेऽपि वा व्यवहारे स्वास्थ्याभावविषयिणी या क्रियमाणा चिन्ता सापि स्वसाक्षिभावचिन्तनेन निवर्तनीया)

हम जब निवेदितात्मा हैं तो अपने अहंता अथवा ममतास्पद विषयों का निवेदन करने के बाद लौकिक में अथवा वैदिक में हमें स्वस्थता नहीं रह जाती। कुछ न कुछ तकलीफ हो रही है, उसके कारण चिन्ता हो रही है कि प्रभु क्या परीक्षा ले रहे हैं अथवा क्या करना चाह रहे हैं?

आत्मनिवेदन करने के पश्चात् सब तरफ सुख ही सुख होना चाहिए था। केवल दु:ख ही दुख क्यों प्रकट हो गया? और उसके कारण आपको यदि दु:ख हो रहा है तो महाप्रभुजी यह नहीं कह रहे हैं कि उसको मिटाने का प्रयत्न न करें। यदि लौकिक अथवा वैदिक में आपको कोई अस्वस्थता हो गई तो ध्यान से समझें कि श्रीमहाप्रभुजी यह नहीं कह रहे हैं कि उस अस्वस्थता को दूर न करें। जैसे ब्रह्मसंबंध लेने के बाद आपको डायबिटीज हो गई अथवा ब्लडप्रेशर बढ़ गया तो श्रीमहाप्रभुजी यह नहीं कह रहे हैं कि डायबिटीज अथवा ब्लडप्रेशर की दवा न लें।

श्रीमहाप्रभुजी क्या कह रहे हैं? ब्रह्मसंबंध लेने के बाद आपको डायबिटीज बढ़ गई अथवा ब्लडप्रेशर बढ़ गया और यह चिन्ता हो रही है कि भगवान के साथ ब्रह्मसंबंध किया तो मुझे डायबिटीज कैसे हो गई? डायबिटीज

तो उनको होना चाहिए था जिन्होंने ब्रह्मसंबंध नहीं लिया। अर्थात् हम अपना कोई विशिष्ट अधिकार मानकर चल रहे हैं तो श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि उसकी चिन्ता सताती हो तो मैं तुम्हें दूसरा उपाय बताता हूँ। आप इस प्रकार समझें कि आप अभिमान कर रहे हैं, प्रभु आपको स्वस्थ नहीं होने देना चाहते।

मुझे एक व्यक्ति ने ऐसा ही कहा। उसने खूब घोटाले किए तो मैंने उसके बारे में एक परिपत्र छपा दिया कि वह बहुत घोटाले करता है। वह मेरे पास झगड़ने के लिए आया कि ''आप क्या समझते हैं? आपने मेरे बारे में परिपत्र छाप दिया, क्या मेरे बारे में किसी ने आपको कुछ खराब बताया?'' मैंने कहा ''हाँ, बताया।'' उसने कहा ''क्या बताया?'' मैंने कहा कि ''आप रघुनाथलाल जी के उन्नीस सौ रुपये खा गए'' तो उसने कहा ''यह एक घटना'' मैंने कहा ''एक भट्टजी के दो हजार रुपये खा गए'' तो बोला ''यह दूसरी घटना'' फिर मेरी तो हिम्मत टूट गई कि तीसरे मेरे दो हजार खा गए, यदि मैं ऐसा कहूँगा तो वह कह देगा कि यह तीसरी घटना है। उसको कोई चिन्ता नहीं हुई लेकिन मैंने परिपत्र छपाया तो वह मुझ पर ही लागू हो गया। ऐसे बुलन्द व्यक्ति होने चाहिए!

लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति।
पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताऽखिला:।।6।।

अन्वयार्थ :

यस्मात् = क्योंकि (जीव/हरि)
पुष्टिमार्गस्थित: = पुष्टिमार्ग में स्थित हैं
(**तस्मात्** = इसलिए)
हरि: = श्रीकृष्ण
लोके = लोक में, **तथा** = और
वेदे = वेद में, **स्वास्थ्यं** = स्वस्थता

तु = तो, **न** = नहीं
करिष्यति = करेंगे
(**तस्मात्** = इसलिए, **लोक-वेदकर्मसु** = लौकिक-वैदिक कर्मों से)
अखिलाः = सब, **साक्षिणः** = साक्षी
भवत = हो / बनो

भावार्थ : क्योंकि जीव और प्रभु अनुग्रहमार्ग में स्थित हैं इसलिए श्रीहरि लोक और वेद में आसक्ति नहीं कराएंगे। इसलिए लोकवेद सम्बन्धी कार्य साक्षीमात्र रह कर करने चाहिए।

व्याख्या :

श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि यदि आपको इस बात के कारण चिन्ता हो रही है तो स्वयं में ऐसी हिम्मत उत्पन्न कर लें कि भाई, लोक में अस्वस्थता हो गई तो क्या हुआ, प्रभु ने हमारे बारे में कुछ विचार किया होगा इसीलिए लोक में हमें अस्वस्थ किया।

वेद के अनुसार आश्रमधर्म में स्थित हो गए तो यह दूसरी अंगुली बता दें कि इस तरफ। और आप स्वयं को समर्पित मान रहे हैं या नहीं? पहले यह खुलासा करें। यदि समर्पित नहीं मान रहे तो इस संदर्भ में प्रभु को किसलिए जोड़ रहे हैं और समर्पित मान रहे हैं तो चिन्ता किसलिए कर रहे हैं? जो तकलीफ है उसके साक्षी बन जाएँ। समर्पित मानने के बाद चिन्ता की क्या आवश्कता? पुष्टि थोड़ी सख्तीवाली दवा है, यह नरमीवाली दवा नहीं है। एकदम कठोर दवा है। अतः ''पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताऽखिलाः।''

(गुरुभगवतोरन्यतरस्य आज्ञाभंगभयेन क्रियमाणा स्वसेव्यप्रभुविषयिणी चिन्ता भगवत्सेवायाः तात्पर्यविवेकेन

निवर्तनीया)

यदि यह चिन्ता हो रही हो कि गुरु, सेवाविषयक कोई अलग आज्ञा कर रहे हैं और श्रीठाकुरजी कुछ दूसरे ही प्रकार की आज्ञा कर रहे हैं तथा गुरु और प्रभु की आज्ञा में विरोधाभास प्रतीत होता हो तो चिन्ता का निवारण किस प्रकार करना चाहिए?

पहले यह समझ लें कि सेवा का तात्पर्य क्या है? सेवा का तात्पर्य समझें, यह न समझें कि सेवा से लाभ क्या होगा? अतः सेवा का तात्पर्य क्या है? रमण का या अपनी कामनाओं का? मैंने सर्वोत्तमस्तोत्र के प्रवचन में यह बात कई बार भलीभाँति स्पष्ट की है कि सेवा का मूल तात्पर्य पहले रमण का है और उसके बाद किसी कामना का है। इसलिए आप इस विषय में अपनी स्वयं की मंशा देख लें कि अभी आप रमणावस्था में हैं या कामावस्था में हैं। रमणावस्था में हैं तो रमण के तात्पर्य से चिन्ता का निवारण कर लें और यदि आप स्वयं को कामावस्था में मान रहे हैं तो कामावस्था का निवारण कर लें।

सेवाकृतिर् गुरोर् आज्ञा बाधनं वा हरीच्छया।
अतः सेवापरं चित्तं विधाय स्थीयतां सुखम्।।7।।

अन्वयार्थ :

गुरोः = गुरु की
आज्ञाऽबाधनं (यथास्यात्तथा) = जैसे आज्ञा का बाध न हो वैसे
सेवाकृतिः = सेवा का कार्य
वा = अथवा
हरीच्छया = श्रीकृष्ण की इच्छा के अनुसार
(**सेवाकृतिः** = सेवा का कार्य)
अतः = इसलिए

सेवापरं = सेवा में परायण
चित्तं = चित्त को
विधाय = रखकर
सुखं = सुख, **स्थीयताम्** = रहें

भावार्थ : गुरु की आज्ञानुसार सेवा करना अपेक्षित है। किन्तु प्रभु कभी अपनी विशेषइच्छा भक्त को जताएँ तो प्रभु की इच्छा के अनुसार ही करना चाहिए। ऐसे में गुरु की आज्ञा का बाध होने में अथवा अबाध होने में प्रभुसेवा में ही चित्त को तत्पर रख कर सुख से रहना चाहिए।

व्याख्या :

रमणात्मिका सेवा अथवा कामात्मिका सेवा, जिस प्रकार की सेवा अपने अधिकार के अनुसार आप निभा सकते हैं उस प्रकार की सेवा को निभा कर अपनी चिन्ता को दूर करें। यहाँ तक की चिन्ताएँ, की जानेवाली चिन्ताएँ हैं।

इसके बाद जो चिन्ता आ रही है वह हम कर नहीं रहे, वह स्वत: हो रही है। अत: उस चिन्ता का क्या करना?

(भगवल्लीलाभावनया भगवच्छरणागत्या वा यथोपदिष्टनिर्वाहसामर्थ्यासामर्थ्ययो: स्वतोजायमानापि चिन्ता निवर्तनीया)

जो कुछ भी श्रीमहाप्रभुजी ने यहाँ कहा है, भगवल्लीला की भावना से अथवा भगवत्शरणागति की भावना से, चिन्ता नहीं करनी और वह भी हमसे न निभती हो, उसका सामर्थ्य हममें हो अथवा न हो तो भी लीलाभावना अथवा शरणागति की भावना से सहजरूप से होनेवाली चिन्ता को हम एक दूसरी भावना से दूर कर सकते हैं। जैसे दूध या कढ़ी में बहुत उफान आता हो तो उसे

हम पानी के छींटे दे कर बैठा सकते हैं, इस प्रकार भगवल्लीला या शरणागति के छींटों की भावना मन पर डाल कर स्वत: होनेवाली चिन्ता को हम ठंडा कर सकते हैं। जो चिन्ता हम कर नहीं रहे लेकिन हो रही है, यदि ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो रही है तो चिन्ता को इस प्रकार की भावना से दूर करने की कोशिश करें।

चित्तोद्वेगं विधायाऽपि हरिर् यद्यत् करिष्यति।
तथैव तस्य लीलोति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत्।।8।।
तस्मात् सर्वात्मना नित्यं'' श्रीकृष्ण: शरणं मम।''
वदद्भिरेवं सततं स्थेयम् इत्येव मे मति:।।9।।

अन्वयार्थ :

चित्तोद्वेगं = चित्त में उद्वेग को
विधाय = करके, **अपि** = भी
हरि: = श्रीकृष्ण, **यत्-यत्** = जो-जो
करिष्यति = करेंगे (**तत्** = वह)
तस्य = उनकी
तथा एव = वैसी ही
लीला = लीला, **इति** = ऐसा
मत्वा = मान कर
चिन्तां = चिन्ता को, **द्रुतं** = तुरन्त
त्यजेत् = छोड़ दें
तस्मात् = इसलिए
सर्वात्मना = सब तरह से
नित्यं = सदैव, **मम** = मेरा
श्रीकृष्ण: = श्रीकृष्ण

शरणं = आश्रय (**इति** = ऐसा)
सततं = सतत
वदद्भिः = बोलते हुए
एवं = इस प्रकार से, **स्थेयं** = रहना
इति = ऐसा, **एव** = ही
मे = मेरा, **मति** = मानना है

भावार्थ : भगवान चित्त में उद्वेग करके भी जो-जो करेंगे उसे हरि की लीला मानकर चिन्ता को शीघ्र ही छोड़ें।

ऊपर कही गई रीति से जीवों के लिए स्वतः सब होना असम्भव है इसलिए सर्वात्मभाव से ''श्रीकृष्णः शरणं मम'' नित्य सर्वकाल बोलते रहना - ऐसी मेरी मति है।

व्याख्या :

यहाँ लीलाभावना से चिन्ता दूर करना इंगित है।'चित्तोद्वेग' दूर नहीं हो सकता, चिन्ता का उद्वेग तो रहेगा लेकिन 'चित्तोद्वेग' के कारण जो चिन्ता कर रहे हैं कि चित्त क्यों इतना उद्विग्न है तो उद्वेग तो निवृत्त नहीं होगा बल्कि प्रभु के सम्बन्ध में आपने अधिक चिन्ता शुरू कर दी तो दो रोग हो जाएंगे। इसके बजाए प्रभु की लीलाभावना करके उद्वेग को सहन करने की कोशिश करें।

जैसे डॉक्टर हमारा ऑपरेशन करता है तो दर्द होता है। शस्त्रक्रिया के बाद के दर्द को हम किस भावना से सहन करते हैं कि भाई, तकलीफ हो रही है लेकिन इस तकलीफ से घाव भर जाएगा तब हम अधिक स्वस्थ हो जाएंगे। अभी जो अंग काट दिया है वह तो कट ही गया है और दर्द भी कर रहा है लेकिन कटा हुआ घाव ऑपरेशन के बाद जब भर जाएगा तो हम जितने पहले अस्वस्थ थे उससे अधिक स्वस्थ हो जाएंगे। ऐसी भावना से मन को समझा कर ऑपरेशन के बाद होनेवाली तकलीफ को हम सहन कर लेते हैं।

इसी प्रकार चित्त में जो उद्वेग हो रहा है वह तो हो ही रहा है। उसे आप लीलाभावना से नियंत्रित कर सकेंगे। स्वतः उत्पन्न होती, उद्वेग से उत्पन्न होती चिंता को भी, और वह भी न हो, लीलाभावना में भी खलल होता हो - क्योंकि चिन्ता में मन इतना घिरा हुआ है कि लीलाभावना कर सकने की भी मनःस्थिति नहीं है - तो ठीक है, मन को जाने दें, भाड़ में जाए मन, जीभ से तो ''श्रीकृष्णः शरणं मम'' बोलना शुरू करें। जीभ से ''श्रीकृष्णः शरणं मम'' बोलेंगे तो उससे भी आप वापस अपने आप में स्थित हो सकेंगे। कैसे?

क्योंकि यहाँतक, आपको नवरत्न ध्यान से याद हो तो, ऊपर सब विवेक के उपाय बताए हैं। आठवें श्लोक में धैर्य का उपाय बताया और नवम श्लोक में श्रीमहाप्रभुजी ने आश्रय का उपाय बताया। इस प्रकार विवेक, धैर्य, आश्रय तीन प्रकार के उपाय बताए। इस संदर्भ में श्रीमहाप्रभुजी ''चढ़ जा बेटा सूली पर, भली करेगा राम'' जैसी कर्मनीति स्वीकार नहीं कर रहे। श्रीमहाप्रभुजी आपको अपना मन्तव्य स्वयं बता रहे हैं कि मैंने भी इसी प्रकार किया है। किस प्रकार किया है, इस बात को आगे के ग्रन्थ में ध्यान से समझें।

।। इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितं नवरत्नं सम्पूर्णम्।।

।। अन्तःकरणप्रबोधः ।।

(भगवदाज्ञानुसरणाय अन्तःकरणप्रबोधनम्)

भगवान की आज्ञानुसार श्रीमहाप्रभुजी अपने अन्तःकरण का प्रबोधन कर रहे हैं। यह बात ध्यान से समझें।

अन्तःकरण! मद्वाक्यं सावधानतया शृणु।
कृष्णात् परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम्।।1।।

अन्वयार्थ :

अन्तःकरण = हे अन्तःकरण!
मद्वाक्यं = मेरे वाक्य को
सावधानतया = सावधानीपूर्वक
शृणु = सुन
कृष्णात् = कृष्ण से, **परं** = दूसरा
वस्तुतो दोषवर्जितं = वस्तुतः दोष से रहित
दैवं = देव, **न** = नहीं
अस्ति = है

भावार्थ : हे अन्तःकरण! मेरे वाक्य को तू सावधान हो कर सुन, कृष्ण से अन्य वास्तव में दोषरहित देवता कोई नहीं है।

व्याख्या :

कितनी खूबसूरत बात है। श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि मैंने भी इस उद्वेग पर इसी प्रकार नियंत्रण पाया है। और हमें उसे समझना पड़ेगा। श्रीमहाप्रभु क्या चाहते थे? श्रीमहाप्रभुजी की महत्त्वाकांक्षा क्या थी? कोई मनोरथी मिल जाए या कोई छप्पन भोग धर दे – ऐसी महत्त्वाकांक्षा अथवा

जिज्ञासा श्रीमहाप्रभुजी को नहीं थी। श्रीमहाप्रभुजी की बहुत ही अलौकिक महत्त्वाकांक्षा थी कि किसी भी प्रकार से भागवत के अठारह हजार श्लोक पर मैं पूरी-पूरी व्याख्या लिख पाऊँ पर श्रीठाकुरजी उनको विपरीत आज्ञा कर रहे हैं कि खत्म करो यह सब, पूर्ण करो।

जिन्होंने इतनी अलौकिक इच्छा रखी और वह इच्छा यदि पूर्ण न होती हो तो स्वयं श्रीआचार्यचरण को कितना उद्वेग हुआ होगा? हम कोई धंधा चलाने की बात सोचें और धंधा न चलता हो तो इस बात को कोई व्यापारी ही समझ सकता है, परीक्षा में बैठने का विचार करें और परीक्षा में पेपर ही न लिख सकें तो इस उद्वेग को कोई विद्यार्थी ही समझ सकता है, किसी लड़की पर दिल आ गया हो और वह विवाह करने की बजाय चप्पल मार दे तो हमें समझ में आ सकता है।

अतः जब हमारा मनोरथ निष्फल हो जाता है तो कितनी हताशा होती है। ऊपर के उदाहरणों से यह हमें समझ में आ सकता है। इसी प्रकार श्रीमहाप्रभुजी का कितना अलौकिक मनोरथ था पर ऐसा अलौकिक मनोरथ भी प्रभु ने पूर्ण नहीं होने दिया। उसकी चिन्ता, उसका उद्वेग श्रीमहाप्रभुजी को कितना हुआ होगा, उस उद्वेग पर श्रीमहाप्रभुजी ने कैसे नियंत्रण किया होगा, यह बात श्रीमहाप्रभुजी अन्तःकरण को प्रबोधन करके हमारे जीव को भी प्रबोधित कर रहे हैं कि भाई, मैंने इस प्रकार अपने आपको समझाया है। आप क्यों नहीं समझा रहे? यदि मेरे हो और तुम्हारी इच्छाएँ पूर्ण नहीं हो रही तो तुम भी अपने मन को इसी प्रकार समझा लो।

हे अन्तःकरण! मेरी बात सावधानी से सुन, कृष्ण से बड़ा कोई देव नहीं और देव भी ऐसा जिसमें कोई दोष न हो। जिसको आत्मनिवेदन किया उसमें दोष देखने हैं तो आत्मनिवेदन किसलिए किया? आत्मनिवेदन करने के बाद कृष्ण के अतिरिक्त दोषनिवारक कौन हो सकता है?

(स्वमनोरथप्रतिकूलायां भगवदाज्ञायां सत्यामपि पश्चात्तापस्य अकर्तव्यतोपदेशः)

अपने मनोरथ से प्रतिकूल भगवदाज्ञा होने पर भी पश्चात्ताप करने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए कितने सख्त शब्द श्रीमहाप्रभुजी ने प्रयुक्त किए हैं।

चाण्डाली चेद् राजपत्नी जाता राज्ञा च मानिता।
कदाचिद् अपमानेऽपि मूलतः का क्षतिर् भवेत्।।2।।
समर्पणाद् अहं पूर्वम् उत्तमः किं सदा स्थितः।
का ममाधमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत्।।3।।

अन्वयार्थ :

चाण्डाली = चाण्डाल स्त्री
चेत् = यदि
राजपत्नी = राजा की पत्नी
जाता = हो, **च** = और
राज्ञा = राजा द्वारा
मानिता = अधिक सम्मानित
कदाचित् = कभी
अपमाने = अपमान हो
अपि = तो भी
मूलतः = मूलरूप से
का = क्या, **क्षतिः** = हानि
भवेत् = होती है
अहं = मैं, **समर्पणात्** = समर्पण से

पूर्वं = पहले, **किं** = क्या
सदा = सदा, **उत्तमः** = श्रेष्ठ
स्थितः = रहा था?
मम = मेरी
अधमता = अधमता
का = क्या
भाव्या = विचार करना
यतः = जिससे
पश्चात्तापः = पश्चात्ताप
भवेत् = हो

भावार्थ : चाण्डाली यदि राजा की रानी हो और राजा ने दूसरी रानियों के बजाय उसे अधिक सम्मान दिया हो, फिर भी किसी समय उसके अपराध के कारण राजा द्वारा उसका अपमान हो तो उसके (चाण्डाली के) राजपत्नी होने में क्या हानि हुई? अर्थात् कुछ नहीं। इसी प्रकार, हे अन्तःकरण! फल देने में कदाचित् प्रभु विलम्ब करें तथापि अंगीकार में किसी प्रकार की हानि नहीं है। अतः चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

समर्पण से पूर्व क्या मैं सदा उत्तम ही था? इसलिए फलविलम्ब में भी मेरी अधमता का क्या विचार करना, जिससे पश्चात्ताप हो! अर्थात् फल विलम्ब की दशा में भी ''मैं पहले से तो अच्छा हूँ'' ऐसा सोच कर अपनी क्षुद्रता का विचार नहीं करना चाहिए तथा पश्चात्ताप भी नहीं करना चाहिए।

व्याख्या :

कोई चाण्डाली, राजा की पत्नी हो गई और समय कुछ ऐसा रहा कि राजा ने अतिप्रिय होने के कारण उसकी सब इच्छाएँ पूरी कीं और किसी दिन राजा ने क्रोधित हो कर रानी का अपमान कर दिया तो उसे ऐसा विचार क्यों

करना चाहिए कि मेरा अपमान क्यों किया, ऐसा विचार क्यों नहीं करना चाहिए कि भाई, अपमानित होना भी चाण्डाली की अवस्था से तो ऊँची अवस्था है। राजपत्नी होने से अपमानित राजपत्नी भी चाण्डाली से तो उच्चकक्षा की हुई न, इस प्रकार अपने मन को क्यों नहीं समझाएँ। इसी प्रकार मेरी कुछ इच्छाएं पूरी नहीं हुई और प्रभु ने पूरी न होने दी, तो इस बात में तो कोई कमी नहीं रखी।

महाप्रभुजी ने अठारह हजार श्लोकों पर टीका लिख दी थी और लिखी हुई टीका खो गई। जो माधव भट्ट कश्मीरी जल्दी-जल्दी लिखते थे वे भी तीर खा कर नित्यलीला में प्रवेश कर गए।

कोई यह ध्येय लेकर चला हो कि भागवत की सम्पूर्ण टीका लिखनी है और लिखी हुई टीका खो जाने के बाद पुनः प्रयत्न शुरू करे तथा उस समय भगवदाज्ञा होने लगे कि आप देह-देश का परित्याग करो तो उस समय कितना उद्वेग हुआ होगा? कोई मन में ऐसी महत्त्वाकांक्षा रख कर देखे तो पता चले कि ऐसी महत्त्वाकांक्षा की हताशा कैसी होती है। इस प्रकार की हताशा में श्रीमहाप्रभुजी स्वयं को किस प्रकार आश्वासन दे रहे हैं, उसे देखें।

किन शब्दों में सांत्वना दे रहे हैं कि ''चाण्डाली चेद् राजपत्नी...'' - खो गई तो खो गई अठारह हजार श्लोक की टीका फिर भी तीसरे स्कन्ध तक तो लिखा। तीसरे स्कन्ध पर पूरी न हो सकी तो आगे दशमस्कन्ध तो पूरा हुआ न! इतनी हो गई अब आगे प्रभु नहीं करने देना चाहते तो कोई आपत्ति नहीं। इतनी हो गई उस बात का सन्तोष क्यों न करें!

''समर्पणाद् अहं पूर्वम् उत्तमः किं सदा स्थितः। का ममाधमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत्'' - अब मुझे अपनी अधमता की भावना किसलिए करनी जिसके कारण पश्चात्ताप करना पड़े? समर्पण के पहले क्या मैं उत्तम था? प्रभु को समर्पण नहीं किया, उस समय जो मेरी अधमता थी उस

अधमता से तो समर्पित होना क्या कम उत्तमता है?

अब समर्पित होने के पश्चात् प्रभु की भक्तिसम्बन्धी मेरा मनोरथ पूर्ण नहीं हो रहा। श्रीमहाप्रभुजी की यह बात ध्यान से समझें। सुबोधिनीजी लिखना प्रभु की भक्ति की ही एक अभिव्यक्ति थी, किसी पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त करके डॉक्टरेट या दर्शन की डिग्री प्राप्त करने का उद्यम नहीं था। अपनी भक्ति को श्रीमहाप्रभुजी इस प्रकार प्रकट करना चाहते थे कि मैं अठारह हजार श्लोक पर सुबोधिनी लिख दूँ परन्तु वह भक्ति पूर्ण नहीं हो रही तो कितनी तीव्र हताशा हुई होगी?

परन्तु इस पर श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि भक्ति नहीं हो रही तो नहीं हो रही। पूरी नहीं हो रही तो मुझे इस बात पर अपने आपको खुश रखना चाहिए या नहीं कि पहले समर्पित नहीं था, अब प्रभु को समर्पित हूँ। पहले तो मैं असमर्पित था, अब समर्पित तो हूँ। समर्पित होने के बाद कदाचित् भक्ति पूरी न हुई तो न हुई लेकिन समर्पित हूँ यह क्या कोई कम रहस्य है, मेरे लिए क्या कोई कम उपलब्धि है?

(भगवदाज्ञायाएव अनुसरणीयत्वे हेतुत्रयम्)

इसके पश्चात् श्रीमहाप्रभुजी भगवदाज्ञा के अनुसरणविषयक तीन हेतु बता रहे हैं।

सत्यसङ्कल्पतो विष्णुः नान्यथातु करिष्यति।
आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहोऽन्यथा भवेत्।।4।।
सेवकस्य तु धर्मोऽयं स्वामी स्वस्य करिष्यति।

अन्वयार्थ :

विष्णुः = श्रीकृष्ण
सत्यसङ्कल्पतः = सत्यसङ्कल्पवाले होने से

अन्यथा = और तरह से
तु = तो, **न** = नहीं
करिष्यति = करेंगे (**तस्मात्** =इसलिए)
सततं = निरन्तर
आज्ञा = आज्ञा, **एव** = ही
कार्या = अवश्य करना
अन्यथा = नहीं तो
स्वामिद्रोहः = स्वामी का द्रोह
भवेत् = होगा
सेवकस्य = सेवक का, **तु** = तो
अयं = ये, **धर्मः** = धर्म
(अस्ति = है **)** **स्वामी** = स्वामी **स्वस्य** = अपना, **करिष्यति** = करेंगे

भावार्थ : सर्वत्रव्यापक श्रीहरि सत्य विचारवाले हैं। इसलिए फल देने के विषय में अन्यथा प्रकार नहीं करेंगे। अतः सर्वदा प्रभु की आज्ञा के अनुसार ही सेवा करनी चाहिए। वैसे नहीं करने से स्वामी का द्रोह होता है।

सेवक का धर्म तो श्रीहरि की आज्ञानुसार कार्य करना ही है। श्रीहरि अपने भक्त के सब कार्य स्वयं करेंगे।

व्याख्या :

विष्णु सत्यसंकल्प हैं, उन्होंने जो विचार किया होगा वही वे करेंगे। मेरा विचारा हुआ क्यों होना चाहिए? उनका विचार किया हुआ ही होना चाहिए। समर्पण के सम्बन्ध द्वारा यह स्वीकार किया था कि तुम स्वामी हो और मैं सेवक हूँ – 'दासोऽहं' द्वारा। अतः जब आप स्वामी हैं तो मुझे प्रतिकूलता आती हो तो भी आपकी यह इच्छा मुझे स्वीकार है और अनुकूलता आती हो तो

भी मुझे आपकी यह इच्छा स्वीकार है।

दूसरा हेतु कह रहे हैं कि प्रभु की आज्ञा का ही अनुसरण करना चाहिए अन्यथा स्वामी का द्रोह हो जाएगा। तीसरी बात बता रहे हैं – ''सेवकस्य तु धर्मोऽयं'' – सेवक का धर्म यही है कि जो स्वामी कहे वही करे। अब उसमें काम पूरा हुआ या अधूरा रह गया, इसे स्वामी पर छोड़ दें। जब स्वामी आज्ञा कर रहे हैं कि पूरा नहीं करना तो पूरा होना चाहिए या नहीं होना चाहिए यह चिन्ता मुझे क्यों करनी चाहिए?

जैसे हमने यह विचार किया कि हम अमुक प्रकार से प्रभु की भक्ति करेंगे लेकिन प्रभु मुझसे वैसी और उतनी भक्ति नहीं लेना चाह रहे तो प्रभु जितनी लेना चाह रहे हैं उतनी ही भक्ति मुझे करनी चाहिए। उनकी भक्ति करने के लिए और दस व्यक्ति उपलब्ध हैं उनमें मुझे ही होना चाहिए ऐसा अनुचित अहंकार समर्पण के बाद मुझे क्यों रखना चाहिए?

(प्रागननुष्ठिते द्वे भगवदाज्ञे)

भगवदाज्ञा का अनुसरण करना है, उसके तीन हेतु और पहले जो दो आज्ञाएँ आचार्यचरण ने स्वीकार नहीं कीं।

आज्ञा पूर्वन्तु या जाता गङ्गा-सागर-सङ्गमे।।5।।
याऽपि पश्चात् मधुवने न कृतं तद्द्वयं मया।

अन्वयार्थ :

पूर्वं = पहले, **तु** = तो
गंगासागरसंगमे = गंगासागर के संगम में
या = जो, **आज्ञा** = आज्ञा
जाता = हुई, **पश्चात्** = पश्चात्
मधुवने = मधुवन में, **अपि** = भी

या = जो, **जाता** = हुई
तद्द्वयं= वे दोनों
मया = मेरे द्वारा
न = नहीं, **कृतं** = की गई

भावार्थ : पहले तो गंगासागर के संगम पर देहपरित्यागरूप आज्ञा हुई और उसके पश्चात् मधुवन में जो देशपरित्यागरूप आज्ञा हुई, मैंने देह-देश के परित्याग की दोनों आज्ञाओं का पालन नहीं किया।

व्याख्या :

वे दोनों आज्ञाएं मैंने नहीं मानी क्योंकि मन में यह लालच बहुत प्रबल था कि किसी प्रकार खोई हुई पूरी टीका एक बार पुनः लिख दूँ। एक बार तृतीयस्कंध तक लिखी। बाद में फिर एक आज्ञा हुई तो उन्होंने कहा कि छोड़ो चतुर्थस्कंध को, किसी भी प्रकार से दशमस्कंध की टीका पूरी करो। दशमस्कंध पूरा करके एकादशस्कंध में पहुंचे तो तीसरी आज्ञा हो गई। तीसरी आज्ञा होने पर श्रीमहाप्रभुजी अपने अंतःकरण का प्रबोधन कर रहे हैं।

(लोकगोचरदेहदेशपरित्यागविषयिण्याः तृतीयायाः आज्ञायाः अवश्यानुष्ठेयत्वेऽपि षण्णां पश्चात्तापाभावहेतूनां परिगणनम्)

लोकगोचर देह-देशपरित्याग करने की जो तीसरी आज्ञा श्रीमहाप्रभुजी को हुई है उसे तो मानना ही है और वह आज्ञा रो कर नहीं मानना है, हुज्जत करके नहीं मानना है, आँसू टपकाते हुए नहीं मानना है बल्कि इस प्रसन्नता के साथ कि ''**राजी हैं हम उसी में, जिसमें तेरी रज़ा है**'' अथवा ऐसे भी वाह-वाह है और वैसे भी वाह-वाह है। उत्साहपूर्वक इस आज्ञा का अनुसरण करना है। इसके लिए श्रीमहाप्रभुजी एक साथ छः हेतु बता रहे हैं।

देह-देश-परित्यागः तृतीयो लोकगोचरः ।।6।।

पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोऽहं नचान्यथा[1] **।।**

अन्वयार्थ :

देहदेशपरित्यागः = देह-देश का परित्याग
तृतीयः = तीसरी
लोकगोचरः = लोक में प्रसिद्ध
(परित्याग = संन्यास **)**
अहं = मैं, **सेवकः** = सेवक हूँ
अन्यथा = और कुछ
न = नहीं, **तत्र** = वहाँ
पश्चात्तापः = पश्चात्ताप, **कथं** = क्यों

भावार्थ : तीसरी, लोक में प्रसिद्ध संन्यासग्रहणपूर्वक गृह का परित्याग करने की आज्ञा का पालन किया। (इस विचार से कि पहली दो आज्ञाओं का पालन नहीं किया इसलिए प्रभु मेरा त्याग कर देंगे) इसका पश्चात्ताप मुझे नहीं करना चाहिए। क्योंकि मैं तो प्रभु का (अत्याज्य) सेवक हूँ, और कुछ नहीं हूँ। इसलिए मुझे पश्चात्ताप क्यों करना चाहिए!

व्याख्या :

मैंने सुबोधिनी की टीका लिखने का कार्य अपनी इच्छा से नहीं बल्कि भगवदाज्ञा से स्वीकार किया था। अब यदि भगवदाज्ञा अधूरा छोड़ने की हो रही है तो दो भगवदाज्ञाओं में से मीठी-मीठी आज्ञा को खा लेना और कड़वी-कड़वी आज्ञा को थू-थू कर देना, ऐसा कैसे चल सकता है? नहीं चल सकता। मैं तो सेवक हूँ, जब आज्ञा हुई थी तो लिखा था, अब आज्ञा हुई कि बन्द करो तो चलो बन्द करेंगे। इस प्रकार अनिश्चित आज्ञा दे रहे हैं, अनिश्चितता उत्पन्न

कर रहे हैं।

दॉस्तोएवस्की ने बहुत ही सुन्दर बात लिखी है। समय नहीं है लेकिन संक्षेप में बता रहा हूँ। दॉस्तोएवस्की ने एक वार्ता लिखी है कि एक पादरी ने एक मनुष्य का अंतिम संस्कार किया तो उसकी माँ खूब छाती पीट-पीट कर रो रही थी। एक भिखारी आया, उसने पूछा कि क्यों रो रही हो? माँ ने कहा कि मेरा बेटा मर गया। भिखारी ने आ कर उसके ताबूत को देखा और हाथ पकड़ कर उसको खड़ा कर दिया कि तू माँ को तकलीफ क्यों दे रहा है? चल खड़ा हो, घर जा। वह जीवित हो गया।

पादरी ने अंतिम संस्कार किया था अतः उसने स्वयं को बहुत अपमानित महसूस किया कि मैंने अंतिम संस्कार कर दिया तो इसने जीवित क्यों किया? उसने पूछा तुम शैतान हो अथवा कौन हो? उसने कहा मैं ईसा हूँ, जिसके नाम पर तुमने अंतिम संस्कार किया है। पादरी ने कहा देखो भाई, तुम ईसा हो या नहीं मुझे नहीं पता लेकिन मैंने तुम्हारे नाम पर अंतिम संस्कार किया और अब तुम इस प्रकार अव्यवस्था फैलाओगे तो लोग मुझे भी नहीं मानेंगे और तुम्हें भी नहीं मानेंगे।

इसलिए अब तुम एक बात सहन करो। अब मैं एक दूसरा आदेश दे रहा हूँ कि तुम्हें पहले पचास कोड़े पड़ने चाहिए। इसलिए पादरी ने ईसा को पचास कोड़े लगवाए कि तुम्हारे नाम पर जिसका अंतिम संस्कार कर दिया था, उसे तुमने जीवित क्यों किया? पचास कोड़े खाओ। ईसा ने पूछा कि तुम कौन हो? वह बोला कि मैं तुम्हारा सेवक पादरी हूँ। तुम्हारी गरिमा को निभाने के लिए पचास कोड़े तुम्हें मारने पड़ेंगे!

ऐसी ही स्थिति हम कर रहे हैं इसलिए श्रीमहाप्रभुजी क्या कह रहे हैं -

लौकिकप्रभुवत्कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन[2] ।।7।।
सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोऽसि[3] सुखी भव।

अन्वयार्थ :

कृष्णः = श्रीकृष्ण को
लौकिकप्रभुवत् = लौकिक स्वामी की भाँति,
कदाचन = कभी भी, **न** = नहीं
द्रष्टव्य = देखने योग्य
भक्त्या = भक्ति से
सर्वं = सब, **समर्पितं** = समर्पित
कृतार्थः = कृतार्थ, **असि** = है
सुखी = सुखी, **भव** = हो

भावार्थ : मैं प्रभु का सेवक हूँ, अन्य जैसा नहीं हूँ, इसलिए फल में विलम्ब हो तो भी पश्चात्ताप क्यों करना चाहिए! और श्रीहरि को लौकिक राजा आदि की तरह चलचित्त (अस्थिरचित्त) कभी भी नहीं मानना चाहिए। भक्ति से आत्मा सहित अपनी सब वस्तुओं का अर्पण तुमने किया है इसलिए तुम कृतार्थ हो, अतः पहले की तरह सुखी रहो।

व्याख्या :

प्रभु आज्ञा कर रहे हैं तो जैसी भी आज्ञा प्रभु करेंगे उसमें प्रभु को कोड़े थोड़े ही मारने होते हैं! यदि प्रभु ने आज्ञा दी थी कि तुम सबका अंतिम संस्कार कर दो तो कर रहे हैं। प्रभु यदि किसी को जीवित रखना चाह रहे हैं तो मैं उसमें अपने आप उल्लंघन करनेवाला कौन कि आपने क्यों ऐसी आज्ञा दी है?

हम कहते हैं कि ब्रह्मसंबंध से प्रभुसंबंध करा रहे हैं, अब ना कहनेवाले आप कौन? आज यही स्थिति हो गई है, अधिकांशतः हम भी इस प्रकार प्रभु

का अधिक्रमण करना चाह रहे हैं। श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं – **''सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोऽसि सुखी भव''** – जब सर्वस्व समर्पित कर दिया तो उसमें टीका लिखना जैसे समर्पित किया था वैसे ही न लिखना भी प्रभु को ही समर्पित है। सुबोधिनी खोल कर देखेंगे तो जहाँ श्रीमहाप्रभुजी ने सुबोधिनी पूरी की है, उस स्थान पर कह रहे हैं कि मैंने आज यह सुबोधिनी पूर्ण करके तीनों लोक जीत लिए – **''त्रयम् अपि विश्वजयाय मादृशानां''** – मैंने विश्व जीत लिया। इस स्तर पर पहुँच कर मुझे और क्या करना शेष रह गया!

''सर्वं समर्पितं भक्त्या'' – लिखना, न लिखना सब प्रभु को समर्पित है। आप कृतार्थ हो गए, आप सुखी हो गए। मन में ऐसा विचार न करें कि मैंने अठारह हजार श्लोक की जो परियोजना शुरू की थी वह पूर्ण क्यों न हुई और अब लोग मुझे क्या कहेंगे कि भागवत के अठारह हजार श्लोक पर सुबोधिनी लिखने बैठे लेकिन टीका भी न लिख सके।

श्रीमहाप्रभुजी से बहुत निम्नस्तर के किन्तु सामर्थ्यवान विद्वानों ने अठारह हजार श्लोक की टीका लिख दी है। ऐसी एक नहीं, पच्चीस टीकाएँ उपलब्ध हैं पर श्रीमहाप्रभुजी नहीं लिख सके। इसलिए क्या हताश अथवा निराश होना? इस संदर्भ में कह रहे हैं – ''सर्वं समर्पितं भक्त्या'' – पूर्ण हुई तो ठीक और न पूर्ण हुई तो भी ठीक है। ''कृतार्थोऽसि सुखी भव'' – तुम कृतार्थ हो।

प्रौढापि दुहिता यद्वत् स्नेहात् न प्रेष्यते वरे।।8।।
तथा देहे न कर्तव्यं वरस् तुष्यति नान्यथा[4]।
लोकवत् चेत् स्थितिर् मे स्यात् किं स्याद् इति विचारय[5] ।।9।।
अशक्ये हरिरेवाऽस्ति मोहं मा गाः कथञ्चन[6]।

अन्वयार्थ :

यद्वत् = जैसे, **प्रौढा** = बड़ी
अपि = भी, **दुहिता** = पुत्री
स्नेहात् = स्नेह के कारण
वरे = पति के पास
न = नहीं
प्रेष्यते = भेजी जाए
तथा = वैसे
देहे = देहविषयक
न = नहीं
कर्तव्यं = करना
अन्यथा = अन्यथा
वरः = पति
न = नहीं
तुष्यति = सन्तुष्ट होता है
लोकवत् = लोक की तरह
चेत् = यदि, **मे** = मेरी
स्थितिः = स्थिति, **स्यात्** = हो
किं = क्या, **स्यात्** = हो
इति = ये (**त्वं** = तुम)
विचारय = विचार करो
अशक्ये = असम्भव में
हरिः = श्रीकृष्ण, **एव** = ही
अस्ति = है (**अतः** = इसलिए)

कथञ्चन = किसी भी प्रकार के
मोहं = मोह को, **मा** = मत
गाः = प्राप्त हो

भावार्थ : हे अन्तःकरण! जैसे कई अज्ञानी, पति के यहाँ जाने योग्य कन्या को भी स्नेहवश उसके पति के पास नहीं भेजते हैं, वैसे ही देहत्याग के विषय में तुम्हें विलम्ब नहीं करना चाहिए। विलम्ब करने से प्रभु प्रसन्न नहीं होंगे।

हे अन्तःकरण! अन्य लोक की तरह मेरी भी यदि लौकिक उत्कर्षादि के लिए लोक में स्थिति हो तो क्या हो, ये तू ही विचार कर। अर्थात् लौकिक उत्कर्ष के लिए प्रभु को अप्रसन्न करना उचित नहीं है। असम्भव कार्य में श्रीहरि ही पुरुषार्थ सिद्ध करनेवाले हैं। इसलिए किसी तरह की चिन्ता को प्राप्त मत हो।

व्याख्या :

श्रीठाकुरजी आपको तकलीफ दे-दे कर कितनी तकलीफ देंगे? क्या जैसे श्रीमहाप्रभुजी को आज्ञा दी कि देह छोड़ कर आ जाओ, वैसी आज्ञा हमको भी देंगे? श्रीठाकुरजी हमें ऐसा कहेंगे ही नहीं। श्रीठाकुरजी भी हमसे घबराते होंगे कि यहाँ आ जाएगा तो ऊधम मचाएगा, वहीं रहने दो। जाने दो न! श्रीमहाप्रभुजी को श्रीठाकुरजी ने आज्ञा दी कि देह छोड़ कर यहाँ आ जाओ, देह-देश परित्याग करो। हमें ऐसी आज्ञा नहीं देंगे। श्रीठाकुरजी को हमारे बारे में खूब पता है। यहाँ श्रीमहाप्रभुजी स्वयं को हुई आज्ञा की गम्भीरता के प्रसंग में कह रहे हैं।

''**प्रौढापि दुहिता यद्वत स्नेहात् न प्रेष्यते वरे**'' - हमारी पुत्री तरुणी हो गई और हम उसे ससुराल न भेज कर यहाँ पीहर में ही बाँध रखें तो वर के साथ विवाह किसलिए किया? ''**तथा देहे न कर्तव्यं वरस् तुष्यति**

नान्यथा''– इस देह का स्वामी मैं हूँ कि प्रभु हैं? इस देह का स्वामी जीवात्मा है कि परमात्मा है? यदि मैं परमात्मा को सर्वात्मा मान रहा हूँ तो मेरे देह का स्वामी जीवात्मा नहीं बल्कि परमात्मा है। उस परमात्मा को यह देह रखना हो तो रखे, न रखना हो तो न रखे।

''**लोकवत् चेत् स्थितिर् मे स्यात् किं स्याद् इति विचारय**'' – अर्थात् दुनिया की भाँति मेरा देह परमात्मा को असमर्पित होता तो मेरी स्थिति क्या होती? आज भले जो कुछ भी है, प्रभु देह छोड़ने की आज्ञा भी कर रहे हैं परन्तु परमात्मा को समर्पित देह को ही छोड़ने की आज्ञा कर रहे हैं तो मन में संकोच अथवा पश्चात्ताप क्यों होना चाहिए? और समझें कि फिर भी तकलीफ होती हो कि देह क्यों छोड़ना?

''**अशक्ये हरिरेवाऽस्ति मोहं मा गाः कथञ्चन**'' – प्रभु आज्ञा दे रहे हैं तो कोई तकलीफ नहीं, अपना देह भी आनन्द से छोड़ सकूँगा। श्रीमहाप्रभुजी इस सीमातक जा कर मन को समझा रहे हैं। इस सीमातक तो प्रभु हमें आज्ञा नहीं देंगे। अर्थात् उच्चतम संभावना को दृष्टि में रख कर श्रीमहाप्रभुजी ने अन्तःकरण प्रबोधन किया है। वे उद्वेग की भी चिन्ता नहीं कर रहे और इससे अधिक तो उद्वेग का कोई कारण आपके समक्ष होगा नहीं। थोड़ा बहुत हो तो उसे सहन कर लें, बस। इस प्रकार की लीलाभावना कैसे करनी, आत्मनिवेदन की भावना कैसे करनी, शरणागति की भावना कैसे करनी, नवरत्न में जो सिद्धान्त समझाया गया है, उसे श्रीमहाप्रभुजी ने व्यावहारिक धरातल पर अन्तःकरण प्रबोध में प्रतिपादित किया है। आप व्यावहारिकरूप से स्पष्ट प्रतिपादन करके बता रहे हैं और यह बताते हुए आचार्यचरण आगे कह रहे हैं। (यहाँ तक देख लें कि आज्ञा के अनुसरण के लिए बताए गए छः हेतु पूर्ण हो गए हैं।)

(एवं स्वान्तःकरणप्रबोधनप्रकटनेन स्वीयानां चिन्ता दूरीकरणम्)

अपने अन्तःकरण के प्रबोधन को प्रकट करके अपने सेवकों की चिन्ता दूर की।

इति श्रीकृष्णदासस्य वल्लभस्य हितं वचः।।10।।
चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत्।

अन्वयार्थ :

श्रीकृष्णदासस्य = श्रीकृष्ण के दास के
वल्लभस्य = श्रीवल्लभ के
चित्तं = चित्त के
प्रति = प्रति
इति = ये, **हितं** = हितकारी
वचः = वचन, **यत्** = जो
आकर्ण्य = सुन कर
भक्तः = भक्त
निश्चिन्ततां = निश्चिन्तता को
व्रजेत् = प्राप्त हों

भावार्थ : श्रीहरि के दास श्रीवल्लभाचार्य के अन्तःकरण के प्रति ये हितकारी (यथार्थ) वचन हैं जिनको भलीभाँति सुनकर भक्तजन चिन्तारहित हो जाते हैं।

व्याख्या :

मैं, श्रीकृष्णदास वल्लभ, ने ऐसे हितकारी वचन तुम्हें समझा दिए कि समर्पण के पश्चात्, आत्मनिवेदन के पश्चात् तुम्हारा व्यवहार कैसा होना

चाहिए। यदि तुम समझ जाओगे, अपने चित्त को यह बात समझा सकोगे तो तुम निश्चिंत हो जाओगे। अपने चित्त को नहीं समझाओगे तो तुम्हें दु:ख होने का कारण विद्यमान रहेगा और यदि तुमने अपने चित्त को यह बात समझा दी, जो मैंने अपने चित्त को समझाई है तो फिर तुम्हारी सारी चिन्ताएँ दूर हो जाएंगी, तुम निश्चिन्त हो जाओगे। इस प्रकार आज हमने अन्त:करण प्रबोध पूर्ण किया।

नवरत्न में जो चिन्ता हो रही है और जो चिन्ता हम कर रहे हैं अर्थात् सहज होनेवाली चिन्ता और की जानेवाली चिन्ताओं पर नियन्त्रण प्राप्त करने के उपाय के संदर्भ में हमने देखा कि विवेक, धैर्य और आश्रय उपाय के रूप में बताए गए हैं तथा विवेक, धैर्य और आश्रय जो उपाय के रूप में बताए वे एक सिद्धान्त के रूप में ही बताए। इतना ही नहीं बल्कि कितनी मात्रा में श्रीमहाप्रभुजी ने उनको अपने व्यवहार में, आचरण में उतारा, इस बात को श्रीमहाप्रभुजी ने अन्त:करण प्रबोध में अपने चित्त का प्रबोधन करके समझाया। उस प्रकार के चित्त के प्रबोधन द्वारा समझा कर साररूप से यह कहा कि **''चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत्।''**

जिस प्रकार से अन्त:करणप्रबोध ग्रन्थ का उपसंहार हुआ उससे हम समर्पण, आत्मनिवेदन और फिर आत्मनिवेदन के तीन पहलुओं से उभरती चिन्ताओं का निरूपण, उन पहलुओं से उभरती चिंताओं का स्वरूप, उन पहलुओं से उभरती चिन्ताओं को दूर करने के उपाय भलीभाँति समझ सकते हैं। जिस प्रकार नवरत्न में है उसी प्रकार अन्त:करण प्रबोध में भी है और अधिकांशत: जितने उपाय बताए उनमें जो मूलरूप से चिन्ता के निवारण के उपाय बताए गए उनमें हमने देखा कि विवेक, धैर्य और आश्रय को ही किसी न किसी प्रकार से निरूपित किया गया है। उनका बाह्यस्वरूप ही नहीं बल्कि उनके जो कोई भी व्यवहारिक पक्ष हो सकते हैं वे भी निरूपित किए गए हैं।

अन्त:करणप्रबोध और शिक्षाश्लोकी एकदम एक साथ कहे गए ग्रन्थ हैं। अभिप्राय यह है कि संन्यास लेने के थोड़े समय पहले ही आपश्री ने अन्त:करणप्रबोध प्रकट किया और संन्यास ले कर नित्य लीलाप्रवेश करने के बस कुछ ही समय पहले शिक्षाश्लोकी ग्रन्थ प्रकट किया। मेरी इच्छा थी कि इन दोनों ग्रन्थों को साथ-साथ ही ले लूँ परन्तु हम पहले षोडशग्रन्थ पूर्ण करेंगे।

(इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितो अन्त:करणप्रबोध: सम्पूर्ण:)

॥ विवेकधैर्याश्रयः ॥

भूमिका :-

विवेक, धैर्य, आश्रय में समझने जैसी मुख्य बात यह है कि कुल सत्रह श्लोक हैं और सत्रह श्लोकों का विभाजन इस प्रकार है- सर्वप्रथम विवेक का स्वरूप निरूपित किया गया है, तत्पश्चात् धैर्य का स्वरूप निरूपित किया गया है और उसके पश्चात् आश्रय का स्वरूप। इसके साथ ही एक दूसरी बात भी समझें। ये तीनों इस स्तोत्र के मुख्य भाग हैं, इसलिए पुस्तक में ऊपर दिखाई देगा कि 'विवेक' को हमने 'क' चिह्न दिया है, 'धैर्य' ' को 'ख' चिह्न दिया है और 'आश्रय' को 'ग' दिया। अतः विवेक, धैर्य का रक्षण करना हमारे लिए आवश्यक है।

समर्पित जीवन को जीने की प्रक्रिया में सहज सम्भव है कि समर्पित जीवन जीते-जीते भी आत्मनिवेदन के बाद हमसे समर्पित जीवन निभ रहा हो या समर्पित जीवन नहीं निभ रहा हो तो भी आत्मनिवेदन तो हो पाया है। उस दिन मैंने जो चतुष्कोण बताया था वह चतुष्कोण और विस्तृत नहीं हो सकता, वह संकुचित ही रहेगा। हमारी अहंता-ममता का वृत्त उसमें विकसित नहीं हो सकता अथवा थोड़ा -बहुत विकसित हो सकता है। वस्तुतः जितना विकसित होना चाहिए उतना हमसे विकसित न भी होता हो पर प्रत्येक स्थिति में वह होना ही चाहिए। जैसे भक्ति का स्वरूप खिलना बहुत मुश्किल है लेकिन नहीं भी खिल सकता तो चिन्ता की कोई बात नहीं।

श्रीमहाप्रभुजी इस अनुकल्प पर आ रहे हैं कि भक्ति का स्वरूप खिल रहा है तो भी और नहीं खिल रहा है तो भी, विवेक, धैर्य, आश्रय बहुत आवश्यक है। अतः साधारणरूप से हम यही विचार करते हैं कि विवेक, धैर्य, आश्रय श्रीमहाप्रभुजी के मत में पुष्टिसम्प्रदाय में सबसे प्रारम्भिक आवश्यकता

है। भक्ति सिद्ध हो रही है तो भी आवश्यकता है और नहीं सिद्ध हो रही तो भी आवश्यकता है।

दोनों के सम्बन्ध में हम ध्यान दें तो ज्ञात होगा कि वैसे तो भक्ति की तुलना में विवेक, धैर्य, आश्रय को उत्कृष्ट नहीं माना गया है, इसके बावजूद भक्ति यदि एवरेस्ट का शिखर है तो उसकी तलहटी में कहीं न कहीं विवेक, धैर्य, आश्रय को हमें स्वीकारना ही पड़ेगा। विवेक, धैर्य, आश्रय की तलहटी नहीं है तो भक्ति के एवरेस्ट के शिखर की ऊँचाई तक न तो हम पहुँच सकेंगे और न उस ऊँचाई की उत्कृष्टता को समझ सकेंगे।

अतएव उस ऊँचाई की उत्कृष्टता समझनी है तो विवेक, धैर्य, आश्रय की तलहटी में हमें पहुँचना पड़ेगा और उस ऊँचाई तक चढ़ना है तो भी यात्रा की शुरुआत, पर्वतारोहण की शुरुआत विवेक, धैर्य, आश्रय से ही होगी। जैसे कभी आप पूना जाएँ अथवा नासिक जाएँ, तो ध्यान देना कि रास्ते की चढ़ाई शुरू होने से पहले भी कुछ ढाल चढ़ाई के रूप में शुरू हो जाता है। जो वास्तविक घाट की चढ़ाई है उसके पहले रोड चढ़ना शुरू होती है फिर घाट की चढ़ाई शुरू होती है। अर्थात् जिसे हम मैदान की एक प्रकार की धीमी चढ़ाई कहते हैं, पहाड़ी चढ़ाई नहीं बल्कि मैदान की चढ़ाई, घाट के शुरू होने से पहले शुरू हो जाती है। उस मैदान की चढ़ाई हमें विवेक, धैर्य, आश्रय के संदर्भ में भी समझना आवश्यक है कि वह मैदान की चढ़ाई क्या है।

इसके अतिरिक्त विवेक, धैर्य, आश्रय में एक दूसरी महत्त्वपूर्ण बात समझनी आवश्यक है कि विवेक, धैर्य, आश्रय के उपदेश को समझने में अधिकतर तकलीफ होती है। वह इस कारण कि हम दो बातों का पृथक्करण नहीं कर सकते। वे बातें हैं - विवेक, धैर्य का स्वरूप अर्थात् विवेक का स्वरूप, धैर्य का स्वरूप और आश्रय का स्वरूप। उस स्वरूप को सिद्ध करने के लिए 'इतिकर्तव्यता' को कैसे प्राप्त करना, कैसे हासिल करना? विवेक, धैर्य

का जो कुछ भी स्वरूप समझाया है उस धैर्य के स्वरूप को किस प्रकार प्राप्त करना अथवा जो आश्रय का स्वरूप समझाया है उस आश्रय के स्वरूप को किस प्रकार प्राप्त करना? उसके जो उपाय बताए गए हैं उन दोनों मे हम सदा ही उलझन का अनुभव कर रहे हैं। इस ग्रन्थ में फिर कोई गड़बड़ न हो जाए, जितनी स्पष्टतापूर्वक समझ में आना चाहिए उतनी स्पष्टता से अधिकांशतः समझ में नहीं आता इसलिए इन दो बातों को विशेषरूप से समझने के लिए हमने इस पुस्तक में इस प्रकार के उपाय किए हैं।

*****

॥ विवेकधैर्याश्रयः ॥

(विवेक[क] धैर्य[ख] श्रय[ग] रक्षणावश्यकता)

विवेक, धैर्य और आश्रय के रक्षण की आवश्यकता।

विवेक[क]-धैर्ये[ख] सततं रक्षणीये तथाश्रयः[ग]।

अन्वयार्थ :

विवेक-धैर्ये = विवेक और धैर्य
सततं = निरन्तर
रक्षणीये = रक्षण करने योग्य है
तथा = इसी प्रकार
आश्रयः = आश्रय
(**रक्षणीयः** = रक्षण करने योग्य है)

भावार्थ : विवेक और धैर्य सर्वदा रखने चाहिए। इसी प्रकार दोनों की सिद्धि के लिए आश्रय भी सर्वदा रखना चाहिए।

व्याख्या :

ध्यान से देखें कि विवेक और धैर्य को श्रीमहाप्रभुजी समेकित करके एक सम्मिश्रित घटक बना रहे हैं और 'रक्षणीये' कह रहे हैं। विवेक और धैर्य का सतत रक्षण करें। 'तथा आश्रय' - इसी प्रकार आश्रय का भी रक्षण करें। ऐसे तो ये तीन हैं अर्थात् तीन वस्तुओं का उपदेश है परन्तु इसके अन्तर्गत विवेक और धैर्य का एक वर्ग है तथा आश्रय का एक अलग भाग है, जो उसका आन्तरिक विभाग है। इस वर्गीकरण को भी हमें ध्यान में रखना चाहिए। इसीलिए श्रीमहाप्रभुजी 'तथाश्रय' कह कर एवं विवेक धैर्य को एक साथ जोड़ कर हमें बताना चाह रहे हैं।

साथ ही साथ शीर्षक में हमने 'क', 'ख', 'ग' चिह्न दिए हैं। यह भलीभाँति समझ लें कि जहाँ भी हम विवेक के स्वरूप को समझना चाह रहे हैं अथवा धैर्य के स्वरूप को समझना चाह रहे हैं अथवा आश्रय के स्वरूप को समझना चाह रहे हैं तो शुद्ध 'क', 'ख', 'ग' का उपयोग करेंगे। क्योंकि हमने विवेक को 'क', धैर्य को 'ख' और आश्रय को 'ग' कहा है। परन्तु जहाँ उनके उपाय और उनकी अलग-अलग उत्तरोत्तर अवस्थाएँ हैं, उन अवस्थाओं का विस्तार होने पर वह विवेक का स्वरूप सिद्ध होता है। यह ठीक-ठीक वैसी ही परिस्थिति है जो हमने ''चेतस्तत्प्रवणं सेवा, तत्सिद्ध्यै तनु-वित्तजा'' के संदर्भ में देखा कि चित्त का भगवत्प्रवण होना सेवा है और चित्त की भगवत्प्रवणता हमें तनु-वित्तजा से प्राप्त होगी। चित्त की प्रवणता सेवा का स्वरूपलक्षण था और ''तत्सिद्ध्यै तनु-वित्तजा'' सेवा का साधनलक्षण था।

इस प्रकार विवेक, धैर्य, आश्रय के स्वरूपलक्षण और उनके साधन लक्षण - इन शब्दों के अनुसार समझें। विवेक, धैर्य का जो स्वरूप निरूपित किया है उस स्वरूपवाले विवेक को, उस स्वरूपवाले धैर्य को और उस स्वरूपवाले आश्रय को प्राप्त करने के लिए क्रमिक सोपान हैं, उन सोपानों के उपदेश को हम एक, दो, तीन, चार के क्रम से कहेंगे। अब हम इस प्रतीकविन्यास को सरलता से समझ सकते हैं।

'क^{1}' अर्थात् विवेक का प्रथम सोपान, 'क^{2}' विवेक का द्वितीय सोपान, 'क^{3}' विवेक का तीसरा सोपान, 'क^{4}' विवेक का चौथा सापान और चौथे सोपान तक पहुँचने पर विवेक का स्वरूप हमें अप्राप्य नहीं रह जाता। इसी प्रकार 'ख' अर्थात् धैर्य का स्वरूप, 'ख^{1}' धैर्य का प्रथम सोपान, 'ख^{2}' धैर्य का द्वितीय सोपान, 'ख^{3}' धैर्य का तृतीय सोपान, 'ख^{4}' धैर्य का चौथा सोपान। इसी प्रकार 'ग' अर्थात् आश्रय, 'ग^{1}' आश्रय का प्रथम सोपान, 'ग^{2}' आश्रय का द्वितीय सोपान, 'ग^{3}' आश्रय का तृतीय सोपान, 'ग^{4}'

आश्रय का चौथा सोपान। यह पूरा सारांश है। सैद्धान्तिकरूप से इस पर ध्यान देंगे तो विवेकधैर्याश्रय को समझने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं रह जाएगी।

(विवेकस्वरूप^{क} लक्षणं तदुपलब्ध्यै च अप्रार्थनम्^{1} अनभिमान:^{2} हठाभावो^{3} अनाग्रह:^{4} चेति उपायचतुष्टयम्)

विवेक के स्वरूप को हम 'क' कह रहे हैं और उस स्वरूप को प्राप्त करने के लिए अप्रार्थना, अनभिमान, हठाभाव, अनाग्रह, चतुष्टय उपाय हैं।

इसी प्रकार धैर्य का स्वरूपलक्षण 'ख' और ''तद् चेति क्रमिकोपाय चतुष्टयम्'' तथा इसी प्रकार आश्रयस्वरूपलक्षण 'ग' और उसके पश्चात् ''भगवद्-आश्रय सिद्ध्यै क्रमिकोपाय चतुष्टयम्'' इनके नाम नहीं लिखे क्योंकि बड़े-बड़े नामों का यहाँ निर्देश करना कठिन था। इसलिए क्रमांक दे दिए हैं - 1, 2, 3, 4। यह इसका मूलभूत सारांश है। इसको समझने के पश्चात् हम आगे के श्लोक शुरू करेंगे।

विवेकस्तु हरि: सर्वं निजेच्छात: करिष्यति^{क} ।।1।।
प्रार्थिते वा तत: किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशयात्।
सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च^{1} ।।2।।
अभिमानश्च सन्त्याज्य: स्वाम्यधीनत्वभावनात्।
विशेषतश्चेद् आज्ञा स्याद् अन्त:करणगोचर: ।।3।।
तदा विशेषगत्यादि भाव्यं भिन्नन्तु दैहिकात्^{2}।
आपद्गत्यादिकार्येषु हठस्त्याज्यश्च सर्वथा^{3} ।।4।।
अनाग्रहश्च सर्वत्र धर्माधर्माऽग्रदर्शनम्^{4}।
विवेकोऽयं समाख्यातो .....।।

अन्वयार्थ :

तु = और, **हरिः** = श्रीकृष्ण
निजेच्छातः= निजइच्छा से
सर्वं = सब कुछ, **करिष्यति** = करेंगे
(इति = ये **), विवेकः** = विवेक
स्वाम्यभिप्रायसंशयात् = स्वामी के अभिप्राय में संशय होने से
प्रार्थिते = प्रार्थना करने से
वा = भी, **ततः** = इसलिए
किं = क्या, **स्यात्** = होता है
हि = निश्चितरूप से
सर्वत्र = सर्वत्र
च = और, **सर्वं** = सबकुछ
सर्वसामर्थ्यं = सब सामर्थ्य
तस्य = उसका, **एव** = ही
स्वाम्यधीनत्वभावनात् = स्वामी के अधीन होने की भावना से
अभिमानः = अभिमान, **च** = तो
सन्त्याज्यः = भली-भांति त्यागने योग्य है
अन्तःकरणगोचरः = जिसका अन्तःकरण में ज्ञान हो
चेत् = जो
विशेषतः = विशेष प्रकार की
आज्ञा = आज्ञा, **स्यात्** = होती है
तदा = तब
विशेषगत्यादि = विशेष गति आदि
कर्तव्यम् = करना चाहिए, **तु** = और
दैहिकात् = देहसम्बन्ध से

भिन्नं = अलग
(भाव्यम् = करना चाहिए)
च = और, **आपद्गत्यादिकार्येषु** = आपत्ति आ जाए, उस कार्य में
सर्वथा = सब प्रकार से
हठः = हठ, **त्याज्यः** = त्याज्य है
सर्वत्र = सब जगह
अनाग्रहः = आग्रह का त्याग
(कर्तव्यः = करना उचित है **)**
धर्माधर्माऽग्रदर्शनम = धर्म और अधर्म का अग्रदर्शन
(कर्तव्यं = करना चाहिए)
अयं = यह, **विवेकः** = विवेक
समाख्यातः = भली प्रकार से कहा गया

भावार्थ : प्रभु अपनी इच्छा से सबकुछ करेंगे, यह विवेक है।

प्रार्थना करने से क्या होता है? कुछ नहीं होता। क्योंकि जो स्वामी का अभिप्राय कहा गया है उसे हम नहीं जानते। सब स्थानों में सभी वस्तु भगवान की ही हैं और जो वस्तु विद्यमान न हो उसे सिद्ध करने का सामर्थ्य भी भगवान में है।

स्वामी के अधीन सब हैं - ऐसी भावना से वासनासहित अभिमान का त्याग करना चाहिए।

सेवा करते समय अन्तःकरण से जाननेवाली कोई विशेष भगवदाज्ञा हो तो तदनुसार करना चाहिए। ऐसी विशेष आज्ञा भी अपने देहादिक के सम्बन्ध से भिन्न हो तभी उस आज्ञा के अनुसार विशेष करना चाहिए।

आपत्ति के समय हठ का सर्वथा त्याग करना चाहिए। आग्रह का भी

त्याग करना चाहिए। सर्वत्र धर्म और अधर्म का पूर्वविचार करना चाहिए। इस प्रकार से विवेक का सम्यक्रूपेण व्याख्यान किया।

व्याख्या :

विवेक का स्वरूपलक्षण क्या है? हमारे हृदय की एक दृढ़ धारणा, एक दृढ़ विश्वास अथवा निष्ठा से विवेक वृद्धिगत होता रहेगा। श्रद्धा, विश्वास, निष्ठा उत्तरोत्तर क्रम से बढ़ता हुआ विवेक का स्वरूप है जो हममें होना ही चाहिए – ''हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति'' – हरि अपनी इच्छा से सबकुछ करेंगे। इस बात की आपको श्रद्धा है तो बहुत उत्तम बात है, श्रद्धा से बढ़ कर आपको विश्वास हो गया तो वह और भी उत्तम बात है तथा विश्वास से बढ़ कर आप में निष्ठा विकसित हो गई तो फिर कोई प्रश्न शेष नहीं रह जाता। निष्ठा तक पहुँचते ही सब कुछ उत्तम हो गया क्योंकि फिर आप विचलित नहीं होंगे। श्रद्धा से हम डिग जाते हैं, विश्वास में भी कभी घात हो जाती है पर निष्ठा का तात्पर्य है कि श्रद्धा और विश्वास से भी आगे के सोपान तक जीने की हमने एक पूरी–पूरी जीवनशैली बना ली है – इसे 'निष्ठा' कहते हैं।

अर्थात् जिसे हम हृदय से चाह रहे हैं, जिसे हम बुद्धि से मान रहे हैं उस अपनी मान्यता और चाहत को जब हम जीने हेतु कटिबद्ध हो जाते हैं तो यह हमारी निष्ठा बन जाती है। हम समझ रहे हैं और चाह रहे हैं परन्तु उस पर पूरा–पूरा विश्वास नहीं कर सकते क्योंकि बुद्धि अभी तक थोड़ी अस्थिर है।

यह सदैव ही प्रत्येक आस्तिक के साथ होनेवाली घटना है कि हमें भगवान में श्रद्धा है पर भगवान में विश्वास होना बहुत ही कठिन बात है। यहाँ हम कहना चाह रहे हैं कि भगवान में श्रद्धा होना तो आसान बात है परन्तु भगवान में विश्वास होना बहुत कठिन बात है। धर्म में श्रद्धा होना बहुत सरल बात है। धर्म में विश्वास तो उसी को हो सकता है जिसकी माँ ने सवासेर सोंठ खाई हो अन्यथा प्रत्येक को धर्म में विश्वास नहीं होता। श्रद्धा बहुत आसानी से

हो जाती है।

श्रद्धा के विषय में भगवान गीता में आज्ञा करते हैं – ''**श्रद्धामयोऽयं पुरुषो**'' – हमारी इस पूरी संरचना में श्रद्धा ठूंस–ठूंस कर भरी है, अर्थात् एक वस्तु में श्रद्धा नहीं हो तो दूसरी वस्तु में श्रद्धा होगी। किसकी कहाँ श्रद्धा होगी – यह एक अलग विषय है। किसी को हमारे विषय में श्रद्धा न हो तो हम कहेंगे कि यह अश्रद्धावाला व्यक्ति है।

जैसे हम कृष्ण के भक्त हैं और किसी को कृष्ण में श्रद्धा न हो तो हमें लगता है कि वह अश्रद्धावाला भक्त है। व्यक्ति अश्रद्धावाला नहीं है परन्तु उसको कृष्ण में अश्रद्धा है। वह कृष्ण में श्रद्धा नहीं रखता हो तो शिव में रखता होगा, शिव में नहीं रखता हो तो ईसा में रखता होगा, ईसा में नहीं रखता हो तो मोहम्मद में रखता होगा, मोहम्मद में नहीं रखता हो तो बुद्ध में रखता होगा अथवा महावीर में रखता होगा। इनमें से किसी में न रखता हो तो किसी नए नेता या मार्गदर्शक में रखता होगा। कहीं न कहीं तो मनुष्य श्रद्धा रखता ही है। श्रद्धा के बिना व्यक्ति हो ही नहीं सकता।

जिस व्यक्ति को श्रद्धा नहीं उसे आत्महत्या किए बिना कोई चारा नहीं। हम आत्महत्या नहीं कर रहे अर्थात् समझ लें कि हम सबको श्रद्धा है। श्रद्धा खंडित हो जाने से व्यक्ति इतना डगमगा जाता है कि सीधे आत्महत्या का विचार करता है। इसलिए श्रद्धा जन्म लिए हुए बालक द्वारा श्वास लेने जितनी सरल है।

ऐसे बालक जो जन्म लेते हैं पर श्वास नहीं ले सकते तो कदाचित् ही ऐसी घटना घटित होती है। इसी प्रकार कोई विरला ही प्राणी श्रद्धाविहीन होता है। वस्तुतः अन्तर यही है कि हमारा जो श्रद्धा का विषय है वह उसकी श्रद्धा का विषय नहीं होता, इसलिए हमें वह अश्रद्धालु लगता है।

हम जिस वस्तु के विषय में श्रद्धाविरोधी भाव रखते हैं उसमें किसी को श्रद्धा हो तो हमें वह अंधश्रद्धालु लगता है। जैसे प्रत्येक मुसलमान को हिन्दू अंधश्रद्धालु लगेगा, प्रत्येक हिन्दू को मुसलमान अंधश्रद्धालु लगेगा, प्रत्येक जैन को वैष्णव अंधश्रद्धालु लगेगा, प्रत्येक वैष्णव को जैन अंधश्रद्धालु लगेगा। ईसाइयों को हम सब अंधश्रद्धालु लगते हैं और हमें ईसाई अंधश्रद्धालु लगते हैं।

इस प्रकार जिनके प्रति श्रद्धाविरोधी भाव है उनमें श्रद्धा रखनेवाले हमें अंधश्रद्धालु लगेंगे परन्तु समझना यह है कि वे श्रद्धालु हैं कि अश्रद्धालु हैं? अश्रद्धालु कोई नहीं हो सकता, यदि जी रहा है तो अश्रद्धालु नहीं हो सकता। श्रद्धा किसमें है, यह अपना-अपना विषय है।

इसी प्रकार यह सिद्धान्त कि ''विवेकस्तु हरिः सर्व'' - इसमें श्रद्धा रखना हमारे लिए बहुत आसान है। श्रीमहाप्रभुजी को हम मानते हैं, श्रीमहाप्रभुजी हमारे आचार्य हैं, दो-चार बार हम उनके ग्रन्थों का पाठ कर लेते हैं, दो-चार बार प्रवचन सुन लेते हैं तो हमें श्रद्धा हो जाती है कि हाँ, ''विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति।''

जहाँ विश्वास का प्रश्न आता है वहाँ हमारी नाव हिचकोले खाने लगती है कि मान रहे हैं कि ''विवेकस्तु हरिः .....'' परन्तु , यह जो 'परन्तु' है वह बहुत खतरनाक है। मान तो रहे हैं कि सब कुछ भगवान ही कर रहे हैं परन्तु, इस 'परन्तु' में ही दुनिया डूब गई, सारी दुनिया डूब जाती है इस एक 'परन्तु' में। यह 'परन्तु' हमारे अविश्वास की अभिव्यक्ति है। हम मान रहे हैं, यह हमारी श्रद्धा है कि सब कुछ भगवान की इच्छा के अनुसार होता है, फिर भी ...। यह 'फिर भी' अविश्वास है। 'फिर भी' मन में आया तो छत दरक गई, उसमें अविश्वास आ गया।

अतः श्रद्धा के बाद विश्वास आता है और विश्वास के पश्चात् अन्तिम सोपान निष्ठा का है। जो हमारी श्रद्धा है, जो हमारा विश्वास है, उसे हम मान भी

रहे हैं, विश्वास भी हम कर लेते हैं पर उसे जीने में तकलीफ हो जाती है क्योंकि हमें किसी का विश्वास नहीं। भाई, मनुष्य को हिंसा नहीं करनी चाहिए, मनुष्य को झूठ नहीं बोलना चाहिए, किसी को भी पूछ देखें, वह यही कहेगा। जो सामाजिक प्राणी है, उनके बारे में बात कर रहा हूँ। किसी ऊटपटांग बदमाश प्राणी की बात नहीं कर रहा।

जो सामाजिक प्राणी है उसे पूछ कर देखें कि सच बोलना चाहिए कि नहीं? प्रत्येक व्यक्ति यही कहेगा कि सच तो बोलना ही चाहिए। जो भी मनुष्य सच नहीं बोल रहा है वह हमारे ध्यान में आते ही हमें गुस्सा आ जाता है कि झूठ बोल रहा है। गुस्सा किसलिए आ रहा है, तो ध्यान से देखें कि हमें जब कोई दूसरा झूठ बोले तो गुस्सा आ जाता है परन्तु जब हम झूठ बोलते हैं तो हमें गुस्सा नहीं आता। क्योंकि निष्ठा का जब प्रश्न आता है तो हम डगमगा जाते हैं।

हम मानते हैं कि सच बोलना चाहिए, हमारी श्रद्धा भी है कि सच बोलना पुण्य है, झूठ बोलना पाप है। यह हमारी श्रद्धा है, यह हमारा विश्वास है परन्तु जब बोलने की बात आती है तो व्यक्ति आधा सच-आधा झूठ के हिसाब से बोलता है। दूसरा झूठ बोले तो उस पर गुस्सा आता है और हम झूठ बोलें तो उसके लिए हम कोई न कोई बहाना ढूँढ लेते हैं कि भाई, परिस्थिति ऐसी ही थी, झूठ न बोलें तो क्या करें, सारी दुनिया झूठ बोल रही है तब सच बोल कर क्या मरना है?

इस प्रकार के पचास कारण हमें समझ में आ जाते हैं। जैसे घण्टी बजते ही ऑफिस में चपरासी हाजिर हो जाता है वैसे ही घण्टी न बजने पर भी झूठ को उचित ठहराने के कई कारण हमारे पास उपस्थित हो जाते हैं, कि येस सर, बताएँ, क्या चाहिए? उचित कारण हमारे पास उपस्थित हो जाते हैं कि हमें किस बारे में झूठ बोलना है। दूसरा कोई झूठ बोलता है तो उस समय हमें कोई उचित कारण याद नहीं आता, मानो (सभी उचित कारण) बीमारी की छुट्टी

पर चले गए हों। हमें लगता है कि यह व्यक्ति झूठ बोलता है, बदमाश है, ठग है, धूर्त है। यह परिस्थिति प्रत्येक व्यक्ति की है। इसे आईना सम्मुख रखने के उदाहरण से समझना पड़ेगा। आक्षेप की भाषा नहीं है परन्तु किसी को गुस्सा आए तो आए, उसमें क्या है?

''आईने से बिगड़ के बैठ गए, जिनकी सूरत जिन्हें दिखाई गई'' (साहिर) - इस प्रकार हमें गुस्सा भी आ जाता है। जब भी मनुष्य फंसता है तो गुस्सा आता है परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि निष्ठा के सवाल पर हम डगमगा जाते हैं, बाकी श्रद्धा में तो कदाचित् ही कोई मनुष्य डगमगाता है।

श्रद्धा का तात्पर्य है - हमारी स्वीकार करने की वृत्ति। हमारी स्वीकार करने की जो वृत्ति है वह श्रद्धा है। आपको ब्लैकबोर्ड दिखाई दे रहा है। आप स्वीकार कर रहे हैं या नहीं कि यह ब्लैकबोर्ड है।

इतना संशयवादी दार्शनिक तो कदाचित् ही मिलता है जो देखने के बावजूद भी यह कारण सोचे कि सपना दिख रहा है और सपने में जब हाथी देखा तो उस समय वह हाथी तो था नहीं, अब क्या भरोसा? जो ब्लैकबोर्ड दिखाई दे रहा है वह ब्लैकबोर्ड है या नहीं, क्या आपको ऐसी शंका होती है? ब्लैक बोर्ड को सामने देख कर आपकी पहली प्रतिक्रिया क्या हो रही है? स्वीकारने की या संशयास्पदरूप से स्वीकारने की? यही श्रद्धा है।

इस श्रद्धा के तत्त्व को ध्यान से समझें कि जो दिखाई दे रहा है उसके लिए नहीं, बल्कि जो नहीं दिखाई दे रहा है उसके विषय में हम जब सुनते हैं... एक बहुत मजेदार बात बताता हूँ। आपातकाल के दौरान कई महाराजश्री के यहाँ अचानक छापे पड़े थे। अखबारों में महाराजों के बारे में कई आक्षेप प्रकाशित हुए। एक परिचित वकील था उसने कहा कि इतने घोटाले आपके महाराज लोगों के अखबारों में आ रहे हैं तो क्या चक्कर है? मैंने कहा कि भाई

अखबारवाले सारी बातें तो सच नहीं कहते, थोड़ी सच होती हैं, थोड़ा बढ़ा-चढ़ाकर कहते हैं। वकील ने कहा कि अखबार में आ रहा है तो मुश्किल लगता है कि झूठ होगा। अब आप महाराज होने के कारण छुपाएँ तो ठीक है, मैं क्या बोलूँ?

बाद में ऐसा हुआ कि उस वकील को पुलिस ने पकड़ लिया। उसने कुछ सामग्री आयात की। वह आयातित वस्तु छुड़वाने में कुछ चक्कर हो गया। माल छूटा नहीं इसलिए माल रोके रखने के एवज में उसने दो-तीन बार कुछ रकम प्राप्त कर ली। उसने एक ही आदेश पर दो-तीन बार पैसे ले लिए कि माल अमुक दिन देर से मिला, छूटा नहीं, उसके पैसे लाएँ। सरकारी खाते से, एक के बाद एक, उसने दो-तीन बार पैसे लिए। एक बार पकड़ा गया, उसकी पूरी चोरी पकड़ी गई। यह मामला अखबार में आ गया और उसकी वकालत निरस्त हो गई। फिर एक दिन मैं गया कि अखबार में यह सब क्या आ गया? कहने लगा कि अखबारवाले सब झूठ बोलते हैं। मैंने सोचा कि बहुत बदमाश है, हमारे बारे में जब अखबार में आया था तो कह रहा था कि अखबारवाले सब झूठ थोड़े ही बोलते हैं, अब जब तुम्हारे बारे में अखबार में आया तो दल बदल लिया कि अखबारवाले सब झूठ बोलते हैं। ठीक है, मुझे कोई झगड़ा नहीं करना था पर मैं समझ गया कि इसमें सच क्या है।

मैंने भी यही विचार किया कि अखबारवाले सब झूठ थोड़े ही बोलते होंगे, जब इतना सब अखबार में आता है तो कुछ न कुछ तो सच्चाई होगी। वस्तुतः हमें एक तटस्थ व्यक्ति की भाँति कुछ पता नहीं चलता कि अखबार में जो प्रकाशित होता है वह सच है या झूठ है।

जैसे अखबार में आ गया कि गणपतिजी ने बड़े पैमाने पर दूध पिया। क्या कह सकते हैं, सबको श्रद्धा है। कई लोग यही प्रश्न करते हैं कि भाई लोग इतने ज्यादा बेवकूफ कैसे है? गणपतिजी ने दूध नहीं पिया और कहते हैं कि

पिया। पता ही नहीं चलता कि क्या हुआ और क्या नहीं हुआ? अखबार में आ गया तो सबके मन में तसल्ली होती है कि अखबार में आ गया तो झूठ कैसे हो सकता है। अब देखें, यह श्रद्धा की वृत्ति है। सुबह उठते ही हमें कितनी श्रद्धा छलकती है कि हम अखबार पढ़ते ही यह समझ लेते हैं कि पूरी दुनिया की बातें समझ में आ गई। हमें पता ही नहीं चलता कि वास्तव में अखबारवाले किस नीति के तहत, किसको बदनाम करने के लिए, किसे झूठा साबित करने के लिए अखबार में कैसे समाचार प्रकाशित कर देते हैं। अखबार में पढ़ने का मतलब हम समझते हैं कि हाँ, ऐसी घटना घट गई।

हाल ही आप लोगों ने पढ़ा होगा कि ईराक और कुवैत के बीच में जो युद्ध हुआ उसमें अमेरिका ने पूरे युद्ध के चित्र बताए थे। बाद में पता चला कि वे किसी दूसरे युद्ध के चित्र थे, उस युद्ध के नहीं थे। सभी लोग यही कह रहे थे कि हाँ, दस्तावेजी चलचित्र आया था कि सबकुछ ध्वस्त हो रहा था। कोई ईराक की मिसाइल उड़ी नहीं कि बात फैल गई कि सब गिरा दिया।

वास्तव में मनोबल गिराने के लिए पेन्टागन ने किसी दूसरे युद्ध के चलचित्र टी.वी. में बता दिए थे। वीडियो में, केबल में, सबने अपनी आँखों से देखे। सब मानते थे कि हाँ, सब ध्वस्त हो गया, खत्म हो गया। देख रहे हैं इसलिए श्रद्धा है सबको लेकिन कई बार हमारा यह विश्वास खण्डित हो जाता है। हम अखबार में पढ़ लेते हैं, जाँच लेते हैं और बाद में पता चलता है कि यह समाचार झूठे हैं। लेकिन हम अगले दिन फिर से तैयार होते हैं। अखबार में पढ़कर अगले दिन हम फिर तैयार हो जाते हैं कि हाँ, यह घटना इस प्रकार हुई।

मूलत: मनुष्य श्रद्धायुक्त होता है। मैं तो यहाँ तक मानता हूँ कि कल सुबह यदि अखबार में विज्ञापन छपवा दें कि आप साक्षात् पुरुषोत्तम हैं तो हजार नहीं तो पाँच सौ व्यक्ति तो हमें मिल ही जाएंगे कि हाँ, पीयूष बाबा साक्षात् पुरुषोत्तम हैं। अखबार में बात आ गई तो फिर किसी को ऐसा नहीं लगता कि

अखबार में विज्ञापन के पैसे देने के कारण आ गया होगा। सब लोग यही सोचते हैं कि अखबार में आ गया तो साक्षात् पुरुषोत्तम है। सब यह मान कर चलेंगे कि दूसरे बालक हों या ना हों परन्तु पीयूष बाबा तो साक्षात्..... अखबार में आ गया न, तो साक्षात् पुरुषोत्तम! मनुष्य की श्रद्धा में यह भयंकर सामर्थ्य है।

जैसे हाल ही में एक अखबार में आया था कि तीन सौ रुपये जमा करा दें तो आपका चित्त भगवान में लग जाएगा। सब लोगों ने तीन सौ रुपये जमा करा दिए। मैंने फोन किया कि भाई, चित्त नहीं लगेगा तो पैसे वापस देंगे या नहीं? मना कर दिया कि आप जमा करा दें, नहीं लगेगा तो पैसे वापस नहीं मिलेंगे। अखबार में रोज आता कि तीन सौ रुपये भर दें, भगवान में चित्त प्रवण हो जाएगा। मैंने फोन किया कि नहीं लगेगा तो पैसे वापस देंगे तो बोले, नहीं। श्रद्धा हो तो जमा करा जाएँ, पैसे वापस देने का प्रावधान हमारे यहाँ नहीं है।

श्रद्धा कितना असाधारण तत्त्व है अर्थात प्रत्येक अच्छे तत्त्व का दुरूपयोग भी हो सकता है और प्रत्येक अच्छे तत्त्व का सदुपयोग भी हो सकता है। इसलिए यह बात एकदम स्पष्ट है कि प्रत्येक चीज के साथ, चाकू के साथ, बंदूक के साथ यह तो सम्भावना है ही। यह एक अलग कथा है। एक बात स्पष्ट रूप से समझ लें कि श्रद्धा एक ऐसा असाधारण तत्त्व है जो मूल में हमारे भीतर हमारी किसी भी अनुभूति को स्वीकार करने की प्रवृत्ति है, स्वाभाविक वृत्ति है। जो कुछ हम अनुभव कर रहे हैं उसे हम स्वीकार कर लें तो वह श्रद्धा का स्वरूप है। विश्वास इतना जल्दी स्वीकार नहीं करता। विश्वास क्या है? जब तक अनुभव का 25-30 बार पुनरावर्तन न हो तब तक हमें विश्वास नहीं होता।

मात्र थोड़ी सी जानकारी अथवा नई जानकारी से हम किसी पर श्रद्धा ला सकते हैं परन्तु विश्वास लाने के लिए बार-बार का अनुभव होना चाहिए। जैसे आप देखें कि रोज आप एक गली से गुजर रहे हैं और कोई कुत्ता आप पर भौंकता नहीं है तो आपको विश्वास हो जाएगा कि यह कुत्ता हम पर नहीं

भौंकता लेकिन एक बार गुजरने से आपको विश्वास नहीं होता। क्योंकि दिन को नहीं भौंकेगा तो रात्रि में भौंकेगा, भरोसा नहीं है।

कोई व्यक्ति रोज आपके साथ ट्रेन में चलता हो तो आपको श्रद्धा होती है कि साथ में खड़ा है, जेब भी नहीं काटता। अब समझें कि आपके साथ 365 दिन कोई व्यक्ति गाड़ी में आ रहा है और आपके साथ दुर्घटना नहीं हुई तो आपको बार-बार के अनुभव के कारण विश्वास हो जायेगा कि यह मेरे साथ एक वर्ष से आ रहा है तो विश्वासघात नहीं करेगा। ऐसा नहीं है कि विश्वासघात नहीं हो सकता, हो सकता है। लेकिन बार-बार का अनुभव हमारे भीतर विश्वास प्रकट करता है।

अत: जो असाधारण घटना है, जिसका हमें बार-बार का अनुभव नहीं है उस पर हम श्रद्धा होने के बावजूद विश्वास नहीं कर सकते। मुझे नहीं लगता कि 301 रुपये जमा करनेवालों में से किसी को विश्वास होगा कि भगवान में चित्त लग जायेगा। सबको केवल श्रद्धा थी कि अखबार में आ गया है तो भगवान में चित्त लग जायेगा, 301 रुपये में क्या जाता है, जमा करवा दें - यह श्रद्धा है।

उन लोगों को पकड़-पकड़ कर पूछें कि आपको विश्वास था? सब चलायमान हो जाएंगे। विश्वास होना बहुत कठिन बात है। मनुष्य को बहुत जल्दी विश्वास नहीं होता। विश्वास का तात्पर्य है - जिसमें आपका श्वास ऊँचा-नीचा नहीं होता। कोई भी हो, जिसके बारे में आपको रोज का अनुभव न हो उस पर विश्वास करने में आपका श्वास ऊँचा-नीचा हो जाता है, फिर चाहे वह अनुभव संतोषजनक हो या असंतोषप्रद हो। कोई खूब असंतोषप्रद घटना भी आपकी रोजमर्रा की घटना बन जाती है कि अमुक घटना तो रोज होती है। आपका उसमें विश्वास हो जाता है कि हाँ, ऐसा ही होना था।

कदाचित् आप लोगों ने पढ़ा होगा या न पढ़ा हो, आप बहुत छोटे रहे होंगे। मैंने पढ़ा था कि अमेरिका के सैनिक जब वियतनाम में गए थे तो जंगल में बम विस्फोट करते रहते थे, गोलीबारी करते रहते थे। बार-बार की फायरिंग से विएतकांग का कोई न कोई मनुष्य बेचारा मर जाता था। उस घटना को देख-देख कर वियतकांग के जंगलों के चीतों को विश्वास हो गया कि विस्फोट-धड़ाका होने पर किसी न किसी मनुष्य की लाश खाने के लिए मिलेगी। जब विस्फोट बंद हो जाता तो चीते बाहर आते और मरे हुए को खा जाते।

बहुत अनुभव के बाद उनको यह बात समझ में आई कि हाँ, जब विस्फोट होता है तब एकाध बॉडी हमारे लिए तैयार, बिना दौड़-भाग के, बिना पकड़े एक शिकार मिल जाता है। ऐसा बताते हैं कि वियतकांग में जंगल में विस्फोट होते तब चीते जंगल से बाहर आ जाते थे कि चलो, माल तैयार है, अब खाने के लिए थाली परोसी हुई है। अत: बार-बार के अनुभव के कारण उनमें ऐसा विश्वास प्रकट हो गया। अब बेचारे दु:खी होते होंगे कि विस्फोट नहीं हो रहे, उनके साथ विश्वासघात हो गया जो एक अलग कथा है।

अतएव अपनी श्रद्धा, अपने विश्वास को आडम्बर के बिना, दिल खोल कर जब आप जी सकें तब उसे 'निष्ठा' कहा जाता है। इसके लिए श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं - ''**निष्ठा च साधनैरेव न मनोरथवार्तया**'' - श्रद्धा और विश्वास की बात मनोरथ और वार्ता में हो सकती है पर निष्ठा की बात मनोरथ और वार्ता में नहीं हो सकती। निष्ठा की बात तो जीवन को जीने की बात है कि जो आपकी श्रद्धा है, जो आपका विश्वास है उसे आप जी रहे हैं।

इस प्रकार ''हरि: सर्वं निजेच्छात: करिष्यति'' - आपकी श्रद्धा, आपका विश्वास और आपकी निष्ठा अपेक्षित है। यदि निष्ठा सध गई तो सब बातों का समाधान हो जाएगा। आपकी श्रद्धा को विश्वास तक ले जा कर, विश्वास को निष्ठा तक पहुँचाने के लिए बार-बार का अनुभव जैसे एक साधन

बनता है वैसे ही श्रीमहाप्रभुजी की तरफ से जिस साधन की सूचना दी जा रही है वह हमें देखना पड़ेगा।

इसके लिए सर्वप्रथम एक बहुत छोटा कदम भरने के लिए श्रीमहाप्रभुजी आपको कह रहे हैं। यदि आपको यह विवेक अपने हृदय में प्रकट करना है, श्रद्धा प्रकट करनी है कि सब कुछ भगवान करेंगे तो इसके लिए श्रीमहाप्रभुजी बताते हैं कि प्रथम कदम, प्रथम उपाय के अन्तर्गत ''प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्राय संशयात्, सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च''- 'अप्रार्थना' अर्थात् प्रभु के पास कम से कम प्रार्थना करना तो बन्द करें। यदि आप मान रहे हैं कि प्रभु अपनी इच्छा से जो चाहे वह करेंगे तो वे जो कुछ चाहेंगे, अपनी इच्छा से करेंगे। अतः यह एक छोटा-सा कदम उठा लें। दूसरा जो भी करना हो वह करते रहें।

आवश्यक नहीं कि जिस-जिस परिस्थिति का आप सामना नहीं कर सकते, उसका प्रतिकार न करें। जो परिस्थिति आ रही है उसका प्रतिकार करना हो तो प्रतिकार करें। जैसे मकान में आग लगी तो क्या हम कहेंगे कि ''विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति?'' बाहर क्यों भागना? आग लगी है, हरि को जलाना होगा तो जलाएगा, नहीं जलाना होगा तो नहीं जलाएगा। हम तो बैठ गए तो बैठ गए - ''**हजरते दाग जहाँ बैठ गए, बैठ गए, और होंगे तेरी महफिल से उठनेवाले**'' - प्रथम कदम पर ही इस स्तर का विवेक हम नहीं रख सकते क्योंकि इस स्तर के विवेक को जीने के लिए, विश्वास के लिए बहुत हिम्मत चाहिए होती है लेकिन एक छोटा कदम जो बहुत ही मुश्किल है पर है बिलकुल छोटा।

इस पूरे सिद्धान्त की शृंखला में आप देखेंगे कि ''विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति'' के आदेश को जीने के लिए प्राथमिक उपाय श्रीमहाप्रभुजी सूचित कर रहे हैं कि इतना तो करें कि अब प्रभु के पास प्रार्थना

करना बंद करें, बाकी जो भी व्यवहार प्रभु के साथ रखना हो वह रखें परन्तु कम से कम मांगा-मांगी बंद करें। मांगना किसलिए बन्द करना, तो कह रहे है कि ''प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्राय संशयात्।'' जब आप उसे अपना स्वामी मान रहे हैं, तब आप उसके सेवक हैं। वह आपकी निष्ठा भी हो सकती है।

समझें कि स्वामी मानने की और स्वयं को सेवक मानने की वास्तविकता अथवा आपका भाव दृढ़ नहीं हुआ, अब नहीं हुआ तो नहीं हुआ, निष्ठा में न बदला तो न बदला लेकिन आपको श्रद्धा है या नहीं कि भगवान आपके स्वामी हैं, आप उसके सेवक हैं? इस श्रद्धा के स्वाभाविक परिणाम के रूप में एक छोटा कदम उठा कर तो देखें कि आप प्रभु से कोई याचना नहीं करेंगे। किसलिए नहीं करेंगे? श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं, इसलिए कि ''स्वाम्यभिप्राय संशयात्'' उसके अभिप्राय के बारे में मन में संशय रखना कि आप जो कुछ मांगेंगे उसके बारे में उसे पता नहीं है तो यह कितनी क्षुद्र बात होगी? वह आपको न जाने क्या देना चाह रहा है जिसका आप अनुमान भी नहीं कर सकते।

यदि स्वामी माना है तो इतना तो विश्वास रख सकते हैं या नहीं? आपने स्वामी माना है तो किस प्रकार से उसे स्वामी माना है? क्या ऐसा कि जो कुछ देना तो चाहता है पर दे नहीं सकता, क्या ऐसा कि उसमें देने की उदारता नहीं है, सामर्थ्य है पर उदारता नहीं है या उदारता है पर सामर्थ्य नहीं है?

मेरे दादाजी ने हॉस्पिटल खोला। एक जौहरी उनका सेवक था। दादाजी उसके पास गए कि हॉस्पिटल के लिए कुछ चन्दा या आरक्षित निधि इकट्ठी करनी थी। उस समय मैं दादाजी के साथ ही था। दादाजी चल नहीं सकते थे इसलिए गाड़ी में उसके घर के नीचे पहुँचे। नीचे से दादाजी ने सूचना भिजवाई

कि दादाजी पधारे हैं। वह दौड़ कर नीचे आया। दादाजी ने कहा कि तुमसे कुछ काम था। उसने कहा कि गुरुजी, आज्ञा करें, आपके लिए गर्दन हाजिर है। आपके मुख पर तो साक्षात् परमात्मा का तेज झलकता है। दादाजी को लगा कि अब ना नहीं कहेगा। उन्होंने कहा कि हमने एक हॉस्पिटल खोला है। उसके लिए रिजर्व निधि एकत्रित कर रहे हैं। उसमें जो कुछ भी आप दे सकते हैं दें! तब दादाजी के सामने उसने कह दिया कि ऐसी बात मत करें, गर्दन हाजिर है लेकिन ऐसी बात नहीं करें।

अत: ध्यान से समझें कि लगभग ऐसा ही कुछ हो जाता है, जो दादाजी के साथ हुआ। ऐसी दुर्घटना हमारे साथ भी हो जाती है। कई लोगों को रोज-रोज के जीवन में कई अनुभव होते हैं। हम समझते हैं कि ओ हो, बहुत सम्मान दे रहा है, पर उसका कुछ सामर्थ्य है या नहीं? सामर्थ्य तो उसका निश्चितरूप से था, दादाजी उसके पास कोई तय राशि मांगने नहीं गए। यही कहा था कि रिजर्व फंड एकत्रित कर रहे हैं। आप जो कुछ दे सकते हों, दें।

इसका अर्थ क्या यह हुआ कि मार दें लेकिन मेहरबानी करके पैसा नहीं मांगें? अत: अधिकतर ऐसी परिस्थिति हो जाती है कि किसी में सामर्थ्य है लेकिन उदारता नहीं, किसी में उदारता होती है परन्तु सामर्थ्य नहीं होता। बेचारे खूब देना चाहते हैं लेकिन सामर्थ्य न हो तो कहाँ से दें। इसलिए क्या हमारा स्वामी उदार परन्तु असमर्थ है अथवा समर्थ परन्तु अनुदार है? क्या हमने स्वामी को ऐसा माना है?

यदि हम प्रभु को ऐसा स्वामी मानते हैं तो स्वामी और सेवक का संबंध स्थापित होने के पहले ही उसे तोड़ दें, छोड़ दें। जिसे आप अपना स्वामी मान रहे हैं वह उदार नहीं और समर्थ है अथवा समर्थ नहीं और उदार है तो व्यर्थ में उसे स्वामी क्यों मानना चाहिए? उसके स्वामित्व को रद्द कर दें, एकबारगी तकलीफ तो खत्म हो जाएगी न।

जब हम उसे स्वामी मान रहे हैं तो कहीं न कहीं अपने हृदय में परमात्मा को, कृष्ण को हमने अपना स्वामी माना है, जिसे अपने यहाँ ठाकुर कहते हैं। ठाकुर अर्थात् स्वामी कि यह मेरा ठाकुर है, यह मेरा स्वामी है। स्वामी किस अर्थ में है कि वह जो कुछ मुझे देना चाहता है उसे देने में समर्थ है और जो कुछ मुझे देना है उसे देने की उसमें उदारता भी है। ऐसा है तब तो स्वामी है, मक्खीचूस हो तो किसी का स्वामी क्यों?

अत: ''सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च'' - उसके ऐसे इस स्वरूप में यदि आप श्रद्धा रखते हैं तो उस श्रद्धा के स्वाभाविक परिणामस्वरूप एक कदम तो भरें कि प्रार्थना बन्द कर दें, उससे मांगें नहीं। यदि आपने याचना नहीं की तो विवेक की दिशा में पहल कदम उठा लिया - ''विवेकस्तु हरि: सर्वं निजेच्छात: करिष्यति'' सब कुछ हरि अपनी इच्छा से करेंगे - अपनी इस श्रद्धा की दिशा में आपने पहला कदम उठा लिया है। अब यदि याचना की तो उठाया हुआ कदम डगमगा जाएगा कि नहीं?

आपने माना कि वह मेरा स्वामी है और फिर आप उससे याचना कर रहे हैं तो आपका पहला कदम उठने के साथ ही लड़खड़ा गया। बर्ट्रेंड रसेल ने इस सम्बन्ध में बहुत ही सुन्दर बात कही है। यद्यपि यह बात नास्तिकता के संदर्भ में कही गई है, ईश्वरवादियों का मजाक उड़ाने के लिए कही गई है पर जिसे हम विवेक कह रहे हैं, उसके संदर्भ में समझने की दृष्टि से यह बात बहुत ही कटाक्षयुक्त है। रसेल कहता है कि जो व्यक्ति परमात्मा को प्रार्थना करता है वह एक साथ दो बातें स्वीकार कर रहा है। एक तो यह कि परमात्मा सर्वज्ञ नहीं है, मूर्ख है जो नहीं समझता कि आपकी समस्या क्या है। इसलिए जब आप कोई बात उस तक पहुँचाते हैं अथवा सूचित करते हैं तब उसे समझ में आता है। आपने प्रार्थना करने के साथ ही परमात्मा पर मूर्ख होने का आरोप लगा दिया कि वैसे तो आप ठीक हैं, जगत् का संचालन कर रहे हैं पर जगत् के संचालन के

संदर्भ में मेरी व्यक्तिगत समस्या को नहीं समझ रहे हैं।

दूसरा आरोप यह है कि हम कहते हैं कि जगत् आपने बनाया, जगत् का संचालन भलीभाँति कर रहे हैं, परन्तु उसमें कुछ क्षति भी है जिसकी आप चाहें तो मेरी प्रार्थना सुन कर पूर्ति कर सकते हैं। सामान्यत: आपने जगत् के संचालन के लिए जो व्यवस्था अपनाई हुई है वह उपयुक्त है परन्तु जो खामी है उसे हमारी प्रार्थना से सुधारा जा सकता है। यदि उसकी रचना में कोई खामी है, कुछ गड़बड़ है तो उसे हमारे प्रार्थना करने से सुधारा जा सकता है। रसेल कहता है कि उसे परमात्मा किसलिए मान रहे हो यार, आप प्रार्थना करके उसकी परमात्मता को खंडित कर रहे हैं।

रसेल ने ईश्वरवादियों का मजाक उड़ाने के लिए यह बात कही है परन्तु गौर करने लायक बात यह है कि इस स्थिति में हमारे लिए यह दलील उतनी ही काम की है जितनी ईश्वर के अस्तित्व के विरुद्ध आक्षेप करने के सम्बन्ध में यह दलील दी गई है। बात सच है कि जो ईश्वर सर्वज्ञ है, सर्वाधार है, सर्वात्मा है, सर्वेश्वर है - ''सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा।'' कल भी हमने देखा था कि ''निजेच्छात: करिष्यति'' - वह सर्वेश्वर है, वह सर्वात्मा है, वह अपनी इच्छा से करेगा तो ऐसी स्थिति में प्रार्थना करके उस पर यह आरोप लगा रहे हैं कि भाई, आपने जो व्यवस्था मेरे लिए बनाई वह कुछ समझे-विचारे बिना ही है!

जैसे संसद में प्रस्ताव पारित किया जाता है, एक समिति बैठ कर उसमें कमी बताती है कि इसमें अमुक नियम आड़े आ गया, सर्वोच्च न्यायालय उसमें कुछ सूक्ष्म आपत्तिजनक हो तो बताता है कि इसमें अमुक बिन्दु संविधान के विरुद्ध नियम है। इसके पश्चात् उसमें संशोधन होता है, विरोध होता है, आंदोलन हो जाता है। इसी प्रकार क्या परमात्मा जगत् का शासन कर रहा है कि उसको प्रार्थना न करना, शासन करता है तो प्रार्थना क्यों करना? इसलिए यह छोटा-सा कदम उठा कर देखें कि प्रार्थना नहीं करना चाहिए।

तकलीफ है तो थोड़ा दु:ख होगा कि भाई, तकलीफ हो रही है, क्या करें! ''चित्तोद्वेगं विधायापि हरिर् यद्-यत् करिष्यति, तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत्'' - लेकिन एक पहला कदम तो उठाएँ कि हम प्रार्थना नहीं करेंगे। यह कदम आपने अपनी श्रद्धा के अनुरूप भर लिया तो श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि अब विवेक की दिशा में आपने कम से कम एक कदम आगे बढ़ाया है।

दूसरी बात, स्वामी-सेवक के संबंध की नजाकत को समझना है। जब से यह पुष्टिविधानम् ग्रन्थ शुरू किया तब से मैं यह बात समझा रहा हूँ कि जैसे कृष्ण हैं वैसे हम भी कृष्ण हैं, जैसे वह पुरुषोत्तम है वैसे हम भी पुरुषोत्तम हैं, वह जैसे ब्रह्म है वैसे हम भी ब्रह्म हैं। लेकिन इसके अतिरिक्त वह सर्वेश्वर है, हम उसके ईशितव्य हैं, वह भगवान है हम उसके भक्त हैं।

मैंने श्रीयमुनाजी के उदाहरण से भी यह बात समझाई थी कि श्रीयमुनाजी को आरोगाने के लिए जो जल की लोटी भरी जाती है वह भी श्रीयमुनाजी है और श्रीयमुनाजी में से भरी हुई लोटी जो श्रीयमुनाजी को भोग धराई जाती है वह भी श्रीयमुनाजी है तथा वह लोटी धराने के लिए घाट को धोने हेतु जो जल उपयोग में आ रहा है वह भी श्रीयमुनाजी है।

जैसे ब्रह्मरूप होने के बावजूद, ब्रह्मांश होते हुए भी, ब्रह्मात्मक होते हुए भी हमें भक्त होना है उसी प्रकार वह हमारा आत्मा होने के बावजूद सर्वात्मा होने पर भी सर्वेश्वर है। यह एकदम प्रत्येक के साथ निजी करार है। ध्यान से समझें कि हम भी ब्रह्म हैं, वह भी ब्रह्म है फिर भी वह भगवान है और हम भक्त हैं। वह हमारा आत्मा है, अन्य कुछ नहीं।

तात्पर्य यह है कि वह हमारी गुह्यतम वास्तविकता है, स्वत: सिद्ध प्रकार की हमारे अन्तरतम की वास्तविकता है, इतना ही नहीं बल्कि हमारा ईश्वर भी है। इस प्रकार का विरुद्धधर्माश्रयवाला संबंध हमें उसके साथ

निभाना है। इस बात को जब हम ध्यान से समझेंगे तब यह दूसरी बात हमारे सामने आएगी कि दोनों पक्ष विरुद्धधर्माश्रयी हैं। जीव भी विरुद्धधर्माश्रयवाला है। ब्रह्मात्मक होते हुए भी वह ब्रह्म का दास है, कृष्ण भी ब्रह्मात्मक होने के बावजूद स्वामी है, भगवान है, सर्वात्मा होते हुए भी सर्वेश्वर है। इस प्रकार अब दोनों पक्ष विरुद्धधर्माश्रयवाले हैं तो दोनों पक्षों के सम्बन्धों को निभाने में भी थोड़ी बहुत विरुद्ध धर्माश्रयता प्रकट होगी।

यह जो विरुद्धधर्माश्रयता प्रकट होगी उसके सन्दर्भ में श्रीमहाप्रभुजी अब दूसरा कदम उठाने के लिए कह रहे हैं कि ''अभिमानश्च सन्त्याज्य: स्वाम्यधीनत्व भावनात्'' – हम प्रार्थना नहीं करते लेकिन मन में इस बात का अभिमान नहीं रखना है कि हम प्रार्थना नहीं करते। ध्यान रहे कि प्रार्थना नहीं करने की रुचि रखने और प्रार्थना नहीं करने का अभिमान रखने में बहुत अन्तर है।

जैसे याचना न करनेवाले कई लोग अहंकारी हो सकते हैं। जरूरी नहीं कि वे वैरागी हों। याचना न करनेवाले कई लोग वैरागी भी हो सकते हैं, विरक्त भी हो सकते हैं। हमारा किसी के साथ याचना न करने का जो संबंध है कि हम याचना नहीं करेंगे तो यहाँ दोनों तरफ रास्ते खुले हो सकते हैं कि कदाचित् आप अहंकारी होने के कारण नहीं मांग रहे अथवा कदाचित् विरक्त होने के कारण नहीं मांग रहे कि अब हम दुनिया में किसी से कुछ नहीं मांगते। अब यहाँ हम थोड़ा बहुत अहंकार रख रहे हैं परन्तु रख रहे हैं तो रख रहे हैं।

मुझे अपने बचपन की एक घटना याद है। दादाजी रोज शाम को घूमने के लिए पधारते थे। मैंने दादाजी को कहा कि मुझे भी साथ ले चलें। दादाजी ने कहा कि नहीं ले जाता। इस समय मैं काम से जा रहा हूँ। मेरे अभिमान को इतनी ठेस पहुँची कि दो वर्ष तक मैंने गुस्से के कारण दादाजी को यह नहीं कहा कि मुझे कहीं बाहर ले जाएँ। दो वर्ष तक बड़े मन्दिर के बाहर निकला

ही नहीं। क्योंकि मेरे हिसाब से बाहर जाने की मनाही थी। दादाजी ले जाएँ तो बाहर जाऊँ। मैं छोटा था तो उस दिन शाम को मुझे बहुत उत्साह था कि दादाजी के साथ मुझे जाना है। दादाजी ने एकदम मेरा दिल तोड़ दिया कि अभी नहीं। मैंने कहा कि अब दादाजी को कभी नहीं कहूँगा। जिद के कारण मैंने दो वर्ष तक दादाजी को नहीं कहा। दो वर्ष तक मैं मोटा मन्दिर के दरवाजे से बाहर नहीं निकला। जब दादाभाई पधारे तब हम दोनों ने साथ जाना शुरू किया। बाकी दो बरस तक मैं अपनी जिद पर अटल रहा कि अब नहीं जाऊँगा।

ऐसा नहीं था कि मन में ललक नहीं थी, मेरे मन में खूब इच्छा थी कि जाऊँगा परन्तु इच्छा खण्डित हो गई इसलिए गुस्सा आ गया। वस्तुत: गुस्सा होने जैसी बात नहीं थी, यह समझ में आना चाहिए था कि दादाजी को काम था इसलिए नहीं ले गए तो नहीं ले गए और ले गए तो ले गए। मन में ऐसी कोई विरक्ति नहीं थी कि मुझे बाहर नहीं जाना परन्तु मन में गुस्सा था। दो वर्ष तक मन में गुस्सा रखा, अन्दर रहा हुआ अहंकार बोल रहा था कि दादाजी ने मुझे मना कैसे किया?

अत: इस प्रकार का अहंकार भी हो सकता है। हम जब किसी से कुछ मांग नहीं रहे तो वह हमारा वैराग्य भी हो सकता है। दुनिया के संदर्भ में इस प्रकार का अहंकार हमने निभाया अथवा नहीं निभाया– वह अपनी इच्छा की बात है। प्रत्येक व्यक्ति अपने ढंग से प्रामाणिक अथवा अप्रामाणिक होगा परन्तु प्रभु के साथ संबंध में हमारी अप्रार्थना अभिमानमूलक नहीं होनी चाहिए। हमारी अप्रार्थना किस भाव के अनुसार होनी चाहिए – ''स्वाम्यधीनत्व भावनात्'' – कि मैं स्वामी के अधीन हूँ, उस भावना से अप्रार्थना अपेक्षित है।

यदि हमने किसी प्रकार का अभिमान रखा कि जब प्रार्थना ही नहीं करनी तो हटाओ, हमे प्रभु की क्या आवश्यकता है। क्योंकि जब किसी के

सामने याचना नहीं करनी तो यह बात साफ हो गई कि फिर हमें उसकी आवश्यकता नहीं रह जाती। जिसके सामने हमें झुकना होता है, मांगना होता है उसकी हमें गरज होती है – ''**त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।**''

कई बार क्षुद्र धनिक लोगों को भी प.भ. कहना पड़ता है, हमें गिड़गिड़ाना पड़ता है। दिल से तो हम भी जानते हैं कि प.भ. (परमभगवदीय) नहीं है बल्कि प.भ. (परम भंड) हैं परन्तु यह एक अलग कथा है। जिसके समक्ष गिड़गिड़ाना न हो उससे सौम्य व्यवहार करना, जिससे हमें कोई भी गरज नहीं उसके सामने अहंकारविहीन सौम्य व्यवहार करना, यह मनुष्य की मनुष्यता की सबसे बड़ी विशेषता है। जिसकी हमें परवाह नहीं, उसके सामने हम ऐसा व्यवहार करते हैं कि हुंह, तुम्हारी कौन परवाह करता है? यह बहुत आसान बात है।

कारण स्पष्ट है कि हमें उसकी परवाह नहीं है, वह क्या कर लेगा? बात यह है कि जिसकी हमें कोई परवाह नहीं उसके सामने हम बहुत दीनतापूर्वक पेश आते हैं तो यह एकदम विरुद्धधर्माश्रयवाली बात है कि हमें किसी की परवाह नहीं है फिर भी हम उसके साथ दीनता से व्यवहार कर रहे हैं।

इसी प्रकार प्रभु के समक्ष हमारी अप्रार्थना की वृत्ति को मूलरूप से समझने की आवश्यकता है। प्रभु के सम्बन्ध में, प्रभु की हमें कोई दरकार नहीं– यह बात हमें अभिमानी न बना दे, इसके लिए श्रीमहाप्रभुजी हमें दूसरा सोपान बता रहे हैं कि जब आप प्रभु से प्रार्थना नहीं करते तो यह भाव न रखें कि आपको प्रभु की कोई आवश्यकता नहीं है बल्कि अप्रार्थना का भाव इसलिए रखें कि आप प्रभु के अधीन हैं। अत: प्रभु के अधीन हैं तो प्रार्थना करने की क्या आवश्यकता है। प्रभु को जो देना होगा वह देंगे, जो नहीं देना होगा वह नहीं देंगे– इस भावना से अप्रार्थना करें।

अप्रार्थना के बाद जो अगला सोपान आ रहा है वह बहुत महत्त्वपूर्ण है– निरभिमान। 'निरभिमान' पारिभाषिक शब्द है। ध्यान से समझें कि प्रत्येक संदर्भ में यह प्रयुक्त नहीं होता। ''स्वाम्यधीनत्व'' की भावना का निरभिमान। जैसे कई लोग कहते हैं कि पुष्टिमार्गीय हैं तो अभिमान करना ही नहीं चाहिए।

जैसे आजकल यह बात बहुत प्रचलित हो गई है कि कई लोग सिद्धान्त के अनुसार जी रहे हैं अथवा नहीं जी रहे हैं– यह आप देखनेवाले कौन? आपको बहुत अहंकार हो गया है जो आप दूसरों के बारे में यह ध्यान रख रहे हैं कि वे सिद्धान्त के अनुसार जी रहे हैं या नहीं? अहंकारी हैं आप! कहनेवाले को अहंकार है या नहीं? हो भी सकता है। यदि कहनेवाले को अहंकार है तो उसकी दुर्गति होनी है। कहनेवाले को अहंकार नहीं है तो श्रीमहाप्रभुजी उसे अवश्य ही संभाल लेंगे। यहाँ सवाल व्यक्तिगत हो गया है। यह सम्प्रदाय का प्रश्न नहीं रहा है। यह एक दूसरा ही प्रश्न हो गया है कि कहनेवाले को अहंकार है अथवा नहीं।

जैसे हमने सिद्धान्त से सम्बन्धित कोई भी प्रश्न उठाया तो हर बार एक समस्या हो जाती है। सती स्त्री प्रत्येक वैश्या को घमंडी लगती है कि बहुत अभिमानी है। वैश्या को तो सती घमंडी ही लगेगी क्योंकि जैसे मैं वैश्या हूँ वैसे तुम क्यों नहीं? वैश्या को सती वैसे ही घमंडी लगती है जैसे चोर को साहूकार घमंडी लगता है। यह बहुत स्वाभाविक बात है। यह घमंड कब हो सकता है कि जब सामनेवाला व्यक्ति जैसे चोर है, वैसे साहूकार घमंडी भी हो सकता है। साहूकार के लिए साहूकारी बहुत अच्छी बात है परन्तु साहूकार होने का घमंड रखना खराब बात है। वैश्या के विरोध में सती होना बहुत अच्छी बात है परन्तु सती होने का घमंड रखना खराब बात है।

इसी प्रकार अपसिद्धान्त की तुलना में सिद्धान्त स्वीकार करना, सिद्धान्त कहना अच्छी बात है लेकिन यदि सिद्धान्त कहने में अथवा प्रस्तुत

करने में हमें अभिमान होता है तो निश्चितरूप से, एक बार नहीं, सत्रह सौ साठ बार, खराब, खराब और केवल खराब बात है। यह स्पष्टरूप से समझ लें, इसमें शंका को कोई स्थान नहीं है। यहाँ सम्प्रदाय के संदर्भ में हमें यह बात स्पष्ट समझनी पड़ेगी कि ऐसा यदि कोई दोष है तो वह व्यक्ति का दोष है, सम्प्रदाय का दोष नहीं।

जैसे किसी सती स्त्री को अपने सती होने का घमण्ड हो तो वह सती का व्यक्तिगत दोष है, सतीत्व में कोई दोष नहीं है। जब हम इस दृष्टि से उसका अर्थ घटित करेंगे तो यह प्रतिध्वनित होता है कि जितनी सती हैं वे सभी घमंडी हैं। वैश्या को देखें तो वह कितनी दीन लगती है कि जो भी पुरुष आए उसके साथ घूमने को तैयार हो जाती है। यह क्या दीनता है? इस बात की क्या गारंटी है कि यह दीनता नहीं बल्कि अपनी आजीविका के लिए क्षुद्रवृत्ति को पसन्द करने की एक रुचि है, एक खराब अथवा असभ्य रुचि है। आपकी खराब रुचि आपको दीन बना रही है। आप दीनता के कारण यह काम नहीं कर रहे कि दीनता के कारण किसी पुरुष को ना नहीं कह सकते। यह दीनता है या आपकी असभ्य रुचि है?

जैसे इस बात में भूल अथवा खामी हो सकती है वैसे ही सिद्धान्त के सम्बन्ध में भी भूल हो सकती है। यह बात हमें ध्यान से समझनी पड़ेगी। सिद्धान्त कहने में अभिमान की भावना आती है तो निश्चितरूप से यह एक दोष है, दोष ही है, दोष के सिवा कुछ भी नहीं है परन्तु अपसिद्धान्त को छुपाने में कदाचित् दीनता नहीं है। अन्य कोई परेशानी भी हो सकती है – जैसे हमने वैश्या और सती के संदर्भ में देखा। यह बात हमें स्पष्टरूप से समझनी पड़ेगी कि साम्प्रदायिकता की बात में सिद्धान्त को छुपाना एक साम्प्रदायिक दोष है और सिद्धान्त कहना साम्प्रदायिक दोष नहीं बल्कि गुण है।

अब यदि कुछ अभिमान है तो निश्चय ही वह दोष है। हम कभी यह

बात नहीं कह सकेंगे कि कोई अभिमान से सिद्धान्त कह रहा है तो वह उसका गुण है। शत-प्रतिशत गुण नहीं है, और तो कुछ कह नहीं सकते। यदि अहंकार से कह रहा है तो एक सौ दस प्रतिशत दोष ही है। हमें यह बात स्पष्टरूप से समझनी पड़ेगी कि प्रभु के पास प्रार्थना नहीं करना बहुत ही उत्तम बात है परन्तु वह अभिमानपूर्वक नहीं होनी चाहिए।

निरभिमान अर्थात् ''स्वाम्यधीनत्व'' की भावनावाली अप्रार्थना अपेक्षित है। तब तो यथार्थतः विवेक निभेगा, उसमें किसी प्रकार का अहंकार आ गया कि अब प्रभु के पास कभी याचना नहीं करना। जैसे मेरे बचपन की बात बताई थी कि अब दादाजी ने मना कर दिया तो जाना ही नहीं। इसलिए दादाजी को कभी कहना ही नहीं कि गाड़ी में ले जाएँ। वस्तुतः वह अच्छी बात नहीं थी। किसी भी व्यक्ति को अपने पिता से क्यों झगड़ा करना चाहिए। वह बात मेरी मूर्खता के कारण मेरे हृदय में उतर गई। वह मेरी मूर्खता थी कि ना क्यों कहा, मेरा अहंकार खंडित होने लगा।

यहाँ ध्यान से समझें कि ऐसी घटना से हमारा अहंकार घायल नहीं होना चाहिए। पिता हैं, ले जाएं तो ठीक है, अच्छी बात है, न ले जाएँ तो भी अच्छी बात है। पिता ही तो हैं। पिता माना या नहीं? पिता माना तो अहंकार को चोट क्यों लगनी चाहिए। इसी प्रकार अप्रार्थना की वृत्ति होना बहुत अच्छी बात है परन्तु अहंकार से प्रार्थना न करना बहुत खराब बात है।

समझना यह भी है कि जबतक हमें पूरी परिस्थिति की जानकारी न हो तबतक पिता के साथ अभिमान का व्यवहार क्यों करना चाहिए जबकि पिता हमारे साथ द्वेषभाव से व्यवहार नहीं कर रहे। यदि पिता हमसे द्वेष का व्यवहार कर रहे हैं तब तो बात ही खत्म हो गई परन्तु पिता ने हमारे हित विचार से, छः बार नहीं बल्कि पच्चीस बार बिना द्वेषभाव के मना किया है तो जबतक सारी परिस्थिति का आकलन हम न कर लें तबतक उस सम्बन्ध में हमें अपना

अभिमान बीच में क्यों लाना चाहिए? बचपन में यह बात समझ में आनी बहुत कठिन थी क्योंकि पिता प्रौढ़ और बालक नादान इसलिए मेरे अहंकार को तब चोट पहुँची।

इस पूरी बात को समझने के पहले जो स्वाभाविक बात है वह यह है कि कितनी बार मना किया वह आवश्यक नहीं बल्कि किसलिए मना किया। या तो अपने सम्बन्धों में इतनी घनिष्ठता होनी चाहिए कि हमें पैर पकड़ कर, हाथ जोड़ कर, चरण चांप कर, मूछें मरोड़ कर – जैसे नाग ने नाग को जगा दिया हो वैसे – पूछ लेना चाहिए कि किसलिए मना कर रहे हैं? फिर निर्णय हो जाएगा। हम जिद करेंगे तो वे भी जिद करेंगे लेकिन हम चरणचांपना, मूछमरोड़ना आदि सब करेंगे तो निर्णय करेंगे ही। क्यों नहीं करेंगे, कारण क्या है, कुछ तो बताएंगे। अत: निर्णय हो सकता है। इसमें कोई बहुत बड़ी सैद्धान्तिक कठिनाई नहीं है।

पिता को हाथ-पैर जोड़ने में हम घिस नहीं जाते, दो बार सिर झुकाने से हम घिस नहीं जाते। पुत्र होने के नाते ऐसी वृत्ति होनी ही चाहिए। हम मानते हैं कि आप मेरे पिता हैं, मैं आपका पुत्र हूँ तो पूछने में किसलिए यह मानना चाहिए कि मेरा नाक कट जाएगा। अधिक से अधिक क्या अनिष्ट होगा कि जा, नहीं बताता। पीछे पड़े रहेंगे तो क्यों नहीं बताएंगे, अवश्य बताएंगे।

हमारे दादाजी के साथ बड़े मन्दिर में एक मोटा भाई आते थे। एक बार दादाजी ने उन पर गुस्सा हो कर उन्हें गेटआउट कह दिया। मोटा भाई ने दादाजी को मुँह पर ही कह दिया कि नहीं जाता, क्या आप धक्के मार कर निकालेंगे? क्या समझते हैं, बाहर जाने के लिए क्यों कह रहे हैं? वास्तव में वे बेचारे वैष्णव थे। वे सबको अपने छोटे भाई के समान समझते थे इसलिए सब लोग उनको बड़ा भाई कहते थे। दादाजी को गुस्सा आ गया तो कह दिया कि बाहर जाओ।

उस समय वैष्णव ने बालक के साथ अपने सम्बन्धों के बारे में इतनी हिम्मत दिखा दी तो हमें तो अपने पिता के साथ दिखानी है। जबतक कोई दूसरा तत्त्व काम नहीं कर रहा हो तबतक किसलिए नहीं दिखानी? सैद्धान्तिक रूप से कोई समस्या नहीं है और होनी भी नहीं चाहिए।

हमारे दादाजी के बारे में एक बहुत मजेदार बात बताता हूँ। दादाजी के पास हरिश्चन्द्र शास्त्रीजी पढ़ने के लिए आते थे। एक बार गुस्सा हो कर दादाजी ने कह दिया कि जाओ, संडास में गिर जाओ। उन्होंने कहा अरे रे जै जै, आपको बहुत परिश्रम होगा, मुझे निकालने के लिए आपको भी वहाँ आना पड़ेगा। दादाजी खुश हो गए। बोले, तेरा क्या करूँ, तू मेरे सिर आ पड़ा तो मुझे भी वहाँ आना ही पड़ेगा। चल, अगला पाठ शुरू कर।

जहाँ मनुष्य का सच्चा सम्बन्ध है वहाँ इतनी सच्ची बात मुँह पर कही जा सकती है। गुरु को कह सकते हैं, गुरु को मुँह पर भी कह सकते हैं। जब हमने स्नेह का सम्बन्ध माना है तो फिर खराब क्या बल्कि खूब चुन-चुन कर गाली दें तो भी खुश होना ही पड़ता है। दादाजी के पास दूसरा कोई रास्ता ही नहीं था।

अत: यह बात समझें कि हम जब किसी को अपना मान रहे हैं तो गुस्सा होने की बात ही क्या है – खराब लगने की बात ही क्या है – अपना नहीं मानते तो कई बातों की सम्भावना है। फिर तो आप भी तीर तान लें और हम भी तीर तान लें कि **''सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है, देखना है जोर कितना बाजू-ए-कातिल में है।''** वापस एक दूसरा प्रकरण शुरू हो जाता है। बाकी इसमें डरने की कोई बात नहीं है, यह बात समझ लें।

'स्वाम्यधीनत्व' की भावना किस प्रकार करनी कि ''विशेषतश्चेद् आज्ञा स्याद् अन्त:करणगोचर: तदा विशेषगत्यादि भाव्यं भिन्नंतु दैहिकात्''

अपने यहाँ वार्ता में इस स्थिति का बहुत सुन्दर वर्णन है। श्रीजी ने एक वैष्णव को आज्ञा की कि तू मेरे दर्शन कर तो उसने मना कर दिया कि दर्शन नहीं करूँगा। भावप्रकाश देखेंगे तो इस बात का बहुत साफ शब्दों में स्पष्टीकरण है कि दर्शन करने से मुझे सुख होगा, आपको क्या सुख होगा? आपको सुख होता हो तो श्रीमहाप्रभुजी की आज्ञा तोड़ने के लिए तैयार हूँ। क्योंकि आपको सुख देने के लिए ही श्रीमहाप्रभुजी ने मुझे सेवा में नियुक्त किया है। अत: आपको सुख होता हो तो श्रीमहाप्रभुजी की आज्ञा भी तोड़ने के लिए तैयार हूँ। मेरे सुख के लिए मेरे गुरु की आज्ञा क्यों तोडूँ। मुझे सेवा में किसने नियुक्त किया – श्रीमहाप्रभुजी ने।

श्री घनश्यामलालजी, श्रीगुसांईजी के सातवें लालजी थे। गर्मी के दिनों में श्रीठाकुरजी को रातभर पंखा करते थे। एक बार उनके ठाकुरजी श्रीमदनमोहनजी को चोर उठाने आए। खटके की आवाज भी हुई परन्तु उन्होंने आँखें नहीं खोलीं। पंखा ही करते रहे, ठाकुरजी को चोर ले कर चले गए तो चले गए। सवेरे जा कर देखा कि श्रीठाकुरजी को चोर ले गए हैं। तब उन्होंने अन्न-जल का त्याग करके प्राण त्याग दिए कि श्रीठाकुरजी नहीं तो जीने का क्या फायदा? परन्तु उस समय श्रीघनश्यामलालजी ने आँखें नहीं खोलीं। वह स्थान अब भी गोकुल में बताते हैं। वर्तमान में है या नहीं, पता नहीं। जहाँ वे बिराजे थे वह स्थान जब मैंने दादाभाई के साथ यात्रा की थी तब था। अन्न-जल का त्याग करके देह का त्याग कर दिया था। श्रद्धा, विश्वास, निष्ठा थी, रात्रि के समय प्रभु को पंखा झलने की और निष्ठा ऐसी कि आँख नहीं खोली, पंखा करते रहे। बेचैनी हुई, हुई तो हुई, अभी क्या पता चलेगा, जो होगा वह सवेरे देखा जाएगा। सवेरे देखा कि सच में ही श्रीठाकुरजी चोरी हो गए थे। इस प्रकार अन्न-जल का त्याग करके प्राण छोड़ दिए परन्तु आँख नहीं खोली। ऐसे गौरवशाली बालक थे। हमारे पुष्टिमार्ग का इतिहास बहुत ही गौरवशाली है परन्तु हमार वर्तमान बहुत दु:खद है, बहुत शर्मनाक है। सभी घरों के बालकों का, वैष्णवों का इतिहास देखें तो कितना गौरवशाली इतिहास है! उसमें किसी

प्रकार की कोई कमी नहीं थी। ऐसे योग्य बालक थे। अब सब स्थानों पर बहुत दरिद्रता आ गई है।

हम ऐसा मानते हैं कि हमारा मन कह रहा है कि अब व्यवस्था बदल गई है इसलिए अमुक प्रकार से नहीं बल्कि तमुक प्रकार से करें। इंदिरा गाँधी को उस समय मत देने में आत्मा की आवाज थी, वह आत्मा की आवाज ऐसी चली कि खूब उथल-पुथल हो गई। सबकी आत्मा की आवाज में हठ आ गई, परन्तु उस आत्मा की आवाज में विश्वास कब रखना? आत्मा की आवाज बहुत सच्ची आवाज होती है परन्तु आत्मा की आवाज में कभी-कभी घोटाले भी हो सकते हैं।

श्रीमहाप्रभुजी हमें थर्मामीटर बता रहे हैं कि आत्मा की आवाज को तब सच मानना जब हमें कोई व्यक्तिगत लाभ न होता हो। प्रभु के ही सुखविचार से हम किसी प्रकार की छूट लेने की बात कर रहे हैं या अन्त:करण में कोई विशेषा आज्ञा होती हो तो विशेष आज्ञा में स्वामी के अधीन होने की भावना मान कर छूट लेनी हो तो ले सकते हैं। ''सेवाकृतिर् गुरोर् आज्ञा बाधनं वा हरीच्छया'' – अन्त:करणगोचर से यदि हरि की कोई इच्छा ज्ञात होती हो कि इस प्रकार नहीं, उस प्रकार है और उसमें हमारा कोई व्यक्तिगत लाभ न हो तो आज्ञा तोड़ सकते हैं। क्योंकि अन्तत: सेवा भगवत्सुखार्थ है, आत्मसुखार्थ नहीं परन्तु वह उसका नम्र मनोभाव है – ''भाव्यं भिन्नन्तु दैहिकात्।''

वस्तुत:, पंखे की वार्ता के विरोधाभास में हम उस वेश्या की वार्ता समझें जिसने श्रीगुसांईजी से ब्रह्मसंबंध लिया था और जिसके यहाँ कोई भी श्रीठाकुरजी की सेवा करने नहीं आता था। रजस्वला होकर भी स्वयं ही सेवा करती थी। इसी प्रकार दूसरी वार्ता एक बहू की है, वहाँ भी उसने स्वयं प्रभु की सेवा की थी। यह सेवा उसने अपने लिए नहीं बल्कि प्रभु के सुख के विचार से की। उसमें उसका अपना कोई निजी लाभ न था – ''भाव्यं भिन्नन्तु दैहिकात्।''

''आपद्-गत्यादि कार्येषु हठस् त्याजश् च सर्वथा'' - यह ध्यानपूर्वक समझें कि कोई भी आज्ञा इतनी कठोर नहीं हो सकती कि उस आज्ञा के कारण हमें खींचा-तानी करनी पड़े और इतनी अधिक खींचा-तानी करनी पड़े कि उस आज्ञा का हम हठपूर्वक पालन करें। किसी भी आज्ञा का समझदारीपूर्वक, श्रद्धा के साथ, विश्वास के साथ, निष्ठापूर्वक पालन करना एक अलग बात है और समझे-विचारे बिना हठपूर्वक पालन करना एक अलग वस्तु है।

'हठ' का मतलब है कि हम यह नहीं समझ रहे हैं कि यह आज्ञा किसलिए हुई? हम यह बात समझने को तैयार नहीं हैं कि इसमें भगवत्सुख का विचार है अथवा आत्मसुख के विचार से यह सारा चक्कर चल रहा है। सोचे-विचारे बिना हमने हठ पकड़ ली है। अत: हठ से जब हम कोई भी धर्म निभा रहे हैं तो कहीं-न-कहीं वह धर्म, धर्म न रह कर अधर्म का रूप ले लेता है।

जैसे नागरदासशास्त्री एक सुन्दर बात कहते थे कि अनाचार से आचार श्रेष्ठ है परन्तु अत्याचार तो प्रत्येक परिस्थिति में खराब ही है। क्योंकि हमने बिना सोचे-समझे कभी आचार की हठ पकड़ ली तो वह आचार भी नहीं रहा और अनाचार भी नहीं रहा, वह अत्याचार हो गया। अत: अत्याचार हमें कभी भी अच्छी स्थिति में नहीं पहुँचाएगा। कहीं न कहीं या तो स्वयं पर अत्याचार है या अन्य पर अत्याचार है। यदि आचार को समझ-विचार कर, सारी बात का पूर्वापर संबंध विचार कर पालन कर रहे हैं तो अत्याचार नहीं है। हमें पूर्वापर संदर्भ समझ में नहीं आ रहा और एक हठ पकड़ ली कि नहीं ऐसे ही होगा तो यह अत्याचार है।

क्यों ऐसा ही होगा? तो दलील देते हैं कि काकाजी यही करते आए, बापूजी यही करते आए, बा करते आए हैं। इन सब कारणों से हमारा आचार अत्याचार में परिणमित हुआ और वह अत्याचार कभी भी धर्म नहीं हो सकता। जैसे एक साधारण उदाहरण मैंने आपको बताया कि किसी ने जल गिराया हो

और उस पर हमारा पैर गिर जाए तो हम अस्पृश्य हो जाते हैं परन्तु वर्षा के जल से स्वयं को अस्पृश्य मानना शुरू कर दें तो फिर उपाय क्या है? यह अत्याचार हो गया क्योंकि वर्षा तो आकाश से बरसता हुआ जल है। वह अस्पृश्य हो गया तो अपरस में कौनसी वस्तु रहेगी और जब-जब ऐसी स्थिति प्रकट होगी तो शास्त्र का क्या महत्त्व रह जाएगा। इसीलिए हमारे यहाँ नन्दमहोत्सव में अपरस बड़ हो जाता है। अपरस बड़ा होने का तात्पर्य है कि आचार को अत्याचार न बनाना। आचार बहुत श्रेष्ठ वस्तु है।

एक बार मैं नाथद्वारा गया था। मैंने देखा कि राजभोग के बाद जब मनोरथ होते हैं तो श्रीनाथजी बड़े अपरस में आ जाते हैं। पहले मुझे यह बात पता नहीं थी। ऐसी व्यवस्था वहाँ वस्तुत: नन्दमहोत्सव के दिन भी उपलब्ध होती है। मैं दाऊजी बाबा के विवाह में गया तब मैंने पहली बार यह बात देखी थी। मुझे खूब पसन्द आई। यह बहुत समझदारी की बात है कि जबतक श्रीठाकुरजी राजभोग नहीं आरोग लेते तबतक अपरस है, उसके बाद में नहीं।

राजभोग आरोगने के बाद कुछ मनोरथ रहा होगा। मैं तो राजभोग धरा कर ऊपर जा कर सो गया। बाद में मुझे बुलाया कि वापस चलें, मनोरथ है। मैंने विचार किया कि अब क्या करना, वापस नहाना? उसने कहा कि नहीं, अन्दर चलें। मैंने कहा कि नहीं, मैं तो बिछौने पर सोया था। उसने कहा कि कोई चिन्ता की बात नहीं है। अब बड़ा अपरस है। इसलिए बड़े अपरस में बिछौने का स्पर्श किया हो तो भी श्रीजी का स्पर्श कर सकते हैं, श्रीजी को खिला सकते हैं, सब कर सकते हैं। श्रीजी बाबा जबतक राजभोग नहीं आरोगते तबतक एकदम अपरस में विराजते हैं, उसके बाद बड़ा अपरस!

अत: कब वह आचार है, कब अनाचार है, इसकी व्यवस्था है। हमारे यहाँ भी किशनगढ़ में श्रीद्वारकाधीश पधारे तब हमारे ही मंदिर में बिराजे थे।

हमारे मंदिर में बिराजने के बाद किशनगढ़ दरबार के किले में पालकी में पधारे। वहीं श्रीद्वारकाधीश प्रभु की फूलमंडली थी, वह शयनआरती के बाद होनी थी। हम सबको एक विशेष चिन्ता थी कि अब सबके नहाने की व्यवस्था करनी पड़ेगी और सारी व्यवस्था की भी थी। क्या मालूम किसका क्या आचार हो, क्या विचार हो? वहाँ श्रीद्वारकाधीश पालकी से बाहर पधारे, फूलमंडली में विराजे, आरती हुई और वापस पालकी में पधार कर हमारे घर पधारे। तब दरबार ने मुझे पूछा कि यह क्या हो गया? मैंने कहा मुझे मालूम नहीं, क्योंकि सच में मुझे पता नहीं था कि ऐसी व्यवस्था अपने यहाँ है। बाद में काकाजी को पूछा तो उन्होंने बताया कि अपने यहाँ ऐसा ही है कि जब नित्य का सेवाक्रम पहुँच लिया जाता है और फिर श्रीठाकुरजी मनोरथ की सेवा में बाहर पधारते हैं तो अपरस नहीं होता।

माधवपुर की बात आप लोगों को पता ही होगी। जूनागढ़ के केशोद के आस-पास कहीं माधवपुर है। जब विवाह के समय माधवरायजी पधारे तो उस दिन माधवरायजी के चरणस्पर्श हरिजन भी कर सके! कोई छूत-अछूत नहीं, जैसे श्रीजगदीश में है। जब माधवरायजी मूल मन्दिर में से वहाँ पधारे तो कोई भी माधवरायजी के चरणस्पर्श कर सकता था। यह क्या है? श्रीठाकुरजी खुद अपरस से बाहर आते हैं।

इस विषय पर मैंने बाद में तंत्र में भी बहुत अध्ययन किया तो पता चला कि तंत्र इस बात का स्वयं समर्थन करता है। अपने मन्दिर में से श्रीठाकुरजी जब बाहर पधारते हैं तो अपरस नहीं पालते। मन्दिर में बिराजते हैं तब श्रीठाकुरजी अपरस पालते हैं। जबतक मन्दिर में बिराजते हैं तबतक आचार के सारे नियम लागू होते हैं।

इस प्रकार अपने यहाँ बहुत विहित-विकल्प हैं। बेचारे वैष्णवों को ये रहस्य नहीं बताये जाते इसलिए वे सेवा से थर-थर काँपते हैं। घर में तो सब कर

लें पर कहीं बाहर गाँव जाएँ तो क्या करना, कहाँ से करनी व्यवस्था? वैष्णवों को बहुत भारी जुल्म से जकड़ दिया गया है। इसीलिए वे बेचारे घबरा जाते हैं कि सेवा के पचड़े में कौन पड़े। क्योंकि जिस प्रकार से हम अपने यहाँ पालन करते हैं, जो छूट हम ले रहे हैं वह छूट उनको नहीं लेने देते। इसीलिए वे त्राहिमाम हो कर सब प्रकार से सेवा छोड़ देते हैं। बाकी हम तो छूट ले रहे हैं।

अभी भी जा कर देख लें। जन्माष्टमी के दिन हमारे यहाँ जैसी छूट मिलती है, किसी के यहाँ होगी अथवा नहीं, मुझे ज्ञात नहीं। वस्तुतः सभी घरों में क्या रिवाज है और क्या रिवाज नहीं है, वह पता नहीं है। मैंने तो नाथद्वारा में और हमारे वहाँ किशनगढ़ में जब श्रीद्वारकाधीश पधारे तब देखा। यह एक संवेदनशील बात है और तंत्र में भी इस प्रकार का वर्णन है कि श्रीठाकुरजी जब अपने गर्भगृह के बाहर पधारते हैं तब अपरस छोड़ देते हैं। बाद में सामान्यरूप से आ जाते हैं, श्रीठाकुरजी घर में पधारते हैं तब वापस अपरस शुरू हो जाता है।

अब यह बात वैष्णवों को बताई हो कि भाई, जो अपरस आप घर में पाल रहे हैं उतना अपरस बाहर गाँव पधरा कर ले जाने पर आवश्यक नहीं है तो वैष्णव अपने श्रीठाकुरजी को हृदय से लगा कर पूरी दुनिया घूम आएंगे। वैष्णव को येन-केन-प्रकारेण जकड़े रखना है कि नालायक! अपरस नहीं पालते। उन्होंने श्रीठाकुरजी को पकड़ा और आचार शिथिल करके बाहर गांव गए तो श्रीठाकुरजी को पकड़े ही रखेंगे परन्तु ऐसा होने से वे वैष्णव पुनः हमारे पास आएंगे नहीं। इसलिए उनको जकड़ कर रखने के लिए आचार-अपरस का महत्त्व बताते हैं कि बाहर गांव जाने पर भी कुएँ का जल चाहिए। वहाँ कहाँ कुँआ आए, कहाँ से मरजाद आए, कैसे हो?

एक साधारण सी बात, ध्यान से समझें तो समझ में आएगी कि आपद्गति के सिद्धान्त की बात हमारे लिए सेवा में किस प्रकार विघ्नकारक हो रही है। जैसे आज हम बस में बद्रीनाथ कदाचित् आठ-दस घण्टों में पहुँच

जाते हैं, अधिक से अधिक दस-बारह घण्टों में पहुँच जाते हैं। वह हम सहन कर सकते हैं परन्तु श्रीमहाप्रभुजी के समय में बस नहीं चलती थी और बद्रीनाथ जाने का जो बस का रास्ता है वह चल कर जाने का रास्ता था। अब चल कर देखें कि यदि आप एक पहाड़ चढ़ गए और जल लाना है तो नीचे उतर कर आप जल लेने जाएँ तो ऊपर पहुँच ही नहीं सकते। यह अन्तर कम से कम अठारह-उन्नीस दिन बिना काटा नहीं जा सकता। ऐसे में क्या शौच जा कर नहाना नहीं? यह सारी व्यवस्था क्या थी? मैं क्या कह रहा हूँ वह बात समझ में आ रही है अथवा नहीं? जो पैदल चल कर जाने वाले यात्री होते थे, श्रीमहाप्रभुजी सहित, वे कितना अपरस पालते होंगे? अत: श्रीमहाप्रभुजी क्या श्रीठाकुरजी को छोड़ कर पधारते थे? शालिग्रामजी को तो आप गले में धारण करके पधारते थे।

जब यात्रा में होते हैं तो यात्रा का अपरस होता ही है, वहाँ वैसा अपरस होता है। वहाँ घर जैसा अपरस नहीं होता। यह रहस्य बेचारे वैष्णवों को नहीं समझाते इसीलिए वैष्णव सेवा छोड़ देते हैं। कई वैष्णवों के साथ व्यक्तिगत बातचीत करके मैंने यह बात समझी है। मैं यह अगड़म-बगड़म बकवास नहीं कर रहा। वैष्णवों की तकलीफ यही है कि घर में किसी प्रकार निभा लेते हैं, एक बार घर में सेवा पधरा लेने के बाद बाहर गाँव जाएँ तो सेवा किसके यहाँ पधरा कर जाएँ और सेवा साथ में पधरा कर बाहर गाँव जाएँ तो वहाँ अपरस किस प्रकार निभाएँ? तब हमें कहना पड़ता है कि आप सेवा छोड़ दें। वे स्वयं ही निर्णय ले लेते हैं कि सेवा के पचड़े में पड़ना ही नहीं क्योंकि हमसे ऐसे नियम नहीं निभ सकते।

श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि ''आपद् गत्यादि कार्येषु हठस् त्याज्यश्च सर्वथा'' - आपद् गति में हठ की आवश्यकता नहीं है। आप यदि बीमार हो गए तो शास्त्र भी कहेगा कि नहा कर भोजन करने की आवश्यकता नहीं है।

आप बीमार हैं तो स्नान किए बिना भी भोजन कर सकते हैं। आप यात्रा कर रहे हैं तो भोजन करने के लिए स्नान की आवश्यकता शास्त्र नहीं मानता।

दिन के समय से आधा अपरस रात्रि के समय, रात्रि से आधा अपरस बीमारी के दौरान और बीमारी से आधा अपरस यात्रा में पालने की बात शास्त्र स्वयं कह रहा है। वस्तुत: घर में अपरस का जो कुछ भी मापदण्ड है उससे यात्रा में मापदंड का चौथाई भी नहीं बल्कि आठवाँ हिस्सा आ जाता है। अब यह रहस्य बेचारे वैष्णवों को समझाएँ तो सारे वैष्णव श्रीठाकुरजी को अपने हृदय से लगा कर घूमेंगे। क्योंकि अपने श्रीठाकुरजी को किसे सौंप कर जाएँ, दूसरों को सौंप कर जाने जैसा आज आपस में सद्भाव, सहयोग, सहचार रहा नहीं और सेवा घर में पधराएँ तो कई झंझट हो जाते हैं। अत: क्या खुद को घर में ही रहना और कहीं नहीं जाना! जीवन इस प्रकार संभव नहीं होता है। शास्त्र ने व्यवस्था की हुई है। पुष्टिमार्ग में भी यह व्यवस्था निभा रहे हैं।

इस बात पर गौर करें कि सभी पुष्टिमार्गीय मन्दिरों में जन्माष्टमी के दिन वैष्णवों के मनोरथ से श्रीठाकुरजी को पलना झुला सकते हैं, पलना झुला कर नन्दमहोत्सव में भाग ले सकते हैं, नन्दमहोत्सव में भाग लेने के बाद वापस श्रीठाकुरजी को पलना झुला सकते हैं, चरणस्पर्श कर सकते हैं। यह सारी व्यवस्था बड़े अपरस में मौजूद है। इसमें कोई अस्पृश्य नहीं, कोई छुआया नहीं जाता। नन्दमहोत्सव के समय कोई किसी को नहीं पूछता कि तुम नहा कर आए या बिना नहाए आ गए। मैं नहीं समझता कि पुष्टिमार्ग के किसी घर में नन्दमहोत्सव में अपरस के बड़े होने का सिद्धान्त नहीं पाला जाता होगा और आचार की छूट उपलब्ध नहीं होती होगी।

इस प्रकार जान-बूझ कर बेचारे वैष्णवों को फंसा देना ताकि वे सेवा न करें, एक प्रकार का षड़यंत्र है। यह किस प्रकार की ईर्ष्या-द्वेष है, वास्तव में इस पर विचार करने की आवश्यकता है। किसी को ऐसा लगता होगा कि मैं

अहंकारी हूँ। मेरा अहंकार भी दोष है। यह मैं स्वीकार करने को तैयार हूँ , इस बात को स्पष्ट कहता हूँ कि यह मेरे अहंकार का दोष है। अपने अहंकार के दोष का अपराध स्वीकार करने के लिए मैं तैयार हूँ। परन्तु भाई, आप भी अपना दोष स्वीकार तो करें कि वैष्णव को यह रहस्य क्यों नहीं बताते? आपत्तिकाल में जो छूट आप ले रहे हैं वह छूट वैष्णव को क्यों नहीं दे रहे हैं?

इस छूट के विषय में श्रीमहाप्रभुजी स्वयं कह रहे हैं - ''आपद्-गत्यादि-कार्येषु हठस् त्याज्यश्च सर्वथा।'' विधि-विधान को जीने का सदैव आग्रह रखना जितनी अच्छी बात है उतना ही अनुचित है इस विधि-विधान को समझे-विचारे बिना हठ पकड़ना, यहाँतक कि व्यक्ति सेवा छोड़ दे, इस स्तर तक कि मनुष्य सेवा के नाम से भाग जाए, सेवा करने से विमुख हो जाए।

यहाँ ठीक यही अवांछित पद्धति काम कर रही है कि ऐसा संस्कार कर दें कि द्रव्य का नाश हो जाए। हाल ही आप लोगों ने पढ़ा होगा कि ठाणे में एक माँ ने अपने बालक को स्पेलिंग याद न रही तो पेट में छुरा मार दिया। स्पेलिंग याद कराना अच्छा संस्कार है अध्ययन के लिए, परन्तु बालक को स्पेलिंग याद न रहे और माँ यदि बालक के पेट में छुरा मारेगी तो हम द्रव्यनाश करने की भूल कर रहे हैं। कोई भी संस्कार द्रव्यनाशक नहीं हो सकता। जब द्रव्यनाश हो रहा है तब संस्कार को भूल जाएँ। वह संस्कार नहीं, विकार है।

संस्कार तब संस्कार है जिसमें से द्रव्य निखर कर, बहुत सुन्दर बन कर सामने आता है। जिससे सेवा छूट जाती हो, जिससे भाव टूट जाता हो, जिससे भगवान और भक्त के बीच का सम्बन्ध टूट जाता हो, सम्प्रदाय का संविधान जिससे टूट जात हो, जिससे श्रीमहाप्रभुजी की सारी आज्ञा टूट जाती हो, जिससे हमारे श्रीमहाप्रभुजी के सिद्धान्तों को हमारा मार्गदर्शक मानने की हमारी निष्ठा टूट जाती हो, उन सब जड़ प्रकारों को हम कह रहे हैं कि यह हमारी परम्परा है। वह परम्परा नहीं बल्कि हठाग्रह है। वह परम्परा नहीं, सम्प्रदाय के प्रति रहा

हुआ कोई क्रूर द्वेष है कि किसी भी प्रकार से इस सम्प्रदाय को खत्म करो। सम्प्रदाय में जीने की भावना नहीं। कोई भी जीने की इच्छा रखनेवाला व्यक्ति इस प्रकार कभी नहीं जी सका, कभी इस प्रकार जिया नहीं।

एक सीधी सी बात समझें, आप सब भी इस बात को भलीभाँति जानते हैं कि जितने नागर बनिया हैं वे किसी जमाने में नागर ब्राह्मण थे। अपने धर्म को टिकाए रखने के लिए कि मुसलमान मार न डालें, नागर बनिए हो गए। भाई, बनिया हो कर जीने को मिलता हो तो हिन्दू धर्म तो रहेगा। हम ब्राह्मण न रहें तो न रहें, द्रव्यनाश तो नहीं होगा। ब्राह्मण का संस्कार बहुत सुन्दर बात है, परन्तु द्रव्यनाश की कीमत पर संस्कार को नहीं निभाया जा सकता।

बेचारे इन धोबियों में, दर्जियों में कोई राठौड़ है, कोई परमार है, पवार हैं। ये सब क्षत्रिय थे। क्षत्रिय थे इसलिए लड़ते थे, इसलिए मुसलमान उन पर नाराज हो गए और उनको सामूहिकरूप से खत्म करने का आदेश दिया गया कि सबको खत्म कर दो। चुन-चुन कर काटे जाने लगे। उन्होंने मना कर दिया कि कौन कहता है कि हम क्षत्रिय हैं, हम तो दर्जी हैं, किसी ने कहा कि हम तो धोबी हैं, कोई कुछ बन गया, कोई कुछ और बन गया। अन्त में हिन्दू तो रहे न!

द्रव्यनाश नहीं हुआ इसीलिए हिन्दू रहे। यदि संस्कार के चक्कर में पड़े होते तो द्रव्यनाश होता। द्रव्यनाश के बाद जो बेचारे मुसलमान हो गए, आज तक उन्हें वापस हिन्दू बनने का कोई उपाय नहीं है क्योंकि वहाँ इकतरफा रास्ता है। जो चले गए वो वापस नहीं आ सकते। हमारे यहाँ ऐसी परिस्थिति नहीं है कि दोनों दरवाजे खुले हों। इस बात को हमें समझना पड़ेगा।

ये जितने भाटिया हैं, ये सब भट्टी राजपूत थे। भाटिया होने से वे जीवित भी रहे और आज वैष्णव भी हो गए। वैष्णव न हुए तो कोई बात नहीं, हिन्दू की तरह जी तो रहे हैं कि नहीं? भट्टी राजपूतों का भट्टी तत्त्व कहाँ गया? सारे भट्टी

बेचारे भाटिया हो गए। यह शब्द गाली के रूप में प्रयुक्त होता था। भाटिया किस प्रकार भट्टी से भाटिया हो गए? मूलत: तो यह गाली दी गई थी। राजपूतों ने, उनकी जातिवालों को कहा कि हम भाटिया ही सही परन्तु हम हिन्दू तो हैं। जो भाटिया नहीं बने उनमें से कई भट्टी मुसलमान बन गए। आज भी आप देखें कि भट्टी मुसलमान भी होते हैं। भट्टी उपनाम मुसलमानों में भी है। जो भाटिया नहीं बने उनको भट्टी मुसलमान बनना पड़ा। उसके बजाय भाटिया बनना हजार गुना अच्छा था, भट्टी न रहे तो न रहे। जब आपमें यह शक्ति थी कि आप भट्टी हो कर जी सकें तो बहुत अच्छी बात थी परन्तु भट्टी न रह कर भाटिया बन कर रहे तो कम से कम हिन्दू तो हैं!

संस्कार का द्रव्यनाश के लिए कभी उपयोग नहीं करना चाहिए। यह श्रीमहाप्रभुजी की आधारभूत नीति है। ध्यान में रखते हुए और इस नीति का अनुसरण करते हुए चलेंगे तो आपको ज्ञात होगा कि श्रीमहाप्रभुजी को ''आपद्-गत्यादि-कार्येषु हठस् त्याज्यश्च सर्वथा'' द्वारा क्या उपदेश देना अभीष्ट है। आपत्तिकाल में हठ न करना आपका विवेक है। धर्म का आग्रह न रखें। धर्माग्रह बहुत श्रेष्ठ वस्तु है किन्तु धर्माग्रह जितनी श्रेष्ठ वस्तु है, धर्म का हठ उतनी ही खराब वस्तु है।

कारण यह है कि आप आगे-पीछे का कोई विचार नहीं कर रहे हैं। सब सत्यानाश कर रहे हैं। यही बात आगे के श्लोक में श्रीमहाप्रभुजी अधिक अच्छे प्रकार से निरूपित कर रहे हैं कि किस वस्तु का आग्रह अपेक्षित है। अब एक बार कह दिया कि हठ नहीं रखना तो छूट मिल गई कि घोड़ा कहीं भी कैसे भी दौड़ने के लिए स्वतंत्र! परन्तु मनुष्य की मानसिकता की श्रीमहाप्रभुजी को बहुत चिन्ता है। श्रीमहाप्रभुजी पुन: अंकुश बताते हैं - ''अनाग्रहश्च सर्वत्र धर्माधर्माग्र-दर्शनम्'' - अपने कार्य में किसी का आग्रह न रखें, आग्रह यह रखें कि धर्म किससे निभेगा। अधर्म करने से क्या अवज्ञा हो सकती है, इस बात का

ध्यान रखेंगे तो आपका विवेक निभ जाएगा। मूलभूतरूप से आपकी विवेक बुद्धि रही तो आपका विवेक निभेगा। यदि यह मूलभूत विवेक बुद्धि आपने छोड़ दी तथा हठ पकड़ लिया अर्थात् दुराग्रह को विकसित कर लिया तो आपसे जीवन में विवेक नहीं निभेगा।

जिस विवेक के विषय में हम कह रहे हैं कि - ''विवेकस्तु हरि: सर्वं निजेच्छात: करिष्यति'' तो ऐसा होगा कि ठीक है, मुसलमान आ गए और वे कहें कि मुसलमान बन जाओ तो हम मुसलमान बन गए - ''विवेकस्तु हरि: सर्वं.....।'' अब कोई बेचारी सती हो और गुंडे आ कर कहें कि चल वेश्याबाजार में तब ''विवेकस्तु हरि: सर्वं....'' कह कर वेश्याबाजार में पहुँच गए, किसी ने हमें मांस-अण्डा खाने का प्रस्ताव किया और हम मांस-अण्डा भी खाएँ कि ''विवेकस्तु हरि: सर्वं.... ।'' किसी ने बोतल भेंट कर दी कि महाराज, आपके चरणारविन्द में भेंट और हम कहें कि भगवदिच्छा नहीं होती तो बोतल भेंट में नहीं आती तथा हम बोतल पी जाएँ कि ''विवेकस्तु हरि: सर्वं.... ।'' यह सब ''विवेकस्तु हरि: सर्वं निजेच्छात: करिष्यति'' का तात्पर्य नहीं है। जो आदेश है, उस आदेश को समझना पड़ेगा कि विवेक को हमें आचरण में उतारना है।

उसके आचरण में कितनी जीवन्त नजाकत है, जिन्दगी की नजाकत है तथा इस नजाकत का हमें इतने कठोर नियमों से अपने जीवन में निरीक्षण करना है कि ''विवेकस्तु हरि: सर्वं .....।'' इसके बाद श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि ''विवेकोऽयं समाख्यातो...'' - मैंने आपको विवेक के विषय में भलीभाँति समझा दिया। व्यक्तिगत कौशल से आपने अपने विवेक को निभाने का प्रयास किया। जबतक आप इस व्यक्तिगत कौशल में असफल हो रहे हैं तबतक आप विवेक को ठीक से नहीं समझ पा रहे हैं।

''तदा विशेषगत्यादि भाव्यं'' - 'विशेष गति' अर्थात् आपके अन्त:करण में भगवान की कोई विशेष आज्ञा होती हो जो दैनिक जीवन से सम्बन्धित नहीं हो बल्कि एक अपवादरूप में हो तो उसे आप स्वीकार कर लें। उस असाधारण विशेष आज्ञा को स्वीकार कब करना, तब जबकि उसमें स्वयं को प्रोत्साहन देने की भावना अथवा अपना स्वार्थ या सुख न दिखाई देते हों।

जब आपको ऐसा लगे कि वैसे तो वैद्य ने बताया था कि थोड़ा सावधानीपूर्वक रहें, धर्म-अधर्म का विचार करें क्योंकि कोई वस्तु आपको रुचती होगी तो आपका नियंत्रण नहीं रहेगा कि अमुक वस्तु भा रही है। जैसे डायबिटीज हो जाए और डॉक्टर आपको कहे कि अच्छा भाई, खानी हो तो खाओ मिठाई, क्योंकि आपने डॉक्टर का खूब सिर खाया होता है कि मिठाई खाए बिना रहा नहीं जाता या बिना गुड़ की दाल मुझसे नहीं खाई जाती। फिर डॉक्टर यही कहेगा कि खानी हो तो खाएँ। जब डॉक्टर खुद आपको कहे कि गुड़वाली दाल खा लें तो अब आपका कोई नियंत्रण रहेगा ही नहीं। नियंत्रण नहीं रहेगा तो ऐसी आज्ञा को मानने में आपको किस तरह का संतोष हो रहा है? स्वास्थ्य सुधर रहा है या केवल जीभ को संतोष हो रहा है? डॉक्टर की आज्ञा से आपकी जीभ को संतोष हो रहा है लेकिन क्या स्वास्थ्य को संतोष हो रहा है? जिस जीभ के कारण डायबिटीज उत्पन्न हुई है उस जीभ को ही आप संतुष्ट करना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में डायबिटीज की भलीभाँति संभाल कैसे हो सकती है? इस बात को समझने का प्रयत्न करें।

''भिन्नन्तु दैहिकात्'' - जिसमें आपके देह के आवेग संतुष्ट न हो रहे हों, ऐसी कोई विशेष गति आपको अपवादस्वरूप दिखाई दे रही हो - दैनिक जीवनचर्या में नहीं - तो उस विशेष आज्ञा को अपवाद के रूप में अपना लें। घबराएँ नहीं। यदि आप अपने देह के आवेगों को सन्तुष्ट करने के लिए ही भगवान की सम्पूर्ण विशेष आज्ञा को मान-मान कर चलेंगे तो वह विशेष आज्ञा

नहीं है। आप देह के संतोष के लिए उसे विशेष आज्ञा का नाम दे रहे हैं कि हाँ भाई, भगवान ने मुझे हृदय में बताया कि इस समय अण्डे खाना बहुत आवश्यक है क्योंकि मुझे कमजोरी बहुत आ गई है। क्या अण्डों के स्थान पर कोई दूसरी वस्तु प्रयुक्त नहीं की जा सकती? अंत:करण में भगवान ने जो आज्ञा की है कि तू पुष्टिमार्गीय है क्योंकि मर्यादाभंग का नाम 'पुष्टि'। इसलिए तू अण्डे खा ले तो मैंने खा लिए। अब यह कैसे ज्ञात हो कि भगवान ने आपको अन्त:करण में आज्ञा की या सच में आपने अण्डे खाने के शौक के कारण खाए हैं। यह तय किस प्रकार करना, उसका साधन ''भाव्यं भिन्नन्तु देहिकात्'' - से बता रहे हैं।

जैसे एक बात समझें कि मैं हर समय यह दलील देता रहूँ कि यदि कोई ऐसा कहता है कि वित्तजा सेवा करनी चाहिए, तनुवित्तजा धर्म नहीं है। अत: वित्तजा सेवा करना धर्म है। वित्तजा सेवा स्वीकार करने में कोई पाप नहीं। चलो ठीक है -''भाव्यं भिन्नन्तु दैहिकात्'' - पर उस वित्तजा को श्रीठाकुरजी के लिए स्वीकार करें। अपने उपयोग में न लें, यदि आप सच्चे हैं तो।

बालक हमेशा क्या कहते हैं कि वैष्णवों के दैवी द्रव्य का विनियोग हम भगवान के सुख के लिए कर रहे हैं, बहुत अच्छी बात है। बहुत सुन्दर ढाँचा है कि जो वैष्णव अपने घर में भगवत्सेवा नहीं कर रहे, वे दैवी-जीव हैं लेकिन वह दैवीजीवों का दैवी द्रव्य है या नहीं? किसी की जेब काट कर लाया गया है या किसी को मार कर लाया गया है, यह हमें पता नहीं। मान लें कि ब्रह्मसंबंध लेने के कारण वह दैवीजीव है, उसके घर में जो पैसा है वह भी दैवी द्रव्य है, बहुत अच्छा है। यह भी मान लें कि आप उस पैसे का भगवान के सुख में विनियोग कर रहे हैं, यह भी अच्छी बात है।

अब यहाँ देखें ''भाव्यं भिन्नन्तु दैहिकात्'' - आप जब भगवान के सुख के लिए दूसरों से पैसा ले रहे हैं तो कम से कम उन पैसों को अपने उपयोग

में तो न लें। वे कहते हैं कि ये तो प्रसाद है इसलिए लेना ही चाहिए, उसका अनादर कैसे कर सकते हैं। यहाँ फिर से फँसा देते हैं तो इसका अन्त कैसे आए? प्रसाद तो लेना ही चाहिए क्योंकि **''सर्वं खलु इदं ब्रह्म''** – इसमें देवद्रव्य का प्रश्न ही कहाँ आता है? सारा ही देवद्रव्य है इसलिए वह देवद्रव्य वापस अपने खाते में क्योंकि सारा ही देवद्रव्य है।

हमारे पास एक पंडित है। उसको गो. बालक ने आज्ञा की कि श्वास ले रहे हैं उसका अर्थ है कि वेद पढ़ रहे हैं, यह वेद भगवान की वाणी है इसीलिए आप अपनी वाणी से बोल रहे हैं तो आपके मुँह में देवद्रव्य आया या नहीं? गधे को भी हँसी आए ऐसी बात है कि नहीं, बोलो? वेद भगवान की वाणी और भगवान की वाणी को आप पढ़ रहे हैं इसीलिए वह देवद्रव्य आपके मुँह में आ गया। अत: वेद न पढ़ें। ऐसी ऊटपटांग बातें सूझती हैं परन्तु शुद्ध सिद्धान्त की बातें नहीं सूझतीं। चक्कर क्या है? चक्कर क्या है यार, इसका तो खुलासा करें। ऐसी ऊटपटांग बातों के लिए हम सब बुद्धि लगा रहे हैं।

श्रीमहाप्रभुजी क्या कहना चाहे रहे हैं, इस बात को समझने में बुद्धि का प्रयोग नहीं करने की सौगंध ली हुई है। ये सभी ऊटपटांग बातें अविवेक की बातें हैं, सम्प्रदाय के विवेक की बातें नहीं, यह समझ लें। वेश्या के प्रसंग में उस वेश्या ने भी यही बात कही थी कि मैं रजस्वला होऊँ तो मेरे यहाँ कौन सेवा करने आता है। जो मेरे यहाँ आता है वह सेवा करनेवाला नहीं होता और जो सेवा करनेवाला होता है वह मेरे घर आता नहीं है तथा इस वेश्यावृत्ति के कारण मेरा देह जितना अपवित्र हो गया है उससे अधिक अपवित्र मासिकधर्म से नहीं होता। आपकी जो मर्यादा है कि रजस्वला में देह अस्पृश्य हो जाता है तो जैसे मैं तीन दिन बाद नहा रही हूँ उसी प्रकार मेरे श्रीठाकुरजी को भी स्नान कराती हूँ।

वहाँ श्रीगुसांईजी ने स्पष्ट कहा है कि तुम्हें छूट है परन्तु गाँव के लोगों को यह भी कहा कि इसकी नकल करने की सबको छूट नहीं है, क्योंकि आप

सब वेश्या नहीं हैं। आपका देह इतना अपवित्र नहीं है। अपने यहाँ आप जब सेवा नहीं कर पाते हैं तो कोई दूसरा आ सकता है। उसके यहाँ तो कोई नहीं आ सकता। उसने अपने हित का विचार नहीं किया है। वह स्वयं के विषय में यह भी स्पष्ट करती है कि इसके बावजूद कोई दोष होता हो तो आप जैसे बताएंगे वैसे करने को तैयार हूँ।

श्रीगुसांईजी के पास कोई जवाब नहीं था, आप वार्ता पढ़ कर देख लें कि श्रीगुसांईजी ने कहा कि तुम्हें छूट है। क्योंकि वेश्या के देह से अधिक अपवित्र देह रजस्वला का नहीं होता। मान लें कि वह आग्रह रखे कि तीन दिन बाद जब नहा लेती हूँ तो श्रीठाकुरजी को भी स्नान करा देती हूँ तो इसमें फिर एक उपद्रव हो जाएगा। हम कहेंगे कि हम तो सृष्टि के आरंभ से ही वेश्या जैसे जघन्याधिकारी हैं। भाई, आप स्वीकार करते हैं तो हम कैसे ना कह सकते हैं, कोई यह स्वीकार करे कि सृष्टि के आरंभ में भगवान ने मुझे वेश्या जितना ही अपवित्र बनाया है तो फिर सबको छूट है लेकिन उस प्रकार से निष्ठापूर्वक आचरण करना पड़ेगा कि हम वेश्या जितने अपवित्र हैं। फिर कहीं प्रसाद लेने की पंगत लगी हो, वहाँ नहीं बैठना चाहिए कि हम भगवदीय हैं।

अपने यहाँ वार्ता में निम्नोक्त प्रसंग नहीं है लेकिन चैतन्य सम्प्रदाय की वार्ता में यह प्रसंग है। जब रूप सनातन चैतन्य महाप्रभु के साथ अड़ैल आए तब श्रीमहाप्रभुजी इतने उत्साहित हुए कि चैतन्य महाप्रभु के स्वागत के साथ रूपसनातन को भी एकदम गले लगाने गए। रूपसनातन पीछे-पीछे सरकने लगे क्योंकि मुसलमान के यहाँ नौकरी करने के कारण पहले मुसलमान हो गए थे। श्रीमहाप्रभुजी उलझन में पड़ गए कि मैं गले भेटना चाह रहा हूँ तो वे पीछे क्यों सरक रहे हैं? रूपसनातन ने कहा कि मैं एक बार म्लेच्छ हो गया था। आप तो सच्चे ब्राह्मण हैं इसलिए मुझे गले न लगाएँ। श्रीमहाप्रभुजी ने तब कहा कि तुम वैष्णव हो इसलिए मैं तुम्हें गले लगाऊँगा, कह कर उनको गले लगाया।

पहले मुसलमान बन गए होंगे तुम परन्तु अब तो वैष्णव हो गए न! इसलिए मैं तुम्हें गले लगाऊँगा। अड़ैल में स्वागत करने के लिए श्रीमहाप्रभुजी उनको गले मिले।

वार्ता में स्पष्ट उल्लेख है कि वे बेचारे स्वयं ही पीछे सरक रहे थे कि मुझे नहीं भेटें। वे वास्तविकता जानते थे, छुपाना नहीं चाहते थे कि एक स्थिति में, मैं मुस्लिम धर्म में परिवर्तित हो गया था इस कारण उनमें जो भी कुछ अपवित्रता आई उसे वे अपनी वैष्णवता के दंभ से छुपाना नहीं चाहते थे। यह समझदारी थी।

जैसे अपने पुष्टिमार्ग के इतिहास में दामोदरलालजी जब नाथद्वारा पधारे तो कई लोगों ने आग्रह किया कि आप नहा कर सेवा में पधारें, पुष्टिमार्ग तो मर्यादामार्ग नहीं है, कुछ छुआएगा नहीं। दामोदरलालजी ने स्वयं आज्ञा की कि देह अपवित्र हो गया है, श्रीजी को स्पर्श करने लायक नहीं रहा। सभी सलाहकार उपस्थित थे कि नहीं, आप पधारें। पुष्टिमार्ग में वर्णाश्रमधर्म की आवश्यकता नहीं है। दामोदरलालजी ने स्वयं मना कर दिया कि देह अपवित्र हो गया है। ऐसी मूल समझवाले लोग थे। अपराध भी करते थे तो बेइज्जत हो कर नहीं करते थे, इज्जत के साथ अपराध करते थे।

स्वीकार कर लेते थे कि भाई, अपराध हो गया, देह अपवित्र हो गया, क्या करें? आज की भाँति पाखंड नही करते थे कि हम तो पुरुषोत्तम हैं। हम कुछ भी करें तो वह लीला है। बेचारे दामोदरलालजी ने ऐसी बात नहीं की। पूरी दुनिया उनको समझा रही थी कि आप छुआए नहीं हैं, देह अपवित्र नहीं हुआ है। वे हिम्मतवान थे। इतनी हिम्मत रखें तो कोई बाधा नहीं, वैसी हिम्मत न होने से ऐसे चक्कर होते हैं।

खैर, यह सब धीरज से समझने की बात है। इसलिए हम धैर्य के विषय पर बात करते हैं।

(धैर्यस्वरूप [ख] लक्षणं तदुपलब्ध्यै च अनाग्रहः[1] सहनं[2] त्यागः[3] असामर्थ्यभावना[4] चेति क्रमिकोपायचतुष्टयम्)

धैर्य का स्वरूपलक्षण और उसकी प्राप्ति के चार उपाय।

जैसे ''विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति'' - यह विवेक का एक स्वरूपलक्षण है, इसी प्रकार इतिकर्तव्यता दूसरा लक्षण है। धैर्य तथा उसके बाद के उपायों को किस प्रकार आचरण में लाना, इस विषयक धैर्य का स्वरूपलक्षण क्या है?

..... धैर्यन्तु विनिरूप्यते ।।5 ।।
त्रिदुःख-सहनं धैर्यम् आमृतेः सर्वतः सदा[ख]।
तक्रवद्[1]- देहवद्-[2] भाव्यं जडवद्-[3] गोपभार्यवत्[4] ।।6।।
प्रतीकारो यदृच्छातः सिद्धश्चेन् नाग्रही भवेत्[1]।
भार्यादीनां तथाऽन्येषाम् असतश्चाक्रमं सहेत्[2] ।।7।।
स्वयम् इन्द्रियकार्याणि काय-वाङ्-मनसा त्यजेत्[3]।
अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्य-भावनात्[4] ।।8।।
अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वम् आश्रयतो भवेत्।
एतत् सहनम् अत्रोक्तम्.....।।

अन्वयार्थ :

तु = अब तो, **धैर्यं** = धैर्य
विनिरूप्यते = विशेषरूप से निरूपण करते हैं
आमृतेः = मरणपर्यन्त
सर्वतः = सब प्रकार से
सदा = निरन्तर
त्रिदुःखसहनं: = तीनों प्रकार के दुःखों को सहन करना

धैर्यं= धैर्य

तक्रवत् = छाछ की तरह

देहवत् = देह की तरह

जड़वत् = जड़ की तरह

गोपभार्यवत् = ग्वाले की पत्नी की तरह

भाव्यम् = भावना करनी चाहिए

यदृच्छातः = दैवइच्छा से

चेत् = यदि

प्रतीकारः = प्रतिकार

सिद्धः = हो सके तो

आग्रही = आग्रहवाला

न = नहीं

भवेत् = हो

भार्यादीनां = पत्नी आदि के

च = और

अन्येषां = अन्यों के

च = और

असतः = असत् लोगों के

आक्रमं = तिरस्कार / पीड़ा को

सहेत् = सहन करे

स्वयं = आप

इन्द्रियकार्याणि = इन्द्रियों के कार्यों को

काय-वाङ्-मनसा = काया-वाणी-मन से

त्यजेत = त्याग दे, **अशूरेण**= असमर्थ द्वारा

अपि = भी, **स्वस्य** = अपनी

असामर्थ्यभावनात् = सामर्थ्यविहीन होने की भावना से

कर्तव्यम्= करना चाहिए

अशक्ये = अशक्तता में

हरिः = श्रीकृष्ण, **अस्ति** = हैं

एव = ही (**यतः** = जिसके)

आश्रयतः = आश्रय से

सर्वं = सबकुछ

भवेत् = होता है

अत्र = यहाँ, **एतत्** = यह

सहनं = धैर्य, **उक्तं** = कहा

भावार्थ : अब धैर्य का विस्तार से निरूपण करते हैं।

मरण जैसा कष्ट आ जाए तबतक अथवा आयुष्य रहे तबतक आधिभौतिक आदि तीनों प्रकार के दु:खों को सब तरह से सदा सहन करना चाहिए उसका नाम 'धैर्य' है।

भगवदिच्छा से दु:ख की निवृत्ति का उपाय सिद्ध हो जाए तो गृह का त्याग करने का आग्रह न हो। इसी प्रकार स्त्री आदि का, दूसरों का और असत् पुरुषों का भी तिरस्कार सहन करे।

काया, वाणी और मन से अपने भोग के लिए इन्द्रियों के कार्यों को छोड़ना चाहिए। दु:ख सहन करने में अपनी शक्ति न हो तो भी अपना सामर्थ्य नहीं है, यह भावना करके दु:ख सहन करना चाहिए।

जब अपनी अशक्ति हो तब हरि ही रक्षक हैं - यह आश्रय रखें तो सब सिद्ध होता है। यह धैर्य का स्वरूप कहा है।

व्याख्या :

गलती से किसी को समझा दें, फिर सभी व्यक्ति स्वीकार कर लेंगे कि भाई, बाकी सब कुछ कर सकते हैं लेकिन धैर्य की बात असम्भव है। धैर्य का स्वरूपलक्षण ऐसा ही है। मृत्यु न हो तबतक हर प्रकार से सदैव तीनों दु:खों को सहन करने का नाम 'धैर्य' है। अब बात खत्म हो गई न! हमें ऐसा लगता है कि यह तो चौरासी वैष्णवों के लिए कहा गया उपदेश है। यह हमारे लिए कहा गया उपदेश है ही नहीं।

ध्यान से समझें कि चौरासी वैष्णवों में भी यह उपदेश किसी-किसी ने ही शिरोधार्य किया है, सबने नहीं। बहुतों ने कष्ट झेले हैं, कोई विचलित हो गया है, किसी को और कुछ हो गया है। यह घबराने की बात नहीं है। धैर्य के इस स्वरूप से घबराना नहीं चाहिए। वह एवरेस्ट की चोटी की बात है, स्वरूपलक्षण की बात है। उससे सम्बन्धित आचरण किस प्रकार हो रहा है, वह कितना व्यावहारिक है, कितना सुरक्षित है और इस मार्ग में कितना प्राप्तव्य है - यह बात ध्यान से देखें।

श्रीमहाप्रभुजी ने धैर्य के चार उपाय समझाए हैं। ''त्रिदु:ख सहनं धैर्यम् आमृते: सर्वत: सदा'' - पारिभाषिक धैर्य यह है कि मृत्यु आए तबतक हर प्रकार से तीनों प्रकार के दु:खों को सहन करना। किस प्रकार सहन करना? ''तक्रवद् देहवद् भाव्यं जडवद् गोपभार्यवत्।'' अब यहाँ एक-एक कर समझा रहे हैं। तक्रवद् का अर्थ है कि ''प्रतिकारो यदृच्छात: सिद्धश् चेन् नाग्रही भवेत्'' - आपके पास दु:ख को मिटाने का कोई उपाय उपलब्ध है तो दु:ख सहन करने का आग्रह न रखें।

यहाँ देखें कि जो बात इतनी असम्भव लग रही थी, इतनी अव्यावहारिक लग रही थी, वह कितनी व्यावहारिक हो रही है। दु:ख को सहन करने का आग्रह रखने का तात्पर्य धैर्य नहीं बल्कि आपके पास प्रतिकार

उपलब्ध है तो उसे दूर करें, दु:खी क्यों हो रहे हैं? ''**शुद्धाश्च सुखिनश्चैव ब्रह्मविद्याविशारदा: भगवत्सेवने योग्या नान्य**'' - आपके पास प्रतिकार है तो दु:ख किसलिए सहन करना? हम देख रहे हैं कि साँप आ रहा है, हमारे पास प्रतिकार उपस्थित है कि हम बच सकते हैं और न बच सकते हों तो मार भी सकते हैं। अब मान लें कि हम कहें कि नहीं-नहीं, ''त्रिदु:खसहनं धैर्यम्'' - वह आ कर काटेगा नहीं तो हम पुष्टिमार्गीय कैसे कहलाएंगे?

धैर्य की ऐसी मूर्खताभरी परिभाषा नहीं है। धैर्य की परिभाषा बहुत विचारित परिभाषा है। ''प्रतिकारो यदृच्छात:'' - आपके पास प्रतिकार का कोई आसान उपाय है तो दु:ख को खत्म करें। ''सिद्धश् चेन् नाग्रही भवेत्'' - दु:ख को सहन करने का आग्रह न रखें, दु:ख को सहन करने की क्षमता रखें, दोनों बातों का अन्तर समझें। दु:ख को सहन करने का आग्रह और दु:ख को सहन करने का हठ- इस बात को स्पष्ट शब्दों में कहूँ तो हम दु:खी ही रहेंगे।

कहा जाता है कि ''**गर दे गया दगा हमें तूफान भी 'कतील', साहिल पे कश्तियों को डुबाया करेंगे हम**'' - बात समझ में आई! नाव में जा रहे हैं, तूफान आया, तूफान में नाव डूबी नहीं। अरे नाव क्यों नहीं डूबी? किनारे पर पहुँच कर हम नाव को डुबाएंगे। क्योंकि दु:ख सहन न किया तो हमें धैर्य किस प्रकार आएगा? अरे, किसलिए रोना, प्रसन्न क्यों नहीं रहते? एक-दूसरे की याद में क्यों रोते हैं? इतने नकारात्मक विचार क्यों? इतने नकारात्मक विचारों का नाम पुष्टिभक्ति नहीं है, बहुत स्वस्थ मानसिकता का नाम पुष्टिभक्ति है। इतने नकारात्मक विचार, अपने आपको परेशान करने की प्रवृत्ति का नाम पुष्टिभक्ति नहीं है।

''प्रतिकारो यदृच्छात: सिद्धश् चेन् नाग्रही भवेत्'' - दु:ख सहन करने का आग्रह न रखें, दु:ख सहन करने की क्षमता रखें। आग्रह रखना अनुचित है, क्षमता रखना अच्छी बात है।

इसके पश्चात् दूसरा देहवत् का सिद्धान्त क्या है? हम समझते हैं कि देह हमारा है। भाई, जब देह से देह का सम्बन्ध रखनेवाले अन्य सदस्य भी मौजूद हैं तब ऐसी अनावश्यक गलतफहमी रखना कि मेरा देह केवल मेरा ही है, अपनी एक मूर्खता है। यह देह केवल हमारा है, ऐसा नहीं है। जब हम आत्महत्या करने लगते हैं तो पुलिस पकड़ कर जेल में डाल देती है। अब दंड तो बहुत छोटा दिया न, मैं तो मरने जा रहा था, आपने तो जेल में ही डाला है।

अत: स्पष्टरूप से समझ लें कि जैसे यह देह हमारा है वैसे सरकार का भी है। जैसे यह देह हमारा है वैसे हमारे पिता का भी है, हमारी पत्नी, हमारी संतान अथवा हमारे भाईयों का भी है। जो भी हमारे इस देह से सम्बन्धित हैं उन सब का इस पर कुछ न कुछ अधिकार तो है ही। जब सबका दावा है तो हमें अपने देह को तकलीफ देना चाहिए अथवा उसमें हमें आनन्द मानना चाहिए। जैसे शरीर को दुबला करना है तो हम बहुत व्यायाम कर रहे हैं, बहुत हांफ रहे हैं, श्वास फूल रहा है, पसीना बह रहा है। अब कोई हमें कहे कि देह को इतना कष्ट क्यों दे रहे हैं तो क्या हम कहेंगे कि चुप, मेरा पसीना बह रहा है तो आप बोलनेवाले कौन?

यह बात भलीभाँति समझ लें कि देह पर अधिकार केवल आपका नहीं है, अन्यथा अर्थ न लें तो पत्नी का भी है, बालक का भी है, पिता का भी है। क्योंकि ये सभी आपके देह से सम्बन्धित हैं। उनका भी आपके देह पर कुछ अधिकार है, दावा है। आप अपने देह के अकेले अधिकारी नहीं रहे। अत: उनमें से कोई सूई चुभा रहा है तो थोड़ा सहन करना पड़ेगा। जैसे आप स्वयं को सूई चुभाते हैं तो सहन करते ही हैं। इसी प्रकार ''भार्यादीनां तथान्येषाम्'' अर्थात् जो भी आपके देह से सामाजिक अथवा पारिवारिक, जिस किसी भी रूप में, सम्बन्धित हैं उनका भी कुछ दावा - अधिकार मानें और वे आप पर कुछ अत्याचार करते हों तो थोड़ा सहन करने की शक्ति रखें।

जब आप स्वयं को परेशान करते हैं तो सहन करते ही हैं। इसी प्रकार उनके द्वारा भी किसी प्रकार का कोई अत्याचार होता हो तो आपको अपने भीतर सहन करने की शक्ति पैदा करनी चाहिए। तब आप में धैर्य आएगा। अन्त में, हम स्वयं पर जब किसी भी प्रकार का अत्याचार करते हैं - पहाड़ चढ़ कर, कसरत करके अथवा एकादशी का सच्चा उपवास करके - फलाहार के साथ झूठा उपवास करके नहीं- तो ये सब स्वयं को तकलीफ देने की बातें हैं। इसमें हमें यह नहीं मानना चाहिए कि कुछ अत्याचार हो रहा है तो वास्तव में हमारा कुछ विकास हो रहा है। ऐसे ही हमारे देह से सम्बन्धित जो भी बातें हैं और वे हमारे देह को कुछ तकलीफ पहुँचा रही हैं जैसे एकादशी का व्रत, किसी प्रकार का जागरण, ग्रहण का जागरण, ग्रहण आ गया है तो इन तकलीफों को सहन करने की हमारी तैयारी सजगतापूर्वक होनी चाहिए। इसका नाम 'धैर्य' है।

जब हम यह मान कर चल रहे हैं कि किसी के भी द्वारा हमें दिए गए किसी भी दु:ख को हम सहन करेंगे ही नहीं क्योंकि श्रीमहाप्रभुजी ने स्पष्ट कहा है कि ''शुद्धाश्च सुखिनश्चैव....'' सुखी रहने पर सेवा करने का अधिकार है इसलिए किसी के द्वारा दु:खी तो हम होंगे ही नहीं। इस प्रकार का एकाकीपन सेवा का सिद्धान्त अथवा धैर्य का सिद्धान्त नहीं है। धैर्य का सिद्धान्त एक-दूसरे के साथ तकलीफ को साझा करने का सिद्धान्त है। जिसे कुछ चुभता होगा वह कुछ तो करेगा। अपने देह के कारण मात्र अपनी तकलीफों को बांट नहीं सकते तो हमारा धीरज जवाब दे रहा है।

''स्वयम्-इन्द्रिय-कार्याणि काय-वाङ्-मनसा त्यजेत्'' - यह जड़भरतजीवाला सिद्धान्त है। जड़भरतजी बेचारे मस्ती में बैठे थे। राजा के सिपाही ने आकर कहा कि हमारी पालकी ढोने के लिए एक व्यक्ति कम है इसलिए आप चलें। उन्होंने कहा चलो। अब उनको पालकी उठा कर चलना

तो आता नहीं था, अनुभव नहीं था इसलिए आड़े-टेढ़े चल रहे थे। इस प्रकार ऊँचा-नीचा होने से राजा को तकलीफ होने लगी। राज ने कहा कि तुमने कुछ खाया नहीं है क्या? तुम भूखे मर रहे हो क्या? जड़भरत तो मुनि थे। उन्होंने कहा कि आत्मा तो खाता ही नहीं है। जो कुछ खाता है, वह तो देह खाता है। मैं तो कुछ खाता ही नहीं। तब राजा को विचार आया कि पालकी उठानेवाला कोई दूसरा ही व्यक्ति आ गया लगता है। क्योंकि उसने बड़ी-बड़ी ज्ञान की बातें कही हैं। इस प्रकार जड़भरत ने दोनों छोर खुले रखे हैं।

डोली उठाने के लिए मन में अभिमान नहीं रखा कि मैं बड़ा ब्रह्मज्ञानी हूँ तो राजा की डोली क्यों उठाऊँ। अरे, आ गया तो डोली भी उठा ली। राजा ने जब प्रश्न किया तो प्रश्न का जवाब भी ब्रह्मज्ञान से दे दिया। इस प्रकार दोनों छोर खुले रखे अर्थात् नकारात्मक भाव नहीं उठे कि अब राजा ने डोली उठाने के लिए लगा दिया तो केवल गुलाम की तरह ही व्यवहार करें।

सच कहूँ तो यही बात मैं भी कह रहा हूँ। मान लें कि ये ट्रस्टी अपने को भ्रष्ट बना रहे हैं। कुछ समय के लिए सहन करना पड़े तो जड़भरत की भाँति सहन करें परन्तु जड़भरत की तरह कुछ तो सिद्धान्त समझाएँ ट्रस्टियों को कि यार, यह क्या दुकानदारी है? तुम हमारी डोली पर हमें ही कहार बना रहे हो, समझें तो सही कि श्रीमहाप्रभुजी का सिद्धान्त क्या है या डोली ही ढोते रहना है!

अत: थोड़ा जड़भरत का धैर्य आचरण में लाएं तो आज भी हमारे पास उपाय हैं लेकिन हम समझते हैं कि अब तो ट्रस्ट बन गया है, सरकार ने बना दिया है, ट्रस्टी आ गया है तो चलो, जड़भरत की भाँति ट्रस्टी की पालकी उठाकर आगे चलें। हम सच्चे गुसांई नहीं तो बैल तो सच्चे हैं ही, क्योंकि ''त्रिदु:खसहनं धैर्यं।'' स्वार्थ के लिए धैर्य है, अन्य बातों में धैर्य नहीं है तो यह धैर्य कतई नहीं है, एक प्रकार की अव्यवस्था है।

इसलिए कुछ तो किसी प्रकार से सिद्धान्त कहना शुरू करें। आप डोली उठा रहे हैं तो उठाते रहें, जड़भरत ने भी डोली उठाई परन्तु राजा ने जब पूछा कि क्या तुम खाते नहीं या भूखे मरते हो, चक्कर क्या है? डोली ठीक से क्यों नहीं उठा रहे तो जड़भरत में यह तो खुमार था कि ऊपर बैठनेवाले को भी यह कह सके कि खानेवाला तो देह है, मैं तो खाता ही नहीं। ऐसे कम से कम इतना तो कह दें कि आपके यहाँ बैल, महाराज बना है। महाराज, बैल नहीं बना। ट्रस्टी को इतना तो कह दें। ऐसा करने से थोड़ा तो उसको स्फुरित होगा कि वह क्या कर रहा है आपके साथ!

हम विचार ही नहीं करते कि यह क्या है? मेरे काकाजी कह गए थे, इन प.भ. के हाथ सौंप गए थे तो छुटकारा कैसे मिले? सच में ही मुसीबत हो गई है - काकाजी सोचे-समझे बिना किसी ट्रस्टी को नियुक्त कर गए। काकाजी कितने बुद्धिमान कि ट्रस्टी स्कीम में यह लिख गए कि मेरे मरने के पश्चात् ट्रस्टी यदि उचित समझे तो वह मेरे बालकों को मेरा उत्तराधिकारी बना सकेंगे। बालक वहाँ गए कि भाई, अब काकाजी तो लीला में पधारे, हमें उत्तराधिकारी बना दें।

ट्रस्टी ने कहा कि मैं उचित समझूँगा तो उत्तराधिकारी बनाऊँगा। काकाजी ने कहाँ लिखा है कि बनाना ही पड़ेगा? काकाजी भी ऐसे और बेटे भी ऐसे ही, हमारी यह दुर्गति हो रही है। निकाल दिया। काकाजी ने कोई विचार ही नहीं किया कि भाई, ऐसा करार बेटों के लिए किसलिए करना चाहिए कि मेरे मरने के बाद ट्रस्टियों को उचित लगे तो मेरे बेटों को उत्तराधिकारी बना सकेंगे। बेटे दावा करने गए, उनको हटा दिया कि इसमें कहाँ लिखा है कि बनाना ही पड़ेगा। भटकते रहो ऐसी स्थिति में। हम कुछ विचार ही नहीं करते, कुछ समझते ही नहीं। किसी भी ट्रस्टी की वसीयत देख लें, कोई ट्रस्टी अपनी वसीयत ऐसी नहीं बनाता कि मेरे मरने के बाद अन्य निदेशक आदि उच्च

अधिकारियों को उचित लगे तो मेरे बेटे को मेरी फैक्ट्री का निदेशक बनाएँ। वह एकदम होशियारीपूर्वक तय करके जाएगा कि कितने शेयर मेरे हैं और कितने शेयर का अधिकार मेरे बेटे को मिलेगा।

कोई भी ट्रस्टी इस प्रकार की पूरी चतुराई के साथ वसीयत करके जाएगा। महाराज को बस फँसा देते हैं। सारी बदमाशी चल रही है और हम धीरज का बहाना करके उनको सहन कर रहे हैं। यह धीरज नहीं है, हममें एक प्रकार की स्वार्थपरता और एक प्रकार की क्षुद्रता पनप गई है जिसे हम धैर्य का झूठा रूप दे रहे हैं। सिद्धान्त को समझें तो ऐसा कभी नहीं हो सकता।

चौथा उपाय - गोपभार्यवत् ''अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्य-भावनात्'' - आपमें किसी प्रकार का धैर्य दिखाने का शौर्य है ही नहीं तो कोई बात नहीं। शौर्य नहीं लेकिन रोना तो आता है? रोएँ तो सही कि मेरी ऐसी परिस्थिति हो गई, ऐसा हो गया है।

मुझे एक व्यक्ति ने ऐसा समझाया कि जब यह ट्रस्ट आरंभ हुआ तब आप तो छोटे थे। मैं समझदार था। ट्रस्ट प्रारम्भ हुआ तब सरकार के पास हमारे लिए कोई उपाय न था। मैंने उस समय यह बात कही थी। मैं छोटा था या आप छोटे थे, प्रश्न यह नहीं है, प्रश्न यह है कि जब ट्रस्ट प्रारंभ हुआ और हम छुड़ा नहीं सकते हों - जैसे आपके बहूजी को कोई गुंडा ले जाता हो और आप गुंडे से उनको छुड़ा न सकते हों तो यार, रोएंगे तो सही न! छाती कूट कर रुदन तो करें कि भाई, मेरी पत्नी को गुंडा ले जा रहा है। मैं कमजोर हूँ इसलिए अपनी पत्नी को छुड़ा नहीं सकता। अथवा हम ऐसा कहेंगे कि तब तो मैं छोटा था, गुंडा आया और पकड़ कर ले गया। सुनो भाई, कर्म की गति न्यारी है, मेरी पत्नी को गुंडा ले गया। ऊपर से खुश हो रहे हैं, अरे धिक्कार है तुम्हें! ऐसा कैसा धैर्य है, इसका नाम धैर्य नहीं है। कम से कम रोएँ तो सही, इसका नाम धैर्य है।

रोएँ तो सही - ''**ब्रज के बिरही लोग दुःखारे।**
बिनु गोपाल ठगे से ठाड़े, अति दुर्बल तन कारे।
चहुँ दिसि कान्ह-कान्ह कहि टेरत, अंखियन बहत पनारे।''

कह रहे है कि श्रीठाकुरजी पधार गए द्वारका, उनको छीन-झपट कर वापस ब्रज में लाने की उनमें कोई सामर्थ्य नहीं, तो कम से कम रो तो रहे हैं। हम शूरवीर नहीं कि श्रीठाकुरजी को वहाँ से छुड़ा कर ला सकें परन्तु कम से कम असामर्थ्य की भावना तो कर सकते हैं। दूसरा उपाय क्या है? क्या असामर्थ्य की भावना करने के बजाय संतोष की भावना करें कि अच्छा हुआ जो श्रीठाकुरजी को अक्रूरजी ले गए, अब इसमें हम क्या कर सकते हैं? कुछ नहीं कर सकते तो क्या उनके लिए रोएं भी नहीं? रोए तो थे और इतना रोए कि बेचारे उद्धवजी घबरा गए।

रत्नाकर ने बहुत सुन्दर कहा है - ''**यह वह सिंधु नाहिं सोखि जो अगस्त लियौ, ऊधौ यह गोपिनि के प्रेम कौ प्रवाह है**'' - अगस्त्य ने उसे पी लिया। आपने अगस्त्य की भाँति गोपियों के प्रेम के समुद्र को पी लिया। अगस्त्य समुद्र को पी सकते होंगे पर हमारे आँसुओं के प्रवाह को, कृष्ण के विरह में बहते आँसुओं के प्रवाह को किसी अगस्त्य का बाप भी नहीं पी सकता। इतना बड़ा प्रवाह है -''यह वह सिंधु नाहिं.... गोपिनि के प्रेम कौ प्रवाह है।''

कम से कम आँसुओं की भावना का इतना तो रहस्य समझें। हमारा ठाकुर हमारे हाथ से छिन जाए और तुम दुष्टों को अपने क्षुद्र स्वार्थ के लिए रोना भी न आए! यह किस प्रकार की दुर्गति है। पुष्टिमार्ग में यह धैर्य नहीं अपितु धैर्य का आडम्बर है। इस बात को ठीक से समझना पड़ेगा।

इसके पश्चात् श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि यह भी तुमसे सम्भव न हो तो कम से कम आश्रय की भावना तो यार दृढ़ रखें। ''अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वम्

आश्रयतो भवेत्'' – आपसे यह धैर्य भी सम्भव नहीं, विवेक भी सम्भव नहीं तो एक अन्य उपाय बता रहा हूँ। नवरत्न में जो पद्धति थी, एकदम वही पद्धति यहाँ वापस आ रही है। जो उपाय बताया वह आपसे सम्भव नहीं है तो कोई आपत्ति नहीं। आश्रय तो हर समय सम्भव है, सदा किया जा सकता है। भगवदाश्रय का भाव दृढ़ रखेंगे तो आपकी सभी समस्याओं का समाधान हो जाएगा।'' अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वम् आश्रयतो भवेत्, एतत् सहनम् अत्रोक्तम्''– यह मैंने आपको धैर्य की बात समझाई।

(आश्रयस्वरूपं लक्षणम्) – आश्रय का स्वरूपलक्षण।

(सर्वास्वप्यवस्थासु भगवदाश्रयस्य अनुष्ठेयत्वम्) – आगे कहे जानेवाले हेतुओं की अवस्था में अथवा किसी भी अवस्था में भगवदाश्रय को सहेजना ही है।

.....आश्रयोऽतो निरूप्यते।।9।।
ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः।।
दुःख-हानौ [1] तथा पापे [2] भये [3] कामाद्यपूरणे [4] ।।10।।
भक्तद्रोहे [5] भक्त्यभावे [6] भक्तैश्चातिक्रमे कृते [7] ।
अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः।।11।।
अहङ्कारकृते [8] चैव पोष्य-पोषण-रक्षणे [9] ।
पोष्यातिक्रमणे [10] चैव तथाऽन्तेवास्यतिक्रमे [11] ।।12।।
अलौकिकमनः सिद्धौ [12] सर्वथा शरणं हरिः।

अन्वयार्थ :

अतः = इसलिए अब, **आश्रयः** = आश्रय का
निरूप्यते = निरूपण करते हैं
ऐहिके = इस लोक में

पारलोके = परलोक में, **च** = और
दुःखहानौ = दुःख की हानि में
तथा = और
पापे = पाप में, **भये** = भय में
कामाद्यपूरणे = कामनाओं की पूर्ति नहीं होने में
भक्तद्रोहे = भक्त के द्रोह /अपमान में
भक्त्यभावे = भक्ति के न होने में
च = और, **भक्तैः** = भक्त द्वारा
अतिक्रमे = अतिक्रमण
कृते = करने पर, **वा** = अथवा
अशक्ये = असम्भव, **वा** = अथवा
सुशक्ये = सहजता से सम्भव
सर्वथा = सब प्रकार से
हरिः = श्रीकृष्ण, **शरणम्** = शरण हैं
अहङ्कारकृते = अहंकार करने पर
च = और, **एव** = निश्चितरूप से
पोष्यपोषणरक्षणे = अपने पर निर्भर रहनेवाले के पोषण में
च = और, **एव** = निश्चितरूप से
पोष्यातिक्रमणे = पोष्य के द्वारा होनेवाले अतिक्रमण में
तथा = और, **अन्तेवास्यतिक्रमे** = शिष्य के द्वारा होनेवाले अतिक्रमण में
अलौकिकमनःसिद्धौ = मन की अलौकिकता की सिद्धि के लिए
सर्वार्थे = सब अर्थ में
हरिः = श्रीकृष्ण
शरणं = शरण हैं

भावार्थ : अब आश्रय का निरूपण करते हैं।

इस लोक और परलोक में, सब स्थानों पर हरि शरण हैं। दु:ख की हानि, पाप के निवारण में, भय में, काम के अर्थ की पूर्ति में, भक्त हमारा द्रोह करे अथवा हमसे भक्त का द्रोह हो जाए उसमें, भक्ति के अभाव में, भक्त के अतिक्रमण में, असम्भाव्यता और सुसम्भाव्यता में सर्वथा हरि ही शरण हैं।

जीव स्वभाव से किसी के समक्ष अहंकार करने में, पोषण करने के योग्य का पोषण और रक्षण करने में, स्त्री आदि पोष्य के द्वारा होनेवाले अतिक्रमण में और मन के अलौकिक सिद्ध होने में – ऐसे सभी अर्थ में हरि ही शरण हैं।

व्याख्या :

''आश्रयोऽतो निरूप्यते'' – अब आश्रय का स्वरूप समझा रहा हूँ। ''ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरि:'' – चाहे कोई ऐहिक बात हो, चाहे पारलौकिक बात हो, केवल हरि और हरि ही हमारे शरण हैं। शरण का तात्पर्य, रक्षक हैं। 'रक्षक' अर्थात् हमें सहारा ना हो तो वह सहारा, वह रक्षक हमारे लिए केवल हरि ही हैं। आश्रय का यह स्वरूप यहाँ बहुत बड़ा आदर्श है जिसका आचरण करना पुन: कठिन हो जाता है। उसकी व्यावहारिक पद्धति क्या है? इस आश्रय का जीवन में आचरण कैसे करना, उसकी पद्धति समझेंगे नहीं या उसके सोपान के उपाय हम नहीं समझेंगे तो उसका आचरण बहुत कठिन लगता है। श्रीमहाप्रभुजी इस बात को समझाने से पहले आश्रय जहाँ-जहाँ उपयोगी है उन अवस्थाओं का आकलन कर रहे हैं। उनकी सूची बहुत लम्बी है।

श्रीमहाप्रभुजी जीव का कितना हित विचार रहे हैं और पुष्टिजीव के प्रति श्रीमहाप्रभुजी को कितनी सहानुभूति है, वह इस ग्रन्थ को पूरा न देख कर

केवल 10, 11, 12 ये 3 श्लोक देख लें तो श्रीमहाप्रभुजी के पुष्टिजीव के प्रति भाव हमें समझ में आ सकते हैं। यह समझ लें कि नवलखा हार है जो श्रीमहाप्रभुजी हमें पहनाना चाह रहे हैं। पुष्टिजीव से कुछ भी ना हो सके तब किन-किन परिस्थितियों में हमें आश्रय ग्रहण करना चाहिए?

''दु:ख हानौ'' – यदि कोई दु:ख आपको सता रहा है तो भगवदाश्रय की भावना करें। ''तथा पापे'' – अधिक से अधिक आप क्या बदमाशी करेंगे कि कुछ पाप करेंगे। पाप हो गया तो हो गया लेकिन ऐसी स्थिति में पुन: भगवदाश्रय की भावना से विचार करें। पुण्य नहीं हो सकता, पाप प्रत्येक मनुष्य से होता है परन्तु आप पुन: भगवदाश्रय का भाव दृढ़ करें। ''भये'' – आप बहुत डर रहे हैं कि अब क्या कर सकते हैं। ऐसी परिस्थिति आ गई। कानून बदल गया, कलियुग आ गया, ऐसा हो गया, वैसा हो गया तो चिंता की कोई बात नहीं। डर रहे हैं तो डरते रहें लेकिन थोड़ा आश्रय का भाव तो दृढ़ करें। ''कामाद्यपूरणे'' – आपको मनोरथी नहीं मिल रहा है, प.भ. कोई नहीं मिल रहा है जो आपके लिये छप्पनभोग कराए तो भगवदाश्रय करें यार, धनिक बनियों का आश्रय किसलिए कर रहे हैं?

''भक्तद्रोहे'' – आपसे भक्त का कोई अपराध हो गया, ''भक्त्यभावे'' आपमें भक्ति न हो, ''भक्तेश्चातिक्रमे कृते'' – किसी भक्त ने आपका अपमान कर दिया। इन सभी परिस्थितियों में ऐसा विचार ना करें कि भक्त ने मेरा अपमान कर दिया, वह पाखण्डी होगा। आपका अपमान कर दिया तो पाखण्डी होगा, ऐसा मानना आवश्यक नहीं है क्योंकि वह भक्त भी हो सकता है। कुछ न कुछ कारण होगा। आप यह चिन्ता न करें कि उसने आपका अपमान कर दिया, आप यह चिन्ता करें कि मैं अपना भगवदाश्रय ऐसा दृढ़ करूँ कि अगली बार मेरा कोई अपमान कर ही ना सके। मुझे परवाह नहीं रहे कि मेरा किसी ने अपमान कर दिया है। भगवदाश्रय दृढ़ न होने से ये सभी बातें

तकलीफें दे रही हैं – श्रीमहाप्रभुजी के कहने का आशय यह है।

''अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः'' – कोई काम आपके लिए सम्भव हो अथवा असम्भव हो, हरि को सर्वथा शरण मानें। यदि आप किसी प्रकार के व्यवहार में प्रभु के सामने, भक्त के सामने, परिवार के सामने अहंकारपूर्वक पेश आ रहे हैं तो पुनः अपने भाव को मांज लें, स्पष्ट करें। अहंकार अच्छी बात नहीं है। उससे भी अच्छी बात तो यह है कि अहंकार हो गया तो हो गया परन्तु फिर से स्वयं ''श्रीकृष्णः शरणं मम'', ''कृष्णएव गतिर्मम'' के भाव से अपने कृष्णाश्रय को दृढ़ करें। जब कृष्ण के आश्रय की भावना को आप सुदृढ़ करेंगे तो आपका अहंकार अपने तरीके से धीरे-धीरे स्वयं विरल हो जाएगा।

''अहंकारकृते चैव पोष्य-पोषण-रक्षणे'' आप किसी का पालन कर रहे हैं और वे आपके सामने बदमाशी करें – ''पोष्यातिक्रमणे चैव'' अथवा आप किसी का पालन कर रहे हैं उसमें, अथवा कोई पोष्य आपका अतिक्रमण कर रहा है अथवा ''तथान्तेवास्यतिक्रमे'' अर्थात् कई वैष्णव भ्रष्टट्रस्टी होने की इच्छा रख रहे हैं, 'अंतेवासी' अर्थात् शिष्य जब आपका अतिक्रमण करना चाह रहे हैं तो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और सबसे आवश्यक बात यह है कि भगवदाश्रय को आप दृढ़ करें। आप सभी तकलीफों पर नियंत्रण पा सकेंगे।

''अलौकिक-मनः सिद्धौ'' – आप कहेंगे कि हमारे मन में इस प्रकार का अलौकिक भाव जाग्रत नहीं हो रहा, जो भक्ति करने की योग्यता है, जो भगवान पर विश्वास करने की योग्यता है, जो भगवन्निष्ठा को बढ़ाने और निभाने की योग्यता है, उसके योग्य हमारा मन ही नहीं हो रहा। ऐसी स्थिति में श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि चिन्ता की कोई बात नहीं है – ''अलौकिक-मनः सिद्धौ सर्वथा शरणं हरिः'' अर्थात् भगवान के शरण की भावना करें।

भगवदाश्रय की भावना से आपकी सभी तकलीफें दूर हो सकती हैं। ''अलौकिक-मनः सिद्धौ'' का एक अर्थ मानसी सेवा अर्थात् ''चेतस्तत्प्रवणं सेवा'' भी हो सकता है। ये सब तो उसके आंतरभाव में आनेवाले अर्थ हैं। चेतस्तत्प्रवणं होगा तो हमारा मन अन्य बातों से विचलित न हो कर अलौकिक मन भी हो सकता है। प्रत्येक बात को स्पष्ट रखें। ''सर्वथा शरणं हरिः'' इन सभी स्थितियों और संभावनाओं में हमें भगवदाश्रय दृढ़ करना है।

इसके बाद क्रमिक उपाय बता रहे हैं। आश्रय को जीवन में अमल में लाना किस प्रकार शुरू करें? **(भगवदाश्रयसिद्धयै क्रमिकोपाय[1-4] चतुष्टयम्)** – भगवदाश्रय की सिद्धियों के लिए क्रमिक चार उपाय।

एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत्[1] ।।13।।
अन्यस्य भजनं तत्र स्वतोगमनमेव च।
प्रार्थना कार्यमात्रेऽपि ततोऽन्यत्र विवर्जयेत्[2] ।।14।।
अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः।
ब्रह्मास्त्र-चातकौ भाव्यौ प्राप्तं सेवेत निर्ममः।।15।।
यथाकथञ्चित् कार्याणि कुर्याद् उच्चावचान्यपि।
किंवा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद् हरिम्।।16।।

अन्वयार्थ :

एवं = इस प्रकार
सदा = निरन्तर
चित्ते = चित्त में
भाव्यं = भावना करना
च = और, **वाचा** = वाणी से
परिकीर्तयेत् = भलीभाँति बोलना

अन्यस्य = और किसी की
भजनं = सेवा, **तत्र** = वहां
स्वतः = स्वयं चलाकर
एव = ही, **गमनं** = जाना
च = और, **कार्यमात्रे** = कार्यमात्र में
अपि = भी, **ततः** = इसलिए
अन्यत्र = अन्यत्र, **प्रार्थना** = प्रार्थना
विवर्जयेत् = विशेषरूप से त्यागना चाहिए
अविश्वासः = अविश्वास
तु = तो, **न** = नहीं
कर्तव्यः = करणीय
सः = वह, **सर्वथा** = सब प्रकार से
बाधकः = बाधक (भवति = होता है)
ब्रह्मास्त्र-चातकौ = ब्रह्मास्त्र और चातक की
भाव्यौ = भावना करना चाहिए
निर्ममः = ममतारहित
प्राप्तं = प्राप्त हुए का
सेवेत = भोग करे
उच्चावचानि = श्रेष्ठ और अश्रेष्ठ
कार्याणि = कार्य, **अपि** = भी
यथाकथञ्चित् = जैसे बन पड़े वैसे
कुर्यात् = करे, **वा** = और
बहुना = बहुत
प्रोक्तेन = कहने से
किम् = क्या, **हरिं** = श्रीकृष्ण की

शरणं = शरण, **भावयेत्** = विचार करे

भावार्थ : चित्त में उक्त (अर्धाली में) भावना सदैव किया करें और वाणी से ऐसा कहा करें।

अन्य देव का भजन तथा अन्य देव के सन्निधान में चलाकर जाने और प्रार्थना के कार्यमात्र में अपने स्वामी हरि के अतिरिक्त अन्य देवता के पास जाने का त्याग करना चाहिए।

अविश्वास नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह सर्वथा बाधक है। अतः अविश्वास में ब्रह्मास्त्र की और विश्वास में चातक की भावना रखनी चाहिए तथा जो प्राप्त हो उसमें ममतारहित होकर प्रभु सेवा करें।

श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ कार्य भी जैसे बन पड़ें वैसे करने चाहिए। विशेष कहने से क्या फल सिद्ध होगा? हरि ही शरण हैं, ऐसी भावना करनी चाहिए।

व्याख्या :

सबसे पहला उपाय है ''एवं चित्ते सदा भाव्यं'' - कथम् चित्ते सदा भाव्यं? कहते हैं कि ''ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः'' - स्वयं को आत्म-बोध (Auto Suggestion) दें। आजकल Auto Suggestion बहुत प्रचलित शब्द हो गया है लेकिन कई लोगों को ज्ञात नहीं है कि इसका अर्थ अपने मन को समझाना है। इसलिए यदि मन में तकलीफ हो रही है तो, जैसे-जैसे मन में तकलीफ हो रही है वैसे-वैसे अपने मन को इस प्रकार समझाएँ कि इन उभरती हुई तकलीफों में भी हर समय हरि मेरे रक्षक हैं। ''कृष्णएव गतिर्मम्'' - चित्त में ऐसी भावना करें। इतना ही नहीं, ''वाचा च परिकीर्तयेत्'' - चित्त को आधार देने के लिए वाणी भी ऐसी बोलें कि हरि मेरे रक्षक हैं।

जैसे मुस्लिम लोगों में एक सुन्दर रिवाज है कि कभी भी किसी को वचन देते हैं तो वे कहते हैं – 'इन्शाअल्लाह' – अर्थात् मैं आपको वचन दे रहा हूँ कि ऐसा करेंगे लेकिन अल्लाह ने इच्छा की तो वचन पूरा होगा। अत: उनमें वचन पूरा करने का अहंकार न आ कर अल्लाह की इच्छा से वचन पूरा होने पर बात आ रही है। यह 'इन्शाअल्लाह' वाला सिद्धान्त यहाँ भी काम कर रहा है।

''एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत्'' – प्रत्येक स्थिति में भगवान मेरे रक्षक हैं, ऐसा बोलें। एक बात समझें कि हम कहेंगे कि बोलने से तो पाखंड हो सकता है। पाखंड नहीं होता, बोलते रहेंगे–बोलते रहेंगे तो मन को प्रबोधन मिलता रहेगा। आप प्रबोधन दे रहे हैं, इस कारण से आपको बोलने में थोड़ा विश्वास आएगा। इस प्रकार मन और वाणी दोनों एक दूसरे के पूरक होकर जब आश्रय की भावना में थोड़ा स्थिर होंगे तो आपके जीवन के व्यवहार में भी धीरे–धीरे वे स्थिर होना शुरू कर देंगे।

कायिक, वाचिक और मानसिक की दृष्टि से जब आपने वाचिक और मानसिक से थोड़ा आश्रय के प्रकार का साधन शुरू किया तो फिर धीरे–धीरे वह काया में उतरने लगेगा। प्रत्येक बात इसी प्रकार होती है। समझें कि जब हम टाइपराइटिंग सीखते हैं तो पहले हम क्या करते हैं? सबसे पहली आवश्यकता है कि टाइपराइटिंग मुझे आएगी ही, क्यों नहीं आएगी? यदि हमारे मन में यह आ गया कि ओ हो हो....कुंजी–पटल (की–बोर्ड) इतना बड़ा और अंगुलियाँ तो केवल आठ–दस, कुंजी–पटल पर तो सत्ताइस–अट्ठाइस चिह्न हैं तो अंगुलियाँ कैसे चलेंगी? इस प्रकार नकारात्मक सोचना शुरू किया तो चलती हुई अंगुलियाँ भी नहीं चल पाएंगी। अत: आप मन को थोड़ा समझाएँ कि भाई, अभी नहीं चल रही लेकिन थोड़ा अभ्यास करेंगे तो चलने लगेंगी। जिस समय हमने मन को ऐसा समझाना शुरू कर दिया कि चलने लगेंगी और यह भी कि मैं टाइपराइटिंग क्यों नहीं सीख सकता, सीखूँगा ही, ऐसा आपने

अपने मन में स्वीकार करना शुरू किया तो धीरे–धीरे अंगुलियाँ चलना शुरू हो जाएँगी। टाइपराइटिंग सीखने जैसी चीज इतनी सी बात से आ रही है। गाड़ी चलाना, धंधा करना आदि सभी बातों में यही इन्द्रियग्राह्यता, यही विचारसरणी काम करती है।

अध्ययन करने में, परीक्षा देने में, अरे! अपनी स्त्री से, पुरुष से सम्बन्ध निभाने में भी थोड़ा बहुत यही विचारसरणी काम में लाएँ। देखें कि सम्बन्ध सुधरते हैं या नहीं? झगड़ा हो जाने पर भी थोड़ा अपने आप को निर्देश देना शुरू करें कि भाई, मैं उसे विवाह करके लाया हूँ या मैं इसकी विवाहिता हूँ, इसके साथ मेरा सम्बन्ध मधुर हो सकता है, क्यों नहीं हो सकता? स्वयं के साथ इस प्रकार संवाद करें और थोड़ा सामनेवाले पक्ष से भी यह बात करें कि हम ठीक प्रकार से एक साथ क्यों नहीं रह सकते? ऐसा करने से धीरे–धीरे यह योग्यता आपके व्यवहार में, आपके विचार में, आपकी भावना में खिलने लगेगी।

इस प्रकार आश्रय की कायिक, वाचिक भावना करने की प्रक्रिया बता रहे हैं। ''एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत्'' – वाणी से ऐसा परिकीर्तन करें और मन से ऐसी भावना करें। यह क्या है? वाचिक और मानसिक भावना को एक–दूसरे के आधार पर जोड़ने की एक प्रक्रिया है। किसी भी साधना में जब ये दोनों जुड़ गए, एक–दूसरे के आलम्बन हो गए तो धीरे से स्वत: ही उनमें से कायिकव्यापार निखरकर सामने आने लगेंगे – यह बात स्पष्ट कर रहे हैं।

दूसरा उपाय बता रहे हैं कि जब आपने इतनी शुरुआत की जो एक बहुत छोटी शुरुआत है – ''ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरि:'' – इस बात में श्रद्धा रखना बहुत आसान है परन्तु इस बात पर विश्वास रखना बहुत कठिन है, इस बात पर निष्ठा रखना अतिशय कठिन है। फिर भी ''एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत्'' – अपने चित्त को अपनी वाणी से इस प्रकार

समझाते रहना चाहिए।

ऐसा पद गाते रहें कि "**कियो सब हरि को ही होय**" (यहाँ सब हरि का किया ही होता है।) थोड़ा आपके दिल में साहस बढ़ जाएगा। भगवदीयों ने ऐसे पद लिखे हैं - जैसे कि - "जीव तू शीदने चिंता करे, कृष्णने करवुं होय ते करे, स्थावर जंगम जड चेतनमां कोनु बल भरे।" अत: इस प्रकार के पद गुनगुनाना शुरू करें। दूसरे वाहियात गीत गाने के बजाय ऐसे गीत गाना शुरू करें।

इस गायन की प्रक्रिया में चित्त पर "सर्वथा शरणं हरि:" का रंग चढ़ने से जो गायन आप कर रहे हैं वह केवल गायन न रह कर धीरे-धीरे आपकी आदत बन जाएगा और धीरे-धीरे मन और वाणी ने एक-दूसरे को साध लिया तो समय आने पर व्यवहार में प्रकट होना शुरू हो जाएगा। जिस समय व्यवहार में प्रकट होना शुरू हुआ उस समय आपको एक प्रकार की सावधानी रखनी पड़ेगी। क्योंकि एक तरफ आप कह रहे हैं कि हरि ही मेरा आश्रय है और दूसरी तरफ आप उसे बढ़ाने की सहायक प्रवृत्ति भी करेंगे तो समस्या हो जाएगी। इसलिए श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि बढ़ाने की सहायक प्रवृत्ति को फिलहाल रोक दें।

"अन्यस्य भजनं तत्र स्वतोगमनमेव च, प्रार्थना कार्यमात्रेऽपि तथान्यत्र विवर्जयेत्" - हरि के अतिरिक्त किसी अन्य का भजन, किसी अन्य देव के यहाँ स्वत: जाना आश्रय के विरुद्ध है। पहुँच जाने में कोई अस्पृश्यता नहीं - हम वहाँ पहुँच गए तो किसी को आदर देने में कोई अस्पृश्यता की बात नहीं है। स्वयं के विवाह प्रसंग में महाराज गणपति को पूजते हैं, सभी लोग पूजते हैं जो शास्त्र की दृष्टि से हमारा नित्य कर्तव्य है, यह पूजन अन्याश्रय नहीं है परन्तु अपना सिद्धान्त स्थापित कर हम किसी अन्य देव को पूजना चाह रहे हैं, हम किसी अन्य देव के दर्शन करने जा रहे हैं, हम हरि को प्रार्थना न करके कभी

श्रीयमुनाजी को, कभी श्रीगिरिराजजी को, कभी किसी और देव को, कभी किसी को और कभी किसी को खड़ा कर रहे हैं तो उस झमेले को बंद करें क्योंकि यह आश्रय को तोड़ने की प्रक्रिया है।

हमारे कॉलेज में एक लड़का पढ़ता था। वह गुजरात से था। वह हर समय गाली देता कि गुजराती मणीबेन जैसी लड़कियाँ बहुत बेवकूफ होती हैं, क्योंकि पिकनिक पर नहीं चलतीं, साथ में आती हैं तो हमारे साथ नाचती नहीं हैं। सभी मणीबेन को गाली देता रहता था। मुझे बहुत अस्वस्थता हो गई कि वह मणीबेन से द्वेष करनेवाला है। वह खुद मणीभाई था। जब उसका विवाह हुआ तो मैंने ऐसे ही मजाक में पूछ लिया कि कौन है, क्या ईसाई है या मुसलमान है, कौन है? तो कहने लगा कि ना...ना... यह तो गुजराती लड़की है। अब बताएँ, कॉलेज की पिकनिक के लिए तो ऐसी गुजराती मणीबेन अच्छी नहीं थी और घर में मणीबेन ही अच्छी! मैंने कहा यार, दोनों तरफ ठगाई कर रहा है।

जब पिकनिक में मणीबेन अच्छी नहीं तो फिर घर में उसी को लाए जो पिकनिक के लिए अच्छी लग रही है, जिसके साथ पिकनिक का आनन्द मनाना अच्छा लग रहा है। पिकनिक में जो मणीबेन चुभ रही है वही मणीबेन घर में चाहिए ही जबकि वहाँ तुम्हें नहीं चाहिए, क्योंकि उसे लाओगे तो तुम्हें तो आदत है पिकनिक में एक-दूसरे के साथ नाचने की। तब तुम्हारे पेट का पानी हिलेगा कि अब मेरा क्या होगा? प्रश्न यही है कि वह मणीबेन वहाँ अच्छी नहीं लग रही तो यहाँ कैसे अच्छी लग रही है। मनुष्य इस प्रकार के दोहरे मानदंड पैदा कर लेता है। मणीभाई ऐसी मणीबेन के विषय में दोहरी प्रवृत्ति अपना रहा है तो मणीबेन भी ऐसा ही करती हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यह मणीबेन और मणीभाई का चक्कर ही ऐसा है कि हम ऐसे दोहरे मानदंड पैदा करते हैं कि पिकनिक पर एक अच्छी लगती है और घर में दूसरी अच्छी लगती है।

इसी प्रकार भक्ति के लिए एक देव पसन्द हो और अपनी आकांक्षाएँ पूरी करने के लिए दूसरा देव अच्छा लगे तो हमारा आश्रयभाव खंडित हो जाएगा। ''प्रार्थना कार्यमात्रेऽपि तथान्यत्र विवर्जयेत्'' - आश्रयभाव कभी निभेगा ही नहीं। ''अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः'' आप अन्य देव को प्रार्थना करने का भाव किसलिए प्रकट कर रहे हैं? पहले भी हमने यह बता दिया कि कहीं न कहीं आप अपने प्रभु पर अविश्वास कर रहे हैं।

बर्ट्रेन्ड रसेल को याद करें कि आपको कहीं न कहीं लग रहा है उसकी व्यवस्था में और उसकी समझ में खामी है जिसे वह आपके प्रार्थना करने से सुधार लेगा अथवा नहीं सुधारेगा तो उसकी व्यवस्था की खामी को दूसरे देवता सुधार लेंगे। ओ... हो... हो.... जब उसकी व्यवस्था की खामी को दूसरे देवता सुधार लेंगे तो यार , उन देवताओं को क्यों नहीं भजते? इसको किसलिए भजते हैं? यदि दूसरे देवता के द्वारा इसकी व्यवस्था की गड़बड़ी को आप सुधार रहे हैं तो फिर उस देवता को भजें। फिर इस मणीबेन को छोड़ें और उसके साथ सम्बन्ध रखना शुरू करें, बस आनन्द ही आनन्द है, कोई चिन्ता की बात नहीं। परन्तु वहाँ भी वापस वही है कि वह भी पसन्द नहीं आता बल्कि वह मणीबेन ही पसन्द आ जाती है, घर में रहना है तो। यह एक बड़ी समस्या है।

श्रीमहाप्रभुजी दोनों तरफ से कैद करना चाह रहे हैं कि यार, ऐसे भागने नहीं दूँगा, पुष्टिमार्ग में आया है तो 'जाने दो न' की तर्ज पर जाने नहीं दूँगा। यदि तू पुष्टिमार्ग में आया है तो नहीं जाने दूँगा, पकड़ कर रखूँगा। जा कहाँ रहा है? अनन्याश्रय की सबसे महत्त्वपूर्ण बात अब आ रही है कि अविश्वास न करें। इस अविश्वास न करें से क्या अभिप्राय है? जब हनुमानजी को बांधा था तब बांधते समय रावण के पुत्र को ऐसा लगा कि जिसने इतने वृक्ष तोड़ डाले, जिसने इतने राक्षसों को मार डाला, वह कहीं ब्रह्मास्त्र को न तोड़ दे!

हनुमानजी ने विचार किया कि ब्रह्मास्त्र को तोड़ूँगा तो ब्रह्माजी का अपमान हो जाएगा। लोग कहेंगे कि इसे रामभक्ति का अहंकार हो गया है। वे बेचारे रामभक्ति करना चाह रहे हैं, अहंकार नहीं करना चाह रहे लेकिन लोगों को लगेगा कि देखो अहंकारी रामभक्त है जिसने ब्रह्मास्त्र को तोड़ दिया। इसलिए उन्होंने कहा कि चलो भाई, बांध रहे हैं तो बंध जाते हैं। ब्रह्माजी का अपमान होता हो तो बंध जाना ही अच्छा है, अब क्या करना है? अब जिस समय हनुमानजी ने यह देखा कि बांधनेवाले ने ब्रह्मास्त्र से बांधने के बाद एक जंजीर और बांध दी है। हनुमान जी ने विचार किया कि अब मैं स्वतंत्र हूँ। तुम्हें अपने संधान किए गए ब्रह्मास्त्र पर विश्वास नहीं है तो मुझे किसलिए विश्वास करना चाहिए। ब्रह्माजी के ब्रह्मास्त्र का अपमान पहले उसने किया इसलिए हनुमानजी ने दोनों तोड़ दिए।

यही बात श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं - ''ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यौ।'' चातक के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध ही है कि वह स्वाति नक्षत्र का जल पीता है। ''प्राप्तं सेवेत निर्ममः'' - जो कुछ प्राप्त है उसे छोड़ने का आग्रह न रखें। अप्राप्त को प्राप्त करने का लालच न रखें। जो प्राप्त हुआ है उसके सेवन का आग्रह रखें। भागवत में इसे भलीभाँति समझाया गया है कि जो कुछ भी दुनिया की समृद्धि है, जो कुछ भी दुनिया का सुख है, जो कुछ भी दुनिया में धन-धान्य है, जो कुछ भी दुनिया की कीर्ति है वह कभी केवल एक व्यक्ति को नहीं प्राप्त होती। जब एक व्यक्ति को नहीं प्राप्त होती तो जो आपको प्राप्त है उसमें आनन्द मानें। दूसरे की थाली में क्या परोसा है, उसके स्वाद में दुःखी होने के स्थान पर आपकी थाली में क्या परोसा है उसका स्वाद लेने की कोशिश करेंगे तो आपकी आधी तकलीफ अभी दूर हो जाएगी।

वह इस प्रकार कि ''यथाकथञ्चित् कार्याणि कुर्याद् उच्चावचान्यपि''- बड़े-छोटे जो भी काम जिस प्रकार से कर सकते हैं, वैसे

करें। श्रीमहाप्रभुजी सभी विकल्प खुले रख रहे हैं। सिद्धान्त के अनुसार या अपसिद्धान्त के अनुसार, जैसे करते हैं वैसे करें परन्तु कम से कम इतना तो करें कि जैसा हूँ वैसा तुम्हारा कहलाऊँ – ''किंवा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद् हरिम्'' – हरि की शरण की भावना करें।

इतना भी आप निभा सकते हैं तो बात वापस पटरी पर आ जाएगी। हरि की शरण की भावना को आपने निभाना शुरू किया तो गाड़ी फिर पटरी पर चढ़ जाएगी। अब वह भी नहीं कर सकते और स्वयं को जघन्याधिकारी मानते हैं कि बाकी सबकी शरण लेंगे किन्तु हरि की शरण नहीं लेंगे तो महाप्रभुजी कह रहे हैं कि भाई, अब अलविदा।

(भगवदाश्रयावश्यकतोपपत्त्यन्तरेणोपसंहारः)

भगवदाश्रय की आवश्यकता की एक अन्तिम विशेष उपपत्ति श्रीमहाप्रभुजी बता रहे हैं –

एवम् आश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम्।
कलौ भक्त्यादिमार्गोहि दुस्साध्या इति मे मतिः ।।17।।

अन्वयार्थ :

एवं = इस प्रकार से
सर्वेषां = सबको
सर्वदा = सदैव
हितं = हितकारी
आश्रयणं = आश्रय को
प्रोक्तम् = भलीभाँति कहा
हि = निश्चितरूप से
कलौ = कलिकाल में

भक्त्यादिमार्गाः = भक्ति आदि मार्ग
दुःसाध्याः = कष्ट से सिद्ध होनेवाले हैं
इति = ऐसी, **मे** = मेरी
मतिः = मति (**अस्ति** = है)

भावार्थ : इस प्रकार सब जीवों को सर्वदा हितरूप आश्रय कहा है। कलियुग में भक्ति प्रभृति मार्ग दुःसाध्य हैं, ऐसी मेरी मति है।

व्याख्या :

''एवं आश्रयणं प्रोक्तं'' – आश्रय प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्येक स्थिति में सदा ही उपयोगी होता है क्योंकि श्रीमहाप्रभुजी स्वयं इस बात का अनुभव कर रहे हैं कि ''कलौ भक्त्यादिमार्गोहि दुःसाध्या इति मे मतिः'' – कलियुग में भक्तिमार्ग थोड़ा दुःसाध्य हो गया है क्योंकि कलियुग की मनोवृत्तियाँ ऐसी हैं कि वे भक्तिमार्ग के लिए बहुत सुसंगत नहीं है। अतः कलियुग की मनोवृत्ति ऐसी हो सकती है परन्तु आश्रय यहाँ भी आपको सहायक सिद्ध हो सकता है। प्रभु ने हमें वचन दिया है कि ''**सर्वधर्मान् परित्यज्य माम् एकं शरणं व्रज, अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।**''

चाहे ज्ञानमार्गी पाप हो, चाहे कर्ममार्गी पाप हो, चाहे आपने कोई भक्तिमार्गीय पाप किया हो लेकिन भगवदाश्रय दृढ़ रखा तो उन सब पापों से प्रभु आपको मुक्त कर सकते हैं। ऐसे आश्रय के वचन प्रभु के हैं। एक स्थान पर नहीं, अनेक स्थानों पर हैं तथा उस आश्रय की भावना से कृष्ण के आश्रय को सुदृढ़ बनाएंगे तो प्रत्येक समस्या का समाधान अब भी आपके पास हो सकता है।

यह बात चिन्ता की निवृत्ति के उपाय के अन्तर्गत, खुद को पुष्टिभक्तिमार्ग पर चलाने के लिए किस प्रकार सांत्वना प्राप्त करना,

श्रीमहाप्रभुजी ने बताई है।

मांगना शरणभावना का अस्वीकार है पर आपने किसी तकलीफ के कारण प्रभु से कुछ मांग लिया तो अपनी उस भूल का अनुभव करें कि मुझसे यह भूल हो गई तथा प्रभु की शरणभावना करें कि प्रभु मुझे वैसा सामर्थ्य प्रदान करें। अभी अधीर हो कर मैंने आपसे मांग लिया परन्तु आप मेरे लिए शरण हैं, आप ही मुझे इस क्षुद्रता से छुड़ा सकते हैं। शरणभावना का मूल यह है। हम शरणभावना न निभा सके और हमने प्रभु से कुछ मांग लिया तो उस अपराध को स्वीकार करके शरणभावना करें, अर्थात् - **''सर्वसाधन हीनस्य पराधीनस्य सर्वतः पापपीनस्य दीनस्य श्रीकृष्णः शरणं मम।''** इस प्रकार की भावना करके पुनः शरण के मार्ग पर आएं। प्रार्थना करने के कारण आपकी जो गाड़ी पटरी से उतर गई है, उसमें अपने आपको तोड़ें नहीं।

यदि सिद्धान्त आपसे नहीं निभा तो स्वयं को तोड़ें नहीं वरन् स्वयं को फिर से प्रभु के साथ जोड़ने का निरन्तर प्रयास करते रहें। आपकी कमजोरियाँ आपको प्रभु से तोड़ने के प्रयास करती रहेंगी पर आप शरणभावना के माध्यम से स्वयं को प्रभु से जोड़ने का प्रयास करते रहें। इस प्रकार के सकारात्मक प्रयास आपने शुरू किए तो श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि निश्चितरूपेण प्रभाव पड़ेगा।

जो कुछ भी श्रीमहाप्रभुजी के अनुदेश हैं उनका हम अनुसरण कर सकें या न कर सकें परन्तु शरणभावना की प्रक्रिया से हम प्रभु के साथ जुड़ने का प्रयास निरन्तर करते रहेंगे तो धीरे-धीरे उन अनुदेशों का अनुसरण करने के लिए हम सक्षम हो जाएंगे, जिनका आज पालन करने में हम सक्षम नहीं हैं।

जैसे पेट बहुत खराब हो गया हो तो हम अच्छी खुराक नहीं खा सकते लेकिन पाचनयोग्य आहार लेने से हम कुछ दिन अपने आपको टिका रख

सकते हैं। मरें नहीं तो धीरे-धीरे पेट स्वस्थ हो जाएगा। तब सिर्फ हम अच्छी खुराक लेने के लिए समर्थ हो जाएंगे। मूँग की दाल का पानी ले कर हम स्वयं को टिका कर रखते हैं तो निर्जलीकरण (Dehydration) नहीं होता, ग्लुकोज का पानी ले कर भी हम स्वयं को ठीक रखें तो निर्जलीकरण नहीं होता। अन्यथा क्या होगा कि जब पेट खराब हो गया तो शौच की प्रक्रिया में शरीर में जलीयांश घटने लगता है और उसमें मरने की पूरी संभावना होती है। उस समय क्या उपाय है जो आपको निर्जलीकरण से बचा सके?

श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि भगवदाश्रय प्रत्येक स्थिति में अर्थात् **''दुष्टतमोऽपि दयारहितोऽपि विधर्म-विशेष-कृति-प्रार्थितोऽपि, दुर्जन संगरतोऽप्यवरोपि च 'कृष्ण तवास्मि' न चास्मि परस्य''** - अपने आश्रय की भावना को यदि आपने इतना दृढ़ बनाए रखा तो धीरे से बात बन जाएगी। वहीं से सारे मार्ग खुल जाएंगे। जैसे मूँग की दाल का पानी पीते-पीते आप खिचड़ी खाने लगेंगे, खिचड़ी खाते-खाते दाल-भात खाने लगेंगे और दाल-भात खाते-खाते रोटी खाने लग जाएंगे। इसके बाद ढोकला..... फाफड़ा! यह इसका रहस्य है।

प्रभु के प्रति हमारी समझ यह है कि प्रभु मेरे रक्षक हैं। प्रार्थना हो जाती है तो हो जाती है। माफी मांगने की प्रक्रिया के रूप में यह हमारी समझ है, याचना की प्रक्रिया के रूप में नहीं। जैसे मैं यह कहूँ कि तुम कुछ ऐसा करो कि मुझे तुम पर स्नेह जागे तो इसका अर्थ यह है कि स्नेह नहीं है। मैं तुम्हारे सामने स्वीकार कर रहा हूँ। जब मैं तुम्हें यह कह रहा हूँ कि तुम कुछ ऐसा कार्य करो कि मुझे तुम पर स्नेह जागे तो बहुत ही सुन्दर शब्दों में तुम्हें कह दिया कि मुझे तुम पर स्नेह नहीं है। इसी प्रकार हम प्रभु को कह रहे हैं कि प्रभु, आप ऐसा कुछ करें कि हमें आपका आश्रय प्राप्त हो सके। बहुत दीनता भरे शब्दों में हम प्रभु के सामने स्पष्ट कह रहे हैं कि अभी मनःस्थिति ऐसी नहीं है कि आप हमारे

आश्रय हैं। इस क्षुद्रता की ओर श्रीमहाप्रभुजी ध्यान नहीं दिलाना चाहते वरन् श्रीमहाप्रभुजी यह कह रहे हैं कि आप अन्त:स्फुरण से और वाणी के उच्चारण से अपनी स्वीकृति को विकसित करें।

'विज्ञप्ति' अर्थात् प्रभु को किसी बात से अवगत कराना कि मैं ऐसा हूँ। प्रभु से कुछ माँगने का अर्थ है प्रार्थना। हम आज प्रार्थना शब्द का अर्थ कुछ अलग ही समझ रहे हैं। 'अर्थना' का अभिप्राय है इच्छा तथा 'प्रार्थना' का तात्पर्य है उस इच्छा को किसी को कहना। मेरी कोई इच्छा है और उस इच्छा को मैं आपको जताऊँ उसका नाम है 'प्रार्थना'। विज्ञप्ति का तात्पर्य है केवल अवगत कराना, इच्छा को कहना नहीं। मैं पापी हूँ या पुण्यात्मा हूँ, जैसा हूँ वैसा आपका हूँ, यह प्रार्थना नहीं वरन् विज्ञप्ति है। जब हम प्रभु को यह कह रहे हैं कि मैं तो ऐसा ही हूँ पर मैं आपको प्रार्थना कर रहा हूँ कि आप मेरा आश्रय बन जाएँ। इस प्रकार बहुत ही सुन्दर शब्दों में हमने प्रभु को कह दिया कि आप मेरा आश्रय नहीं हैं।

हमारे रायसाहब का उदाहरण मैं हमेशा देता रहता हूँ। रायसाहब हमारे मोटा मंदिर में थे। वे भुलेश्वर के सभी मंदिरों में जाकर हाथ जोड़ते और कुछ अंग चेष्टाएँ करते, मैंने एक दिन पूछा कि आप रोज ऐसे क्या करते हैं? वे बेचारे सहायक निदेशक थे। वे कहते कि सभी भगवानों को प्रार्थना करता हूँ कि आप भगवान हैं, बड़े हैं मुझे कोई वित्त पोषक (Financier) मिल जाए। इतने वर्षों से सभी भगवानों को प्रार्थना कर रहा हूँ। कोई भी भगवान कोई फाईनेन्सर नहीं दिलाते। इन जैसे भगवान मेरे काम के नहीं, राय साहब का यह स्थायीभाव था। हाथ भी जोड़ते, गर्दन को झटका मारते कि कोई काम नहीं आए भगवान! हाथ भी जोड़ें और गर्दन को झटका भी दें। सारे भगवान परेशान हो जाते होंगे। सवेरे मंगला में सभी मंदिरों में दर्शन कर आते। भुलेश्वर में, मुम्बादेवी को, रामचन्द्रजी को, हमारे बालकृष्णलालजी को सबको हाथ जोड़ते और सब

जगह झटके भी देते कि कुछ काम के नहीं हैं। कोई फाईनेन्सर नहीं मिलता। अत: रायसाहबवाले झटके से बचना चाहिए। वह बिलकुल आभासी झटका होता था। ऐसे झटके से भी बचें तो अच्छी बात है, बेचारे रायसाहब की कोई वास्तविक समस्या होगी। उसे मानवीय समस्या के रूप में समझते हैं तो हमें गरीब के प्रति सहानुभूति होती है। यह विवेकधैर्याश्रय की बात बताई। इसके बाद कृष्णाश्रय प्रारम्भ हो रहा है।

।। इति श्रीवल्लाभाचार्यविरचितं विवेकधैर्याश्रयनिरूपणं सम्पूर्णम्।।

॥ कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ॥

भूमिका :-

''एवं आश्रयणं प्रोक्तम् सर्वेषां सर्वदा हितं, कलौ भक्त्यादिमार्गाहि दु:साध्या इति मे मति:'' - श्रीमहाप्रभुजी इस सूत्र का फिर से भाष्य कृष्णाश्रय में कर रहे हैं। विवेकधैर्याश्रय में और कृष्णाश्रय में सूत्र-भाष्य का भावसम्बन्ध है। विवेकधैर्याश्रय अब सूत्र बन गया। ''एवम् आश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम्'' - इस श्लोक का कृष्णाश्रय संपूर्ण भाष्य के रूप में आ रहा है।

एक बात ध्यान से समझें कि जो अपनी भक्त्यादिमार्ग की दु:साध्यता है, कलियुग में वह दु:साध्यता जिस कारण से हो रही है उसके कुछ घटक श्रीमहाप्रभुजी ने गिनाए हैं। जैसे लोक की सम्पूर्ण व्यवस्था उच्छिन्न हो गई है। यहाँ देखें कि यह बात पुन: उसी प्रकार शुरू हो रही है कि जब हम चुनाई कराते हैं तब हमें यदि ऐसी मजबूत जमीन मिल जाए जो ठोस हो, पत्थरवाली हो तो कम गहरी नींव पर भी चुनाई हो सकेगी। यदि जमीन स्वयं अन्दर से पोली हो तो नींव भरने के लिए हमें अंदर से भी खूब खोदना पड़ेगा। तब उस जमीन की सतह से चुनाई शुरू कर पाएंगे। इस प्रकार नींव की जमीन की पोल आपको बता रहे हैं।

श्रीमहाप्रभुजी कृष्णाश्रय की नींव इतनी गहरी खोदना चाह रहे हैं कि वह निष्फल न हो जाए। जमीन की सतह को खोदते-खोदते और भी नीचे जाएँ, जितना नीचे जा सकते हैं उतना नीचे जा कर कृष्णाश्रय की नींव से किए गए निर्माण का जीर्णोद्धार करें। कृष्णाश्रय के संदर्भ में श्रीमहाप्रभुजी की यह स्पष्ट नीति है कि जमीन की सतह से भी और नीचे जाएँ। ''कलौ भक्त्यादि मार्गाहि दु:साध्या'' - ठीक है, दु:साध्यता है पर दु:साध्यता की दु:साध्यता कितनी? अभी और गहरा गड्ढा खोदें, जमीन की सतह से जितना नीचे जा सकते

हों उतना नीचे जाएँ।

नीचे जा कर गड्ढा खोद कर यह बता रहे हैं कि जमीन नीचे तक कितनी पोली है। इस बात को समझें कि वहाँ से कृष्णाश्रय की नींव रख कर फिर हम पूरी चुनाई करेंगे - ''कृष्णएव गतिर्मम, कृष्णएव गतिर्मम'' - इस बात को ध्यान से समझें। यह सम्पूर्ण नीति है। लोकाश्रय-वेदाश्रय की बात हम निरन्तर करते आ रहे हैं कि जो प्रवाहीजीव हैं वे लोक में हैं। उन लौकिकजीवों को थोड़ा सुधार कर वेद के संस्कारों से मर्यादीजीव बना सकते हैं।

अत: लोक और वेद दोनों को श्रीमहाप्रभुजी ''लौकिकत्वं वैदिकत्वं कापट्यात्'' से भी हमें कहते ही आए हैं और बाकी सभी तरफ से यह पूरा संदर्भ पहले से चला आ रहा है। ''इको यणचि'' सूत्रानुसार जैसे 'अचि' की अनुवृत्ति होती है उसी प्रकार अनुवृत्ति चली आ रही है कि लोक और वेद आपको सहायता नहीं करेंगे।

जैसी लोक की व्यवस्था है, जैसी वेद की व्यवस्था है, वह आज की तारीख में आपको सहायक नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में कृष्णभक्ति करना या कृष्णभक्ति से भी हम निराश हो जाएँ? यदि लोक आपको कृष्णभक्ति में सहायक नहीं हो रहा, यदि वेद कृष्णभक्ति में सहायक नहीं हो रहा तो क्या कृष्णभक्ति का उपक्रम छोड़ देना चाहिए अथवा पुन: कुछ शुरू हो सकता है?

बच्चन की एक बहुत सुन्दर कविता है, वे कहते हैं - ''**इन चिकने ताजे नये हरे पत्तों के साये में सुमने फिर प्यार नया हो सकता है।**'' - पतझड़ आ गई, पेड़ के सारे पत्ते झर गए, सारे फूल भी गिर गए तो भौंरा निराश हो गया परन्तु पतझड़ के बाद वापस पत्ते आ जाते हैं। इस संदर्भ में भौंरा फूल को कह रहा है-

इन चिकने ताजे नए हरे पत्तों के साये में,
सुमने फिर प्यार नया हो सकता है।
हरदंत समय का जो लगता मानो विषदंत नहीं होता,
दु:ख मानव के मन के ऊपर सब दिन बलवंत नहीं होता,
आहें उठतीं, आँसू झरते, सपने पीले पड़ते,
लेकिन जीवन में पतझड़ आने से जीवन का अंत नहीं होता।

.....

इन चिकने ताजे नए हरे पत्तों के साये में,
सुमने फिर प्यार नया हो सकता है।

इस प्रकार जो लोकव्यवस्था, वेदव्यवस्था मृतप्राय हो गई है उसमें एक बार श्रीठाकुरजी को बस यह बात कहकर देखें कि –

इन चिकने ताजे नए हरे पत्तों के साये में,
सुमने फिर प्यार नया हो सकता है।

यह बात श्रीमहाप्रभुजी यहाँ समझाना चाह रहे हैं।

*****

।। कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।।

(लोकाश्रय[क] वेदाश्रय [ख] वैफल्यनिरूपणपूर्वकं कृष्णाश्रय[ग] साफल्यनिरूपणाय षण्णां धर्माङ्गानां काल [1] देश [2] द्रव्य [3] कर्तृ [4] मन्त्र [5] कर्मणाम् [6] सम्प्रति असाधकता कर्म [य] ज्ञान [र] भक्ति [ल] प्रपत्ति [व] मार्गानुसारेणापि श्रीकृष्णाश्रयस्यैव कर्त्तव्यतानिरूपणम्)

(लोकाश्रय[क]वैफल्यनिरूपणपूर्वकं कृष्णाश्रय[ग] साफल्य-निरूपणाय षड्विधधर्माङ्गेषु काल[1]स्य सम्प्रति असाधकतानिरूपणम्)

लोकाश्रय निष्फल हो गया अर्थात् प्रवाह की जो व्यवस्था उपलब्ध है वह भी निष्फल हो गई और वेदाश्रय अर्थात् मर्यादीजीव की जो व्यवस्था प्राप्त है वह भी मृतप्राय हो गई है लेकिन चिन्ता की कोई बात नहीं है। आ गया है पतझड़, आ गया तो आ गया पर कृष्णाश्रयरूप पुष्प पुन: खिल रहा है अथवा नहीं? एक बार कृष्णाश्रय का पुष्प खिलता हो तो स्वीकार कर लें कि ''कृष्णएव गतिर्मम' का क्रम पुन: शुरू हो सकेगा। घबराने की कोई बात नहीं है।

धर्म के छ: अंग हैं – काल, देश, द्रव्य, कर्ता, मंत्र और कर्म। वे सब निष्फल हो गए हैं तथा कर्म, ज्ञान, भक्ति, प्रपत्ति आदि सब मार्गों के संदर्भ से स्वमार्ग की दृष्टि से विचार करना हो तो कृष्णाश्रय अभी भी सफल है और सफल रहेगा। यह स्वस्थता, एक सांत्वना हमारे मन को प्रदान करने के लिए श्रीमहाप्रभुजी ने कृष्णाश्रय निरूपित किया।

अब इस प्रकार से पहले श्लोक में देखें कि लोकाश्रय की विफलता का निरूपण है। कृष्णाश्रय की सफलता के निरूपण के अन्तर्गत षड्विध धर्म के अंगभूत काल की ''सम्प्रति असाधकता'' है। काल की अपेक्षा न रखें, कृष्ण से अपेक्षा रखें। जो कुछ भी आपको सिद्ध करना है – भक्ति सिद्ध करनी

है, भक्ति के चारों अंगों में से जिस अंग में जाने में आपको तकलीफ हो रही है, उस अंग को प्राप्त करने में काल की अपेक्षा न रखें कि कलिकाल आ गया। अरे! आ गया तो भाड़ में जाए, आप कृष्णशरण ग्रहण करें – यह बात श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं –

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ[1] च खलधर्मिणि।
पाषण्डप्रचुरे लोके[क] कृष्णएव गतिर् मम[ग] ।।1।।

अन्वयार्थ :

खलधर्मिणि = पाखण्ड धर्मवाले
कलौ = कलिकाल में
सर्वमार्गेषु = सभी मार्ग
नष्टेषु = नष्ट हो जाने से
च = और
लोके = लोक में
पाषण्डप्रचुरे = पाखण्ड की अधिकता हो जाने से
मम = मेरा
कृष्ण = कृष्ण
एव = ही
गतिः = आश्रय (**अस्ति** = है)

भावार्थ : खल धर्मवाले कलियुग में सभी मार्ग नष्ट हो गए हैं और लोक बहुत पाखण्डवाला हो गया है। इसमें श्रीकृष्ण ही मेरी गति हों।

व्याख्या :

सब मार्ग नष्ट हो गए हों, कलि खल का ही धर्म हो गया है अर्थात् बदमाशी और बदमाशी के सिवा कुछ भी नहीं हो – ''पाषण्डप्रचुरे लोके

कृष्णएव गतिर्मम'' – लोकाश्रय के वैफल्य में कृष्ण तो मेरी गति हैं कि नहीं? कृष्ण की गति में मुझे कोई व्यवधान नहीं आ सकता। शेष सब में व्यवधान आ गया है पर कृष्णगति के लिए किसी व्यवधान की आवश्यकता नहीं है।

(लोकाश्रय[क] वैफल्यनिरूपणपूर्वकं कृष्णाश्रय[ग] साफल्यनिरूपणाय षड्विधधर्माङ्गेषु देशस्य[2] सम्प्रति असाधकतानिरूपणम्)

देश भी असाधक हो गया है। यह बात बता रहे हैं कि देश की स्थिति कैसी है।

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु[2] पापैक-निलयेषु च।
सत्पीडा-व्यग्र-लोकेषु[क] कृष्णएव गतिर् मम[ग] ।।2।।

अन्वयार्थ :

देशेषु = देश/ स्थान
पापैकनिलयेषु = एकमात्र पाप के घररूप बन जाने से
च = और
म्लेच्छाक्रान्तेषु = म्लेच्छों के द्वारा पराभूत हो जाने से
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु = सत्पुरुषों को पीड़ित देख कर लोगों के अधीर हो जाने से, **मम** = मेरा
कृष्ण = कृष्ण, **एव** = ही
गतिः = आश्रय (**अस्ति** = है)

भावार्थ : सब देश म्लेच्छों से आक्रान्त हो गए हैं और उनमें पाप का ही निवास हो गया है तथा सत्पुरुषों को पीड़ा होने से सब लोग व्यग्र हो गए हैं। ऐसे समय में श्रीकृष्ण ही मेरी गति हों।

व्याख्या :

म्लेच्छाक्रान्त देश हो गया है, पापैक निलय (पाप का वास-स्थान) हो गया है। जिस स्थान में, जिस दिशा में नजर डालें वहाँ पाप का ही अड्डा जम गया है, अन्य कुछ नहीं है। ''सत्पीडाव्यग्रलोकेषु'' - ऐसे पापपूर्ण स्थानों में सत्कर्म करनेवाले सज्जन रहना चाहें तो वे ही दु:खी हैं, दुर्जन कोई दु:खी नहीं है। यह स्थिति है तो है। यह परिस्थिति बहुत बड़ा पतझड़ है परन्तु फिर से ''कृष्णएव गतिर्मम।'''''फिर प्यार नया हो सकता है'' इस बात को ध्यान से समझें, भूलें नहीं।

(लोकाश्रय[क] वैफल्यनिरूपणापूर्वकं कृष्णाश्रय[ग] साफल्यनिरूपणाय षड्विधधर्माङ्गेषु द्रव्य[3]स्य सम्प्रति असाधकतानिरूपणम्)

'द्रव्य' अर्थात् जिस वस्तु से हम धर्म सिद्ध करते हैं। द्रव्य का अर्थ पैसा नहीं है, 'द्रव्य' का अर्थ पदार्थ, वस्तु है। अब पदार्थ की क्या स्थिति है, पदार्थ कितना अशुद्ध है? श्रीमहाप्रभुजी उसके सर्वाधिक शुद्धतमरूप गंगाजल को पकड़ कर यहाँ पधरा लाए हैं -

गङ्गादि-तीर्थ[3]-वर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह[क]।
तिरोहिताधिदैवेषु कृष्णएव गतिर्मम[ग]।।3।।

अन्वयार्थ :

इह = यहां,
गङ्गादितीर्थ-वर्येषु = गगांजी आदि मुख्य तीर्थ
दुष्टैः = दुष्ट लोगों से
एव = ही, **आवृतेषु** = घिर जाने से

तिरोहिताधिदैवेषु = अधिदेवता तिरोहित हो जाने से
मम = मेरा
कृष्ण = श्रीकृष्ण, **एव** = ही
गतिः = आश्रय (**अस्ति** = है)

भावार्थ : गंगादि उत्तमतीर्थ भी दुष्टों से आवृत्त हो गए हैं। इसलिए उनका आधिदैविक स्वरूप तिरोहित हो गया है। ऐसे समय में श्रीकृष्ण ही मेरी गति हैं।

व्याख्या :

जो सबको शुद्ध करनेवाली बेचारी गंगा थी, वही आज सर्वाधिक प्रदूषित है। दुष्टों के अतिरिक्त उसके किनारे पर दूसरा कोई नहीं रहता। सत्पुरुष कहीं अन्यत्र रहते हुए मिल जाएंगे पर गंगा और यमुना के किनारे सत्पुरुष रहते हुए मिलें, यह बात बहुत कठिन है। सब बदमाश ही बदमाश रहते हैं। देवता भी उनसे डर कर भाग जाएँ। यह स्थिति है तो है, इसमें क्या करना? घबराने की आवश्यकता नहीं है - ''फिर प्यार नया हो सकता है'' ''कृष्णएव गतिर्मम।'' कृष्ण में कोई झंझट नहीं है, यह बात अवधेय है।

(वेदाश्रय[ख] वैफल्यनिरूपणापूर्वकं कृष्णाश्रय[ग] साफल्यनिरूपणाय षड्विधधर्माङ्गेषु कर्तुः[4] सम्प्रति असाधकतानिरूपणम्)

कर्ता को स्वयं दूसरों के दोष क्यों देखना चाहिए? हमें अपने ही दोष देखने चाहिए कि हममें क्या दोष हैं?

अहङ्कार-विमूढेषु सत्सु[ख] पापानुवर्तिषु।
लाभ-पूजार्थ-यत्नेषु[4] कृष्णएव गतिर्मम[ग]।।4।।

अन्वयार्थ :

सत्सु = सत्पुरुष
अहंकार-विमूढेषु = अहंकार से विशेषरूप से मूढ हो जाने से
लाभपूजार्थयत्नेषु = लाभ और सम्मान के लिए यत्न करनेवाले हो जाने से
पापानुवर्तिषु = पाप का अनुसरण करनेवाले हो जाने से
मम = मेरा, **कृष्ण** = श्रीकृष्ण
एव = ही
गतिः = आश्रय (**अस्ति** = है)

भावार्थ : पण्डित लोग अहंकार से विशेष मूढ हो गए हैं, पापी पुरुषों का अनुसरण करनेवाले हो गए हैं और लाभ-पूजा के लिए ही उनका यत्न होता है। ऐसी स्थिति में श्रीकृष्ण ही मेरी गति हैं।

व्याख्या :

जो धर्म करने जा रहा है वह कर्ता स्वयं अपने ही अहंकार से ग्रस्त होने के कारण पापाचरण कर रहा है। स्वयं पाप का अनुवर्तन करके धर्माचरण कर रहा है। धर्माचरण कर भी रहा है तो कहीं न कहीं स्वयं को पूजे जाने के लिए कर रहा है। यदि त्यागी का ढोंग कर रहा है तो भी और रागी का ढोंग कर रहा है तो भी, लाभ के लिए कर रहा है कि भगवान के नाम पर कोई चढ़ावा दे जाए। इन धर्म करनेवालों की दो स्थितियाँ हैं कि या तो स्वयं को पुजवाने के लिए धर्म कर रहे हैं अर्थात् मैं किस प्रकार पूजा जा सकता हूँ या फिर मुझे किस प्रकार पैसा मिल सकता है? यह अहंता और ममता के अहंकार की हीनतम अधोगति का रूप है। स्वयं को पुजवाना अहंकार का एकदम विकृततम रूप है और लाभ ममता का एकदम विकृततम रूप है। इस प्रकार धर्म का कर्ता ऐसा हो सकता है तथा हम भी ऐसे हो सकते हैं, यह नहीं भूलना चाहिए।

औरों के बारे में क्या कहें? हम भी ऐसे ही हो गए लेकिन हमारे ऐसा हो जाने से कृष्ण तो ऐसे नहीं हो जाते। ''कृष्णएव गतिर्मम'' - कृष्णतत्त्व के साथ जुड़ कर कदाचित् हम भी सुधर सकेंगे। मन में इस प्रकार का भाव क्यों नही लाते? अपने आपको धिक्कारने के बदले कृष्ण के साथ जुड़ने का भाव पैदा करें। इसीलिए श्रीमहाप्रभुजी ने सूरदासजी को कहा था कि ''**सूर व्है के काहे घिघियात है? कछु भगवद्लीला गा**'' - यार, सुधर जाएगा, दोष है तो है, भगवान के साथ जुड़ोगे तो सुधर जाओगे। यह बात कर्ता को सांत्वना देने के लिए श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं।

(वेदाश्रय[ख] वैफल्यनिरूपणपूर्वकं कृष्णाश्रय[ग] साफल्यनिरूपणाय षड्विधधर्माङ्गेषु मन्त्रस्य[5] सम्प्रति असाधकतानिरूपणम्)

पाँचवा अंग है मंत्र का। मंत्र की रामायण तो हम जानते ही हैं।

अपरि-ज्ञान-नष्टेषु मन्त्रेष्वव्रत-योगिषु।
तिरोहितार्थ-देवेषु[ख] कृष्णएव गतिर् मम[ग]।।5।।

अन्वयार्थ :

मन्त्रेषु = मन्त्र
अपरिज्ञाननष्टेषु = अपूर्ण ज्ञान के कारण नष्ट हो जाने से
अव्रतयोगिषु = व्रत-नियम का अनुसरण नहीं करने से
तिरोहितार्थदेवेषु = अर्थ और देवता तिरोहित हो जाने से
मम = मेरा, **कृष्ण** = श्रीकृष्ण
एव = ही
गतिः = आश्रय (**अस्ति** = है)

भावार्थ : मंत्र का परिज्ञान नहीं होने से, व्रतादिक का योग नहीं होने से और अर्थ तथा देवता तिरोहित हो जाने से मंत्र नष्टप्राय हो गए हैं। ऐसे समय में श्रीकृष्ण ही मेरी गति हों।

व्याख्या :

किसी को मंत्र ज्ञात नहीं है। हाल ही हमने देखा कि बड़े-बड़े जो यज्ञ हो रहे हैं, जो जिसका मंत्र नहीं है उसके नाम से यज्ञ हो रहे हैं। पुरुषोत्तम सहस्रनाम यज्ञ के लिए नहीं था, पाठ के लिए था। उसी के यज्ञ हो रहे हैं। राजीव गाँधी मरे थे उस समय मैंने देखा था कि पुरुषसूक्त से उनका अग्नि संस्कार हो रहा था। ''**सहस्रशीर्षा पुरुषः**'' - अभिषेक का मंत्र है, दाहसंस्कार का नहीं। दाहसंस्कार का मंत्र कोई दूसरा है और वह मंत्र उस ब्राह्मण को आता नहीं था।

एक बार किसी ने मुझे कहा कि हमारे यहाँ विवाहप्रसंग के लिए आप किसी पुरोहित को जानते हों तो भिजवा दें। मैंने कहा कि जानता हूँ, भेज दूँगा। पुरोहित विवाह के श्लोक न बोल कर कुछ व्याकरण के नियम बोल रहा था, कोई सुभाषित बोल रहा था। मैंने कहा कि यह क्या कर रहे हो यार? उसने कहा महाराज, आप भी चुप और मैं भी चुप। अब अगली बार मत बुलाएँ। इसमें आपको किसी प्रकार की क्रिया की भूल दिखाई दे रही है? मैंने कहा क्रिया तो सब ठीक है पर .....। उसने कहा कि मंत्र तो मैं सीखा ही नहीं तो बोलूँ कहाँ से?

कोई सुभाषित बोल कर, कुछ भी बोल कर बाद में स्वाहा.... स्वाहा.... जोड़ता जाए। ''**इको यणचि स्वाहा, इकः स्थाने यण्स्यादचि संहिता विषये स्वाहा, अत् एङ् च गुणसंज्ञः स्यात् स्वाहा, वृद्धिरादैच स्वाहा**'' - भाई यह क्या है? यह व्याकरण का नियम है। यह विवाहप्रसंग में क्यों बोल रहे हो? उसने कहा महाराज! आप चुप रहें। न बुलाना हो तो नहीं बुलाएँ। अभी तो

ऐसे ही चलने दें। मुझे भी शर्म आ गई क्योंकि मैं यह रहस्य खोल दूँ कि विवाह के लिए मैंने ऐसा पुरोहित भेजा तो उनके मन में शंका बैठ जाएगी कि महाराज कैसे-कैसे व्यक्तियों को भेजते हैं। मैं भी चुप हो गया। आशीर्वाद दे कर आ गया कि भगवान तुम्हारा भला करे। पर बेचारे का भला हुआ नहीं, यह भी एक हकीकत है।

मैं इस बात पर बहुत शर्मिन्दा हूँ लेकिन क्या करूँ? ऐसे-ऐसे बदमाश ब्राह्मण जिनको कोई मंत्र नहीं आता और हमें मंत्र के बारे में कुछ जानकारी नहीं है। कुछ न कुछ मंत्र बोलता रहे और स्वाहा-स्वाहा जोड़ता रहे। हम समझते हैं कि यह यज्ञ हो रहा है। यज्ञ कहाँ से हो रहा है? कोई सुभाषित बोल रहा है, कोई कुछ बोल रहा है - ''**क्रिया सर्वापि सैवात्र परं मंत्रो न विद्यते**'' - क्रिया सारी ठीक है परन्तु मंत्र सब नदारद।

''अपरिज्ञान नष्टेषु'' - किसी को मंत्र बोलना आता नहीं और आता है तो उस मंत्र को बोलने योग्य जितना व्रत, संकल्प - न्यासादि का विधान करना चाहिए, उतना किसी को ज्ञात नहीं। इसका तात्पर्य है कि देव तिरोहित हो गए हैं। हो गए तो हो गए, ''कृष्णएव गतिर्मम'' - ''फिर प्यार नया हो सकता है।'' अभी भी महाप्रभुजी यही कह रहे हैं कि घबराने की कोई बात नहीं है। मंत्र बिगड़ गए हैं पर कृष्ण थोड़े ही बिगड़े हैं।

(वेदाश्रय[ङ] वैफल्यनिरूपणपूर्वकं कृष्णाश्रय[ग] साफल्यनिरूपणाय षड्विधधर्माङ्गेषु कर्मणः[6] सम्प्रति असाधकतानिरूपणम्)

छठा अंग कर्म है। कर्म में तो वैसे ही छल-छद्म व्याप्त है -

नाना-वाद-विनष्टेषु सर्व-कर्म[6]-व्रतादिषु[ख]।
पाषण्डैक-प्रयत्नेषु कृष्णएव गतिर्मम[ग]।।6।।

अन्वयार्थ :

सर्वकर्मव्रतादिषु = कर्म, व्रत आदि सभी
नानावादविनष्टेषु = विविध प्रकार के वादों से नष्ट हो जाने से
पाषण्डैकप्रयत्नेषु = केवल पाखण्ड के लिए ही प्रयत्नशील हो जाने से
मम = मेरा, **कृष्ण** = श्रीकृष्ण, **एव** = ही,
गतिः = आश्रय (**अस्ति** = है)

भावार्थ : सभी कर्म और व्रतादिक भिन्न-भिन्न प्रकार के वाद (मतों) से विनष्ट हो गए हैं और प्रायः वादों का पाषण्ड के लिए ही मुख्य यत्न है। ऐसे समय में श्रीकृष्ण ही मेरी गति हैं।

व्याख्या :

अनेक वादों के कारण सभी कर्म और व्रत अर्थात् सारी व्यवस्था भग्न हो गई है। हम करते भी हैं तो अपने मन में जानते हैं कि क्या हो रहा है! ये सब एकदम बेकार की बात है। इसके लिए एक बात समझें।

श्राद्ध में "**सकृत् महालये**" शब्द आता है जिसका अर्थ है वर्ष में एक बार श्राद्ध करना। 'सकृत्' का एक और अर्थ विष्ठा है। अब ब्राह्मण श्राद्ध में ऐसा बोलते हैं कि सकृत् का श्राद्ध करें। इतनी ग्लानि होती है कि अब क्या करें? भई, अब ब्राह्मण न जाने तो जाने दो! इतनी खराब हालत है।

"पाषण्डैकप्रयत्नेषु" - विवाह के समय वर-कन्या को ज्ञात ही नहीं होता कि पुरोहित क्या बोल रहा है, ऐसी दुर्गति है। वस्तुतः जो वर के द्वारा बोले जानेवाले मंत्र हैं कि मैं आपकी कन्या को अपना रहा हूँ, मेरी जीवनसंगिनी के रूप में, वे मंत्र पुरोहित द्वारा बोले जा रहे हैं, लड़का केवल मुँह देखता रहता है। पुरोहित बोल रहा है कि अपनी जीवनसंगिनी के रूप में अपना रहा हूँ।

'संस्कृत में है' - ऐसा कह कर हांके रखते हैं। किसी को पता ही नहीं पड़ता। ले जा न तू यार! तेरी है तो। मंत्र किसको आता है? पुरोहित यह मंत्र बोले तो पेट का पानी हिल जाना चाहिए कि यह मंत्र तुमने कैसे बोला? लड़के को स्वयं ही रुचि नहीं होती जो बोल दे कि रख न तू। येन-केन-प्रकारेण प्रसंग निपटाना है। हमें रिसेप्शन में खड़ा रहना है, बस यह चक्कर है। लग्न जैसे कर्म अपने यहाँ पाखण्ड के रूप में हो रहे हैं तो अन्य कर्मों की तो बात ही जाने दें। ऐसी स्थिति है और है तो है पर श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि टूटें नहीं - "कृष्णएव गतिर्मम।"

(कृष्णाश्रय[ग] साफल्यनिरूपणाय कर्ममार्ग[य] दृष्टयापि तदावश्यकतानिरूपणम्)

इस सातवें श्लोक में कृष्णाश्रय में कर्ममार्ग की दृष्टि से सफलता बता रहे हैं।

अजामिलादि-दोषणां नाशको[ऽ] ऽनुभवे स्थितः।
ज्ञापिताऽखिल-माहात्म्यः कृष्णएव गतिर् मम[ग]।।7।।

अन्वयार्थ :

अजामिलादि-दोषाणां = अजामिल आदिक के दोषों का
नाशकः = नाश करनेवाले
अनुभवे = अनुभव में, **स्थितः** = स्थित
ज्ञापिताखिल-माहात्म्यः = जिन्होंने सर्व माहात्म्य दिखाया है, वे
कृष्ण = श्रीकृष्ण
एव = ही, **मम** = मेरा
गतिः = आश्रय (**अस्ति** = हैं)

भावार्थ : अजामिलादि के दोषों का नाश करनेवाले प्रभु (भक्तों के) अनुभव में रहे हैं। जिन्होंने अपना समग्र माहात्म्य जताया है वे श्रीकृष्ण ही मेरी गति हों।

व्याख्या :

सभी कर्म-कुकर्म करने के बावजूद अजामिल को भगवान ने अपना माहात्म्य बता कर उद्धार किया या नहीं? अतः कर्ममार्ग की दृष्टि से हम में चाहे कुछ भी खामी होगी पर कृष्ण सभी कर्मों के पापों को क्षमा कर सकते हैं या नहीं? इसलिए ''कृष्णएव गतिर्मम।''

(कृष्णाश्रयस्य साफल्यनिरूपणाय ज्ञानोपासनामार्गदृष्ट्यापि तदावश्यकतानिरूपणम्)

ज्ञानमार्ग की दृष्टि से ज्ञानमार्ग के जितने प्रमाणभूत मापदण्ड हैं वे समाप्त हो गए होंगे। वैराग्य के, यम-नियम-आसन के, शम-दम-तितिक्षा के सभी मानदंड समाप्त हो गए होंगे तो हो गए होंगे। परन्तु .....।

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत्[2]।
पूर्णानन्दो हरिस् तस्मात् कृष्णएव गतिर् मम।। 8।।

अन्वयार्थ :

सकलाः = सभी, **देवाः** = देवगण
प्राकृताः = प्राकृत, (**सन्ति** = हैं)
बृहत् = अक्षरब्रह्म
गणितानन्दकं = गणितानन्द जैसा
(**अस्ति** = है), **हरिः** = श्रीकृष्ण
पूर्णानन्दः = पूर्णानन्द (**अस्ति** = हैं)
तस्मात् = इसलिए) **कृष्णएव** = कृष्ण ही, **मम** = मेरा,

गतिः = आश्रय (**अस्ति** = हैं)

भावार्थ : सब देव प्राकृत हैं तथा अक्षरब्रह्म के आनन्द की भी गणना होती है। और हरि पूर्णानन्द हैं इसलिए श्रीकृष्ण ही मेरी गति हों।

व्याख्या :

''प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत्'' - हरि तो पूर्णानन्द हैं अथवा नहीं? यह बात बताएँ। हरि पूर्णानन्द हैं तो पूर्णानन्द में ज्ञान आपको प्राप्त होगा, होगा और होगा ही। इसलिए ''कृष्णएव गतिर्मम।''

(कृष्णाश्रयस्य साफल्यनिरूपणाय भक्तिमार्गदृष्ट्यापि तदावश्यकतानिरूपणम्)

भक्तिमार्ग की दृष्टि से भी कृष्णाश्रय की सफलता का निरूपण।

विवेक-धैर्य-भक्त्यादिरहितस्य विशेषतः।
पापासक्तस्य दीनस्य कृष्णएव गतिर् मम।।9।।

अन्वयार्थ :

विवेक-धैर्य-भक्त्यादि-रहितस्य = विवेक, धैर्य, भक्ति आदि से रहित
विशेषतः = विशेषरूप से
पापासक्तस्य = पाप में आसक्त
दीनस्य = दीन, **मम** = मेरा
कृष्ण = श्रीकृष्ण, **एव** = ही
गतिः = आश्रय (**अस्ति** = हैं)

भावार्थ : विवेक, धैर्य और भक्त्यादि से रहित, विशेषरूप से पाप में आसक्त, मुझ दीन को श्रीकृष्ण ही गतिरूप हों।

व्याख्या :

भक्तिमार्ग की दृष्टि से आपमें विवेक नहीं है, यह अभी ही कह आए हैं, विवेकधैर्याश्रय में कि धैर्य नहीं, भक्ति नहीं। नहीं तो नहीं। पापी भी हों तो भी कृष्ण आपकी गति हैं, हैं और हैं ही। यह बात मन में दृढ़ रख कर चलेंगे तो कभी बाधा नहीं आएगी।

(कृष्णाश्रयस्य साफल्यनिरूपणाय प्रपत्तिमार्गस्य दृष्टयापि तदावश्यकतानिरूपणम्)

कृष्णाश्रय की सफलता प्रपत्तिमार्ग की दृष्टि से भी है।

सर्व-सामर्थ्य-सहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत्।
शरणस्थ-समुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम्।।10।।

अन्वयार्थ :

(यः = जो) **सर्वसामर्थ्यसहितः** = सर्वसामर्थ्यवाले
(च = और), **सर्वत्र** = सर्वत्र, **एव** = ही
अखिलार्थकृत् = सबकुछ करनेवाले
शरणस्थ-समुद्धारं = शरणागत का उद्धार करनेवाले, **(तं** = उन),
कृष्णं = श्रीकृष्ण को, **अहं** = मैं
विज्ञापयामि = विज्ञप्ति करता हूँ

भावार्थ : श्रीकृष्ण सर्वसामर्थ्ययुक्त हैं और सर्वत्र समग्र अर्थ के करनेवाले हैं। इसलिए शरण में आए ऐसे जीवों का उद्धार करने के लिए मैं श्रीकृष्ण को विज्ञप्ति करता हूँ।

व्याख्या :

प्रभु सर्वसामर्थ्यसहित हैं - **''असाधनम् अपि साधनं करोति।''**

गाली देनेवाले को भी - **''अहो बकी यं स्तनकालकूटं, जिघांसयापाययदप्य साध्वी। लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम (भाग. 3/2/23)।''** - विष पिलाने आई पूतना को भी प्रभु अपनी माँ मान सकते हों तो हम अधिक से अधिक प्रभु के साथ क्या गड़बड़ फैलाएंगे? इससे अधिक गड़बड़ तो नहीं फैलाएंगे न?

प्रभु सर्वसामर्थ्यसहित हैं - ''असाधनम् अपि साधनं करोति'' - जो शरणस्थजीव हैं उनका समुद्धार प्रभु करते हैं। कृष्ण को ऐसी विज्ञप्ति श्रीमहाप्रभुजी हमारी तरफ से वकालत करते हुए कर रहे हैं।

कृष्णाश्रयम् इदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ।
तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत्।।11।।

अन्वयार्थ :

यः = जो, **इदं** = इस
कृष्णाश्रयं = कृष्णाश्रय
स्तोत्रं = स्तोत्र को
कृष्णसन्निधौ = श्रीकृष्ण के पास में
श्रीवल्लभः = श्रीमहाप्रभुजी ने
पठेत् = पढ़ेगा, **तस्य** = उसको
कृष्णः = श्रीकृष्ण
आश्रयः = आश्रय
भवेत् = होगा, **इति** = यह
अब्रवीत् = कहा

भावार्थ : यह कृष्णाश्रयस्तोत्र श्रीकृष्ण की सन्निधि में जो पढ़ता है उसका आश्रयरूप श्रीकृष्ण होते हैं। यह श्रीवल्लभाचार्यजी ने कहा है।

व्याख्या :

अब हमें यह समझा रहे हैं कि इस कृष्णाश्रयस्तोत्र का कृष्ण के सान्निध्य में जो पाठ करेगा उसका आश्रय कृष्ण बन जाएंगे। किस प्रकार आश्रय बनेंगे? सीधी सी बात समझें कि आप कृष्ण को श्रीमहाप्रभुजी के शब्दों में समझा रहे हैं कि कृष्ण, तू मेरा आश्रय है। आग्रहपूर्वक, संस्तुति के साथ श्रीमहाप्रभुजी के शब्दों में आप कृष्ण को समझा रहे हैं कि तू मेरा आश्रय है। कृष्ण ने श्रीमहाप्रभुजी को समझा रखा है कि आप जिनको अंगीकार कराएंगे उनको मैं अंगीकार करूँगा।

इस प्रकार श्रीमहाप्रभुजी दृढ़तापूर्वक कह रहे हैं कि - ''तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण" इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत्।'' यह सम्पूर्ण कृष्णाश्रय, विवेकधैर्याश्रय के अन्तिम श्लोक के सूत्र के भाष्य के अन्तर्गत कहा गया है।

ध्यातव्य

कल हमने 'कृष्णाश्रय' किया। कृष्णाश्रय में जो विशेष उल्लेखनीय बात थी वह हमने देखी कि - ''अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः'' से ले कर ''शरणस्थ समुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम्'' तक सात से दसवें श्लोक तक चार श्लोक हैं जिनमें कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग और प्रपत्तिमार्ग की दृष्टि से हमने देखा कि कृष्णाश्रय हमें कितना सहायक होगा। फिर चाहे यह मार्ग हमसे निभता हो या न निभता हो। नवम श्लोक में हमने यह भी देखा कि ''विवेक-धैर्य-भक्त्यादि-रहितस्य विशेषतः, पापासक्तस्य दीनस्य कृष्णएव गतिर् मम।'' विवेक, धैर्य, भक्ति इन सबसे रहित होने पर भी कृष्ण का आश्रय सफल है। यहाँ ध्यान रखें कि हम 'विवेकधैर्याश्रय' को देख चुके। यहीं से आश्रय को श्रीमहाप्रभुजी छोड़ रहे हैं और एक नया संयोजन तैयार कर रहे हैं।

विवेक, धैर्य, भक्ति आदि से भी रहित है और साथ ही पाप में आसक्त

भी है। ऐसी परिस्थिति भी हो सकती है कि विवेक, धैर्य, भक्ति आदि से रहित हो परन्तु पापासक्त न हो। परन्तु ''**न हि मग्नश्चेत् पातालं विशेत्**'' - वह पाताल में भी निवेष्ट हो या पापासक्त हो और पापासक्त भी है तो है लेकिन ''कृष्णएव गतिर्मम।'' वाली बात हमें विशेषरूप से ध्यान में रखनी है। क्योंकि विवेकधैर्याश्रय में कहा गया था - ''भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तैश्चातिक्रमे कृते, अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः'' ''कलौ भक्त्यादिमार्गाहि दुःसाध्या इति मे मतिः'' - इन सब संदर्भों के अन्तर्गत श्रीमहाप्रभुजी ने यहाँ कृष्णाश्रय में फिर से दृढ़तापूर्वक कहा है कि - ''विवेक-धैर्य-भक्त्यादि-रहितस्य विशेषतः, पापासक्तस्य दीनस्य कृष्णएव गतिर् मम'' - अब भी मुझे कृष्णाश्रय नहीं छोड़ना है।

इस बात को ध्यान में रखें कि यह बहुत ही नाजुक प्रसंग है। जैसे विश्वकर्मा बाग में चर्चासभा में भी यही प्रश्न उठा था और तब मैंने यही पूछा था कि क्या श्रीमहाप्रभुजी द्वारा उपदिष्ट विधि-निषेध का उल्लंघन, उपेक्षा करके भी हम भगवत्सेवा कर सकते हैं और तब क्या उद्धार हो सकेगा?

उस समय श्रीहरिरायजी (जामनगरवाले) ने गीताजी का संदर्भ दे कर कहा था - ''**अपि चेत् सुदुराचारो भजते माम् अनन्यभाक्, साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः**'' (गीता. 9/30) - चाहे कोई सुदुराचारी हो पर वह भजन कर रहा है तो उसे साधु ही मानें लेकिन यहाँ एक भ्रान्ति है। यह भ्रान्ति बेचारे हरिरायजी को ही नहीं है बल्कि अपने मार्ग में भी इस प्रकार की भ्रान्ति फैली हुई है जिसमें केवल हरिरायजी महत् शिकार हैं।

यहाँ अवधेय है कि विवेकधैर्यभक्त्यादिरहित को कृष्णाश्रय साधक बन सकता है परन्तु कृष्णाश्रय के साधक होने का यह अर्थ कभी नहीं समझना चाहिए कि जो कृष्णाश्रित है उसको विवेकधैर्यभक्त्यादि का रहितत्व साधक होगा। दोनों बातों का अन्तर समझ में आया?

यही प्रकार सुदुराचारी का है, वह भी यदि भगवान की भक्ति कर रहा है तो भगवान उसे धर्मात्मा मानने के लिए कह रहे हैं पर यह नहीं कह रहे कि जो धर्मात्मा है उसे सुदुराचार करने की छूट है। वहाँ यह बात कह रहे हैं कि जो दुराचारी है उसको भी भक्ति करने की छूट है परन्तु जो भक्त है उसको दुराचार करने की छूट नहीं देना चाह रहे। हम इसका विपरीत अर्थघटन कर रहे हैं कि यदि हम भक्त हैं तो हमें दुराचार करने की भी छूट है। भक्त को दुराचार करने की छूट की बात यहाँ नहीं है, जो दुराचारी है उसको भी भक्ति करने की छूट है, यह बात कही गई है।

अब इसका कोई अनर्थ करे कि भक्त को दुराचार करने की छूट है तो समझ लें कि बचपन से आदत बिगड़ी हुई है, पढ़ने की आदत न हो और लड़कियों के साथ घूमने की आदत हो तो भी माता-पिता लड़के को कॉलेज में प्रवेश दिलाते ही हैं। अब क्या कॉलेज में प्रवेश मिल जाने से कॉलेज में लड़कियों के साथ घूमने की छूट है? यह तो अपनी खराब आदत को कॉलेज के साथ जोड़नेवाली बात है।

यह बात तो समझ में आ सकती है न कि बीमार को अस्पताल में भर्ती होने की छूट है। अब कोई ऐसा समझे कि अच्छा-अच्छा, अब समझ में आया कि बीमार को अस्पताल में भर्ती होने की छूट है इसलिए अस्पताल में बीमारी फैलाने की छूट है। यह आपको किसने कहा? बीमार को अस्पताल में भर्ती होने की छूट का अर्थ अस्पताल में बीमारी फैलाने की छूट से नहीं है।

इसी प्रकार विवेकधैर्यभक्त्यादि से रहित को कृष्णाश्रय की छूट है लेकिन इससे कृष्णाश्रित को विवेकधैर्यभक्त्यादि से रहित होने की छूट नहीं है। आप जो कर्म के प्रसंग पर विचार कर रहे थे उसमें बस इस तरह का विवेक देखेंगे तो सारी बात समझ में आएगी कि किसको क्या छूट है।

मान लें कि हमें लड़की के साथ घूमने की आदत है और कॉलेज में पढ़ाई नहीं करते। इससे दो नुकसान होंगे - एक तो घूमने का नुकसान और कॉलेज जाकर पढ़ते नहीं इसलिए मूर्ख रह जाने का नुकसान। सम्भव है कि कॉलेज में पढ़ाई करने से अध्ययन में थोड़ी रुचि जगे, थोड़ी बुद्धि सुधरे तो उससे इस प्रकार की क्षुद्रताएँ स्वतः छूट जाती हैं। अब हम इसके लिए यह सोचें कि हम लड़की के साथ घूम रहे थे तो कॉलेज में यह छूट मिली और कॉलेज में लड़की के साथ आँखें लड़ाएँ तो कॉलेज यह भी छूट देगा। इससे दो नुकसान हो जाएंगे - कॉलेज भी बिगड़ जाएगी और आप तो बिगड़े हुए थे इसलिए बिगड़े हुए ही रहे, सुधरे ही नहीं।

इस प्रकार हमारी जो कमजोरी है उस कमजोरी को अपने साथ रखते-रखते भी भगवदाश्रित हो गए तो हम अपनी कमजोरी पर नियंत्रण पा सकेंगे। इसलिए भगवान ने गीता में आज्ञा की है - **''क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वत् शान्तिं निगच्छति, कौन्तेय! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति (गीता 9/31)।''** आप भगवदाश्रित हो जाएँ, आपकी तकलीफ दूर हो जाएगी, आप दुराचारी के स्थान पर धर्मात्मा हो जाएंगे। यदि आपने इसका अर्थ यों समझा कि ठीक है, दुराचारी को भक्ति करने की छूट है इसलिए भक्त को दुराचार करने की छूट है तो बात गड़बड़ हो जाएगी।

क्योंकि उपर्युक्त स्थिति में आप अपना रोग भक्ति को भी लगा रहे हैं अर्थात् जो दवा आपको आपके रोग से स्वस्थ करनेवाली है उस दवा को भी आप प्रदूषित कर रहे हैं। जिस दवा से आप स्वस्थ हो सकते हैं, जो दवा आपके शरीर का प्रदूषण दूर कर सकती है उस दवा को अपने रोग से प्रदूषित करने की बात कोई भी अस्पताल कभी भी स्वीकार नहीं करेगा। इसी प्रकार इस बात की भी कोई भी कॉलेज स्वीकृति नहीं देगा।

सम्प्रदाय भी इस प्रकार की बात के लिए अनुमति नहीं देगा। कारण

यह है कि भगवान विवेकधैर्यभक्त्यादि से रहित का भी आश्रय बने हैं। इसलिए भगवदश्रित को विवेक, धैर्य, भक्ति की कोई भावना मन में न रखना, श्रद्धा न रखना, विवेकधैर्यभक्त्यादि के विकास के लिए किसी के द्वारा इस प्रकार का विश्वास न रखा जाना, इस प्रकार के साधनों में निष्ठा न रखना जिनसे विवेक, धैर्य, भक्ति का विकास होता हो तो ऐसी-ऐसी रियायतें देने से यह झमेला खड़ा होगा कि हमारे भीतर के दोषों से हम अपने सम्प्रदाय को प्रदूषित कर रहे होंगे। जो मेरा दोष है, वह मेरा दोष है। जैसे मैंने उस दिन बताया था कि यह सहज सम्भव है कि हम सिद्धान्त की चर्चा कर रहे हैं तो हमें अहंकार हो जाता है। यह मेरा दोष है, एक बार नहीं एक हजार बार मुझे यह मंजूर है। अब यदि मेरे इस दोष के कारण सम्प्रदाय में सबको यह कहूँ कि सब अहंकारी हो जाएँ, सबको अहंकार रखना चाहिए तो सम्प्रदाय में दोष फैल रहा है। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है।

मान लें कि किसी को ऐसा लगता हो कि सम्प्रदाय के सभी सिद्धान्त बता कर मैं यह दोष फैला रहा हूँ इसलिए सब अहंकारी हो गए, होते होंगे। अत: जैसे मेरा दोष है वैसे सुननेवालों में ऐसा सहज दोष हो सकता है लेकिन सिद्धान्त की दृष्टि से यह बात हमें स्पष्ट रूप से समझ में आ जानी चाहिए कि मैं न तो अपने भीतर के अहंकार को गुण मानता हूँ न आपमें से किसी में रहे हुए अहंकार को गुण मानने को तैयार हूँ।

हमें सीधे-सीधे एक बात समझनी चाहिए कि जहाँ भी अपसिद्धान्त हैं वहाँ हमें सिद्धान्त समझना है। श्रीमहाप्रभुजी के नाम पर चलनेवाले सम्प्रदाय में यह एक दोष है, है और है। यह बात कहने से यदि हमारे भीतर अहंकार आ रहा है तो हम में एक गुण भी है और एक दोष भी है। हम अपने सिद्धान्त कह रहे हैं, सिद्धान्तों पर विचार कर रहे हैं, सिद्धान्तों को मान रहे हैं, वह एक गुण है और उनको कहने में, उन पर विचार करने में, मानने की प्रक्रिया में हमारे भीतर यदि अहंकार बढ़ गया तो वह एक दोष है।

इस दोष को सम्प्रदाय में फैलाना नहीं चाहिए। इस दोष को सम्प्रदाय में नहीं फैलाने का अर्थ यह नहीं है कि सिद्धान्त कहने नहीं चाहिए, सिद्धान्त जानने नहीं चाहिए, खुले आम सिद्धान्तों को स्पष्ट नहीं करना चाहिए। सिद्धान्तों को स्पष्ट करना ही चाहिए। साथ ही साथ यह भी स्पष्ट करना चाहिए कि इन सिद्धान्तों को कहने में, सुनने में, जानने में और चर्चा करने में जो कुछ भी दोष हम में उत्पन्न होते हों उन दोषों पर भी नियंत्रण रखना चाहिए।

यह अवधेय है कि हम इस बात को प्रोत्साहन देते हैं तो हमारे रोग को अपने सम्प्रदाय में फैला रहे हैं। अत: व्यक्ति रोगी हो तो अस्पताल में स्वस्थ हो सकता है परन्तु उसे अस्पताल में अपने रोग का संक्रमण सबको लगा-लगा कर रोगी क्यों बनाना चाहिए? समझ लें कि मुझे कोई प्लेग जैसा अथवा एड्स जैसा संक्रमण रोग हो गया, तो हो गया। फिर अस्पताल मुझे सम्भाल लेगा और मेरा रोग ठीक कर देगा। लेकिन मैं यदि यह समझूँ कि अच्छा, यह अस्पताल कितना दयालु है कि मेरे जैसे प्लेग के रोगी को प्रवेश दिया इसलिए अब अस्पताल की नर्स को भी रोग का संक्रमण लगा दूँ, डॉक्टर को भी रोग का संक्रमण लगा दूँ, गलती से मेरे आस-पास कोई रोगी आ कर सोया तो उसको भी रोग का संक्रमण लगा दूँ। भाई, अस्पताल को बीमार करने की छूट आपको कौन दे रहा है? अस्पताल में बीमार को स्वस्थ करने की छूट दी जाती है, इसलिए किसी रोगी को अस्पताल को बीमार करने की छूट कभी नहीं दी जा सकती।

इसी प्रकार हमारा जो कुछ व्यक्तिगत दोष है उसको स्वीकार करते हुए कृष्णाश्रय की छूट दी जा रही है। जो कृष्णाश्रित है, उसे विवेकधैर्यभक्त्यादि से रहित होने की छूट नहीं दी जा रही है। ऐसा गलत अर्थ न समझें। इस प्रकार समझेंगे तो पूरी बात समझ में आएगी और आगे का ग्रंथ प्रारम्भ हो पाएगा अन्यथा आगे का ग्रन्थ अटका हुआ रह जाएगा। इस मूल बात को समझ लें।

।। इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितं कृष्णाश्रयस्तोत्रं सम्पूर्णम्।।

॥ चतुःश्लोकी ॥

भूमिका :-

यदि हम यह बात सम्यक्रूपेण समझ गए कि कृष्णाश्रित को विवेकधैर्यभक्त्यादि से रहित होने की छूट नहीं दी गई तो अब चतु:श्लोकी को आनन्द से समझा जा सकता है। चतु:श्लोकी में क्या कहा जा रहा है - ध्यान से समझें। उस दिन कल्पना बेन के घर मैंने आपको समझाया था कि अहंता-ममता के जो दो वृत्त हैं उनमें हम भक्ति के एक चतुष्कोण को सम्मिलित कर रहे हैं एवं उस चतुष्कोण को सम्मिलित करने के पश्चात् इतना छोटा नहीं रहने दे कर उसे धीरे-धीरे विस्तृत करते जाना है। यदि विस्तृत नहीं कर सकते तो वह हमारी कमजोरी या दुर्बलता है।

इस प्रक्रिया से यह ''विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषत:, पापासक्तस्य दीनस्य कृष्णएव गतिर्मम'' हो जाएगा। यदि हम उसे विस्तृत नहीं करना चाहते, हम उसे विस्तृत होने देना नहीं चाहते तो यह हमारी नहीं अपितु कहीं न कहीं व्यवस्था की कमजोरी है। क्योंकि जब हम विस्तृत होने देना नहीं चाहते तो ऐसे व्यक्तियों को सम्प्रदाय में आने ही नहीं देना चाहिए, ऐसे व्यक्तियों को भक्तिमार्ग में दीक्षा नहीं देनी चाहिए, ऐसे व्यक्तियों को भक्तिमार्गीय दृष्टि से स्वीकृति नहीं दी जानी चाहिए।

जो कण्ठतया मुँह से खुले आम कह रहे हैं कि भाई, हम तो विवेकधैर्यभक्त्यादिरहित ही रहेंगे, हमें विवेक या धैर्य अथवा भक्ति की कोई परवाह नहीं क्योंकि हम कृष्णाश्रित हैं। इसका तात्पर्य यह है कि इसमें कुछ झमेला है। श्रीमहाप्रभुजी यह नहीं कहना चाहते। यह तो हमने उनके वचनों का दुरुपयोग करके हीलेबाजी ढूँढ निकाली है। यहाँ आकर हमने दिव्य सिद्धान्तों

का दुरुपयोग करने के लिए मार्ग से, सिद्धान्तों से पलायन करने का बहाना ढूँढ लिया है।

इन दोनों के भेद को पूरे ध्यान से समझेंगे तो पाएंगे कि कितनी खूबसूरत बात चतु:श्लोकी में आ रही है कि जो विवेक, धैर्य, भक्त्यादि से रहित है, और है तो है परन्तु कृष्ण में अनन्याश्रित है तो वह पतझड़ की चिन्ता नहीं करेगा। जैसे मैंने कल आपको हरिवंशराय बच्चन की कविता बताई थी - **''इन चिकने ताजे नए हरे पत्तों के साये में, सुमने फिर प्यार नया हो सकता है। हर दंत समय का जो लगता मानो विषदंत नहीं होता''** अर्थात् दांत उगने में लगनेवाले समय में बालक को कितनी तकलीफ होती है - उसे अतिसार हो जाता है, बुखार आ जाता है, पचासों तरह की तकलीफ हो जाती है। भला-चंगा बालक कभी दुबला-पतला हो जाता है और समयानुसार जो दांत आ रहे हैं वे विषदंत की तरह लग रहे हैं।

इस प्रकार ''हर दंत समय का जो लगता मानो विषदंत नहीं होता, दु:ख मानव के मन के ऊपर सब दिन बलवंत नहीं होता। आहें उठतीं....'' हमें दु:ख होगा कि भाई, हम विवेकधैर्यभक्त्यादि से रहित हैं, ''आँसू झरते'' रोना आना चाहिए कि मार्ग में आ जाने पर भी हम विवेकधैर्यभक्त्यादि से रहित हैं, ''सपने पीले पड़ते'' हम कुछ निराश भी हो जाएंगे कि क्या करें, भक्तिमार्ग में आ तो गए पर भक्ति की बात तो दूर रही हमें तो विवेक-धैर्य भी प्राप्त नहीं हो रहा, पर ''जीवन में पतझड़ आने से जीवन का अंत नहीं होता'' - ऐसा पतझड़ आता-जाता रहेगा। उससे जीवन का अंत नहीं होता।

इसी भाँति ''कृष्णएव गतिर्मम'' की आपकी निष्ठा यदि सुदृढ़ है तो फिर एक नया वसन्त आपके जीवन में खिल उठेगा और वह वसन्त कैसा होगा? उस वसन्त का वर्णन श्रीमहाप्रभुजी चतु:श्लोकी में कर रहे हैं। संक्षेप में चतु:श्लोकी ग्रंथ हमें यह बताना चाहता है कि जो यथार्थत: कृष्णाश्रित है,

छल-छद्म के रूप में नहीं, सच्चे अर्थों में जो कृष्णाश्रित है उसमें यह गर्व एक दिन खिल उठेगा एवं उसे अपना धर्म भी कृष्ण के संदर्भ में समझ में आ जाएगा, उसे अर्थ भी कृष्ण के संदर्भ में समझ में आएगा, उसको काम भी कृष्ण के संदर्भ में समझ में आएगा, अपना मोक्ष भी उसको कृष्ण के सम्बन्ध से ही समझ में आएगा।

जो धर्म कृष्ण से सम्बन्धित नहीं, उसे वह अपना धर्म नहीं लगेगा। जो अर्थ कृष्ण से जुड़ा हुआ नहीं है वह उसे अर्थ प्रतीत नहीं होगा, हृदय की जो कामनाएँ कृष्ण से सम्बन्धित नहीं, उनको वह कामना नहीं समझेगा, जो मुक्ति कृष्ण के साथ सम्बन्धित नहीं, उस मुक्ति को वह मुक्ति के रूप में स्वीकार नहीं कर पाएगा।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि बालबोध में छोड़े गए धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूपी पुरुषार्थ चतुष्टय का प्रसंग यहाँ पुष्टिमार्ग के संदर्भ में पुनः प्रकट हो गया है। जैसे गणक (Calculator) में हम आंकड़े संग्रह करके या जमा करके स्मृति में डाल देते हैं और जब दूसरे आंकड़ों के साथ उनको रखना या हटाना हो तो स्मृति में से उन आंकड़ों को वापस लाते हैं। इसी प्रकार बालबोध में छोड़े हुए धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को स्मृति में डाल कर यहाँ श्रीमहाप्रभुजी गणक की पद्धति से उसे पुनः बाहर ला रहे हैं कि अच्छा, अब संग्रहित पक्ष किस रूप में हमारे सामने आ रहा है। यहाँ श्रीमहाप्रभुजी यही बात स्पष्ट कर रहे हैं।

यदि आप कृष्णाश्रित हो गए तो फिर चिन्ता की कोई बात नहीं है। कारण यह है कि - ''कृष्णाश्रयम् इदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ, तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत्'' - **''क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वत् शान्तिं निगच्छति, कौन्तेय! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति (गीता 9/31)''** भगवान ने अर्जुन को यह बात बता दी कि मैंने क्या प्रतिज्ञा ली थी। मेरी ओर से तू जा कर सबको शपथ ले कर कह दे कि जो भगवान का भक्त है

उसका कभी विनाश नहीं होता बशर्ते कि भगवान का सच्चा भक्त हो। भक्ति के नाम पर नाटक करनेवाले, भक्ति के नाम पर इस प्रकार का खोखलापन या दम्भ प्रदर्शित करनेवाले के लिए भगवान कोई जमानत नहीं दे रहे हैं। यही बात श्रीमहाप्रभुजी चतुःश्लोकी में फिर से उठा रहे हैं -

पुष्टिमार्गे हरैर्दास्यं, धर्मोऽर्थो हरिरेव हि।
कामो हरिदिदृक्षैव, मोक्षः कृष्णस्य चेद् ध्रुवम्।।

जिनसे आप हरि का दासत्व निभा सकें, वे सब पुष्टिमार्ग में आपके धर्म हैं। जो धर्म करने से हरि के प्रति आपका दासत्व खण्डित हो रहा है, आपका वह कर्तव्य, आपका वह फर्ज पुष्टिमार्ग में धर्म नहीं हो सकता। यहाँ समझना यह है कि यह बात कृष्णाश्रित को कही जा रही है, सबको नहीं कही जा रही। इस बात को पुनः ध्यान से समझ लें। जिसका कृष्णाश्रय अभी डगमगा रहा है उसे यह बात नहीं समझेगी। यह भाषा उसे ऐसी लगेगी कि भाई, क्या बोल रहे हैं, ऐसा कैसे हो सकता है? हमें भी चिन्ता हो जाएगी। यह किस प्रकार की संकीर्णता उत्पन्न कर दी कि कृष्ण के दास होने के अतिरिक्त कोई धर्म ही नहीं। फिर क्या हम खाएँ-पीएँ नहीं, क्या हम अपने माता-पिता का पालन-पोषण न करें, क्या हम अपने बच्चों को पढ़ने के लिए स्कूल नहीं भेजें?

अरे भाई, आपके ये सब धर्म, कृष्ण के दासत्व की अभिव्यक्ति के रूप में प्रकट होंगे। आपके अपने अहंकार से प्रकट नहीं होते कि मैं पिता हूँ और मुझे अपने बच्चों का पालन-पोषण तो करना ही है, मैं पति हूँ तो मुझे अपनी पत्नी के साथ निभाना ही है या मैं पत्नी हूँ तो मुझे पति की सेवा करनी ही है। अरे! सब कुछ करना है, पर वह जो चतुष्कोण है अब विस्तृत हो गया है, इतना विशाल हो गया है कि उस चतुष्कोण के भीतर आपकी सारी अहंता-ममता रद्द नहीं हो रही अपितु भक्ति के चतुष्कोण का एक हिस्सा बन रही है।

आपकी अहंता-ममता के साथ जुड़ी हुई सभी वस्तुएँ मिटाई नहीं जा रहीं, अस्तित्वहीन नहीं हो रहीं वरन् इस रूप में आपने अपनी भक्ति के चतुष्कोण को अपने कृष्णाश्रय के बल पर अच्छी प्रकार से विस्तृत कर लिया है। ''तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण:'' - कृष्णाश्रय के बल पर आपने अपनी भक्ति का चतुष्कोण इतना विस्तृत किया है कि अब आपकी सारी अहंता-ममता धर्मपुरुषार्थ की, अर्थपुरुषार्थ की, कामपुरुषार्थ की, मोक्षपुरुषार्थ की, आपकी भक्ति का एक हिस्सा बन गई। इस प्रकार इस बात को ले कर श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा कर रहे हैं। जिसका कृष्णाश्रय डांवाडोल है, जिसे भक्ति की कोई समझ नहीं, भक्ति जिसे प्राप्त ही नहीं करनी उसे नहीं कह रहे हैं।

मुझे एक बार एक परिवार में बहुत कड़वा अनुभव हुआ। मैं लगभग उस परिवार में जाता रहता था। उन्होंने मुझे कहा कि महाराज! लड़के सब अंग्रेजी माध्यम से पढ़े हैं, कोई भी अपना धर्म नहीं मानता। आप उनको कुछ समझाएँ। अब मैं स्वयं परेशान था कि परिवार में समझनेवाला कौन होगा, मुझे भी शंका थी। मैंने कहा कि कभी समझाऊँगा।

थोड़े दिन बाद ऐसा चक्कर हुआ कि उस घर के लड़के को स्वत: ही, न जाने क्यों, श्रीठाकुरजी की सेवा में बहुत रुचि होने लगी। बाद में जब एक बार उस घर में मेरा जाना हुआ तो लड़के के पिता ने मुझे कहा कि महाराज! इस लड़के को कुछ समझाएँ, सेवा ही करता रहता है। कोई कामकाज नहीं करता। अभी से सेवा करेगा तो मेरा व्यापार कौन संभालेगा? मैंने कहा कि अच्छा हुआ कि इसे मैंने नहीं समझाया अन्यथा मेरे ऊपर ही आरोप आता। उस दिन मैंने अपने आपको खूब शाबाशी दी कि खूब समझदारीवाला काम किया है कि इस घर में मैंने किसी प्रकार का उपद्रव नहीं फैलाया। क्योंकि पहले वह एक बात कह रहा था और फिर दूसरी बात कहने लगा। मनुष्य क्या है - चर्षणी है। यह चर्षणी का स्वभाव है, यह समझ जाएँ।

हमारे दादाजी ने मुझे एक बार बहुत मजेदार घटना बताई। किसी एक धनिक परिवार में बेचारे दादाजी को पधारना था और वह व्यक्ति बहुत वृद्ध हो गया था फिर भी स्वयं ऑफिस जाता था। लड़कों को चाबी नहीं देता और न हस्ताक्षर करने का अधिकार देता। व्यापार का सभी निर्णय वह वृद्ध स्वयं लेता था। उसका बेटा कोई पचास-साठ वर्ष का था और पिता लगभग सत्तर-अस्सी वर्ष का, निश्चित उम्र मुझे याद नहीं।

बेटे ने दादाजी से पूछा कि गुरुजी! यह बुड्ढा कब मरेगा? किसी दिन आप कुण्डली देख कर बताएं। मालूम नहीं दादाजी ने कुण्डली देखी थी या नहीं पर एक दिन वह वृद्ध मर गया। दादाजी उसके यहाँ संवेदना प्रकट करने गए कि भाई, तुम्हारे पिता जी मर गए। उस दिन वह लड़का रो रहा था कि गुरुजी, मेरे सिर का ताज चला गया। दादाजी ने घर आ कर अपनी डायरी में उसका नाम 'गुरु' के संदर्भ में लिख दिया कि यह मेरा भी गुरु है।

पहले तो स्वयं ही कह रहा था कि कुंडली देख कर बताएँ कि बुड्ढा कब मरेगा, जब चला गया तो मुझे बेवकूफ बनाता है। गाँव को बेवकूफ बनाए तो ठीक बात है, व्यवहारिक बात है पर मुझे ही उसने कहा था कि कुंडली देख दें कि बुड्ढा कब जाएगा, अपना व्यापार मुझे नहीं सौंपता। अब मेरे ही सामने ऐसा नाटक कि गुरुजी मेरे सिर का ताज चला गया! दादाजी ने वापस आ कर डायरी में उसका नाम 'गुरु' लिख दिया। लगभग गुरु ऐसे चर्षणी प्रकार के ही होते हैं।

अत: यह बात समझें कि चर्षणी हो तो फिर बड़ी कठिन बात है, बाकी व्यक्ति चर्षणी न हो तो बात भलीभाँति संभल जाएगी कि अपने समस्त पुरुषार्थ को अपनी भक्ति से जोड़ कर देखने की कुशलता या एक अन्तर्दृष्टि उसमें उत्पन्न हो जाएगी। धर्म भी करेगा तो इस प्रकार से कि वह भगवत्सेवा का अंग बने, अर्थोपार्जन भी करेगा तो इस प्रकार से कि वह भगवत्सेवा का अंग बने। मेरी सभी इच्छाओं को वह पूर्ण करेगा तो इस प्रकार कि जो भगवद्विषयिणी मेरी

कामनाएँ हैं उन कामनाओं का यह कामना एक हिस्सा बन जाएगी। मेरी मुक्ति भी ऐसी होगी जिसमें मुझसे भगवद्भजन-स्मरण भलीभांति निभ सकेगा।

हमें भूले-चूके भी समझ में आ गया कि भक्ति पाँचवां पुरुषार्थ है तो यह बात हमें समझ में आएगी कि -

पुष्टिमार्गे हरेर् दास्यं धर्मोऽर्थो हरिरेव हि।
कामो हरिदिदृक्षैव, मोक्षो कृष्णस्य चेद् ध्रुवम्।।

आपने हरि को अपना मान लिया यह धर्म है और जब आप हरि के बन गए तो यह आपकी मुक्ति है। आपने हरि को अपना माना यह आपका धर्म है कि आपने गाँव को छोड़ कर हरि को अपना माना, छोड़ कर अर्थात् गाँव की चिन्ता किए बिना, छोड़ने का अर्थ शारीरिक त्याग नहीं है, संन्यास के अर्थ में नहीं है परन्तु गाँव के अतिरिक्त आपने हरि को अपना माना यह आपका धर्म है। इसी प्रकार हरि को अपना बना कर जब आप हरि के बन गए - जैसा मैंने उस दिन बताया था कि - **''मेरो मन मोहन सो लागत है बार-बार, मोहन को मोसों मन लागी है बिचारो तो''** - जिस समय आप ऐसे बन गए, हरि यदि यह कह दें कि यह मेरा है तो समझ लें कि भक्ति को पाँचवां पुरुषार्थ मानना युक्तिसंगत है। अर्थात् इसके बिना चार श्लोकों का कोई अर्थ नहीं रह जाता। कारण यह है कि यहाँ जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष हैं वे भक्त्यंग हैं, लौकिक धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष हैं अथवा शास्त्रीय धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष हैं उनका सम्पूर्ण संदर्भ ही श्रीमहाप्रभुजी ने छोड़ दिया है। इस पंचम पुरुषार्थरूपाभक्ति के अन्तर्गत आपके धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के विषय में आपका भाव, आपकी समझ, आपका रुझान क्या रहेगा - यह बता रहे हैं।

एक बात ध्यान से समझें कि धर्म क्या है - भक्ति। अर्थ क्या है - भक्ति, काम क्या है - भजनीय की कामना, मोक्ष क्या है - भजन और स्मरण का निर्वाह। इस प्रकार पुनः एक बार धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को भक्ति के कक्ष में

कैद कर दिया। भक्ति को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के अन्तर्गत नहीं समझा रहे हैं अपितु धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को भक्ति के अन्तर्गत समझा रहे हैं। चारों पुरुषार्थ को भक्ति के अन्तर्गत समझा रहे हैं। अतः स्वतः ही भक्ति पंचम पुरुषार्थ सिद्ध हो रही है, केवल शाब्दिकरूप से यहाँ नहीं कहा है।

श्रीमहाप्रभुजी ने यह बात भागवत की सुबोधिनी में, निबन्ध में और अन्यत्र कई स्थानों पर प्रबल दृढ़ता के साथ कही है कि भक्ति पाँचवां पुरुषार्थ है। यह बात यहाँ नहीं कही गई है परन्तु यही बात उस समय बालबोध में उद्भूत हुई थी। जब चारों पुरुषार्थ को वहाँ रोक कर सिद्धान्तमुक्तावली शुरू हुई थी तब वहीं से पंचम पुरुषार्थरूपाभक्ति शुरू हो गई थी और वह बात यहाँ आ कर सम्पूर्ण रूप से विकसित हो गई।

सम्पूर्णरूप से विकसित इसलिए हो गई है कि इस स्थिति पर आ कर श्रीमहाप्रभुजी हमें यह स्पष्टरूप से कह सकते हैं कि भाई, भक्ति यदि पंचम पुरुषार्थ है तो आपका धर्म, आपका अर्थ, आपका काम, आपका मोक्ष सभी भक्ति के अंगरूप हो जाएंगे। इसलिए स्वतः ही भक्ति पंचम पुरुषार्थ है। यह आचरण से भी सिद्ध हो रहा है न!

बावा, इसलिए ही मैंने श्रद्धा, विश्वास और निष्ठा के विषय में पहले स्पष्ट किया था। कारण यह है कि कोई भी बात हो - जैसे हमें टाइपिंग सीखना है तो उसमें ये सभी चरण आवश्यक हैं। कई टाइप करनेवाले ऐसे होंगे जिन्होंने टाइप करना तो सीख लिया पर निष्ठा नहीं रखी। मैं समझता हूँ कि आपको भी अनुभव होगा कि दो-तीन महीने तक कम्प्यूटर का उपयोग न करें तो अँगुलियाँ अटकती हैं। सीखा हो या न सीखा हो लेकिन जब हम दो-तीन महीने तक उसका उपयोग ही न करें तो थोड़ा अँगुलियाँ अटकने लगती हैं। यह निष्ठा के अभाव के कारण होता है।

अत: हमने जिसे श्रद्धा से स्वीकार किया, बुद्धि से जिसमें विश्वास प्रकट किया उसमें क्रिया से हमें निष्ठा भी निभानी पड़ेगी। इन सभी बातों में हमारे समक्ष कोई स्वरूप श्रद्धा के स्तर पर आएगा, कोई स्वरूप विश्वास के स्तर पर आएगा, कोई स्वरूप निष्ठा के स्तर पर आएगा और हकीकत तो यह है कि श्रद्धा से पहले, यदि थोड़ा और गहरे उतरें तो, श्रद्धा से भी पहले रुचि के स्तर पर आएगा। यदि आपको रुचि नहीं है तो श्रद्धा भी उत्पन्न नहीं हो सकती।

थोड़ी रुचि तो आपको जगानी ही पड़ेगी। अत: रुचि, श्रद्धा, विश्वास और निष्ठा – इन चारों के क्रम में यह बात रुचि के स्तर पर जिस प्रकार की होगी उससे थोड़ी अधिक श्रद्धा के स्तर पर होगी। कारण यह है कि रुचि में केवल आपकी जिज्ञासा है, स्वीकार्यता नहीं है। श्रद्धा के स्तर पर आ कर उसको स्वीकार्यता मिल रही है परन्तु उसमें विश्वास नहीं जगा कि ऐसा ही होगा। जब आपको बार-बार उसका अनुभव होगा तो विश्वास जगेगा कि हाँ, ऐसा है। इसके बाद ही निष्ठा उत्पन्न होगी।

इसी प्रकार धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के संदर्भ में भी ये चारों बातें सम्मिलित हैं। चारों स्तर पर यह सम्भव है। इसमें कोई ऐसी बात नहीं है जो बहुत आदर्श हो अथवा व्यावहारिक स्तर पर सम्भव न हो सके। कोई भी एक बात ले लें – पेन्टिंग, म्यूजिक, साइक्लिंग, टाइपिंग, पर्वतारोहण, स्केटिंग – सबमें थोड़ी रुचि, थोड़ी श्रद्धा, थोड़ा विश्वास, थोड़ी निष्ठा का उत्तरोत्तर उन्नत क्रम है। उस पर से गुजरते समय कुछ भी प्राप्त हो जाए तो हो जाए। इसी प्रकार यह धर्म का अनुष्ठान, यह अर्थ का विश्वास, अर्थ की अनुभूति, काम का संतोष और मुक्ति की अनुभूति, ये सब उक्त चारों सोपान पर से गुजरेंगे।

अधिक समझने के लिए उदाहरण देता हूँ – मेरी कई वर्षों से हिमालय पर पदयात्रा करने की बहुत इच्छा है। एक बार तो मैंने मूर्खतावश अत्यधिक

अभ्यास किया क्योंकि वहाँ से सूचना आई थी कि आपको ट्रेकिंग के लिए आना हो तो व्यायाम करना चाहिए। इसलिए मैंने शरीर को स्वस्थ रखने के लिए धुआँधार व्यायाम शुरू कर दिया। इसके कारण कई बार मेरे पैर और घुटने दर्द करने लगे और चलने में भी तकलीफ होने लगी। आखिर मैंने तय किया कि भाई ट्रेकिंग फिर कभी करेंगे, फिलहाल इस विषय को छोड़ो।

एक बात बताऊँ कि उस समय मैंने विचार छोड़ दिया कि अब अभ्यास नहीं करूँगा, अब तो शरीर भी ढीला हो गया है परन्तु मेरे दिल से पूछें तो आज भी मेरी रुचि खत्म नहीं हुई है, हालांकि श्रद्धा डांवाडोल स्थिति में है कि कर पाऊँगा या नहीं कर पाऊँगा। रुचि अब भी मेरी इतनी तीव्र है कि कभी ऐसा अवसर आ जाए कि हिमालय पर मैं ट्रेकिंग करूँ। उस समय इसके लिए मैंने बहुत व्यायाम किया था। उस बार कलिंद पर्वत से ट्रेकिंग शुरू करके नीचे बद्रीनारायण तक आना था। उस समय मैंने बहुत व्यायाम किया इसलिए गड़बड़ हो गई।

दूसरी बात भी समझ लें कि मैंने जब संगीत सीखना शुरू किया न मथुरादास, तब मैंने और राजू ने साथ ही संगीत सीखना शुरू किया था। मैं कुछ भी बजाऊँ उससे पहले चारगुना अधिक राजू बजाने लग गया। मैंने कहा कि यार, मुझे लगता है कि कदाचित् मुझे सितार नहीं आएगा। इसके पहले मैंने तबला बजाना शुरू किया तब उसने पखावज बजाना शुरू किया था। राजू को बहुत अच्छा पखावज बजाना आ गया परन्तु मुझे नहीं आया इसलिए मुझे लगा कि पखावज मेरे लायक वाद्य नहीं है। चलो, सितार सीखूँगा। मेरे कारण राजू को भी जोश आ गया। उसने डेढ़-दो महीने में अच्छा सितार बजाना शुरू कर दिया परन्तु मैं वहीं का वही रहा। मुझे लगा कि सितार भी मेरे लिए ठीक नहीं है। मैंने सोचा अब क्या करना? संगीतशास्त्र की कई पुस्तकें पढ़ लीं। मैंने कहा कि मियाँ की दौड़ मस्जिद तक, अपनी दौड़ पुस्तक पढ़ने तक। संगीतशास्त्र की

सारी पुस्तकें पढ़ीं। कई बार वहीं बुद्धि चले, अन्यत्र न चले तो क्या करना, व्यक्ति लाचार है।

रुचि तो आज भी संगीत में बहुत है पर न हो सके तो मनुष्य क्या करे? हम रुचि रखे रहते हैं परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वह श्रद्धा तक पहुँचे, श्रद्धा से बढ़ कर विश्वास तक पहुँचे, किसी की निष्ठा तक पहुँचती है। कई लोगों की नहीं भी पहुँचती परन्तु रुचि निश्चित होती है। आप कभी भी देख सकते हैं कि मुझे संगीत में वास्तव में रुचि है। यह तो आप भी जानते हैं कि मेरी यथार्थत: रुचि है। अब संगीत न आए तो क्या उपाय? रुचि इतनी प्रामाणिक है कि जब भी संगीत का कोई कार्यक्रम होता है और वहाँ जाता हूँ तो कई लोग मुझे पूछते हैं कि भाई, आप कौनसा साज बजाते हैं? कई बार मुझे कहना पड़ता है कि ताली के सिवा कुछ भी बजाना नहीं आता। लोगों को ऐसा भ्रम है कि अवश्य ही कुछ न कुछ बजाते होंगे, जब इतनी रुचि है तो। उनको ऐसा लगता है यह अलग बात है, उनकी विवशता है। इसी प्रकार भक्ति में भी हमारी कुछ विवशता हो सकती है जो एक अलग बात है, परन्तु किसी एक स्थान पर प्रामाणिकता तो होनी ही चाहिए।

*****

॥ चतु:श्लोकी ॥

''इन चिकने ताजे नये हरे पत्तों के साये में, सुमने फिर प्यार नया हो सकता है'' – इस मनोभाव के साथ श्रीमहाप्रभुजी यहाँ प्रवेश कर रहे हैं।

(पुष्टि भक्ति मार्गीय धर्म पुरु षार्थ स्वरू पनिरू पणम्) – पुष्टिभक्तिमार्गीय धर्मपुरुषार्थ के स्वरूप का निरूपण किया जा रहा है।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिप:।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्य: क्वापि कदाचन।।1।।

अन्वयार्थ :

सर्वदा = सर्वदा
सर्वभावेन = सभी भावों से
व्रजाधिप: = ब्रज के अधिपति
भजनीय: = भजन करने योग्य हैं
स्वस्य = अपना, **अयं** = यह, **एव** = ही
धर्म: = धर्म है, **क्व** = कहीं भी
कदाचन = कभी, **अपि** = भी,
अन्य: = अन्य, **न** = नहीं (**अस्ति** = है)

भावार्थ : निरन्तर सर्वभाव से व्रजाधिप (श्रीकृष्ण) सेवन करने योग्य हैं। पुष्टिमार्गीय जीवों का कृष्णसेवन ही धर्म है। किसी काल में अथवा किसी स्थल में अन्य कोई धर्म नहीं है।

व्याख्या :

सर्वदा सर्वभाव से व्रजाधिप का भजन यहाँ हमारा धर्म है, अन्य कोई भी धर्म कभी भी नहीं। अब यहाँ देखें कि हमने अपने धर्म या भक्ति के

चतुष्कोण को विस्तृत किया है तब ये सभी क्षुद्र प्रश्न स्वत: ही उत्पन्न नहीं होते कि क्या हमें पूरे दिन सेवा ही करना, अन्य कुछ करना ही नहीं? अरे आप भूल कर रहे हैं। जो कुछ भी कर रहे हैं वह सेवा के भाग के रूप में होगा। सेवा से अलग अथवा स्वतंत्र नहीं होगा।

जो कुछ भी आप कर रहे हैं - अर्थात् श्रीमहाप्रभुजी यहाँतक आज्ञा करते हैं कि भक्त यदि नींद ले रहा है तो वह भी सेवा है। निद्रा तो बिलकुल मृत्युवत् मानी गई है, निद्रा का तात्पर्य अर्धमृतावस्था है। ऐसी स्थिति के लिए भी श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि भगवत्सेवक है और सो रहा है तो वह सो कर दूसरे दिन की सेवा करने के लिए कुछ ताजा, कुछ स्वस्थ हो जाएगा। अत: भगवत्सेवक सो रहा है तो वह भी सेवा है।

यह तो बहुत स्थूल कल्पना है। एकदम अभद्र या हीन कल्पना को भी श्रीमहाप्रभुजी ने - ''पायोर् मलांशत्यागेन शेषभागं तनौ नयेत्'' - के स्तर तक बोल कर बताया है कि चिन्ता की कोई बात नहीं। आपके सभी कार्य भगवत्सेवा के अंग बन सकते हैं। उस विशाल चतुष्कोण में देखेंगे तो ऐसे क्षुद्र प्रश्न उत्पन्न नहीं होंगे कि क्या हमें पूरे दिन भगवत्सेवा ही करना, क्या और कुछ नहीं करना, यही हमारा धर्म है, दूसरा कोई धर्म ही नहीं? यह एक प्रकार का स्वाभाविक अरुचिकर मनोभाव हमारे सामने आता है।

''स्वस्यायमेव धर्मोहि नान्य: क्वापि कदाचन'' - हमारे भीतर स्थित संसारासक्तजीव इसे सुनते ही सिहर उठता है, घबरा जाता है कि आखिर क्या कहना चाहते हैं? क्या पूरे दिन सेवा करना तथा दूसरा कोई काम नहीं करना ? अरे भाई, ऐसी बात नहीं है। आपने अपने जीवन की भक्ति के चतुष्कोण को इतना विस्तृत कर दिया है कि आपके जीवन का कोई भी प्रसंग, कोई भी प्रवृत्ति आपके भजन का हिस्सा हुए बिना नहीं रहती। इस अर्थ को समझेंगे तो बात बिल्कुल साफ-साफ समझ में आएगी तथा इस अर्थ को समझेंगे तो

'सर्वदा' का अर्थ समझ में आएगा कि जो कुछ भी कर रहे हैं वह सर्वदा है अन्यथा सेवा की रीत खोल कर देख लें कि सर्वदा सेवा नहीं हो सकती। कारण यह है कि सेवा में भी अनौसर तो करने ही है। अनौसर के समय में सेवा किस प्रकार कर सकेंगे? अधिक से अधिक आप क्या करेंगे कि स्मरण करेंगे। स्मरण भी कर सकते हों तो करेंगे न! यदि हम कोई दूकान ले कर बैठे हैं तो ऐसी स्थिति तो हमें प्राप्त होने से रही कि **''दधि के नाम बिसर गई ग्वालिन लेहो री गोपाले।''**

जैसे नरसिंह महेता ने ऐसा ही कुछ कहा है कि ''गोविन्द ल्योने'' - दही बेचने गई और दही के बदले ''गोविन्द ल्योने'' - इस प्रकार बेचने लगी। हम में इतनी तन्मयता तो नहीं है कि कपड़े बेच रहे हैं, हींग बेच रहे हैं या सोंठ बेच रहे हैं और हम कहें कि चार आने में ''लो, गोविन्द ले लो।'' ऐसी तन्मयता हम में नहीं आ सकती। यथार्थ में यहाँ उस तन्मयता का प्रश्न नहीं है।

मूलभूत प्रश्न यह है कि आप अपने जीवन का निर्वाह इतना व्यवस्थित रूप से करें कि भक्ति के चतुष्कोण में आपकी प्रत्येक प्रवृत्ति उस भक्ति का हिस्सा बनी रहे। अब जब हिस्सा बन रही है तथा आप कोई भी प्रवृत्ति कर रहे हैं - खा रहे हैं, सो रहे हैं, जाग रहे हैं, उठ रहे हैं तो आपकी ये सभी प्रवृत्तियाँ भक्ति की ही एक अभिव्यक्ति हो जाएंगी। अपनी भक्ति, अपने भजन को - ''सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिप: स्वस्यायमेव धर्मोहि नान्य: क्वापि कदाचन'' के अर्थ में समझना होगा, अन्यथा समझ में नहीं आएगा। जब वह चतुष्कोण हम विस्तृत न कर सके तो हमें इस श्लोक के विषय में बहुत अरुचि उत्पन्न हो जाएगी।

लगभग मैंने यह देखा है कि जब-जब भी चतु:श्लोकी के प्रवचन मैंने किए हैं तब हर बार प्रश्नोत्तर के लिए भी आमंत्रित किया है। उस समय यह प्रतिक्रिया सबसे पहले आती है कि क्या कहना चाह रहे हैं? क्या हमें और कुछ

नहीं करना? ये सब प्रश्न तब उत्पन्न होते हैं जब हम में भक्ति के लिए कोई भावना न हो।

अब यहाँ भक्ति को धर्म के रूप में बता कर अर्थपुरुषार्थ को बता रहे हैं।

(पुष्टिभक्तिमार्गीयार्थपुरुषार्थस्वरूपनिरूपणम्)

पुष्टिभक्तिमार्गीय अर्थपुरुषार्थ का निरूपण कर रहे हैं।

एवं सदा स्म कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति।
प्रभुः सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिन्ततां व्रजेत्।।2।।

अन्वयार्थ :

सदा = नित्य
एवं = इस प्रकार से
कर्तव्यं = करना चाहिए
(हरिः = दुःख हरनेवाले श्रीकृष्ण)
स्वयं = स्वयं, **एव** = ही
करिष्यति = करेंगे
स्म = प्रसिद्ध है, **हि** = क्योंकि
प्रभुः = स्वामी
सर्वसमर्थः = सब करने में समर्थ हैं
ततः = इसलिए
निश्चिन्ततां = चिन्तारहित
व्रजेत् = रहो

भावार्थ : सदा भगवदीयों का कर्तव्य पूर्वोक्त प्रकार का है। फलदानादि श्रीहरि

का कर्तव्य है इसलिए स्वयं ही करेंगे। क्योंकि प्रभु कर्तुम्-अकर्तुम्-अन्यथाकर्तुम् सर्वसमर्थ हैं। इसलिए ऐहिक-पारलौकिक मनोरथों के विषय में निश्चिन्त हो कर रहना चाहिए।

व्याख्या :

सदैव यही कर्तव्य है, ऐसे ही सतत करते रहें। जो कुछ भी होना है वह तो प्रभु स्वयं कर ही देंगे। आपको मनोरथी ढूंढने की आवश्यकता नहीं है। आपको अखबार में विज्ञापन देने की आवश्यकता नहीं है कि हमें छप्पनभोग आरोगाने हैं, मनोरथी अपना नाम नोट करा जाएं। अमुक भाई के नम्बर पर अमुक भाई से सम्पर्क करें। पैसा जमा कराने के लिए गाँव में तीन स्थानों पर केन्द्र रखे गए हैं। अरे! प्रभु में विश्वास रखने की आवश्यकता है, ये सब उपद्रव करने की आवश्यकता नहीं है। प्रभु स्वयं ही अर्थ हैं और इस अर्थ को प्राप्त करके, जैसे दयाराम भाई कहते हैं कि **''पारसमणिने वाटके ने भट्टजी मांगे भीख''** अर्थात् पारसमणि का बर्तन और पण्डितजी भीख मांग रहे हैं। ऐसी भिक्षावृत्ति किसलिए प्रकट कर रहे हैं, जब कृष्ण जैसी निधि आपके हाथ में आ गई है!

आपसे जितनी सेवा लेनी है उतना भगवान किसी न किसी प्रकार से आपको देंगे। फिर भगवान के नाम पर इस प्रकार की भिक्षावृत्ति क्यों कर रहे हैं? इसीलिए मैंने अपने 'स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत' के प्रवचन में जो गीत गाने हेतु कहा था उसमें मैंने इस भाव को व्यक्त करनेवाली पंक्ति लिखी थी - **''लक्ष्मीनानाथ अने देवाधिदेव, तोये भीख विना भोग न लागे, देवताओ सब मारी ठेकडी उडावे, मारा मनडानी लाज ना भांगे, ओ वल्लभ! मारे ठाकुरजी नथी थावुं''** (लक्ष्मी के नाथ और देवाधिदेव, भीख बिना आपको भोग नहीं लगता, देवगण सब मेरी ठिठोली करते हैं, मेरे मन की लाज नहीं जाती, हे वल्लभ! मुझे ठाकुरजी नहीं होना)। जिन्होंने लक्ष्मीजी के साथ

विवाह कर लिया उन देव को भीख मांगे बिना मंगलभोग नहीं आता हो, भीख मांगे बिना राजभोग न आता हो, भीख मांगे बिना पलना न झूलते हों, भीख मांगे बिना फूलमंडली न होती हो तो सब देवता मजाक उड़ाते हैं कि भाई, लक्ष्मीजी के साथ विवाह क्यों किया? लक्ष्मी जी के साथ हमारा विवाह क्यों नहीं होने दिया? हम तो आपसे अधिक ही सम्मानपूर्वक रह रहे हैं। एक तो लक्ष्मीजी के साथ विवाह कर लिया और काम आपके सारे भिक्षावृत्ति से चल रहे हैं - ''देवताओ सब मारी ठेकडी उडावे, मारा मनडानी लाज ना भांगे, ओ वल्लभ! मारे ठाकुरजी नथी थावुं।'' अतः यह बात ध्यान से समझें।

यह श्लोक हमें निश्चय ही समझ में नहीं आया होगा, इसलिए पुष्टिमार्ग में यह सब चक्कर चल रहे हैं। ''एवं सदा स्म कर्तव्यं'' अर्थात् आपका काम भगवद्भजन करना है और जो कुछ भी भजनोपयोगी सामग्री आपको प्राप्तव्य है वह प्राप्त कराने में भिक्षावृत्ति के बिना ही प्रभु स्वयं समर्थ हैं। पूरी परिस्थिति ऐसी हो जाएगी कि आपको किसी से मांगने की, विज्ञापन देने की, किसी के यहाँ समाधानी भेजने की , बीड़ा देने की जरूरत नहीं पड़ेगी - ''प्रभुः सर्वसमर्थोहि ततो निश्चिन्ततां व्रजेत्'' टीका का गम्भीर अर्थ टीका के अनुसार समझेंगे पर वर्तमान समय के जो क्षुद्र अर्थ हैं उनको भी हम उसी अर्थ में समझेंगे तो सारी तकलीफ दूर हो जाएगी। यह बात ध्यान से समझ लेनी चाहिए।

(पुष्टिभक्तिमार्गीयकामपुरुषार्थस्वरूपनिरूपणम्)

पुष्टिभक्तिमार्गीय कामपुरुषार्थ के स्वरूप का निरूपण कर रहे हैं।

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि।
ततः किम् अपरं ब्रूहि लौकिकैर् वैदिकैर् अपि।।3।।

अन्वयार्थ :

यदि = यदि

श्रीगोकुलाधीशः = श्रीगोकुलाधीश को
सर्वात्मना = सब प्रकार से
हृदि = हृदय में
धृतः = धारण किया है
ततः = तो फिर
लौकिकैः = लौकिक से
वैदिकैः = वैदिक से
अपि = भी, **अपरं** = अन्य
(**फलं** = फल) **किम्** = क्या
(**अस्ति** = है) (**इति** = यह)
(**त्वं** = तुम), **ब्रूहि** = बोलो

भावार्थ : जब श्रीगोकुलाधीश को सर्वभाव से जीव ने हृदय में स्थापित कर लिया है तब उसके लिए श्रीपुरुषोत्तम से उत्कृष्ट सर्वकाम पूर्ण करनेवाला क्या पदार्थ शेष रह जाता है?

व्याख्या :

जब आपने श्रीगोकुलाधीश को हृदय में बसा लिया है तो इसके बाद कौनसी कामना है जो असन्तुष्ट रह जाती है? ऐसी कौनसी वैदिक या लौकिक कामना है जो श्रीगोकुलाधीश को हृदय में धारण करने के पश्चात् असन्तुष्ट रह जाती है। आपने प्रभु को हृदय में नहीं बसाया इसलिए सारी कामनाएँ उत्पन्न हो रही हैं।

यहाँ ध्यातव्य है कि इस कामना अर्थात् कामपुरुषार्थ के अन्तर्गत श्रीमहाप्रभुजी यह नहीं कहना चाहते कि आप पुष्टिमार्गीय बन गए और सेवा कर रहे हैं तो यह मान लें कि दीवाली के अवसर पर घर में रंग-रोगन करने की कामना नहीं रखनी चाहिए, विवाह प्रसंग पर यज्ञ-यागादि करने की कामना न

करें और ऐसे ही लड़की को उठा कर भाग जाएं। अरे! ऐसा भी कर रहे हैं तो वह भी कामना तो है ही, वह कामना क्यों नहीं है? जैसे भाग जाने की कामना है वैसे ही शास्त्र की कामना भी एक कामना ही है। ये सभी कामनाएँ करें पर यह समझ लें कि यदि श्रीगोकुलाधीश को हृदय में पधराया है तो ये सभी कामनाएँ उस कामना के अन्तर्गत परिपुष्ट होती रहेंगी।

उस कामना के चतुष्कोण के अन्तर्गत श्रीगोकुलाधीश को हृदय में पधराने की कामना से आपकी ये सभी कामनाएँ सन्तुष्ट हो जाएंगी, बाकी इन कामनाओं से सन्तुष्टि नहीं होगी। यह बात आप ध्यान से समझ लें। लौकिक-वैदिक विषयों को प्राप्त करने की आपकी कामनाओं से श्रीगोकुलाधीश को हृदय में पधराने की कामना कभी भी परिपूर्ण नहीं होगी। जब श्रीगोकुलाधीश को आपने हृदय में पधरा लिया है तो उस पधराए जाने के कारण आपको ऐसा संतोष होगा कि आपको कभी किसी के सामने गिड़गिड़ाने या हाथ-पैर जोड़ने की आवश्यकता नहीं रहेगी।

''प्राप्तं सेवेत निर्मम:'' जैसा श्रीमहाप्रभुजी बता चुके हैं उस प्रकार का संतोष आपके हृदय में झलकेगा कि श्रीगोकुलाधीश को हृदय में पधराने के कारण मुझे जो प्राप्त होना था वह प्राप्त हो रहा है, जो मुझे प्राप्त नहीं हो रहा उसके लिए चिन्ता करने या परवाह करने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार की एक मस्ती आपके जीवन में प्रकट हो जाएगी। अपने हृदय में प्रभु को पधराना कामना का एक विस्तृत स्वरूप है, कोई क्षुद्र स्वरूप नहीं है। इस विस्तृत स्वरूप में हमारी अहंता-ममता के वृत्त में किसी कोने में भगवान के दर्शन की कामना का एक लघु चतुष्कोण भी झलक रहा है जो कोई क्षुद्र चतुष्कोण नहीं है। यह कामना ऐसी क्षुद्र नहीं है कि ऑफिस जाना है तो जाने से पहले हम श्रीठाकुरजी के दर्शन कर आएंगे, पाँच रुपये न्योछावर दे कर एक मठड़ी भी प्रसाद में लेते आएंगे। ऐसी क्षुद्र कामना, दर्शन की कामना नहीं कही जा सकती।

भगवान को हृदय में पधराने की हमारी कामना इतनी विशाल है जिसके परिपुष्ट होने से शेष सभी कामनाएँ कभी आपको हैरान नहीं करेंगी। स्वत: ही उस कामना का हिस्सा बन कर संतोष के मनोभाव से, बिना किसी हस्तक्षेप के, आपके स्वभाव में भीतर प्रकट होगी। इस बात को - ''तत: किम् अपरं ब्रूहि लौकिकैर् वैदिकैर् अपि'' से स्पष्ट कर रहे हैं।

(पुष्टिभक्तिमार्गीयमोक्षपुरुषार्थ स्वरूपनिरूपणम्)

पुष्टिभक्तिमार्गीय मोक्षपुरुषार्थ के स्वरूप का निरूपण किया जा रहा है।

अत: सर्वात्मना शश्वद् गोकुलेश्वर-पादयो:।
स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यम् इति मे मति:।।4।।

अन्वयार्थ :

अत: = इसलिए, **शश्वद्** = सदैव
गोकुलेश्वरपादयो: = श्रीगोकुल के स्वामी श्रीकृष्ण के चरणों का
सर्वात्मना = सब प्रकार से
स्मरणं = स्मरण का, **च** = और
भजनं = सेवा का, **अपि** = भी
न = नहीं
त्याज्यं = त्याग करना चाहिए
इति = ऐसी, **मे** = मेरी
मति: = बुद्धि (**अस्ति** = है)

भावार्थ : श्रीगोकुलेश्वर के हृदय में विराजने के पश्चात् सर्वात्मरूप से उनके चरणकमल का स्मरण और भजन (सेवा) नहीं छोड़ना चाहिए, ऐसी मेरी मति है।

व्याख्या :

पुष्टिभक्तिमार्गीय मुक्ति किस प्रकार की होगी? आप जो कुछ भी कार्य कर रहे हैं वह करें, इसमें चिन्ता की कोई बात नहीं। कोई आवश्यक नहीं कि सभी कार्य छोड़ कर हिमालय में जा बैठें। आखिर हिमालय में बैठना भी कोई न कोई काम तो है। **''न हि कश्चित् क्षणम् अपि जातु तिष्ठति अकर्मकृत्''**- हिमालच में जा कर बैठने के बाद भी आपको अपने चेलों को सूचना दे कर बुलाना पड़ेगा। अत: हिमालय पर बैठने से निराकरण नहीं होगा।

फिर आपकी सच्ची मुक्ति किस प्रकार होगी? जो भी कार्य आप कर रहे हैं उसे आपने अपनी जीवनशैली में इस प्रकार नियोजित किया कि वह आपके स्मरण-भजन में कभी भी बाधकरूप नहीं हो रहा, अपनी सम्पूर्ण जीवनशैली को इस प्रकार व्यवस्थित कर लिया और भगवत्स्मरण और भगवद्भजन में आपके जीवन की कोई भी प्रवृत्ति बाधक नहीं हो रही है तो श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा कर रहे हैं कि आप मुक्त हैं, क्योंकि आप भगवत्स्मरण-भगवद्भजन निरन्तर आनन्द से निभा रहे हैं। कैसे मुक्त हुए? क्योंकि आप भगवदीय हो गए- **''मोक्षो कृष्णस्य चेद् ध्रुवम्''** इस प्रकार आपने भगवान के साथ ये दोनों सम्बन्ध निभा लिए कि भगवान सामने हैं तो भगवद्भजन कर रहे हैं और भगवान सामने नहीं हैं तो भी आप भगवत्स्मरण कर रहे हैं। आपने जीवन की सभी अलग-अलग प्रवृत्तियों को इस प्रकार प्रवृत्त किया है कि भगवद्भजन में वे बाधक नहीं हो रही हैं, भगवत्स्मरण में बाधक नहीं हो रही हैं।

जैसे कहते हैं कि **''नागरी का चित्त गागरी में।''** गाँव में जब स्त्रियाँ जल भरने जाती हैं तो सिर पर दो-तीन-चार घड़े भी कुएँ से भर कर रख लाती हैं और बातें भी करती आती हैं। इधर-उधर भी देखती रहती हैं और चलती भी रहती हैं। उनके घड़े का पानी भी नहीं गिरता। उन्होंने स्वयं को इस प्रकार से गागर को सिर पर रखने के लिए तैयार किया होता है - **''नागरी का चित्त गागरी में।''**

इस प्रकार आपके चित्त की वृत्ति होनी चाहिए कि सभी कार्य करते हुए भी भक्ति की, भजन-स्मरण की गागर कभी आपके सिर से गिरनी नहीं चाहिए। उसे आप अपने सिर पर भलीभाँति टिकाए हुए हैं, उसे आप अपने हृदय में भलीभाँति निभा रहे हैं, उसे आप अपनी बुद्धि में सम्यक्रूपेण निभा रहे हैं तो श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा कर रहे हैं कि आप मुक्त हैं। और कैसी मुक्ति चाहिए? पुष्टिमार्ग के संदर्भ में आपकी जो मुक्ति है उसे अलग से कोई सींग-पूँछ नहीं उगनेवाले हैं।

यह बात किसे समझ में आएगी - जो कृष्णाश्रित होगा उसको। जो कृष्णाश्रित नहीं है, जिसका कृष्णाश्रय अनन्य नहीं है उसे यह बात समझ में नहीं आएगी। उसके लिए बहुत से झमेले खड़े जो जाएंगे कि क्या कहना चाह रहे हैं? क्या हमें अपनी सभी जिम्मेदारियाँ छोड़ देनी चाहिए और केवल स्मरण-भजन ही करते रहना चाहिए? क्या पूरे दिन झाँझ बजाना और सेवा करना? लड्डू धराने या पेड़े धराने? श्रीठाकुरजी को जगाना - पोढ़ाना - गुड्डे-गुड़िया का खेल खेलते रहना? ऐसे सभी प्रश्न उत्पन्न होने लगेंगे।

प्रश्न क्यों उत्पन्न होने लगेंगे? क्योंकि आप भक्ति का सच्चा अर्थ समझे ही नहीं। जो श्रीमहाप्रभुजी समझाना चाह रहे हैं उस भक्ति के खयाल को हमने सच्चे अर्थों में अपने जीवन में उतारा ही नहीं। वस्तुत: जिस प्रकार से हमने जीवन में उतारा है उसमें सेवा का कोई अन्य रूप हमारे लिए उभर ही नहीं रहा। इसलिए लोग जो देखते हैं वह पूछते हैं और जो पूछते हैं उसी को वापस देख रहे हैं। अत: हमने इसे गलत तरीके से कार्यान्वित किया है और इसी वजह से गलत सवाल उत्पन्न हो रहे हैं। हमने उसे सच्चाई से आचरण में उतारा होता तो हमारे सामने किसी को पूछने की हिम्मत ही नहीं होती, आँख मिलाने की भी हिम्मत नहीं होती।

हममें अपनी भक्ति का, हममें अपने धर्म का, अपने अर्थ का, अपने काम का, अपने मोक्ष का इतना तेज अपेक्षित है कि मनुष्य हमसे आँख मिलाने से भी कतराए, कि भाई उसके सामने जाने में खतरा है। सर्वोत्तमस्तोत्र में आया है न – **''उग्रप्रतापो वाक्सीधु-पूरिताशेष सेवकः''** श्रीमहाप्रभुजी का इस प्रकार का उग्रप्रताप हममें निश्चय ही प्रकट होता यदि हमने सच्चाई के साथ उसे निभाया होता। हमने सच्चाई से नहीं निभाया इसलिए सबके समक्ष ये प्रश्न उत्पन्न हो रहे हैं।

स्वाभाविक है, वे बेचारे भी क्षमापात्र हैं। पर हम क्षमापात्र नहीं हैं। क्योंकि यह बात हमने श्रीमहाप्रभुजी से सीखी थी। भूल कैस गए? प्रश्न हम पर ही आ रहा है, उन पर नहीं आ रहा। जो उत्तर नहीं दे रहे और प्रश्न उत्पन्न करने की स्थिति के लिए जो जिम्मेदार हैं उनके लिए यह प्रश्न है कि प्रश्न खड़ा होनेवाली स्थिति क्यों उत्पन्न हुई? प्रश्न इसलिए उठ रहा है कि हमने वह स्थिति उत्पन्न होने दी। हमने वह स्थिति उत्पन्न ही न होने दी होती तो ऐसे क्षुद्र प्रश्न कोई नहीं पूछ सकता था। क्योंकि हमारी भक्ति इतनी क्षुद्र नहीं थी, हमारी भक्ति भिक्षावृत्तिवाली नहीं थी। हमारी भक्ति आज की भाँति प्रदर्शन को केन्द्र में रखनेवाली नहीं थी।

प्रदर्शन की प्रणाली खड़ी करने से सब लोगों के समक्ष प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस प्रकार की भक्ति हम भी पूरे दिन करें। सही बात है – करनी पड़ेगी न, जिनके पास कोई अन्य व्यापार नहीं है। मेरे एक गुरुजी थे। उनके चार बेटे थे। एक बेटा ऑस्ट्रेलिया में प्रोफेसर हो गया, एक बेटा एयरफोर्स में बड़ा कमाण्डर हो गया, एक बेटा यहाँ भारत में ही कुछ काम करता है, जो तीसरा बेटा था वह पढ़ा लिखा नहीं था। मेरे गुरुजी मुझे कई बार यह बात कहते रहते कि महाराज! यह कुछ पढ़ता-लिखता नहीं, आपके तो इतने मंदिर हैं, कहीं इसे पुजारी बनवा दें।

जिसको बैंक चपरासी के रूप में नहीं रखता वह हमारे मंदिर में मुखियाजी बन जाता है और पदोन्नति हो गई तो महाराज भी बन जाता है। यह परिस्थिति है। गुरुजी मुझे कई बार कहते कि आपके तो कई मंदिर होंगे। मैं भी उनको कहता कि मंदिर नहीं हैं। वे कहते नहीं-नहीं, भुलेश्वर में आपका मन्दिर मैंने देखा है। अब उनको कैसे समझाऊँ कि हकीकत क्या है!

अंत में उनके बेटे की यह दुर्गति हुई कि आजकल मोटर मैकेनिक हो गया है। पुजारी कौन रखेगा अब। अतः स्थिति ऐसी है। जिनमें कोई योग्यता नहीं वे ही इस प्रकार की नौकरी में आ रहे हैं। जिनमें थोड़ी भी योग्यता है और यदि वे गलती से पुजारी की नौकरी कर लें तो वे भी अपने बच्चों को कॉलेज में पढ़ा-लिखा कर यह प्रेरणा देते होंगे कि भाई, हम तो आए सो आए परन्तु तुम ऐसी नौकरी में न फंस जाना।

इसके अतिरिक्त यदि कोई गधा ही रह जाए तो उसको तो महाराज के पास ही ले जाएँ, ट्रस्टी के पास ले जाएँ कि यह सेवा करने के लिए बहुत योग्य है। मन्दिर में इसको मुखियाजी बना दें। जो किसी भी काम के योग्य नहीं हैं वे ही मुखियाजी बन रहे हैं। इस प्रकार नालायक होना ही पुष्टिमार्ग में मुख्य होने की योग्यता है। मुखियाजी बने कहाँ से मुख्य? नालायक होना ही मुख्य होने की जहाँ योग्यता हो उस मार्ग में प्रेरकता कहाँ से आए? उस मार्ग में अन्यमार्ग पर अपना प्रभाव जमाने का सामर्थ्य कहाँ से आए? कभी नहीं आ सकता। यह बात हमें ध्यान से समझनी चाहिए। यह असमंजस की स्थिति किसलिए हुई? इसलिए हुई कि जो श्रीमहाप्रभुजी कहना चाहते हैं उसे हम नहीं समझ सके, न उसको जीना चाहा और न उसे जीवित रखने की इच्छा रखी।

''यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि'' अर्थात् श्रीगोकुलाधीश को आपने अपने हृदय में धारण कर लिया है तो कोई भी ऐसा लौकिक अथवा वैदिक विषय जिसे आप लौकिकपुरुषार्थ या लौकिक प्रयत्न से अथवा वैदिक

प्रयत्न से प्राप्त कर सकते हैं वह क्या आपको श्रीगोकुलाधीश से अधिक संतोषप्रद हो सकेगा? एक बार आपके हृदय में प्रभु बस गए तथा उसका जो संतोष आपके भीतर होगा क्या उससे अधिक उत्तम सन्तोष किसी अन्य विषय को प्राप्त कर लेने या मिल जाने से हो सकेगा? ''ततः किम् अपरं ब्रूहि लौकिकैर् वैदिकैर् अपि'' - यदि आपके हृदय में श्रीगोकुलाधीश प्रभु बस गए तो लौकिक-वैदिक विषयों का फल क्या उनसे अधिक उच्च होगा!

''ब्रूहि'' अर्थात् बोलो। श्रीमहाप्रभुजी आपको कह रहे हैं कि तुम बोलो - मैं तुम्हें नहीं बताऊँगा। श्रीमहाप्रभुजी प्रश्न पूछ रहे हैं। जवाब नहीं दे रहे हैं। तुम बोलो कि तुम्हारे हृदय में यदि भगवान बिराज गए तो कोई लौकिक विषय, कोई लौकिक उपलब्धि, कोई सिद्धि अथवा शास्त्रीय सिद्धि इससे अधिक संतोषजनक होगी, जितना यह संतोषजनक है।

।। **इति श्रीवल्लभाचार्यविरचिता चतुःश्लोकी सम्पूर्णा।।**

।। भक्तिवर्धिनी ।।

भूमिका :-

भक्तिवर्धिनी के अनुसार भक्त के मूलतः दो भेद हैं। दृढ़बीजभाव और अदृढ़बीजभाव। अर्थात् जिसके अन्दर भक्ति का भाव दृढ़ है वह दृढ़बीजभाव और जिसके अन्दर भक्ति का भाव थोड़ा कमजोर है वह अदृढ़बीजभाव। अतः दृढ़बीजभाववालों को गृहत्याग और श्रवण-कीर्तन-स्मरण करना चाहिए तथा जिनका बीजभाव दृढ़ नहीं है उनके सम्बन्ध में पुनः दो सम्भावनाएँ हो सकती हैं - एक अव्यावृत्त और दूसरा व्यावृत्त। जो अव्यावृत्त है उसे भगवत्पूजा और श्रवणादि नवधा भक्ति करनी चाहिए। 'व्यावृत्त' अर्थात् जिसे सेवा के लिए समय नहीं मिलता और 'अव्यावृत्त' अर्थात् जिसके पास सेवा करने के लिए समय है। पारिवारिक, मानसिक, शारीरिकरूप से जिसको समय है वह अव्यावृत्त है।

जिसके पास सेवा के लिए समय नहीं है उससे निरर्थक सेवा करने की कोई अपेक्षा नहीं है। श्रवणादित्रय की क्रिया करे और हृदय में दास्यादित्रय की भावना करे। जो कभी स्वयं को प्रभु का दास माने, कभी सखा माने, कभी प्रभु का आत्मनिवेदी माने, अर्थात् जिस प्रकार जो भाव जिस समय दृढ़ हो जाए। ऐसा करते-करते जो व्यावृत्त है उसकी पुनः दो सम्भावनाएँ प्रकट होंगी।

यह प्रक्रिया करने से उसके भीतर स्थित भगवान के प्रति उसके प्रेम का भाव, आसक्ति और व्यसन तक विकसित हो सकता है। यदि खिल सकता है तो वह जात (विकसित) व्यसन है, अर्थात् उसका भगवत्प्रेम-भक्ति-भगवद्व्यसन के रूप में खिल गई। तात्पर्य है कि भगवान के बिना चलेगा ही नहीं। उस अवस्था में उसकी भक्ति खिल गई तो वह जात (विकसित) व्यसन। इसके लिए उपाय बताया है - ''बाधितगार्हस्थ्यत्यागः'' अर्थात् जो भक्ति में

बाधक होता हो वैसे गार्हस्थ्य का उसको त्याग कर देना चाहिए।

दूसरा अजात (अविकसित) व्यसन अर्थात् जो यह प्रक्रिया कर रहा है- प्रभु के नाम, रूप, गुण, लीला का श्रवण करता है, कीर्तन भी करता है, स्मरण भी करता है और हृदय में उस लीला के नाम, रूप, गुण, लीला का श्रवण, कीर्तन, स्मरण करते-करते कुछ भावनाएँ हृदय में प्रकट होती हों कि मैं प्रभु का दास हूँ अथवा प्रभु का सखा हूँ अथवा प्रभु का आत्मनिवेदी हूँ, मैं आत्मा हूँ और वह परमात्मा है-अर्थात् इतने पर भी उसे व्यसन न हो सकता हो तो श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि फिर वह गृहत्याग न करे। जो सेवा कर रहा है उसकी सेवा में सहायता करे। आप व्यावृत्त हैं इसलिए आपसे सेवा नहीं निभ सकेगी तो सेवा न करें। पर जो सेवा कर रहा है उसकी सेवा में आप सहायक तो हो सकते हैं, कोई कथा कर रहा है तो उसकी कथा में श्रोता के रूप में सम्मिलित हो सकते हैं। यह भक्तिवर्धिनी का सारांश है।

प्रश्न : परिचर्या का तात्पर्य क्या है?

उत्तर : परिचर्या अर्थात् किसी सेवा करनेवाले की सेवा में सहायक होना और जो कथा कर रहा है वहाँ जा कर श्रवण करना।

भाव यह है कि यदि आपको अपनी भक्ति को दृढ़ करना है तो इतना समय तो आप निकाल ही सकते हैं। यह पूर्ण दिवसीय सेवा नहीं है, आधी सेवा है। यह हम समझ सकते हैं। पूर्णदिवसीय सेवा का अर्थ यह नहीं है कि सवेरे जागने से ले कर रात को सोने तक सेवा ही करते रहना। व्यावृत्त होने के कारण इतना समय आप नहीं निकाल सकते हैं इसलिए श्रवणादि के लिए थोड़ा समय निकाल कर उस हिसाब से अपने हृदय में भावना करना। इस कारण से आपका प्रेम, भगवद्व्यसन की कक्षा तक विकसित हो रहा है तो फिर गृहत्याग करने का निश्चय करें और यदि विकसित नहीं हो रहा है तो जो सेवा कर रहा है - आपके पड़ोस में कोई वैष्णव हो, आपके परिवारजन या आपके मित्र हों -

उनके साथ ऐसी मित्रता निभाएँ कि वे जो सेवा कर रहे हैं उसमें आप जितना भी, जैसे भी सहायक हो सकते हैं, उस प्रकार से सहायक बनें और कथा कर रहे हैं तो उसमें श्रवण के लिए आप सम्मिलित हो जाएँ।

प्रश्न : अव्यावृत्त का अर्थ क्या है?

उत्तर : 'अव्यावृत्त' अर्थात् जिसके पास सेवा करने का समय है।

प्रश्न : सेवा करनेवाले को गृहत्याग करना चाहिए?

उत्तर : यहाँ गृहत्याग प्रशस्त नहीं है।

यदि सेवा करने की प्रक्रिया के साथ भक्ति व्यसनपर्यन्त खिल रही है तो बहुत अच्छी बात है, सोने में सुगन्ध है। यदि नहीं भी खिल रही तो चिन्ता की कोई बात नहीं, हम सेवा कर रहे हैं यह क्या कोई कम बात है!

एक सरल उदाहरण से आप समझ सकते हैं कि आपने जिसके साथ विवाह किया उस पत्नी के साथ आप रहते हैं। महीने में दो-चार बार कभी थोड़ा बहुत झगड़ा होता है तो दो-चार बार स्नेह भी होता है। कुछ समय हम धंधे के लिए, नौकरी पर भी जाते हैं पर घर में वापस आ कर उसके साथ तो रहते ही हैं। फिर हम यह आदर्श भावना क्यों रखें कि हम बिलकुल निष्कलह उसके साथ जीवन यापन कर सकेंगे। थोड़ा बहुत कलह भी कर लेंगे और थोड़ा बहुत मेल-मिलाप भी कर लेंगे। क्योंकि जो साथ जी रहे हैं उनके लिए यह आदर्श स्थिति अत्यावश्यक नहीं है।

यदि कोई प्रभु के साथ नहीं जी रहा और उसे यथार्थरूप में भगवद्व्यसन हुआ है तो वह प्रभु के बिना नहीं रह सकता। अब एक मुँह से दो बातें तो नहीं हो सकती कि मुझे भगवद्व्यसन भी हुआ है और भगवान के बिना भी आनन्द से मेरा निर्वाह हो रहा है। अर्थात् किसी वस्तु का मुझे व्यसन भी है और मैं कहूँ कि उसके बिना भी मैं गुजर कर सकता हूँ। यदि उसके बिना

निर्वाह हो रहा है तो वह व्यसन नहीं है। उसके बिना चल ही नहीं सकता तभी तो व्यसन कहलाएगा। इस प्रकार ये दोनों बातें एक साथ कैसे निभ सकेंगी?

इसलिए ''बाधकगार्हस्थ्य'' का त्याग यहाँ बताया जा रहा है। अव्यावृत्त में नहीं बताया क्योंकि साथ में जी तो रहे हैं। अब भक्ति जितनी विकसित हुई उतनी अच्छी बात है। ऐसे आदर्श दम्पती तो बहुत कम होंगे जो बिना कलह के अपना दाम्पत्य जीवन निभा सकें, थोड़ा कलह, थोड़ा स्नेह वाली स्थिति में तो कई दम्पती मिल जाएंगे। दोनों का चक्र चलता रहे तो अच्छा है, जीवन भी सुखी रहता है।

उक्त प्रकार का दाम्पत्य हम प्रभु के साथ निभा रहे हैं, सर्वथा निष्कलह नहीं निभा सकते तो कोई बात नहीं, थोड़े बहुत कलह के साथ भी प्रभु के साथ दाम्पत्य निभ रहा है तो पर्याप्त है।

प्रश्न : गार्हस्थ्यत्याग अर्थात् क्या? किसलिए?

उत्तर : जो गार्हस्थ्य होने की वृत्ति है उसका त्याग क्योंकि वह स्थिति व्यसनदशा में, भगवद्व्यसन में बाधक होगी। इसमें बाधक नहीं होगी। क्योंकि हम भगवान के साथ घर बसा कर रह रहे हैं। यहाँ आप भगवान के अतिरिक्त भी कुछ अन्य वस्तुओं के साथ घर बसा कर रहते हैं और फिर दावा करते हैं कि मुझे भगवान का व्यसन हो गया है तो कुछ असंगत है। यदि व्यसन हो गया है तो गार्हस्थ्य का त्याग करें, व्यसन नहीं हुआ तो यह दावा करें ही नहीं कि मुझे भगवद्व्यसन हो गया है।

इसलिए जो कोई भी भगवत्सेवा निभा रहा है वह उसके साथ ही निभा रहा है। मुझसे भगवत्सेवा नहीं निभ रही तो जिससे भगवत्सेवा निभ रही है उसके साथ मैं निभा रहा हूँ – जो कि सत्संग का प्रकार है। सेवा–कथापरायण भगवदीय के सत्संग में रहने का मूल हेतु यही है।

*****

॥ भक्तिवर्धिनी ॥

(दृढबीजभावानाम्[क] पुष्टिजीवानां कृते भक्तेः फलात्मक-प्रवृद्ध्युपायाः)

जो दृढ़ बीजभाववाले पुष्टिजीव हैं उनकी भक्ति फलात्मकरूप से किस प्रकार बढ़ सकती है उसके उपाय श्रीमहाप्रभुजी समझा रहे हैं।

चतुःश्लोकी के बाद भक्तिवर्धिनी का आना स्वयं इस बात का प्रमाण है कि चतुःश्लोकी के जो चरण हैं वे प्रारम्भिक अवस्था के हो सकते हैं। यह घबराने की बात नहीं है अन्यथा चतुःश्लोकी के बाद भक्तिवर्धिनी की असंगति हो जाएगी कि जब इतनी ऊँचाई पर हम पहुँच गए तो फिर भक्ति को बढ़ाने का कारण क्या? चारों ही पुरुषार्थ की कोई प्राथमिक और कोई उच्चतर कक्षा भी हो सकती है। अतः प्राथमिक कक्षा से उच्चतर कक्षा तक उसके समग्र विकास के सोपानों के विषय में श्रीमहाप्रभुजी यहाँ चर्चा कर रहे हैं।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात् तथोपायो निरूप्यते।
बीजभावे दृढे तु स्यात् त्यागात् श्रवण-कीर्तनात्[क] ॥1॥

अन्वयार्थ :

यथा = जिस प्रकार से
भक्ति := भक्ति
प्रवृद्धा = प्रकर्ष करके वृद्धिंगत
स्यात् = होती है, **तथा** = उस प्रकार के
उपायः = उपाय का
निरूप्यते = निरूपण किया जाता है
बीजभावे = बीजभाव

दृढे = दृढ (**सति** = होने पर)
तु = तो, **त्यागात्** = त्याग से
श्रवण-कीर्तनात् = श्रवण-कीर्तन से
(भक्तिः = भक्ति, **प्रवृद्धा** = प्रकृष्टरूप से वृद्धिंगत)
स्यात् = होती है

भावार्थ : श्रीआचार्यजी आज्ञा करते हैं कि जो स्वमार्गीय भक्ति की वृद्धि होने के उपाय का निरूपण है वह तो स्वमार्ग में कहे गए साधन से है और जो मर्यादामार्गीय साधन हैं उनका परित्याग तथा स्वमार्गीय श्रवण और कीर्तन का परिशीलन करने से भाव दृढ़ होता है तब भक्ति की वृद्धि होती है।

व्याख्या :

बीजभाव लगभग जमीन जैसी वस्तु है। जैसे विभिन्न प्रकार की जमीनों में कोई जमीन ऐसी होती है कि किसी बीज को अपने में अंकुरित कर सकती है, कोई जमीन ऐसी होती है जो उस बीज को अंकुरित नहीं कर सकती। बीज और जमीन का पारस्परिक सम्बन्ध है। कोई बीज किसी जमीन में अंकुरित हो सकता है, कोई बीज किसी जमीन में अंकुरित नहीं हो सकता और कोई जमीन किसी बीज को स्वयं में अंकुरित कर सकती है और कोई जमीन बीज को स्वयं में अंकुरित नहीं कर सकती।

जैसे विषुववृत्तप्रदेश में होने वाले वृक्ष हैं, विषुववृत्तप्रदेश में उत्पन्न होनेवाला अनाज है, वह कहाँ उगता है और कहाँ नहीं यह एक असमंजस की स्थिति है। अस्तु, बीजभाव की दृढ़ता का अर्थ है कि जमीन बीज को अपने भीतर रख कर अंकुरित कर रही है तब तो बीजभाव दृढ़ है और जमीन उस बीज के साथ कैसी भी पारस्परिक क्रिया करने के लिए तैयार नहीं है - हमने बीज बोया परन्तु जमीन उसके साथ कोई प्रतिक्रिया नहीं कर रही और बीज भी उस जमीन के साथ कोई प्रतिक्रिया नहीं कर रहा - तो बोया हुआ बीज या तो

सड़ जाएगा अथवा सूख जाएगा। गति तो दो ही प्रकार से हो सकती है। सड़ जाने अथवा सूख जाने की स्थिति जहाँ है वहाँ बीजभाव कभी भी दृढ़ नहीं हो सकता। अर्थात् बीज जमीन को न पकड़ सके और जमीन बीज को न पकड़ सके तो बीजभाव दृढ़ नहीं है।

हमेशा एक बात ध्यान से समझें कि बीज जैसे अंकुरित होना शुरू होता है तो हमें बाहर से ऐसा लगता है कि बीज ऊपर बढ़ रहा है परन्तु दो प्रक्रियाएँ एक साथ हो रही हैं। जैसे ऊपर बढ़ना शुरू करता है उसी प्रकार अंदर भी बढ़ता है। जैसे जमीन की ऊपर की और नीचे की सतह होती है, अब जैसे ऊपरी सतह पर बीज अंकुरित होता है वैसे ही अपनी जड़ें नीचे फैलाना शुरू कर देता है। जड़ें फैलाने का अर्थ है कि जड़ें मिट्टी को पकड़ लेती हैं। मिट्टी जड़ों से चिमट जाती है। आप कभी गमले में देखेंगे तो यह परिस्थिति ठीक-ठीक समझ में आएगी। गमले में भरी हुई मिट्टी को जब पौधे की जड़ें पकड़ लेती हैं उस समय पौधे को बाहर खींचते हैं तो गमले के आकार वाली मिट्टी भी बाहर आ जाएगी, मिट्टी में से पौधा बाहर नहीं आएगा। क्योंकि मिट्टी को जड़ों ने अपने साथ जकड़ लिया है। यह स्थिति एकदम बीजभाव की दृढ़ता की स्थिति है।

अपक्व बीजभाव अर्थात् अदृढ़ बीजभाव का अर्थ क्या है? जैसे किसी नए-नए अंकुरित हुए पौधे को आप खींचें तो उसकी जड़ें मिट्टी में से इस प्रकार बाहर आएंगी जैसे बाल टूटते हैं। जड़ें टूट कर बाहर आ जाएंगी अर्थात् मिट्टी को जड़ों ने अभी तक पकड़ा नहीं है इसलिए वे निकल कर बाहर आ जाएंगी। जब मिट्टी को अंदर से जड़ों ने पकड़ लिया तो कितना भी खींचें, या तो डाली टूट जाएगी अथवा मिट्टी को लेकर बाहर आएंगी, मिट्टी को छोड़ेंगी नहीं। इस प्रकार जड़ों ने मिट्टी को पकड़ लिया अर्थात् बीजभाव दृढ़ हो गया।

अतः यदि बीजभाव दृढ़ हो जाए तो उस दृढ़ता के कारण, श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि अब चिन्ता की कोई बात नहीं। अब आप घर

छोड़ दें, 'त्याग दें' - आपका बीजभाव दृढ़ है। इस स्थिति में, भक्ति के प्रसंग में आपके बीजभाव की दृढ़ता के कारण अब आपको कोई मूर्ख नहीं बना सकता।

एक बात समझें कि कई बार अंधड़ से वृक्ष टूट जाते हैं, पूरे ही टूट जाते हैं, मात्र ठूंठ रह जाते हैं परन्तु जिनका बीजभाव दृढ़ होता है उनमें से पुनः कुछ-कुछ कोंपलें फूट जाती हैं और पूरा वृक्ष पुनः अंकुरित हो जाता है, हरा-भरा हो सकता है। ऊपर से पूरा कट गया, कट गया तो कट गया परन्तु भीतर जीवन की सारी व्यवस्थाएँ मौजूद होने के कारण पुनः जीवित हो सकता है।

अभी गत दो-तीन वर्ष पूर्व ही मुम्बई में तेज आँधी आई थी। बहुत से वृक्ष आधे टूट-टूट कर गिर गए। मैंने उनमें से कई टूटे हुए वृक्षों को घूम-घूमकर देखा था। वे वृक्ष वापस हरे-भरे हो गए। कारण यह है कि उनमें भीतर बीजभाव दृढ़ था। जिनका बीजभाव कच्चा था, अदृढ़ था वे हवा के कारण थोड़ा सा हिलते ही मर गए, सूख गए। हिलने मात्र से मर गए और कई वृक्ष टूटने के बावजूद नहीं मरे, आधे टूटे हुए ठूंठ में से पुनः - ''फिर प्यार नया हो सकता है'' वाला क्रम शुरू हो गया।

बीजभाव की दृढ़ता का अर्थ इतना गम्भीर है। यह बात ध्यान से समझनी पड़ेगी। श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि जब बीजभाव इतना दृढ़ है तो फिर चिन्ता की कोई बात नहीं है। घर में रहें या घर छोड़ें। यहाँ श्रीमहाप्रभुजी ऐसा नहीं कह रहे हैं कि घर छोड़ ही दें, यह बात ध्यान देने योग्य है। बीजभाव दृढ़ होने के साथ ही घर छोड़ने के लिए नहीं कह रहे हैं अपितु श्रीमहाप्रभुजी यह कहना चाहते हैं कि बीजभाव यदि दृढ़ है तो घर छोड़ने में भी चिन्ता की कोई बात नहीं।

कारण यह है कि जब आपका बीजभाव दृढ़ है तो फिर कहीं भी जा कर आप रहें, आपका भगवान आपके बीजभाव की दृढ़ता के कारण वहाँ उपलब्ध होगा, भगवान आपके साथ है। एक बहुत ही प्रेरक प्रसंग अपने यहाँ आता है,

हालांकि यह ज्ञात नहीं है कि कितना ऐतिहासिक है। ऐतिहासिक हो या न हो परन्तु उस पर सौ इतिहास न्योछावर हैं।

प्रसंग यह है कि चैतन्यमहाप्रभुजी और श्रीमहाप्रभुजी जगन्नाथपुरी की तरफ यात्रा कर रहे थे। चैतन्यमहाप्रभुजी को जंगल में से गुजरना अधिक पसंद था और श्रीमहाप्रभुजी उस समय मुख्य मार्ग से यात्रा किया करते थे। बिना कारण वे जंगल में भटकते नहीं थे। दोनों में संवाद हुआ कि आप किस प्रकार गए? उन्होंने भी पूछा कि आप कैसे आए? चैतन्यमहाप्रभुजी ने कहा कि मुझे मुख्य मार्ग पर से होकर यात्रा करने में मजा नहीं आता, जंगल में चलने में मजा आता है। श्रीमहाप्रभुजी ने चैतन्यमहाप्रभुजी को कहा कि कभी आपने पीछे मुड़कर देखा कि आपके पीछे-पीछे कृष्ण चल रहे थे। आप जंगल से गुजर रहे थे इसलिए कृष्ण को भी आपके पीछे जंगल में चलना पड़ा। उनको कितना परिश्रम हुआ होगा?

ध्यानपूर्वक समझने की बात यह है कि जिसका बीजभाव दृढ़ है उसके पीछे-पीछे इस प्रकार कृष्ण चलते रहेंगे। जिसका बीजभाव दृढ़ नहीं है उसे तो कृष्ण के पीछे चलना पड़ेगा। चैतन्यमहाप्रभु के साथवाले एकाध प्रसंग में श्रीमहाप्रभुजी ने यह बात भी समझाई कि उनको अनप्रसादी दे दें। श्रीमहालक्ष्मीजी ने कहा कि अनप्रसादी कैसे दें? तो श्रीमहाप्रभुजी ने कहा कि उनके हृदय में प्रभु विराजते हैं इसलिए वे अनप्रसादी भी आरोगेंगे तो पेट में जाने से पहले प्रसादी हो जाएगा। कितनी भाव-विभोर करने वाली बात है! हृदय में भगवान बिराज रहे हैं इसलिए वे जो भी अन्न ग्रहण करेंगे वह पेट में जाने से पहले हृदय में विराजमान प्रभु आरोग लेंगे और वह प्रसादी हो जाएगा। उनके पेट में अनप्रसादी कभी नहीं जाएगा। इस प्रकार श्रीमहाप्रभुजी ने चैतन्यमहाप्रभु की प्रशंसा की। अभिप्राय यह है कि हृदय में बीजभाव दृढ़ है तो कोई समस्या नहीं परन्तु यदि बीजभाव हृदय में दृढ़ नहीं है तो प्रत्येक प्रकार की

समस्या है। पूरी सावधानी रखनी पड़ेगी।

जैसे एक बात हम समझ सकते हैं कि कभी हमने रोग-निरोधक टीका लगवा लिया - कुंभ मेले, सिंह मेले आदि में जाने के लिए टीका लगवाने के बाद हम आनन्द से जा सकते हैं, डरने की कोई बात नहीं रहती। हैजा आदि का टीका न लगवाएँ तो जाने में थोड़ी समस्या हो जाती है क्योंकि बीमार पड़ने की संभावना बढ़ जाती है।

जैसे टीका लगवाने से आपको सुरक्षा मिलती है वैसे ही बीजभाव आपके हृदय में दृढ़ है तो आप कहीं भी स्वतंत्र घूम सकते हैं, फिर उसमें 'इदं-इत्थं' का विधान नहीं कर सकते। यदि बीजभाव स्वयं ही अदृढ़ है तो आपको कुछ सचेतनता रखनी पड़ेगी। जैसे टीका न लगवाया हो और आप मेले में जाएंगे तो आप थोड़ा-बहुत बीमार पड़े बिना नहीं रहेंगे। इस प्रकार आपको सावधानी रखनी पड़ेगी।

यह बात हमें समझनी चाहिए - ''बीजभावे दृढे तु स्यात्'' - यदि बीजभाव दृढ़ है तो त्याग अर्थात् गृहत्याग और श्रवण-कीर्तन की अधिक आवश्यकता नहीं रह जाती। आप भगवान विषयक बात सुन रहे हैं, भगवान के गुण गा रहे हैं तो सारी बात बन जाएगी। कैसे बन जाएगी? प्रभु के गुणों का गान करने और सुनने में आपकी तन्मयता के कारण आपको कभी भी प्रभु का असान्निध्य नहीं लगेगा। उस तन्मयता के कारण सेवाविहीन रहने का अवसर ही नहीं आएगा। हर समय प्रभु आपके सान्निध्य में हैं। प्रभु आपके सान्निध्य में हैं इसलिए आपके सभी व्यापार उसी प्रकार चलते रहेंगे। ऐसे कई भगवदीय हैं जिन्होंने इस तन्मयता में, बीजभाव की दृढ़ता की तन्मयता में, मात्र श्रवण कीर्तन से अपना निर्वाह किया है।

वे किस प्रकार अपना निर्वाह कर सके? कारण यह है कि लीला की तन्मयता उनमें इतनी अधिक थी कि प्रभु का उनको कभी असान्निध्य रहा ही

नहीं। **''दिल के आईने में है तस्वीर-ए-यार, जब जरा गर्दन झुकाई, देख ली''** – इतना सान्निध्य जिनको प्राप्त है उन्हें सेवा का अनवसर कहाँ से होगा? उनको सेवा का अनवसर होगा ही नहीं।

लोकदृष्टि से हम यह समझते होते हैं कि वे सेवा नहीं कर रहे परन्तु वे जहाँ भी बैठे हैं वहाँ भगवल्लीला में हैं, कुछ न कुछ भगवत्सेवा में लगे ही हुए हैं। जिस प्रकार राजा आसकरणदासजी घोड़े पर चढ़ कर युद्ध करने जा रहे थे तब भी उनकी सेवा चल रही थी और कढ़ी गिर गई। यह क्या है – तन्मयता की अवस्था है।

उक्त स्थिति में गृहत्याग निरापद है क्योंकि बीजभाव की दृढ़ता के कारण भगवान स्वयं आपके सन्निहित (सान्निध्य में) हैं परन्तु यदि आपको भगवान का सान्निध्य नहीं है तो फिर आपको गृह-त्याग की मिथ्या धूर्तता नहीं करनी चाहिए। कारण यह है कि श्रीमहाप्रभुजी भगवान के सान्निध्य के लिए घर को आवश्यक मानते हैं। भगवान के सान्निध्य के लिए मन्दिर को आवश्यक मानते होते तो श्रीमहाप्रभुजी को भक्तिवर्धिनी ग्रन्थ लिखने की आवश्यकता नहीं होती।

भगवान का सान्निध्य आपको घर में मिले, इस हेतु से घर की आवश्यकता मानते हैं, घर की आवश्यकता के हेतु से भगवान का सान्निध्य नहीं मानते। घर में रहना हमारे लिए बहुत आवश्यक है अन्यथा मन्दिर के पास फ्लैट खरीद लें, सवेरे जाकर दर्शन कर लिए और फिर ऑफिस चले गए, संध्या को आते समय शयन के दर्शन कर लिए, कैसे? आजकल बिल्डर लोग ऐसा करते हैं कि बिल्डिंग बनाते समय उसमें मन्दिर के लिए भी विज्ञापन दे देते हैं कि पास में मन्दिर बनेगा। इस कारण से आपको अपने घर में भगवान को घुसाने की माथापच्ची में न फँसना पड़े। शहरी विकास प्राधिकरण की व्यवस्थाओं के अन्तर्गत यह भी व्यवस्था रखी जाती है कि जहाँ आपका फ्लैट हो, ड्यूप्लेक्स

हो, बंगला हो तो उसके पास एक मन्दिर भी होगा जिससे भगवान आपके घर में न घुस जाएँ। हमारा भगवान के साथ का व्यवहार इतना भययुक्त हो गया है कि घर में यदि भगवान घुस गए तो उनको निकालना बहुत कठिन हो जाएगा। जैसे घर में दीमक हो जाती है तो हमें निराकरण करना पड़ता है।

इसी प्रकार घर में भगवान घुस जाएँ तो हमें कुछ निराकरण करना पड़ता है। हवेली से विशेषज्ञ बुलवा कर दवा छिड़कवा देते हैं कि घर से भगवान निकल जाएँ। वे आ कर दवा छिड़क देते हैं कि ये पुरुषोत्तम नहीं, गुरु हैं इसलिए इनकी गुरुभाव से सेवा करनी चाहिए। ऐसी-ऐसी दवा छिड़कते हैं कि पूरे घर से दीमक निकल जाए, हमें ऐसे विशेषज्ञ बुलाने पड़ते हैं। साधारण उपाय से तो निवृत्ति नहीं होती इसलिए घर में घुसे हुए भगवान के लिए कुएँ का जल नहीं है तो निकल जाओ। भगवान को निकाल देने के लिए ऐसे सभी विशिष्ट उपाय हमें घर के लिए कराने पड़ते हैं। घर में भगवान रहेंगे तो श्रीमहाप्रभुजी की यह स्पष्ट धारणा है कि भगवत्सान्निध्य के लिए घर आवश्यक है। घर की आवश्यकता के लिए भगवत्सान्निध्य की आवश्यकता नहीं है, जो आज हमने ऐसी पद्धति खड़ी कर दी है।

''बीजदाढ्र्यप्रकारस्तु'' – आपका बीजभाव कैसे दृढ़ होगा? ''गृहे स्थित्वा'' – घर में रह कर, क्योंकि आप घर में जी रहे हैं। आप मन्दिर जा रहे हैं तो जीने के लिए नहीं जा रहे, चक्कर मारने जा रहे हैं, लप्पन-छप्पन करने जा रहे हैं, मठड़ी-प्रसाद लेने जा रहे हैं, जीने के लिए नहीं जा रहे हैं। जहाँ आप जी रहे हैं वहाँ भगवान को पधराना है। जहाँ आप जी नहीं रहे, भगवान के यहाँ चक्कर मारने जा रहे हैं, जीने के लिए नहीं जा रहे हैं तो वहाँ भगवान की आवश्यकता नहीं है।

अत: जो भगवान के साथ जी रहे हैं उनके लिए गृह-त्याग भी बताया है कि यदि आपका मन भगवान में इतना अधिक तल्लीन हो गया है कि जहाँ भी

जाएंगे वहाँ भगवान आपको उपलब्ध हैं तो फिर घर छोड़ दें, फिर घर की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि आपका मन भगवान में अभी इतना तल्लीन नहीं है तो उस स्थिति में आपको भगवान के साथ जीना पड़ेगा। मनुष्य जीता कहाँ है- घर में या मन्दिर में?

मन्दिर में अधिकतर चूहे जीते हैं, बिल्लियाँ रहती हैं, कोई भक्त तो नहीं जी सकता न! मठड़ी-मोहनथाल खाने के लिए मन्दिर में चूहे बहुत रहते हैं। जैसे चर्च के चूहे बहुत दुबले माने जाते हैं और मन्दिर के चूहों के बारे में अपने यहाँ एक कहावत है कि - **''मन्दिर का चूहा है, कोई चर्च का चूहा थोड़े ही है''** इस प्रकार से देखें तो मन्दिर में भक्त की जरूरत नहीं है, चूहों की जरूरत है। अत: यदि आप भक्त हैं तो आपको घर में जीना है और घर में भगवान के बिना आप जिएंगे तो आपका भक्ति का भाव दृढ़ नहीं होगा। क्योंकि यदि आपने भगवान की सेवा आंशिक समय की समझी कि अवकाश के समय, ऑफिस से आते-जाते दर्शन कर आते हैं तो आप भगवान के साथ नहीं जी रहे, भगवान के लिए नहीं जी रहे हैं। आप अपने संसार के लिए जी रहे हैं, घर के सांसारिक सम्बन्धों के साथ जी रहे हैं। जब भगवान के साथ नहीं जी रहे, भगवान के लिए नहीं जी रहे तो ऐसी स्थिति में आपका भक्ति का बीजभाव दृढ़ कैसे होगा?

भक्ति कोई कर्मकाण्ड नहीं है, भक्ति एक सम्पूर्ण जीवनप्रणाली है। हमने चतु:श्लोकी में देखा ही है कि धर्म भी भक्ति है, अर्थ भी भक्ति है, काम भी भक्ति है और मोक्ष भी भक्ति है। अत: जिसकी व्याप्ति इतने बृहत् स्तर पर है, जिसकी मर्यादा इतनी विस्तीर्ण है उसे आप हाशिए पर रखेंगे तो बीजभाव दृढ़ कहाँ से होगा? इस प्रकार इस उपक्रम के अन्तर्गत यह बात असम्भव है। उसे समझें, थोड़ा बुद्धि का उपयोग करें, श्रीमहाप्रभुजी में श्रद्धा रख कर। विश्वास की बात नहीं कर रहा, निष्ठा की बात नहीं कर रहा परन्तु श्रीमहाप्रभुजी में श्रद्धा रख कर थोड़ी बुद्धि का उपयोग करेंगे तो यह बात समझ में आएगी कि भगवान

के साथ जीना है, भगवान के लिए जीना है तभी भक्ति का बीजभाव दृढ़ होगा।

भक्ति का बीजभाव दृढ़ हो गया तो घर की आवश्यकता नहीं है। घर के बाहर भी जी सकते हैं और घर में भी जी सकते हैं। यदि भक्ति का बीजभाव दृढ़ नहीं हुआ है तो हमारा संसारासक्ति का बीजभाव दृढ़ कैसे हो गया? इस बात को ध्यान से समझें। हमारे बालक, हमारी पत्नी, हमारा पति, हमारे माता-पिता, हमारा घर, हमारी खाने की पद्धति, हमारा बाथरूम, हमारा बेडरूम हमें किसलिए पसन्द आते हैं? इतना आरामदायक स्थान दूसरा क्यों नहीं लगता? सीधा सा कारण यह है कि हम इन सबको जीते हैं, उनके लिए हम अपना जीवन जी रहे हैं इसलिए उनमें विषयासक्ति का बीजभाव दृढ़ हो जाता है।

मैं प्राय: एक बात कहता रहता हूँ कि केवल दो वर्ष के लिए मैं बनारस पढ़ने गया और वहाँ धर्मशाला के एक कमरे में रहा। अब भी बनारस जाने पर मुझे ऐसा लगता है कि हाँ, यह कमरा मेरा। केवल दो वर्ष जिस कमरे में रहा उसमें बीजभाव दृढ़ हो गया। अत: हम एक बार अपने घर में श्रीठाकुरजी के साथ दो वर्ष जी कर देखें तो ज्ञात होगा कि श्रीठाकुरजी के साथ हमारा बीजभाव कितना दृढ़ हो जाएगा।

दो वर्ष सेवा को जी कर देखें। सेवा की प्रणाली से जीवन जीने से बीजभाव कितना दृढ़ हो जाएगा, दो वर्ष में आपके पूरे परिवार के प्रति आपका आसक्ति का भाव कितना भक्तिमय हो जाएगा। यह बात हमें तब समझ में आ सकती है जब दो वर्ष तक हम जो कुछ खा रहे हैं वह श्रीठाकुरजी को भोग लगा कर खाएँ। देखें कि आपके मन में, आपके बच्चों के मन में यह बात उतर जाएगी कि श्रीठाकुरजी को भोग नहीं आरोगाया तो अभी हमें भी नहीं खाना है।

जिनके घर में सेवा बिराजती है उनके छोटे बच्चों को भी यह बात समझ में आ जाती है कि श्रीठाकुरजी को भोग नहीं धराया इसलिए अभी खाना नहीं है। अत: इस स्तर तक बीजभाव दृढ़ हो जाता है। हमारा बीजभाव दृढ़ क्यों

नहीं होता? क्योंकि श्रीठाकुरजी नीचे आरोगते हैं, हमारी तपेली अलग सिद्ध होती है। उस तपेली में से श्रीठाकुरजी आरोगते नहीं और जो श्रीठाकुरजी आरोगते हैं वह सब हमारे नौकरों के वेतन के एवज में चला जाता है। यह बीजभाव में दरार पड़ गई है। यह बात ध्यान से समझेंगे तो समझ में आएगा कि हमने श्रीठाकुरजी के साथ जीवन जीने का अभिगम, जीवन जीने का आग्रह, जीने का भाव खो दिया है। हम श्रीठाकुरजी के साथ जीना नहीं चाहते बल्कि श्रीठाकुरजी के नाम पर व्यापार करके अपना जीवन जीना चाहते हैं। श्रीठाकुरजी को धंधे पर बैठा कर हम जीना चाहते हैं। तब बात वापस बदल गई न! श्रीठाकुरजी के साथ, श्रीठाकुरजी के लिए यदि जीवन जीना चाहेंगे तब भक्ति का बीजभाव दृढ़ होगा। जब श्रीठाकुरजी के नाम पर जीना चाहेंगे तो भक्ति का बीजभाव दृढ़ नहीं होगा। फिर तो कोई दूसरा ही भाव दृढ़ हो रहा है, जैसे आज हममें दृढ़ हो गया है। अतः यह बात ध्यानपूर्वक समझें।

(अदृढबीजभावनाम् अव्यावृत्तानाम्[ख/1] व्यावृत्तानां[ख/2] पुष्टिजीवानां कृते भक्तेः फलात्मकप्रवृद्धयुपायाः)

अदृढ़बीजभाववालों के अन्तर्गत अव्यावृत्त और व्यावृत्त पुष्टिजीवों के लिए भक्ति की फलात्मकप्रवृद्धि के उपाय।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः।
अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः[ख/1] ।।2।।
व्यावृत्तोऽपि हरौ चित्तं श्रवणादौ न्यसेत् सदा[ख/2]।

अन्वयार्थ :

बीजदार्ढ्यप्रकारः= बीज की दृढ़ता का प्रकार,
तु = तो, **गृहे** = घर में
स्थित्वा = रहकर, **स्वधर्मतः** = अपने धर्म के अनुसार

अव्यावृत्तः = अव्यावृत्त
(सन् = होकर)
पूजया = पूजा से
श्रवणादिभिः = श्रवणादि से
कृष्णं = श्रीकृष्ण को, **भजेत्** = भजना
व्यावृत्तः = व्यावृत्त होने पर
अपि = भी, **हरौ** = श्रीकृष्ण में
चित्तं = चित्त को
(आसज्य = जोड़ कर)
श्रवणादौ = श्रवणादि में
सदा = सदा
न्यसेत् = प्रयत्नशील रहना

भावार्थ : स्वधर्माचरणपूर्वक गृह में रह कर, सेवा के प्रतिकूल उद्योग को छोड़ कर पूजा और श्रवणादिक से श्रीकृष्ण का भजन करना चाहिए। यह बीजभाव की दृढ़ता का उपाय (प्रकार) है।

कुछ उद्योग करना पड़े तो भी चित्त को श्रवणादि से प्रभु में रख कर ही करना चाहिए।

व्याख्या :

यहाँ श्रीमहाप्रभुजी वापस धर्म को ला रहे हैं कि आप घर में रह कर, घर की शास्त्रीय-मर्यादा और लोक-मर्यादा का उल्लंघन करके नहीं जिएं, जो कुछ भी लोक-मर्यादा, शास्त्र की मर्यादा है उसे निभाते हुए उसको अपनी भक्ति का अंग बना कर यह धर्म हम निभाएंगे।

जैसे हमारे यहाँ विवाह का संकल्प करते हैं – ''**गोपीजनवल्लभ – प्रीत्यर्थं, इमे इदम् करिष्ये**'' श्राद्ध करें तब भी ''**गोपीजनवल्लभप्रीत्यर्थं**'', बेटी का विवाह करें तो भी ''**गोपीजनवल्लभप्रीत्यर्थं**'', ग्रहण का दान करें तब भी ''**गोपीजनवल्लभप्रीत्यर्थं**'', जी रहे हैं तो ''**गोपीजनवल्लभप्रीत्यर्थं**'', और मरें तो ''**गोपीजनवल्लभप्रीत्यर्थं।**'' इस प्रकार ''गोपीजनवल्लभप्रीत्यर्थं'' जीवन जीना चाहिए तब भक्ति का भाव दृढ़ हो सकेगा। अब यहाँ एक बात ध्यान से समझें। दृढ़ बीजभाव को हमने 'क' से चिह्नित किया है और अदृढ़ बीजभाव को 'ख' से चिह्नित किया है। अदृढ़ बीजभाववाले अव्यावृत्त को 'ख[1]' से चिह्नित किया है। इस हिसाब से ''अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः'' 'ख[1]' है और ''व्यावृत्तोऽपि हरौ चित्तं श्रवणादौ न्यसेत् सदा'' 'ख[2]' है।

अब किसी कारण से आप इतने व्यस्त हैं कि सेवा की जीवनप्रणाली नहीं निभा सकते तो चिन्ता की कोई बात नहीं है। श्रीमहाप्रभुजी ऐसा नहीं कह रहे हैं कि मंदिर में जाने से आपका बीजभाव दृढ़ होगा, श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि ''व्यावृत्तोऽपि हरौ चित्तं श्रवणादौ न्यसेत् सदा'' इस स्थिति में अव्यावृत्त में पूजा, श्रवणादि नवधाभक्ति और व्यावृत्त में श्रवणादि तीन (श्रवण, कीर्तन, स्मरण) और दास्यादि तीन भावनाएँ (दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन) अपेक्षित हैं। अर्थात् बाहर आप इतना तो कर ही सकते हैं कि प्रभु के विषय में कुछ श्रवण करें, जो सुना है उसका कीर्तन करें और जो कीर्तन किया है उसका कुछ चिन्तन करें एवं मन में दास होने की, सखा होने की अथवा आत्मनिवेदन की, जो भी भावना स्फुरित होती हो उसकी मन में जुगाली करते रहें। धीरे-धीरे भक्ति का बीजभाव दृढ़ होने की स्थिति पर जाने लगेगा।

ये सभी काम घर में रह कर करने के लिए हैं – ''गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः'' – मंदिर में जा कर नहीं। यह एक पद्धति बताई गई है।

(अदृढबीजस्य व्यावृत्तस्य जीवस्य प्रेमासक्ति-व्यसनसोपानक्रमेण बीजभावदृढतायां रागविनाशादिना कृतार्थता च)

जो जीव अदृढ़बीजभाववाले हैं, जो किसी कारण से सेवा नहीं कर सकते उनको श्रीमहाप्रभुजी आहिस्ता से कह रहे हैं कि प्रेम, आसक्ति और व्यसन के सोपानों के क्रम से बीजभाव दृढ़ होने से सांसारिक विषयों से राग खत्म हो जाएगा और वे जीव कृतार्थ हो सकते हैं। इस प्रकार मंदिर में सेवा करने से ही बीजभाव दृढ़ हो पाने की कल्पना श्रीमहाप्रभुजी ने नहीं की थी। यहाँ गौर करें कि कम से कम भक्तिवर्धिनी का जो उपदेश श्रीमहाप्रभुजी हमें दे रहे हैं उसमें वे ऐसी कल्पना नहीं कर रहे कि ऐसा भी कुछ हो सकता है!

ततः प्रेम तथाऽऽसक्तिर् व्यसनं च यदा भवेत्।।3।।
बीजं तद् उच्यते शास्त्रे दृढं यन् नाऽपि नश्यति।
स्नेहाद् रागविनाशः स्याद् आसक्त्या स्याद् गृहारुचिः।।4।।
गृहस्थानां बाधकत्वम् अनात्मत्वं च भासते।
यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव हि।।5।।

अन्वयार्थ :

ततः = उससे, **प्रेम** = प्रेम
आसक्तिः = आसक्ति
तथा = उसी प्रकार
च = और, **व्यसनं** = व्यसन
यदा = जब, **भवेत्** = होता है
(तर्हि = तब**), तत्** = वह
शास्त्रे = शास्त्र में, **दृढं** = दृढ
बीजं = बीज, **उच्यते** = कहा जाता है
यत् = जो, **न अपि** = कभी भी नहीं

नश्यति = नष्ट होता है
स्नेहात् = स्नेह से
रागविनाशः = राग का विनाश
स्यात् = होता है
आसक्त्या = आसक्ति से
गृहारुचिः = घर में अरुचि
स्यात् = होती है
गृहस्थानां = घर में रहनेवाले को
बाधकत्वं = बाधकता
च = और
अनात्मत्वं = अनात्मता
भासते = भासित होते हैं, **यदा** = जब
कृष्णे = श्रीकृष्ण में
व्यसनं = व्यसन, **स्यात्** = होता है, **तदा** = तब
एव = ही (**भक्तः** =भक्त)
कृतार्थः = कृतार्थ
स्यात् = होता है
हि = ही

भावार्थ : ऊपर बताए गए प्रकार से आचरण करते रहने से हृदय में पहले प्रेम स्फुरित होता है, उसके पश्चात् प्रभु में आसक्ति होती है, उसके पश्चात् प्रभु में व्यसन होता है। इस प्रकार व्यसनपर्यन्त भाव बढ़े तब बीजभाव को दृढ़ जानना चाहिए। जिस जीव को पूर्वोक्त प्रमाण में बीजभाव की दृढ़ता हुई हो वह कभी भी भक्तिमार्ग से विचलित नहीं होता।

प्रभु में प्रीति होने से अन्यत्र स्नेह का नाश होता है और प्रभु में आसक्ति होने से गृहादिक में अरुचि हो जाती है एवं गृह में रहे हुए पदार्थ भक्ति में बाधक

और अनात्मीय दिखने लगते हैं। जब श्रीकृष्ण में व्यसन हो जाता है तभी भक्त कृतार्थ हुआ कहा जाता है, यह निश्चय है।

व्याख्या :

श्रवणादि में आपने अपना चित्त लगाया तो श्रवण की प्रक्रिया से ही धीरे-धीरे आपका चित्त प्रभु में प्रेममय हो जाएगा। प्रेममय होते-होते आसक्ति का रूप धारण कर लेगा और व्यसन हो जाएगा, तब आपका बीजभाव दृढ़ हुआ कहलाएगा। ''बीजं तद् उच्यते शास्त्रे दृढ़ं यन् नाऽपि नश्यति।'' मैंने गमले के उदाहरण से यह बात बहुत सुन्दर तरीके से समझाई थी कि जिसको खींच नहीं सकते, जो टूट नहीं सकता, जिसे मिट्टी से छुड़ा कर अलग नहीं किया जा सकता उसे 'दृढ़ बीजभाव' कहते हैं। इसी प्रकार यह भक्ति का पौधा हमारे आत्मा की मिट्टी से जब अलग नहीं किया जा सकता, आत्मा इतना भक्ति की जकड़ में आ जाए, भक्ति के बीजभाव की जड़ों से आवृत्त हो जाए, भक्ति की जड़ हमारे आत्मा में फैल कर सब तरफ से हमारे आत्मा की सभी वृत्तियों को इस प्रकार जकड़ ले कि उसे पकड़ने पर आत्मा भी खिंचा चला आए, ऐसी परिस्थिति जब आ जाती है तब स्पष्ट करते हैं कि वस्तुतः यह क्या है।

''स्नेहाद् रागविनाशः स्याद्'' - स्नेह के कारण आपको जागतिक विषयों में से राग खत्म हो जाएगा। आपकी उस विषय के प्रति आसक्ति खत्म हो जाएगी और भगवान में आसक्ति हो जाएगी। अब जब भगवान में आसक्ति हो जाएगी तो फिर देखें कि राग और आसक्ति में क्या भेद है? 'राग' अर्थात् भगवान के रंग में हमारे चित्त का रंगा जाना परन्तु आसक्ति उससे अधिक है - ''आसमन्तात्सक्ति'' - एकदम समग्ररूप से चिमट जाना।

आप सब भलीभाँति जानते होंगे कि जब हम कपड़े को रंगते हैं और उसका रंग कच्चा हो तो अधिकांशतः कपड़ा धोते समय रंग उतर जाता है। उसे किसी दृढ़ प्रक्रिया से रंगा जाए तो धोने के बाद भी रंग नहीं निकलेगा। रंग को

दृढ़ करने के लिए अलग से प्रक्रिया करनी पड़ती है। इसी प्रकार आसक्ति भी ऐसा रंग है कि रंग भी लग गया और दृढ़तापूर्वक लग गया।

फोटोग्राफी में भी जैसे रंगीन फोटोग्राफ हो तो एक बार रंग आ जाने के बाद उसे किसी ऐसे रासायनिक घोल में डुबोना पड़ता है ताकि रंग वापस उड़ न जाए। अत: आसक्ति ऐसी अवस्था है कि रंग तो आ गया परन्तु रंग आने के बाद उसे दृढ़ करने के लिए अलग से स्नेह के रंग पर आसक्ति का रासायनिक घोल चढ़ाना पड़ता है ताकि वह दृढ़ हो जाए। यह आसक्ति की अवस्था है।

''आसक्त्या स्याद् गृहारुचि:'' - उस आसक्ति से आपको अपने घर में अरुचि होना कैसे शुरू होगी? जब आप अपने घर में भगवान के साथ जीने की प्रणाली नहीं निभा सकते तब आपको घर में अरुचि होगी। मंदिरों ने हमें क्या नुकसान पहुँचाया है? हमें घर में अरुचि होने ही नहीं दी। क्योंकि पास में हवेली में दर्शन करके प्रसाद ले आए। अब किसलिए घर में अरुचि होगी? आसक्ति हो जाती है, प.भ. हो जाने पर भी घर में अरुचि नहीं होती।

मैं एक ऐसे प.भ. को जानता हूँ जिसे बेचारे एक वैष्णव ने उसकी पत्नी की डिलीवरी के समय 1946-47 में घर दिया था। प.भ. ने कहा था कि मेरी पत्नी को डिलीवरी होनेवाली है इसलिए रहने के लिए घर दे दो तो वैष्णव ने अपना घर खाली करके उसको दे दिया कि आपकी पत्नी को डिलीवरी होनेवाली है तो आप इस घर में रहें। सन् सैंतालीस से ले कर आजतक निकला ही नहीं। जब पूछते हैं कि कब निकलोगे तो कहता है कि लाश निकलेगी और लाश भी निकल गई तो बेटे लोग घर में से थोड़े ही निकलेंगे। ऐसे-ऐसे भगवदीय हैं और उनकी गृहासक्ति भी इतनी तीव्र है। इतनी तीव्र गृहासक्ति है क्योंकि हवेली का धंधा चल रहा है इसलिए आनन्द है। उनको भगवान में आसक्ति है ही नहीं। वैष्णव की पत्नी बेचारी रोती रही कि मेरे पति ने मेरे साथ ऐसा धोखा किया है कि उसे घर दे दिया जो हमें आजतक वापस नहीं मिला।

केवल चालीस दिन डिलीवरी के लिए घर दिया था - ऐसा होता है। ऐसे प.भ. भी घर में घुस गए तो उनको घर में इतनी आसक्ति हो जाती है। जैसे ऑक्टोपस आठों पंजों से कुछ पकड़ लेता है, उसी प्रकार उन्होंने घर को पकड़ लिया। भगवान को नहीं पकड़ा। अपने यहाँ ऐसे-ऐसे प.भ. हैं।

''गृहस्थानां बाधकत्वम् अनात्मत्वं च भासते'' - घर में रहते हुए घर में जो भी वस्तु है वह बाधक लगेगी और हमें उसमें आत्मीयता का अनुभव नहीं होगा। कारण यह है कि जो घर आपको भक्तिमय जीवन जीने का हिस्सा नहीं बन सका, जिस घर के परिवार के सदस्य आप के लिए भक्तिमय जीवन जीने का हिस्सा नहीं बन सके, आपके सहयोगी नहीं बन सके, वे सब अब आपको अनात्मीय लगने लगेंगे।

(भगवति जातव्यसनस्यापि व्यावृत्तस्य सर्वदा गृहएव निवास: भक्तिभावबाधको भवतीति गृहत्यागप्रशंसा)

कथाप्रणाली से भगवान में व्यसनवाले के लिए सर्वदा घर में निवास भक्तिभाव में बाधक होता है। इसलिए ऐसे अधिकारी हेतु गृह-त्याग की प्रशंसा की जा रही है।

तादृशस्याऽपि सततं गेहस्थानं विनाशकम्।
त्यागं कृत्वा यतेद् यस्तु तदर्थार्थैकमानस: ।।6।।
लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोऽप्यधिकां पराम्।

अन्वयार्थ :

तादृशस्य = वैसे को (भगवद् भाववाले को)
अपि = भी, **सततं** = निरन्तर
गेहस्थानं = घर में रहना
विनाशकं = विनाशक है

(तस्मात् = उससे) **त्यागं** = त्याग

कृत्वा = करके, **यः** = जो

तदर्थार्थैकमानसः = उसके लिए ही मन है जिसका, ऐसा (केवल भगवत्कामना के लिए मन है जिसका)

(सन् = हो कर)

यतेत् = यत्न करे (**सः** = वह)

तु = तो, **सुदृढां** = सुदृढ

सर्वतः = सबसे, **अपि** = भी

अधिकां = अधिक

परां = श्रेष्ठ, भक्तिं = भक्ति को

लभते = प्राप्त करता है

भावार्थ : ऐसे भाववाले जीव को भी, तादृश भगवदीय के संग बिना घर में स्थिति भाव का नाश करनेवाली है। इसलिए उसको घर में रहना उचित नहीं है। इसलिए ऐसे भाववाला गृह का त्याग करके, मन में एकमात्र प्रभु को मिलने की अभिलाषा रख कर, भाव को बढ़ाने का यत्न करे तो ऐसा करते-करते सुदृढ़ पराभक्ति को प्राप्त करता है।

व्याख्या :

आसक्ति के पश्चात् जब आपको भगवद्व्यसन हुआ और उस समय आपने घर का त्याग नहीं किया तो आपका विनाश हो जाएगा। उस स्थिति में आपको घर का त्याग करना है, उसके पहले त्याग नहीं करना। उस समय आप घर का त्याग करके ''तदर्थार्थैकमानसः'' - केवल भगवत्कामना से ही यदि घर छोड़ कर निकल जाएं तो ''लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोऽप्यधिकां पराम्'' - सुदृढ़ सर्वाधिक भक्ति आपको प्राप्त होगी।

पुष्टिमार्गीयों को श्रीमहाप्रभुजी का यह उपदेश कभी पसंद नहीं

आएगा- सिवाय उनके, जिनके बेटे अपने वृद्ध माता-पिता को घर से निकाल देते हैं। उनके अतिरिक्त उक्त उपदेश किसी पुष्टिमार्गीय को पसन्द ही नहीं आया क्योंकि इस दिशा में कोई आगे बढ़ने का प्रयत्न ही नहीं करता। अब बेटे निकाल देते हैं, बहुएं निकाल देती हैं तो हम भी कहेंगे कि - ''त्यागं कृत्वा यतेद् यस्तु'' - गोकुल में जा कर रहेंगे, मथुरा में जा कर रहेंगे, वृन्दावन में जा कर रहेंगे, नाथद्वारा में जा कर रहेंगे, बहू-बेटे घर में रखना नहीं चाहते इसलिए त्याग करना पड़ा। यह त्याग एक अलग त्याग है और भक्त का, भक्ति के व्यसन के कारण गृहत्याग एक अलग गृहत्याग है। दोनों बातों को अलग-अलग करके समझें।

''लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोऽप्यधिकां पराम्'' - सुदृढ़ सबसे अधिक भक्ति आपको प्राप्त होगी। मुझे नहीं लगता कि आजकल कोई पुष्टिमार्ग में इस उपदेश का अनुसरण करता होगा और व्यवहार में लाता होगा। जब आप कर्तव्य के लिए घर का त्याग कर रहे हैं और आपने घर के विषय में, घर का अभिमान नहीं रखा तो घर के प्रति आपका कोई कर्तव्य नहीं रहा। इसलिए सब छूट गया है।

स्पष्ट बात यह है कि सभी कर्तव्य अभिमानमूलक होते हैं। अभिमान नहीं तो कोई कर्तव्य भी नहीं। यदि आपका अभिमान खण्डित हो गया, आपको अभिमान का भी कोई ढोंग नहीं और निरभिमान का भी ढोंग नहीं तथा वास्तव में आपको कोई अभिमान नहीं तो आपका कोई कर्तव्य भी नहीं। यदि आप स्वयं को मनुष्य मान रहे हैं तो जो मनुष्य का कर्तव्य है वह आपका भी कर्त्तव्य है लेकिन आपमें मनुष्यता का अभिमान ही न हो तो, कर्तव्य भी अपेक्षित नहीं है। आपमें मनुष्यता का अभिमान न हो, ऐसी स्थिति भी कभी उत्पन्न हो सकती है।

एक सामान्य स्थिति आपको बताता हूँ। जैसे हम बिलकुल पागल हो जाते हैं तो मनुष्यता का अभिमान छूट जाता है, हम एकदम लकवाग्रस्त हो गए तो मनुष्यता का अभिमान छूट गया, हम कोमा में चले गए तो मनुष्यता का

अभिमान छूट गया। ऐसी स्थिति में किसको अपेक्षा हो सकती है कि आप मनुष्य की भाँति व्यवहार करें। किसी भी पागल ने आपको गाली दी तो आप बुरा मानेंगे? क्यों नहीं बुरा मानेंगे? क्योंकि किसी को गाली न देने की अपेक्षा मनुष्य से होती है, पागल से नहीं। कोलकता में पागलपन से सम्बन्धित एक बहुत मजेदार घटना हो गई।

एक मनुष्य फुटपाथ पर सोए हुए लोगों की हत्या करता था। कोई दस-पन्द्रह खून हो गए। सबने विचार किया कि ये खून कौन कर रहा है तो किसी ने कहा कि पागल है। पुलिस आई और रास्ते में जितने भटकते हुए पागल जैसे लोग लगते थे उनको पकड़ लाई। पन्द्रह-बीस पागलों को पकड़ लाई। उन सबसे पूछा कि तुमने हत्या की? उन सभी पन्द्रह-बीस ने स्वीकार किया कि हाँ, हमने हत्या की है। पुलिस ने कहा कि सब स्वीकार कर रहे हैं कि हमने खून किया है तो फांसी पर किसको चढ़ाएँ, किस पर आरोपनामा तय करें, किस पर कानूनी कार्यवाही करें? पागलों से पूछा गया कि तुमने हत्या की? बताओ हत्याएँ किसने कीं? उन सबने कहा कि हमने ही की थी। इस प्रकार जितनी हत्याएँ की गईं उनके बारे में सबने स्वीकार किया कि हमने हत्याएँ की हैं। पागल तो ऐसे ही होते हैं। पुलिस ने सबको छोड़ दिया कि जाओ किसी ने खून नहीं किया। पागल पर कानूनी बंधन लागू नहीं होता और किसी धर्म का बंधन भी लागू नहीं होता। पागल तो पागल है। अभिमान छूट गया न!

अतः पागलपन एक रोग है तो इस पागलपन की कोई दिव्यता भी हो सकती है। मीरा का राणा के साथ ऐसा ही झगड़ा था। वह कृष्ण की दीवानी थी। उसके सभी अभिमान छूट गए थे। राणा कहता था कि तुम परदे में रहो पर मीरा पैर में घूँघरू बांध कर नाची। अब राणा बेचारा क्या करे? सारी इज्जत धूल में मिल गई न!

आज इस बात को ध्यान से समझें कि राणा कौन था, यह इतिहास का विषय है पर मीरा कौन थी यह इतिहास का विषय नहीं रहा, सबके लिए गाने का विषय हो गया। सबकी भक्ति के गीत का विषय हो गया। जो उसे रोक रहा था वह मीरा का पति राणा कौन था? बहुत अनुसंधान के बाद पता चला कि वह राणा था अन्यथा किसी को ज्ञात न था। वह भी तब ज्ञात हुआ जब मीरा ने कहा कि राणाजी ने विष का प्याला भेजा, तब पता चला कि उसका पति राणा था।

जिसमें ऐसा पागलपन हो उसके लिए क्या कर्तव्य रह जाता है? पागल नहीं होने तक ही सब बातों में आपका अभिमान है, पागल होने के बाद कोई अभिमान नहीं और अभिमान नहीं तो कोई कर्तव्य भी नहीं।

सार यह है कि अभिमान से कर्तव्य प्राप्त होता है। अभिमान से निवृत्त होने पर सारे कर्तव्य नष्ट हो जाते हैं। अब अभिमान किन-किन परिस्थितियों में निवृत्त होता है? शारीरिक, मानसिक पागलपन के अलावा एक आंतरिक दिव्य-वैराग्य आए तो भी अभिमान निवृत्त हो जाता है, ब्रह्मज्ञान से अभिमान निवृत्त हो जाता है, भक्ति से भी यदि पागलपन चढ़े तो अभिमान का नाश हो जाता है। अभिमान नष्ट होने के बाद कोई कर्तव्य नहीं रहता।

परन्तु आप दोनों जगह एक साथ पैर रखें कि हम पर भक्ति का पागलपन भी सवार है और हम घर में भी रहते हैं। मतलब या तो आप घर में रहने का ढोंग करते हैं या भक्ति का ढोंग करते हैं। दो में से एक ही परिस्थिति हो सकती है। दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकती।

(गृहत्यागानुकल्पो = भगवत्सेवाकथापरैः भगवदीयैः सह निवासः तत्प्रकारश्च)

गृहत्याग का एक अनुकल्प बता रहे हैं। अनुकल्प कैसे? क्योंकि इस प्रकार का पालगपन सवार होना बहुत कठिन है और ऐसा पागलनपन सवार हुए

बिना गृहत्याग करना न तो उचित है और न ही आवश्यक है। फिर क्या करना? यही श्रीमहाप्रभुजी समझा रहे हैं।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात् तथाऽन्नतः।।7।।
अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः।
अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति।।8।।

अन्वयार्थ :

त्यागे = त्याग में
दुःसंसर्गात् = दुष्ट के संसर्ग से
तथा = और, **अन्नतः** = अन्न से
बाधकभूयस्त्वं = बहुत बाधकता है
अतः = इसलिए
हरिस्थाने = श्रीकृष्ण के स्थान में
तत्परैः = उसके परायण
तदीयैः = तदीय के, **सह** = संग
स्थेयं = रहना चाहिए, (**किंवा** = अथवा)
अदूरे = समीप
वा = और, **विप्रकर्षे** = दूर
(स्थेयं = रहना चाहिए **)**
यथा = जिस प्रकार से, **चित्तं** = चित्त
न = नहीं, **दुष्यति** = दूषित हो

भावार्थ : जिसका व्यसनपर्यन्त भाव नहीं बढ़ा है ऐसे पुरुष को भक्ति बढ़ाने के लिए गृह छोड़ने में दुस्संग और अन्नदोष बहुत बाधक है। अतः दोष न आए इसके लिए जहाँ सेवा का प्रवाह चलता हो, प्रभु के ऐसे स्थान में प्रभु की सेवास्मरणपरायण भगवद्भक्त के संग निरन्तर रहे। उसमें भी प्रभु में और भक्त

में दोषबुद्धि न हो, उस प्रकार से समीप अथवा दूर रहना चाहिए।

व्याख्या :

आप त्याग करेंगे तो बहुत सी तकलीफें उत्पन्न होंगी। आप अपने घरवालों का दुस्संग मानते हैं कि आपको उनका दुस्संग है इसलिए आप भक्ति नहीं कर सकते और गृहत्याग करने पर तुरन्त ही आपके दो-चार शिष्य भी इकट्ठे हो जाएंगे। जैसे ही दो-चार शिष्य इकट्ठे हुए तो उन सबका भी दुस्संग आपको लगेगा। जितना दुस्संग बेटा नहीं लगा रहा उतना दुस्संग आपको अपने शिष्य लगा देंगे और अन्न भी आप जहाँ-तहाँ से मांग कर खाएंगे तो वह भी दोष उत्पन्न करेगा।

अतः कोई ऐसा मध्यममार्ग खोजें जिसमें आप न तो पूरा त्याग कर रहे हैं और न पूरा भोग कर रहे हैं, कोई इस प्रकार का मार्ग निकालें। ''अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः'' - अतः हरि के स्थान पर जहाँ आपको कोई ऐसा भगवदीय मिल जाए जो तदीय हो और भगवत्सेवा, भगवत्कथा में परायण हो तो उसके सत्संग में आप रह सकते हैं। ऐसा स्थान खोजें पर उसके अधिक सान्निध्य में भी न रहें और उससे अधिक दूर भी न रहें। अर्थात् इतने नजदीक भी न जाएँ कि उसके दोष आप में संक्रमित हो जाएँ अर्थात् उसके दोष आपमें आ जाएँ और उससे इतना दूर भी न रहें कि उसके गुणों का लाभ आपको न मिले।

''अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति'' - जब इस प्रकार रहेंगे तो साथ रहने से क्या होगा? इस प्रकार ''अदूरे विप्रकर्षे'' के रूप में सत्संग करने से जो लाभ होगा वह श्रीमहाप्रभुजी बता रहे हैं।

(स्वगृहे स्वकीयस्य वा गृहेऽपि सेवाकथापरायणस्य कदापि नाशो न भवतीति सिद्धान्तसंक्षेपः)

अपने घर में अथवा अपना कोई स्वकीय भगवदीय जो स्वगृह में सेवा-

कथापरायण है उसका कभी नाश नहीं होगा।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर् दृढा भवेत्।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर् मम।।9।।

अन्वयार्थ :

यस्य = जिसकी
सेवायां = सेवा में, **वा** = अथवा
कथायां = कथा में, **वा** = भी
दृढा = दृढ़, **आसक्तिः** = आसक्ति
यावज्जीवं = जीवनपर्यन्त
भवेत् = होती है
तस्य = उसका
नाशः = नाश, **क्व** = कभी
अपि = भी, **न** = नहीं
(स्यात् = होता है **)**
इति = ऐसी, **मम** = मेरी
मतिः = मति (**अस्ति** = है)

भावार्थ : प्रभु की सेवा में तथा भगवत्कथा में जिसकी दृढ़ आसक्ति जीवनपर्यन्त रहती है उसका किसी प्रकार से नाश नहीं होता और उसे पुष्टिमार्गीय फल सिद्ध होता है। इसमें संशय नहीं है, ऐसी मेरी मति है।

व्याख्या :

सेवा से या कथा से, जिस प्रकार भी आसक्ति दृढ़ होती है तो उस जीव का कभी भी नाश नहीं होता।

(भक्तिभावस्य बाधसम्भावनायाम् एकान्ते वासो न इष्टः)

भक्तिभाव में बाधकता की सम्भावना से एकान्तवास एषणीय नहीं है।

बाधसम्भावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः।।10।।

अन्वयार्थ :

बाधसम्भावनायां = बाधा होने की सम्भावना में,
तु = तो,
एकान्ते = एकान्त में
वासः = रहना, **न** = नहीं
इष्यतेः = अपेक्षित है
हरिः = श्रीकृष्ण, **तु** = तो
सर्वतः = सब प्रकार से
रक्षां = रक्षा, **करिष्यति** = करेंगे
(तत्र = उस समय **) संशयः** = सन्देह
न = नहीं (**अस्ति** = है)

भावार्थ : सेवा में बाधा की सम्भावना में सेवा छोड़ कर एकान्तवास करने में हित नहीं है। क्यों? क्योंकि प्रभु सबके दुःख का हरण करनेवाले हैं इसलिए प्रभु सब बाधाओं को दूर करके भक्त के भाव की रक्षा करेंगे। इसमें संशय नहीं।

व्याख्या :

आपको स्वयं में आत्मविश्वास न हो कि मेरी भक्ति का बीजभाव दृढ़ हुआ या नहीं, दृढ़ कैसे करूँ, कहाँ जाऊँ, किसका सत्संग करूँ, किसका न करूँ? श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि ऐसी परिस्थिति में कभी भी मन में एकान्त में रहने का विचार नहीं करना चाहिए। किसलिए? एक बात ध्यान से समझें कि एकान्त में रहने से मनुष्य निष्क्रिय हो जाता है। यदि सबके साथ घुल-मिल कर

रहेगा तो सबके सुख-दु:ख को भी एक-दूसरे से कहेगा, सबके गुण-दोष भी एक-दूसरे को बताएगा। जो व्यक्ति एकान्त की प्रक्रिया में उलझ जाता है वह भक्ति की प्रक्रिया से एकदम दूर हो जाता है। कैसे? यद्यपि यह खराब उदाहरण है परन्तु समझने के लिए काम आएगा।

जैसे कुत्ता है, सिंह है, गधा है, अर्थात् जितने भी जानवर हैं उनको एकान्त में रखने से वे बहुत हिंसक हो जाते हैं और वे मनुष्य के साथ घुल-मिल कर रहते हैं तो अपनी पूँछ हिलाते रहते हैं क्योंकि तब आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। आसक्ति उत्पन्न होने के कारण उनकी हिंसावृत्ति नष्ट हो जाती है। अत: जो व्यक्ति एकान्त में जाता है वह वस्तुत: अत्यधिक हिंसात्मक हो जाता है। वह किसी के सुख-दु:ख में भाग नहीं लेता, किसी के गुण-दोष से अपनी तुलना नहीं कर सकता और न विरोध कर सकता है। सबको समान अन्तर से देखने लग जाता है। जब हम सबके साथ घुल-मिल कर स्वयं को देखते हैं तो उनके हममें गुण-दोष भी आते हैं।

गालिब ने बहुत ही सुन्दर बात कही है - **''मैंने मजनू पे लड़कपन में 'असद', संग उठाया था कि सर याद आया, फिर मुझे दीदा-ए-तर याद आया''** - सब मजनू पर पत्थर फेंक रहे थे। गालिब ने भी अपने बचपन में जब गली से मजनू गुजर रहा था तो पत्थर फेंकने का विचार किया। इसलिए जब फेंकने के लिए पत्थर उठाया तो गालिब ने बहुत सुन्दर बात कही कि तब मुझे यह बात याद आई कि भाई मजनू पर पत्थर फेंकना है तो वह किसी एक बात में मजनू है, मैं भी तो किसी एक बात में मजनू हूँ। यदि उस पर पत्थर फेंकना है तो मुझे सबसे पहले अपने सिर पर पत्थर फेंकना चाहिए। इसलिए कहा कि - ''मैंने मजनू पे लड़कपन में 'असद', संग उठाया था कि सर याद आया।'' बाद में पत्थर नहीं फेंका।

साथ रहने से ही हमें पता चलता है कि मनुष्य में गुण-दोष होते हैं।

कुछ गुण होते हैं तो कुछ दोष भी होते हैं, कुछ दोष होते हैं तो गुण भी होते हैं। जैसे अच्छे-बुरे कर्म मनुष्य कर रहा है वैसे हम भी कर रहे हैं। अत: पत्थर उठाने के बाद सिर याद आया। एकान्त में रहेंगे तो पत्थर उठाने से कभी सिर याद नहीं आएगा बल्कि पत्थर फेंक ही देगा।

इस प्रकार का एकान्तसेवन का भाव भक्ति का विरोधीभाव है। यद्यपि योग में यह भाव बहुत साधक है। यह बात ध्यान से समझें कि योग में एकान्त सेवन का भाव बहुत ही साधक है। **''जनस्य अभिमतो योगी योगसिद्धिम् न विन्दति''** - योगी जनता के बीच जा रहा है तो वह योग का प्रदर्शन कर रहा है, योगी नहीं है। यदि एकान्त सेवन करता है तो वह योगी है परन्तु यह भक्ति, योग नहीं है। भक्ति जीवन को जीने की एक प्रणाली है, जीवन से भागने की प्रणाली नहीं। जीवन जीने की प्रणाली होने के कारण उस प्रणाली को हमें इतने ऊँचे स्तर पर जीना है कि मानो हम भगवान के साथ जी रहे हैं। भगवान के साथ भक्तिमय जीवन जी रहे हैं। इसलिए भक्ति में एकान्तसेवन की कोई आवश्यकता नहीं है।

इसलिए श्रीमहाप्रभुजी स्पष्ट कहते हैं कि - ''बाधसम्भावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते'' - आप अपने हृदय में डर रहे हैं कि सारी दुनिया खराब है तो फिर एकान्तवास करने का अनुचित उत्पात न करें। क्योंकि एकान्त में रहने से आप हिंसक हो जाएंगे, प्रेमपूर्ण भक्त नहीं रहेंगे। भक्त होने के लिए आपके हृदय में प्रेमपूर्णता होनी चाहिए। एकान्तवास से हृदय में प्रेमपूर्णता का स्वभाव ही खण्डित हो जाता है। अत: घुल-मिल कर रहेंगे तो आप अपने हृदय को भी देख सकेंगे।

इस संदर्भ में अपने यहाँ श्रीगुसांईजी की वार्ता का एक बहुत सुन्दर प्रसंग आता है। एक वैष्णव ने कहा कि मुझे खाने का बहुत शौक है। श्रीगुसांईजी ने उसको तुरन्त ब्रह्मसंबंध दे कर उसके यहाँ सेवा पधरा दी कि

भाई, तुम्हें शौक है तो तुम श्रीठाकुरजी को भी लाड लडाओगे। दूसरे ने कहा कि मैं विरक्त हूँ। श्रीगुसांईजी ने कहा कि तुम्हें अभी ब्रह्मसंबंध नहीं देते क्योंकि तुम विरक्त हो तो श्रीठाकुरजी को भी तुम वैरागी ही रखोगे।

अत: हिल-मिल कर रहने की बात, भगवदनुरक्ति की बात है, विरक्ति की नहीं। वहाँ विरक्ति भी आती है तो भगवदनुरक्तिमूलक होती है। विषयविरक्तिमूलक भगवदनुरक्ति प्राप्त करना अभीष्ट नहीं है अपितु भगवद्-अनुराग की तन्मयता में विषय को भूल जाना है। एकान्त, भक्तिमार्गीय साधना-प्रणाली में बाधा पहुँचाने वाला एक घटक है, भक्तिमार्गीय साधना प्रणाली को मंद करनेवाला घटक है। इसलिए श्रीमहाप्रभुजी एकान्तवास का निषेध करते हैं।

''हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशय:'' - पुन: कृष्णाश्रय में स्थित हो जाएँ। श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि मैंने तुम्हें बताया है- ''विवेकधैर्यभक्त्यादि-रहितस्य विशेषत:।'' यहाँ आदि शब्द के रूप में घर को भी सम्मिलित कर दें। घर भी ऐसा नालायक है जिसमें मैं सेवा नहीं कर सकता और घर के, परिवार के सभी सदस्य भी ऐसे नालायक हैं जिनके साथ रह कर सेवा नहीं हो सकती। नहीं हो सकती तो कोई बात नहीं परन्तु ''कृष्णएव गतिर्मम'' - पुन: आश्रय को प्राप्त करें। भगवदाश्रय को प्राप्त करने से सारी बात सुधर जाएगी। ऐसी स्थिति में एकान्तवास करने जाएंगे तो बात बिगड़ जाएगी। क्यों? क्योंकि आप अपने हृदय को स्नेहपूर्ण तो बना नहीं सके और इससे पूर्व आपने उसे विरक्ति से भर दिया। अब वह भगवदनुरक्ति के लायक नहीं रहा।

भगवदनुरक्ति के कारण आपको विषयविरक्ति प्राप्त हुई तो यह भक्ति की खूब ही उत्कृष्ट स्थिति कही जाएगी। विषयविरक्ति के कारण आपने भगवदनुरक्ति प्राप्त की तो ''जलता घर'' कृष्णार्पण करने जैसी नीति अपना रहे हैं कि घर जल रहा है तो आपने कृष्ण को अर्पित कर दिया। अरे! सजा-संवारा

हुआ घर कृष्ण को अर्पण करें, जलता हुआ घर कृष्ण को अर्पण न करें। सजा-सजाया घर कृष्ण को अर्पण करने का खुमार आप में होना चाहिए। घर को भलीभाँति सजाएँ, बहुत सुन्दर सजावट करें और फिर उस घर में कृष्ण को पधराकर कृष्ण के साथ जीवन जीने की आपने इच्छा रखी तो आपकी भक्ति खिलेगी। सारा घर नष्ट हो गया, खण्डहर हो गया, कोई बचा नहीं, घर के सब सदस्य छोड़ कर चले गए तो फिर भक्ति न करें तो क्या करें? यार, यह भक्ति नहीं है आपको कोई मिला नहीं इसलिए आप एक प्रकार का मिथ्या सन्तोष कर रहे हैं। ''न मिली नारी तो बाबा ब्रह्मचारी'' - इस प्रकार का ब्रह्मचर्य सच्चा ब्रह्मचर्य नहीं है। यह बात ध्यान से समझें।

(ग्रन्थोपसंहार: एतद्ग्रन्थपाठफलच्च)

ग्रन्थ का उपसंहार और ग्रन्थ के पाठ का फल कहते हैं।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम्।
य एतत् समधीयीत तस्यापि स्याद् दृढा रति: ।।11।।

अन्वयार्थ :

इत्येवं = इस प्रकार से
भगवच्छास्त्रं = भगवत्शास्त्र के
गूढतत्त्वं = गूढ़तत्त्व को
(मया = मेरे द्वारा)
निरूपितं = निरूपण किया गया
य: = जो, **एतत्** = इसको
समधीयीत = भलीभाँति अध्ययन करेगा
तस्य = उसको, **अपि** = भी
(**हरौ** = श्रीकृष्ण में)

दृढा = अविचल, **रतिः** = प्रीति
स्यात् = होगी

भावार्थ : ऊपर बताए अनुसार जो वाणी का विषय नहीं परन्तु अनुभव से जानने लायक जिसका गूढतत्त्व है, ऐसी भक्ति की वृद्धि का शास्त्र निरूपित किया है। इस शास्त्र का सम्यक्रूपेण अर्थानुसंधानपूर्वक जो पाठ करता है उसको ऐसे करते-करते निष्पाप अन्तःकरण जब प्राप्त होता है तब प्रभु में दृढ़ प्रीति होती है।

व्याख्या :

श्रीमहाप्रभुजी कितनी सुन्दर आज्ञा कर रहे हैं कि भगवत्शास्त्र में कहा गया भक्ति का अत्यन्त गूढ़तत्त्व मैंने आपको समझा दिया। यार, एक बार तो ध्यान से उसका अध्ययन करें। पुष्टिमार्ग की सबसे बड़ी तकलीफ यह है कि हमने भक्तिवर्धिनी समझी नहीं, भक्तिवर्धिनी हम समझाना नहीं चाहते, भक्तिवर्धिनी हम बोलना नहीं चाहते, भक्तिवर्धिनी का अर्थ नहीं करना चाहते। ऊटपटांग अर्थ विचारने से हमारी भक्ति कहाँ से दृढ़ होगी? श्रीमहाप्रभुजी स्पष्ट कह रहे हैं - ''य एतत् समधीयीत'' - इसे भलीभाँति पढ़ें और समझें। इस प्रकार से पढ़ें कि आपको कोई बेवकूफ ना बना सके, कोई यह न कह सके कि अपने घर में सेवा न करके हमारे यहाँ मनोरथ करने आ जाएँ। ऐसी स्थिति में आप कुछ न कर सकें तो कोई बात नहीं परन्तु उनके सामने भक्तिवर्धिनी का पाठ करें, अर्थ न करें।

जब आपके यहाँ समाधानी आए और कहे कि पैसे दें तो ''यथा भक्ति प्रवृद्धास्यात्...'' के पाठ शुरू कर दें। खिसिया कर भाग जाएगा। ''य एतत् समधीयीत तस्यापि स्याद् दृढा रतिः'' - आपकी भगवद्रति दृढ़ हो जाएगी। एक प्रयोग करके देखें - जिस दिन आपके पास महाराज मनोरथ के लिए पैसे

मांगें तो हाथ में करताल और झांझ ले कर नाचें -''यथा भक्ति प्रवृद्धा स्यात्...'' शुरू कर दें। पागल समझ कर महाराज भाग जाएंगे। पैसा देता नहीं और भक्ति को प्रवृद्ध करता है। यह प्रयोग करके देखें, आपको बहुत व्यावहारिक सलाह दे रहा हूँ, मजाक की बात नहीं कर रहा। एक बार प्रयोग करके देखेंगे तो आपका पीछा छोड़ देगा। फिर आनन्द से घर में सेवा करें।

''य एतत् समधीयीत तस्यापि स्याद् दृढा रतिः'' - सम्यक् अर्थात् भली प्रकार से अध्ययन करेंगे तो आपकी भक्ति दृढ़ हो जाएगी, पाठ करेंगे तो भक्ति दृढ़ हो जाएगी। श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि पाठ चाहे कम करें किन्तु भलीभाँति करें। घर के ठाकुर को छोड़ कर किसी झूठे लालच में न फंसें - **''नंदनंदन कर घरको ठाकुर, आप होय रहे चेरो, यामे कहा घटेगो तेरो।''** यह बहुत ही छोटी बात है। इतनी छोटी बात को हम लोग नहीं समझ रहे हैं इसलिए पुष्टिमार्ग में सारे बखेड़े हो रहे हैं। यह छोटी सी बात समझ जाएँ। ''तस्यापि स्याद् दृढा रतिः'' - रति दृढ़ हो जाएगी। घबराने की कोई आवश्यकता नहीं है ''य एतत् समधीयीत'' - भक्तिवर्धिनी भलीभाँति समझी होगी तो, अन्यथा कठिनाई में रहेंगे।

इस प्रकार यह बात हमें समझा दी। ध्यान से समझें कि भक्तिवर्धिनी समझाते हुए श्रीमहाप्रभुजी ने हमें दो विकल्प दिए हैं। यदि आप व्यावृत्त हैं तो श्रवण, स्मरण, कीर्तन की प्रणाली से भक्ति को दृढ़ करें। यदि आप अव्यावृत्त हैं तो सेवा और नवधाभक्ति, दोनों प्रकार से, भक्ति की प्रणाली को दृढ़ करें।

।। इतिश्रीवल्लभाचार्यविरचिता भक्तिवर्धिनी सम्पूर्णा।।

॥ जलभेदः ॥

भूमिका :-

भक्तिवर्धिनी में श्रवण, कीर्तन, स्मरण की प्रणाली से भक्ति को दृढ़ करने के विषय में बताया गया। अब श्रवण किससे करना, श्रवण किसको करना और कब व्यसन हो जाता है, फिर घर को छोड़ना और किस प्रकार छोड़ना तथा किस प्रकार नहीं छोड़ना, इन तीनों बातों को समझाने के लिए आगे के तीन ग्रन्थ आ रहे हैं-जलभेद, पंचपद्यानि और संन्यासनिर्णय। किससे श्रवण करना, किसको श्रवण करना, किसके समक्ष कीर्तन करना- इन बातों को समझाने के लिए जलभेद ग्रन्थ है। आज हम यह प्रणाली चला रहे हैं कि अखबार में सार्वजनिक सूचना दे कर सबके सामने भागवतकथा कराते हैं। बेचारे श्रीमहाप्रभुजी को ज्ञात नहीं था कि पुष्टिमार्ग में ऐसे छल-छद्म होंगे। भागवतकथा सबके सामने करने के लिए नहीं है। श्रीमहाप्रभुजी ने दोनों तरफ से इस बात को समझ कर उसके दोनों पक्ष सम्पूर्णरूप से स्पष्ट किए हैं कि श्रवण, कीर्तन, स्मरण की प्रणाली में भाग लेनेवाले श्रोता-वक्ता दोनों में अब अधिक जोखिम हो गया है। किसलिए जोखिम उत्पन्न हो गया, यह ध्यान से समझें।

जिस समय प्रभु आपके घर में विराज रहे हैं और यदि आप महाराजों की तरह उनका प्रदर्शन नहीं करके अपने घर में प्रभु की सेवा कर रहे हैं तो कोई आपको ठग नहीं रहा है या आप किसी को ठग नहीं रहे। अतः भक्ति की प्रवृद्धि में केवल भगवान और भक्त दोनों की उपस्थिति होना पर्याप्त है।

जिस समय आप सेवा न करके श्रवण और कीर्तन की प्रणाली से सम्मिलित होना चाह रहे हैं तो अब भाग लेनेवाले दो हो गए, अब भगवान बीच में नहीं आ रहे। इससे पहले आपको कथा कहनेवाला आ रहा है जो आपका नहीं है,

वह आपको ठग सकता है, कथा सुनानेवाले आ रहे हैं वे भी आपके नहीं हैं, वे भी ठग सकते हैं। अब वह पुष्टिमार्गीय है या मर्यादामार्गीय है अथवा प्रवाहमार्गीय है या फिर भक्तिमार्गीय है या प्रपत्तिमार्गीय है, इस बात की सावधानी रखे बिना आपने कथा का श्रवण-कीर्तन शुरू किया तो रसाभास हो जाएगा।

एक बहुत ही प्रसिद्ध उदाहरण देता हूँ। मुम्बई में एक महिलामण्डल है। वे रोज बैठ कर आपस में सत्संग करती हैं। उनमें एक पुष्टिमार्गीय लड़की थी और एक मर्यादामार्गीय लड़की भी थी। सभी कृष्णभक्त थीं। जब ये सत्संग करने बैठतीं तो कहती कि ध्यान करें। उनमें पुष्टिमार्गीय लड़की कहती कि पेड़ा बनाती हूँ, बर्फी बनाती हूँ, लड्डू बनाती हूँ, मोहनथाल बनाती हूँ और मर्यादामार्गीय लड़की कहती कि मैं निकुंज में जाती हूँ, रास कर रही हूँ आदि-आदि। वे दोनों एक दिन झगड़ा करते हुए मेरे पास आईं। मर्यादामार्गीय बोली कि जब हम ध्यान करने बैठते हैं तो यह पेड़ा, बर्फी, मोहनथाल बनाने बैठ जाती है, निकुंज में नहीं आती, रास में नहीं आती। पुष्टिमार्गीय कहती है कि श्रीठाकुरजी का ध्यान कर रहे हैं तो कुछ सेवा का ध्यान करना चाहिए। मर्यादामार्गीय कहती है कि हर समय यह खाने की बात बीच में क्यों लाती है, दूसरी कहती है कि वह हर समय भगवान के साथ नाचती ही रहती है। बेचारी दोनों भोली थीं। इस प्रकार की गड़बड़ हो जाती है क्योंकि दोनों में बातचीत के भाव का अभाव है। इसकी बात वह नहीं समझती और उसकी बात यह नहीं समझती। इसको हर समय सेवा का ध्यान सूझता है और उसको हर समय लीला का ध्यान सूझता है। दोनों में तालमेल नहीं बैठता तो दोनों आपस में झगड़ा करती हैं।

ऐसी गड़बड़ हो सकती है। इसके बजाय हम पहले से सावधानीपूर्वक श्रवण, कीर्तन करें तो दोनों में सामंजस्य हो सकता है। वार्ता में भी ऐसे प्रसंग कितनी ही बार आते हैं कि श्रीमहाप्रभुजी के पद गाना शुरू किया तो उन्होंने कहा कि ठीक है, तुम अपने गुरु के पद गा रहे हो। अब कुछ कृष्णलीला के पद

गाओ। उन्होंने कहा कि - **''दारी की, कोई तेरे खसम के थोरी पद गायो है, ये तो में श्रीठाकुरजी के ही तो पद गायो है''** - इसलिए भावभेद के कारण भावाभास हुए बिना नहीं रहता।

इस प्रकार जब तक आप एक-दूसरे के भाव को पहचान नहीं लेते तब तक श्रवण और कीर्तन की प्रणाली में एक-दूसरे के सहयोगी बनने पर गड़बड़ हुए बिना नहीं रहेगी। मूल कारण यह था कि धनिकवर्ग को श्रोताओं के रूप में बुलाया गया। वे विज्ञापन छपाने लगे कि अमुक कथा के यजमान अमुक हैं और दूसरी कथा के यजमान कोई दूसरे हैं।

भाई, सम्पूर्ण भागवतकथा का एक यजमान हो गया तो कृष्णजन्म के लिए दूसरे यजमान की क्या आवश्यकता है? कृष्णजन्म के लिए एक यजमान हो गया तो गोवर्धनलीला के लिए दूसरे यजमान की क्या आवश्यकता है? कारण यह है कि श्रोतागण सब धनिकवर्ग हैं। वक्ता तो सब - **''गेहे-गेहे जने-जने कारिता कणलोभेन कथासारः ततोगतः''** भागवत में उल्लेख है कि कलियुग में सभी मनुष्य घर-घर कथा करने लगेंगे इसलिए कथा का सार सब ''कणलोभेन कथासारः ततोगतः'' निकल जाएगा। कथा सारयुक्त नहीं रहेगी। इसलिए कथा निःसार हो जाएगी, जैसे आज हो रही है।

हम स्पष्ट देख रहे हैं कि अब कथा में आनन्द आना बन्द हो गया है। अब कथा में डाण्डिया होने लग गए हैं। बस, यही राह देखें कि किसी दिन चीरहरण न हो जाए, किसी दिन रासलीला न होने लगे। कथा में कोई यजमान ऐसा मिल जाए कि चलो, आज रासलीला हो जाए। हम पुष्टिमार्गीय वैष्णव ब्रिटेन में भोगवादी (Hedonist) के रूप में बदनाम हैं कि पुष्टिमार्ग में सब खाने-पीने और मौज करनेवाले जीव हैं।

पुष्टिमार्गीय कथा में किसी दिन रासलीला होने लगी तो सत्यानाश हो

जाएगा। पुष्टिमार्गीय प्रतिष्ठा का कचरा हो जाएगा। हमने सारा उद्यम कथा के नाम से शुरू किया हुआ है। अब समझें कि यह उद्यम कैसे शुरू हुआ? मूल कारण यह है कि श्रोता, वक्ता को नहीं जानना चाहते और वक्ता, श्रोता को नहीं जानना चाहता। इसलिए दोनों की **''अंधे गुरु लालची चेला, दोनों नरक में ठेलम-ठेला''** वाली परिस्थिति है। कथा के श्रवण, कीर्तन, स्मरण की पूरी व्यवस्था बिगड़ गई है। कथा का ढाँचा ही बिगड़ गया है।

वह न बिगड़े इसके लिए श्रीमहाप्रभुजी ने जलभेद में निरूपण किया है कि कथा किससे सुननी चाहिए। पञ्चपद्यानि में बताया है कि कथा किसको सुननी चाहिए और संन्यासनिर्णय में यह निरूपण किया है कि इस कथाप्रणाली से आपका बीजभाव दृढ़ हो जाने के उपरान्त संन्यास किस प्रकार लेना चाहिए। इन सभी बातों का निरूपण संन्यासनिर्णय में आएगा।

प्रश्न : दृढ़बीजभाव और अदृढ़बीजभाव का पता कैसे चले?

उत्तर : सबसे पहले तो आप यदि भक्तिमार्ग में प्रवेश करना चाहते हैं तो आपमें कुछ वैसे लक्षण विद्यमान होना अपेक्षित है कि - **''अनुग्रहस्तु मार्ग रुच्या अनुमीयते''** वह रुचि प्रामाणिक है अथवा बनावटी है यह भी जाँचना आवश्यक बताया गया है। सम्बन्धित व्यक्ति की रुचि प्रामाणिक है अथवा दिखावटी है- जैसे श्मशान वैराग्य होता है। हममें कोई तात्कालिक रुचि जोर पकड़ लेती है। इसके लिए बताया है कि जैसे किसी ने कहा कि बस, हमें ब्रह्मसंबंध दे दें और जैसे राह ही देखते बैठे हों वैसे कह दें कि हाँ, आपको ही देना था। हम कबसे आपकी राह देख रहे थे।

जब तक दिव्यदृष्टि से हमें यह मालूम न चले तब तक जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए। यदि दिव्यदृष्टि से यह ज्ञात होता है कि यह जीव, पुष्टिजीव है तो कोई आपत्ति नहीं है। नहीं तो उसके सम्बन्ध में छानबीन करनी चाहिए। जैसे पुराने समय में सगाई का प्रकार यह था कि सगाई के बाद विवाह हो। उसका

कारण यह था कि सगाई और विवाह के बीच की अवधि में आप एक-दूसरे के सम्पर्क में आ गए परन्तु विवाह नहीं हुआ। सम्पर्क के बिना आप एक-दूसरे को समझ नहीं सकते। अत: सगाई के कारण आपका सम्पर्क हुआ है। अब आप उसको जान लें और वह आपको जान ले। इस परम्परा के समानान्तर वर्तमान में पश्चिमी संस्कृति ने समयान्तर से मिलने की पद्धति रखी है। इसमें लड़का-लड़की मुलाकात करते हैं जिससे बहुत गड़बड़ हो गई है। क्योंकि इसमें विवाह के पहले कुछ दिन तक विवाहित जीवन की भाँति जी कर देख लेते हैं कि वैवाहिक जीवन भलीभाँति निभेगा या नहीं? इसमें पचास झमेले उत्पन्न हो गए। इस प्रकार हमारी प्रणाली ठीक थी कि साथ रहकर स्नेह को पनपाना।

मैं हमेशा एक बात कहता हूँ कि प्रेमविवाह और प्राजापत्यविवाह में प्रेम में बुनियादी अन्तर यह है कि प्रेमविवाह में विवाह से पूर्व प्रेम होने के कारण विवाह के बाद प्रेम नहीं रहता है। फिर तो ले तेरी, दे तेरी, शुरू हो जाता है।

पारम्परिकविवाह के अनन्तर यह होता है कि उन्होंने कई दिन प्रेम के बिना बिताए होते हैं। एक-दूसरे के साथ वैवाहिकजीवन बिताने की जवाबदारी के साथ उनमें प्रेम का उद्‌भव होता है। इस प्रकार से उद्‌भूत प्रेम टूटता नहीं है। बाद में दो-चार बच्चे हो जाते हैं और प्रेम भी बढ़ता जाता है। प्रेम-विवाह में विवाह के पश्चात् एक-आध बच्चा होने से पहले ही टूटने की नौबत आ जाती है क्योंकि प्रेम तो पहले ही हो गया होता है। अब विवाह के बाद कोई आकर्षण नहीं रह जाता। ऐसी स्थिति में हमारी व्यवस्था अमुक अंशों में बेहतर थी, ऐसा मुझे लगता है।

दो प्रेमी विवाह करें उसके बजाय परिणीत दम्पती का प्रेम श्रेष्ठ माना जाता है। बिल्कुल यही स्थिति अपने यहाँ थी। अपनी व्यवस्था इस अर्थ में

समानान्तर थी कि पहले आप शरणागतहोकर कृष्ण को समझें और आप जिस भगवन्मार्ग में प्रवृत्ति कर रहे हैं वह आपको समझ में आए। इस प्रकार आप उसके साथ सम्पर्क में रहें तो उस सम्पर्क के साथ आप उसे जाँच लें और वह आपको जाँच ले। इसके पश्चात् हम भगवन्मार्ग में प्रवृत्त होते हैं तो एक मजबूत कदम उठा सकेंगे।

इस प्रकार सारे झमेले प्रेम-विवाह के हैं। पहले हमारे यहाँ इस प्रकार की उपद्रव भरी प्रणाली नहीं थी। अपवादस्वरूप किसी उत्तम अधिकारी के लिए यह प्रक्रिया मान्य है, बाकी सामान्यरूप से ऐसी प्रणाली या नियम नहीं थे। यही सावधानी यहाँ भी रखनी पड़ेगी। इसमें थोड़ा गुरु को भी समय देना चाहिए ताकि वह आपको भलीभाँति समझ सके। आपको भी समय लेना चाहिए ताकि गुरु को समझ सकें। भगवत्स्वरूप को समझ जाएँ और स्वयं को समझ जाएँ कि आप इसके लिए योग्य हैं अथवा नहीं।

यदि हम समझे बिना उपद्रव करेंगे, जैसे हम गाँव में घोषणा कर दें कि आज महाराज पधारे हैं, जिनको ब्रह्मसंबंध लेना हो वे ले जाएँ, कल महाराज गाँव से चले जाएंगे। अब महाराज तो ब्रह्मसंबंध देकर जाते रहे, उनको पता ही नहीं चला कि ब्रह्मसंबंध हुआ या भ्रमसंबंध हुआ - ये सब झंझटवाली बातें हैं, प्रेम-विवाहवाली बात है, परिणीत दम्पती के प्रेम की बात नहीं है। इसलिए जितनी तीव्रता से भाव आते हैं उतने ही वेग से निकल भी जाते हैं।

प्रश्न : दृढ़बीजभाववाले और अदृढ़बीजभाववाले के श्रवण, कीर्तन, स्मरण में क्या अन्तर होगा?

उत्तर : दृढ़बीजभाववाले का श्रवण, कीर्तन, स्मरण दृढ़बीजभाव के साथ किया गया श्रवण, कीर्तन, स्मरण है। वह फलात्मक हो या नहीं परन्तु बहुत प्रबल होगा। अदृढ़बीजभाववाले का श्रवण, कीर्तन, स्मरण बिलकुल प्रबल नहीं होगा। रुचि अथवा श्रद्धा के स्तर पर होगा, चाहे विश्वास अथवा

निष्ठा हो या न भी हो। इतना ही अन्तर है।

जैसे दामोदरदास और श्रीमहाप्रभुजी को होता था कि बहुत समय हो गया, कोई भगवत्कथा नहीं हुई। इसलिए बैठे-बैठे जंभाई आती थी। अरे, इतना समय बीत गया, भगवत्कथा नहीं हुई। हम भी जैसे ऊब जाते हैं तो जंभाई आती है परन्तु भगवत्कथा न होने के कारण हम नहीं ऊबते। जो दृढ़-बीजभाववाला है उससे थोड़ी देर बात करेंगे तो वह ऊब जाएगा कि व्यर्थ में क्या बातें हो रही हैं? कुछ भगवत्कथा करें। हमें ऐसा नहीं होता।

आज की तारीख में लोग जितना गृहत्याग करते हैं उतना पहले कभी नहीं करते थे। आज इतना तेजी से घर का त्याग हो रहा है कि जैसे, जिस समय कोलम्बिया का स्काईलैब गिरनेवाला था तो राजस्थान में किसी महिला का जबरदस्ती से किसी के साथ विवाह कर दिया गया था। जब रोज अखबार में आने लगा कि स्काईलैब गिरनेवाला है तो उस महिला ने विचार किया कि अब स्काईलैब गिरने से दुनिया खत्म हो जाएगी। इसलिए गिरने से पहले ही मैं अपने प्रेमी के पास भाग जाती हूँ। वह तो भाग गई लेकिन स्काईलैब नहीं गिरा। अत: आज जितना गृहत्याग हो रहा है उतना पहले नहीं होता था। कोई नहीं कह सकता कि कब, कौन गृहत्याग करेगा। सब सामान बाँध कर तैयार ही बैठे हैं। अब यहाँ जो गृहत्याग है वह लौकिकसंबंध से हो रहा है तो फिर भगवत्सम्बन्ध से भी इस प्रकार का गृहत्याग क्यों नहीं हो सकता?

एक बात समझें - आज बेटे पिता को छोड़ कर भाग जाते हैं, पति, पत्नी को छोड़ कर भाग जाता है, पत्नी पति को छोड़ कर भाग जाती है, ये सब उत्पात आज पुराने समय की तुलना में अधिक बढ़ गए हैं। इसी प्रकार हमें भी कृष्ण के साथ घर बसाने के लिए किसी का घर छोड़ना पड़े तो मीरा की भाँति आज भी छोड़ सकते हैं।

यह बात ध्यान से समझें कि जिस समय मीरा ने राणा को छोड़ा तो वह एक शैतान को छोड़ने जैसा कार्य था। घर छोड़ कर जाने के कारण मीरा को अत्यधिक कष्ट हुआ होगा। आज किसी को कोई छोड़ कर भाग जाए, कोई स्त्री अपने पति को छोड़ कर भाग जाए तो कानूनी संरक्षण इतना है कि गाँव में कोई पूछ भी नहीं सकता कि क्यों भाग गई। उस जमाने में पत्थर मार कर मार डालते थे। आज तो सब प्रकार का संरक्षण मिलता है। एक सुना हुआ अनुभव बता रहा हूँ।

भगवान रजनीश की एक शिष्या थी। उसने अचानक सत्संग करना शुरू किया। घर में सत्संग शुरू करने से उसका पति इतना ऊब गया कि उसने कह दिया कि यहाँ सत्संग नहीं चलेगा। पत्नी ने कहा कि कोई अड़चन नहीं है, मैं घर छोड़ कर भाग जाऊँगी। पूरा ज्वैलरीबॉक्स साथ लेकर भाग गई। पीछे-पीछे पति गया कि भाई, तुम घर छोड़ दो परन्तु ज्वैलरीबॉक्स तो यहीं रख दो। उसने कहा कि घर छोड़ूँगी तो ज्वैलरीबॉक्स के साथ ही घर छोड़ूँगी। आज आप नियमान्तर्गत मांगें तो पचास प्रतिशत मिल जाता है। पहले के समय में बेचारी मीरा ने घर छोड़ा तो राणा की जायदाद से पच्चीस प्रतिशत भी नहीं मिला। आज यदि आप घर छोड़ कर भाग जाएँ तो दावा करके वापस हिस्सा प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार सामाजिक संरक्षण, कानूनी संरक्षण आदि कई प्रकार के संरक्षण मिलते हैं और इस बात को कोई खराब भी नहीं मान रहा है। उस समय में भागनेवाले की दशा बहुत खराब होती थी।

मीरा जैसी कोई असाधारण शक्तिशाली महिला ही इस कष्ट को सहन कर सकती है, बाकी साधारण हो तो सहन नहीं कर सके। आप आज से पचास वर्ष पूर्व का विवरण देख लें - सामाजिक व्यवस्था में घर छोड़ना, जाति छोड़ना, कुल छोड़ना, सब पूर्णरूप से बिना संरक्षण के था। आज तो कई प्रकार का संरक्षण प्रत्येक स्थान पर प्राप्त है, कुछ भी काम करें। आज गृहत्याग करना

जितना आसान है, उतना उस जमाने में नहीं था।

आज तो आप घर छोड़ कर भाग जाएँ तो आपको फिक्स डिपोजिट भी मिल जाता है। उस समय में घर छोड़ कर भाग जाएँ तो सारी सम्पत्ति सरकार जब्त कर लेती थी। यदि घर का मालिक घर छोड़ कर भाग गया तो सारी सम्पत्ति सरकार की।

आज आप भाग जाएँ और कोर्ट में दावा करें तो कोर्ट भी आपको कहेगा कि ठीक है, आनन्द करो। कोर्ट ऐसा नहीं कहता कि यह सम्पत्ति आपकी नहीं है। बैंक जाएंगे तो आपको इतना ही बता देना है कि इतने वर्ष से नहीं आए इसलिए मालूम नहीं। बैंक सम्पत्ति जब्त नहीं करता है, उत्तराधिकारी के रूप में आपको सब मिल जाएगा। उस जमाने में ऐसे कानून थे कि सम्पत्ति जब्त हो जाती थी, गृहत्याग करना बहुत कठिन था। आज गृहत्याग करना बहुत आसान है, किसी के बाप की ताकत नहीं कि किसी पर आँख उठाए।

श्रीमहाप्रभुजी कहना चाह रहे हैं कि गृहत्याग करने में थोड़ा जोखिम है लेकिन यदि आपका बीजभाव दृढ़ है तो कोई जोखिम नहीं है। इस प्रकार आपको समझ लेना चाहिए कि सिंह के सामने जाने में खतरा है पर आपमें हिम्मत हो तो जा भी सकते हैं। साँप को आहार देना इतना खतरनाक नहीं है। आपने भी अखबार में पढ़ा होगा कि कई लोग साँप के पिंजरे में जा कर बैठ गए और मरे भी नहीं। चालीस-अड़तालीस घण्टे बैठ कर भी लोग वापस आए हैं और उनके शरीर पर साँप भी घूमते रहे हैं। फिर भी वे जीवित वापस आ गए। अत: जोखिम तो सभी स्थानों पर है लेकिन प्रश्न यह नहीं है।

श्रीमहाप्रभुजी सुबोधिनीजी में स्पष्ट खुलासा करते हैं - ''**गृहस्थिते: उत्कृष्टत्वं न भगवदीयत्वमात्रेण किन्तु भगवता सह स्थित्या भगवत्कार्यार्थं वा अन्यथा न स्थातव्यम्**'' - आप भगवदीय हो कर घर में

रह रहे हैं तो वह कोई बहुत उत्कृष्ट बात नहीं है परन्तु आप भगवान के साथ घर में रहते हैं तो बहुत उत्तम बात है, भगवान का काम करने के लिए घर में रह रहे हैं तो श्रेष्ठ बात है। ''गृहस्थिते: उत्कृष्टत्वं न भगवदीयत्वमात्रेण'' - आप भगवदीय हैं और घर में रह रहे हैं तो वह उचित नहीं है। लेकिन भगवान के साथ रह रहे हैं तो घर छोड़ने का कोई अर्थ नहीं अथवा कोई भगवत्कार्य पूरा करने के लिए घर में रह रहे हैं तो किसलिए घर छोड़ना? हमें जब घर में भगवत्कार्य पूरा करने की सुविधा मिलती हो तो क्यों घर छोड़ना!

प्रश्न : यहाँ विरोधाभास नहीं हो रहा?

उत्तर : विरोधाभास तब होता जब एक ही अधिकारी को दो अलग-अलग बातें कही जातीं। यहाँ एक अधिकारी को ही दो बातें नहीं कही जा रही हैं। जैसे एक अधिकारी को कहें कि आप घर छोड़ें और दूसरे अधिकारी को कहें कि आप घर में रहें तो अधिकारभेद से दोनों बातें कही जा रही हैं। विरोधाभास कब होता कि एक अधिकारी को घर छोड़ने के लिए कहा जाए और उसी अधिकारी को घर में रहने के लिए भी कहा जाए तब विरोधाभास होता।

जैसे कोई स्नातक है और एम.ए. के लिए आवेदन करता है तो विरोधाभास नहीं है। यदि वह स्नातक नहीं है और एम.ए. के लिए आवेदन करे तो विरोधाभास है। जिसे हृदयरोग है उसे तात्कालिक तीमारदारी के लिए भर्ती करें और जिसे हृदयरोग नहीं है उसे सामान्य तीमारदारी के लिए भर्ती करें तो क्या विरोधाभास है? क्योंकि जब हम अधिकारभेद से कहते हैं तो उस समय विरोधाभास नहीं होता है। मंदिरों में प्राय: क्या होता है कि जिसने मनोरथ के पैसे दिए हैं उसे विशेष दरवाजे से ले जाया जाता है और जिसने मनोरथ के पैसे नहीं दिए वह सामान्यत: धक्के खाता है। इस प्रकार इसमें कोई विरोधाभास नहीं है, सब आनन्द से चलता है क्योंकि अधिकारभेद हो गया न!

इस प्रकार अधिकारीभेद होने से सारे विरोधाभास खत्म हो जाते हैं। फिर हम यह नहीं पूछते कि श्रीठाकुरजी एक है पर उनके दर्शन दो प्रकार से क्यों कराते हैं?

प्रश्न : अव्यावृत्त को गृहारुचि होगी या नहीं?

उत्तर : अव्यावृत्त को राग-विनाश के कारण गृहारुचि नहीं होती। यह व्यावृत्त को होती है। क्योंकि अव्यावृत्त का घर तो उसकी सेवा में सहायक है, गृहस्थी में परिवारजन सेवा में साधक हैं। अत: उसे अनात्मीय क्यों लगेंगे?

प्रश्न : उसे तन्मयता बाधक होगी अथवा नहीं?

उत्तर : तन्मयता वहां बाधक नहीं है क्योंकि यदि इस प्रकार से तन्मयता बाधक होती हो तो फिर आपका देह भी आपको अनात्मीय लगना चाहिए। फिर कभी देह छोड़ने का अभिगम रखना चाहिए! फिर तो आत्मा और परमात्मा का ही मिलन होना चाहिए, देह बीच में क्यों आना चाहिए? जैसे देह बीच में आता है वैसे ही दैहिकसम्बन्ध भी बीच में आते हैं, दैहिकसम्बन्ध बीच में आते हैं वैसे ही पारिवारिकसम्बन्ध भी बीच में आते हैं। ब्रह्मसंबंध में हम यह नहीं कहते कि तू परमात्मा और मैं आत्मा हूँ इसलिए तेरा और मेरा आत्मा-परमात्मा का ही संबंध रहेगा। इस प्रकार नहीं कहते।

मैं आत्मनासह सर्वस्व समर्पित कर रहा हूँ और सभी वस्तुओं के साथ आपकी सेवा में उपस्थित हूँ। आपने जो प्रतिज्ञा की है उससे विरुद्धभाव तो किसी दिन आपको जागेगा ही नहीं न! श्रीठाकुरजी के समक्ष आपने प्रतिज्ञा की कि दारा, आगार, पुत्र, आप्त सबको साथ ले कर आपकी सेवा के लिए आया हूँ। अत: जब सभी वस्तुओं को ले कर सेवा के लिए आए हैं तब सभी वस्तुओं के साथ सेवा करने में आपको रुचि होगी। इनमें से कोई भागे या छूट जाए तो आपको दु:ख होगा।

नवरत्न का सम्पूर्ण प्रतिपाद्य विषय यह था कि मैंने सभी वस्तुओं का विनियोग किया और सभी वस्तुओं का निवेदन किया तो फिर सभी वस्तुओं का विनियोग सेवा में क्यों नहीं होता? यह चिन्ता आपको होगी। यदि विनियोग होता होगा तो आपको चिन्ता ही नहीं होगी। आपने श्रीठाकुरजी के समक्ष तुलसीदल हाथ में ले कर यह सौगन्ध खाई थी। आपने यह तो सौगन्ध नहीं खाई थी कि अवकाश के समय में मन्दिर में मंगला और शयन के दो समय के दर्शन कर लेंगे।

ब्रह्मसंबंध के समय आपने सौगन्ध खाई थी कि मेरा घर-बार, बेटे, बच्चे, पैसे सब के साथ आपकी सेवा करूँगा और यदि यह सौगन्ध निभती हो तथा भगवान ने इसे स्वीकार किया या नहीं परन्तु - ''ब्रह्मसंबंधकरणात् सर्वेषां देह जीवयो: सर्वदोषनिवृत्तिर् हि'' - सेवा करने के लिए सभी दोष निवृत्त हो जाएंगे। इसे जब प्रभु ने स्वीकार किया है तो प्रभु को भी यह स्वीकार्य है और आपको भी स्वीकार्य था। ''**मियां-बीवी राजी तो क्या करेगा काजी**'' दोनों पार्टी जब सहमत हैं तो बाधकता और अनात्मकता कैसे स्फुरित हो सकती है?

प्रश्न : तादृश अर्थात् दोनों या एक?

उत्तर : नहीं-नहीं, केवल व्यावृत्त ही तादृशी नहीं है, तादृशी एक अलग वस्तु है। अपने यहाँ वार्ता में एक तादृशी वैष्णव की वार्ता आती है। तादृशी वैष्णव अलग होता है। यहाँ तादृशी अर्थात् 'वैसे को'। तादृशी किसी अलग श्रेणी के वैष्णव की बात है। यह पारिभाषिक शब्द है, यहाँ तादृशीवैष्णव नहीं कहा जा रहा है। तादृश अर्थात् उसके जैसा, उसके लिए भी सतत घर में रहना बाधक होता है - यह बात कही जा रही है।

कल हमने भक्तिवर्धिनी के अन्तर्गत देखा था कि भक्तिभाव को दृढ़ करने के लिए, भक्ति के बीजभाव को दृढ़ करने के लिए भगवत्सेवा-कथा करना एक मुख्य उपाय है। जिससे घर में रह कर किसी कारण से भगवत्सेवा

कथा का निर्वाह नहीं हो रहा है उसे घर का त्याग तबतक नहीं करना चाहिए जबतक उसका बीजभाव दृढ न हो जाए। बीजभाव दृढ होने के पश्चात् घर का त्याग कर सकते हैं।

भक्ति के व्यसनदशा में पहुँचने का तात्पर्य श्रीमहाप्रभुजी ने स्पष्ट बताया है कि – ''स्नेहाद्रागविनाशः स्याद् आसक्त्या स्याद् गृहारुचिः। गृहस्थानां बाधकत्वम् अनात्मत्वं च भासते, यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे.....'' भगवत्स्नेह इतना प्रबल होता है कि उस स्नेह की प्रबलता के कारण ही जागतिक विषयों, सांसारिक विषयों से हमारे राग का विनाश हो जाता है। राग के विनाश का अभिप्राय है कि राग-अनुराग खण्डित हो जाता है। न केवल अनुराग खण्डित होता है अपितु जब हमारा भगवत्स्नेह बढ़ कर भगवदासक्ति की अवस्था में पहुँच जाता है तो उस समय जागतिक विषयों में राग-विनाश के साथ-साथ हमें घर में भी अरुचि हो जाती है। जब हमें घर की अहंता-ममतास्पद वस्तुओं में अरुचि होने लगेगी तब धीरे-धीरे भगवान में व्यसन होगा। इस प्रकार घर की अहंता-ममतास्पद वस्तुओं में अरुचि और भगवान में आसक्ति श्रीमहाप्रभुजी की दृष्टि में चित्त की भगवान में निरुद्धता का सम्पूर्ण प्रमाण है।

जैसे मैंने आपको कल्पनाबेन के घर पर बताया था कि आपकी भक्ति का चतुष्कोण बढ़ कर इतना विकसित हो गया कि सारी अहंता-ममता उसमें समाहित हो गई और वह सेवाप्रणाली से न हुआ तो नहीं हुआ परन्तु कथाप्रणाली से हो गया है। अर्थात् भगवत्कीर्तन, भगवत्स्मरण, भगवत्श्रवण की प्रणाली से आपका जो भक्ति का बीजभाव है वह इस प्रकार दृढ़ हो गया है कि आपकी सारी अहंता-ममता भगवद्भाव का भाग बन गई। उसके अतिरिक्त बाहर का कोई अन्य विषय रहा ही नहीं।

जब आपको यह स्थिति प्राप्त हो गई तो व्यसनदशा प्राप्त हो गई। इसे व्यसनदशा कहें या प्रपंचविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्ति कहें। प्रपंच की विस्मृति

और भगवान की आसक्ति की अवस्थाएँ, घर में अरुचि और भगवदासक्ति के समानान्तर हैं जिसके कारण अन्त में आपको भगवद्व्यसन हो जाएगा। भगवद्व्यसन अर्थात् भगवान के बिना नहीं रह सकते।

आपको याद हो तो कल मैंने समझाया था कि जैसे श्रीमहाप्रभुजी को जंभाई आती कि काफी समय तक भगवच्चर्चा न होने से जंभाई आ रही है। भगवत्स्मरण, भगवच्चिन्तन, भगवत्कीर्तन बिना जिस समय यह ऊब प्रतीत होती हो उस समय यदि घर के कामकाज और उत्तरदायित्व आपको भगवच्चिन्तन, भगत्कीर्तन और भगवत्श्रवण में व्यवधान उत्पन्न करने लगें तो उस स्थिति में स्वाभाविक है कि घर आपको पुनः बाधक लगने लगेगा।

जिस समय घर आपको बाधक लगने लगे और उस समय आप घर में रहेंगे तो श्रीमहाप्रभुजी दो ही सम्भावनाएँ देख रहे हैं- या तो भगवद्भाव खण्डित हो जाएगा अथवा जो घर आपको बाधक लग रहा है उस घर में आपका निर्वाह नहीं हो सकेगा, उसे आप सहन नहीं कर सकेंगे। ऐसी स्थिति में श्रीमहाप्रभुजी ने गृहत्याग की आज्ञा की है और जैसे कल बाबा ने पूछा था वैसे भी गृहत्याग हो सकता है अर्थात् दोनों प्रकार से हो सकता है।

एक संन्यासपूर्वक और दूसरा संन्यास के बिना भी, जिसका विवेचन आगे आएगा। उस विवेचन की अभी जल्दी नहीं है। संन्यासपूर्वक गृहत्याग करना एक स्थिति है और संन्यास के बिना गृहत्याग करना दूसरी स्थिति है। आप ठीक-ठीक ध्यान से समझें कि वह स्थिति ऐसी है जिसे श्रीमहाप्रभुजी ने स्वयं लगभग तीस वर्ष तक निभाया था। स्वयं सतत पृथ्वी-प्रदक्षिणा करते रहे। श्रीमहाप्रभुजी के साथ अनन्तशयनम् शालिग्रामजी बिराजते थे, भागवत की पुस्तक बिराजती थी तथा सदैव नहीं परन्तु कभी-कभी छोटे ठाकुरजी श्रीमुकुन्दरायजी भी बिराजते थे परन्तु यह सम्पूर्ण प्रकार आपश्री के साथ यात्रा के दौरान प्रायः सेवा का प्रकार नहीं था, पूजा का प्रकार था। यह नित्यनियम से

प्रत्येक वैष्णव को करना चाहिए। आपश्री ने उस सेवा के प्रकार से अथवा पूजा के प्रकार से तीर्थभ्रमण किया।

जब श्रीमहाप्रभुजी को ब्रह्मसंबंध की आज्ञा हुई और उसके बाद आपश्री को गृहस्थ की आज्ञा हुई तब आपने अड़ैल में जा कर सेवा का क्रम शुरू किया तथा आप स्वयं भी सेवा परायण हो कर वहाँ बिराजे। सबको अपनी ही भाँति सेवा करने का उपदेश देना शुरू किया। इस अवधि के दौरान श्रीमहाप्रभुजी ने संन्यास नहीं लिया था बल्कि तीर्थाटन का क्रम रखा था और तीर्थाटन में - ''अत: स्थेयं हरिस्थाने तदीयै: सह तत्परै:, अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति'' की नीति श्रीमहाप्रभुजी के चरित्र में स्पष्टतया झलकती है। प्राय: तीर्थाटन की अवधि में श्रीमहाप्रभुजी गाँव के बाहर बिराजते थे।

श्रीमहाप्रभुजी की कई बैठकें गाँव के बाहर ही हैं परन्तु पाँच सौ वर्षों में उनके आसपास गाँव बस गए जो आज की स्थिति है। प्राचीन स्थिति ऐसी नहीं थी। प्राचीन स्थिति यह थी कि आपश्री गाँव के बाहर बिराजते थे - ''अदूरे विप्रकर्षे वा'' - गाँव से बहुत दूर नहीं और गाँव के बहुत अन्दर भी नहीं। कभी किसी भक्त के घर बिराजते तब गाँव के अन्दर बिराजते। जैसे काशी है, खेरालु है, इस प्रकार कहीं-कहीं बिराजे हैं लेकिन यह अपवादस्वरूप है। आज भी आप देखें तो सामान्यरूप से बहुत सी बैठकें गाँव के बाहर हैं। कल को गाँव वहाँतक पहुँच जाए और उनको घेर ले तो बात अलग है अन्यथा उस समय गाँव के बाहर थीं। आज भी कई बैठकें गाँव के बाहर हैं और प्राय: बैठक के स्वरूप को देखेंगे तो आपको समझ में आएगा कि किसी न किसी तीर्थक्षेत्र के आस-पास हैं। कई बार तीर्थ के अदृश्य हो जाने से हम समझ नहीं पाते। श्रीमहाप्रभुजी की बैठकें लगभग किसी न किसी तीर्थक्षेत्र के आस-पास हैं।

''अत: स्थेयम् हरिस्थाने.... यथा चित्तम् न दुष्यति'' - इस प्रकार का व्यावहारिक गृहत्याग था। जिन्होंने श्रीमहाप्रभुजी के चरित्र का अध्ययन किया

है उनको ख्याल होगा कि श्रीमहाप्रभुजी ने यद्यपि व्यक्तिगत घर नहीं बसाया था परन्तु तब तक कांकरवाड़ में पारिवारिक घर में रहते थे। श्रीमहाप्रभुजी के परिवार के अधिकांश सदस्य भी तब कांकरवाड़ में ही रहते थे। हमारी पुष्टिमार्ग की ऐतिहासिक उपेक्षा की यह पराकाष्ठा है कि आज हमें पता ही नहीं है कि कांकरवाड़ कहाँ है, और बातों को जाने दें।

मैं एक बार हैदराबाद गया तब मैंने नक्शा देखा कि आस-पास में क्या कांकरवाड़ है तो कांकरवाड़ गांव भी तीन निकले। मेरा सिर चकरा गया कि इन तीन में से कौनसा कांकरवाड़ होगा। फिर वापस स्वस्थ हो गया कि फिर कभी जब दक्षिण की यात्रा करूँगा तब खोजूँगा कि कांकरवाड़ कहाँ है और श्रीमहाप्रभुजी के परिवार के सदस्य आज भी वहाँ रहते हैं या नहीं। संभवत: उनको यह पता ही न हो कि वे श्रीमहाप्रभुजी के निकट संबंधी थे, हमें भी ज्ञात नहीं है कि श्रीमहाप्रभुजी के कोई निकटस्थ रिश्तेदार आज भी वहाँ हैं। प्राथमिक छानबीन तो इस बात की करनी है कि जहाँ के श्रीमहाप्रभुजी थे वह कांकरवाड़ कहाँ था?

श्रीमहाप्रभुजी के हम जैसे अनुयायी मिलना कठिन है। आप सब लोग जानते हैं कि दो-दो, चार-चार, पाँच-पाँच, छ:-छ:, दस-दस पीढ़ी के स्थलान्तर किए हुए लोगों को भी अपने मूल गांव का पता है कि वे लोग मूलत: कहाँ के होंगे परन्तु हमें आज तक ज्ञात नहीं है कि कांकरवाड़ रहा है या नहीं। कीर्तन में, पद में होने से थोड़ा-बहुत सबको ज्ञात है लेकिन कांकरवाड़ कहाँ है यह कहना बहुत कठिन है। चरित्रग्रन्थों में इस बात का पर्याप्त स्पष्टीकरण हमें मिलता है कि जब आपश्री अड़ैल में बिराजे उस समय आपने अपनी मातुश्री को अड़ैल पधराया था। आपश्री के परिवार के भी कई लोगों ने, लगभग पन्द्रह परिवारों ने उस समय स्थलान्तर किया और वह भी अड़ैल की तरफ आए थे।

वहाँ आसपास में जो परिवार स्थायी हुए उनमें से एक लालाजी अभी

भी हमारे सम्बन्धी हैं। वे सब लगभग उसी प्रकार के हैं जो गोकुलस्थ, मथुरास्थ और सागरस्थ हुए। बाद में कोई लालाजी पुष्टिमार्ग में हुए जो गोकुलस्थ हो गए। कोई चैतन्यसम्प्रदाय में गया तो वह मथुरास्थ हो गया, कोई रामानुजसम्प्रदाय में और दैवीसम्प्रदाय में गया तो वह सागरस्थ हो गया। ये सभी लालाजी प्रायः उसी परिवार के हैं जिन दस-पन्द्रह परिवारों ने श्रीमहाप्रभुजी के साथ स्थलान्तर किया था। अतः यह बात हम भलीभाँति समझ सकते हैं कि श्रीमहाप्रभुजी उस समय चाहते तो घर में भी बिराज सकते थे परन्तु ब्रह्मसंबंध की आज्ञा नहीं हुई थी।

यह इतिहास मैं इसलिए समझा रहा हूँ कि हमें यह समझ में आ सके कि भक्तिवर्धिनी का उपदेश किस प्रकार का है और उस उपदेश को स्वयं महाप्रभुजी ने किस प्रकार जिया है। चूँकि आपश्री को तब तक ब्रह्मसंबंध की आज्ञा नहीं हुई थी और स्वयं स्थाई नहीं हुए थे, प्रदक्षिणा करते रहते थे इसलिए वह थोड़े समय के लिए एक प्रकार का गृहत्याग ही था, संन्यास का प्रकार नहीं था। इसे कुछ स्वैच्छिक गृहत्याग कहा जाएगा, जैसे कई लोग गृहत्याग करके घूमते रहते हैं। आज भी यह आवश्यक नहीं कि संन्यास लेकर गृहत्याग किया जाए। सच बात तो यह है कि आपश्री के बड़े भाई रामचन्द्रजी कई बार यात्रा में साथ में रहते थे, कई बार नहीं भी रहते थे। जब साथ नहीं रहते थे तो मातुश्री को और उन सबको संभालने का उत्तरदायित्व निभाया करते थे। इसलिए आचार्यचरण परिभ्रमण कर रहे थे।

जब स्थाई हुए और ब्रह्मसंबंध की आज्ञानुसार गृहसेवापरायण हुए तब भी आपश्री ने विवाह नहीं किया था। अतः यह बात ध्यान से समझें कि - ''तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम्'' का जो श्रीमहाप्रभुजी का उपदेश है वह श्रीमहाप्रभुजी ने स्वयं भी बहुत समय तक जिया है कि कहीं स्थाई हो कर नहीं रहना, परिभ्रमण करते रहना। दामोदरदास इस बात में सहयोगी थे।

आपश्री के यहाँ कोई सेवा नहीं बिराजती थी। वार्ता पढ़ेंगे तो आपको ध्यान आएगा कि जब आपने तय किया कि स्वयं अड़ैल में बिराजेंगे तब उनके मातुश्री श्रीमदनमोहनजी को पधरा लाए। महालक्ष्मीजी अपने पीहर से श्रीगोकुलनाथजी को पधरा लाए और गज्जन धावन के यहाँ से श्रीनवनीतप्रियाजी पधारे तथा बाद में दामोदरदास के श्रीद्वारकाधीश पधारे और फिर श्रीगोकुलचन्द्रमाजी पधारे।

अड़ैल में श्रीमहाप्रभुजी ने घर में बिराज कर इन सब स्वरूपों के साथ गृहसेवा का सम्पूर्ण प्रकार प्रवृत्त किया। इसी क्रम को इसी प्रकार से श्रीगुसांईजी ने भी अड़ैल में जारी रखा। अड़ैल से आप वापस मथुरा पधारे, जब अड़ैल पर अकबर का आक्रमण होनेवाला था तब इलाहाबाद और प्रयाग में स्थिर हो कर बाद में श्रीगुसांईजी गढ़ा-जबलपुर पधारे थे। जब अकबर ने गढ़ा पर आक्रमण करने का विचार किया तब वहाँ की महारानी दुर्गावती ने श्रीगुसांईजी को प्रार्थना की कि यहाँ से आप मथुरा पधारें। दुर्गावती महारानी ने मथुरा में घर बनवा कर दिया था इसलिए पुनः मथुरा विराजे।

मथुरा में भी यवनों का बहुत आतंक था इसलिए गोकुल की अधिकतर जमीन श्रीमहाप्रभुजी ने ही खरीद रखी थी। किसी कारण से उस जमीन पर पुनः श्रीगुसांईजी ने गाँव बसाया तथा जो थोड़े बहुत जबलपुर और अड़ैल की तरफ बिखर गए थे उन सभी परिवारों को वापस गोकुल बुला कर स्थायी हो कर सेवा का सम्पूर्ण प्रकार गोकुल में शुरू किया। यह औरंगजेब के समय तक चला।

औरंगजेब के समय में वापस तकलीफ हुई इसलिए सभी पुनः स्थलान्तर करके इधर-उधर बिखर गए। तबतक इन बालकों ने गोकुल में गृहसेवा का समस्त प्रकार तीन या चार पीढ़ी तक सभी ने निभाया। इसके पश्चात् जो जहाँ जा सके वहाँ गए। अतः यह बात ध्यान से समझें। ''अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः'' - अपने घर में रह कर सेवा करने का यह

प्रकार इसी रूप में हमारे परिवारों में निभाया गया है और इसी रूप में वैष्णवों को भी समझाया गया था। वैष्णव भी अपने-अपने घर में इसी रूप में सेवा निभाते थे। तब यह मंदिरों का प्रकार नहीं था। हवेलियों का प्रकार तो बहुत बाद में शुरू हुआ।

जब व्रज छोड़ कर सब अलग-अलग स्थानों पर स्थलान्तरित हो गए तब तक कोई बालक रहे कोई न रहे, श्रीठाकुरजी बिराजते ही रह गए, बहूजी रह गए, किसी के बेटीजी रह गए। उस समय उनमें से किसी ने कोई लालजी अपने साथ लिए, किसी ने नहीं लिए। बेटीजी-बहूजी भी लीला में पधार गए। तब वहाँ के वैष्णवों ने व्यवस्था संभाल ली। न उनको सिद्धान्त की खबर थी और न इनको सिद्धान्त की खबर थी। अंततः ऐतिहासिकरूप से हवेली विकसित होना शुरू हुई। सारा चक्कर यह है। तब से वैष्णव भी इधर-उधर भटकनेवाले हो गए परन्तु उन्होंने काफी समय तक सिद्धान्तों को जिया था।

जिस समय सिद्धान्त जिए नहीं जा सकते हों तो उसके लिए श्रीमहाप्रभुजी ने भक्तिवर्धिनी के अनुसार दो विकल्प हमें बताए हैं कि यदि आप इस प्रकार से अपने घर में सेवा नहीं निभा सकते तो आप व्यावृत्त हैं। व्यावृत्त होने की स्थिति में आपके समक्ष दो विकल्प हैं - एक विकल्प यह है कि कथा-परायण हो कर अपनी भक्ति के बीजभाव को दृढ करें और दूसरा विकल्प यह है कि यदि कोई अनुमति दे तो, क्योंकि हम किसी पर दावा नहीं कर सकते, सेवा में उसके सहायक बन कर परिचर्या करें। आजकल वैष्णव बालकों के मन्दिर पर दावा कर देते हैं कि हमारे खर्च से मंदिर चलता है इसलिए यह मन्दिर सार्वजनिक है। ऐसे दाव-पेंच की बातें उस समय नहीं थी क्योंकि मार्ग अपने शुद्धरूप में था। अभी तो कई गाँवों में मैंने यह चक्कर भी देखा कि जो वैष्णव घर में सेवा करते थे उनके साथ दूसरे वैष्णवों ने झगड़ा कर लिया कि आप सेवा कर रहे हैं तो दर्शन क्यों नहीं कराते!!

मैं उस गाँव में कम से कम दस दिन तक रहा। सबको खूब समझाया तब यह बात लोगों के गले उतरी। अब कुत्ते की पूँछ टेढ़ी की टेढ़ी - कुछ समय बाद मैं वापस आया। उस वैष्णव ने बताया कि वापस झगड़ा शुरू हो गया। उस बेचारे के पीछे ही पड़ गए कि आप सेवा कर रहे हैं तो दर्शन क्यों नहीं खोलते? अपने आपको क्या समझते हैं? अन्ततः चंदा करके उस घर में बिराजते श्रीठाकुरजी को जबरदस्ती मन्दिर में पधराया। जबरदस्ती ऐसा मन्दिर खोला जहाँ आज पुष्टिमार्ग नहीं है। आज वहाँ ऐसी दुर्गति है। गाँव के सभी लोग उसमें लग गए।

यह इतिहास तो मेरी जानकारी का है। सभी मन्दिरों की बारीक छानबीन करें तो पता चलेगा कि यह कोई दुर्लभ कथा नहीं है, रास्ते पर बिखरी हुई कथा है। पुष्टिमार्ग में कई स्थानों पर इस प्रकार की कथाएँ चल रही हैं। किसी प्रकार दाब-धौंस से छीन कर वैष्णवों ने वैष्णवों के श्रीठाकुरजी हथिया लिए। कहीं वैष्णवों ने श्रीगुसांईजी के बालकों के श्रीठाकुरजी छीन-झपट लिए तो कहीं गोस्वामी बालकों ने वैष्णवों के श्रीठाकुरजी छीन-झपट लिए।

यहाँ तक हो चुका है कि वैष्णव बेचारा घर में सेवा करे तो कोड़े मारें। जाकर कहते हैं कि नालायक, तू घर में सेवा करेगा तो हम घर में क्या करेंगे? श्रीठाकुरजी को इधर लाओ। ऐसे-ऐसे चमत्कारी बालक भी अपनी धरती को अलंकृत कर चुके हैं। अतः यह तो कई प्रकार का महाभारत है जो चल पड़ा है और आज भी पुष्टिमार्ग में चल रहा है। कब अंत आएगा, कब उसके अठारह दिन पूरे होंगे, कौन मरेगा, कौन जिएगा, यह सब प्रभु की इच्छा पर निर्भर है।

ये सब विकृति के हेतु हैं परन्तु श्रीमहाप्रभुजी को पुष्टिमार्ग का यह स्वरूप अपेक्षित नहीं था। श्रीमहाप्रभुजी को पुष्टिमार्ग के अनुयायियों से जो आशा थी वह इस स्वरूप में नहीं थी। वह कोई दूसरा स्वरूप था कि आप अव्यावृत्त हो कर गृहसेवा करें और यदि गृहसेवा नहीं कर सकते, घर में

भगवत्सेवा नहीं कर सकते तो श्रवण, कीर्तन, स्मरण करें अथवा आपके निजी संबंधों के कारण कोई पड़ोस में सेवाकथापरायण भगवदीय का सत्संग मिलता हो तो, वह जितनी छूट दे उतनी, सेवा की परिचर्या उसके घर में कर आएँ। अर्थात् प्रभु की सेवा नहीं बल्कि प्रभु की सेवा करनेवाले की सेवा कर आएँ।

परिचर्या का अर्थ ध्यान से समझें। ''तदीये स: तत्परै: अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति'' का अर्थ यह था कि प्रभु की सेवा तो आपके घर में ही हो सकती है। यदि आप नहीं कर सकते, आपसे नहीं निभती तो भी चिन्ता की कोई बात नहीं है। जो प्रभुसेवापरायण है, भगवत्कथापरायण है ऐसे किसी भगवदीय का ''अदूरे विप्रकर्षे'' से सत्संग करते हुए उसकी जितनी सेवा कर सकते हों, अधिकार के रूप में नहीं अपितु जैसे प्रत्येक मनुष्य एक-दूसरे का सहयोग करता है उस प्रकार से, करें।

आज भी जैसे किसी परिवार में विवाहप्रसंग होता है तो उस परिवार के सगे-संबंधी जा कर अपने-अपने तरीके से थोड़ा बहुत सहयोग कर देते हैं। इसमें उनसे टैक्स के रूप में सहयोग मांग नहीं सकते और अधिकार के रूप में सहयोग करने का दावा भी नहीं कर सकते कि आपके यहाँ विवाहप्रसंग है तो हम अमुक काम करेंगे। यह परस्पर मधुर सम्बन्धों की कथा है।

जिन परिवारों में, अधिकतर गोस्वामी बालकों के यहाँ, वैष्णव आते थे तो वे ऐसे मधुर सम्बन्धों के साथ आते थे कि जिनसे घर में भगवत्सेवा नहीं निभती थी उन्होंने थोड़ा बहुत गोस्वामी बालकों की सेवा करनी शुरू कर दी। इस न्याय से अब उस एक के चार बेटे हो गए, चार के सोलह हो गए, सोलह के चौंसठ हो गए और इस प्रकार प्रजा उत्पन्न हो गई।

वास्तव में वह कोई एक बेचारा व्यावृत्तजीव था जो घर में भगवत्सेवा नहीं कर सकता था। इसलिए गोस्वामी बालक के साथ उसके घनिष्ठ सम्बन्ध

होना स्वाभाविक बात है, गाँव में बेचारा वैष्णव किसके साथ घनिष्ठ संबंध रखे? इस घनिष्ठता के कारण उसने बालक के यहाँ आ कर कुछ सेवा करना शुरू की। अब गोस्वामी बालक को भी गलत याद रह गया कि हाँ, उसके पिता हमारे यहाँ सेवा करते थे और इसे भी याद रह गया कि हमारे पिता इनके यहाँ सेवा करते थे। इस प्रकार चार के सोलह हुए और सोलह के चौंसठ हो गए। चौंसठ से न जाने कितने हो गए। गोस्वामी बालक भी सार्वजनिक हो गए और श्रीठाकुरजी भी सार्वजनिक हो गए। वैष्णव भी स्वयं को व्यावृत्त न मान कर प.भ. मानने लगे कि सेवा करना तो हमारा परम अधिकार है। यह पुष्टिमार्ग का कैसा सम्पूर्ण अध:पतन हुआ है मैं उसका भीतर का इतिहास समझा रहा हूँ। उसका मूल कारण वृद्धि करने का सिद्धान्त था। एक के चार हो जाएँ, चार के सोलह हो जाएँ, सोलह के चौंसठ हो जाएँ और यह मालूम ही न चले कि संबंध सार्वजनिक था या व्यक्तिगत था।

कारण यह है कि चौंसठ जब आ गए तो यह मालूम करना मुश्किल है कि सम्बन्ध व्यक्तिगत था अथवा सार्वजनिक था। तीसरी, चौथी पीढ़ी में जो सम्बन्ध व्यक्तिगत थे वे सार्वजनिक हो गए और पुष्टिमार्ग का अध:पतन हो गया। ऐसी विचित्रता हुई है। यदि उस समय सावधानी रखी जाती तो आज पुष्टिमार्ग की ऐसी दुर्गति न हुई होती। हमें उस समय एक समानान्तर रचनात्मक संस्था खड़ी करनी चाहिए थी जिससे व्यावृत्त जीवों को कथा के श्रवण, कीर्तन, स्मरण की प्रक्रिया समझाई जा सकती थी। जैसे सिन्ध में, किसी पुराने सिंधी को पूछ कर देखें, एक सुखधाम नामक संस्था चलती थी। वहाँ श्रीठाकुरजी की कोई सेवा नहीं होती थी। एक श्रीजी का चित्र रखते और उनको माला धरा कर सभी लोग सत्संग-कीर्तन करते और अपने-अपने घर चले जाते।

जिनके घर में सेवा की अनुकूलता नहीं थी उनके लिए सिंध में यह बहुत सुंदर और समझदारी भरी सुखधाम की पद्धति चलती थी। किसी भी वृद्ध

सिंधी को पूछेंगे तो बता देगा। आज भी अपवादस्वरूप जहाँ कोई सिंधी कॉलोनी है वहाँ आज से पाँच-दस वर्ष पूर्व सुखधाम चलता था परन्तु अब वहाँ मन्दिर या हवेली जैसी संस्था कर दी गई है। सुखधाम किसलिए चलाना? दु:खधाम क्यों नहीं चलाना? जब सारे गाँव में चल रहा है तो हमारे यहाँ दु:खधाम क्यों नहीं चलाना? इस प्रकार सुखधाम की भी अधोगति हो गई।

'दु:खधाम' अर्थात् प्रभु को दु:ख देने का धाम, पुष्टिमार्ग को दु:ख देने का धाम और श्रीमहाप्रभुजी को तो दु:ख की पराकाष्ठा तक लाने का धाम। ऐसे दु:खधाम सब स्थानों पर शुरू हो गए। आज अधिकांश सिंधी पुष्टिमार्ग को छोड कर भाग गए हैं। अब बहुत कम सिंधी बचे हैं जो पुष्टिमार्ग के साथ जुड़े हुए हैं। जितने बचे और जो बेचारे मार्ग चला रहे थे उनको भी भ्रमित कर दिया कि यहाँ दु:खधाम शुरू करें इसलिए वह दु:खधाम बन गया।

परन्तु ऐसी कोई समानान्तर रचनात्मक संस्था उस समय गठित की गई होती और मार्गीयपद्धति के अनुसार संचालित की गई होती तो सम्प्रदाय का इतिहास कुछ अलग ही होता। आज जो हमारी दुर्गति हुई है वह नहीं होती। प्रत्येक वैष्णव जिसके घर में सेवा नहीं निभती इस बात को समझ पाता कि कोई बात नहीं, चलो, हम सुखधाम में बैठ कर कीर्तन करते हैं, वार्ता पढ़ते हैं, पाठ करके वापस अपने-अपने घर जाते हैं।

कोई ऐसा समानान्तर दूसरा विचार भी कर सकते थे। वैसा कुछ नहीं किया और घोड़े की लगाम छोड़ दी। अब वह कहाँ जा रहा है - गड्ढे में जा रहा है या पहाड़ पर जा रहा है। सवार को ही होश नहीं कि उसे कहाँ गिराया है, बाकी तो हम सब जानते ही हैं। ग्रन्थों का अध्ययन करनेवाले वैष्णव आज सवाल खड़ा करते हैं कि यह तो परम्परा चल रही है। परम्परा बहुत प्राचीन नहीं है परन्तु सिद्धान्तविरोधी परम्परा है। हमारी लाचारी, अज्ञान, अर्थलोलुपता और धर्मलोलुपता के कारण उस परम्परा का अनुपालन हो रहा है। सच्चे सिद्धान्त,

सच्चे आदर्श पर आधारित यह परम्परा नहीं।

अत: एक यह प्रकार था कि उपर्युक्तानुसार हम कुछ करें और दूसरा प्रकार यह था कि यदि किसी का बीजभाव दृढ हो गया है अर्थात् सच्चे अर्थों में परम भगवदीय हो गया है तो फिर घर में किसलिए रह रहे हैं, तीर्थाटन करें, जैसे श्रीमहाप्रभुजी ने तीस वर्ष तक किया था। तीस वर्ष नहीं तो दस वर्ष तो करें। हवेली में चक्कर मारने के बजाए तीर्थाटन करते रहें। पर आजकल तीर्थाटन किसी को पसन्द नहीं आता। व्रज में तीर्थाटन करना पसन्द आता है। नाश्ते में ढोकला, फाफड़ा, सवेरे चाय, शाम को चाय और गिलास में कोकाकोला, ब्रेड ये सब मिलेगा। इसलिए व्रज का तीर्थाटन पसन्द आता है।

श्रीमहाप्रभुजी ने तीर्थाटन में अनुशासनप्रियता की बात समझाई थी कि एकाकी, नि:स्पृह, शान्त हो कर किसी प्रकार का संग्रह किए बिना तीर्थाटन करना चाहिए। आज आप व्रजयात्रा को देखें, उसका विवरण पढ़ें - साथ में एक बैंक चलता है, एक पोस्ट ऑफिस चलता है, रसद चलता है, एक ठिकाने से दूसरे ठिकाने तक रसद चलता है और थोड़ी भी व्यवस्था में गड़बड़ हो जाए तो सारे यात्री उद्विग्न हो जाते हैं। यह श्रीमहाप्रभुजी वाला तीर्थाटन नहीं है। बेचारे नि:स्पृह हो कर किसी वृक्ष के नीचे, किसी पहाड़ के ऊपर, किसी नदी के किनारे, कभी वर्षा में भीगते हुए, कभी धूप की गर्मी से झुलसते हुए तीर्थाटन करते थे। ऐसा तीर्थाटन जैन साधु आज भी करते हैं।

पुष्टिमार्ग में ऐसे तीर्थाटन से नाममात्र का भी संबंध नहीं है। किसी को कहें कि चलो, एकाध दिन तीर्थाटन करते हैं तो सब भाग जाएँ। एक भी दुष्ट नहीं आए। जो व्रजयात्रा में ढोकला, फापड़ा आदि खाने आ जाते हैं उनमें से एक भी नहीं आए। हमारी ऐसी भोगवादी मनोवृत्ति हो गई है। जो श्रीमहाप्रभुजी ने उपदेश किया उससे हम चूक गए हैं। लक्ष्य हमारी दृष्टि से हट गया है कि किस ध्येय के अनुरूप हमें अनुगमन करना था। स्वेच्छया कुछ असंगत ही कर

रहे हैं। अवांछित स्थानों पर धूमधाम कर रहे हैं।

ये ध्यान से समझें कि कथाप्रणाली एक विकल्प था कि कथाश्रवण करें। दूसरा विकल्प था कि कोई भगवदीय सेवा-कथापरायण है तो उसके साथ परिचर्या करें। उसकी कथा में श्रवणार्थी बन कर बैठें। तीसरा विकल्प यह है कि यदि आपको लगता हो कि आप परम भगवदीय हैं तो आनन्द से तीर्थाटन करें। कभी वापस घर आ जाएँ, यह कोई खराब बात नहीं है, वापस भी आ सकते हैं। आपने कल पूछा था उसका यह तात्पर्य है। ''तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम्'' - सतत घर में रहने से विनाश हो जाएगा। तीर्थाटन करते रहें तो आपका भाव खंडित नहीं होता। कभी-कभी आप घर में भी आ गए तो कोई नुकसान नहीं होता। आपको भी थोड़ा आराम मिल जाएगा और परिवार को भी आपका थोड़ा सत्संग मिल जाएगा। इस प्रकार सबकुछ ठीक चलता रहेगा।

वर्तमान की बात अलग है, आज उक्त परिदृश्य पुष्टिमार्ग के संग्रहालय में भी देखने को नहीं मिलता। केवल श्रीमहाप्रभुजी के शब्दों में दिखाई दे रहा है। हमारे पुष्टिमार्ग की साधनाप्रणाली में ऐसी जीवनशैली का आज कोई चित्र भी प्राप्त नहीं होता, यह साधनाप्रणाली चित्र में भी प्राप्त नहीं होती।

यह बात समझें कि इसके अन्तर्गत जो भगवल्लीला का श्रवण-कीर्तन और स्मरण करने की प्रणाली थी वह श्रवणकीर्तन किसके साथ करें? अर्थात् किससे भगवल्लीला का श्रवण करें और किसे भगवल्लीला का श्रवण कराएँ। इन दोनों बातों का निरूपण जलभेद और पंचपद्यानि में श्रीमहाप्रभुजी कर रहे हैं। इनमें श्रीमहाप्रभुजी की एक बहुत सुन्दर मस्ती है। दूसरा तो कोई कारण समझ में नहीं आता कि ऐसा किसलिए कहा परन्तु एक मस्ती है कि श्रीमहाप्रभुजी प्रत्येक भगवत्कथा के प्रवक्ता का भाव जल के उदाहरण से समझा रहे हैं। उस जल के उदाहरण और गूढार्थ को ध्यान से समझें।

जल अपने आप में तो शुद्ध ही होता है पर जहाँ गया, जहाँ प्रकट हुआ, जहाँ बहा, अथवा जहाँ भर गया अथवा जहाँ बरसा अथवा जिस प्रकार से जल का संग्रह हुआ है उस आधार के अनुसार जल के गुणधर्म बदलते रहते हैं। इस प्रकार भगवत्कथा करनेवाले के भाव की श्रीमहाप्रभुजी जल से तुलना कर रहे हैं तथा कथा कहनेवाला व्यक्तित्व जल का ही आधार है। जैसे जल कुएँ में होता है, जल तालाब में होता है, जल नदी में भी होता है, जल बड़े सरोवर में भी होता है, जल समुद्र में होता है, जल पर्वत पर से बहते झरने के रूप में होता है, जल जमीन से फूट कर भी निकलता है, बरसात का जल भी होता है, ओस का जल भी होता है, इस प्रकार अनेक स्थानों पर अनेक प्रकार से जल जीवन में प्रकट होता है।

प्रकट होनेवाले सभी विविध रूप जल के ही ग्राह्य-अग्राह्य होने का विवेक है, ये जल के अपने गुण-दोष नहीं हैं। जल जिस आधार में प्रकट हुआ उस आधार के हिसाब से जल के गुण-दोष बनते हैं। उन गुण-दोषों का विचार जल के आधार के आधार पर किया जाता है, जल के आधार पर नहीं किया जाता। यदि जल को हमने शुद्धरूप में लिया है तो वह जल, जल ही है। उसमें न तो कोई गुण है और न कोई दोष।

जैसे मेरे एक पड़ोसी मानसरोवर गए और मानसरोवर का जल एक बोतल में भर लाए। ध्यान देनेवाली बात यह है कि - मुझे लगता है कि आज उस बात को लगभग चार-पाँच वर्ष अथवा सात-आठ वर्ष हो गए होंगे - आज तक मेरे पास वह जल है और खराब भी नहीं हुआ है। खराब क्यों नहीं हुआ? क्योंकि उस समय मानसरोवर प्रदूषित नहीं था। अब तो वहाँ यात्रीगण इतने अधिक जाने लगे हैं कि आज की तारीख में मानसरोवर में से यदि लोटी भर कर लाएँ और वह एक महीने चल जाए तो महादेव की कृपा मानना चाहिए। एक महीने भी नहीं चलता, वह जल इतना प्रदूषित हो गया है।

कारण यह है कि मानसरोवर बेचारा यात्रियों का जितना वजन झेल सकता था, उससे अधिक वजन वहाँ यात्रा-सामग्री का हो गया है। यात्रियों को जो आधुनिक व्यवस्था उपलब्ध है उसके कारण यात्रा-सामग्री का वजन वहाँ अधिक पहुँचने लगा है। हम समझते हैं कि इस व्यवस्था के कारण तीर्थयात्रा अधिक होने लग गई है परन्तु एक बात ध्यान से समझें की तीर्थयात्रा लोगों को आसानी से उपलब्ध होने के कारण वे लोग पिकनिक के रूप में तीर्थयात्रा करते हैं और तीर्थ बेचारा हमेशा के लिए गंदा हो जाता है। उस समय चीन ने मानसरोवर का रास्ता खोला ही था और पहली ही टुकड़ी गई थी। वे लोग जल लाए थे और वह मेरे पास अब भी बोतल में है। अभी तक वह जल गंदा नहीं हुआ। आज लाएंगे तो गंदा जल मिलेगा। यह स्थिति मानसरोवर की हो रही है। यही स्थिति हमारी गंगाजी की भी हो गई है और यही स्थिति श्रीयमुनाजी की भी हो गई है।

जिसका हमें अभिमान था कि गंगाजी का जल कभी भी खराब नहीं होता, आज गंगाजी से अधिक प्रदूषित जल दूसरा कोई नहीं है। भारत में लोग ऐसा कहते हैं कि श्रीयमुनाजी से अधिक प्रदूषित जल कोई नहीं है। यह हमारी दुर्गति है। कारण यह है कि बहता हुआ जल जितना प्रदूषण सहन कर सकता है उससे दस गुना अधिक प्रदूषण हम नदियों में कर रहे हैं।

यह स्थिति सभी तीर्थस्थानों की हो गई है। बेचारी व्रजभूमि जितने यात्रियों का मल खपा सकती है उससे दस गुना अधिक मल यात्रा के समय वहाँ हो जाता है, खूब गंदगी फैलाई जाती है। यात्रा के ठेकेदारों को प्रति व्यक्ति, प्रति यात्रीदल कुछ आवक होती है। हमारे किशनगढ़ के ऐसे ही एक सरकारी अधिकारी हैं। उन्होंने मुझसे ब्रह्मसंबंध लेने के लिए कहा। मैंने कहा कि सेवा करते हों तो अवश्य ब्रह्मसंबंध दूँगा। उनसे सेवा तो हुई नहीं इसलिए उन्होंने आसपास के किसी गाँव में जा कर ब्रह्मसंबंध ले लिया। जब उन महाराज ने

यात्रा उठाई तो उनसे कहा कि आप भी यात्रा में आएँ। प्रति यात्रीदल आठ हजार रुपये होंगे।

उन्होंने बहुत ही समझदारी की बात कही। बोले देखो महाराज, बात ऐसी है कि आप जो प्रतियात्रीदल आठ हजार मांग रहे हैं तो हम तो चार-छः- आठ कुटुम्ब के सदस्य हैं। इसलिए प्रति व्यक्ति दो-दो हजार या एक-एक हजार लेते हों तो आठ सदस्यों के आठ हजार देने के लिए हम तैयार हैं। यदि एक दल में आप दो सदस्यों से अधिक स्वीकार न करें तो मैंने तो श्याम-मनोहरजी से कंठी ली है। आपसे तो केवल ब्रह्मसंबंध लिया है। इसलिए मेरे गुरु तो श्याम मनोहरजी ही हैं। मुझे उसने सीधे पूछ लिया कि क्या आपसे कंठी नहीं ली? मैंने कहा कि हाँ, ली है। ब्रह्मसंबंध उनसे लिया है। यदि एक-एक हजार प्रति व्यक्ति लें तो ब्रह्मसंबंध लेने के कारण आपकी यात्रा में आ जाते हैं अन्यथा श्याम मनोहरजी तो हमारे गुरु हैं ही। मैंने तो श्याम मनोहरजी से कंठी ली है।

हमारी यात्रा के ऐसे-ऐसे भाव हैं - यात्रा करने का भाव, करवानेवाले का भाव! बेचारे श्रीमहाप्रभुजी को पता ही नहीं था कि ऐसे सभी झंझट पुष्टिमार्ग में सेवा के अनुकल्पतया होंगे। हम घड़ी के लोलक की भाँति गुरुत्व को भी परिवर्तनशील रखेंगे कि एक बार श्याम मनोहरजी गुरु और एक बार दूसरे गुरु। जो आठ हजार प्रति व्यक्ति लें तो श्याम मनोहरजी गुरु और आठ व्यक्तियों के लिए आठ हजार में तैयार हैं तो आप मेरे गुरु। क्या परेशानी है भाई, बहुत ही हास्यास्पद स्थिति है। यह पुष्टिमार्ग नहीं है, पुष्टिभक्ति को प्रवृद्ध करने का कोई सुदृढ़ उपाय नहीं है। स्पष्ट शब्दों में ठगविद्या है। गोस्वामी वैष्णवों को ठग रहे हैं, वैष्णव गोस्वामियों को ठग रहे हैं। यह स्थिति है।

हम कथा की भाव-यात्रा की तुलना करके देखें तो हमें समझ में आएगा कि कथा का भाव श्रीमहाप्रभुजी ने कितना गौरवमय बताया है और उस कथा

का भाव पूर्वोक्त आधार में जा कर कितना गंदा हो जाता है, यह भी हमें समझ में आ जाएगा।

श्रीमहाप्रभुजी ने वेद की तैत्तिरीय-संहिता में एक ही जल के बीस भेद बताए हैं, वहाँ से ये मंत्र लिए हैं। ''कुल्याभ्यः स्वाहा'', ''विकर्याभ्यः स्वाहा'', ''अवट्याभ्यः स्वाहा'', ''खन्याभ्यः स्वाहा।'' ये वेद के मंत्र तैत्तिरीय-संहिता में आते हैं। वहाँ से मंत्र ले कर इस जल अर्थात् भगवत्कथा की पवित्रता प्रतिपादित की है। हर बार जिस व्यक्ति से हम कथा सुन रहे हैं तो वह आधार की भाँति अपने गुण-दोष भी प्रकट कर रहा है। जैसे जल पवित्र होने पर भी जिस आधार (पात्र) में गया उस आधार के गुण-दोषों को ग्रहण कर लेता है।

जैसे एक बात समझें कि आप महाबलेश्वर, माथेरान जैसे स्थानों पर जाते हैं तो वहाँ पर्वत का जल है। पर्वत में से - पत्थर में से धीरे-धीरे बहते हुए जल में लोह तत्त्व अधिक मात्रा में होता है। यहाँ मैदान के जल में इतना लोह-तत्त्व नहीं होता। उस जल में लोहतत्त्व कहाँ से आया? जल में लोहतत्त्व की कोई गुणवत्ता नहीं है परन्तु जिन पत्थरों से वह जल रिसता है, वहाँ लोहतत्त्व है। इसलिए वह जल भी लोहतत्त्व को ग्रहण कर लेता है। इसके अतिरिक्त जिन पत्थरों या जमीन में से जल निकलता है वहाँ क्षार है इसलिए जल खारा भी हो जाता है।

जिस जमीन में से जल आ रहा है वहाँ यदि कुछ रासायनिक तत्त्व हैं तो रासायनिक तत्त्व भी जल में आ जाते हैं। इस प्रकार जल के कई गुण हैं। ये मूल में जल के गुण न हो कर जहाँ जल प्रकट हुआ है, उस आधार के कारण प्रकट होनेवाले गुण हैं। इसी प्रकार दो बातें ध्यान से समझें कि भगवत्कथा स्वयं में अत्यन्त पावन, पवित्र और दुःखनाशिनी है - ''**तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्**'' - सब दोषों को धोनेवाली है। यही भगवत्कथा यदि किसी गलत आधार में अर्थात् किसी पाखण्डी व्यक्ति द्वारा की

जा रही है और भगवत्कथा ही समझ कर हम उसे पवित्र मानें तो जल समझ कर पवित्र मानना चाहिए। यह कहना बहुत आसान है परन्तु इस पर आचरण करना बहुत कठिन है।

जिस घर में श्रीठाकुरजी की सेवा कुएँ के जल के बिना नहीं होती वहाँ यही दुर्गति हो रही है कि श्रीठाकुरजी को झारीजी कुएँ में फूटते गटर के जल से धरायी जाती है। घर के सभी सदस्य नल का जल पीते हैं। जो देवाधिदेव हैं जिनको हमें उत्तमोत्तम वस्तु का भोग धराना चाहिए उनको हम खराब से खराब वस्तु धरा रहे हैं और हम उत्तमोत्तम वस्तु का भोग करते हैं।

इस प्रकार श्रीठाकुरजी के साथ ठगी, हमारे साथ धोखा, गाँव के साथ ठगाई शुरू हो गई और हम यह स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं कि भाई, नल का जल भी चल सकता है। पर क्यों? नल का जल कैसे श्रीठाकुरजी को चल सकता है? यह कह कर एक प्रकार का गहरा षड़यन्त्र पुष्टिमार्ग में चल रहा है। एक-दूसरे को ठगने का षड़यन्त्र है जिसके अन्तर्गत श्रीठाकुरजी भी हैं। यह बात भलीभाँति समझ लें।

संक्षेप में, पुनः सारांश देखें तो जलभेदग्रंथ वक्ता के विवेचन के लिए कहा गया है। अप्रकीर्ण अर्थात् वर्गीकृत और विप्रकीर्ण अर्थात् अवर्गीकृत। वर्गीकृत वक्ता तीन प्रकार के हैं - विषयासक्त, मुमुक्षु और विमुक्त। पहले वक्ता से पाँचवें वक्ता तक विषयासक्त वक्ता के प्रकार हैं। छः से अठारह तक मुमुक्षु वक्ता के प्रकार हैं। विषयासक्त अर्थात् जो विषय में आसक्त है और मुमुक्षु अर्थात् जो विषय के साथ रह रहा है परन्तु विषयासक्ति से मुक्ति चाहता है। विषयासक्ति में घिरा हुआ है परन्तु विषयासक्ति से मुक्ति चाहता है तो उसे 'मुमुक्षु वक्ता' कहा जाता है। 'विमुक्त वक्ता' अर्थात् जिसने विषयासक्ति से मुक्ति प्राप्त कर ली है। यह उन्नीसवाँ प्रकार है जिसके छः अवान्तर भेद विशेषरूप से बताए हैं। 'विप्रकीर्ण' अर्थात् अवर्गीकृत वक्ता का बीसवाँ प्रकार है।

॥ जलभेदः ॥

(''कूप्याभ्यः स्वाहा.... सर्वाभ्यः स्वाहा'' इति श्रुति (तैत्तिरीय संहिता, 7/4/12) वचने निरूपिताः भगवत्कथाप्रवक्तृणां अप्रकीर्णभावाः[1-19] विप्रकीर्णभावाः[20] चेति भेदाभ्यां विंशतिविधजल-भेदसदृशाः तत्र अप्रकीर्णभावाः - विषयासक्तप्रवक्तृणां भावाः[क/1-5] मुमुक्षुप्रवक्तृणां भावाः[ख/6-18] विमुक्तप्रवक्तृणां भावाः[ग/19] इति उपभेदैः त्रिविधाः तत्र विप्रकीर्णभावानाम्[20] उपभेदाः अपरिगणिताः)

ये ''कूप्याभ्यः स्वाहाः'' से ले कर ''सर्वाभ्यः स्वाहा'' तक बीस वचन हैं। उनमें भगवत्कथा के वचनों में निरूपित भगवत्कथा का प्रवचन करने वाले के भाव हैं। उन भावों का मूल वर्गीकरण दो प्रकार का है। कई भाव अप्रकीर्ण हैं अर्थात् उनका वर्गीकरण सम्भव है और कई भाव विप्रकीर्ण हैं जिनका कोई वर्गीकरण नहीं है, वे विशेष भाव हैं जिन्हें हम किसी वर्ग के अन्तर्गत नहीं कह सकते। अतः अप्रकीर्ण भाव एक से उन्नीस तक के भाव हैं। बीसवाँ भाव विप्रकीर्ण भाव है। इन अप्रकीर्ण भावों के पुनः तीन भेद हैं - (1) विषयासक्त वक्ता के भाव (2) मुमुक्षु वक्ता के भाव (3) विमुक्त वक्ता के भाव। यहाँ जलभेद में विषयासक्त वक्ता के भाव 'क' पर 1-5 तक हैं। मुमुक्षु वक्ता के भाव 'ख' के अन्तर्गत 6-18 तक हैं और मुक्त वक्ता के भाव 'ग' (19) के अन्तर्गत हैं। यह आधारभूत वर्गीकरण है। विप्रकीर्ण भाव स्वाभाविक रूप से 'घ' है जिसमें दूसरा कोई अवान्तर भेद नहीं है। इसलिए उसे समझने के लिए (20) कह दिया है। विप्रकीर्ण भाव के जो उपभेद हैं अर्थात् जो उपविभाग हैं उनकी गणना नहीं की है। फिर विशेष में क्या है? जो शीर्षक है उसके उपरान्त जो अतिरिक्त भाव हैं वे विशेष के अन्तर्गत आ रहे हैं। जितने भी भाव शेष रहे हैं वे सब विशेष में आ जाते हैं।

'मुमुक्षु' अर्थात् जो मोक्ष की कामना रखता है। विषय में फंसा हुआ है लेकिन विषय से, विषयासक्ति से छूटना चाहता है। 'विषयासक्त' अर्थात् जो विषय में आसक्त है और विषय में ही आसक्त रहना चाहता है – ऐसा जघन्य। मुमुक्षु क्या है? थोड़ा सुधरना चाहता है और वह यह बात स्वीकार करता है कि मैं विषय में आसक्त हूँ परन्तु विषयासक्ति से छूटना चाहता हूँ। उसकी स्थिति खराब है लेकिन जिज्ञासा खराब नहीं है। विषयासक्त की स्थिति भी खराब है और जिज्ञासा भी खराब है। भ्रष्ट महत्त्वाकांक्षा है। उसकी महत्त्वाकांक्षा निष्काम नहीं है। विमुक्त का तात्पर्य है कि जो विषयासक्त नहीं है और उसे उसमें से छूटने की कोई आवश्यकता भी नहीं क्योंकि वह तो पहले से छूटा हुआ है। इस प्रकार वक्ता के तीन भेद हैं।

नमस्कृत्य हरिं वक्ष्ये तद्गुणानां विभेदकान्।
भावान् विंशतिधा भिन्नान् सर्व-सन्देह-वारकान्।।1।।
गुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जले मताः।

अन्वयार्थ :

हरिं = श्रीहरि को
नमस्कृत्य = नमन करके
तद्गुणानां = उनके गुणों के
विभेदकान् = विभेद करनेवाले
विंशतिधा = बीस प्रकार के
भिन्नान् = भिन्न-भिन्न
सर्वसन्देहवारकान् = सब सन्देह दूर करनेवाले
भावान् = भावों को
वक्ष्ये = कहूंगा
यावन्तः = जितने, (**भेदाः** = भेद)

जले = जल के विषय में
मताः = माने गए हैं
तावन्तः = उतने
तु = ही
गुणभेदाः = गुणों के भेद
(**सन्ति** = हैं)
हि = ही

भावार्थ : प्रभु को नमन करके भक्ति के साधन में जो-जो सन्देह हैं उनको मिटानेवाले और रजोगुण, तमोगुण तथा सत्त्वगुण को निवृत्त करनेवाले अलग-अलग बीस प्रकार के भावों का मैं आगे निरूपण करता हूँ।

''कूप्याभ्यः स्वाहा, कुल्याभ्यः स्वाहा '' (कृष्णयजुर्वेद तै, सं.7/4/12) इत्यादि तैत्तिरीय-संहिता में जल के जितने भेद कहे गए हैं उतने ही श्रीहरि के गुणों के भेद हैं, यह निश्चय है।

व्याख्या :

एक बात ध्यान से समझें कि श्रीमहाप्रभुजी को कितना विशेष आत्म विश्वास है। वे कह रहे हैं कि एक बार जलभेद का अध्ययन कर लेंगे तो आपके सन्देह निवृत्त हो जाएंगे परन्तु हम निवृत्त करना ही नहीं चाहते।

मैंने तब आपको पढ़ कर सुनाया था कि वह किसलिए ? तो कहते हैं कि अब छूटना ही नहीं चाहते। किसलिए ? कहते हैं कि ''**सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि, पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्णएव आजीविका मम:**'' – जब कृष्ण ही मेरी आजीविका है तो किसलिए छूटूं ? इस आजीविका को किसलिए छोडूं? पहले जितना कमाना है उतना कमा तो लूं फिर कभी अवकाश में विचार करूंगा कि श्रीमहाप्रभुजी ने क्या कहा है। श्रीमहाप्रभुजी का नाम जबतक चल रहा है तबतक कमा लेते हैं। कहीं नाम चलना बंद हो गया तो भूखे

मर जाएंगे।''आजनो ल्हावो लीजिए रे काल कोणे दीठी छे (आज का लाभ ले लें, कल किसने देखा है)''- इस सिद्धांत पर हम काम कर रहे हैं। बेचारे श्रीमहाप्रभुजी पर सच ही दया आती है। यों तो हमारे पिताश्री हैं। पिताश्री पर दया करनेवाले हम कौन! फिर भी कभी दया आती है कि उनका विश्वास हम पर कितना अधिक होगा कि मैं जलभेद लिख दूं तो मेरे पुत्रों के सभी सन्देह दूर हो जाएंगे।

हम सब ऐसे ही सन्देह पाल रहे हैं कि हट, किसलिए सन्देह दूर करना? जब कृष्ण ही हमारी आजीविका है तो कृष्ण से ही सारे मौज-मजा, राग-रंग चल रहे हैं। अभी किसलिए छोड़ना? हमें क्यों सन्देह दूर करने चाहिए? सन्देह में जिएंगे तो हमारे मजे हैं। उसी से सारी शान-शौकत है और सभी ऐश-आराम हैं। -**''रंगो फितरत से मिलो..... सबसे मिल आओ तो एक बार मेरे दिल से मिलो''** - हम इस प्रकार जी रहे ही हैं। किसलिए सन्देह दूर करें, जब सन्देह से ही हमारा जीवन चल रहा है। बेचारे श्रीमहाप्रभुजी को इस रहस्य का पता नहीं था कि क्या चक्कर हो गया?

''गुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जले मता:'' - श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि इस कथा के गुणभेद ठीक-ठीक इतने ही हैं, जितने जल के आधार से जल के गुणभेद प्रकट होते हैं। 'जलभेद' लिखते समय श्रीमहाप्रभुजी कुछ अतिरिक्त चतुराई के मूड में हैं। ऐसी गजब की सूझ यहाँ श्रीमहाप्रभुजी ने प्रयुक्त की है कि भगवत्कथा के सभी प्रवचनकर्ताओं के भाव को जल के साथ अत्यन्त नियमबद्धरूप से व्यवस्थित किया है। समीकरण की भाँति देखेंगे तो मजा आएगा।

(''कूप्याभ्य: स्वाहा'' वचनोक्तजलसदृश: प्रथमो विषयासक्त प्रवक्तु: अनिन्द्यो भाव:)

वेद का सबसे पहला मंत्र है - ''कूप्याभ्य: स्वाहा।'' इसमें जल के जो गुणधर्म बताए गए हैं उन गुणधर्मों के जैसा विषयासक्त प्रवक्ता का एक अनिन्द्य भाव है। अर्थात् कुएं कितने अच्छे हैं, यह उनकी हिफाजत पर आधारित है क्योंकि कई कुएं गंदे भी होते हैं। जिस कुएं की हिफाजत ठीक प्रकार से नहीं होती वह गंदा भी हो सकता है। कारण यह है कि कुएं में अप्रवाहित जल है। उसकी हिफाजत करेंगे तो उसमें जल अच्छा रहेगा और हिफाजत नहीं की तो बिगड़ जाएगा। अत: यह कुएं का निन्द्य भाव नहीं बल्कि अनिन्द्य भाव है।

इसी प्रकार विषयासक्ति कुछ अच्छी भी हो सकती है और कुछ निन्द्य भी हो सकती है। शास्त्र में जिस विषयासक्ति का निषेध नहीं किया गया है तो वह अनिन्द्य है, प्रशंसनीय भले ही न हो परन्तु निन्द्य नहीं है, निन्दनीय नहीं है। अत: विषयासक्त का एक अनिन्द्य भाव भी हो सकता है।

विषयासक्ति का कोई निन्दनीय प्रकार भी हो सकता है। विषयों में आसक्त होने को शास्त्र ने बहुत निन्दाजनक समझा है। जो कोई भी इस प्रकार से विषय में आसक्त नहीं होना चाहता। जिस प्रकार भगवान ने गीता में आज्ञा की है, वह अनिंद्य है - **''बलं बलवतां.... धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ!''(भग.गी.7/11)** । मैंने तब ठठाई में आपको समझाया था कि भगवान गीता में आज्ञा कर रहे हैं कि धर्म से अविरुद्ध काम मेरा स्वरूप है, वह प्रशंसा के अर्थ में नहीं बल्कि अनिन्दा के अर्थ में है।

इस बात को भलीभाँति समझ लें कि धर्म से अविरुद्ध काम, अनिन्द्य काम है, निन्द्य काम नहीं है। **''काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भव:, महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनम् इह वैरिणम्'' (गीता 3/37)** - यह भगवान ने कहा है। सबसे बड़ा पाप काम और क्रोध है। यदि कोई काम, कोई क्रोध ऐसा है जो धर्म से अविरुद्ध है तो वह निन्द्य नहीं है, अनिन्द्य है। उस स्थिति में उसकी निन्दा की आवश्यकता नहीं है। इस नीति को ग्रहण करके

चलेंगे तो सारी बात समझ में आ जाएगी कि अनिन्द्य भाव ऐसा है।

गायकाः कूपसंकाशा 'गन्धर्वा' इति विश्रुताः।।2।।
कूपभेदास्तु यावन्तस् तावन्तस् तेऽपि सम्मताः।।

अन्वयार्थ :

गन्धर्वा = गन्धर्व
इति = इस प्रकार
विश्रुताः = प्रसिद्ध
गायकाः = गायन करनेवाले
कूपसंकाशाः = कुएं के जल के जैसे हैं
यावन्तः = जितने
कूपभेदाः = कुएं के भेद
तावन्तः = उतने
ते = वे
अपि = भी
सम्मताः = माने गए हैं

भावार्थ – गान करनेवाले 'गन्धर्व' के नाम से प्रसिद्ध हैं। वे गायक कुएं के जैसे हैं। वे सब गायक तुल्य नहीं हैं किन्तु जितने कुएं के भेद हैं उतने ही गायकों के भेद हैं।

व्याख्या : अब एक बात ध्यान से समझें कि पुस्तक के हिसाब से जहाँ भी अवतरण चिह्न (इन्वर्टेड कोमा) मैंने दिए हैं वहाँ उसे किस अर्थ में कहा गया है, यह बात कही है। सामान्यतः श्रुति में जो वचन दिए गए हैं उन वचनों को श्रीमहाप्रभुजी यहाँ उद्धृत कर रहे हैं परन्तु इस श्लोक में श्रीमहाप्रभुजी ने श्रुति के वचनरूप जो वचन दिया है उसको नाम के सन्दर्भ से उद्धृत न करके, तुलना के अर्थ में उद्धृत किया है। इसलिए यहाँ कूप शब्द पर मैंने इन्वर्टेड कोमा न

करके 'गन्धर्वा' शब्द पर इन्वर्टेड कोमा दिया है। इसे ठीक से समझ लें।

एक सामान्य उदाहरण के रूप में आपको समझाऊंगा तो बात समझ में आएगी। जैसे दशरथ के बड़े पुत्र को 'राम' कहते हैं। यहाँ 'राम' व्यक्ति के अर्थ में नहीं बल्कि नाम के अर्थ में है। 'दशरथ का बड़ा पुत्र' वाक्य व्यक्ति को बता रहा है कि कौन व्यक्ति और राम शब्द व्यक्ति के अर्थ में न आ कर शब्द के अर्थ में आया है कि दशरथ के बड़े पुत्र को 'राम' कहते हैं। इसलिए वही शब्द कभी शब्द के अर्थ में आता है तो हम इन्वर्टेड कोमा लगाते हैं और वही बात व्यक्ति अथवा वस्तु के अर्थ में आती है तो उसके इन्वर्टेड कोमा हम हटा देते हैं। अतः यहाँ एक बात ध्यान से समझें।

'कूप' शब्द इन्वर्टेड कोमा में आना चाहिए था क्योंकि कूपसंकाशा कहा है परन्तु श्रीमहाप्रभुजी ने 'कूपसंकाशा' अर्थात् 'कुएं जैसा' कह कर उसे नामवाचक के बदले वस्तुवाचक बना दिया है और एक नाम अलग से भी दे दिया है।

''गन्धर्वा इति'' अर्थात् भगवान की कथा को गा-गा कर कहनेवाले गन्धर्व कुएं जैसे होते हैं। कुएं जैसों को गन्धर्व कहा है, गन्धर्व का रूप प्रसिद्ध है। अतः यहाँ गन्धर्व वस्तुवाचक नहीं बल्कि नामवाचक है इसलिए इन्वर्टेड कोमा 'गन्धर्व' शब्द पर लगाया है। इसके बाद जहाँ भी आएगा, वहाँ वह श्रुतिवचन है, वही अधिकतर मिलेगा, इसमें कोई गड़बड़ नहीं है। परन्तु जहाँ श्रुतिवचन है और उसमें जो नाम है वही नाम इन्वर्टेड कोमा में नाम के अर्थ में आता है।

कूपभेदास्तु यावन्तस् तावन्तस् तेऽपि सम्मताः – अर्थात् जितने भेद कुएं के हो सकते हैं उतने ही भेद इन गायन करनेवालों के भी हो सकते हैं। यहाँ श्रीमहाप्रभुजी उनको गहराई से नहीं बताना चाहते, यद्यपि टीकाकार गहराई में गए हैं। वह अभी यहाँ अपना विषय नहीं है।

कुएं के पश्चात् दूसरी वस्तु आ रही है – 'कुल्याः।' बात को ध्यान से समझें। खेत में जो कुआं होता है उसमें से जल कुल्या में डाला जाता है और कुल्या से फिर खेत में जाता है। कुल्या, कुएं से खेत तक पहुंचनेवाली नाली होती है। नहर एक अलग वस्तु होती है। क्यारी कह सकते हैं परन्तु सम्भवतः क्यारी चौकोर होती है। उसमें से वापस एक नाली जाती है और वह नाली अर्थात् धोरा, 'कुल्या' कहलाता है। यहाँ क्यारी से तात्पर्य नहीं है क्योंकि उसमें तो पानी उण्डेलना पड़ता है और तब उसमें से नाली में हो कर खेत में पानी जाता है। इस नाली को कुल्या कहते हैं।

(''कुल्याभ्यः स्वाहा'' वचनोक्त जल सदृशः द्वितीयो विषयासक्त – प्रवक्तुः अनिन्द्यो भावः) – 'कुल्याभ्यः स्वाहा' वचन में कहे गए जल जैसे विषयासक्त प्रवक्ता का अनिन्द्य भाव।

कुल्याः पौराणिकाः प्रोक्ताः पारम्पर्ययुता भुवि।।3।।

अन्वयार्थ :

भुवि = भूतल पर
पारम्पर्ययुताः = परम्परा से युक्त
पौराणिकाः = पुराण कथा करनेवाले
कुल्याः = नहर
प्रोक्ताः = कहे गए हैं

भावार्थ : कृत्रिम नदी 'कुल्या' नाम से प्रसिद्ध है। उसकी भाँति पौराणिक हैं जो पारम्पर्ययुक्त हैं।

व्याख्या :

जैसे गन्धर्व का गा–गा कर भगवत्कथा कहने का एक भाव है वैसे ही पौराणिकों का भी एक कुल्या जैसा भाव है, नाली जैसा है जो खेत में पानी

पहुंचाती है। 'पारम्पर्ययुता भुवि' की बात ध्यान से समझें कि उस नाली में पानी तब बहता है जब कुएं में से पानी गिराया जाता है। यदि कुएं में से पानी नहीं उण्डेला जाए तो नाली एकदम सूखी रहती है। इसी प्रकार जो परम्परा से पौराणिक हैं वे किसी कुएं से जुड़े हुए हैं जिसमें से पानी उण्डेला जाता है। अब अपनी आजीविका चलाने के लिए कोई जानबूझ कर पौराणिक बन रहा है तो वह परम्परा से पौराणिक नहीं है। यह बात समझने के लिए हमें थोड़ा बुद्धि से काम लेना पड़ेगा।

''सहजं कर्म कौन्तेय! सदोषमपि न त्यजेत्, सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः''(गीता – 18/48) – यह जो हमारा भारतीय संस्कृति का एक भाव था कि परम्परा से आप जो काम नहीं कर रहे हैं, वह सामान्यरूप से लोक में आदरणीय नहीं होता। आप यदि पीढ़ी दर पीढ़ी कोई काम कर रहे हैं –जैसे मोची है, तो मोची होना निन्दनीय बात नहीं है क्योंकि वह पीढ़ी दर पीढ़ी खाल उतार कर बेच रहा है, मरे हुए जानवरों की खाल उतारना यद्यपि खराब बात है परन्तु कोई परम्परा से ऐसा कर रहा है तो वह उचित है, न्यायिक है।

कारण यह है कि यह काम उस व्यक्ति की व्यक्तिगत पसन्द नहीं था बल्कि उसका जन्म उसी प्रकार हुआ है। उसने स्वयं वह काम पसन्द नहीं किया, उसी काम के बीच वह उत्पन्न हुआ है। इसी प्रकार जो परम्परा से पौराणिक है, यदि पौराणिक हो कर पुराण कथा करता है और भगवान की कथा कर रहा है तो उसे अनिन्द्य भाव कहा गया है। क्योंकि उसने अपनी स्वेच्छा से धन्धा पसन्द नहीं किया है, उसकी कुलपरम्परा से चली आती रीत है।

एक बार को पौराणिक की कथा जाने दें। जानवर की खाल खींचने के बारे में पुराणों में कथा आती है कि बहुत बड़े तपस्वी ब्राह्मण से अधिक तो वह कसाई है जो माँस काट–काट कर बेचते हुए स्वकर्मपरायण है। वह स्वकर्म–परायण है इसलिए अधिक सम्मान्य है। ब्राह्मण स्वकर्मपरायण नहीं तो वह

नालायक है। अत: अपने कर्म में परायण रहना उचित है, फिर चाहे वह कर्म ऊँचा हो या नीचा हो।

कितने ही गोस्वामी बालक दलील करते हैं कि हमारे पिता – पितामह व्यावसायिक ढाँचे में सेवा करते आए हैं इसलिए यह हमारा पैतृक धन्धा है, यह हमारे पिता–दादाओं के समय से चला आता धन्धा है इसलिए 'सदोषमपि न त्यजेत्।' परन्तु ध्यान से समझें कि जहाँतक सेवा का प्रश्न है, जहाँतक भागवत्कथा का प्रश्न है, श्रीमहाप्रभुजी ने दृढ़तापूर्वक स्पष्ट किया है कि परम्परा से भी यह धन्धा चला आ रहा है तो भी पुष्टिमार्गीय होने के नाते आपको छोड़ देना चाहिए।

इस नियम की, परम्परा को अनिन्द्य मानने की श्रीमहाप्रभुजी ने विशेष सजगता के साथ निन्दा भी की है। अत: यह अपने यहाँ सम्भव नहीं है। अन्य मार्गों में सम्भव हो सकती है। इसका श्रीमहाप्रभुजी ने आगे सुन्दर विवेचन किया है। 'पारम्पर्ययुता भुवि' में श्रीमहाप्रभुजी उसे किसी प्रकार से अनिन्द्य भाव मान रहे हैं। इसके बाद –

('विकर्याभ्य: स्वाहा' वचनोक्तजलसदृश: तृतीयो विषयासक्त प्रवक्तु: निन्द्यो भाव:)

'विकर्याभ्य: स्वाहा' – इस वचन में कहे गए जल जैसे विषयासक्त प्रवक्ता का निन्द्य भाव।

जिस समय जल धोरे में से क्यारी में चला जाता है तब वह 'विकर्या' का जल हो जाता है। एक बात ध्यान से समझें कि मैं जल के संदर्भ में बोल रहा हूँ, भगवद्गुणगान के संदर्भ में नहीं। जल के संदर्भ में यह बात समझ जाएंगे तो भगवद्गुण के संदर्भ में भी समझ में आ जाएगी।

धोरे में बहते जल को यदि अंजलि से पीना हो तो पी सकते हैं। क्यारी में भरे हुए जल को गधा, भैंस, गाय आदि सब पी सकते हैं परन्तु मनुष्य नहीं पी सकता। क्यारी में भरे हुए जल को कभी गाँव में जा कर देखेंगे तो इस बात का पता चल जाएगा कि धोरे में बहते हुए जल को अंजलि में भर कर पीना हो तो आनन्द से पी सकते हैं क्योंकि सतत बहते रहने के कारण वह जल धोरे में भी स्वच्छ रहता है लेकिन क्यारी में खाद मिलाया हुआ हो, मिट्टी खोदी हुई हो तो जैसे ही जल क्यारी में जाता है, तुरन्त इतना गंदा हो जाता है कि खाद और खोदी हुई मिट्टी के गुणों के कारण जल गंदा हो कर मिट्टीयुक्त हो जाता है। धोरे में वह जल अनिन्द्य था परन्तु क्यारी में जाते ही निन्द्य हो जाता है। इस प्रकार कितने सूक्ष्म विवरण पर श्रीमहाप्रभुजी की दृष्टि है और यह वस्तुत: देखने लायक बात है।

क्षेत्र–प्रविष्टास् ते चाऽपि संसारोत्पत्ति–हेतव: ।।

अन्वयार्थ :

ते च = और वे
अपि = भी **(यदि** = जो **)**
क्षेत्रप्रविष्टा: = खेत में प्रविष्ट (**तर्हि** = तो)
संसारोत्पत्तिहेतव: = अहन्ता–ममता का कारण बनते हैं

भावार्थ : शरीर और स्त्री का वाचक 'क्षेत्र' शब्द है। इसलिए वे पौराणिक जो देहनिर्वाह अथवा स्त्री–कुटुम्बादिक के लिए पुराण पढ़ने का कार्य करते हैं तो वे भी संसारोत्पत्ति के कारणरूप होते हैं।

व्याख्या :

बहुत ही नाजुक बात है कि आप परम्परा से यदि पुराणकथा कर रहे हैं तो आपका भाव निन्द्य नहीं है लेकिन यदि आप घर के निर्वाह के लिए

पौराणिक कथा कर रहे हैं तो इसका तात्पर्य है कि आप क्षेत्रप्रविष्ट हो गए अर्थात् क्यारी में प्रवेश कर गए। इससे आपकी कथा को जो सुनेगा, चूँकि आपकी कथा आप में ही संसार उत्पन्न कर रही है, तो सुननेवाले में भक्ति का भाव किस प्रकार उत्पन्न होगा? कथा करनेवाले में इस कथा से क्या उत्पन्न हो रहा है? भक्ति या संसार? ऐसी व्यावसायिक कथा से तो निश्चितरूप से संसार ही उत्पन्न होता है।

अभी पन्द्रह-बीस दिन पहले ही मुझे एक व्यक्ति ने बहुत सुन्दर बात बताई। वह पौरोहित्य करता था। उसका पुत्र आधुनिक शिक्षा प्राप्त है। वह शिक्षण पूर्ण करके अपने पिता की सहायता करता है। मैं जब भी पिता-पुत्र की जोड़ी को देखता तो मुझे बहुत अच्छा लगता कि इतनी आधुनिक शिक्षा ले कर भी अपने पिता के साथ पौरोहित्यकर्म में सहायता करता है। एक नया पढ़ा-लिखा लड़का इस काम में रुचि लेता है, बहुत अच्छी बात है।

हाल ही उसने मुझे बहुत मजेदार बात बताई कि अब तो मेरा बेटा पूर्णत: इस धन्धे में व्यवस्थित हो गया है। मुझे बहुत दु:ख हुआ। मुझे लगा कि क्यों मैंने उसकी इतनी प्रशंसा की। भाई, इसे धंधा क्यों कहते हो या विचारते हो। विचार करना हो तो इस पर कर्तव्य के रूप में क्यों नहीं विचार करते! दो बातें ध्यान से समझें, मेरे मन में उसके प्रति अभीतक बहुत आदर का भाव था कि इतने आधुनिक शिक्षण के बाद भी एक ब्राह्मण का बेटा अपने पिता के साथ अपने कर्तव्य के लिए तैयार है। वह कोई नौकरी करने नहीं जाता, कोई दूसरा काम नहीं करता, अपने कर्तव्य में, ब्राह्मणोचित कर्तव्य में तत्पर है परन्तु पिता की अपनी वृत्ति क्षेत्रप्रविष्ट है। ऐसी अनुचित बात उसने मुझे कही कि अब मेरे बेटे को धंधा भलीभाँति रास आ गया। मैंने कहा कि यह तो आपके साथ काम करता था न, उसने कहा कि अपना तो यही धंधा है न! मैंने कहा - हाँ... हाँ... अब समझ गया।

अभिप्राय यह है कि पिता स्वयं उसको कर्तव्य के रूप में नही ले रहा, धंधे के रूप में ले रहा है, यद्यपि वास्तव में इसे कर्तव्य के रूप में लिया जाना चाहिए था क्योंकि ब्राह्मण का यह कर्तव्य है। इस प्रकार देखें कि बात तो एक ही है। जब कर्तव्य निभा रहे हैं तो ऐसा कौनसा यजमान होगा जो अपने पुरोहित को भूखा रखे? अब उस यजमान का भाव तो अपने पुरोहित को भूखा नहीं मरने देने का है और पुरोहित का व्यवसायिक भाव ऐसा कि आ गया बकरा तो काट दो। धंधे के भाव और इस भाव में बहुत अन्तर है। इन दो बातों का भेद समझें।

ऐसा ही भाव पौराणिकों का पुराणकथा कहने में है कि मेरे पिता-पितामह पुराणकथा कहते थे इसलिए मैं भी पुराणकथा करूँगा - यह भाव 'क्षेत्रप्रविष्ट' नहीं है। यह उसका पारम्पर्ययुक्त भाव है अर्थात् वह धोरे का जल है, यद्यपि क्षुद्र है परन्तु पीने योग्य है, पी सकते हैं।

यदि स्वयं का ही भाव ऐसा है कि अब तो व्यापार अच्छा चलता है, सभी बड़े-बड़े शहरों में हमारी कथा होने लगी है और अब तो यजमान भी हवाईयात्रा की टिकिट भेजने लगे हैं तो अभिप्राय है कि - ''क्षेत्रप्रविष्टास् ते चापि संसारोत्पत्तिहेतव:'' जब आप स्वयं ही इस कथा से संसार उत्पन्न कर रहे हैं तो श्रोता में भक्ति कहाँ से उत्पन्न होगी। श्रीमहाप्रभुजी यही बात कह रहे हैं।

प्रश्न : नाम या शब्द बदलने से क्या क्रिया भी बदल जाती है?

उत्तर : कभी भाभीजी को चीना दादा की पत्नी कह कर तो देखो। नाम बदलने से कितना बदल जाता है, पता चलेगा। माँ कहोगे या नृत्यगोपालजी की पत्नी कहोगे, बताओ क्या कहोगे? कभी भाभीजी तुम्हें कह दे कि नृत्यगोपालजी का लड़का और बेटा न कहे तो! मैं ठीक इसी संदर्भ को ग्रहण करके कह रहा हूँ कि माँ को पिता की स्त्री या पिता की पत्नी कहना और पिता की पत्नी को माँ कहना - नाम बदलने से सब कुछ बदल रहा है या नहीं? सारा सम्बन्ध बदल जाता है, हमारा समग्र भाव बदल जाता है, पूरा व्यवहार बदल जाता है।

अरे, पत्नी को कभी ऐ लड़की ! कह कर बुलाओगे तो तुम पर नाराज हो जाएगी। वह कभी तुम्हें ऐ लड़के ! कह कर बुलाएगी तो क्या तुम नाराज नहीं होगे? नाम बदलने से पूरी दुनिया बदल जाती है। नाम को इतने तुच्छरूप में ग्रहण नहीं करना चाहिए, बहुत गम्भीरता से ग्रहण करने की बात है क्योंकि अन्ततः नाम ही हम सबके भावों को व्यक्त करता है। एक बात समझें, अपने गोस्वामी बालकों में श्रीठाकुरजी के नाम पर अपने बेटों को नाम देने के पीछे क्या भाव था? जब हम मृतावस्था में हैं और अपने बेटे को भी बुला रहे हैं तो कहीं हमारी आवाज श्रीठाकुरजी तक पहुँच जाए - यह भाव था। यह भी समझें- हमारा नाम पुरुषोत्तम के नाम पर इसलिए नहीं रखा कि हम पुरुषोत्तम हैं बल्कि प्रत्येक गुसांई ऐसा सोचते हैं कि हमारे बेटे का नाम भगवान के नाम पर रखेंगे तो मरते समय बेटे को भी बुलाएंगे तो भगवान का नाम तो मुँह से निकलेगा !

आजकल हमें आधुनिक फैशन के कारण भगवान के नाम पर नाम रखना अच्छा नहीं लगता इसलिए वैसे नाम केवल टिप्पणी में रह गए हैं। उस नाम से हमें कोई बुलाए तो हमें अच्छा नहीं लगता। यह एक दूसरी ही कथा है। बाकी सही ढंग से यह बात समझें कि भगवान का नाम रखने के पीछे हमारा भाव कितना उदात्त था कि किसी कारणवश बेटे को बुलाने से भी भगवान का नाम तो मुँह से निकलता ही रहता है। अब इस बात से कोई यह समझ ले कि इस कारण से भाव बदल गया और हम स्वयं को पुरुषोत्तम मानने लग गए तो सारा मामला ही बदल गया।

एक व्यक्ति जो ऐसा विचार करता है कि मरते समय अथवा जीते जी, हर समय, किसी भी हेतु से भगवान का नाम मुझसे जितना लिया जा सके उतना अच्छा है इसलिए हमें भगवान के नाम पर नाम रखना चाहिए और एक व्यक्ति इसलिए अपना नाम भगवान के नाम पर रखता है कि मैं कौन - श्याम मनोहर -

आ जाओ रास रचने - भाव बदल गया या नहीं? पूरी बात ही बदल गई। यह एक अलग कथा है। ऐसा नही है कि नाम बदलने से कुछ नहीं बदलता, बहुत कुछ बदल जाता है क्योंकि भाव बदल जाता है और भाव बदल जाने से उसे देखने की समग्र दृष्टि बदल जाती है।

ऐसे नहीं तो, एक सीधी बात समझें, क्या हमारे यहाँ श्रीठाकुरजी की मूर्ति नहीं है? है तो क्या हम उसे मूर्ति कहते हैं, पुतला कहते हैं, क्या कहते हैं? हम उनको ठाकुर कहते हैं, स्वरूप कहते हैं तो क्या बदल रहा है? सबसे पहले नाम बदल रहा है जैसे पिता की स्त्री को पिता की स्त्री नहीं कह कर माँ कह रहे हैं। नाम बदलने से उसके साथ भाव भी बदल गया, अनादर का भाव नहीं आया, आदर का भाव आया है, आदर के भाव के साथ उसके अनुमान में हमारा पूरा व्यवहार बदल रहा है। जब माँ कह रहे हैं तो माँ के पुत्रकी भाँति हम उसके साथ व्यवहार करेंगे।

इसी प्रकार हम जब ठाकुर कह रहे हैं, जब प्रभु कह रहे हैं, स्वरूप कह रहे हैं कि भगवान का स्वरूप है तो उस नाम के बदलने के साथ ही सारा भाव बदल रहा है और भाव बदलने से व्यवहार भी बदल रहा है। अब यदि इसमें पाखण्ड करना हो तो हो सकता है। तुम्हारी शंका इस अर्थ में बिलकुल उचित है कि किसी भी वस्तु का नाम बदलने से उसकी क्रिया नहीं बदलती। तुम्हारी बात एकदम सच है, परन्तु उसमें भी एक तथ्य है। यदि पाखण्डपूर्वक किया जा रहा है कि हम हृदय में वही भाव रख रहे हैं और हृदय में वही भाव रख कर बड़े-बड़े नामों का प्रयोग कर रहे हैं तो नाम बदलने से काम नहीं बदलता। अन्यथा नाम से काम भी बदलता है। यह तो हकीकत है या नहीं !

हम यह बात एक व्यवहार में नहीं अपितु बहुत से व्यवहारों में देख सकते हैं। जैसे विद्या प्राप्त करने के लिए विद्या के स्थल को 'विद्यालय' कहते हैं और हम यह कहें कि लड़कियों के साथ मजाक-मस्ती का स्थल है तो काम

बदल गया। इसी प्रकार बहुत कुछ बदल जाएगा। जब आप कॉलेज को इस नाम से बुलाना शुरू करेंगे तो धीरे-धीरे कॉलेज उन गुण-धर्मों को ग्रहण करना शुरू कर देगा। ख्याल में आया!

इसी प्रकार नाम भी कई प्रेरक तो होते ही हैं। ऐसा नहीं है कि बालकों का नाम प्रेरक नहीं होता। इसके लिए अच्छे नाम रख कर, अच्छे नाम से बुला कर बालकों में अच्छे व्यक्तित्व का विकास किया जा सकता है। उनकी एक अच्छी पहचान विकसित होती है। यह बालमनोविज्ञान की दृष्टि से बात कही जा रही है। आजकल कई माता-पिता आदर्श व्यक्ति के नाम पर अपने बालक का नाम रखते हैं। इसलिए बालक में नाम से ही इस प्रकार का भाव उत्पन्न होता है। अब यदि किसी का नाम हम टिंडसी रख दें, किसी का नाम बैंगन रख दें, किसी का नाम आलू रख दें तो सोचें कि ऐसे नामधारक लड़के से हम क्या अपेक्षा करेंगे। ऐसे बच्चे बड़े हो कर क्या बनेंगे? कोई टिंडसी है, कोई आलू है, कोई बैंगन है तो बालक फिर कोई विशेष प्रेरणा नहीं ले सकता।

किसी का नाम प्रताप रखा, किसी का नाम शिवाजी रखा, किसी का नाम वल्लभ रखा तो उसका प्रभाव तो होगा ही क्योंकि हम उसे जितनी बार उस नाम से बुलाएंगे उतनी बार उसके दिमाग को हम कुछ सचेत कर रहे हैं कि भाई, तुम यह हो। फर्क पड़ेगा या नहीं? ऐसी बात नहीं है कि केवल नाम से ही फर्क पड़ता है पर नाम से भी फर्क पड़ता है। हमें यह बात समझनी चाहिए।

प्रसन्नता हुई कि सुन्दर प्रश्न किया। इसे किसी अन्य अर्थ में न लें। विषय को समझाने के लिए मैंने कुछ कठोर जवाब दिया है। आपके मन में ही नहीं, प्रत्यक्षरूप से दूसरे के मन में भी यह भावना हो तो एकदम स्पष्ट हो जाए कि नाम बदलने से कई काम बदल जाते हैं और काम को छुपाने के लिए यदि हम नाम बदलते हैं तो फिर कोई अन्तर नहीं पड़ता वरना नाम बदलने से काम भी बदलता है।

वास्तव में आपकी बात सच है पर एक बात ध्यान से समझें कि यह चर्चा हमारे विषय से थोड़ा हट कर है लेकिन जब आप पूछ रहे हैं तो मुझे स्पष्ट करना ही चाहिए। मूलत: जितने भी नाम हैं वे भावों का ही बाह्य प्रकटीकरण हैं। अत: जब आपका भाव वैसा है तो जिस किसी भी नाम का आप प्रयोग करेंगे, वह उस भाव को ही व्यक्त करेगा। उस नाम का जो अर्थ नहीं है तो भी भाव के कारण वह अर्थ प्रकट करेगा। वस्तुत: यही बात मैंने कही थी कि नाम से अन्तर पड़ता है और आप जो कहना चाहे रहे हैं कि भाव एकदम रूढ़ हो तो अन्तर नहीं पड़ता परन्तु आप वास्तव में ध्यान से देखें।

जैसे हमारे पिताजी को हम दादा कहते थे। अब ये ढब्बू के सभी बालक परेशान कि आप अपने पप्पा को दादा कैसे कहते हैं? क्योंकि उनके यहाँ पप्पा के पप्पा को 'दादा' कहते हैं। गोस्वामी बालकों में, हम लोगों में लगभग पिता को 'काका' कहा जाता है अथवा 'काकाजी' कहा जाता है। काका क्यों कहते हैं, यह तो हम जानते ही हैं। अब पिता किस प्रकार काका हो सकते हैं परन्तु जब पिता के भाव से दादा कहना शुरू किया, एक बार, दो बार, दस बार तो हमारे मन में कल्पना भी नहीं थी कि दादाजी का अर्थ पिता नहीं होता। बचपन से हम यही जानते थे कि 'दादाजी' अर्थात् पिता। बचपन से ही नाम को उस भाव का रंग दे दिया। बाकी नाम में और क्या है?

'दादा' का अर्थ तो गली का गुण्डा भी हो सकता है। जब हम अपने पिताजी को दादाजी कह रहे थे तो हम निश्चितरूप से किसी गुंडे के अर्थ में तो नहीं ही कहते थे कि कोई गली का गुंडा है जो आ कर बैठ गया है। वास्तव में इस अर्थ में तो कभी नहीं कहा! सामान्यत: लोग यदि गली के गुंडे को भी दादा कहते हैं तो सलाम करने के अर्थ में दादा कहते हैं कि भाई, मारे नहीं, पिटाई न करे, इसलिए तू हमारा दादा। बंगाली में लगभग सभी को 'दादा' कहते हैं। उम्र में हमसे बड़े हों तो वे दादा, दादा ही कहते हैं। इस प्रकार यह सब अलग-अलग बातें हैं।

वास्तव में दादा का अर्थ बड़ा भाई होता है। बड़े भाई को दादा कहते हैं। हमारे यहाँ भी दादा कहते हैं। ये सब लोग मुझे श्यामु दादा कहते हैं। अब स्वाभाविक है कि गुण्डे के अर्थ में तो नहीं कहते, किसी का ऐसा भाव तो नहीं है न! हो तो आज ही कह दें! आप भी दादा ही कहते हैं।

एक बात समझें कि दादा जैसे शब्द भी जिस समय उस भाव से कहे जाएं तो गुण्डा जैसा अर्थ स्वीकार्य हो जाता है। कोई अपने बेटे को बहुत ही प्रेम से गुण्डा कहना शुरू करे तो उसका अर्थ प्यारा बेटा हो जाएगा। बहुत ही प्यार से कहना शुरू करें कि यह मेरा गुण्डा है, यह मेरा गुण्डा है, मेरा गुण्डा है तो धीरे-धीरे इस प्रकार प्यार से कहे जानेवाले 'गुण्डे' शब्द का अर्थ प्यारा बेटा हो जाएगा।

दिल खोल कर पूछें, घबराने की कोई बात नहीं है। हम सब घर के ही लोग हैं। हाँ, वैसे मैं आपके जवाब से सहमत हूँ परन्तु इसके अतिरिक्त भी यह बात कहना चाहूंगा कि पुष्टिमार्ग के अन्तर्गत जो नियम स्थापित किये गए हैं उनका सबसे पहले पुष्टिमार्ग में पालन किया जाना है। पुष्टिमार्ग के बाहर कुछ हो तो हो। उनको न तो हमें उदाहरणपूर्वक समझाने की आवश्यकता है और न उस उदाहरण से पुष्टिमार्ग के नियम पर कोई प्रश्नचिह्न लगाया जा सकता है।

जैसे एक सामान्य बात आपको बताता हूँ कि कृष्णभक्ति किस प्रकार बढ़ेगी। उसके लिए आवश्यक नहीं कि कृष्णसेवा ही की जाए अथवा कृष्ण कथा ही की जाए। उसके बिना भी कई उपाय हो सकते हैं। जैसे शंकरजी की भक्ति करने से किसी की कृष्णभक्ति बढ़ सकती है। यदि कोई यह सोचे कि मैं गणपतिजी की भक्ति इसलिए करता हूँ कि मुझमें कृष्ण भक्ति बढ़े क्योंकि कृष्णभक्ति में आनेवाले सभी विघ्नों का हरण करनेवाले तो गणपति हैं। इसलिए मैं विघ्नहर्ता गणपति की भक्ति कर रहा हूँ। यह एक प्राथमिक उपाय है जिससे कृष्णभक्ति में आनेवाले मेरे सभी विघ्नों को गणपति हर लें ताकि मैं

कृष्ण का उत्तम भक्त हो जाऊँ। ऐसा हो सकता है या नहीं हो सकता? निश्चितरूप से हो सकता है।

क्या ऐसा पुष्टिमार्ग में भी हो सकता है? निश्चितरूप से नहीं हो सकता। किसलिए? क्योंकि यह विधान अपने यहाँ नहीं है। ख्याल में आया न! इसी प्रकार श्रीमहाप्रभुजी कथा के नियमों का स्पष्ट विधान कर रहे हैं। उन नियमों में यह पद्धति नहीं है। किसी में होती होगी तो होती होगी लेकिन वह पुष्टिमार्ग का उदाहरण नहीं है। किसी के लिए होती हो तो हो सकती है, हम उसमें किस प्रकार मना कर सकते हैं? हम यह बात सभी मार्गों के लिए नहीं कर रहे हैं। हम यह बात इसलिए कर रहे हैं कि पुष्टिमार्ग के अन्तर्गत कथा किससे सुनना अपेक्षित है, उसके विषय में श्रीमहाप्रभुजी किस प्रकार के नियमों का विधान करना चाहते हैं और वे नियम श्रीमहाप्रभुजी के अनुगामियों पर प्रभावी होंगे। अन्य मार्गों में कोई दूसरी कथा होती हो तो हो सकती है।

जैसे अभी आपने हाल ही में पढ़ा होगा कि राजकोट में श्रीमहाप्रभुजी, श्रीयमुनाजी, श्रीनाथजी की प्राणप्रतिष्ठा हुई। उसमें श्रीमहाप्रभुजी, श्रीनाथजी, श्रीयमुनाजी की मूर्ति की भूतशुद्धि करने हेतु गणपति की प्रतिष्ठा की गई। अब वहाँ राजकोट में तीनों के मंदिर खुले हैं। उन्होंने तर्क दिया कि जबतक गणपति विघ्नहरण न करे तबतक इन तीनों की भूतशुद्धि नहीं होगी। उनकी भूतशुद्धि करने के लिए गणपति की प्रतिष्ठा हुई है। समाचारपत्र में आया था कि भूतशुद्धि के लिए विशाल स्तर पर मन्दिर में गणपति की प्रतिष्ठा की गई। यदि यह पुष्टिमार्ग का विषय नहीं है तो हम उसमें कोई विरोध नहीं कर सकते अतः यह सारी बात सम्भव है।

हम क्या कर सकते हैं कि भई, आपको श्रीकृष्ण की, श्रीनाथजी की, श्रीयमुनाजी की प्रतिष्ठा करनी है तो कर सकते हैं लेकिन श्रीमहाप्रभुजी के विषय में बोलने का हमारा अधिकार है। ऐसा मान कर हम कुछ बोल सकते हैं।

बाकी यदि कोई श्रीनाथजी की प्रतिष्ठा करना चाहता हो, जैसे यहाँ दसवें रास्ते पर गणपतिजी की प्रतिष्ठा हुई है, श्रीयमुनाजी की प्रतिष्ठा करना चाहता हो तो हम यह तो नहीं कह सकते कि श्रीकृष्ण और श्रीयमुनाजी पर पुष्टिमार्ग का एकाधिकार है। उन्होंने किया है तो ठीक ही किया होगा, अच्छी बात है।

हम यह कह सकते हैं कि यदि उस प्रक्रिया से कुछ हुआ है तो वह पुष्टिमार्गीय स्वरूप नहीं, कोई मर्यादामार्गीय स्वरूप है। हम तो इतना ही कहेंगे न! इस प्रकार कुछ हो रहा है तो हो रहा है, निश्चितरूप से हो सकता है। क्यों नहीं हो सकता? मर्यादामार्ग में तो यह प्रथा है ही। अब प्रथा है तो मर्यादामार्गीय प्रकार से हो सकती है और हम यह तो नहीं कह सकते कि श्रीनाथजी और श्रीयमुनाजी पर पुष्टिमार्ग का एकाधिकार है। यह तो श्रीमहाप्रभुजी भी उसमें सम्मिलित हैं इसलिए हमें बात थोड़ी कानों को खटकनेवाली लगती है, अन्यथा उसमें खटकने जैसी बात क्या है?

श्रीविट्ठलनाथजी का कोई मर्यादामार्गीय रूप है, कोई पुष्टिमार्गीय रूप है। श्रीमदनमोहनजी के कई मर्यादामार्गीय रूप हैं, कितने ही पुष्टिमार्गीय रूप भी हैं, श्रीबालकृष्णलालजी के कई मर्यादामार्गीय रूप हैं और कई पुष्टिमार्गीय रूप हैं और ध्यान से समझें कि अपने यहाँ की जो सात-आठ निधि के श्रीठाकुरजी हैं वे मूल में तो मर्यादामार्ग से ही अपने यहाँ पधारे हैं। श्रीगोकुलनाथजी पंचायतन पूजा में विराजते थे, श्रीविट्ठलनाथजी मर्यादामार्गीय पूजा में विराजते थे और श्रीनाथजी भी एक समय तो मर्यादामार्गीय पूजा में विराजते थे।

अत: ऐसी बात नहीं है कि उक्त स्वरूप मर्यादामार्गीय नहीं हो सकते। ये मर्यादामार्गीय भी हो सकते हैं और पुष्टिमार्गीय भी हो सकते हैं। यदि श्रीमहाप्रभुजी के विधान से भजे जा रहे हैं तो स्वरूप पुष्टिमार्गीय हैं और मर्यादामार्गीय प्रणाली से भजन किया जा रहा है तो मर्यादामार्गीय हैं एवं प्रवाहमार्गीय प्रणाली से भजन किया जा रहा है तो ये ही स्वरूप प्रवाहमार्गीय

भी हो सकते हैं। क्यों नहीं हो सकते - निश्चितरूप से हो सकते हैं।

इसी प्रकार यही कथा यदि श्रीमहाप्रभुजी के पुष्टिमार्ग की प्रणाली से की जा रही है तो दोषरूप भी हो सकती है और यही कथा मर्यादामार्गीय प्रणाली से की जा रही है तो गुणरूप भी हो सकती है तथा यही कथा प्रवाहमार्गीय-प्रणाली से की जा रही है तो मर्यादामार्गीय और पुष्टिमार्गीय भी कुछ नहीं बोल सकते। अब टी.वी. सीरियल बनानेवालों को किस मार्ग में मानेंगे? कृष्णायन, रामायण आदि कई सीरियल बना रहे हैं, उनको आप किस मार्ग में मानेंगे - मर्यादामार्ग में या पुष्टिमार्ग में?

यह तो प्रवाहमार्ग है। सभी लोग चाय पीते-पीते, बिस्किट खाते-खाते कृष्णलीला देख रहे हैं, आनन्द है, कोई लेटे-लेटे देख रहे हैं, कोई बैठ कर देख रहे हैं, किसी को अधिक देखना हो तो देखते हैं अन्यथा बन्द कर देते हैं। अत: यह प्रवाहमार्गीय कृष्णकथा और रामकथा है, न तो पुष्टिमार्गीय है और न मर्यादामार्गीय कथा है। टी.वी. पर जो कुछ हम कृष्णकथा और रामकथा देख रहे हैं उसे पुष्टिमार्गीय अथवा मर्यादामार्गीय मानने की आवश्यकता नहीं है। वह एक प्रवाहमार्गीय कथा चल रही है। और क्यों नहीं हो सकती, रामकथा और कृष्णकथा क्या प्रवाहमार्गीय नहीं हो सकती ? हो सकती है।

प्रश्न : इससे प्रेरणा मिल सकती है?

उत्तर : मिल सकती है, क्यों नहीं मिल सकती? इससे जितनी दृढ़ प्रेरणा मिली है, याद रखें कि इतनी दृढ़ प्रेरणा अपनी रासलीला से भी नहीं मिली। रामायण सीरियल में जिस समय लक्ष्मणजी को तीर लगा उस समय कई लोग मर गए। ऐसी-ऐसी घटनाएं भी घटी हैं। इतनी एकाग्रता कभी किसी पुष्टिमार्गीय को हुई है? अत: ऐसा नहीं है, उससे भी प्रेरणा मिल सकती है, प्रवाहमार्गीय कथा से भी वह भाव जाग्रत हो सकता है। भाव जाग रहा है इससे हम उसे पुष्टिमार्गीय नहीं कह सकते क्योंकि उस कथा का वक्ता, उस कथा का

श्रोता पुष्टिमार्गीय नहीं है। पुष्टिमार्गीय प्रणाली जो थी उस प्रणाली से न तो कथा कही जा रही है, न दिखाई जा रही है, न दिखाई दे रही है। कथा तो कृष्ण की ही है परन्तु उसका पुष्टिमार्ग के साथ सम्बन्ध नहीं है, यह बात हमें स्पष्टरूप से समझनी पड़ेगी। कथा अलग नहीं है, आपको समझ में आया न! पर वह पुष्टिमार्गीय कथा है, यह मानने की आवश्यकता नहीं है।

जितने निन्दित भाव हैं वे प्रवाहमार्गीय कथा के ही भाव हैं और अनिन्दित भाव प्रवाहमार्गीय चर्षणी के अर्थ में हैं, दुर्ज्ञ तथा अज्ञ के अर्थ में नहीं हैं। मनुष्य के अर्थ में वे चर्षणी कथाएं हैं परन्तु दुर्ज्ञ-अज्ञ या असुर के अर्थ में चर्षणी कथाएं नहीं हैं, अनिन्द्य कथाएं हैं। उत्तम हों तो भी वे पुष्टिमार्गीय नहीं हैं।

मेरा एक दोस्त था। मेरे साथ बी.ए. में पढ़ता था। वह मुझे कहता कि श्याम, कृष्ण तुम्हें जितना प्रिय है उससे हजार गुना अधिक मुझे प्रिय है। मैं उसको पूछता कि कैसे? वह कहता कि कृष्ण की गोपियों के साथ मुक्तलीला सत्य है और मैं अधिकांशत: उनका गान करता हूँ। कृष्ण की मुक्तलीला के चक्कर में उसके जीवन में अबतक पाँच तलाक हो गए। अब वह कहता है कि मुझे मानव स्त्री नहीं चाहिए, भैंस स्त्री चाहिए क्योंकि मैं उसके कार्य से तंग आ गया हूँ। कृष्ण की मुक्तलीला का अनुकरण करने के कारण वह तंग हो गया। इस प्रकार मैं समझता हूँ कि कृष्ण उसके लिए आदर्श थे तो हम उसे क्या पुष्टिभक्त मानेंगे?

पुष्टिमार्गीय व्यवस्था समझा रहे हैं। पुष्टिमार्गीय व्यवस्था में जो भी कोई ऐसा उपद्रव कर रहा है, वह चाहे जो भाव प्रकट कर रहा है - चाहे कृष्ण की सराहना का हो या कृष्ण के प्रति अरुचि का हो - प्रवाहमार्गीय भाव है। यदि रुचिकर भाव भी आपको प्रकट हो रहा है तो भी प्रवाहमार्गीय भाव है। अत: कृष्ण निश्चय ही आदर्शरूप या प्रेरणारूप हो सकता है।

आप ऐसा कहना चाहते हैं कि अपने यहाँ सेवा का अधिकार दिए बिना ब्रह्मसम्बन्ध दे रहे हैं तो वह पुष्टिमार्गीय ब्रह्मसम्बन्ध नहीं है? जहाँ श्रीठाकुरजी के नाम भेंट ली जा रही है तो वह पुष्टिमार्गीय स्वरूप नहीं है, पुष्टिमार्गीय सेवा ही नहीं है? क्या आप ऐसा कह सकते हैं कि पुष्टिमार्ग के नाम पर आजीविका के लिए भागवत कथाएं हो रही हैं वे पुष्टिमार्गीय कथाएं नहीं हैं, सुननेवाले पुष्टिमार्गीय नहीं हैं, बोलनेवाला पुष्टिमार्गीय नहीं है - क्या आप ऐसा कहना चाह रहे हैं? वह आदर्श रूप नहीं, पर है तो निश्चित ही।

यदि पुष्टिमार्ग के आदर्श की दृष्टि से विचार करें तो निश्चितरूप से नहीं है परन्तु आज की तारीख में यह भी वास्तविकता है कि सारा काम ही पुष्टिमार्ग के नाम से चल रहा है, मूलत: तो पुष्टिमार्ग के अन्तर्गत चल रहा है। सारी कथाएं, सारे मन्दिर पुष्टिमार्ग के नाम पर ही तो चल रहे हैं। पुष्टिमार्ग के सभी निधियों को पुष्टिमार्ग की निधियाँ ही माना जा रहा है और यह सम्पूर्ण व्यापार श्रीमहाप्रभुजी के नाम पर चल रहा है। इस बात से किस प्रकार इनकार करेंगे?

यह बहुत जटिल परिस्थिति है। एक वस्तु के सम्बन्ध में इनकार करेंगे, दो वस्तु के बारे में इनकार करेंगे परन्तु यहाँ तो सारे कुएं में भांग पड़ी है - **''बस एक ही उल्लू काफी था, बरबाद गुलिस्तां करने को। हर शाख पे उल्लू बैठा है, अंजाम-ए-गुलिस्तां क्या होगा''** - आप कबतक और किस प्रकार से इनकार करेंगे? किसी न किसी स्तर पर तो यह बात आपको स्वीकार करनी ही पड़ेगी। स्वीकार नहीं बल्कि विशेषरूप से संस्वीकृत करना पड़ेगा कि हाँ, यह पुष्टिमार्ग है।

आदर्श रूप नहीं है पर वास्तव में आज यही चल रहा है पुष्टिमार्ग में, तो हम किस प्रकार इनकार कर सकते हैं कि हम पुष्टिमार्गीय नहीं हैं? हमारे समक्ष आज यह एक कठिन प्रश्न है। हम कैसे कह सकते हैं कि हम श्रीमहाप्रभुजी के

वंशज, पुष्टिमार्गीय नहीं हैं! हम किस प्रकार इनकार कर सकते हैं कि सम्पूर्ण वैष्णवसृष्टि पुष्टिमार्गीय नहीं। यद्यपि श्रीमहाप्रभुजी की प्रत्येक आज्ञा का हम उल्लंघन कर रहे हैं - सेवासम्बन्धी, कथासम्बन्धी, दीक्षासम्बन्धी, स्वरूप-सम्बन्धी - प्रत्येक आज्ञा का उल्लंघन कर रहे हैं तथापि इनकार कैसे कर सकते हैं?

चर्चासभा में आप अनुपस्थित थे क्या? आजतक किसी ने भावानुवाद प्रस्तुत नहीं किया और कहते हैं कि अमुक बाबा बहुत विद्वान हैं। ये राजु बाबा, आप भी बहुत अच्छे विद्वान हैं। ये पहलेवाले बाबा कौन? निरंजन बाबा, आप बहुत विद्वान हैं। अरे, लेकिन आप विद्वान हैं कि नहीं? आप स्पष्ट करें कि सिद्धान्त क्या है? मुद्दा यही है कि स्पष्ट निर्णय सम्भव है अथवा नहीं या फिर सारी तिकड़मबाजी चल रही है। कुछ बोलें तो सही, बोल कर तो बताएं। क्यों नहीं बोल रहे? क्या कोई बोला? कोई नहीं बोला। किसी ने व्याकरण की भूल चिह्नित की, किसी ने छन्द की भूल बताई, किसी ने बालकों का वर्णन किया, किसी ने कहा कि इस चर्चासभा में तर्कशास्त्र, हेतुशास्त्र, व्याकरणशास्त्र आदि के विशेषज्ञ पण्डित हों तो ही चर्चा हो सकती है।

अब **''न नौ मन तेल होगा, न राधा नाचेगी''** - इतने पंडित हैं कहाँ? इसी बात के कारण लोग उलझन में हैं। हम भी भ्रमित हैं और श्रीमहाप्रभुजी स्वयं भी भ्रमित हैं कि - **''डूबा वंश कबीर का, उपजा पूत कमाल''** - इससे अधिक क्या हो सकता है? यह तो एकदम अच्छी बात है यार! उनका मन्तव्य क्या है, यह तो उनको ही बताना चाहिए न, हम क्या विचार कर सकते हैं जब वे बोलते ही नहीं और दूसरा भाग आया कहाँ? आप तो स्वयं पुस्तक बेचते थे, पैसे ले लिए, दूसरा भाग तो आया ही नहीं। तथ्य क्या है? बेकार की बात है। उनका कुछ विरोध है ही नहीं, विरोध होता तो बेचैन ही न होते।

सिद्धान्तचर्चासभा बहुतसामान्य तरीके से आयोजित की गई थी कि प्रत्येक व्यक्ति अपने तरीके से सिद्धान्तों के वचनों का भावानुवाद प्रस्तुत करे। किसी ने भावानुवाद प्रस्तुत नहीं किया। यह मार्ग की अत्यन्त कारुणिक स्थिति है कि भावानुवाद प्रस्तुत करने के लिए गुसांई बालक तैयार नहीं। उसमें भी दस बहाने कर दिए कि आज लिख कर नहीं लाए, मुँह में भर कर लाए हैं इसलिए बोलें कैसे? आगे से बोलें या कहाँ से बोलें? भावानुवाद प्रस्तुत करने में आपको क्या तकलीफ है? अब आप कह रहे हैं कि हमारा यह मानना है कि बंद दरवाजे के भीतर तो बोल सकते हैं परन्तु खुलेआम नहीं बोल सकते। महद् अंशों में सभी वाक्य हमें अभिप्रेत होने के बावजूद समग्रतः अमुक वाक्य अभिप्रेत नहीं हैं। अब महद् अंश और समग्रता क्या बला है? यह सब नाटक क्या है? इसका खुलासा तो करें।

हम सब एक परिवार हैं। मैं इस बात को नहीं मानता कि वैष्णव हमारे भाई नहीं हैं, वैष्णव भी भाई ही हैं। हम भी आपके भाई हैं। सब साथ बैठ कर स्पष्ट क्यों नहीं कर लेते कि महाप्रभुजी के सिद्धान्त क्या हैं? किसलिए वैष्णवों के साथ आँख-मिचौनी चल रही है? वैष्णवों के साथ आँख-मिचौनी किस बात की है? यदि यह कहा जाता हो कि वैष्णव सिद्धान्त न समझें, केवल शास्त्री ही समझें तो एक बात मुझे बताएँ कि ऐसा कौनसा बालक है जिसने शास्त्राध्ययन किया है? इस प्रकार तो सभी बालकों को अनर्ह घोषित किया जाना चाहिए कि आप चर्चा में नहीं आ सकते। फिर तो वह वल्लभरायजीवाली बात आ जाएगी कि हेतुशास्त्र, तर्कशास्त्र, धर्मशास्त्र और व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया हो तब ही चर्चा हो सकती है।

ऐसे बालक हैं कौन? षट्शास्त्र सम्पन्न हों - ''चार वेद षट्शास्त्र, पढ़े महीना चार में'' - ऐसा कौन है आज? आपको कोई दिखाई देता है? यह बात भी सुन लें कि एक क्षुद्र भावानुवाद मैंने प्रस्तुत किया तो उसमें सिद्धान्तों से

सर्वथा अनभिज्ञ हरिरायजी जैसे व्यक्ति ने भी व्याकरण की कई त्रुटियाँ निकालीं। यदि मुझे व्याकरणशास्त्र भलीभाँति आता होता तो हरिरायजी इस प्रकार व्याकरण की त्रुटियाँ निकाल सकते थे? अब व्याकरण की त्रुटियाँ निकालीं तो इसका सीधा अर्थ यह है कि उनको सिद्धान्तों का ज्ञान नहीं है। जिनको सिद्धान्तों का ज्ञान है उनको व्याकरण का ज्ञान नहीं और जिनको व्याकरण का ज्ञान है उनको सिद्धान्तों का ज्ञान नहीं है।

सारा आधा-अधूरा कामकाज चल रहा है। ऐसे में हम सोचें कि कोई निष्कर्ष निकलेगा तो निष्कर्ष किस प्रकार निकलेगा? यह आँख-मिचौनी क्या है, इसका खुलासा तो करना पड़ेगा या नहीं? यह टालनेवाली बात नहीं है। क्यों हम साथ बैठ कर एक-दूसरे के सामने एक दूसरे की बात साफ-साफ नहीं पूछ सकते? क्यों हम एक-दूसरे के सामने एक-दूसरे के संशय का निराकरण नहीं कर सकते? क्यों इस बात की शर्म आ रही है?

जब वैष्णव हमारे हैं, जब महाराज आपके हैं तो यह कैसा आँख-मिचौनी का खेल चल रहा है? स्पष्ट तो करें कि हमारा दृष्टिकोण यह है, आपका दृष्टिकोण क्या है? श्रीमहाप्रभुजी के अतिरिक्त आपका क्या दृष्टिकोण हो सकता है? यदि वैसा दृष्टिकोण है तो पुष्टिमार्ग में उसकी कीमत क्या है, यह बताएँ। आप श्रीमहाप्रभुजी का सम्प्रदाय चला रहे हैं या अपना निजी सम्प्रदाय चला रहे हैं? इस तरह से नहीं चलेगा।

(''अवट्याभ्यः स्वाहा'' वचनोक्तजलसदृशः चतुर्थो विषयासक्त-प्रवक्तुः निन्द्यो भावः) - ''अवट्याभ्यः स्वाहा'' वचन में कहे गए जल के समान विषयासक्त प्रवक्ता का निन्द्य भाव।

वेश्यादि-सहिता मत्ता गायका 'गर्त' सञ्ज्ञिताः।।4।।

अन्वयार्थ :

वेश्यादिसहिताः = वेश्या आदि के संग
मत्ता = उन्मत्त
गायकाः = गायक
गर्तसञ्ज्ञिताः = गड्ढे के समान

भावार्थ : गायक, जो वेश्यादियुक्त होते हैं, मद में मत्त होते हैं उनका भाव गर्त के जल के तुल्य होता है।

व्याख्या :

जो वेश्यादिसहित मत्त हो कर कुछ भगवान के गुणगान कर रहे हैं तो वे भगवान के गुणगान तो कर रहे हैं लेकिन वे कैसे हैं? 'गर्त' अर्थात् गड्ढे में एकत्रित गन्दा जल और वह जल कैसा होता है। वैसे भगवत्कथा तो वहाँ भी हो रही है, ऐसी बात नहीं है कि वहाँ भगवत्कथा नहीं हो रही परन्तु वह उतनी ही अशुद्ध हो गई है जितना गड्ढे का जल प्रदूषित हो गया है।

(''खन्याभ्यः स्वाहा'' वचनोक्तजलसदृशः पञ्चमो विषयासक्त-प्रवक्तुः निन्द्यो भावः) - गड्ढे में भरा हुआ जल अर्थात् उथले गड्ढे का जल। शहरों में अब यह पद्धति नहीं रही परन्तु कई गाँवों में अब भी ये देखने को मिलता है। गाँव में अब भी हमें उथले गड्ढे देखने को मिलते हैं। झोंपड़-पट्टी में भी आपको यह पद्धति देखने को मिलेगी। झोंपड़-पट्टी के बाहर जल को एकत्रित करने के लिए गड्ढा कर देते हैं। घर में से जो गंदा जल बहाया जाता है वह वहाँ इकट्ठा हो कर आम तौर पर सूखता रहता है, उसका वाष्पीकरण होता रहता है।

जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः।

अन्वयार्थ :

(किञ्च = और), **नीचाः** = नीच (वक्ता)
गानोपजीविनः = गायन से आजीविका चलानेवाले
तु = तो, **जलार्थमेव** = जल के लिए
गर्ताः = गड्ढे के जैसे जानने चाहिए

भावार्थ : गायन करके ही आजीविका करनेवाले नीच पुरुषों का भाव उच्छिष्ट (जूठे) जल के समान होता है।

व्याख्या :

गंदा जल एकत्रित करने के लिए जो गड्ढा खोदा जाता है उसमें बहुत गंदा जल होता है अर्थात् बर्तन मांजा हुआ, शौच का जल वहाँ इकट्ठा होता रहता है। इस प्रकार का नीचे स्थान पर जो 'जलार्थमेव गर्त' है, 'गानोपजीवी' अर्थात् भगवत्कथा के गान द्वारा अपनी आजीविका चलानेवालों का भाव इतना ही गंदा होता है।

तात्पर्य यह है कि पौराणिक जब क्षेत्रप्रविष्ट है तो विकर्या है। यहाँ कहा जा रहा है कि जो गानोपजीवी हैं वे गर्त के गन्दे जलसमान हैं। अब परम्परा से तो गंधर्व सब परम्परा से हैं फिर श्रीमहाप्रभुजी इतना कठोर कैसे हो गए? इस बात का रहस्य आप लोग ध्यान से समझें। वस्तुतः गायन की प्रक्रिया भावों के उद्‌बोधन के लिए है। और उस भाव के उद्‌बोधन की प्रक्रिया को आपने उपजीवन बनाया तो वह निकृष्ट प्रक्रिया है। आप वहाँ थे नहीं लेकिन अभी सम्भवतः यहाँ ठठाई में मैंने यह बात कही थी कि डायबिटीज की दवा शर्करा को कम करने के लिए होती है। उसे कोई मोहनथाल में, रस की बूँदी में, रबड़ी में मिला कर खाए और फिर कहे कि इस दवा से डायबिटीज क्यों ठीक नहीं होती?

भाई, डायबिटीज ठीक किस प्रकार होगी? डायबिटीज की दवा

आपकी रक्त शर्करा की मात्रा को निश्चितरूप से कम कर सकती है लेकिन उसे आप रबड़ी में मिला कर, मलाई में मिला कर, रस की बूँदी में मिला कर खाएँगे तो कैसे ठीक होंगे? 'गानोपजीवी' गान इसी प्रकार का है।

आगे निरोधलक्षण में भगवद्‌गुणगान का महत्त्व श्रीमहाप्रभुजी बताएंगे। वह भाव के उद्‌बोधन की बहुत असरकारक प्रक्रिया है और इतनी उत्कृष्ट प्रक्रिया को आप निकृष्ट बना देंगे तो फिर आपका कौन? प्रश्न यह है।

पहले पुराणगान करके आजीविका नहीं की जाती थी, यह तो आजकल होने लग गया है। एक बात समझें कि भगवद्‌गुणगान को कथा के माध्यम से कहना पुराण है और भगवद्‌गुण को, नाम को लीलागायन के रूप में कहना, भावोद्‌बोधन के लिए कथा के माध्यम से कहना एक शैली है। भगवान के गुणों का वर्णन कथा के माध्यम से करना, गायन के माध्यम से करना एक शैली है और गायन है, वह भावोद्‌बोधन के लिए बहुत असरकारक उपाय है। उस असरकारक उपाय का यदि आप दुरुपयोग कर रहे हैं तो यह सबसे खराब बात हो गई। फिर तो डायबिटीज की दवा को आप रसमलाई में मिला कर खा रहे हैं – यह चक्कर है।

इसीलिए श्रीमहाप्रभुजी कठोर हो रहे हैं। यहाँ श्रीमहाप्रभुजी को ऐसा लगता है कि जिस बात का मैं पुष्टिभक्ति के उद्‌बोधन के लिए वर्णन करना चाह रहा हूँ उस बात का यदि कोई दुरुपयोग करना चाहे तो श्रीमहाप्रभुजी कठोर हो जाते हैं। जैसे ''लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा'', ''भक्त्यभावेतु तीरस्थो यथा दुष्टैः स्वकर्मभिः, अन्यथाभावमापन्नस् तस्मात् स्थानाच्च नश्यति'' – इतने कठोर शब्दों के साथ श्रीमहाप्रभुजी सामने आते हैं। जिन बातों को वे उद्‌बोधन के लिए प्रयुक्त करना चाहते हैं उन्हीं बातों का कोई दुरुपयोग कर रहा है तो उनका नाराज होना स्वाभाविक है। जो बात आपको इलाज के लिए बताई जा रही है उसी बात से आप बीमारी बढ़ा रहे हैं।

किसी भी डॉक्टर को पूछ कर देख लें, बेचारा परेशान हो जाएगा। सीधी बात है, डॉक्टर निराश हो जाएगा क्योंकि जो सेवा-सुश्रुषा आपको ठीक करने के लिए उपलब्ध कराई जा रही है उसका आप दुरुपयोग कर रहे हैं। इसलिए जैसी निराशा डॉक्टर को होती है उसी प्रकार बेचारे श्रीमहाप्रभुजी हताशा व्यक्त कर रहे हैं।

गायन को श्रीमहाप्रभुजी क्या महत्त्व देते हैं, यह 'निरोधलक्षण' हम देखेंगे तब हमें ज्ञात होगा कि श्रीमहाप्रभुजी के हृदय को कितना आघात अनुभव हो रहा है। इसलिए यह जो कर्कशता आ रही है वह इसलिए आ रही है कि श्रीमहाप्रभुजी को इस परिस्थिति में बहुत जोखिम प्रतीत हो रहा है। श्रीठाकुरजी को आजीविका के लिए उपयोग करे अथवा ''**देवद्रव्य खाए तो महापतित हो जाएगा, मेरा नहीं कहलाएगा। मेरा होगा वह कभी देवद्रव्य नहीं खाएगा।**'' श्रीमहाप्रभुजी इतना कठोर उपदेश क्यों दे रहे हैं?

कारण यह है कि श्रीमहाप्रभुजी भय का अनुभव कर रहे हैं कि जिस प्रक्रिया से मैं देवआराधना बता रहा हूँ उसी प्रक्रिया का दुरुपयोग करने की शुरुआत हो गई है। इसलिए उनका कठोर होना स्वाभाविक है। जैसे पिता हमें अपनी कोई धन-दौलत दे कर कहें कि तुम व्यापार करो और हम उसको प्रतिद्वंद्विता में फूंक दें, हम उससे जुआ खेलें, शराब पीएँ तो किसी भी पिता के हृदय पर क्या बीतेगी? बस यही श्रीमहाप्रभुजी पर बीत रही है।

जो बात आपके उत्कर्ष के लिए कही जा रही है उसका आप सर्वनाश के लिए उपयोग कर रहे हैं तो पिता का नाराज होना स्वाभाविक है। वे आपको पैसा दें, जीवनभर की कमाई आपको दें कि लो तुम्हें दे रहा हूँ, तुम इससे समृद्ध बनो, आबाद रहो और आप उसे सट्टे में फूंक दें, शराब में फूंक दें, जुए में हार जाएँ तो पिता के दिल का विचार करें कि उनके दिल पर क्या बीतती होगी। उनको कितनी तकलीफ होती होगी।

ठीक इसी परिस्थिति का अनुभव बेचारे श्रीमहाप्रभुजी कर रहे हैं कि भाई, जो बात मैं तुम्हारे आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए सबसे अधिक बताना चाह रहा हूँ, उसी बात का तुम दुरुपयोग कर रहे हो। तुम्हें और कुछ नहीं मिला क्या? जैसे अपने यहाँ कहावत है कि - ''एक घर तो डायन भी छोड़ देती है''- तुम तो वह भी नहीं छोड़ रहे, श्रीमहाप्रभुजी का भाव ऐसा है। कम से कम तुम वह घर तो छोड़ो। इसलिए श्रीमहाप्रभुजी कठोर बन रहे हैं, अन्य कोई कारण नहीं है। खैर, निन्द्यभाव ने हमारा बहुत समय ले लिया।

'अवट्या' अर्थात् जमीन के असम होने के कारण जहाँ सामान्यतः गंदा जल इकट्ठा हो जाता है। 'खन्या' अर्थात् विशेषरूप से आपने जहाँ गंदा जल इकट्ठा करने के लिए गड्ढा खोदा हो ताकि जल सब तरफ फैल न जाए। झोंपड़-पट्टी के लोगों को 'खन्या' के बिना रास नहीं आता। क्योंकि जहाँ गंदे जल को बाहर निकालने की प्रक्रिया व्यवस्थित नहीं होती वहाँ 'खन्या' बनाना ही पड़ता है। जिसमें सामान्यतः जल का वाष्पीकरण होता रहता है। यात्रा में ऐसे 'खन्या' बनाने पड़ते हैं।

(''हृद्याभ्यः स्वाहा'' वचनोक्तजलसदृशः षष्ठः कर्ममार्गीय-मुमुक्षु-प्रवक्तुः भावः)

''हृद्याभ्यः स्वाहा'' से सातवें श्लोक तक अर्थात् एक, दो, तीन, चार और पाँच तक कर्ममार्गीय-मुमुक्षु-वक्ता के भाव आ रहे हैं। कर्ममार्गीय का अर्थ है कि ऐसा मुमुक्षुप्रवक्ता जो कर्म द्वारा मुक्त होना चाह रहा है, कर्ममार्ग द्वारा मुक्त होना चाह रहा है, कर्मयोग द्वारा मुक्त होना चाह रहा है। ऐसा मुमुक्षुवक्ता जब भगवत्कथा कह रहा है तो उसकी कथा का भाव कैसा होगा? यह बात अब आगे के इन पाँच भावों में आ रही है।

ह्रदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्र-तत्पराः।।5।।

अन्वयार्थ :

भगवच्छास्त्रतत्पराः = भगवत्शास्त्र में तत्पर
पण्डिताः = पण्डितजन, **तु** = तो
ह्रदाः = गहरे जलवाला गड्ढा
प्रोक्ताः = कहे गये हैं

भावार्थ : भगवत्शास्त्र श्रीभागवत, गीता आदि में तत्पर जो पंडित लोग हैं उनका भाव ह्रद (दह) के जल के सदृश है।

व्याख्या :

भगवत्शास्त्रतत्पर पंडित को 'ह्रद' कहा जाता है। 'ह्रद' अर्थात् विशाल जलाशय, जलसंग्रह के लिए बड़ा स्थान। ह्रद का अर्थ है कि जैसे नदी बह रही है तो कृत्रिम या अकृत्रिम खुदाई से उससे जोड़ कर ह्रद बनाया जाता था - जैसे कालिय ह्रद था जिसमें कालिय नाग रहता था। दो बातों का भेद समझें। ह्रद में जल की आवक नदी के कारण बनी रहती है परन्तु ह्रद का जल बहता नहीं रहता। नदी का जल उसमें समय-समय पर भरता रहता है परन्तु वह बहता जल नहीं है, वह बंधा हुआ जल है। क्योंकि एक ओर से उसमें जल की आवक है परन्तु जल की जावक नहीं है। इसलिए वह संग्रहित जल है। इसलिए ह्रद का जल लगभग गंदा हो जाता है। अच्छा नहीं रहता क्योंकि नदी अपने साथ जो भी कचरा लाती है वह भी वहाँ एकत्रित होता रहता है।

जो पंडित हैं वे 'ह्रदाप्रोक्ता' हैं। भगवत्शास्त्रतत्पर होने के कारण उनमें गहराई तो बहुत है परन्तु वे कर्ममार्गीयदृष्टि से पंडित हैं। वे अपने पांडित्य के लिए भगवत्कथा कर रहे हैं। पांडित्य कर्मोचित भगवत्कथा करने से उनमें ह्रदत्व अर्थात् गहराई है परन्तु शुद्धता अथवा स्वच्छता न्यून है। जैसे नदी से

सन्नद्ध ह्रद में गहराई बहुत होती है परन्तु शुद्धता कम होती है, नदी जैसी शुद्धता नहीं होती।

ह्रद इतना भी गंदा नहीं होता कि जिसे सर्वथा अनुपयोगी कहा जा सके, जैसे 'खन्या', 'अवट्या' अथवा 'विकर्या' का जल बिलकुल अनुपयोगी होता है। ह्रद का जल एकदम अनुपयोगी नहीं होता परन्तु नदी के जल जितना उत्तम भी नहीं होता। बस यही इसकी मुश्किल है कि जबतक तेज प्रवाह न आए तबतक उसमें से जल की जावक नहीं होती, केवल आवक हो सकती है।

नदी के जल के साथ जो कुछ भी कचरा आया वह ह्रद में आ जाएगा पर पुनः नदी की भाँति बह नहीं सकता, बहने के लिए उसके पास दूसरा कोई उपाय नहीं है। अतः भगवत्शास्त्रतत्पर होने के कारण उसमें से कुछ बोधदायक जानकारी मिल रही है। उसकी कार्यदक्षता पर दृष्टिपात करने से खयाल आता है कि वह शास्त्रतत्पर ही है, भगवत्तत्पर नहीं। इसलिए ह्रद्यता तो है परन्तु गौर करने जैसी बात नहीं बन रही है, यह बात बता रहे हैं।

(''सूद्याभ्यः स्वाहा'' वचनोक्तजलसदृशः सप्तमः कर्ममार्गीय-मुमुक्षु प्रवक्तुः भावः)

सूद्याभ्यः स्वाहा जैसे कर्ममार्गीयमोक्षकामी प्रवक्ता का भाव।

सन्देह-वारकास् तत्र सूदा गम्भीर-मानसाः।

अन्वयार्थ :

तत्र = उनमें
गम्भीर-मानसाः = गम्भीर मन के
सन्देह-वारकाः = सन्देह दूर करनेवाले
सूदाः = सुन्दर जल के कुंड के समान हैं

भावार्थ : गम्भीर मनवाले अर्थात् अन्तर्निष्ठावाले और भगवत्शास्त्र में सन्देह को मिटानेवाले जो पण्डित हैं उनका भाव अच्छे जलवाले ह्रद के तुल्य है।

व्याख्या :

'सूद' अर्थात् जो वक्ता आपके सन्देह को निवृत्त कर सके। जो स्वयं तो पाण्डित्यपूर्वक कथा करे परन्तु आपके संशय का निराकरण न करे, हम कोई शंका करें तो कहे कि आप पूछनेवाले कौन? तो भाई, आप कहनेवाले कौन – ऐसी कथा हो जाती है। आप पण्डित हैं, यह अच्छी बात है परन्तु कुछ पूछें और गुस्सा आता हो तो फिर पाण्डित्य मिथ्या है। यदि कुछ पूछने पर खुलासा भी करते हों तो 'सूद' अर्थात् उसका जल अच्छा है। **''सुष्ठु उदकम् यस्य तद् सूद'' – सूद्याभ्यः स्वाहा।**

एक बात ध्यान से समझें कि भक्तिमार्गीय का संशय तबतक ही है जबतक स्नेह खिले नहीं। भक्तिमार्गीय को भी संदेह हो रहा है तो कुछ ज्ञान के संदर्भ से ही तो सन्देह है। स्नेह के संदर्भ से तो सन्देह का प्रश्न ही कहाँ है। जहाँ स्नेह है वहाँ संदेह को अवकाश नहीं है। जहाँ समझ, ज्ञान है वहाँ ही सन्देह है तथा भक्तिमार्ग किसी अन्यथा समझ या नासमझी का मार्ग नहीं है। भक्तिमार्गीय को कुछ समझ तो है और समझ है तो उस समझ को वह ठीक कर सकता है लेकिन स्नेह को नहीं बढ़ा सकता क्योंकि आपकी समझ में सुधार हुआ है, स्नेह में नहीं।

एक बात समझें कि हम बहुत से सन्देहों का निराकरण कर सकते हैं परन्तु हमें ऐसे कई श्रोता मिलेंगे, जैसे अशोकजी बता रहे थे कि ठठाई में हमारे लिए जो समय अनुकूल नहीं है उस समय आप प्रवचन क्यों रखते हैं, हमें कई मंदिरों में दर्शन के लिए जाने का समय नहीं मिलता, ऐसा कह रहे थे। अतः हम थोड़ा बहुत संदेह मिटा सकते हैं परन्तु किसी के ह्रदय में श्रीमहाप्रभुजी के सिद्धान्तों के प्रति स्नेह प्रकट कर पाते तो हम भी विमुक्त वक्ता होते, ''सूदा

गम्भीर मानसा'' की श्रेणी में होते। यह बात समझें। सन्देह मिटा सकते हैं परन्तु स्नेह कैसे उत्पन्न कर सकते हैं? ऐसा होता तो ये सारे झंझट नहीं होते। एक ही बार कहने से सम्पूर्ण स्पष्टीकरण हो जाना चाहिए था परन्तु रोज रामायण करनी पड़ती है और बात स्पष्ट नहीं होती। **''अपनो दोष विचार सखी री काहूसों नहीं कहिये''** – सीधी सी बात है कि कुछ शुद्धत्व है तो सन्देहनिवारण कर सकते हैं परन्तु स्नेह प्रकट नहीं कर सकते। जैसे श्रोता की कुछ तकलीफ है वैसे ही वक्ता की भी कुछ तकलीफ है।

सूद्या का अर्थ उस ह्रद से है जिसमें जल स्वच्छ रहता है। ह्रद में जल साफ कब होता है? एक बात समझें कि उसमें जल एकत्रित होने की जो प्रक्रिया है अर्थात् ह्रद में जल के आवक की प्रक्रिया थोड़ी विस्तृत, थोड़ी अधिक मात्रा में हो तो जल शुद्ध हो जाता है। कारण यह है कि सूद गम्भीर है, अधिक गहरा है और जल के आवकस्थान की चौड़ाई अधिक हो तो जल उसमें अधिक गंभीर रहेगा। जब जल अधिक गंभीर हो जाता है तो उसमें कुछ स्वच्छता भी आ जाती है और यदि कम गंभीर हो, गहराई कम हो तो जल के गंदा होने की सम्भावना अधिक रहती है। जल के निकास का कोई उपाय न हो तो वह 'ह्रद' है तथा अधिक गहरा हो तो 'सूद' है। कम गहरा है तो 'ह्रद' है।

पहले प्रत्येक गांव में ऐसा होता था कि यदि प्राकृतिकरूप से न हो तो कृत्रिमरूप से नदी के किनारे 'ह्रद' और 'सूद' बनाए जाते थे। उनकी क्षमता के कारण और संग्रहित जल के स्तर के कारण जल प्रत्येक स्थान पर प्राप्त होता था तथा आजकल जैसे बांध आदि के व्यर्थ के चक्कर में नहीं पड़ना होता था। हमारे यहाँ की यह जलसंग्रह की प्राचीन व्यवस्था थी जो अब निरर्थक हो गई है।

प्रश्न :

उत्तर : एक बात ध्यान से समझें कि शास्त्रविहित रीति से प्रत्येक ब्राह्मण का यह कर्तव्य था कि शास्त्र का अध्ययन करे और दूसरों को भी शास्त्र

पढ़ाए। इस प्रकार आचार्य का यह बहुत उच्च कक्षा का कर्तव्य है, आचार्य के अतिरिक्त भी प्रत्येक ब्राह्मण का कर्तव्य है। ''**अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, दान और प्रतिग्रह षट्कर्माणि दिने-दिने**'' - अत: यदि ब्राह्मण यह कर्म नहीं कर रहा तो उसके ब्राह्मण होने में सन्देह है।

शास्त्र की धारणा यह है कि जो ब्राह्मण स्वयं शास्त्र का अध्ययन नहीं कर रहा और शास्त्र का अध्यापन भी नहीं तो वह ब्राह्मण है भी या नहीं? दस बार ठोक-बजा कर देखें कि क्या खोट है? यह एक प्रकार से कर्म है जो प्रत्येक ब्राह्मण के ब्राह्मण होने के अभिमान के कारण गले पड़ा हुआ है। वह चाहे अनचाहे इस गले पड़े हुए भार को उतारना चाह रहा है, इस गले पड़ी जिम्मेदारी से मुक्त होना चाह रहा है। अपने ब्राह्मणत्व के अभिमान को धोखा दे रहा है, पाखण्ड कर रहा है।

प्रश्न :

उत्तर : शास्त्र आ ही गया न, अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, दान-प्रतिग्रह-अध्ययन करेंगे तभी तो आप याजन करा सकेंगे बाबा! आज हमारी दुर्दशा देखें कि हमने अपने अधिकांश कर्मों के सम्बन्ध में कोई अध्ययन नहीं किया है। इसीलिए हमें उपाध्याय जी की आवश्यकता पड़ती है। हमें अध्ययन करना चाहिए था। मैं किसी और की बात नहीं करता, अपनी बात करता हूँ कि अपने पिताजी का श्राद्ध उपाध्यायजी न आए तो मैं नहीं कर सकता। हमें मंत्र याद ही नहीं हैं। आज हमारा ब्राह्मणत्व कितना गर्त में चला गया है इसका यह प्रत्यक्ष उदाहरण है कि किसी वैष्णव ने गोस्वामी बालक को पूछ लिया कि जै-जै, आप उपस्थान करते हैं, उसका मंत्र क्या है? बालक को संध्या करते-करते उठकर भागना पड़ा। उपस्थान का मंत्र आता नहीं है और केवल हाथों को इधर-उधर करते हैं। मंत्र कौन सा है? नदारद।

एक शास्त्रीजी ने मुझे बताया कि एक बालक ने प्रवचन के दौरान ऐसी

आज्ञा की कि षोडशग्रंथ में सर्वोत्तमस्तोत्र में अमुक बात कही है। शास्त्रीजी ने कहा कि ''जै-जै! कृपानाथ! सर्वोत्तमस्तोत्र, षोडशग्रन्थ में नहीं है।'' बालक ने आज्ञा की कि मेरे घर आएँ, आपको बताता हूँ, षोडशग्रन्थ में सर्वोत्तमस्तोत्र है अथवा नहीं? यह क्या कह दिया? शास्त्रीजी की बुद्धि ने काम करना बंद कर दिया कि अब बालक को क्या कहें! षोडशग्रन्थ अलग ग्रन्थ है। वह पुस्तक एक अलग पुस्तक है। उस पुस्तक में सर्वोत्तमस्तोत्र भी हो सकता है परन्तु ऐसा नहीं कह सकते कि जिस पुस्तक में षोडशग्रन्थ है उसमें सर्वोत्तमस्तोत्र है इसलिए षोडशग्रन्थ में सर्वोत्तमस्तोत्र है। आज हमारी, ब्राह्मण की, यह स्थिति है। इसमें क्या कह सकते हैं! अब आगे क्या कोई इस वास्तविकता को समझनेवाले मौजूद हैं? अत: स्थिति बहुत खराब है। सारी पद्धति मृतप्राय होने के कारण यह स्थिति है।

बाकी एक बात ध्यान से समझें कि शास्त्राध्ययन ब्राह्मण का सर्वप्रथम कर्तव्य है। वेद तो यहाँ तक कहता है कि आप कर्म न करें तो मैं आपको माफ कर दूँगा परन्तु शास्त्राध्ययन नहीं कर रहे हैं तो मैं आपको कभी माफ नहीं करूँगा। ''**यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति, यदीं शृणोति अलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थां**'' जो कुछ आप बोल रहे हैं, जो कुछ आप सुन रहे हैं सब मिथ्या है। जो दोस्त आपका वफादार था उसके साथ आपने धोखा किया है। इसके पश्चात् जो कुछ भी आपका कर्म है वह दुष्कर्म है, आप पापी हैं, बाहर जाएँ - यह स्पष्ट है।

बाबा! आज हमारे ब्राह्मणत्व की यह स्थिति है और किसी एक की स्थिति नहीं है बल्कि प्रत्येक ब्राह्मण इस तकलीफ को समझ सकता है कि हमने किस स्तर पर जा कर किसके साथ छल किया है। अत: यह बहुत बड़ा कर्म है, ब्राह्मण को सतत करते रहना चाहिए। इसलिए कर्ममार्ग है। अब इस कर्ममार्ग को निभाते हुए, थोड़ा कर्म को कर्तव्यबुद्धि से करने के बजाय थोड़ा

भाव सभर हो कर जो कर्म करता है उसको श्रीमहाप्रभुजी ''सरस्याभ्यः स्वाहा'' कहते हैं। सरस अर्थात् रसयुक्त, ऐसा कोई तालाब जिसमें कमल आदि खिले हुए हों। ऐसे तालाब को सरस्या कहा जाता है।

(''सरस्याभ्यः स्वाहा'' वचनोक्तजलसदृशः अष्टमः कर्ममार्गीय-मुमुक्षु प्रवक्तुः भावः)

सरस्या जल सदृश कर्ममार्गीयमुमुक्षु वक्ता का भाव।

सरः-कमल-सम्पूर्णाः प्रेमयुक्तास् तथा बुधाः।।6।।

अन्वयार्थ :

प्रेमयुक्ताः = प्रेमयुक्त
तथा = और, **बुधाः** = ज्ञानी
कमलसम्पूर्णाः = कमल से भरा हुआ
सरः = सरोवर जैसा

भावार्थ : पूर्व श्लोक में कहे गये अन्तर्निष्ठावाले और सन्देह को निवृत्त करनेवाले पण्डित भी यदि प्रभु में प्रेमवाले हों तो कमल से युक्त तालाब के जल के तुल्य उनका भाव जानना चाहिए।

व्याख्या :

ऐसा तालाब जिसमें कमल खिले हों, जिसमें भौंरे मंडराते हों तो श्रीमहाप्रभुजी कहते है - ''सरः-कमल-सम्पूर्णाः प्रेमयुक्तास् तथा बुधाः'' - वह बुध है। शास्त्र जानता है और साथ ही उसको थोड़ा स्नेह है, कर्म को निभाने में उसका भाव भी है अर्थात् भाव भी छलक रहा है तो वह ''सरः-कमल-सम्पूर्णाः'' - बड़ा खूबसूरत तालाब है। खिले हुए कमलों का तालाब।

(''वैशन्तीभ्यः स्वाहा'' वचनोक्तजलसदृशः नवमः कर्ममार्गीय-

मुमुक्षु-प्रवक्तुः भावः)

वैशन्तीभ्यः स्वाहा वचन में कहे गए जल सदृश कर्ममार्गीयमोक्षकामी प्रवक्ता का भाव।

अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता 'वेशन्ताः' परिकीर्तिताः।

अन्वयार्थ :

प्रेमयुक्ताः = प्रेमयुक्त
अल्पश्रुताः = अल्पज्ञानी
वेशन्ताः = छोटे तालाब जैसे
परिकीर्तिताः = कहे गए हैं

भावार्थ : प्रभु से सम्बन्धित प्रेमवाले और शास्त्र का अल्प अध्ययन करनेवाले पुरुष 'वेशन्त' (छोटा तालाब) जैसे भाववाले होते हैं।

व्याख्या :

तालाब में कमल खिले हुए हैं परन्तु पानी की गहराई कम है तो वह 'अल्पश्रुत' है। सम्यक्रूप से प्रेम निभाया अर्थात् शास्त्रकथा करने में प्रेम का भाव है, उसको स्नेह है, केवल कर्म का ही भाव नहीं बल्कि स्नेह का भी कुछ भाव है।

इस बात को उदाहरण से समझें। अस्पताल की कई नर्स, कई डॉक्टर में आपको यह प्रकार देखने को मिलेगा। स्कूल कॉलेज के कई शिक्षकों-प्रोफेसरों में भी यह प्रकार देखने को मिलेगा कि जो कर्म के अन्तर्गत अपनी कर्तव्यबुद्धि से आपको पढ़ाते हैं तो पढ़ाने के साथ-साथ उनमें थोड़ा बहुत प्रेम भी है।

वे कर्म को फर्ज की भाँति मान कर देखभाल करते हैं। इस देखभाल में उनको थोड़ा प्रेम भी है। ऐसे वकील भी आपको मिल जाएंगे जो स्नेह से आपको कानूनी सलाह देते हैं। गलत ढंग से रार करने के चक्कर में नहीं फंसाते। वे हमारे हितेच्छु भी होते हैं। स्वयं जानते नहीं इसलिए 'अल्पज्ञ' हैं। इसमें क्या होगा?

''अल्पश्रुता: प्रेमयुक्ता 'वेशन्ता:' परिकीर्तिता:'' जैसे कमल से खिला हुआ एक छोटा तालाब हो, उस तालाब के किसी विशेष हिस्से में भैंस न उतरे तो तालाब का जल बहुत स्वच्छ है। भैंस उतर गई तो जल गंदा हो गया। छोटे तालाब की यह कारुणिक स्थिति होती है। ऐसी किसी विजातीयभाव की भैंस न उतरे तो 'अल्पश्रुत' से भी काम चल सकता है।

यदि कोई विजातीयभाव की भैंस उसमें उतर गई तो छोटा तालाब बहुत गंदा हो जाता है और लगभग जहाँ भी छोटा तालाब होता है उसमें भैंस उतरे बिना नहीं रहती। पता नहीं भैंस छोटे तालाब को खोजती है या छोटा तालाब भैंस को खोजता है। कुछ ऐसा ही होगा। ऐसे छोटे तालाब में भैंस उतरती है तब मुझे बहुत मजा आता है - **''स्थित-प्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव! स्थितधी किं प्रभाषेत् किमासीत व्रजेत किम्'' (भग. गीता 2/54)** - छोटे तालाब में भैंस के सभी दु:खों का नाश हो जाता है।

भैंस की यह विशेषता है कि वह मुँह ऊपर करके बैठती है। पाँच-दस मिनिट उसके मुखारविन्द का दर्शन करें, बहुत तन्मयता आएगी कि उसे कितना आनन्द मिलता है। एक बार तालाब में बैठ गई, दुनिया गई भाड़ में। 'अल्पश्रुत' प्राय: ऐसे ही होते हैं। छोटा तालाब भैंस के मजे लेता है और भैंस छोटे तालाब के मजे लेती है। 'अल्पश्रुत' को भी ऐसी तन्मयता आ जाती है।

'अल्पश्रुत' मिला और भैंस प्रसन्न तथा भैंस मिली तो 'अल्पश्रुत' प्रसन्न हो जाता है। क्योंकि कुछ भी अधिक मिला तो 'अल्पश्रुत' बेचारा विचलित हो जाता है। इस प्रकार भैंस और अल्पश्रुत का चोली-दामन का सम्बन्ध है।

प्रश्न : बुध का अर्थ क्या है?

उत्तर : बुध अर्थात् शास्त्रज्ञ या विद्वान्। यहाँ 'बुध' के विरोध में 'अल्पश्रुत' आया है जो बेचारा प्रेमयुक्त है। कमल आदि भी खिले हैं परन्तु स्वयं इतना उथला तालाब है कि भैंस के लिए वह बहुत आकर्षक है। इस भैंस के उदाहरण से समझेंगे तो उसका रहस्य समझेंगे वरना नहीं समझ सकेंगे, 'वेशन्त' का रहस्य भैंस के बिना समझ में नहीं आता। प्रत्येक 'अल्पश्रुत' का भैंस बहुत आनन्द लेती है। 'अल्पश्रुत' वक्ता जैसा मिला नहीं और भैंस को आनन्द-आनन्द हो जाता है। बापा-बापी सब गद्‌गद् हो जाते हैं। 'अल्पश्रुत' का ऐसा माहात्म्य है। जितना भैंस उसका आनन्द लेती है उतना दूसरा कोई नहीं लेता है। गौर करनेवाली बात है कि भैंस कभी समुद्र में नहाती हुई नहीं मिलेगी क्योंकि वह इस रहस्य को जानती है कि वह समुद्र है।

'अल्पश्रुत' छोटा तालाब मिलते ही रास्ते पर से दौड़ कर सीधा वहाँ जाकर स्थितप्रज्ञ हो जाएगा कि अब कहीं नहीं जाना - **''गर फिरदौस बर रूए जमीं अस्त, हमीं अस्तो, हमीं अस्तो, हमीं अस्त''** - कश्मीर को देख कर जहाँगीर ने ऐसा ही कहा था कि पृथ्वी पर यदि कहीं स्वर्ग है तो बस यहीं है, यहीं है, यहीं है। इसी प्रकार भैंस को यदि कहीं स्वर्ग का अनुभव होता है तो 'वेशन्त' में होता है। वहाँ जाकर बैठती है - ''हमीं अस्तो, हमीं अस्तो, हमीं अस्त।'' भैंस और वेशन्त का यह सम्बन्ध है। अत: यह समझने की सूक्ष्म बात है। इस सारी बात को समझाने के लिए श्रीमहाप्रभुजी की बहुत गहरी आन्तरिक दृष्टि है।

(''पल्वल्याभ्य: स्वाहा'' वचनोक्तजलसदृश: दशम: कर्ममार्गीय-मुमुक्षु-प्रवक्तु: भाव:)

पल्वल्याभ्य: स्वाहा वचन में कहे गए जलसदृश कर्ममार्गीयमोक्षकामी वक्ता का भाव।

कर्मशुद्धाः पल्वलानि तथाल्प-श्रुत-भक्तयः ।।7।।

अन्वयार्थ :

कर्मशुद्धाः = कर्मों के द्वारा शुद्ध
तथा = और,
अल्प-श्रुत-भक्तयः = अल्पज्ञान और भक्तिवाले
पल्वलानि = छोटी तलैया जैसे हैं

भावार्थ : कर्म से शुद्ध परन्तु शास्त्राध्ययन तथा भक्ति जिनकी अल्प है उनका भाव बहुत छोटे तालाब के जल के लिए जानना चाहिए।

व्याख्या :

'पल्वल' कैसा है? कर्मशुद्ध, अल्पश्रुत, अल्पभक्तिवाला है परन्तु उसका आचरण उत्तम है। उसके आचरण में कोई गड़बड़ नहीं है। जो ऐसा है उसमें उसकी पल्वलता थोड़ी कम रहती है। छोटे क्षुद्र तालाब ऐसे ही होते हैं जिनमें कमल आदि नहीं खिले होते हैं।

हरिरायजी ने मेरे लिए बहुत अच्छा शब्द प्रयुक्त किया है - 'पल्वल।' उन्होंने कहा कि ''पल्वलोत्तीर्ण शूकरवत्'' श्याम मनोहरजी बोलते हैं अर्थात् 'पल्वल' में से निकले हुए सूअर के जैसे श्याम मनोहरजी बोलते हैं। यह 'अहं ब्रह्मास्मि' है।

इसके पश्चात् एक बात समझें कि कर्म को निभानेवाला व्यक्ति, कर्म को अपनी कर्तव्यबुद्धि से निभानेवाला व्यक्ति विषयासक्त हो कर भी मुमुक्षु ही कहा जाएगा। आपकी मुमुक्षुता खण्डित हुई तो आपको कर्म निभाने की इच्छा भी नहीं रह जाती। अब कोई अपना कर्म निभाने हेतु कुछ कर रहा है और उसमें कोई भैंस आ जाए तो यह बात ध्यान से समझें कि इसमें 'पल्वल' और

'वेशन्त' का कोई दोष नहीं है, यद्यपि दोष उसमें आरोपित हो रहा है पर वह उसका स्वयं का दोष नहीं है। यदि उसे छेड़ा न गया हो तो वह जैसा भी है, मुमुक्षु है। यह बात ध्यान से समझें कि जितने भी 'पल्वल' और 'वेशन्त' होते हैं उनके जल को छेड़ा न जाए तो गन्दगी जल के नीचे तल में बैठ जाती है इसलिए जल साफ रहता है। लेकिन उसमें भैंस उतर जाए तो क्या होता है?

भैंस नीचे पैर से, खुर से खोदती रहती है। इसलिए नीचे की गन्दगी ऊपर आती रहती है जिससे जल गंदा हो जाता है। इस प्रकार 'पल्वल' और 'वेशन्त' को भैंस, गेंडा, सुअर आदि सब गंदा कर देते हैं। यदि उसको छेड़ा न जाए तो वह शुद्ध है। यदि छेड़ा जाता है तो बेचारे की इतनी क्षमता नहीं है कि छेड़ने के बाद भी वह शुद्ध रह सके। अब कोई छेड़े तो यही होना है क्योंकि स्वयं तो मुमुक्षु है!

तपस्वी जब तपस्या करने बैठे और कोई रंभा उसके सामने नाचने लग जाए तो बेचारा तपस्वी क्या करे? वह तो तपस्या करने बैठा था, किसी अप्सरा को बुलाने तो नहीं बैठा था। बैठा था तपस्या करने लेकिन एक रंभा आ कर नाच गई तो उसका तपोभंग हो गया। बेचारा गरीब क्या करे? मूलतः वह मुमुक्षु अपना कर्म निभाने में सदाशय वाला था, अब भैंस उतर गई तो भैंस के चक्कर में पानी गंदा हो गया। बात समझ में आई न! सब बहुत ही मनोवैज्ञानिक है।

अल्पश्रुत, अल्पभक्ति को अनुलक्ष्य करके अल्पभक्त होगा। अर्थात् जिसने सुना भी कम है और जिसकी भक्ति भी कम है परन्तु कर्ममार्गीय होने के कारण आचरण से शुद्ध है, उसके आचरण में कोई मिथ्यात्व नहीं है। कर्ममार्ग की प्राथमिक आवश्यकता तो वह सम्पूर्णरूप से कार्यान्वित कर रहा है। उसके आचरण में कोई गड़बड़ नहीं, वह कुछ जान या समझ न सका या भक्ति को बढ़ा नहीं सका तो क्या करे?

''देवायत्तं कुले जन्मं मदायत्तन्तु पौरुषम्'' (वेणी संहार-3/37) – उसमें भक्ति नहीं है तो नहीं है, उसको बहुत समझ भी नहीं है परन्तु उसका कर्म तो शुद्ध है न! अर्थात् सम्यक् भक्ति के कारण उसका कर्म जितना शुद्ध होना चाहिए था उतना शुद्ध है। यद्यपि उसकी समझ गहरी नहीं है, उसका स्नेह प्रगाढ़ नहीं है परन्तु उसके कार्य में कोई गड़बड़ नहीं है। वह जब कथा करेगा तो कथा में जब तक यजमान की कोई भैंस न उतरे तबतक कथा उत्तम रहेगी और यजमान की भैंस जैसे ही उतरी कि जल गंदा हो गया। संक्षेप में इस प्रकार समझ लें।

यहाँ प्रेमयुक्त होना महत्त्व की बात है। वह अल्पभक्त है, अल्पश्रुत है परन्तु उसमें प्रेम प्रगाढ़ है और यह अल्पश्रुत, अल्पभक्ति है, प्रेम पर्याप्त है अर्थात् ज्ञान से प्रेम अधिक है। इसमें ज्ञान भी कम है, प्रेम भी कम है लेकिन कर्म एकदम व्यवस्थित है। ऐसे कई सात्त्विक ब्राह्मण मिल जाएंगे जिनका आचार-विचार बेचारों का ठीक-ठाक है और बहुत पढ़े हुए नहीं हैं, बहुत भक्ति भी नहीं कर पाए तो नहीं कर पाए पर अपने कर्म पर कायम हैं – ऐसे कई ब्राह्मण मिल जाएंगे।

(''वर्षाभ्यः स्वाहा'' वचनोक्तजलसदृशः एकादशो ज्ञानमार्गीय-मुमुक्षु-प्रवक्तुः भावः)

जो बारिश का जल है वह 'वर्षा' कहा जाता है। उस जल के समान वक्ता का भाव।

योग-ध्यानादि-संयुक्ता गुणा वर्ष्याः प्रकीर्तिताः।

अन्वयार्थ :

योगध्यानादिसंयुक्ताः = योग, ध्यान आदि से सम्पन्न,
गुणाः = गुण

वर्ष्या = वर्षा का जल
प्रकीर्तिता = कहा जाता है

भावार्थ : योग, ध्यान आदि से संयुक्त पुरुषों के भाव वृष्टिजल के समान कहे जाते हैं।

व्याख्या :

योग और ध्यान से संयुक्त जो वक्ता अर्थात् जिसने स्वयं कुछ योग साधना की है, जिसने स्वयं कुछ ध्यान किया है, ऐसा ध्यानयोगी जब भगवत्कथा में प्रवृत्त होता है तो वह वर्षा के जल जैसा शुद्ध है परन्तु बरसने के बाद समस्या हो रही है।

वर्षा का जल बरसे और आपने उसे जमीन पर गिरने से पहले एकत्रित कर लिया तो वह शुद्ध है। अब आजकल तो बरसता हुआ जल भी प्रदूषित वातावरण के कारण गन्दा बरस रहा है। योग भी आजकल पाँच सितारा होटलों में सिखाया जाता है, इस कारण ऐसा हो गया अन्यथा सामान्यरूप से पाँच सितारा होटलों में योग केन्द्र नहीं थे। मूल बात यह है कि सामान्यरूप से योग ध्यान की प्रक्रिया से किसी ने जो कुछ अनुभव किया है तो वह अपनी वास्तविकता बरसा रहा है अर्थात् वह बहुत उत्तम जल है।

बरसने के बाद यदि सामनेवाला योगी नहीं है, ध्यानी नहीं है तो जल की उत्तमता संदिग्ध है। सामने यदि मैदान है तो मैदान की गन्दगी ले कर जल आएगा, सामने तालाब है तो तालाब का जल ले कर आएगा, सामने नदी है तो नदी की भाँति बह जाएगा, सामने कुंआ है तो कुंआ भर जाएगा। अतः बरसते समय तो कोई मुश्किल नहीं है क्योंकि उसका कुछ अनुभव है परन्तु बरसने के बाद जल की बहुत गारंटी नही है। जहाँ बरसेगा उसी के जैसा हो जाएगा।

कारण यह है कि उसने योग और ध्यानपूर्वक साधना की है। वह मात्र

जाना हुआ नहीं बोलता बल्कि देखा हुआ बोल रहा है। जैसे कबीर कहते हैं कि सब सुना हुआ कह रहे हैं और मैं देखा हुआ कह रहा हूँ। इस प्रकार जो योग-ध्यान से संयुक्त है वह सुना हुआ नहीं कह रहा है, पढ़ा हुआ नहीं कह रहा है वरन् देखी हुई बात कह रहा है। इसलिए उसके कहने में कुछ तो अन्तर है, कुछ तो शुद्धता है, एक प्रकार की वास्तविकता है। परन्तु जैसा चाहिए वैसा योगी-ध्यानी सामने नहीं मिला तो बात नहीं बनेगी। योगी-ध्यानी हो तभी बात बन सकती है। योगी-ध्यानी नहीं तो बात नहीं बन सकती, कहने का आशय यह है।

(''स्वेदजाभ्यः स्वाहा'' वचनोक्तजलसदृशः द्वादशो ज्ञानमार्गीय-मुमुक्षु प्रवक्तुः भावः)

स्वेद के जल को स्वेदजा कहते हैं। अतः स्वेदज जल जैसे ज्ञानमार्गीय वक्ता का भाव।

तपो-ज्ञानादि-भावेन स्वेदजास्तु प्रकीर्तिताः।।8।।

अन्वयार्थ :

तपोज्ञानादिभावेन = तप, ज्ञान आदि भावों से (**संयुक्ताः** = संयुक्त)
तु = तो, **स्वेदजाः** = पसीने के समान
प्रकीर्तिता = कहे जाते हैं

भावार्थ : तप अर्थात् पंचाग्नि प्रभृति को सहन करना और ज्ञान अर्थात् जीव तथा ईश्वर के स्वरूप को जानना। इस प्रकार तपोमार्गी, ज्ञानमार्गीय वक्ताओं के भाव को पसीने के जल तुल्य जानना चाहिए।

व्याख्या :

श्रीमहाप्रभुजी ने हद कर दी है कि तप और ज्ञान का भाव कथा के भाव

का विरोधी है। कठोर तपस्या अर्थात् पंचाग्नि तप कर रहा है, खूब गूढ़ ज्ञान प्राप्त किया है तो गंभीर तप और गूढ़ ज्ञान, कथा के भाव से विरोधी भाव हैं। मनुष्य को पसीना कब आता है? खूब मेहनत की हो तो पसीना आता है। जिससे पसीना आ रहा है वह उसके स्वास्थ्य के कारण से है। परन्तु वह दूसरे के लिए उपयोगी नहीं है। आपने तप किया, ज्ञान प्राप्त किया तो वह जिस स्तर पर होगा, आपके ही श्रम का द्योतक है। वह दूसरे के लिए उपयोगी नहीं है क्योंकि दूसरे ने वैसा तप नहीं किया इसलिए दूसरा वह ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता।

यह बात ध्यान से समझें कि तप और ज्ञान का भाव कथा के योग्य भाव नहीं है, दूसरों के योग्य भाव नहीं है। स्वयं के लिए ही है, अन्य के लिए नहीं। यदि कोई दूसरे के लिए तप कर रहा है तो वह पाखंड है। हम कुछ तप कर रहे हैं तो क्या किसी और के लिए कर रहे हैं? अखबार में प्रतिदिन ही आता है कि आज तप का अमुक दिवस हो गया, आज तप का चौबीसवां दिन है, पच्चीसवां दिन है। ज्ञानमापक यंत्र में आज ज्ञान का स्तर इतना बढ़ गया! यह एक प्रकार का छल-छद्म है। दूसरे के किसी काम का नहीं है। इसलिए श्रीमहाप्रभुजी उसे 'स्वेदजा' बता रहे हैं।

योग, चित्त को एकाग्र करनेवाला है। तप और ज्ञान, ध्यान नहीं है। तप और ज्ञान में श्रम है, अनुभव नहीं। योग अनुभव प्रदान करनेवाला है। ध्यान अनुभव करानेवाला है। जब आप योग कर रहे हैं, जब आप ध्यान कर रहे हैं तो आपको कुछ वास्तविक अनुभव होगा। योग और ध्यान की प्रक्रिया के कारण निश्चयकारक अनुभव होगा, जिससे आपको ताजगी मिलेगी और जिसमें किसी प्रकार के छल-छद्म के लिए अवकाश नहीं है।

यद्यपि पंच सितारा होटलों में अधिक प्रदूषण नहीं होता इसलिए उनकी गरिमा अधिक है तथा तपोज्ञान की भी निश्चित गरिमा है परन्तु वह सब आपके स्वयं के लिए है। तप और ज्ञान से दूसरों को लाभ मिलना बहुत कठिन है। तप

ऐसी प्रक्रिया है कि आप तप कर रहे हैं तो उसमें दूसरा क्या कर रहा है? जब तक उस तप में से आप दूसरा तप नहीं कर रहे – दूसरे तप की बात को इस प्रकार समझें कि आप पहाड़ पर चढ़े, आपने एवरेस्ट पर चढ़ने का तप किया और चढ़ने का वर्णन आपने किसी और के समक्ष किया तो दूसरा उसमें क्या करेगा? हाँ, यदि आपने तप के अतिरिक्त उस सम्पूर्ण पहाड़ का ध्यान से अनुभव किया है तो आपमें संवेदनशीलता है कि केवल पहाड़ पर चढ़ने का श्रम नहीं किया अपितु उसका उस प्रकार से अनुभव भी कर सकते हैं।

जैसे ये शेरपा लोग बेचारे श्रम करके ऊपर जाते हैं। तेनसिंग इसी प्रकार गया था। सही अर्थ में तो हिलेरी गया था। वह एवरेस्ट पर चढ़ने वाला ध्यान-योगी था और तेनसिंग क्या था? वह तपोज्ञानादि भाव से 'स्वेदजा' था। जब वह एवरेस्ट पर चढ़ा तो बाद में हिलेरी ने अपने पर्वतारोहण का इतिवृत्त लिखा। उसके लिखने के बाद किसी ने तेनसिंग को प्रेरित किया कि भाई, उसकी पुस्तक बहुत बिक रही है तो तुम अपने अनुभव क्यों नहीं लिखते। शेरपा बेचारा जितने अनुभव लिख सकता था उसने उतने लिखे। वास्तव में वह श्रम करने गया था, खूबसूरती का आनन्द लेने नहीं गया। अत: तप और ज्ञान का भाव, श्रम का भाव है और योग और ध्यान का भाव अनुभूति का भाव है। उस अनुभूति के भाव को आप सीधे तरीके से इस प्रकार समझ सकते हैं।

एक व्यवसायिक कलाकार मेहनत करके कोई कलात्मक निर्माण कर रहा है और एक दूसरा कलाकार अपने कलात्मक स्नेह के कारण कोई कलात्मक निर्माण कर रहा है तो उसकी कृति में उसका कुछ अनुभव बोल रहा होगा। सम्भव है कि वह अपनी अनुभूति को सुष्ठुरूप से व्यक्त न कर सके परन्तु उसके निर्माण में अनुभूति अवश्य छलकेगी जैसे फिल्मी गीतों में गायक कलाकार होते हैं। उनको संकेतपद्धति उपलब्ध कराई जाती है। उसका उनको इतना अच्छा अभ्यास होता है कि वे निष्णात की भाँति बजा लेते हैं। यह श्रम का भाव है, कला का भाव नहीं।

अत: कलाकार मजदूर भी हो सकता है और कलाकार वस्तुत: एक कलाकार भी हो सकता है। कलाकार में कला भी होती है और कौशल भी होता है। कौशलवाला कलाकार, तपोज्ञान है। कदाचित् कलायुक्त कलाकार ऐसा नहीं भी कर सके।

मुझे पण्डित जसराजजी ने एक दिन बहुत सुन्दर बात कही कि बाबा, जिस प्रकार लता और ये दूसरे मंचीय कलाकार गा सकते हैं उस प्रकार हम नहीं गा सकते। एक बार गीत सुन लेने पर वे तुरन्त गा सकते हैं, वैसे हम नहीं गा सकते। क्योंकि हम जैसे कलाकारों में वैसा कौशल नहीं है जैसा इन गायक और संगीत के साज बजानेवालों में होता है क्योंकि वे कौशलयुक्त होते हैं। उनको धुन का प्रकार बताया नहीं कि वे फटाफट शुरू कर देते हैं परन्तु कलाकारी के नाम पर उनके पास कुछ नहीं होता और हमारे पास कला के नाम पर बहुत कुछ होता है हम इतने कौशलयुक्त नहीं होते कि आप कहें और तुरन्त प्रस्तुति दे दें, पुन: प्रस्तुति कर दें। अत: जब पण्डित जसराज जैसे महान गायक यह बात स्वीकार करते हैं तो तात्पर्य यह है कि गायन में कुछ तो अन्तर है।

इसलिए जो कौशल से गाते हैं या जिनके गाने में कौशल है और जिनके गाने में कला है, उन दोनों में अन्तर तो है। सारत: योग और ध्यान कला है तथा तप और ज्ञान कौशल है। इस संदर्भ में इसीलिए अपने यहाँ हिन्दी में ''कला और कौशल'' वाक्यांश का बहुधा प्रयोग होता है। एक कौशल है और एक कला है। तपोज्ञान 'कौशल' है, कला नहीं और योग एवं ध्यान 'कला' है। कदाचित् कौशल कम हो।

पंडितजी स्वयं स्वीकार करते हैं कि उन लोगों को जैसे ही रचना करके बताया जाता है वैसे ही वे तुरन्त गा देते हैं। इस प्रकार हम नहीं गा सकते। मूड बनने में थोड़ा समय लगेगा। किशोरी अमोनकर को तो गला गर्म होने में ही

लगभग आधा घण्टा लग जाता है और जो कौशलयुक्त गानेवाले होते हैं उनको मंच पर खड़ा करते ही तुरन्त गाना शुरू कर देते हैं। उनको गला गर्म करने की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि वे दक्ष होते हैं। उनके पास कौशल होता है। वे आते ही तुरन्त गा सकेंगे, हम उनकी तरह नहीं गा सकते। अतः तपोज्ञान और योग-ध्यान में यह मूल अन्तर है। योग-ध्यान एक कला है और तपोज्ञान एक कौशल है।

(''ह्लादुनीभ्यः स्वाहा'' वचनोक्तजलसदृशः त्रयोदशो ज्ञानमार्गीय-मुमुक्षु-प्रवक्तुः भावः)

ह्लादुनीभ्यः स्वाहा वचन में कहे गए जल जैसे ज्ञानमार्गीय-मोक्षकामी प्रवक्ता का भाव।

अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर् गुणाः।
कादाचित्काः शब्दागम्याः पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः।।9।।

अन्वयार्थ :

अलौकिकेन = अलौकिक से
ज्ञानेन = ज्ञान से (**युक्ता** = युक्त)
कादाचित्काः = कभी-कभी होनेवाले,
तु = तो
शब्दगम्या = शब्द से जाने जाते
ये = जो
हरे : = हरि के
गुणाः = गुण (**ते** = वो)
प्रोक्ताः = गाए जाते हैं
पतच्छब्दाः = गिरने से होनेवाली आवाज

प्रकीर्तिताः = कहे जाते हैं

भावार्थ : महदनुग्रहपूर्वक प्राप्त किए गए अलौकिक ज्ञान से, कदाचित् प्रतीत होनेवाले और वेद से जानने में आनेवाले, प्रभु के गुणों को कहनेवाले (वक्ताओं) का भाव पर्वतादि से गिरते हुए झरने जैसा होता है।

व्याख्या :

जिसे हम जल-प्रपात कहते हैं वह ज्ञानमार्गीयमुमुक्षु का भाव है जो गरज रहा है, जल बहुत 'ह्लादन' कर रहा है, खूब आवाज उत्पन्न कर रहा है तो ''अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर् गुणाः'' अलौकिक ज्ञान से गाए जानेवाले हरि के गुण हैं और ''कादाचित्काः शब्दगम्या'' कभी-कभी शब्द से जाने जा सकनेवाले प्रतीत होते हैं परन्तु जलप्रपात बारह महीने नहीं होता, नायग्रा जैसे की बात अलग है अन्यथा जलप्रपात वर्षाऋतु में होता है और वर्षा समाप्त होने पर पूरी तरह शान्त हो जाता है।

यहाँ घाट पर जा कर देख लें, प्रपात बहता है तो बहुत आवाज करता है। इसी प्रकार जिसको अलौकिक ज्ञान है वह कथा करने बैठेगा तो बहुत आवाज करना शुरू करेगा परन्तु कथा के साथ उसका तालमेल बैठना बहुत कठिन है। इसलिए ''पतच्छब्दाः'' अर्थात् गिरते समय शब्द उत्पन्न करनेवाला, गिरे तो बहुत शोर-शराबा करे, चारों तरफ हो-हल्ला हो जाए। हाँ बोला, बोला, बोला परन्तु वह सर्वदा बोलता ही नहीं रहेगा क्योंकि वह ज्ञान का भाव है। उसमें जितनी ज्ञान की मस्ती है उतनी मस्ती उसकी अपनी कथा में नहीं है - यह बता रहे हैं।

(''पृष्वाभ्यः स्वाहा'' वचनोक्तजलसदृशः चतुर्दशः उपासनामार्गीय-मुमुक्षु-प्रवक्तुः भावः)

यहाँ उपासनामार्गीयमुमुक्षु के भाव की 'पृष्वा' अर्थात् ओस के जल के

साथ तुलना करते हैं।

देवाद्युपासनोद्भूताः पृष्वा भूमेर् इवोद्गताः।

अन्वयार्थ :

देवाद्युपासनोद्भूताः = देवों आदि की उपासना से उत्पन्न
भूमेः = भूमि से
उद्गताः = उत्पन्न होनेवाले
इव = जैसे
पृष्वाः = ओस के जल जैसे

भावार्थ : देवादिकों की उपासना से उत्पन्न होनेवाले भाव पृथ्वी से निकले जल बुद्बुद् अथवा हिमकण के समान होते हैं।

व्याख्या :

यहाँ श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा कर रहे हैं कि अन्य देवों की उपासना करके कृष्ण की कथा करने बैठ जाएँ तो उसका ज्ञान ओस के जल जैसा है। देव आपका कोई और है तथा आप कृष्णकथा कर रहे हैं तो आप पर जल बहुत शुद्ध छलक रहा है परन्तु सूर्योदय होते ही जल का वाष्पीकरण हो जाता है। वह कथा में चिरस्थायी नहीं रह सकेगा। जल का आभास मात्र हो रहा है।

आप कृष्णभक्त कहाँ हैं? आप तो जिस देव के उपासक हैं उसकी उपासना में कथा पूरी होते ही पुनः तल्लीन हो जानेवाले हैं। इसलिए हम जिस समय उसकी कथा से यह समझते हैं कि कृष्ण को भजना है, तबतक तो वह वहाँ है ही नहीं, वह किसी अन्य देव की उपासना में लगा हुआ है। अतः वह ऐसा आभास देता है मानो जमीन में से उभरे हुए जल के बिन्दु हैं परन्तु वास्तव में वे जमीन में से निकले जल बिन्दु नहीं हैं बल्कि ओस की प्रक्रिया के कारण

उत्पन्न हुए बिन्दु हैं।

जैसे ठण्डे जल का गिलास लें तो गिलास के बाहर की तरफ एक प्रकार की 'पृष्वा' उत्पन्न हो जाती है। बर्फ के ठण्डे जलवाला गिलास लें तो जैसे अन्दर ठण्डा जल है वैसी ही बाहर गिलास पर पृष्वा उत्पन्न हो जाती है। वह प्यास नहीं बुझा सकती परन्तु ऐसा आभास होता है जैसे जल चाँदी के, स्टील के गिलास से उत्पन्न हुआ है। वह चाँदी और स्टील से उत्पन्न नहीं हुआ है बल्कि चाँदी और स्टील के ऊपर उत्पन्न हुआ है। ऐसा 'देवोद्युपासनोद्भूता'– भगवत्कथा का भाव 'पृष्वा' जैसा है अर्थात् ओस के जल जैसा भाव है। श्रीमहाप्रभुजी ने यहाँ बहुत विलक्षण सम्बन्ध बताया है।

(''स्यन्दमानाभ्यः स्वाहा'' वचनोक्तजलसदृशः पञ्चदशः उपासनामार्गीय-मुमुक्षु-प्रवक्तुः भावः)

यह मर्यादाभक्ति के वक्ता का भाव है।

साधनादिप्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः।।10।।
प्रेमपूर्त्या स्फुरद्धर्माः स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः।

अन्वयार्थ :

साधनादिप्रकारेण = साधनादि के प्रकार से (**युक्तत्वात्** = युक्त होने से)
नवधाभक्तिमार्गतः = नवधाभक्तिमार्ग से
प्रेमपूर्त्या = प्रेम से परिपूर्ण हो
स्फुरद्धर्माः = जिसको भगवान के धर्म स्फुरित हुए हैं, वे
स्यन्दमानाः = निर्झर के जल के समान
प्रकीर्तिताः = कहे गये हैं

भावार्थ : वर्णाश्रमादिधर्मरूप साधनपूर्वक नवधाभक्तिरूप मार्ग से प्रेमपूर्ण होने

से, जिनको प्रभु के धर्म स्फुरित होते हों उनका भाव पर्वतादि से गिरते हुए जल के तुल्य है।

व्याख्या :

जिस साधनादिक प्रकार से, नवधाभक्तिमार्ग से, प्रेमपूर्ति से प्रेम उसके भीतर छलक रहा है और उस परिपूर्ण हुए प्रेम के कारण उसका कथा का धर्म छलक रहा है तो वह 'स्यन्दमानाः' अर्थात् बहती नदी की कथा है। यह मर्यादाभक्ति का भाव है इसलिए उपासना कहा है। अर्थात् हम ऐसा न समझ जाएँ कि प्रेम और नवधाभक्ति केवल पुष्टिमार्ग का एकाधिकार है, मर्यादामार्ग में भी यह सम्भव है। कई मर्यादाभक्त नवधाभक्ति की प्रक्रिया से बहुत अच्छी कथा करते हैं, नहीं करते ऐसी बात नहीं है। इसे नदी जैसा भाव कहा गया है। सद्य बहती नदी कैसी होती है? 'स्यन्द' अर्थात् बहना और 'स्यन्दमानाः' अर्थात् बहती नदी।

('' स्थावराभ्यः स्वाहा'' वचनोक्तजलसदृशः षोडशः उपासनामार्गीय-मुमुक्षु-प्रवक्तुः भावः)

यह सोलहवाँ भाव उपासनामार्गीय-मुमुक्षु का भाव है।

यादृशास् तादृशाः प्रोक्ता वृद्धि-क्षय-विवर्जिताः।।11।।
स्थावरास् ते समाख्याता मर्यादैक-प्रतिष्ठिताः।

अन्वयार्थ :

यादृशाः = जिस प्रकार के
प्रोक्ताः = कहे गए
तादृशाः = उस प्रकार के (**यदि** = जो)
वृद्धि-क्षय-विवर्जिताः = वृद्धि और क्षय से रहित
मर्यादैक-प्रतिष्ठिताः = केवल मर्यादा में स्थित

(**भवेयुः** = हों, **तर्हि** = तो) **ते** = वे
स्थावराः = स्थिर जल जैसे
समाख्याताः = कहे जाते हैं।

भावार्थ : आगे जो वक्ता कहे गए हैं उनका प्रेम, वृद्धि-ह्रासयुक्त कहा गया है। वृद्धि और क्षय जिनके भगवत्प्रेम में नहीं होता और जिनका केवल मर्यादा में ही अंगीकार है, उनका भाव स्थावरजल के तुल्य है।

व्याख्या :

नदी में एक कठिनाई कही गई है। वह क्या है? कहते हैं कि उसमें वर्षा में बाढ़ आ जाती है और गर्मी में थोड़ा सूख जाती है। बहती भी है तो झीनी धारा से बहती है। ऐसे साधनादि प्रकार से नवधाभक्तिमार्गीय वक्ता के भाव में कभी बाढ़ आएगी।

''भावभगति भादो नदी आवत ही गहराय, गहराई तब जानिए जब जेठ मास ठहराय'' अर्थात् ऐसी गहराई उसमें प्रकट हो जाएगी परन्तु ज्येष्ठ मास तक टिकनेवाली बात मर्यादा के कारण कुछ कठिन है। यहाँ मर्यादा का एक दूसरा पक्ष भी प्रकट होता है कि ''यादृशास् तादृशाः प्रोक्ता वृद्धि-क्षय-विवर्जिताः'' - जो विशाल 'ह्रद' होते हैं वे कभी वर्षा के समय छलकते नहीं हैं। अब तो ऐसे बड़े-बड़े तालाब छोटे होते जा रहे हैं।

जैसे कांकरोली में रायसागर है, पुराने जमाने में ऐसे बड़े-बड़े तालाब कई जगह थे अर्थात् सागर जैसे तालाब थे। ''स्थावरास् ते समाख्याता मर्यादैक-प्रतिष्ठिताः'' सदैव अपनी मर्यादा में रहनेवाले जो 'स्थावर' हैं वे सदा विश्वसनीय होते हैं, कभी धोखा नहीं देते। वे गहरी नदी जैसे होते हैं जो कभी धोखा नहीं देते। इसी प्रकार मर्यादा में स्थित 'स्थावर' भाव भी एक भाव है।

(''नादेयीभ्यः स्वाहा'' वचनोक्तजलसदृशः सप्तदशः उपासनामार्गीय-मुमुक्षु-प्रवक्तुः भावः)

उपासनामार्गीय प्रवक्ता का भाव।

अनेक-जन्म-संसिद्धा जन्म-प्रभृति सर्वदा।।12।।
सङ्गादि-गुण दोषाभ्यां वृद्धि-क्षययुता भुवि।
निरन्तरोद्गमयुता नद्यस् ते परिकीर्तिताः।।13।।

अन्वयार्थ :

अनेकजन्मसंसिद्धाः = अनेक जन्म से उत्तम सिद्धि को प्राप्त
जन्मप्रभृति = जन्म से ले कर
भुवि = पृथ्वी में, **सर्वदा** = सदैव
सङ्गादिगुणदोषाभ्यां = संग इत्यादि गुण-दोषों से
वृद्धि-क्षययुताः = वृद्धि और क्षयवाले (**किंच** = और)
निरन्तरोद्गमयुताः = निरन्तर जन्म लेनेवाले
(ये व्याख्यातृगुणाः = व्याख्या करनेवालों के गुण **)**
ते = वे, **नद्यः** = नदी समान
परिकीर्तिताः = कहे जाते हैं

भावार्थ : अनेक जन्म से भलीभाँति सिद्ध हुए गुणवाले तथा जन्म से ही सत्संग और दु:संग के गुण एवं दोष के कारण प्रेम की वृद्धि और ह्रासवाले तथा निरन्तर जन्म लेनेवाले के भाव नदी के तुल्य हैं।

व्याख्या :

'स्यन्दमाना' अर्थात् छोटी बहती हुई नदी तथा ऐसी नदी जिसका अपना कोई उद्गम स्थान है जो उसे निरन्तर जल उपलब्ध कराता है। दिन-प्रतिदिन यह स्थिति भी अब कम होती जा रही है वरना पुराने समय में बहुत

नदियाँ थीं। जैसे अभी भी महाबलेश्वर के घाट पर जाएँ तो वहाँ कई नदियों के उद्गमस्थल हैं। अपने उद्गमस्थल से उनको जल मिलता ही रहता है। वे 'स्यन्दमाना' होती हैं परन्तु कभी गर्मी में सूखती नहीं हैं।

इस प्रकार 'निरन्तरोद्गमयुता' - जिनका उद्गम निरन्तर है ऐसा भी एक उपासनामार्गीयभाव है। उस उपासनामार्गीयभाव में उसका निरन्तर कथा का भाव कभी घट-बढ़ सकता है परन्तु कभी धोखा नहीं देता।

(''सैन्धवीभ्यः स्वाहा'' वचनोक्तजलसदृशो अष्टादशो भक्तिमार्गीय-मुमुक्षु प्रवक्तुः भावः)

भक्तिमार्गीय मोक्षकामी प्रवक्ता का भाव।

एतादृशाः स्वतन्त्राश् चेत् सिन्धवः परिकीर्तिताः।

अन्वयार्थ :

एतादृशाः = ऐसे
चेत् = जो
स्वतन्त्राः = स्वतन्त्र हों (**तर्हि** = तो)
सिन्धवः = बड़ी नदी जैसे
परिकीर्तिताः = कहे जाते हैं

भावार्थ : पूर्व श्लोक में कहे गए भाव यदि स्वतन्त्र (उपाधिरहित स्वयं के ही) हों तो वे स्वत: समुद्र में जानेवाली नदी के तुल्य हैं।

व्याख्या :

एक नदी होती है और एक नद होता है। जैसे ब्रह्मपुत्र नदी नहीं है। आप लोगों को ध्यान हो तो उसे 'नद' कहा जाता है। इसी प्रकार सिन्धु भी नदी नहीं है। हिमालय के तिब्बत के पठार में से एक तरफ से ब्रह्मपुत्र नद बहता है और

दूसरी तरफ से सिन्धु नद बहता है। ये दोनों नदी नहीं बल्कि नद हैं। बहुत विशाल जल है। इनमें इतना जल है जिसका कोई पार नहीं है। इस प्रकार जो स्वतन्त्र है उसको सिन्धु कहा जाता है।

आज हम सिन्धु का अर्थ समुद्र समझते हैं परन्तु इस विशाल नदी को सिन्धु कहा जाता था और उस कारण आज भी सिन्धु को 'सिन्ध' कहा जाता है। क्योंकि सिन्धु यहाँ से बहती थी तथा यहीं से ब्रह्मपुत्र बहती थी। वे दोनों 'नद' हैं इसलिए ''सिन्धव: परिकीर्तिता:'' - वे स्वतन्त्र हैं, किसी पर अवलम्बित नहीं हैं।

नदी छोटी होती है जिसको तैर कर सामने किनारे पर जा सकते हैं। नद को कोई मनुष्य जल्दी से तैर नहीं सकता। बड़ा पाट होता है, बड़ा प्रवाह होता है। प्राय: आप असम जा कर ब्रह्मपुत्र को देखेंगे तो खयाल आएगा। सिन्धु तो मैंने देखा नहीं पर सिन्धु भी ऐसा ही नद होगा। नदी छोटी होती है और नद बहुत बड़ा होता है, वह सागर की भाँति बहता है, दूसरे शब्दों में बहता सागर है। इस प्रकार समझें कि बहते सागर को 'नद' कहते हैं और बहती बड़ी नदियाँ जिनका निरन्तर उद्गम है वे सब नदियाँ हैं तथा बरसाती नदी जो खूब बहती रहती है और बाद में सूख जाती है उसे 'स्यंद' कहते हैं। इसके पश्चात् मुक्त जीव आ रहे हैं।

(''समुद्रीयाभ्य: स्वाहा'' वचनोक्तजलसदृश: एकोनविंशतितमो विमुक्त प्रवक्तृणां भावा: भगवत: लोकवेदप्रसिद्धाप्रसिद्धमिश्रगुणानां वर्णेन क्षारादिपंचसमुद्रजलसदृशा: पंचविधा:, विमुक्तेषु हि भगवत: सच्चिदानन्दात्मकाप्राकृत-गुणवर्णनकर्तृणाम् अत्युत्तमानां प्रवक्तृणां अमृतोदधिजलसदृशो भावश्च)

अब समुद्रसदृश विमुक्तजीव का उन्नीसवां भाव है जो भगवान के लोकवेद प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध सभी गुणों का एक साथ वर्णन कर सकता है।

उसमें क्षारादि जल के जो पाँच समुद्र हैं उनके वैसे ही पंचविध भाव हैं एवं एक अमृतोदधि माना जाता है। इस प्रकार छ: प्रकार के सागर कहे गए हैं। इनमें से अमृतोदधि में भगवान शयन करते हैं जो छठा सागर है - विमुक्त की पराकाष्ठा। यहाँ श्रीमहाप्रभुजी विमुक्तों का वर्णन कर रहे हैं।

पूर्णा भगवदीया ये शेष-व्यासाग्नि-मारुता: ।। 14 ।।
जड-नारद-मैत्राद्यास् ते 'समुद्रा: ' प्रकीर्तिता: ।
लोक-वेद-गुणैर् मिश्र-भावेनैके हरेर् गुणान् ।। 15 ।।
वर्णयन्ति समुद्रास् ते क्षाराद्या: षट् प्रकीर्तिता: ।
गुणातीततया शुद्धान् सच्चिदानन्दरूपिण: ।। 16 ।।
सर्वानेव गुणान् विष्णोर् वर्णयन्ति विचक्षणा: ।
तेऽमृतोदा: समाख्यातास् तद्वाक्यानं सुदुर्लभम् ।। 17 ।।
तादृशानां क्वचिद् वाक्यं दूतानामिव वर्णितम् ।

अन्वयार्थ :

शेषव्यासाग्निमारुता: = सङ्कर्षण, व्यास, अग्नि, वायु
जडनारदमैत्राद्यस: = जड़भरत, नारद, मैत्रेय आदि
ये = जो, **पूर्णा:** = पूर्ण
भगवदीया: = भगवदीय
ते = वे, **समुद्रा:** = समुद्र
प्रकीर्तिता: = कहे जाते हैं

एके = कितने ही
लोकवेदगुण: = लोक और वेद के गुणों से
(किंच = और)
मिश्रभावेन = मिश्रभाव से
हरे: = हरि के

गुणान् = गुणों का
वर्णयन्ति = वर्णन करते हैं
ते = वे, **क्षाराद्याः** = खारे आदि
षट् = छः, **समुद्राः** = समुद्र
प्रकीर्तिता = कहे जाते हैं

ये = जो, **विचक्षणाः** = बुद्धिमान
गुणातीततया = गुणातीतरूप से
शुद्धान् = शुद्ध
सच्चिदानन्दरूपिणः = सच्चिदानन्द स्वरूपवाले,
विष्णोः = विष्णु के
सर्वान् = सब, **एव** = ही
गुणान् = गुणों का
वर्णयन्ति = वर्णन करते हैं
ते = वे, **अमृतोदाः** = अमृतजल
समाख्याताः = कहे गये हैं
तत् = उनकी, **वाक्पानं** = वाणी का पान
सुदुर्लभम् = अत्यन्त दुर्लभ है

तादृशानां = ऐसे (भगवदीयों) के
वाक्यं = वाक्यों को, **क्वचित्** = कभी
दूतानां = सन्देशवाहक के
इव = जैसे, **वर्णितं** = वर्णन किया है

भावार्थ : शेष, व्यास, अग्नि, हनुमान, जडभरत, नारद, मैत्रेय प्रभृति जो पूर्णभगवदीय हैं, उनको समुद्र कहा गया है।

कितने ही वक्ता लोकमिश्रभाव से, वेदमिश्रभाव से और गुणमिश्रभाव से प्रभु के गुणों का वर्णन करते हैं। वे क्षारादि षट्समुद्र के तुल्य हैं।

जो विचक्षणवक्ता गुणातीत, सच्चिदानन्दरूप प्रभु के सभी गुणों को जान कर उन सब भगवद्गुणों का वर्णन करनेवाले हैं वे अमृत के समुद्र तुल्य हैं। उनकी वाणी का पान (श्रवण) अत्यन्त दुर्लभ है।

ऐसे भगवदीयों की प्रसन्नतायुक्त आज्ञा भगवान के दूत की आज्ञा के समान कही गयी है।

व्याख्या :

शेष, व्यास, अग्नि, हनुमान, जडभरत, नारद और मैत्रादि ये सब समुद्र जैसे ऋषि हैं, देव हैं। किसी कारण से जिन्होंने भगवद्गुणगान नहीं किया, अपनी विमुक्ति के आनन्द में उनकी समुद्र की भाँति कोई दिशा नहीं है क्योंकि समुद्र बहता नहीं, समुद्र लहराता रहता है, इसी प्रकार इन ऋषियों में भगवद्गुणगान की लहरें अपने तरीके से ही आती रहती हैं। शेष, व्यास, अग्नि, हनुमान, जडभरत, नारद और मैत्रादि ऋषि लहराते सागर की भाँति हैं। उन्हें 'समुद्राः प्रकीर्तिताः' कहा है। वे क्या करते हैं?

''लोक-वेद-गुणैर् मिश्र-भावेनैके हरेर् गुणान्, वर्णयन्ति समुद्रास् ते क्षाराद्याः षट् प्रकीर्तिताः'' - भगवान के लोक में अवतीर्ण होने के गुणों का भी वे वर्णन कर सकते हैं। भगवान लोक में अवतीर्ण न हों तब भी भगवान के गुणों- अर्थात् मूलरूप में जो गुण हैं ऐसे वेद के गुणों - का भी वर्णन कर सकते हैं। दोनों का मिश्रण करके भी हमें बताते हैं। कई बार अनेक गुणों को भी बताते रहते हैं।

क्षारादि छः समुद्र की भाँति वे - ''गुणातीततया शुद्धान् सच्चिदानन्दरूपिणः'' - कभी भगवान के गुणों का कुछ लौकिक वर्णन भी

करते हैं तो लौकिक गुणों के रूप में वर्णन नहीं करते वरन् लोक में प्रकट भगवान के अलौकिक गुणों का वर्णन करते हैं। इसलिए गुणातीत वर्णन करते हैं। शुद्ध सच्चिदानन्दरूप भगवान के गुणों का वर्णन करते हैं।

''सर्वानेव गुणान् विष्णोर् वर्णयन्ति विचक्षणाः'' – हरि के सभी गुणों का वर्णन करने में वे विचक्षण हैं। ''तेऽमृतोदाः समाख्यातास्'' – वे अमृत का सागर हैं। ''तद्वाक्पानं सुदुर्लभम्'' उनका वाक्पान (वाणी का पान) सुदुर्लभ है। ''तादृशानां क्वचिद् वाक्यं दूतानामिव वर्णितम्'' – उनके वाक्य यदि हमें सुनाई दें तो यह वैसा ही है जैसे भगवान के किसी दूत ने आ कर हमें कोई बात सुनाई हो वैसे, सीधा हमारे हृदय पटल पर अंकित हो जाते हैं।

उनकी कथा हमारे जैसी कथा नहीं होती कि निरन्तर बड़बड़ाध्याय करते हों। किसी पर कोई असर ही न हो, उनकी कथा ऐसी नहीं है। उनके मुख से एक बार भी हमने कथा सुन ली तो सम्पूर्ण जीवन बदल जाएगा क्योंकि उसका सामर्थ्य इतना है, उनके भाव का, उनकी समझ का, हरि को अनुभव करने का उनका प्रभुत्व इतना है कि ''तादृशानां क्वचिद् वाक्यं'' – मानो भगवान आपको कोई निजी सन्देश भेज रहे हैं। इस सामर्थ्य से वे आपको भगवद्गुणगान, भगवत्कथा सुनाएंगे।

(अमृतोदधिसमानां भगवद्गुणप्रवक्तृणां कथायां कश्चन विशेषेण ज्ञातव्यो विषयः)

अमृतोदधि जैसे भाववाले भगवद्गुणों के प्रवक्ता की एक अधिक विशेषता श्रीमहाप्रभुजी बहुत ही सुन्दररूप में बता रहे हैं।

अजामिलाकर्णनवद् बिन्दुपानं प्रकीर्तितम्।।18।।
रागाज्ञानादिभावानां सर्वथा नाशनं यदा।
तदा लेहनम् इत्युक्तं स्वानन्दोद्गमकारणम्।।19।।

अन्वयार्थ :

(तथा = और) **अजामिलाकर्णनवत्** = जिस प्रकार अजामिल ने सुना उस प्रकार से, (**तच्छ्रवणमपि** = उसका श्रवण भी)
बिन्दुपानं = बिन्दुपान के समान
प्रकीर्तितं = कहे गए हैं, **यदा** = जब
रागाज्ञानादिभावानां = राग, अज्ञान आदि भावों का
सर्वथा = सब प्रकार से
नाशनं = नाश, **तदा** = तब
(तद्वाक्पानं = उनकी वाणी का पान **)**
स्वानन्दोद्गमकारणं = अपने आनन्द के उद्गम का कारणरूप बनते हैं
(**इति हेतोः** = इस कारण से) **लेहनं** = चाटना
इति उक्तं (भवति) = ऐसे कहा जाता है

भावार्थ : (श्लोक की पूर्व पंक्ति में कहे गए भगवदीयों के) वाक्यों का श्रवण अमृतबिन्दु के समान है। जैसे अजामिल ने भगवद्दूतों के वाक्यों का श्रवण किया था उसी भांति उनके वाक्यों का श्रवण अमृतबिन्दु के पान के तुल्य है।

राग (विषयादि में प्रीति) और अज्ञानादि भाव का जब नाश होता है तब स्वरूपानन्द को प्रकट करता है, उसको 'लेहन' कहा है।

व्याख्या :

अजामिल को जैसे नारायण के दूतों ने संवाद सुनाया था तो वह बिन्दुपान था और राग तथा अज्ञान का भाव यदि कथा सुनने से सर्वथा नष्ट हो जाता हो तो वह ''तदा लेहनम् इत्युक्तम्'' – आलेहन कहा जाएगा। यहाँ 'लेहन' भी हो सकता है और 'आलेहन' भी हो सकता है। मुझे व्यर्थ में जोड़ना उचित नहीं लगा। संस्कृत के अनुसार आलेहन भी हो सकता है – ''तदा

आलेहनं इत्युक्तम्'' अथवा लेहनम् भी हो सकता है। 'आलेहन' अर्थात् भलीभाँति स्वाद ले कर चाटना और जीभ पर लेहन अर्थात् उसका स्वाद लेना - जैसे च्यवनप्राशावलेह आता है। अवलेहन अर्थात् जिसका हम जीभ पर स्वाद महसूस कर सकते हैं। इस प्रकार जब राग और अज्ञान अर्थात् सांसारिक विषयों का राग और भगवद्विषयक अज्ञान जिससे निवृत्त हो सके उस प्रकार से जब आप उसकी कथा सुनते हैं तो आपको 'लेहन' अथवा 'आलेहन' होगा। ''स्वानन्दोद्गम कारणम्'' - उस समय आपके हृदय में स्थित भगवदानन्द लहराने लगेगा।

''आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेत्'' - जो सिद्धान्तमुक्तावली में बताया गया है उसी प्रकार ''स्वानन्दोद्गम कारणम्'' - बाहर के आनन्द की आपको आवश्यकता नहीं रहेगी। आपने एक बार उनसे कथा सुन ली तो आप खिल जाएंगे। आपको किसी की आवश्यकता नहीं रहेगी। आपके हृदय में ऐसा भगवदानन्द, ऐसा भावानन्द प्रकट होगा कि फिर आपको किसी की भी आवश्यकता नहीं रहेगी।

(''सर्वाभ्यः स्वाहा'' वचनोक्तजलसदृशो विंशतितमो विप्रकीर्णो भावः)

विप्रकीर्ण अवर्गीकृत सभी भावों को ''सर्वाभ्यः स्वाहा'' कह कर श्रीमहाप्रभुजी बीसवां भाव कह रहे हैं।

उद्धृतोदकवत् सर्वे पतितोदकवत् तथा।
उक्तातिरिक्त-वाक्यानि फलं चाऽपि तथा ततः।।20।।

अन्वयार्थ :

उक्तातिरिक्तवाक्यानि = कहे गये वचनों से अलग वाक्य, **तथा** = और
सर्वे = सब, **उद्धृतोदकवत्** = बाहर निकाले गए जल की तरह

(**च** = और)
पतितोदकवत् = पतित जल की तरह
(तेषां = उनका**)** **फलं** = फल
अपि = भी
ततः = उस कारण से, **तथा** = वैसा

भावार्थ : पूर्व में कहे गए भावों से युक्त वाक्य अथवा उनके कहनेवाले वक्ता, ये सब पात्र में निकाले हुए अथवा भूमि पर गिरे हुए जल की भाँति हैं। अर्थात् निकाला गया जल जिस प्रकार पात्र के अनुसार हो जाता है वैसे ही उनका भाव भी उनके अनुसार हो जाता है। ऐसे वाक्यों अथवा भावों का फल भी वैसा ही अर्थात् अल्प ही होता है।

व्याख्या :

विप्रकीर्ण भाव को किस प्रकार समझना? जैसे कुएँ में से हमने जल भर लिया, वह जब तक कुएँ में था तब तक तो कुएँ के गुणों को ग्रहण किए हुए था परन्तु आपने डोलची में भरा तो वह डोलची का जल हो गया, बाल्टी में भरा तो बाल्टी का हो गया, गागर में भरा तो गागर का हो गया, अंजलि में भरा तो अंजलि का जल हो गया।

वह जल ''उद्धृतोदकवत्'' की भाँति अपवित्र होता है। ''पतितोदकवत् तथा'' अर्थात् गिरे हुए जल की भाँति अपवित्र हो जाता है। कई स्थानों पर कई प्रकार से जल गिरता रहता है। नदी का जल भी कभी लहराता हुआ होता है। आप बरसात के दिनों में देखें तो समुद्र का जल यहाँ मरीन ड्राईव पर आ जाता है। इस प्रकार गिरा हुआ जल, भरा हुआ जल आदि कई प्रकार हैं। पहले नल नहीं होते थे तो अब नल का जल - ये सब एक ही श्रेणी में समाहित हैं। हमने व्यर्थ ही कुएँ के जल को पवित्र माना हुआ है जबकि श्रीमहाप्रभुजी कुएँ के जल को अपवित्र मान रहे हैं।

यहाँ एक बात और ध्यान से समझें। ''उक्तातिरिक्त'' अर्थात् जो भी कहा गया है उसके अतिरिक्त वक्ता के अन्य प्रकारों को 'उद्धृतोदकवत्' और 'पतितोदकवत्' मान कर उनका फल भी ऐसा ही समझ लेना चाहिए। क्षुद्र फल है।

ग्रन्थोपसंहार :- ग्रन्थ का उपसंहार करते हैं।

इति जीवेन्द्रियगता नाना-भावं-गता भुवि।
रूपतः फलतश्चैव गुणा विष्णोर् निरूपिताः।।21।।

अन्वयार्थ :

इति = इस प्रकार से
रूपतः = रूप से
फलतः = फल से, **एव** = भी
भुवि = पृथ्वी पर
नानाभावंगताः = अनेक भावों को प्राप्त हुए
जीवेन्द्रियगताः = जीवों की इन्द्रियों में रहे हुए
विष्णोः = विष्णु के, **गुणाः** = गुण
निरूपिताः = निरूपित किए

भावार्थ : इस प्रकार स्वरूप और फल से पृथ्वी में अनेक भावों को प्राप्त तथा जीवों के मन में रहनेवाले जो श्रीहरि के गुण हैं वे हमने कहे।

व्याख्या :

इस प्रकार से जीवों की इन्द्रियों में रहनेवाले भगवान के रूपतः, फलतः जो विष्णु के गुण हैं वे जीव की इन्द्रियों में अर्थात् जीव की वाणी में, जीव के कान में जाने से जिस प्रकार के अलग-अलग गुण प्रकट करते हैं - ''नाना-

भावं-गता'' - जो अलग भाव प्रकट करते हैं उनका श्रीमहाप्रभुजी ने वर्णन किया। इस प्रकार वक्ता के भावों को बताया। हमें किस वक्ता से कथा सुननी चाहिए और किसकी कथा सुननी चाहिए - इस कथा को सुना अर्थात् समझा।

कथा किसको सुनानी, अब यह कथा आप सुनें। आगे पंचपद्यानि को ध्यान से समझें। वह श्रोता का भाव है।

।। इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितो जलभेदः सम्पूर्णः।।

॥ पञ्चपद्यानि ॥

(भक्ति[क]प्रपत्ति[ख]मार्गाधिकारभेदाभ्यां भक्तवत्कथाश्रोतृणां भेदद्वयम्। तत्र भक्तिमार्गे उत्तमाधिकारः मध्यमाधिकारः कनिष्ठाधिकारः इति त्रैविध्यम्)

मूल में श्रोता दो प्रकार के हैं - भक्तिमार्गीय श्रोता और प्रपत्तिमार्गीय श्रोता। भक्तिमार्गीय श्रोता में उत्तमाधिकार, मध्यमाधिकार और कनिष्ठाधिकार- ऐसी त्रिविधता है।

(भक्तिमार्गे [क]उत्तमाधिकारिणः[1] श्रोतुः स्वरूपम्)

भक्तिमार्गीय उत्तमाधिकारी श्रोता का स्वरूप।

श्रीकृष्णरसविक्षिप्त - मानसा रतिवर्जिता।
अनिर्वृता लोक-वेदे ते मुख्याः श्रवणोत्सुकाः ।।1।।

अन्वयार्थ :

श्रीकृष्ण-रस-विक्षिप्त-मानसाः = ऐसे भक्त जिनका मन श्रीकृष्ण के रस में विक्षिप्त रहता हो (**अन्यत्र** = अन्य कहीं)
रतिवर्जिताः = आसक्ति से रहित
लोक-वेदे = लोक और वेद में
अनिर्वृताः = आनन्दरहित
(ये = जो **) श्रवणोत्सुकाः** = श्रवण के लिए उत्सुक
ते = वे, **मुख्याः** = मुख्य हैं

भावार्थ : श्रीकृष्ण के भजनानन्दरूप रस से जिनका मन विक्षिप्त हो गया है तथा इसीलिए भगवान के चरित्रों को सुनने में अप्रीति से वर्जित अर्थात् प्रीतिवाले और लोक तथा वेद में जिनको आनन्द प्राप्त नहीं होता है, वे श्रवण में

उत्साहवाले श्रोता मुख्य हैं।

व्याख्या :

श्रीकृष्णरस से जिनका मानस विक्षिप्त है अर्थात् लौकिक आसक्ति से जिनका मानस विक्षिप्त नहीं है और लोक में जो रति वर्जित हैं, जिनकी लोक में, विषय में कहीं भी रति नहीं है - यहाँ कई टीकाकार 'अरतिवर्जिता' पाठ भी ग्रहण करते हैं परन्तु मुझे 'रतिवर्जिता' पाठ उचित लगता है तथा ''अनिर्वृता लोक-वेदे'' अर्थात् जिनको लोकवेद में कोई अधिक रुचि नहीं, भगवान में ही रुचि है अर्थात् जिन्होंने अपनी भक्ति के चतुष्कोण का अहंता-ममता के बाहर भी विस्तार किया है, ऐसे श्रोता मुख्य श्रोता हैं।

ऐसे श्रोता यदि कथा सुनाने बैठें तो कथा करनेवाले तर जाएंगे। सुननेवाले ने पहले उसे कथा सुना दी तो कथा करनेवाला तर जाएगा। सुननेवाला तरे या न तरे परन्तु सुनानेवाला तर जाएगा।

(भक्तिमार्गे [क]मध्यमाधिकारिणः[2] श्रोतुः स्वरूपम्)

भक्तिमार्गीय मध्यमाधिकारी श्रोता का स्वरूप।

विक्लिन्नमनसो येतु भगवत्-स्मृतिविह्वलाः।
अर्थैकनिष्ठास् ते चाऽपि मध्यमाः[क-2] श्रवणोत्सुकाः ।।2।।

अन्वयार्थ :

तु = और, **विक्लिन्नमनसः** = विशेषरूप से कोमल मनवाले, **(च** = और)
भगवत्स्मृतिविह्वलाः = प्रभु की स्मृति से विकल हो जानेवाले
श्रवणोत्सुकाः = सुनने में उत्साहवाले
ये = जो, **अर्थैकनिष्ठाः** = अर्थमात्र में निष्ठावाले
अपि = भी, **ते** = वे
मध्यमाः = मध्यम

भावार्थ : विशेषरूप से जिनका मन आर्द्र है, जो भगवान की स्मृति से विह्वल हैं और अर्थ में जिनकी मुख्य निष्ठा है, ऐसे श्रोताजन मध्यम कहे जाते हैं।

व्याख्या :

जो भक्तिमार्गीय मध्यमाधिकारी हैं उनका मन कभी-कभी आर्द्र हो जाता है। भगवत्स्मृति से विह्वल होने से उनको कभी-कभी भगवान का स्मरण हो आता है और जब भगवान का स्मरण हो आता है तब उनका हृदय आर्द्र हो जाता है। 'अर्थैकनिष्ठास्' - वे शब्द पर अधिक ध्यान नहीं देते वरन् अर्थैकनिष्ठ हैं। ऐसे श्रवणोत्सुक श्रोता भक्तिमार्ग की दृष्टि से पागल तो नहीं होते, भगवान के प्रेम में पागल नही होते परन्तु कभी-कभी उनको भगवान के कारण पागलपन जैसा कुछ आवेग आता है क्योंकि वे अर्थैकनिष्ठ हैं। वे शब्द पर अधिक ध्यान न देनेवाले मध्यम श्रोता हैं।

अब कनिष्ठ कौन हैं? ध्यान से समझें कि आजकल हम भागवत की कथा किसको सुनाते हैं और श्रीमहाप्रभुजी के अनुसार कनिष्ठ श्रोता कौन है, इस बात को निम्नवत् समझेंगे तो जमीन-आसमान का अन्तर समझ में आएगा।

(भक्तिमार्गे[क] कनिष्ठाधिकारिणः[3] श्रोतुः स्वरूपम्)

भक्तिमार्गीय कनिष्ठाधिकारी श्रोता का स्वरूप।

निःसन्दिग्धं कृष्णतत्त्वं सर्वभावेन ये विदुः।
ते त्वावेशात्तु विकला निरोधाद् वा न चाऽन्यथा।।3।।
पूर्णभावेन पूर्णार्थाः कदाचिन् न तु सर्वदा।
अन्यासक्तास्तु ये केचिद् अधमाः[क-3] परिकीर्तिताः।।4।।

अन्वयार्थ :

ये = जो, **कृष्णत्वं** = श्रीकृष्णरूप तत्त्व को

निःसन्दिग्धं = सन्देहरहित
सर्वभावेन = सब भाव से, **विदुः** = जानते हैं
ते तु = वे तो, **आवेशात्** = आवेश से
वा = अथवा, **निरोधात्** = निरोध से
विकलाः = विकल, **च** = परन्तु
अन्यथा = अन्य प्रकार से
न = नहीं, **तु** = और
ये = जो, **केचित्** = कोई
कदाचित् = कभी
पूर्णभावेन = पूर्णभाव से,
पूर्णार्थाः = पूर्णअर्थवाले, **तु** = तो
सर्वदा = हमेशा, **न** = नहीं
(किंच = और) **अन्यासक्ताः** = अन्य कहीं आसक्त
ते = वे, **अधमाः** = हीन
परिकीर्तिताः = कहे जाते हैं

भावार्थ : जो सन्देहरहित श्रीकृष्णरूप तत्त्व को सर्वभाव से जाननेवाले हैं वे आवेश से अथवा निरोध से ही विकल होते हैं और पूर्णभाव से पूर्ण अर्थवाले कभी-कभी ही होते हैं, सदैव नहीं होते। अन्य में आसक्तिवाले अधम कहे गए हैं।

व्याख्या :

जिनको निश्चयरूपेण विश्वास है कि ''कृष्णात्परं किमपि तत्त्वम् अहं न जाने'' - वे भक्तिमार्ग में कनिष्ठ श्रोता हैं। उनमें विकलता आवेश के कारण कभी-कभी प्रकट हो रही है अन्यथा दूसरा कोई कारण नहीं है।

''पूर्णभावेन पूर्णार्थाः कदाचित्'' – वे पूर्णभाव से पूर्णार्थ कदाचित् ही होते हैं, सदैव नहीं होते। साथ ही साथ उन्हें कुछ अन्यासक्ति भी होती है। क्योंकि वे हमेशा पूर्णभाव से पूर्णार्थ नहीं होते अर्थात् अन्य बातों में उनका मन लगा हुआ रहता है। यह श्रेणी अपने यहाँ प्राथमिक कक्षा के विद्यार्थी की है। पूर्वोक्त स्नातक और स्नातकोत्तर स्तर के विद्यार्थी हैं तथा ये प्राथमिक कक्षा के विद्यार्थी हैं।

(प्रपत्तिमार्गे ख उत्तमाधिकारिणः श्रोतुः स्वरूपम्)

प्रपत्तिमार्गीय उत्तमाधिकारी श्रोता का स्वरूप।

अनन्यमनसो मर्त्या उत्तमाः श्रवणादिषु।
देश-काल-द्रव्य-कर्तृ-मन्त्र-कर्म-प्रकारतः।।5।।

अन्वयार्थ :

(ये = जो) **मर्त्याः** = मरणशील
देश-काल-द्रव्य-कर्तृ-मन्त्र-कर्म-प्रकारतः= स्थान, काल, द्रव्य, कर्ता मन्त्र और कर्म के प्रकार से
श्रवणादिषु = श्रवणादि में
अनन्यमनसः= दृढ़ मनवाले हैं
ते= वे, **उत्तमाः**= उत्तम हैं

भावार्थ : देश, काल, द्रव्य, कर्तृ, मन्त्र और कर्म के प्रकार से जो अनन्य मनवाले हैं वे श्रवणादि में उत्तम हैं।

व्याख्या :

अब के.जी. के विद्यार्थी आ रहे हैं। ध्यान दें कि के.जी. के विद्यार्थियों का अधिकार भी कितना महान है। यहाँ प्रपत्तिमार्गविषयक निरूपण है। देश,

काल, द्रव्य, कर्ता, मंत्र, कर्म के प्रकार से जिसकी अन्य किसी वस्तु में निष्ठा नहीं, भगवान की कथा सुनने के अतिरिक्त वह प्रपत्तिमार्ग की दृष्टि से श्रवणादि में उत्तम अधिकारी है।

क्योंकि प्रपत्तिमार्ग का मूलभूत हेतु क्या है? ''**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज, अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।**'' – भगवान के सिवाय देश, काल, द्रव्य, कर्ता, मंत्र, कर्म में जिसकी साधनबुद्धि नहीं है। भगवान को ही जिसने साधन माना है और भगवान को ही जिसने फल माना है, उसमें वैसा आवेश हो या ना हो, विकलता हो या ना हो, प्रेम की विक्षिप्तता हो या ना हो परन्तु जिसकी अपनी अन्दर की अनुभूति स्पष्ट है कि प्रभु के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु मुझे सहायक नहीं होगी, वह अपने यहाँ के.जी. का श्रोता है।

उसके समक्ष भागवतकथा की जा सकती है। जो ऐसा न हो तो उसके समक्ष – यद्यपि श्रीमहाप्रभुजी ने यहाँ नहीं कहा है परन्तु भागवतार्थ निबन्ध में स्पष्ट बताया है – भागवतकथा न करें। क्योंकि जब श्रोता ही अधिकारी नहीं तो भागवतकथा सबके समक्ष करना उचित नहीं है। जो भी मिल गया उसी को भागवतकथा सुनाते हैं, सबको बुला-बुला कर पेम्फ्लेट छपा कर बुला रहे हैं। आओ, भाई आओ – ''**कहत सबन् सों आओ आओ, भेंट रूपैया लाओ लाओ**'' – ऐसे भेंट लानेवाले कोई श्रोता नहीं हैं यार, आप कुछ गलत समझ गए। जो भेंट ला रहे हैं उनमें भागवत सुनने की, कथा सुनने की, भगवद्-गुणगान सुनने की कोई योग्यता नहीं है।

यदि भगवदासक्ति है तो भगवत्सेवा और भगवत्कथा दोनों में आसक्ति होनी ही चाहिए। जैसे भगवत्सेवा में आसक्ति है तो बहुत आवश्यक नहीं है कि भगवत्कथा में भी आसक्ति हो अथवा भगवत्कथा में आसक्ति है तो अनिवार्य नहीं कि उसकी भगवत्सेवा में भी आसक्ति होनी ही चाहिए। जब भगवत्सेवा में

आसक्ति है तो उसे भगवदासक्ति तो होगी ही। ऐसे तो कुछ ही बदमाश मिलेंगे जो भगवत्सेवा में आसक्त होते हैं परन्तु भगवदासक्त नहीं होते। यह किसी न किसी पाखण्ड का रूप हो गया क्योंकि वह भगवत्कथा में आसक्त हो और भगवदासक्त न हो, सामान्यरूप से, सम्भव नहीं है। अत: कुछ पाखण्ड है।

जब तक भगवत्स्वरूप हमारे समक्ष प्रकट अनुभूत नहीं हो रहा अथवा प्रभु हमें सानुभाव नहीं जताते तब तक हमारी भगवदासक्ति, भगवत्सेवा-कथासक्ति अथवा भगवत्सेवासक्ति अथवा भगवत्कथासक्ति के रूप में ही तो होगी। इसे यों समझें कि हमें भगवदीय के सत्संग की आसक्ति है तो वह भगवदासक्ति के एक भाग के रूप में ही तो होगी! भगवदीय के सत्संग की ऐसी आसक्ति, भगवदासक्ति का हिस्सा न हो तो स्पष्ट है कि कुछ न कुछ पाखण्ड है। यही बात मैं यहाँ के प्रवचन में और सर्वोत्तमस्तोत्र के प्रवचन में समझा रहा था कि भगवदीय के सत्संग की हमें आसक्ति है परन्तु वह भगवदासक्ति से रहित है तो किसी प्रकार का पाखण्ड है। इसी प्रकार गुरु की आसक्ति भी यदि भगवदासक्ति से रहित है तो गुरु में आसक्ति कोई पाखण्ड है।

यह तो वही बात हो गई कि स्वास्थ्य में आसक्ति नहीं परन्तु डॉक्टर में आसक्ति है। अब जिसको स्वास्थ्य में आसक्ति नहीं उसकी डॉक्टर में आसक्ति का क्या तात्पर्य है? अर्थात् कुछ झमेला है वरना डॉक्टर में आसक्ति, स्वास्थ्य में आसक्ति का हिस्सा होना चाहिए। इस प्रकार जीव का स्वास्थ्य तो भगवान है, उस स्वास्थ्य में आसक्त होने के कारण औषधि में भी आसक्ति हो सकती है, यदि कोई पथ्य बताए तो उसमें भी आसक्ति हो सकती है, डॉ. जो कुछ बताए उसमें भी आसक्ति हो सकती है। ये सभी बातें स्वास्थ्य में आसक्ति के हिस्से के रूप में ही आएंगी।

जब हम यह कह रहे हैं कि हमारी इलाज कराने में बहुत आसक्ति है परन्तु स्वस्थ होने में आसक्ति नहीं है तो कुछ न कुछ चक्कर है। डॉक्टर में बहुत

आसक्ति है, इतनी कि उससे अनन्य प्रेम हो गया परन्तु डॉक्टर से स्वस्थ नहीं होना तो मतलब यही हुआ कि कुछ न कुछ झमेला है। सारत: गुरु में आसक्ति हो या भगवदीय के सत्संग की आसक्ति हो या भगवत्सेवा की आसक्ति हो या भगवत्कथासक्ति हो, ये सब यदि भगवदासक्ति का हिस्सा नहीं हैं तो सीधा अर्थ है कि कुछ न कुछ झमेला है, निश्चितरूप से झमेला है।

जलभेद और पंचपद्यानि के अध्ययन के अन्तर्गत यह बात समझाने का प्रयास किया गया है कि कथा कैसे वक्ता से सुनना अपेक्षित है अथवा कथा कैसे श्रोता को सुनाना अपेक्षित है एवं उसके उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ प्रकार क्या हैं।

पुन: एक बात यहाँ ध्यान से समझें कि - ''श्रीकृष्णरसविक्षिप्त मानसा'' - श्रीकृष्णरस से विक्षिप्तमानस। यहाँ रसविक्षिप्तमानस या कृष्णविक्षिप्तमानस नहीं कहा है। परन्तु यह कहा है कि कृष्ण की रसात्मकता से जिनका मानस विक्षिप्त हो गया है। इस मानसिक विक्षेप को सामान्यत: हम मनोवैज्ञानिक विक्षेप कहते हैं अर्थात् मानसिक विकृति के रूप में भी इसकी व्याख्या निश्चित की जा सकती है।

अपने सूरदासजी पर ही एक अमेरिकन विद्वान ने तीन-चार वर्ष पूर्व ही पी.एच.डी. की थी। अपने शोधप्रबन्ध के प्रारम्भ में ही उसने कहा है कि इस सारी बात में हम मानें तो सूरदासजी हैं अथवा तो पाँच सौ वर्ष पुराने उस समय के भक्तिआन्दोलन का स्थायीभाव है। वह कहता है कि यह एक मानसिक विक्षेप है और वह मानसिक विक्षेप किस प्रकार का है? यद्यपि उसने निन्दात्मक अर्थ में कहा था, प्रशंसा के अर्थ में नहीं कहा तथापि हम उसमें से कुछ तथ्य समझ सकते हैं।

वह कह रहा है कि उस समय के धार्मिक रीति-रिवाजों में जो सम्मिलित नहीं हो सके और जिनमें धर्म की भावना जोर पकड़ रही थी उनमें

अन्त में इस प्रकार के भक्तिमय उन्माद का एक ऐसा समय आया जिसके उत्पाद सूरदासजी हैं, मीरा है और पूरा वल्लभसम्प्रदाय है, यहाँ तक कि अन्य जो भी उस समय के हैं वे सब भी हैं। बात तो यह सच है परन्तु वह निन्दा के अर्थ में कह रहा है और हम मूँछ पर बल देकर कह रहे हैं, अन्तर इतना ही है।

यही बात श्रीमहाप्रभुजी यहाँ कह रहे हैं। ''अनिर्वृता लोकवेदे'' – जो लौकिक धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष हैं तथा जो वैदिक धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष हैं श्रीकृष्णरसविक्षिप्त उनका आनन्द नहीं ले सकते।

किसलिए नहीं ले सकते? सम्भवत: उनके किसी भाग में कुछ अभाव होगा, कुछ अनुकूलता का अभाव होगा, ये सब इस प्रकार विचार कर रहे हैं। हम कम से कम इस प्रकार नहीं सोचते। हम तो समालोचना की दृष्टि से विचार कर रहे हैं। इस प्रकार से क्या ईसाईधर्म में अथवा मुस्लिमधर्म में या यहूदीधर्म में भी उस समय इस प्रकार की परिस्थितियाँ निर्मित नहीं हुईं अथवा संकलन नहीं हुआ? वे लोग तो अधिक धार्मिक थे। उनके विषय में भी इस प्रकार आक्षेपात्मक भाषा का प्रयोग कर सकते हैं और प्रशंसा के रूप में भी कह सकते हैं।

जैसे शहाबुद्दीन राठौड़ महात्मा गाँधी के चरित्र में बताते हैं कि बचपन में बीड़ी पीते थे। बीड़ी के टोंटे फूंकते जिससे घर में झगड़ा होता था। उसका कोई हल नहीं था। वे पढ़ने गए तब भी कुछ समझे नहीं इसलिए वहाँ सत्याग्रह किया। सत्याग्रह करते-करते भारत आ गए तो यहाँ भी सत्याग्रह करने लगे। इसलिए अंग्रेजों ने उनको जेल में भेज दिया। बेचारे महात्मा गाँधी के बारे में ऐसी बातें कर सकते हैं। बीड़ी पीते थे इसलिए स्कूल में पकड़े गए और पिता ने उनके साथ मारपीट की तो क्या इस वजह से वे महात्मा गाँधी हो गए? गाँधीजी पसन्द नहीं आ रहे तो यह सब कहना पड़ेगा, दूसरा कोई उपाय नहीं।

जिसको भक्ति पसन्द नहीं आती उसे भक्ति की अपने ढंग से इस प्रकार की व्याख्या करनी पड़ती है। यहाँ यह बात भलीभाँति समझ लें कि जो बात वह निन्दा के अर्थ में कह रहा है उसे हम निन्दा नहीं मानते, हम यह मान रहे हैं कि उन पर भगवदनुग्रह था। ऐसा अनुग्रह था कि वे लौकिक या वैदिक धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का आनन्द नहीं ले सके। लौकिक-वैदिक धर्मार्थ, काम, मोक्ष के सन्दर्भ में इस श्लोक पर ध्यान देंगे तो उसकी खूबसूरती समझ में आएगी।

लौकिक-वैदिक धर्मार्थकाममोक्ष में आनन्द न ले सके इसलिए कृष्णरस में विक्षिप्त हो गए। कृष्णरस में विक्षिप्त होने के कारण लौकिक धर्मार्थकाममोक्ष में, वैदिक धर्मार्थकाममोक्ष में वे आनन्द नहीं ले सके। इस बात से उनकी निन्दनीयता अथवा स्तुत्यता प्रकट होगी। अब जीवनचर्या के सम्बन्ध में आलोचना करनी है इसलिए वे ऐसा कहते हैं कि कोई काम ना चल सका इसलिए भक्त हो गए।

इस बात का सकारात्मक पक्ष भी तो है कि कुछ काम नहीं करना था क्योंकि भक्ति ही करनी थी। इसलिए कोई काम नहीं कर सके – यह अर्थ भी तो हो सकता है। श्रीकृष्णरसविक्षिप्तमानस था और लौकिक-वैदिक विषयों में उनको रति नहीं थी। रति नहीं थी इसलिए लोकवेद में अनिर्वृत हैं और श्रवणोत्सुक हैं इसलिए कथा सुनने के मुख्य अधिकारी हैं।

अत: एक बात ध्यान से देखें कि जो माहात्म्यज्ञान का स्वरूप है उसमें अपने यहाँ माहात्म्यज्ञान की मूलत: इतनी ही अपेक्षा मानी जाती है कि उसके कारण आप लोक-वेद के, धर्मार्थकाममोक्ष के, लौकिक-वैदिक पुरुषार्थ के माहात्म्य के विश्वास से निवृत्त हो सकें। इससे अधिक माहात्म्यज्ञान की कोई अपेक्षा नहीं है। यह बात अपने यहाँ स्पष्ट कही गयी है। इस सम्बन्ध में अधिक खूबसूरत हाव-भाव किसी ने व्यक्त किया है तो वे चैतन्यसम्प्रदाय के रूप गोस्वामी हैं।

''**ज्ञानवैराग्ययोः भक्तिप्रवेशाय उपयोगिता, ईषत् प्रथममेवेति नांगत्वम् उचितं तयोः, यदुभे चित्तकाठिन्यहेतू प्रायः सतां मते, सुकुमारस्वभावेयं भक्तिः तद् हेतुः ईरिता**'' – रूप गोस्वामी कहते हैं कि ज्ञानवैराग्य की शुरुआत में थोड़ी अपेक्षा है। हमारी दृष्टि से भी यह बहुत उत्तम बात है। उनकी दृष्टि से भी, भक्तिवादी कोई उनकी साधना या मत है तो, उनके लिए भी बहुत उत्तम बात है।

''**ज्ञानवैराग्ययोः भक्तिप्रवेशाय उपयोगिता**'' – वे आपको एक उपयुक्त मोड़ बताते हैं। वेग से चलती हुई गाड़ी से मार्ग पर आनेवाले दाएँ-बाएँ मोड़ दिखाई नहीं देते और हमारी विषयासक्ति की गाड़ी इतनी तेजी से चलती है कि हमें अपने दाएँ-बाएँ पुष्टि या मर्यादा के मोड़ दिखाई नहीं देते। इसीलिए विषयासक्ति में आगे ही बढ़ते रहते हैं।

जैसे मार्ग पर एक साईनबोर्ड लगा रहता है कि अमुक दिशा में जाना है तो दाईं तरफ जाएँ और किसी और तरफ जाना है तो बाईं तरफ जाएँ। ज्ञान और वैराग्य इसी प्रकार के मार्ग पर लगे हुए साईनबोर्ड हैं। ठीक है, विषयासक्ति में आगे बढ़ना हो तो बढ़ें परन्तु यदि आपको मर्यादा में जाना है तो अमुक तरफ जाएँ और यदि आपको पुष्टि की तरफ जाना है तो निर्दिष्ट चिह्न की तरफ जाएँ। अतः ''**ज्ञानवैराग्ययोः भक्तिप्रवेशाय उपयोगिता**'' – इतनी ही उसकी उपयोगिता है। यदि उस साईनबोर्ड के पास ही आप खड़े रह गए तो आपको भक्तिमार्ग नहीं मिल रहा है। बोर्ड में ही आप निमग्न हो गए तो आपको भक्तिमार्ग नहीं मिल रहा है। परन्तु उस बोर्ड के आधार पर यदि आप मुड़ गए, मर्यादाभक्ति अथवा पुष्टिभक्ति के मार्ग पर मुड़ गए तो आपने नई यात्रा शुरू कर दी और तब आपको भक्तितमार्ग अथवा मर्यादामार्ग मिल रहा है।

इस प्रकार ''**ज्ञानवैराग्ययोः भक्तिप्रवेशाय उपयोगिता, ईषत् प्रथममेवेति**'' – शुरुआत में ही थोड़ी आवश्यकता है। ''**नांगत्वम् उचितं**

तयोः'' – वे भक्ति का अंग नहीं हो सकते, भक्ति की तरफ मुड़ने के लिए एक मार्ग-संकेत हो सकते हैं। कहते हैं कि ऐसा क्यों? तो इसका बहुत ही सुन्दर कारण उन्होंने बताया है कि ''**यदुभे चित्तकाठिन्यहेतू प्रायः सतां मते**'' – भक्तिमार्गीय संत इस बात को भलीभाँति समझते हैं। ज्ञान और वैराग्य चित्त को कठोर बना देने में हेतु होते हैं और चित्त में एक बार कठोरता आ गई तो भक्ति होनी मुश्किल है। ''**यदुभे चित्तकाठिन्यहेतू प्रायः सतां मते सुकुमारस्वभावेयम्**'' – भक्ति को बहुत ही सुकुमार चित्त की अपेक्षा है, बहुत कोमल चित्त की अपेक्षा है, ऐसे चित्त से भक्ति हो सकती है।

''**सुकुमारस्वभावेयं भक्तिः तद् हेतुः ईरिता**'' – अपने यहाँ भी टीकाकारों ने निरन्तर यही बात कही है। ''**माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ सर्वतो अधिक स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तः**'' – माहात्म्यज्ञान पहले होना चाहिए क्योंकि वह हमें मार्ग के मोड़ के बारे में संकेत देता है। विषयासक्ति के सपाट राजमार्ग पर आपको दाएँ-बाएँ ये ज्ञान और वैराग्य मोड़ेंगे। मोड़ सकते हैं इसीलिए तो ''अनिर्वृता लोक-वेदे'' हैं। यहाँ भी देखें कि माहात्म्यज्ञान का पक्ष भलीभाँति आ रहा है तथा ''कृष्णरसविक्षिप्तमानसा रतिवर्जिताः'' से भी वह पक्ष आ रहा है। अर्थात् अनिर्वृता लोक-वेदे और रतिवर्जिता इन दोनों बातों पर ध्यान देंगे तो रतिवर्जिता का अर्थ है कि लौकिक-वैदिक विषयों में उसे न तो किसी रमण का भाव है और न लोक-वेद में उसको कोई निर्वृति है बल्कि एक प्रकार का संतोष है। कृष्णरस से उसका मानस विक्षिप्त होने के कारण उसे यह बात प्राप्त हुई है अर्थात् माहात्म्यज्ञान है, स्वस्वरूप का ज्ञान हो गया है, भगवद्रति हो गई है और तदनुकूल क्रिया करने के लिए श्रवणोत्सुक भी है कि जो रति हुई है उसे अब और भी सम्यक्रूप किस प्रकार प्रदान करे। अतः मानना चाहिए कि वह मुख्य श्रोता है।

''विक्लिन्नमनसो येतु भगवत्स्मृतिविह्वला:'' – अब यहाँ देखें कि यह रतिविह्वल नहीं, स्मृतिविह्वल है। रतिविह्वल होने और स्मृतिविह्वल होने में थोड़ा अन्तर है। 'रतिविक्षिप्त' शब्द का प्रयोग किया है, वहाँ 'विह्वल' शब्द का प्रयोग नहीं किया है परन्तु यहाँ (भगवत्स्मृतिविह्वला: में) 'विह्वल' कहा है। विह्वल कहें या विक्षिप्त कहें, कोई बहुत फर्क नहीं पड़ता। इस प्रकार एक भगवद्रतिविह्वला और एक भगवत्स्मृतिविह्वला – इस प्रकार मान लें। अर्थात् दोनों के बीच अभी भी कुछ दूरी कायम है, ऐसी दूरी जिसके कारण उसको भगवान याद आ रहे हैं और जब भगवान याद आते हैं तब चित्त थोड़ा नरम हो जाता है परन्तु जब भगवान याद ही न आएँ तो चित्त में पुन: कठोरता आ जाती है। अत: ''विक्लिन्नमनसो येतु भगवत्स्मृतिविह्वला: नतु रतिविह्वला'' – इस अन्तर पर विशेषरूप से ध्यान दें।

'अर्थैकनिष्ठा' अर्थात् कथा के अर्थ में निष्ठा। प्रत्येक कथा का कोई शरीर होता है जो कि कथा का शब्द है और प्रत्येक कथा का कोई आत्मा होता है जो कथा का अर्थ है। इस बात को किसी अन्य अर्थ में न लें, यहाँ केवल बता रहा हूँ – **''निधि की सन्निधि में जाने की विधि, वह वल्लभाचार्य की निधि, वे श्रीनाथजी, इनकी सिद्धि वहाँ तक आती है।''** यह क्या चल रहा है यार? कथा चल रही है? यह क्या है? शरीर (शब्द) है उसमें आत्मा (अर्थ) नहीं है। **''प्रकाश के विकास को अवकाश देना जीव के जीवन में मिलने वाला सुअवकाश है''** – यह कथा का शरीर (शब्द) प्रकट हुआ, कथा का अर्थ प्रकट नहीं हो रहा। अत: ऐसी कथा भी हो सकती है, किसी को इसी में मजा आता है और इसके कई प्रकार हो सकते हैं। मैं उन सबकी गहराई में जाना नहीं चाहता।

अत: कथा के शरीर अर्थात् कथा के शब्द में नहीं बल्कि कथा के अर्थ का जो आनन्द लेनेवाले हैं और श्रवणोत्सुक हैं, कथा का आनन्द लेने के लिए

वे श्रवणोत्सुक हैं तो भगवत्स्मृतिविह्वल होने के कारण उनमें मध्यमत्व आ रहा है। रतिविह्वल हो और श्रवणोत्सुक हो तो बात बन जाती, पुन: उत्तम (अधिकारी) हो जाता। अत: देखें कि वे पुन:-पुन: काम कर रहे हैं। शब्द नहीं बदले और ''नि:सन्दिग्धं कृष्णतत्त्वं सर्वभावेन ये विदु:''- कृष्णतत्त्व को नि:सन्दिग्ध मान रहे हैं क्योंकि जब कृष्ण में सन्देह हुआ तो कथा ही बन्द हो जानी चाहिए। कृष्ण में संदेह हुआ और कथा चालू है तो बात स्पष्ट है कि वक्ता में कुछ गड़बड़ है कि कृष्ण में संदेह भी हुआ और कथा भी चालू है।

बात इस प्रकार कैसे चल रही है यार? लगता है कि यजमान ने आपको कुछ न कुछ पैसे खिलाए हैं। यजमान के पैसे खाए हैं इसलिए कथा चल रही है यदि पैसे न खाए हों तो, पैसों की लालच न हो तो जिनको कृष्ण में सन्देह हो रहा है उनके समक्ष कृष्ण की कथा किस प्रकार चल सकती है? चल रही है इसका तात्पर्य यह है कि कृष्णकथा नहीं चल रही, श्रीकृष्णकथा चल रही है।

कृष्ण तो धीरे से बोला जाना है, मूल में तो श्रीकृष्णकथा चल रही है। इसलिए चल रही है कि ढेर सारी दक्षिणा का आश्वासन प्राप्त है। अत: ''नि:सन्दिग्धं कृष्णतत्त्वं सर्वभावेन ये विदु:'' न तु ''सर्वभावेन ये रता।'' अब देखें माहात्म्यज्ञानवाला पक्ष स्पष्ट है। ''ते त्वावेशात्तु विकला निरोधाद् वा नचान्यथा'' – वह कथा में या तो आवेश के कारण विकल है या कहीं उसका निरोध हो गया। निरोध किस प्रकार? जब प्रपंचविस्मृति हो जाती है तो थोड़ी विकलता आ जाती है।

मैं लगभग यह चर्चा कर रहा था कि आवेश के लिए कथा में कैसे उपाय किए जाते हैं। जब भगवत्कथा चलती हो तो सुनते-सुनते नींद के झोंके आते हैं, फिर अचानक व्यास जी कह उठते हैं कि बोलो श्रीबालकृष्णलाल की जय, बोलो श्रीयमुने महारानी की जय, श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारी... तब वापस

कथा शुरू हो जाती है। झोंके आने लगते हैं तो वक्ता को दिखाई देता है कि अरे, झोंका आ गया, वापस बोलते हैं श्रीयमुने महारानी की जय... इस प्रकार कथा का आवेश लाना पड़ता है। इसके लिए कभी नंदमहोत्सव करते हैं और कभी और कुछ करते हैं।

ऐसा कुछ करने-धरने को मिले तो बहुत उत्साह आ जाता है। अन्यथा चलती कथा में झोंके आने लगते हैं। यह स्थिति है। किसी भी कथा में जा कर देख लें, बहुत देखने लायक दृश्य होता है। पेड़े आदि उछाले जाते हैं, कुछ न कुछ होता रहता है, कोई नाच रहा है, कोई कूद रहा है, इससे वापस आवेश आ जाता है कि आज तो कथा में आनन्द-आनन्द हो गया। इस प्रकार कथा में आनन्द-आनन्द माननेवाले क्या हैं? उनको कृत्रिम साधनों से आनन्दित करना पड़ता है।

मूल कारण यह है कि उनको भगवत्कथा में रुचि नहीं है। उनमें भूत-संचार की भांति इसी तरह आवेश का संचार करना पड़ता है। ऐसा भी करना पड़ता है कि भगवत्कथा करते समय सबको झोंके आ रहे हैं तो अचानक ऐसा मोड़ आ जाता है कि ''एक बहिन थीं। उनके यहाँ एक सुन्दर लड़की थी। उनके पड़ोस में एक भाई रहते थे।'' फिर क्या हुआ? फिर वापस धीरे-धीरे भगवत्कथा शुरू हो जाती है। वापस झोंके आने लगते हैं, ऐसा होने लगता है तो वापस बहिन थी, पड़ोस में भाई रहते थे। फिर क्या हुआ? फिर तुरंत उत्कंठा जागती है।

इस प्रकार ऐसा आवेश निरन्तर आता रहता है। उसमें वापस जागरण आता है और आवेश खत्म हो जाता है। कथा वापस शुरू होती है तो आवेश मंद हो जाता है। इस प्रकार धीरे-धीरे किसी न किसी प्रकार से उनमें कथा के प्रति आवेश आता रहता है। ऐसी कथाओं में कई प्रकार के कृत्रिम अथवा व्यर्थ साधन हैं जिनसे आवेश लाया जा सकता है और कथा सुनते-सुनते पुनः

आवेशरहित हो जाते हैं। मूल कारण यह है कि उनकी भगवत्कथा में रुचि नहीं होती। भगवत्कथा में रुचि नहीं होती इसलिए किसी न किसी प्रकार आवेश लाना पड़ता है। जैसे बालक कड़वी दवा न खाता हो तो उसे शहद में मिला कर किसी गोली में लपेट कर खिलाना पड़ता है। इसी प्रकार से उनको यह कथा करानी पड़ती है तब कोई थोड़ी बहुत रुचि आती है कि हाँ, चलो, अब कथा सुनेंगे।

अब ''पूर्णभावेन पूर्णार्थाः कदाचित् नतु सर्वदा'' में मूल कारण क्या प्रकट हो रहा है? ''अन्यासक्ता'' - उस बेन को सुन्दर लड़की थी। ''अन्यासक्तास्तु ये केचिद् अधमाः परिकीर्तिताः'' कारण स्पष्ट है कि उसकी अन्यासक्ति कायम है और उस अन्यासक्ति को पूर्ण करने की कोई बात आती है तो उसको पुनः थोड़ा बहुत आवेश कथा में जाग जाता है और कथा शुरू हो जाने पर वापस हाव-भाव मन्द हो जाते हैं। इस प्रकार की स्थिति है।

कोई अधम होने के बावजूद कृष्ण में कामचलाऊ रुचि ले रहा है तो ठीक है, अधम उत्सुक है, अर्थात् उत्सुक तो है न! कथा में नन्दमहोत्सव होता है, रूक्मिणीहरण होता है तो आनन्द की लहर आ जाती है। उसका मूल कारण क्या है? श्रोता मूलतः अधम है, कथा में रुचि नहीं ले रहा, केवल नाटकादि में रुचि ले रहा है। किसी प्रकार से उसे बलात् आगे बढ़ाना है, मूल बात यह है।

इसके पश्चात् आनेवाला श्रोता भक्तिमार्गीय नहीं है, अतः ध्यान से देखें। भक्तिमार्ग के सभी तत्त्व उसमें विद्यमान हैं कि अन्याश्रय नहीं करता अर्थात् धर्मनिष्ठा से आगे जा कर ''विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः, पापासक्तस्य दीनस्य कृष्णएव गतिर्मम'' स्वीकार करनेवाला यदि है तो वह प्रपत्ति - शरणमार्ग के हिसाब से उत्तम श्रोता है।

पहले प्रपत्ति करेगा फिर शरणागति के भाव से श्रवण करेगा तो धीरे-

धीरे भक्तिमार्ग पर आगे बढ़ सकेगा। **''तस्याश्रयो भवेत् कृष्णः इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत्''** – यदि कृष्ण उसका आश्रय हो गए तो चिन्ता की कोई बात नहीं। धीरे-धीरे उसमें **''सर्वदा सर्वभावेन'' ''पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्मोऽर्थो हरिरेव हि, कामो हरिदिदृक्षैव मोक्षो कृष्णस्य चेद् ध्रुवम्''** वाला पंचम पुरुषार्थ का भाव जाग जाएगा। पहले रुचि जगेगी फिर भाव जगेगा। इसके बाद विश्वास जगेगा फिर निष्ठा जगेगी। यह सब क्रमिकरूप से आएगा।

''सर्वभावेन ये विदुः'' – जो सर्वभाव से इनको जानता है, सर्वभाव से 'रता' नहीं, ''निःसन्दिग्धं कृष्णतत्त्वं सर्वभावेन ये रता'' नहीं, अपितु सर्वभाव से कृष्णतत्त्व को संदेहरहित होकर जानता है, सर्वभाव से कृष्ण में रत है तो वह वापस उच्च कक्षा हो गई क्योंकि जानता है। हम सब अधिकतर ऐसे ही हैं। समझ रहे हैं परन्तु रत होना तो उत्तम कक्षा की बात है और विकलता का प्रश्न ही कहाँ आता है? रति है नहीं, रति हो तो विकलता आएगी। रति बिना विकलता कहाँ से आएगी? विह्वलता-विकलता तो रति के कारण ही आएगी न।

कदाचित् उनमें विकलता होगी भी तो ऐसी विकलता होगी कि मैं सबसे परेशान हूँ, सब साधन करके थक गया हूँ – इस प्रकार की नकारात्मक विकलता होगी। सकारात्मक, प्रेमयुक्त विकलता हो तो बात बन सकती है। ऐसी नकारात्मक विकलता हो सकती है। नकारात्मक और सकारात्मक विकलता को परस्पर उलझाना नहीं चाहिए।

जैसे दुनिया से थका हुआ व्यक्ति, सब जगह से मार खाया हुआ व्यक्ति विकल हो जाता है। वह भगवद्विकलता नहीं है। दुनिया में सभी जगह से मार पड़ी, जहाँ भी गया वहाँ थप्पड़ पड़ी इसलिए व्यक्ति विकल हो जाता है। यह विकलता भी यदि उसे भगवान की तरफ मोड़े तो वह आगे बढ़ सकता है, नहीं बढ़ सकता है ऐसी बात नहीं है तथापि वह विकलता भक्तिमार्गीय दृष्टि से क्षुद्र

विकलता है। इतनी क्षुद्र है कि श्रीमहाप्रभुजी जिसको एकदम अचकचाए बिना कह सकते हैं कि – **''काहे को घिघियात हो, कछु भगवल्लीला गा।''** ऐसी विकलता कुछ अच्छी बात है। यह खराब बात नहीं है क्योंकि कुछ न कुछ मोड़ तो उपलब्ध करा ही रही है। भक्ति की तरफ मुड़ने के लिए किसी सूचना-पट्ट के रूप में काम करती हो तो कोई खराब बात नहीं है।

इससे भी ज्यादा अच्छी बात यह है कि थोड़ा माहात्म्यज्ञानपूर्वक, थोड़ा श्रवण से, थोड़ा सेवा से, थोड़ा स्मरण से आप भगवद्रति की तरफ मुड़ रहे हैं अर्थात् दुनिया में रति करने के जितने भी विषय थे वे सब खण्डित हो गए और आप वापस भगवद्रति की तरफ मुड़ गए तो वह उत्तम बात है। मैं शुरुआत के संदर्भ में यह बात कर रहा हूँ कि उस प्रकार से भगवद्रति की तरफ मुड़े और भगवद्रति में धीरे-धीरे इस प्रकार आगे बढ़ते गए कि उससे प्रपंचविस्मृति हो गई तो दोनों में भगवद्रति से प्रपंचविस्मृति होना उत्तम कक्षा की बात है।

इसीलिए अपने यहाँ भक्ति की शुरुआत शरणागति से की जाती है, निरोध से शुरुआत नहीं की जाती। या फिर माहात्म्यज्ञान से शुरुआत की जाती है, वैराग्य से शुरुआत नहीं की जाती। माहात्म्यज्ञान से शुरुआत करने से आपको समझ आएगी, कुछ बोध होगा और उस बोध के कारण आप भगवान की तरफ मुड़ रहे हैं तो वह बेहतर स्थिति है और बिना सूझ-बूझ के मुड़ने पर यह स्थिति होगी कि – **''त्रियानासी घर संपत्ति नासी, मूंड मुंडाये भये संन्यासी''** – अब पत्नी मर ही गई तो जाएँ कहाँ? घर में रसोई बनानेवाला कोई नहीं हो तो संन्यास लेना सबसे अच्छा है न! तैयार बनी हुई रसोई मिलती है।

इस तरीके का वैराग्य आगे बढ़ाता हो तो भी ठीक बात है, खराब बात नहीं है परन्तु ऐसी शुरुआत प्रशंसनीय नहीं है। प्रशंसनीय शुरुआत तो यह है कि जहाँ सब कुछ उपलब्ध हो फिर भी आप विरक्त हो गए। आपकी यह विरक्ति वस्तु में दोषदर्शन के कारण नहीं बल्कि इसलिए है कि आपके पास

उससे भी बेहतर रुचि विद्यमान है अर्थात् वस्तु के ब्रह्मात्मकता के ज्ञान से आपने वस्तु की नामरूप की क्षुद्रता को पहचान लिया। जब आपने पहचान लिया और ज्ञान के सहारे आगे बढ़े अथवा नामरूप की लीलात्मकता से लीलाकर्ता की तरफ मुड़ गए कि यह नाम-रूप, सारा जगत् प्रभु की लीला है तब ज्ञात होगा कि यह लीला जब इतनी आकर्षक है तो लीलाकर्ता कितना आकर्षक होगा।

दयाराम भाई कहते हैं कि - ''**ते कर्तामां कमी शेनी रहे, दया विचारो मन।**'' अर्थात् जिसकी रचना पर आप इतना मोहित हो रहे हैं उस रचनाकार पर कभी भूल से थोड़ा ध्यान चला जाए तो बात समझ में आ सकती है। उस कारण से, उस मोह के कारण से ''**मन ते मोहनमां शे ना मोहे, तेने कारण चित्त सीद ना परोये**'' - उसके कारण यदि वापस विरक्ति आ रही है, विस्मृति आ रही है तो बहुत स्वस्थ शुरुआत है। सभी स्थानों से पिट कर आए फिर तो यही ठीक है न! और क्या हो सकता है। ऐसा न हो तो बुढ़ापे में गोविन्द का गुणगान नहीं करेंगे तो किसका करेंगे? पत्नी ही न रही तो उसका गुणगान कहाँ से करेंगे? अपनी संतानें घर में रखने को तैयार न हों तो क्या गुणगान करें? ऐसी परिस्थिति में गोविन्द का गुणगान स्वाभाविक बात है न, नहीं गाएंगे तो और क्या करेंगे। ऐसी स्थिति है।

बुढ़ापे की बजाय बाल्यकाल में किसी कारण से यदि आपको यह बात स्फुरित हो रही है, यौवन में स्फुरित हो रही है तो आपने अपना यौवनपूर्ण मन प्रभु को अर्पित कर दिया। प्रभु के द्वारा भी उस मन को स्वीकार करने का भाव है तो बात में बहुत अन्तर आ जाता है। यहाँ मूल बात यह समझनी है कि जो हमने यहाँ एक आलेख (Graph) तैयार किया है उस पर ध्यान देंगे तो उसमें कुछ उतार-चढ़ाव दिखाई देगा।

जैसे यमुनाष्टक का विषय एकदम ऊपर है। बालबोध इस आलेख में नीचे आ गया है, सिद्धान्तमुक्तावली में उसे थोड़ा ऊपर किया है, पुष्टिप्रवाहमर्यादा में वापस नीचे आ गया है, सिद्धान्तरहस्य में वापस ऊपर गया है। नवरत्न में उपदिष्ट समर्पण को नहीं जी सकने के कारण, उसके आचरण को समग्रत: नहीं निभा पाने के कारण वापस एक दूसरी लाइन नीचे आई है। जो लाइन नीचे गई वहीं से ही कुछ अधिक स्थिरता की दृष्टि से अन्त:करणप्रबोध आया है अर्थात् ऊपर की तरफ झुकाव है। अत: उन विषयों को स्थिर करने के लिए जैसे अन्त:करणप्रबोध के बाद विवेकधैर्याश्रय आया तो इसको भक्ति का विषय समझना चाहिए। भक्ति के बिन्दु पर कदाचित् वह ऊपर न गया हो पर प्रपत्ति के विषय में आगे बढ़ रहा है, प्रपत्ति के मुद्दे पर बात आगे बढ़ रही है। उस बात को कृष्णाश्रय तक ला कर श्रीमहाप्रभुजी ने उसे भक्ति के उच्च मुद्दों पर ले जाने के लिए छोड़ा है कि आप कृष्णाश्रित हैं तो आपको पंचम पुरुषार्थ के अन्तर्गत भक्ति पुन: उपलब्ध होगी।

प्रत्यक्षत: ''विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषत: पापासक्तस्य दीनस्य कृष्णएव गतिर्मम, तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण: इति श्रीवल्लाभोऽब्रवीत'' से वापस एक सहायता मिल रही है, उस सहायता के कारण भक्तिवर्धिनी उच्च कक्षा में आई कि ''यथा भक्ति: प्रवृद्धा स्यात् तथोपायो निरूप्यते'' वह जो उच्च कक्षा का मोड़ उसे मिला उसमें भक्ति को बढ़ाने के अन्तर्गत कथा और सेवा एवं सेवा-कथा इत्यादि जो कुछ ऊपर, ऊपर और भी ऊपर जाते हुए मुद्दे हैं उन मुद्दों पर आलेख से सम्बन्धित यह बात समझें।

इस आलेख को मार्गदर्शक-आलेख के रूप में रखना चाहते हों तो रख सकते हैं। मैंने तो अधूरा बनाया है लेकिन आप समझ जाएंगे तो मार्गदर्शन विषयक कोई समस्या नहीं होगी, बात को समझने में कोई तकलीफ नहीं होगी। इस आलेख से श्रीमहाप्रभुजी द्वारा बताए गए मूलत: भक्ति के पाँच

अधिकारी कहे गए हैं। इसलिए मैंने उनको क्रमांक दिया है - एक, दो, तीन, चार, पाँच। देख लें। हमें इस प्रकार से यह आलेख तैयार करना है। इसमें भक्ति की बात कहीं ऊपर जा रही है तो कहीं नीचे आ रही है।

जहाँ दृढ़-बीजभाव है वहाँ ऊपर जा रही है, जहाँ अदृढ़-बीजभाव है वहाँ नीचे आ रही है। अदृढ़-बीजभाव में भी अव्यावृत्त है तो सेवाकथा की प्रणाली से पुनः ऊँचाई छू रही है और जो अव्यावृत्त न हो कर व्यावृत्त है तो वापस श्रवण की प्रक्रिया से उस आलेख की जो लाइन है उसका झुकाव नीचे की तरफ आ रहा है। इस प्रकार के झुकाव में अथवा सातत्य में इंगित होता है कि सभी ग्रंथों का स्वरूप क्या है। कई वर्ष पूर्व जब ये षोडशग्रन्थ छपाए गए थे तब मैंने इनमें यह आलेख दिया था। एक बार समझ लेंगे तो आगे की सारी बात समझने में कोई तकलीफ नहीं होगी। उसमें भक्ति के पाँच प्रकार के अधिकारी हमें बताए जा रहे हैं, उस प्रकार से समझना चाहिए।

यमुनाष्टक को हम बिलकुल सरलतापूर्वक व्यवस्थितरूप से समझ सकते हैं कि भक्तिवर्धिनी में कहे गए पाँच अधिकारियों के लिए है। बालबोध यों तो किसी के लिए नहीं है लेकिन सफेद को समझने के लिए काले को समझना ही पड़ेगा और काले को समझेंगे तो सफेद समझ में आएगा। यों तो किसी के लिए नहीं है परन्तु सर्वसिद्धान्तसंग्रह है। सिद्धान्तमुक्तावली को ध्यान से समझें कि पाँचों के लिए है। जो सिद्धान्तमुक्तावली में स्व-स्वरूप ज्ञान का मुद्दा था उस स्वरूपज्ञान के लिए पुष्टिप्रवाहमर्यादा पुनः पाँचों के लिए है जिससे पुष्टिमार्ग में भक्तिमार्ग के अन्तर्गत सेवा अथवा कथा अथवा सेवा-कथा दोनों अथवा शरणागति की बात आलेख में नीचे आई। यहाँतक आपको अपनी सीमा ज्ञात हो जाएगी कि आप कहाँ हैं। इससे आपको मार्ग पसन्द करने में किसी प्रकार की तकलीफ नहीं होगी।

इसके बाद सिद्धान्तरहस्य है- इसे ध्यान से देखें तो समझ में आएगा

कि यह दूसरे और चौथे अधिकारी के लिए है। पहले, तीसरे और पाँचवें अधिकारी के लिए सिद्धान्तरहस्य नहीं है। यदि यह बात समझ में आ रही है तो ध्यान से समझें कि सिद्धान्तरहस्य दूसरे और चौथे अधिकारी के लिए है। भक्तिवर्धिनी में कहे गए पाँचों अधिकारियों के लिए पुनः नवरत्नग्रन्थ आ रहा है और यही बात अन्तःकरणप्रबोध के लिए है। विवेकधैर्याश्रय के लिए हम इस बात को समझ सकते हैं कि सामान्यरूप से विवेकधैर्याश्रय सबके लिए है तथापि विशिष्टरूप से जिनको विवेकधैर्याश्रय की एकदम प्रबल आवश्यकता है वे चौथे और पाँचवें क्रम के अधिकारी हैं। चौथे और पाँचवें क्रम के किस प्रकार के हैं? कृष्णाश्रय तो हम जानते हैं कि वह आधार है ही, कृष्णाश्रय यदि खण्डित हुआ तो न प्रपत्ति है और न भक्ति है। फिर तो महाप्रभुजी के मत में कुछ न कुछ नाटक ही है। इसीलिए मैं निरन्तर कहता आ रहा हूँ कि कृष्ण से विमुख करनेवाले, चाहे प.भ. हों, चाहे बापा-बापी हों, चाहे गंवार हों, यदि कृष्ण से विमुख कर रहे हैं तो केवल नाटक और नाटक ही कर रहे हैं। अतः कृष्णाश्रय को तो एकदम दृढ़ता से पकड़ कर रखना ही है क्योंकि इसीलिए वह सबके लिए है।

यहाँ पुनः देखें कि चतुःश्लोकी दूसरे और चौथे अधिकारी के लिए है। कारण यह है कि भक्ति को पंचम पुरुषार्थ के रूप में जीने की जो एक दृष्टि है वह चौथे और पाँचवें अधिकारी के लिए अपेक्षाकृत अधिक आवश्यक है। भक्तिवर्धिनी स्पष्टतः पाँचों अधिकारियों के लिए है क्योंकि इसमें पाँचों के बारे में निरूपण है। इसी प्रकार जलभेद भी पाँचों अधिकारियों के लिए है क्योंकि जो सेवा कर रहा है उसके लिए श्रीमहाप्रभुजी को यह अभीष्ट नहीं है कि वह सर्वथा श्रवणरहित रहे, किसी कारणवश रहता हो तो भले रहे तथापि यह अपेक्षा नहीं है कि श्रवणरहित रहे। जलभेद और पंचपद्यानि सबके लिए है क्योंकि सेवाकर्ता का श्रवण-कीर्तन से रहित रहना श्रीमहाप्रभुजी को अपेक्षित नहीं है।

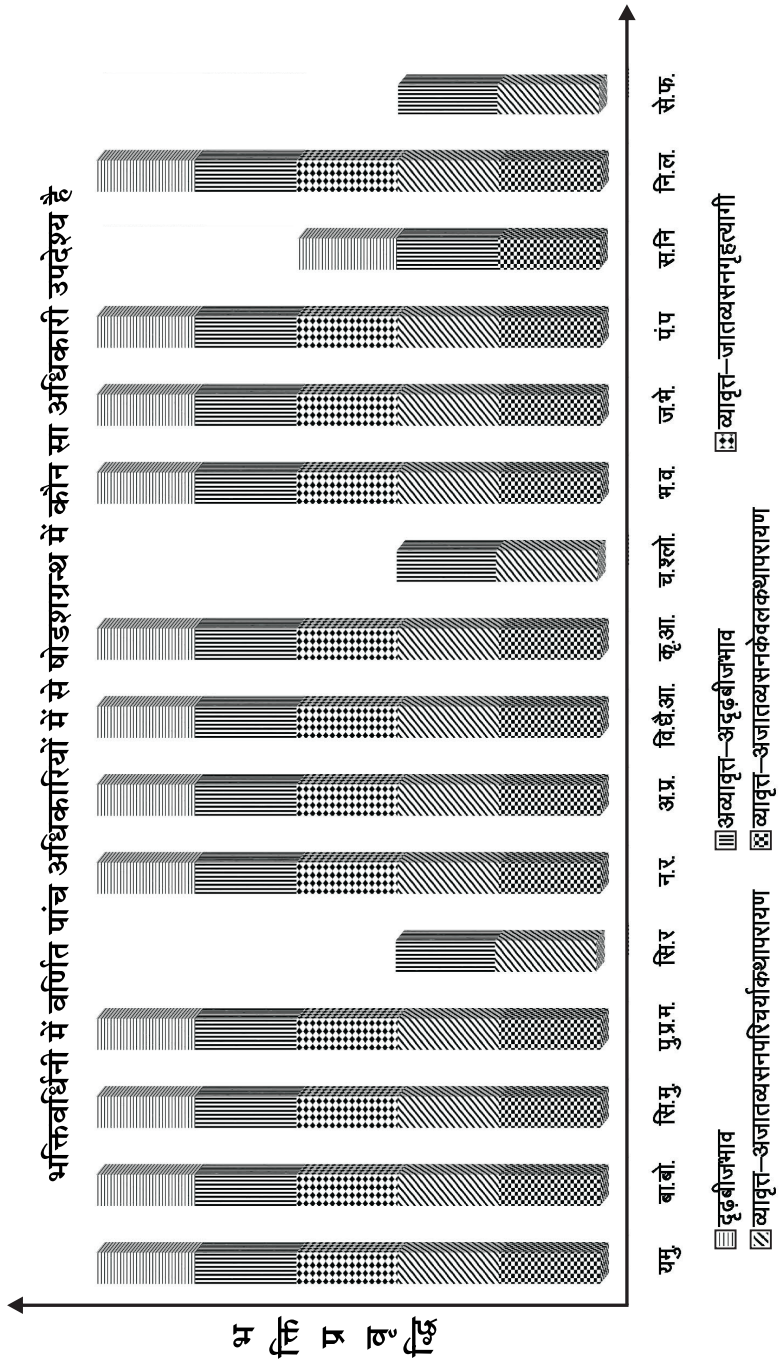

अब संन्यासनिर्णय आ रहा है। संन्यासनिर्णय को ध्यान से समझें कि यह पहले, तीसरे और पाँचवें अधिकारियों के लिए आ रहा है, दूसरे और चौथे अधिकारियों के लिए नहीं। जो एक, तीन और पाँच से चिह्नित अधिकारी हैं उनके लिए संन्यासनिर्णय ग्रन्थ प्रकट किया गया है, दो और चार के लिए संन्यास की कोई आवश्यकता ही नहीं है। जो श्रीठाकुरजी के साथ घर में जी रहा है उसका घर कारागृह नहीं है। श्रीमहाप्रभुजी उसके घर को मुक्ति से अधिक कहते हैं – ''भक्तानां संसारो मुक्त्यपेक्षया अधिकः।'' भक्त का संसार मुक्ति की अपेक्षा से अधिक है। न तो उसका घर कारागृह है और न उसका घर संसार है। जो अपने संसार में भगवान के साथ जी रहे हैं तो उनका संसार भी भक्ति है। इस प्रकार संन्यासनिर्णय दूसरे और चौथे अधिकारी के लिए नहीं है। मूल में वह पहले, तीसरे और पाँचवें के लिए है।

इस आलेख को अवकाश के समय फिर से बनाएँ। अभी बनाना तो कठिन लगेगा लेकिन कभी इस प्रकार से इस आलेख को पुनः बना कर देख लें। मैंने यहाँ यह आलेख बनाने के लिए जगह नहीं छोड़ी है इसलिए गड़बड़ हो गई।

अब पुनः देखें कि निरोधलक्षण सबके लिए है। वह किसी एक के लिए नहीं और सेवाफल दूसरे और चौथे अधिकारी के लिए कहा गया है, सेवाफल सबके लिए नहीं है। कारण यह है कि ''सेवायां फलत्रयं नतु कथायां फलत्रयम्।'' इस प्रकार हम ''सेवायां फलत्रयम्'' कह रहे हैं तो भक्तिवर्धिनीयुक्त दूसरा और चौथा अधिकारी आ रहा है, एक, दो और तीन स्वतः अलग हो गए हैं।

।। इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितानि पञ्चपद्यानि।।

॥ संन्यासनिर्णय ॥

भूमिका :-

सभी षोडशग्रन्थों को भक्तिवर्धिनी के सारांश में समाहित करने का दृष्टिकोण था जिसे हमें ध्यान से समझना पड़ेगा। इससे हमें - **''अधिकारी पांखे ए वाणी नहीं कोने उच्चार''** (जो अधिकारी होता है वही प्रभुलीला का निरूपण कर सकता है, अन्य कोई अथवा अनधिकारी नहीं कर सकता) वाली बात समझ में आएगी कि किसको क्या कहना है। हमारे मानस-पटल पर यह विचार स्पष्ट रहना चाहिए कि श्रीमहाप्रभुजी किसको क्या कहना चाहते हैं। यदि यह बात हमारे अंतस में स्पष्ट नहीं हो तो हमें ग्रन्थ के हेतु को समझने में बहुत परेशानी उत्पन्न होगी। कारण यह है कि सेवा करते-करते जब हमें संन्यास लेने की इच्छा होगी तो ऐसा करने से उलझनवाली स्थिति उत्पन्न होगी।

अपने यहाँ श्रीगुसांईजी की वार्ता में आता है कि जिस समय शाक में कुछ अनपेक्षित बड़े टुकड़े आ गए तो श्रीगुसांईजी ने कहा कि भाई, मेरे घर में यदि प्रभु के श्रम का इतना भी विचार नहीं हो रहा है तो गार्हस्थ्य निभाना व्यर्थ है, इसलिए मैं संन्यास लूँगा। इस पर श्रीगिरधरजी को आज्ञा की कि मेरे कपड़े भगवा रंग दें, मैं घर छोड़ कर जाऊँगा। इसके बाद श्रीनवनीतप्रियाजी ने आज्ञा की कि मेरा तनिया भी भगवा रंग में रंग दें। जहाँ श्रीगुसांईजी के भगवा कपड़े सूख रहे थे वहाँ श्रीनवनीतप्रियाजी का भगवा रंग का एक तनिया भी सूख रहा था। श्रीगुसांईजी ने पूछा कि भाई, यह क्या है? यह तनिया यहाँ कहाँ से आया? तो उन्होंने कहा कि श्रीनवनीतप्रियाजी भी कह रहे हैं कि भाई, आप संन्यास ले कर जा रहे हैं तो हम भी संन्यास ले कर जाएंगे, यहाँ रहने का क्या फायदा! जिनके भरोसे इस घर में रहते हों, वे ही संन्यास लेते हों तो फिर हम भी संन्यासी भले!

ऐसी ही परिस्थिति दामोदरदासजी और श्रीमहाप्रभुजी के बीच भी उत्पन्न हो गई थी कि जिस समय श्रीमहाप्रभुजी संन्यास लेना चाह रहे थे तब दामोदरदासजी ने कहा कि यदि आप संन्यास ले रहे हैं तो मैं भी संन्यास ले लेता हूँ। उस समय श्रीमहाप्रभुजी को उन्हें विशेषरूप से समझाना पड़ा कि संन्यास कब लिया जाता है, कब नहीं लिया जाता, मैं क्यों संन्यास ले रहा हूँ, मेरे लिए संन्यास लेना क्यों आवश्यक है, तुम्हारे लिए संन्यास लेना क्यों अनावश्यक है। यह सब दामोदरदासजी को समझाना पड़ा कि मेरे पीछे-पीछे निरर्थक मेरा अनुकरण मत करो। तुम जहाँ हो, वहीं रहो।

अब सोचें कि जिन दामोदरदासजी के लिए श्रीमहाप्रभुजी यह आज्ञा कर रहे हैं कि **''दमला ये मार्ग तेरे लिए प्रकट कियो है''** उन्हीं दमला को आपश्री संन्यास में साथ नहीं ले जाना चाहते। तुम यहीं रहो। वह हेतु ही कुछ और है जहाँ दामोदरदासजी की आवश्यकता नहीं है। दामोदरदासजी श्रीमहाप्रभुजी की स्वरूपासक्ति के कारण संन्यास ले रहे हैं। उस स्वरूपासक्ति की इन परिस्थितियों में आवश्यकता नहीं है। इसलिए श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा दे रहे हैं कि व्यर्थ ही किसलिए साथ में आ रहे हो। जहाँ तुम्हें रखा है, जहाँ नियत किया है वहीं रहो। कर्तव्य पर रहो, नकल मत करो।

यहाँ यह बात ध्यान से समझें कि दामोदरदासजी किस स्तर तक श्रीमहाप्रभुजी के सर्वस्व हैं। श्रीमहाप्रभुजी के कई सच्चे सेवक - यद्यपि तुलना नहीं करनी चाहिए लेकिन केवल विषय को समझाने के लिए तुलना करके बता रहा हूँ, इससे अधिक कोई गम्भीर तात्पर्य इसमें मेरा नहीं है - किसी न किसी मार्ग से आए हैं परन्तु दामोदरदासजी किसी मार्ग से नहीं आए। श्रीमहाप्रभुजी के सामने एकदम कूद कर आ गए, जैसे आकाश से वर्षा होती है उसी प्रकार श्रीमहाप्रभुजी के सामने दामोदरदासजी बरस गए हैं।

जब सम्पत्ति का बंटवारा हो रहा था और दामोदारदासजी उदास बैठ कर विचार कर रहे थे कि घर में यह कैसी झंझट हो रही है, उसी समय उनको श्रीमहाप्रभुजी दिखाई दे गए। किसी वार्ता में यह कहा गया है कि वे ऊपर से कूदे थे, किसी ने कहा है कि वे दौड़ कर चले आए। वास्तविकता जो कुछ भी हो, समझनेवाली बात यह है कि भावनात्मक दृष्टि से वे किसी मार्ग से श्रीमहाप्रभुजी के पास नहीं पहुँचे, जा कर सीधा बरस गए हैं और पीछे-पीछे चल निकले हैं। कोई बात ही नहीं की श्रीमहाप्रभुजी ने, केवल इतना ही पूछा-''दमला! तू आयो।''उन्होंने कहा हाँ, आ गया। तो चलो साथ।

इस उत्कृष्ट कोटि के पारस्परिक लगाव को देखते हुए श्रीमहाप्रभुजी इतने निष्ठुर क्यों हो रहे हैं? कल्पना करें कि दामोदरदासजी के हृदय पर क्या बीती होगी जिस समय श्रीमहाप्रभुजी ने यह कहा होगा कि तुम्हें साथ नहीं ले जा रहा, जबकि उनकी तो कोई गृहस्थी भी नहीं थी। श्रीमहाप्रभुजी संन्यास ले रहे हैं तो श्रीनवनीतप्रियाजी की भांति दामोदरदासजी भी कह रहे हैं कि मैं भी संन्यास लूँगा। श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा नहीं दे रहे हैं क्योंकि संन्यासनिर्णय तुम्हारे (दामोदरदासजी) के लिए नहीं है।

इस प्रकार श्रीमहाप्रभुजी और श्रीगुसांईजी के चरित्र के उक्त दो प्रसंग संन्यास का निर्णय करने के लिए अपने यहाँ बहुत प्रेरक प्रसंग हैं। इस बात को ध्यान में रखते हुए हम संन्यासनिर्णय ग्रन्थ के विषय में आगे बढ़ेंगे। दूसरी बात, जो पुस्तक के अन्तर्गत नहीं आई, चलते-फिरते बात आ गई थी, वह यह थी कि योग और ध्यान, कला है तथा तप और ज्ञान, कौशल है।

कला और कौशल का थोड़ा बहुत भेद जो समझते होंगे वे जानते होंगे कि कला क्या है और कौशल क्या है, आर्ट क्या है और क्राफ्ट क्या है। त्याग, एक कौशल है और वैराग्य एक कला है। इस बात को भलीभाँति समझेंगे तो सारी बात समझ में आ जाएगी। संन्यास में दोनों तत्त्व विद्यमान हैं। एक तत्त्व

त्याग का है और एक तत्त्व वैराग्य का है। संन्यास में वैराग्यवाला तत्त्व, कला है वह कौशल नहीं है। वैराग्य, जीवन जीने की एक कला है। संन्यास में त्यागवाला भाग एक कौशल है, वह कला नहीं है। त्याग में कुछ पसीना आएगा। उसमें अनुभूति नहीं होती, पसीना आएगा। उसको अनुभूति की किसी प्रकार की सहज प्रेरणा नहीं होती। यह बात अवश्य है कि वैराग्य और त्याग दोनों को मिला कर संन्यास होता है। यह बात भूलनी नहीं चाहिए। कारण यह है कि वैराग्य और त्याग - दोनों नहीं हैं तो संन्यास नहीं है। ऐसे कई विरक्त, जीवन जी गए जिनको वैराग्य तो बहुत था परन्तु उनमें त्याग नहीं था। संन्यास के प्रचलित अर्थ में हमारे यहाँ संन्यास अभिप्रेत नहीं है, आध्यात्मिक अर्थ में संन्यास कह दें तो बात अलग है। इसके अलावा चलता-फिरता त्याग किया है और वैराग्य नहीं है, त्याग तो कर दिया, सभी वस्तु छोड़ दी।

जैसे हम एकादशी के दिन भोजन नहीं करते, फिर ढोकला, फाफड़ा के सपने ही आते रहते हैं। तब त्याग तो किया ही है परन्तु त्याग करने के बाद यदि ढोकला और फाफड़ा के सपने आ रहे हैं तो वैराग्य तो नहीं ही है और वह संन्यास भी नहीं है। हमें वैराग्य नहीं इसलिए वापस कुटू के ढोकले खाने पड़ते हैं, आलू के वेफर भी खाने पड़ते हैं, इसी प्रकार की पच्चीसों वस्तुएँ खानी पड़ती हैं।

यद्यपि उस दिन हम त्याग कर रहे हैं परन्तु हमें अन्न का वैराग्य कहाँ है? अन्न का त्याग कितना आसान है और कितना स्वादिष्ट है कि रोज चाहे दस वस्तुएँ न बनती हों पर एकादशी के दिन दस-पन्द्रह वस्तुएँ बन जाती हैं क्योंकि उस दिन हमने अन्न का त्याग किया है! हम अन्न की एवज में कुछ और चाहते हैं कि भाई आज भोजन नहीं। इसलिए कहते हैं कि यह भी बनाएँ और यह भी बनाएँ और वह भी बनाएँ।

तो यह बात ध्यान से समझें कि हम संन्यास कर रहे हैं और संन्यास में

त्यागवाला तत्त्व तो आया परन्तु वैराग्यवाला तत्त्व नहीं आया इसलिए उस दिन दो के स्थान पर दस वस्तुएँ बन जाती हैं, जो रोज नहीं बनती हैं। अत: यह बात केवल एकादशी के उदाहरण को देख कर समझ में आ जाएगी अथवा कभी हरिद्वार या ऋषिकेश जा कर देखेंगे तो समझ में आ जाएगी।

हममें से किसी के घर इतने वैभवशाली नहीं होते जितने आजकल आश्रम वैभवशाली हैं। प्रत्येक आश्रम पर एन्टीना लगा होता है। कई आश्रमों में फेस्टोयस कुत्ते भी हैं। वहाँ बाहर बोर्ड पर भी लिखा होता है – कुत्ते से सावधान। आप सोचेंगे कि भाई सारी दुनिया छोड़ कर हरिद्वार, ऋषिकेश में रहने क्यों आए? मैंने एक आश्रम के दरवाजे पर जा कर चौकीदार को पूछा कि यहाँ स्वामीजी रहते हैं ना? उसने कहा कि अन्दर बैठे हैं। मैंने कहा कि फिर यहाँ 'कुत्ते से सावधान' – क्यों लिखा है? उसने कहा कि आपको दर्शन करने हों तो अन्दर जाएँ नहीं तो यहाँ से चले जाएँ। मैंने कहा कि ठीक है।

कुत्ते से सावधान और वह भी आश्रम में? जो जगत को छोड़ कर हरिद्वार आ गए, जगत् को छोड़ कर ऋषिकेश आ गए तो कुत्ते से सावधान किसलिए यार? पहले तो आपसे ही सावधान होना पड़ेगा, कुत्ते से तो बाद में कभी फुरसत में सावधान हो जाएंगे। यह क्या चक्कर है? चक्कर यही है कि त्याग कर दिया और वैराग्य बिलकुल नहीं है!

अत: संन्यास के पक्ष को वास्तव में नियम से देखें तो – **वैराग्य + त्याग = संन्यास,** विपरीतत: देखें तो **त्याग + वैराग्य = संन्यास** भी संभव है। बाकी त्याग कर दिया और फिर हम सोचें कि धीरे-धीरे वैराग्य करेंगे तो फिर विषयासक्ति कुत्ते की तरह पीछे पड़ जाएगी। विषयासक्ति भौंकने के स्थान पर काटने लगेगी। पहले त्याग किया तो हम पर केवल भौंकती रहेगी लेकिन जब त्याग कर दें और वैराग्य न करें तो विषयासक्ति हमें काटने लगेगी।

इस प्रकार यह बात ध्यान से समझें कि संन्यास क्या है। दूसरों के बारे में मुझे ज्ञात नहीं है परन्तु इतना अवश्य भलीभाँति पता है, इतना मुझे विश्वास है – अन्य किसी दृष्टिकोण से मैंने कभी सम्यक् विचार नहीं किया परन्तु श्रीमहाप्रभुजी के दृष्टिकोण से मैं इस बात को एकदम दृढ़तापूर्वक समझाना चाहता हूँ कि संन्यास कहें या त्याग कहें अथवा वैराग्य कहें – श्रीमहाप्रभुजी के मत में यह कोई मार्ग नहीं है। मार्ग नहीं है बल्कि मार्ग का एक अलंकरण हो सकता है।

मार्ग का होना और मार्ग का अलंकरण होना अर्थात् क्या? यही कि उस पर हमने वृक्ष लगा दिए, मार्ग पर हमने सुरक्षा चौकी बैठा दी। जैसे प्रत्येक मार्ग पर पुलिस चौकी होती है। रास्ते पर अस्पताल कहाँ है, संभावित दुर्घटना की स्थिति में सूचनापट्ट लगाया जाता है कि भाई दुर्घटना हो जाए तो यहाँ से एक मील दूर अस्पताल है, अमुक स्थान पर डॉक्टर है, प्यास लगी हो तो रास्ते पर पानी की प्याऊ लगाई जाती है, धर्मशाला बनाई जाती है, रैन बसेरा बनाया जाता है। इस प्रकार रास्ते पर कई अलंकरण हो सकते हैं। रास्ते पर फुटपाथ बना देते हैं। अलग-अलग विभाग बना देते हैं – यह शीघ्रगामीपथ विभाग है, यह धीमीगतिपथ विभाग है, डिवाइडर बनाते हैं, लाईट लगा देते हैं। ये सब मार्ग नहीं हैं बल्कि मार्ग के अलंकरण हैं।

श्रीमहाप्रभुजी के मतानुसार मार्ग तो कर्म, ज्ञान और भक्ति-तीन ही हैं। श्रीमहाप्रभुजी के मत में त्याग, वैराग्य और संन्यास किसी मार्ग की भाँति व्यवहार हेतु सक्षम नहीं हैं। इसलिए श्रीमहाप्रभुजी त्याग, वैराग्य, संन्यास की कोई स्वतंत्र योग्यता मान्य नहीं करना चाहते। इसीलिए श्रीमहाप्रभुजी ने षोडशग्रन्थ में संन्यासनिर्णय पर कर्म, भक्ति और ज्ञान के संदर्भ में विचार किया है। कर्म, भक्ति और ज्ञान के संदर्भ से रहित अपने स्तर पर संन्यास का विचार करना श्रीमहाप्रभुजी ने आवश्यक नहीं समझा। कारण यह है कि वे मार्ग हैं ही

नहीं, मार्ग के अलंकरण हो सकते हैं। मार्ग की योग्यता श्रीमहाप्रभुजी कर्म, भक्ति और ज्ञान - इन तीन को ही प्रदान करते हैं, संन्यास, त्याग अथवा वैराग्य को प्रदान नहीं करते।

संन्यासनिर्णय ग्रन्थ का मूलभूत सारांश यह है कि संन्यास तीन प्रकार का हो सकता है। 1. कर्ममार्गीय, 2. ज्ञानमार्गीय, 3. भक्तिमार्गीय।

कर्ममार्गीय प्रथम प्रकार का संन्यास है कि कर्म सब करें परन्तु उनके फल की आशा न रखें। कर्ममार्गीय संन्यास का दूसरा प्रकार चतुर्थाश्रमरूप संन्यास है जिसका आज अपनी जीवनशैली में हजारों में से कोई एकाध व्यक्ति पालन करता होगा। कारण यह है कि चार आश्रम की जो व्यवस्था थी वह पूरी तरह ध्वस्त हो गई है। ये चार आश्रम थे - 1. ब्रह्मचर्याश्रम, 2. गृहस्थाश्रम, 3. वानप्रस्थाश्रम, 4. संन्यासाश्रम।

एक के बाद एक इन सभी आश्रम से हमें गुजरना पड़ता था। श्रीमहाप्रभुजी ने चारों आश्रम को निभाया था। यह प्राचीन व्यवस्था थी। अब वह व्यवस्था उच्छिन्न हो गई है क्योंकि मूल में ब्रह्मचर्याश्रम आज की तारीख में विद्यमान नहीं है। वानप्रस्थाश्रम भी समग्रता में नहीं रहा, आंशिकरूप से रहा है- हम इस प्रकार विचार कर सकते हैं कि कहीं-कहीं वृद्धाश्रम बन गए हैं। जिनके बेटे अपने माँ-बाप का पालन-पोषण नहीं करते वे बेचारे वृद्धाश्रम में चले जाते हैं। यह व्यवस्था भी बहुत पंगु है। समस्त भारत के जो प्राक्वृद्ध अवस्था के व्यक्ति हैं अर्थात् वृद्ध भी नहीं हुए और युवा भी नहीं रहे, उनकी वानप्रस्थ की मांग की पूर्ति करनेवाली कोई व्यवस्था हम आज तक प्रस्तुत नहीं कर सके। अत: वानप्रस्थ भी नहीं रहा।

संन्यास जरूर रह गया है परन्तु वर्तमान में जिस प्रकार संन्यास लिया जा रहा है वह बहुत ही विचित्र संन्यास है, जिसकी शास्त्र में कल्पना भी नहीं

थी। आज बैठे-बिठाए विचार आ गया कि चाँद घुटा लेनी चाहिए, भगवा पहन लेना चाहिए। इसलिए चाँद घुटा ली और भगवा कपड़े पहन लिए। संन्यास की ऐसी अवस्था का शास्त्र को आभास भी नहीं था जो आज चल रही है। हमारे लिए शास्त्र द्वारा संन्यास की जो व्यवस्था अभिमत है उस पर कभी विस्तार से चर्चा करेंगे, अभी समय नहीं है।

इस प्रकार संन्यास चतुर्थाश्रमरूप है। जैसे चार वर्ण थे - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और चार आश्रम थे - ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम, संन्यासाश्रम। आजकल हम समझते हैं कि विद्यालय जाने वाला, कॉलेज जानेवाला लड़का ब्रह्मचारी है, आवश्यक नहीं कि वह ब्रह्मचारी है अर्थात् ब्रह्मचर्य का तात्पर्य अविवाहित होना नहीं है। ब्रह्मचर्य का तात्पर्य है ऋषिकुल में रह कर शास्त्र का-वेद का अध्ययन करना।

ब्रह्म का अर्थ है वेद और वेद का अध्ययन करनेवाला ब्रह्मचारी। वेद के अध्ययन के संदर्भ से वह ब्रह्मचारी है, हम आज ब्रह्मचर्य का अर्थ सेक्स न करना समझते हैं। पहले वेद का अध्ययन करने का एक नियम था। आजकल ब्रह्मचर्य उक्त अर्थ में अधिक प्रचलित हो गया है और ब्रह्म का 'वेद' अर्थ वेदाध्ययन के अर्थ में नहीं रहा। इसलिए कोई वेद नहीं पढ़ता है। न ब्राह्मण के बेटे पढ़ते हैं, न क्षत्रिय के बेटे पढ़ते हैं और न वैश्य के बेटे पढ़ते हैं। किसी के पास समय नहीं है। जो पढ़ते हैं उनके पास समाज में करने लायक कोई कार्य नहीं है जिससे वे अपने विशिष्ट कार्य को समाज में निभा सकें। पढ़े हुए शास्त्र की कोई सामाजिक उपयोगिता नहीं रही, इस कारण से सारी प्रणाली एकदम छिन्न-भिन्न हो गई है, मृतप्राय हो गई है।

अब भक्तिमार्गीय संन्यास के भी दो प्रकार हो सकते हैं। भक्ति प्राप्त करने के लिए अथवा भक्ति सिद्ध हो जाने के बाद का संन्यास। भक्ति की प्राप्ति हेतु भी श्रीमहाप्रभुजी दो संभावनाएँ बता रहे हैं कि भक्ति के साधकअंग श्रवण, कीर्तन,

स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य, आत्म-निवेदन हैं। ये साधकअंग हमसे घर में नहीं निभ सकते इसलिए हम संन्यास लेना चाहते हैं - एक संभावना यह है। घर में व्यवस्था ही ऐसी नहीं है कि जिसके अन्तर्गत हम भक्ति के श्रवणादि साधकअंगों को निभा सकें। अत: घर में नहीं निभा सकते तो भक्तिसाधक श्रवणादि के निर्वाहार्थ और भक्तिबाधक गृहादि के त्यागार्थ संन्यास ले लेंगे। एक हमारा यह अभिगम है कि भक्ति के साधक श्रवणादि अंगों को घर की बजाए संन्यास में भलीभाँति निभा सकेंगे इसलिए संन्यास ले लेना चाहिए।

अथवा तो फिर गृहस्थी की जीवनशैली बाधक हो रही है इसलिए भक्तिबाधक गृहादि के त्यागार्थ भी एक संन्यास है। ऐसे दो प्रकार के भक्त्यर्थ संन्यास हो सकते हैं। यहाँ इन दोनों में हम देख सकते हैं कि इस प्रकार का संन्यास लेने की वृत्ति में साधक के हृदय में ऐसी भावना है कि किसी प्रकार मैं भक्ति को प्राप्त करूँ अत: भक्ति प्राप्त करने के लिए भक्त्यर्थ संन्यास है।

दूसरा एक भक्त्युत्तर संन्यास है अर्थात् हमें भक्ति प्राप्त हो गई है जिसके कारण सांसारिक बातों में हमें कोई आकर्षण नहीं रहा, जिसके कारण हम भगवान में आसक्त हो गए हैं। संन्यास के इस प्रकार में गृह-त्याग आवश्यक नहीं है, घर में रह कर भी मनुष्य इस अवस्था को प्राप्त कर सकता है।

जैसे चतुर्थाश्रमरूप कर्म में कहा गया है कि कर्मफलत्याग के लिए चाँद घुटाने अथवा भगवा कपड़े पहनने की आवश्यकता नहीं है। आप जो भी कोई कर्म कर रहे हैं और उस कर्म के फल का त्याग कर रहे हैं तो वस्तुत: कर्म का त्याग नहीं कर रहे, सभी कर्म निभा रहे हैं परन्तु उसके फल की आकांक्षा आपके हृदय में नहीं है। जैसा कि गीता का सन्देश है, लगभग उसी के समानान्तर भक्ति में यह सन्देश हो जाएगा कि हम सम्पूर्ण जगत् के विषयों के बीच रह रहे हैं परन्तु उनमें हम आकर्षित नहीं हैं। हम आकर्षित हैं भगवान में। अब जब भगवान में आकर्षित हैं और विषयों में आकर्षित नहीं हैं, जब यह

आस्था हमें प्राप्त हो गई है तो त्याग करने की क्या आवश्कता है? त्याग का अर्थ तो यह हो गया कि हमें उससे कुछ डर लग रहा है अर्थात् हमारे भीतर कोई न कोई दुर्बलता है।

तात्पर्य यह है कि किसी न किसी प्रकार की सकारात्मक नहीं तो नकारात्मक आसक्ति तो हमारी उसके साथ है ही, अत: हमें प्रपंचविस्मृति नहीं हो रही है। एक दूसरा है भगवद्विरहानुभवार्थ गृहत्याग - क्योंकि हम घर में रहते हैं, घर का वातावरण ऐसा नकारात्मक है कि भगवान के विरह की हम अनुभूति करें तब लोग हमें पागल समझते हैं, तब हस्तक्षेप करनेवाले लोगों को हम पागल समझेंगे। अब कौन पागल है - वे हमें पूरा पागल समझते हैं, हम उनको आधा पागल समझते हैं अथवा वे हमें आधा पागल समझते हैं और हम उनको पूरा पागल समझते हैं तो कुटुम्ब में इस प्रकार का जो संघर्ष चलता है उसकी उपेक्षा करने के लिए भगवद्विरहानुभवार्थ गृहत्याग की छूट है।

जिस प्रकार भक्त्यर्थ और भक्त्युत्तर संन्यास हैं उसी प्रकार ज्ञानमार्गीय संन्यास ज्ञान प्राप्त करने के लिए है और दूसरा ज्ञानोत्तर संन्यास - (1) ज्ञान प्राप्त करने के लिए संन्यास और (2) ज्ञान प्राप्त हो जाने के बाद का संन्यास। यहाँ ज्ञान का अर्थ किसी प्रकार की पी.एच.डी. अथवा एम.ए. आदि की डिग्रीवाला ज्ञान नहीं है। यह ज्ञान मूलरूप से यह है कि सर्वत्र ब्रह्म है। जीव, देश के (स्थान के) स्वरूपत्व से गतार्थ नहीं है। जीव स्वयं में एक पृथक् वास्तविकता है, देह स्वयं में एक पृथक् वास्तविकता है। इस प्रकार का ज्ञान मूलभूत ज्ञान कहा जाता है - अर्थात् जीव के स्वरूप का ज्ञान, ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिए यदि हम घर में रहेंगे तो जीव को देह में लिप्त रहना पड़ेगा। देह को परिवार के कार्यों में संलग्न रहना पड़ेगा।

शंकराचार्य जी की बहुत सुन्दर उक्ति है - **''न भूमि: न तोयं न तेजो न वायुर् न खं नेन्द्रियं वा न तेषां समूह:''** - मैं न तो देह हूँ, न मन हूँ, न भूमि हूँ,

न जल हूँ, यह सब मैं नहीं हूँ। कुछ ऐसा ही ज्ञान, हमसे, स्वयं से कुछ अलग ज्ञान, उस घर में रह कर प्राप्त करना कठिन होता है क्योंकि हम घर में रहते हैं। एक साधारण सी बात बताता हूँ – कभी हम भोजन नहीं करते हैं तो घर के सभी सदस्य पीछे पड़ जाते हैं। अब उस समय हमारे लिए जड़भरत की भाँति यह कहना तो कठिन हो जाता है कि मैं नहीं खा रहा हूँ क्योंकि मैं खाता ही नहीं हूँ। ऐसा कहेंगे तो घर के लोग जोर-जबरदस्ती से खिलाना शुरू कर देंगे कि क्यों नहीं खा रहे? तब खाना पड़ता है और इस प्रकार खाते-खाते खाने की आसक्ति उत्पन्न हो जाएगी। इस सब चक्कर से बचने के लिए, ज्ञानप्राप्तिहेतु संन्यास लेने का भी एक प्रकार था।

इस प्रकार एक ऐसा ज्ञान प्राप्त हो गया कि हमने सम्पूर्ण आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया कि मेरा आत्मस्वरूप क्या है, ब्रह्मस्वरूप क्या है और उस आत्मज्ञान की अनुभूति होने के कारण विषयों में, गृहस्थ में, गृहस्थ के प्रति अपने उत्तरदायित्वों के सम्बन्ध में हमें अपने भीतर कोई अभिमान नहीं रह जाता। सारा अभिमान खण्डित हो गया तो हम घर छोड़ कर संन्यासी हो गए। संन्यास की यह सम्पूर्ण आदर्श व्यवस्था है।

इस विहंगावलोकन के पश्चात् पुष्टिमार्गीय को कैसा संन्यास लेना और कैसा संन्यास नहीं लेना, इस विषय में अब हम संन्यासनिर्णय का अनुशीलन कर रहे हैं।

*****

॥ संन्यासनिर्णयः ॥

(कर्म[श] भक्ति[ष] ज्ञान[स] मार्गभेदैः संन्यासे त्रैविध्यम्। तत्र कर्ममार्गीयः संन्यासो द्विविधः - कर्मफलत्यागरूपः[श/1] चतुर्थाश्रमरूपः[श/2] च। भक्तिमार्गीयसंन्यासस्य द्वौ उपभेदौ - भक्त्यर्थसंन्यासः[ष/1] भक्त्युत्तरसंन्यासः[ष/2] च। तथैव ज्ञानमार्गीयसंन्यासस्यापि ज्ञानार्थसंन्यासः[स/1] ज्ञानोत्तरसंन्यासः[स/२] इति द्वौ उपभेदौ। एतेषु कतमः कर्तव्यः कतमश्च न कर्तव्यः इति विचारणा)-

कर्म, भक्ति और ज्ञान मार्ग के भेद से संन्यास तीन प्रकार का है क्योंकि मार्ग तीन हैं, इसलिए संन्यास भी तीन प्रकार का हो जाएगा। कर्ममार्गीय संन्यास, भक्तिमार्गीय संन्यास और ज्ञानमार्गीय संन्यास। इन तीन मार्गों के अतिरिक्त कोई अपनी स्वयं की संन्यास की योग्यता हो तो वह श्रीमहाप्रभुजी को मान्य नहीं है। कर्ममार्गीय संन्यास के दो प्रकार हैं - (1) कर्मफलत्यागरूप (2) चतुर्थाश्रमरूप। भक्तिमार्गीय संन्यास भी दो प्रकार का है -(1) भक्त्यर्थ संन्यास (2) भक्त्युत्तर संन्यास। इसी प्रकार ज्ञानमार्गीय संन्यास के भी दो भेद अथवा प्रकार हैं - (1) ज्ञानार्थ संन्यास (2) ज्ञानोत्तर संन्यास।

कर्म, भक्ति और ज्ञान को 'श-ष-स' से चिह्नित किया है। कर्ममार्गीय संन्यास को 'श', भक्तिमार्गीय संन्यास को 'ष', ज्ञानमार्गीय संन्यास को 'स' चिह्न दिया गया है। इनके उपभेद भी बताए गए हैं इसलिए कर्ममार्गीय संन्यास श[1] और श[2], भक्तिमार्गीय संन्यास ष[1] और ष[2], ज्ञानमार्गीय संन्यास स[1] और स[2] - ये सब उपप्रकार हैं।

यहाँ समझनेवाली मूल बात यह है कि इस मार्ग पर हम आरूढ़ हो गए फिर संन्यास अथवा इस मार्ग पर आरूढ़ होने के लिए संन्यास अर्थात् जिस

मार्ग पर चल रहे थे उस मार्ग से चलते-चलते हमने निश्चय किया कि हमें अब इस मार्ग पर आना है। एक बात और समझें कि मार्ग तो सबसे बड़ा एक ही है और वह है विषयासक्ति का मार्ग, शेष तो सब उस मार्ग पर आनेवाले मोड़ हैं, बाकी जन्म से मृत्यु तक यदि कोई मोड़ न मिला तो मार्ग तो एक ही है। विषयासक्ति के मार्ग पर चलते-चलते किसी को कर्म का मोड़ आ गया, किसी को भक्ति का मोड़ आ गया, किसी को ज्ञान का मोड़ आ गया। इस प्रकार ये सब चलते-चलते आनेवाले मोड़ हैं।

ऐसे तो कोई शुकदेवजी जैसे विरले ही होते हैं जो जन्म के साथ ही ऐसे किसी मोड़वाले मार्ग पर मुड़े हुए हों, बाकी तो सबका एक ही मार्ग है। **''गाय बोली बैल से, क्यों घूरते हो भाई?''** - सब जानते हैं इस कथा को कि मार्ग तो एक ही है, इसमें छुपाने जैसी कोई बात नहीं है। अतः मोड़ पर मुड़ने के लिए संन्यास और मोड़ पर आ जाने के बाद का संन्यास - इस प्रकार के दो मूल भेद हैं।

अर्थात् मोड़ पर मुड़ने के लिए आपने संन्यास लिया और आपको संन्यास के अतिरिक्त कोई दूसरी रुचि उत्पन्न हो रही है लेकिन मोड़ पर मुड़ जाने के बाद भी आप संन्यास को जारी रख रहे हैं तो मुख्य कार्यपद्धति दो हो गईं। फिर चाहे वह कर्ममार्ग में रुचि हो, चाहे भक्तिमार्ग में हो या ज्ञानमार्ग में हो। अर्थात् ज्ञानमार्ग की तरफ मुड़ने के लिए संन्यास और ज्ञानमार्ग पर मुड़ जाने के बाद का संन्यास, भक्तिमार्ग पर मुड़ने के लिए संन्यास और भक्तिमार्ग पर मुड़ जाने के बाद का संन्यास, कर्ममार्ग पर मुड़ने के लिए संन्यास और कर्ममार्ग पर मुड़ जाने का संन्यास। इस प्रकार मूल बात यह है, देखेंगे तो समझ में आ जाएगा।

इनमें से पुष्टिमार्ग में हमारे लिए कौनसा संन्यास युक्त है और कौनसा अयुक्त, इस विषय पर संन्यासनिर्णय द्वारा श्रीमहाप्रभुजी विचार कर रहे हैं।

यद्यपि टीकाकारों में इस विषय पर थोड़ा मतभेद है तथापि इस सबके सम्बन्ध में यहाँ चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है। हमने यहाँ जो क्रमांक दे कर गणना की उसके सम्बन्ध में संक्षेप में स्पष्टीकरण अवश्य दूँगा।

श्रीमहाप्रभुजी के चरित्र ग्रन्थों के आधार पर संन्यासनिर्णय ग्रंथ श्रीमहाप्रभुजी ने नरहरि संन्यासी के लिए बद्रीनारायण में प्रकट किया। कई टीकाकार यह भी मानते हैं कि श्रीमहाप्रभुजी ने जब स्वयं संन्यास लिया था तब अपने लिए संन्यासनिर्णय प्रकट किया था। संन्यासनिर्णय की मेरी भूमिका में मैंने इसका बहुत विस्तृत विवरण दिया है और इसमें किसी इदम्-इत्थम् का दुराग्रह करना व्यर्थ है। जबतक कोई सशक्त बाधकोपपत्ति मेरे समक्ष नहीं आए तबतक मैं इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं हूँ कि संन्यासनिर्णय श्रीमहाप्रभुजी ने स्वयं संन्यास लेने के निर्णय के सम्बन्ध में प्रकट किया है।

चरित्र ग्रन्थों के आधार पर मेरी यह दृढ़ धारणा है कि यह संन्यासनिर्णय ग्रंथ श्रीमहाप्रभुजी ने नरहरि संन्यासी को यह समझाने के लिए प्रकट किया था कि पुष्टिमार्ग में संन्यास के लिए क्या अवकाश है। अन्य सभी बातों को कदाचित् हम न देखें परन्तु संन्यासनिर्णय की मेरी भूमिका देखेंगे तो वहाँ आपको विस्तारपूर्वक देखने को मिलेगा। यहाँ एक बात का मैं अवश्य उल्लेख करना चाहूँगा।

''**विरहानुभवैकार्थसर्वत्यागोपदेशकः**'' - इस प्रकार श्रीगुसांईजी आज्ञा करते हैं। विरहानुभव के लिए सर्वत्याग का उपदेश आपश्री ने किया और मेरी यह दृढ़ धारणा है कि यह नाम श्रीगुसांईजी ने संन्यासनिर्णय के ही संदर्भ में कहा है। हो सकता है कि मैं गलत होऊँ परन्तु मुझे इसमें मेरी कोई भूल दिखाई नहीं देती। श्रीगुसांईजी ने 'उपदेशकः' कहा है, ''विरहानुभवैकार्थसर्वत्यागप्रशंसकः'' नहीं कहा है कि विरहानुभव के लिए आपश्री ने सर्वत्याग की प्रशंसा की और फिर आपश्री ने संन्यास ले लिया। ऐसा

न कह कर 'उपदेशकः' कहा है।

कहने का अभिप्राय यह है कि सामने कोई संन्यासनिर्णय के लिए उपदेश्य व्यक्ति है जिसे आपश्री यह उपदेश देना चाहते हैं। यदि यह स्थिति स्पष्ट है तो हमें सुरक्षितरूप से यह मान कर चलना चाहिए कि संन्यासनिर्णय श्रीमहाप्रभुजी ने स्वयं के लिए प्रकट नहीं किया। जैसे अन्तःकरणप्रबोध अपने लिए प्रकट करके सबको उपदिष्ट किया है उस प्रकार से संन्यासनिर्णय अपने लिए प्रकट करके सबको उपदेश नहीं दिया। अपने लिए प्रकट नहीं किया अपितु संन्यासनिर्णय अपने स्वकीयों के लिए प्रकट किया है। इसमें सर्वप्रमुख बात यह है कि संन्यासनिर्णय में श्रीमहाप्रभुजी जो उपदेश दे रहे हैं उसका श्रीमहाप्रभुजी ने स्वयं संन्यास लेते समय पालन नहीं किया और आपश्री ने स्वयं जिस संन्यास का पालन किया है, उस प्रकार का उपदेश इस संन्यासनिर्णय में नहीं है। अतः यह संन्यास कोई दूसरा ही संन्यास है।

श्रीमहाप्रभुजी ने जो संन्यास लिया था वह अन्तःकरणप्रबोध में निरूपित तृतीय आज्ञा के बाद का कोई दूसरा ही संन्यास है। इस प्रकार दो प्रकार का संन्यास है क्योंकि श्रीमहाप्रभुजी स्वयं यहाँ कर्ममार्गीय, भक्तिमार्गीय, ज्ञानमार्गीय - त्रिविध संन्यास और इन तीनों के पुनः दो-दो उप विभाग बता रहे हैं। अतः मैं समझता हूँ कि स्पष्ट रूप से दो और दो चार और दो छः प्रकार के संन्यास यहाँ शब्दशः एवं तात्पर्यशः वर्णित हो रहे हैं। इन छः प्रकार के संन्यास में से आपश्री ने जिस प्रकार का संन्यास लिया उस प्रकार के संन्यास का यहाँ उपदेश नहीं दे रहे हैं।

जिस प्रकार के संन्यास का उपदेश यहाँ दिया गया है, वैसा संन्यास नरहरि संन्यासी का दिखाई दे रहा है, आपश्री का नहीं। आपश्री को इस प्रकार के संन्यास की आवश्कता है, ऐसा मैं कदापि नहीं मान सकता, कदापि नहीं अर्थात् कदापि नहीं - त्रिकाल में भी नहीं मान सकता।

कारण यह है कि भक्तिवर्धिनी में हमने देखा है कि ''बीजभावे दृढ़े तु स्यात् त्यागात् श्रवणकीर्तनात्।'' जिसका बीजभाव दृढ़ है वह घर छोड़ कर जा सकता है। क्या इस वर्गीकरण में हम श्रीमहाप्रभुजी का संन्यास सम्मिलित करेंगे? इस वर्गीकरण को जब हम इन तीन के साथ समझेंगे कि – ''यदा स्यात् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव हि, तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम्, त्यागं कृत्वा यतेद् यस्तु तदर्थार्थैकमानसः'' – जब व्यसन सिद्ध हो जाए तब संन्यास ले लें। क्या हमें यहाँ यह मानना चाहिए कि श्रीमहाप्रभुजी को अड़ैल में रहने के पश्चात् भगवद्व्यसन सिद्ध हो गया और उनको अचानक संन्यास लेने की आवश्यकता हुई? अथवा भगवान की तृतीय आज्ञा – ''देहदेशपरित्यागः तृतीयो लोकगोचरः'' – कि आप देहदेश का परित्याग करें – ऐसी आज्ञा सुनते ही आपश्री को व्यसन हो गया इसलिए संन्यास लेने की आवश्यकता पड़ी?

ये सभी कल्पनाएँ मुझे थोड़ी असंगत जैसी लगती हैं। श्रीमहाप्रभुजी इस प्रकार का संन्यास लेना चाहनेवाले व्यक्ति नहीं हैं। इस संन्यासनिर्णय के उम्मीदवार कोई दूसरे ही व्यक्ति हैं और यहाँ जो कुछ भी उन्हें कहा गया है उस वर्गीकरण में, इतनी निम्नकक्षा के वर्गीकरण में, श्रीमहाप्रभुजी, भक्तिमार्ग की दृष्टि से नहीं हैं।

घर में सेवा नहीं हो रही इस कारण से संन्यास ले सकते हैं परन्तु ध्यान से समझें कि श्रीमहाप्रभुजी इस स्थिति के बिना पहले तीस वर्ष बिता चुके थे और तीस वर्ष की वय से विवाहोपरान्त घर में ही सेवा की थी। अतः जब घर में ही सेवा की है तथा उस समय आपश्री संन्यास लेने का विचार करते तो श्रीनवनीतप्रियाजी, जो श्रीगुसांईजी को तनिया दे सकते हैं तो श्रीमहाप्रभुजी को क्यों नहीं दे सकते कि आप संन्यास ले रहे हैं तो हमारा तनिया भी भगवा रंग में रंगवा दें!

मैं यह बात तो कभी भी मानने को तैयार नहीं हूँ कि श्रीनवनीतप्रियाजी को श्रीगुसांईजी पर ही आसक्ति थी और श्रीमहाप्रभुजी पर आसक्ति नहीं थी। सच तो यह है कि श्रीनवनीतप्रियाजी पर श्रीगुसांईजी को इसलिए आसक्ति हुई कि श्रीमहाप्रभुजी को आसक्ति थी। श्रीमहाप्रभुजी को श्रीनवनीतप्रियाजी पर अतिशय आसक्ति थी। यदि सच बात कहूँ तो श्रीनवनीतप्रियाजी श्रीमहाप्रभुजी की दुर्बलता थे। इसके अतिरिक्त मैं हमेशा यह बात कहता आया हूँ कि सुबोधिनी में जब यह प्रश्न उठा कि किस स्वरूप की सेवा करनी चाहिए तब श्रीमहाप्रभुजी ने वहाँ स्पष्ट पंक्ति लिखी है कि यह प्रश्न व्यर्थ है कि किस स्वरूप की सेवा करनी चाहिए। कारण यह है कि स्वरूप के हजार प्रकार हो सकते हैं, उनमें से कौनसा स्वरूप किसके मन को लुभाता है यह हम कैसे बता सकते हैं? जैसे श्रीनवनीतप्रियाजी के स्वरूप पर श्रीमहाप्रभुजी की आसक्ति थी, तो महाराज, आपकी चोरी पकड़ी गई है कि यहाँ अचानक श्रीनवनीतप्रियाजी कैसे याद आ गए?

तो श्रीमहाप्रभुजी की तो श्रीनवनीतप्रियाजी दुर्बलता थे और कितनी बड़ी दुर्बलता थे यह हम देखें तो समझ में आए कि आपश्री के परिवार में से मदनमोहनजी पधारे, आपश्री के ससुराल से श्रीगोकुलनाथजी पधारे फिर विट्ठलनाथजी पधारे, इतने पर भी गज्जन धावन के घर से आपश्री खाली हाथ पधार रहे थे और मन में आपश्री को संकोच हुआ कि अब श्रीनवनीतप्रियाजी तो गज्जन को पधरा दिए हैं फिर वापस किस प्रकार मांगें तब श्रीनवनीतप्रियाजी ने गज्जन को कहा कि भाई, मुझे वहीं जाना है।

अतः श्रीनवनीतप्रियाजी तो श्रीमहाप्रभुजी की दुर्बलता हैं और श्रीनवनीतप्रियाजी ने भी यह अनुभव किया है और श्रीनवनीतप्रियाजी के कारण बेचारे गज्जन की भी इतनी दुर्बलता है। वे भी श्रीनवनीतप्रियाजी को छोड़ नहीं सकते। इसलिए गज्जन धावन, श्रीनवनीतप्रियाजी और श्रीमहाप्रभुजी, तीनों

एक साथ रहने लगे। इस प्रकार व्यसन तो उसी दिन प्रमाणित हो गया जिस दिन श्रीमहाप्रभुजी ने अपनी दुर्बलता स्वीकार कर ली, उसी दिन व्यसन तो सिद्ध हो गया कि यह चक्कर है और वहाँ वह दुर्बलता भी अचानक पकड़ी गई। इससे समझ सकते हैं कि श्रीनवनीतप्रियाजी, श्रीमहाप्रभुजी की कितनी बड़ी दुर्बलता है! अब पहले से ही इतनी दुर्बलता है तो फिर घर छोड़ने, त्यागने की आवश्यकता किस प्रकार हो सकती है? श्रीनवनीतप्रियाजी ने किसलिए श्रीमहाप्रभुजी को अपना तनिया नहीं दिया कि मेरा तनिया भी भगवा रंग में रंगा दें।

यहाँ ध्यान से समझें कि सेवा न करने के कारण, केवल कथा और कीर्तन करने के कारण ''स्नेहाद् रागविनाशः स्याद् आसक्त्या स्याद् गृहारुचिः, गृहस्थानां बाधकत्वम् अनात्मत्वं च भासते, यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव हि'' अर्थात् भगवान के स्नेह के कारण, विशेषरूप से हम देखें तो श्रीनवनीतप्रियाजी को पधरा देने से अथवा जितने भी स्वरूप श्रीमहाप्रभुजी के घर में विराज रहे हैं उन सबको पधरा देते तो उन स्वरूपों में राग के कारण, स्नेह के कारण श्रीमहाप्रभुजी को घर के प्रति राग-विनाश होता?

अड़ैल में अपने घर के प्रति आपश्री को अरुचि हुई? अरुचि कैसे हो सकती है जबकि एक ही स्थान पर आपके भावों के पोषण के लिए इतने स्वरूप घर में विराज रहे हैं! घर में अरुचि कैसे हो सकती है? फिर जिस घर में श्रीठाकुरजी विराज रहे हैं उस घर में अरुचि हो जाए तो बात का सत्यानाश हो गया न! महालक्ष्मीजी जैसी आदर्श पत्नी, श्रीगोपीनाथजी - श्रीगुसांईजी जैसे आदर्श पुत्र हों और घर में अनात्मकता का भास! ऐसा कैसे हो सकता है?

''गृहस्थानां बाधकत्वम् अनात्मत्वं च भासते'' का कोई भी प्रश्न इस चरित्र में प्रकट रूप से नहीं दिखाई देता अथवा यह अधिकार श्रीमहाप्रभुजी का मानने की आवश्यकता ही नहीं है तथा संन्यासनिर्णय श्रीमहाप्रभुजी के इस

अधिकार के संदर्भ में नहीं कहा जा रहा है। मैं आपको बता चुका हूँ कि संन्यासनिर्णय तीन अधिकारियों के संदर्भ में कहा जा रहा है। संन्यासनिर्णय के उपदेश को ग्रहण करने का अधिकार श्रीमहाप्रभुजी को क्यों नहीं है और इस संन्यास निर्णय के उपदेश को ग्रहण करने के लिए श्रीमहाप्रभुजी क्यों अनधिकारी हैं? क्यों अधिकारी नहीं हैं? इन सब बातों पर पर्याप्त विचार करने के बाद मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि नरहरिदास संन्यासनिर्णय के उपदेश के लिए सर्वथा योग्यतम अधिकारी हैं।

यह संन्यासनिर्णय श्रीमहाप्रभुजी ने अपने लिए नहीं लिखा, स्वयं के संन्यास के लिए नहीं लिखा है। यह नरहरिदास को समझाने के लिए लिखा गया है। क्योंकि वे पहले से ही संन्यास ले चुके थे। उनके द्वारा लिए गए संन्यास को श्रीमहाप्रभुजी ने मथुरा में परिष्कृत करवाया था कि भाई, गलत तरीके से संन्यास ले लिया है। सही अर्थ में संन्यास लें। सम्यक् संन्यास लेने के बाद बद्रीनाथ में दोनों की पुनः मुलाकात हुई और उस समय नरहरिदास ने श्रीमहाप्रभुजी को विनती की कि संन्यास तो मैंने ले लिया, संन्यास के सभी धर्म भी मैं जानता हूँ परन्तु अभी तक मैं भक्तिमार्ग को समझ नहीं पाया हूँ। अतः भक्तिमार्ग क्या है - यह मुझे समझाएँ।

श्रीमहाप्रभुजी ने कहा कि नहीं, अब मैं तुम्हें यह समझाऊँगा कि संन्यास क्या है। हमारे श्रीमहाप्रभुजी कैसे उपदेशक हैं, इस खूबसूरती पर, उनकी उपदेशकता पर ध्यान दें। संन्यासी को आपश्री संन्यासनिर्णय का उपदेश कर रहे हैं कि जो संन्यास उन्होंने लिया है वह भक्तिमार्ग में कहाँ, किस प्रकार उपयोगी हो रहा है। ये विचार ठीक उसी प्रकार के हैं जैसे संसारी को उपदेश दे रहे हैं कि तुम्हारा संसार भक्ति में किस प्रकार उपयोगी होगा - मैं तुम्हें समझाता हूँ - **''ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तम् इमं परं हित्वा मां शरणं यातः कथं तान् त्यक्तुमुत्सहे।''**

तुम्हारा संसार तुम्हें उपयोगी हो जाएगा। संसारी को संसार में कैसे जीना, संसार को कैसे जीना, यह श्रीमहाप्रभुजी ने समझाया। श्रीमहाप्रभुजी इतने क्षुद्र उपदेशक नहीं थे कि भक्तिमार्ग के अन्तर्गत संन्यासी को संन्यास जीना न समझा सकें। वे जैसे भक्तिमार्ग के अन्तर्गत संसारी को संसार में जीना समझा सकते हैं तो इतने ही प्रमाणभूत प्राधिकार के साथ, इतनी ही विश्वसनीयता के साथ संन्यासी को संन्यास में जीने की बात भी भक्तिमार्ग के अन्तर्गत समझा सकते हैं। इसलिए श्रीमहाप्रभुजी ने संन्यासनिर्णय का उपदेश नरहरि संन्यासी को दिया है।

अब कदाचित् मैं गलत भी हो सकता हूँ, ठीक-ठीक नहीं कह सकता कि सही हूँ या गलत हूँ, श्रीमहाप्रभुजी जानते हैं। मुझे ऐसा लग रहा है। मैंने इसमें जो भी टिप्पणी/ टिप्पणियाँ दी हैं वे मेरे उक्त पूर्वाग्रह के आधार पर हैं। यह भी पता नहीं है कि अनधिकार चेष्टा की है या अधिकारपूर्ण, जो कुछ है, यही है। इसे आपके सामने स्वीकार कर लेना बेहतर है। क्योंकि कोई भी टीका देखे और फिर मेरे साथ झगड़ने आए कि आप ऐसा कैसे कह रहे हैं जबकि टीकाकार तो उस प्रकार कह रहे हैं। यह झगड़ा सुनने के लिए मैं तैयार नहीं हूँ। इस विषय में मुझे जो कुछ कहना है वह मैंने संन्यासनिर्णय की भूमिका में कह दिया है, बहुत विस्तार से कहा है। उसे आप कभी अवकाश के समय देख लें। इस समय उसके सम्पूर्ण विस्तार की चर्चा मैं यहाँ नहीं करूँगा।

पश्चात्ताप-निवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते।
स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः।।1।।

अन्वयार्थ :

पश्चात्ताप-निवृत्त्यर्थं = पश्चात्ताप दूर करने के लिए
परित्यागः = सम्पूर्ण त्याग

विचार्यते = विचार करते हैं
सः = वह
विशेषतः = विशेषरूप से
भक्तौ = भक्ति में (**च** = और)
ज्ञाने = ज्ञान में (**इति**= इस प्रकार)
मार्गद्वितये = दो मार्ग में
प्रोक्तः = कहा है

भावार्थ : पश्चात्ताप की निवृत्ति के लिए परित्याग का विचार किया जा रहा है। वह त्याग भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग में, विशेषरूप से इन दो मार्गों में कहा है।

व्याख्या :

यहाँ प्रारम्भ में ही इस बात की दुहाई दे रहे हैं कि जिसने भूल से संन्यास ले लिया है और उसे संन्यास लेने की अपनी भूल पता चलने से वह दुःखी हो रहा है कि भाई, मैंने यह क्या गड़बड़ कर दी तो उसके पश्चात्ताप की निवृत्ति के लिए परित्याग का विचार कर रहा हूँ।

क्या श्रीमहाप्रभुजी ने भूल से संन्यास लिया है? श्रीमहाप्रभुजी ने भूल से संन्यास नहीं लिया। बहुत उद्यम करके संन्यास लिया है - यह ज्ञात है। महालक्ष्मीजी ने बेचारों ने ''घर से जाओ'' इस अर्थ में नहीं कहा कि संन्यास ले लें बल्कि इस अर्थ में कहा था कि घर में आग लग गई है इसलिए आप यहाँ से जाएँ, किसी भी प्रकार बाहर निकलें। श्रीमहाप्रभुजी ने कहा कि ठीक है, मैं संन्यास ले कर जाता हूँ। आपने कह दिया, आज्ञा दे दी कि जाओ, तो मैं जाता हूँ। यह कितनी अभिप्रायपूर्वक गणनात्मक सोच के साथ कही गई बात थी।

जैसे किसी ने अंधानुकरण में ले लिया हो कि चलो, सब संन्यास ले रहे हैं, सब चांद घुटा रहे हैं तो हम भी चांद घुटा लें, आनन्द आ जाएगा। ऐसी

किसी सनक में लिया हुआ संन्यास नहीं था। बहुत गणनापूर्वक सुयोजित संन्यास श्रीमहाप्रभुजी का था और वह सुयोजित संन्यास भी श्रीमहाप्रभुजी ने भगवदाज्ञा के वशीभूत हो कर लिया है। अपनी इच्छा से नहीं लिया है।

यह सारी बात मैंने भूमिका में लिखी है जिसे देखने से आपको ज्ञात हो जाएगा कि तीन-तीन आज्ञाएँ हुई हैं तब श्रीमहाप्रभुजी ने निर्णय किया है कि ठीक है, अब मुझे संन्यास लिए बिना कोई चारा नहीं है। महालक्ष्मीजी आज्ञा नहीं दे रही हैं तो किसी प्रकार से उनसे जबरदस्ती आज्ञा लेनी पड़ेगी परन्तु अब संन्यास लेना ही पड़ेगा।

अत: किसी दूसरे ही प्रकार का दबाव श्रीमहाप्रभुजी पर काम कर रहा है, किसी प्रकार की जल्दबाजी में काम नहीं कर रहे हैं जिससे जल्दबाजी के कारण संन्यास लेने से श्रीमहाप्रभुजी को पश्चात्ताप करना पड़े और उस पश्चात्ताप की निवृत्ति के लिए श्रीमहाप्रभुजी को 'संन्यासनिर्णय' लिखना पड़े कि ''पश्चात्ताप निवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते'' - यह मेरी सीमा है जिसकी परिधि में मैं निष्ठुर हो सकता हूँ। इससे अधिक कठोर अथवा निष्ठुर मैं नही होना चाहता परन्तु इसके स्पष्टीकरण के रूप में मैं इतनी बात अवश्य कहना चाहता हूँ क्योंकि आदर कर रहा हूँ इसलिए मैंने स्पष्ट करना आवश्यक समझा।

''स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषत:'' - कह रहे हैं कि मैं उस संन्यास के परित्याग का विचार कर रहा हूँ। यहाँ 'परित्याग' और 'संन्यास' कमोबेश पर्यायवाची शब्द हो जाते हैं। 'न्यास' का अर्थ त्याग है और न्यास के साथ जब हम 'सम' उपसर्ग लगा देते हैं तो 'संन्यास' अर्थात् सम्यक् त्याग तथा त्याग के साथ 'परि' उपसर्ग जोड़ देते हैं तो भी यही बात आ रही है।

सम्पूर्ण आदरपूर्वक त्याग अर्थात् भीतर से भी और बाहर से भी। ऐसा नहीं कि भीतर से त्याग रखा और बाहर से नहीं रखा अथवा बाहर से त्याग रखा

और भीतर से त्याग नहीं किया। बाहर-भीतर दोनों ओर से अपने व्यक्तित्व से किसी वस्तु का त्याग करने का नाम 'परित्याग' है और 'परित्याग' या 'संन्यास' कहने से शब्द अलग आ रहे हैं पर उनका अर्थ तो एक ही है। फिर चाहे परित्याग कहें या संन्यास कहें।

इसलिए ''स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषत:'' - भक्ति और ज्ञान में विशेषत: परित्याग का निरूपण किया गया है। जब भक्ति और ज्ञान में 'विशेषत:' कहा है तो यह प्रश्न उठते ही श्रीमहाप्रभुजी स्वयं सामने आ रहे हैं। कर्म, ज्ञान और भक्ति तीन मार्ग हैं। इसका स्पष्टीकरण श्रीमहाप्रभुजी यहाँ दे रहे हैं।

(तत्र बाह्यत्यागापेक्षाभावात् कर्मफलत्यागरूपस्य संन्यासस्य अविचारणीयत्वेन कर्ममार्गीयो द्वितीय:[ग/2] संन्यास: कलिकाले सुशको नास्तीति विचारणा)

यहाँ देखें - 'स [1]' क्या था? ध्यान से याद करें - कर्मफलत्यागरूप कर्म करना। जितने कर्म हैं - आपका अभिमान, आपका वर्णाभिमान, आपका आश्रमाभिमान, आपका लौकिकाभिमान, जैसा भी अभिमान है उस अभिमान के अनुरूप आपको अपना कर्म निभाना है परन्तु उस कर्मफल की आकांक्षा नहीं करनी है। यहाँ एक बात परिलक्षित हो रही है कि वैराग्य तो प्रकट हो रहा है परन्तु संन्यास प्रकट नही हो रहा।

कर्ममार्गे न कर्तव्य: सुतरां कलिकालत:।

अन्वयार्थ :

कर्ममार्गे = कर्ममार्ग में
कलिकालत: = कलिकाल होने से
सुतरां = विशेषरूप से

न = नहीं

कर्तव्यः = करने योग्य है

भावार्थ : कलिकाल होने के कारण कर्ममार्ग में तो परित्याग कर्तव्य नहीं है।

व्याख्या :

उस कर्म के अन्तर्गत जिसे हम गीता का निष्काम कर्मयोग कहते हैं, कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनों के विषय में, भगवान स्वयं आज्ञा करते हैं कि – **''संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ, तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते''(गीता -5/2)।** स्वयं भगवान ने ही यह बात स्पष्ट कर दी है कि कर्मसंन्यास और कर्मयोग में कर्म अधिक श्रेयस्कर है, कर्मयोग श्रेष्ठतर है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि – **''नियतं कुरू कर्मत्वं, कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः''(गीता-3/8)** – आप अपना कर्म करते रहें परन्तु कर्मफल की आशा से कर्म न करें। कर्म को अपने अभिमान के अनुरूप करें। यदि आप अभिमान का भी कर्म में विलय कर सकते हों तो आपको एक श्रेष्ठ स्थिति प्राप्त हो जाएगी। केवल कर्म करने के लिए कर्म करना, अभिमान के लिए नहीं करना – यह बहुत ही कठिन बात है। आकाश के तारे जमीन पर लाने जैसी बात है।

भगवान इतना ही दिव्य उपदेश दे रहे हैं कि कर्मफलाशा से कर्म न करें। कर्म को कर्म के लिए करें और कर्म कर सकते हैं तो फिर जो भी कुछ कर्म कर रहे हैं वह कर्म नहीं रह कर लीला हो जाती है। अब यह ठीक है कि जीव है इसलिए छोटे स्तर पर होगी, बड़े स्तर पर नहीं होगी। प्रभु तो बड़े स्तर पर कर रहे हैं इसलिए प्रभु के कर्म को हम कर्म न कह कर 'लीला' कहते हैं।

यदि जीव अपने अभिमान और फलाशा को छोड़ कर कर्म कर रहा है तो छोटे स्तर पर ही सही, कुछ लीला ही कर रहा है, फिर वह कर्म नहीं रह

जाता। इस प्रकार ब्रह्म की अंशात्मकता को निभाने लगा है। जो कर्माभिमान और कर्म फलाशा को छोड़ कर कर्म कर रहा है, वह तो एक लघु ब्रह्म ही है। इस बात को भलीभाँति समझें – छोटा-बड़ा ब्रह्म ही है। बेचारा जितना क्षुद्र है, जितनी उसकी क्षुद्रता है, उस क्षुद्रता में भी वह कर्मलीला कर रहा है, कर्म नहीं कर रहा। कारण यह है कि उसने अभिमान छोड़ दिया है और कर्म फलाशा भी छोड़ दी है। कर्म करने के जो कुछ भी लौकिक हेतु हैं वे सब छूट गए हैं, सभी शास्त्रीय हेतु छूट गए हैं और फिर भी वह कर्म कर रहा है तो तात्पर्य यह हुआ कि वह ब्रह्म है। वह स्वयं ब्रह्म हो गया है।

''कर्ममार्गे न कर्तव्यः'' – कर्ममार्ग में तो कर्मसंन्यास की आवश्यकता है नहीं। शास्त्रानुसार यह कर्म, चतुर्थाश्रमरूप एक कर्मसंन्यास था। शास्त्र में यह बात समझाई गई है कि आप अपनी आयु का मध्यमान निकाल लें अर्थात् सौ वर्ष की आयु समझते हैं तो पच्चीस-पच्चीस के चार भाग करें, साठ वर्ष समझते हों तो पन्द्रह-पन्द्रह के चार भाग करें और यदि अस्सी वर्ष समझते हों तो बीस-बीस के चार भाग होंगे।

इस प्रकार जिसे अपनी आयु का औसत अनुमान हो वह उसके चार भाग करे। एक भाग में ब्रह्मचर्य को जिए, एक भाग में गृहस्थ को जिए , एक भाग में वानप्रस्थ को जिए और चौथे भाग में संन्यास को जिए – यह शास्त्र कहता है। इसमें भी आपको ऐसा लगता हो कि इसे किस प्रकार समझा जा सकता है और ऐसे कम समय के कार्यक्रम को किस प्रकार अपनाया जा सकता है अथवा पन्द्रह-पन्द्रह वर्ष में एक-एक काम किस प्रकार पूरा किया जा सकता है, यह सब असम्भव लगता है।

उपर्युक्त स्थिति में शास्त्र कहता है कि ठीक है, आप इतनी आदर्श परिस्थिति को नहीं निभा सकते तो सानुकूल योजना सूचित की जा रही है। शास्त्र कहता है कि आपको जितने वर्ष ब्रह्मचर्य में लेने हैं उतने वर्ष ब्रह्मचर्य में

ले लें। स्मरण रहे कि उसके बाद आपको गृहस्थ में प्रवेश करना है। इसके पश्चात् आपको जितने वर्ष गृहस्थ में लेने हैं उतने वर्ष ले लें परन्तु सजगता के साथ गृहस्थ में रह कर मन में यह धारणा रखें कि आपको आगे वानप्रस्थ में जाना है और जितने वर्ष वानप्रस्थ में लेने हैं वे भी ले लें परन्तु वानप्रस्थ को भी इस धारणा से निभाएँ कि एक न एक दिन आपको संन्यास लेना ही है।

अन्त में, यदि आपको संन्यासग्रहण का दिन न दिखाई देता हो और मृत्यु ही आती हुई दिखाई दे तो मरने के एक घण्टे पूर्व भी संन्यास ले सकते हैं। शास्त्र इतनी सानुकूलता बताता है। प्राचीनकाल में बेचारे कितने ही निष्ठावान् ब्राह्मण, जो संन्यास नहीं ले सकते थे वे, मृत्यु के एक-डेढ़ घण्टे पहले संन्यास ले लेते थे। किसलिए? क्योंकि उस समय के लोगों में शास्त्र में बहुत निष्ठा थी।

अत: वह एक आयुष्य के क्रम का पक्ष था। आयुष्य के भाग का पक्ष था और यह प्रक्रिया थी कि इन चारों के क्रम में आपको विस्तार करना है क्योंकि आपका ब्राह्मण शरीर है और इस ब्राह्मण शरीर से यदि आप संन्यास के क्रम से न गुजरे तो आपके शरीर में कोई न्यूनता रह गई है। जैसे ब्राह्मण देह हो कर भी यदि आपके षोडशसंस्कार नहीं हुए तो आपके शरीर में कोई न्यूनता रह गई है। इसी प्रकार ब्राह्मण देह प्राप्त कर आपने संन्यास न लिया तो आपके शरीर में कोई न्यूनता है। आत्मा में हो या न हो परन्तु शरीर में न्यूनता रह गई है। उसे दूर करने के लिए चाहे एक घण्टा पहले, एक घण्टा तो मजाक के रूप में कह रहा हूँ, दस मिनिट पूर्व भी आप चाहें तो संन्यास ले सकते हैं। शास्त्र तो यहाँतक कहता है कि कोई गुरु न मिलता हो तो स्वयं ही संन्यास ले लें। उस स्थिति में गुरु की भी आवश्यकता नहीं है।

''तद्भावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा'' (त.दी.नि.)। श्रीमहाप्रभुजी भी कह रहे हैं कि आवश्यकता कृष्णसेवा की है, गुरु की नहीं। गुरु उपलब्ध हों तो गुरु के पास से करें, उपलब्ध न हों तो स्वयं ही कृष्णसेवा करें। ठीक इसी प्रकार

शास्त्र संन्यास की आवश्यकता बता रहा है कि गुरु मिलते हों तो गुरु से संन्यास लें और गुरु न मिलते हों तो भी किसी भी प्रकार से संन्यास लें परन्तु ब्राह्मण हो कर संन्यास लिए बिना देह न छोड़ें।

हमने तो शास्त्र पढ़े ही नहीं इसलिए आज समझ में भी नहीं आ रहा। पढ़े होते तो ये सारी बातें ब्रह्मचर्य में ही समझाई गई हैं। आज तो वृद्धों को भी समझ में नहीं आता। आधुनिकता के चक्कर में ऐसा हो गया है, पहले ऐसा नहीं था। कारण यह है कि हमारे अध्ययन का सारा अभ्यासक्रम बदल गया है, हमारे अध्ययन में शास्त्र सम्मिलित ही नहीं है इसलिए बुजुर्गों को भी समझ में नहीं आता। शास्त्र के प्राचीन अध्ययनक्रम में तो ब्रह्मचर्य में ही सारी बातें समझाई जाती थीं।

एक बात समझें कि समझने के बजाए अधिक आवश्यक यह था कि अपने आसपास के प्रत्येक व्यक्ति की जीवनशैली को देखते, जो उस प्रकार का जीवन जीता हो, तो बहुत सी आवश्यक बातें हमें बिना पढ़े, देखने और सुनने से ही समझ में आ जातीं। जैसे हम ऐसा नहीं कहते कि झारीजी को रखें बल्कि हम कहते हैं कि झारीजी को पधराएँ। यह बात किस ग्रन्थ में लिखी है? हमें किस प्रकार पता चला कि झारीजी को रखें नहीं कह कर झारीजी को पधराएँ, ऐसा कहा जाता है? यह सब किस प्रकार समझ में आ जाता है? किस पुस्तक में लिखा है कि पधराएँ कहना चाहिए? कारण यह है कि इस प्रकार के वातावरण में ऐसी संस्कृति को कुछ लोग जी रहे हैं। जब मनुष्य किसी संस्कृति को जीता है तो पढ़े बिना भी कई बातें समझ में आ जाती हैं, आज जी रहे हैं इसलिए कई बातें पढ़े बिना भी समझ में आ रही हैं।

आपको एक बात बताता हूँ कि आज की तारीख में हम काठियावाड़ में जा कर देखें तो ये पटेल लोग जैसे पखावज बजाते हैं वैसे यहाँ के सीखनेवालों को भी बजाना नहीं आता। इतना सुन्दर पखावज बजाना उनको कहाँ से आ

जाता है? मैं वहाँ जाता हूँ तब इसी बात से दु:खी होता रहता हूँ कि ऐसी पखावज तुम्हें किस प्रकार आ गई यार? यहाँ लोगों को तबला सीखना कठिन है और वहाँ उनको पखावज आती है!

कारण यह है कि वे लोग पुष्टिमार्ग को जी रहे हैं। इसलिए पखावज जैसा मुश्किल वाद्य भी उनको आ जाता है। आड़ा चौताल, ध्रुपद जैसे कठिन ताल में कुनबी पटेल कीर्तन करते होते हैं, किस प्रकार आ गया? क्योंकि वे उसे जी रहे हैं। हम तो सीखते हैं तो भी नहीं आता। यहाँ मुम्बई में कई लोग कीर्तन सीखते हैं लेकिन ऐसे फूहड़ ढंग से गाते हैं कि मजा नहीं आता। वे लोग कीर्तन बहुत सुन्दर तरीके से गा सकते हैं, देख कर हमें आश्चर्य होता है कि बात क्या है? बात यही है कि यहाँ सीखना पड़ता है और वे लोग इसे जी रहे हैं।

व्यक्ति जब किसी बात को जीना शुरू कर देता है तो बहुत फर्क पड़ता है। जैसे मछली जल में तैराकी को जीती है, सीखती नहीं और हम जल में तैरना सीखते हैं, जीते नहीं हैं। इसीलिए हमें प्रशिक्षक रखना पड़ता है। स्वीमिंगपूल में सीखने हेतु हमें डेढ़ सौ-दो सौ रुपये जमा कराने पड़ते हैं। हजार रुपए ले लें तो भी कम सीख पाते हैं या नहीं भी सीख पाते। मछली तैराकी को जीती है इसलिए स्वयं तैरना आ जाता है।

मछली को डुबकी लगाना आ जाता है, कलाबाजी करना आ जाता है, जल के अन्दर तैरना आ जाता है, बहते प्रवाह में ऊपर तैरना आ जाता है परन्तु मनुष्य को, मूर्ख को कभी नहीं आता। वह घोंघे जैसा पड़ा रहता है और मछली ऊपर चढ़ जाती है। हमें उस प्रकार से तैरना कभी नहीं आता जैसा मछली को आ जाता है, क्योंकि वह उसे जी रही है। हमें नहीं आता। इस प्रकार जीने में और सीखने में बहुत फर्क है।

उस काल में लोग धर्म को जीते थे इसलिए कई बातें सीखे बिना भी आ

जाती थीं। यह चिन्ता का विषय नहीं है बल्कि चिन्ता का विषय यह है कि आज हमें सीखने पर भी नहीं आता। पुष्टिमार्ग भी अब धीरे-धीरे **''होश-ओ-हवास-ओ-ताब-ओ-तवां 'दाग' जा चुके, अब हम भी जानेवाले हैं, सामान तो गया''** - जिस दिशा में वर्णाश्रम गया, उस दिशा में पुष्टिमार्ग भी जा रहा है। हम भी धीरे-धीरे उस दिशा में जा रहे हैं।

कई बातें हमें सिखाने पर भी नहीं आतीं। कई पौराणिक बालकों, बुजुर्गों और भगवदीयों के अनुभूत वचनामृत पढ़ कर देखें तो हमारी बुद्धि काम नहीं करती है। कई-कई ग्रन्थों को पढ़ कर हम किसी रहस्य को समझ लेते हैं तो अपनी मूछों पर ताव दे कर कॉलर ऊपर करते हैं जबकि हमें यह निश्चित रूप से पता है कि उन बालकों या भगवदीयों ने ग्रन्थ पढ़े बिना भी वे बातें समझ ली थीं। सोच-सोच कर हमारी खोपड़ी खाली हो जाती है कि उन लोगों को उन बातों का किस प्रकार पता चला, वे पढ़े नहीं फिर भी उनको पता कैसे चला? स्पष्ट है कि वे लोग उन बातों को जीते थे जबकि हमें वे बातें पढ़ने के बाद बहुत कठिनाई से समझ में आती हैं।

कारण यह है कि पुष्टिमार्गीय जीवनशैली कहीं दिखाई नही दे रही है, पुष्टिमार्गीय जीवन नहीं दिखाई दे रहा है। इसलिए पढ़ते हैं तो समझ में नहीं आता, समझ में आ जाता है तो कहने में संकोच होता है, कहने लगते हैं तो करने में तकलीफ पैदा हो जाती है, करने लगते हैं तो उसे अन्य से कराने में तकलीफ हो जाती है। ये सारे झमेले इसलिए हैं कि वातावरण बिगड़ गया है। किसी भी वस्तु के लिए जिस समय वातावरण अनुकूल होता है उस समय तकलीफ नहीं होती, यह बात विशेष रूप से याद रखें।

योग और सांख्य इतने व्यापक शब्द हैं कि न जाने क्या-क्या उनके भीतर समाविष्ट होता है। कभी ऐसे ही बेफिक्र हो कर हम पूछते हैं कि सांख्य क्या है और योग क्या है और उनका उसी तरह बेफिक्र हो कर जवाब दिया तो

अनुचित ही होगा। अनेक प्रकार के योग हैं, अनेक प्रकार का सांख्य है। बालबोध में श्रीमहाप्रभुजी खुद कहते हैं कि – ''ऋषिभिः बहुधा प्रोक्ता'' – सांख्य बहुविधा प्रोक्ता है। बालबोध के अनुसार कितने सांख्य और कितने योग–यह बहुत गंभीरता से विचारने का विषय है। आप उसके सम्बन्ध में एकदम निश्चयात्मक निर्णय नहीं ले सकते।

जो कुछ श्रीमहाप्रभुजी हमें बालबोध में समझा रहे हैं वह इतना ही है कि बाह्यत्यागमूलक प्रक्रिया सांख्य की है और आन्तरत्यागमूलक प्रक्रिया योग है। सांख्य त्याग है और योग वैराग्य है। यह बात आप सरलतापूर्वक समझ सकते हैं परन्तु यह केवल इतना ही नहीं, सांख्य, योग – ये सभी बहुत सी प्रक्रियाएँ हैं। वह एक प्रकार नहीं है, उसके कई प्रकार हैं। कोई एक निर्धारित प्रकार नहीं है।

वेदादि शास्त्र द्वारा निरूपित कर्म को कर्मफलाकांक्षारहित करना और चतुर्थाश्रम के रूप में करना एक कठोर अनुशासनपालन के अन्तर्गत आने वाली बात है। कारण यह है कि सांख्य जिस कर्म के त्याग की बात करता है उसमें केवल शास्त्रीयकर्म ही सम्मिलित नहीं हैं बल्कि सांख्यवाले लौकिक–कर्मों के त्याग की बात भी सम्मिलित है। योगविद् भी अलग–अलग प्रकार के योग बताते हैं। अतः उसमें सबको एक साथ लेना कठिन हो जाएगा। बालबोध में क्या कहा है? बालबोध में श्रीमहाप्रभुजी ने सामान्य विशेषताएँ निरूपित की हैं।

जैसे हम गाय का चित्र बता कर कहते हैं कि गाय है लेकिन उस चित्रित गाय जैसी ही सारी गायें नहीं होतीं। थोड़ी–बहुत उसके आस–पास की बाकी सारी गायें होती हैं परन्तु सारी गायें एकदम उसके जैसी नहीं होती। सही–सही देख कर उस गाय के साथ प्रत्येक गाय का आप मिलान करेंगे तो प्रत्येक गाय सदृश नहीं होगी – कोई भूरी होगी, कोई छोटी होगी, कोई मोटी होगी, कोई

काली होगी, कोई सफेद होगी। इस प्रकार हर समय समस्या तो रहेगी। गाय तो समझने का एक संकेत है। उसे संकेत से अधिक गम्भीरतापूर्वक लेने की आवश्यकता नहीं है। वहाँ जो सांख्ययोग का वर्णन किया है वह सांकेतिकरूप में है। कारण यह है कि सांख्य के कई प्रकार हैं इसलिए कभी भी उसका एक प्रकार नहीं समझना चाहिए।

जो चतुर्थाश्रमरूप संन्यास था, कलियुग में उसके निर्वाह के विषय में श्रीमहाप्रभुजी निषेध करते हैं। चतुर्थाश्रमरूप संन्यास कलियुग में नहीं निभ सकता क्योंकि चतुर्थाश्रमरूप संन्यास के कई विधि–विधान अत्यन्त कठोर हैं। विधि–विधान शास्त्र में इतने कठोर क्यों बताए गए हैं? क्योंकि शास्त्र ने वह संन्यास आपको आपकी आयुष्य के तीन भागों में जीने के लिए तैयार किया है। जैसे किसी को मार–मार कर कराटे के लिए तैयार करते हैं, जब उसे ब्लैक बेल्ट प्राप्त करना होता है तो उसकी मार खाने की कितनी तैयारी होनी चाहिए। उसके नीचे के सभी बेल्ट के खिलाड़ियों द्वारा उसे मार–मार कर तैयार किया जाता है, तब उसे ब्लैक बेल्ट मिलता है। अर्थात् ब्लैक बेल्ट प्राप्त करनेवाले को मार खाने के लिए पूरी तैयारी रखनी चाहिए।

इसी प्रकार मार–मार कर जिसे तैयार किया है, आयुष्य के तीन भागों में शास्त्र उससे बहुत अपेक्षा रखता है। किसी पुंज (कूड़ा) संन्यास को शास्त्र मान्यता नहीं देता। तात्पर्य यह है कि कलियुग में संन्यास को इतनी कठोरतापूर्वक निभाना बहुत कठिन है। व्यावहारिकरूप से एक बात देखें, केवल मनोरंजन के रूप में समझें, बहुत विस्तार में नहीं जाना चाहता किन्तु इस बात से आपको समझ में आ जाएगा।

संन्यासी को शास्त्र 'परिव्राजक' कहता था। परिव्राजक का तात्पर्य है जो किसी एक स्थान पर नहीं रहता, घूमता–फिरता रहता है। आजकल तो संन्यासी मठ स्थापित करके बैठे हुए हैं, आनन्द से लड्डू, पूरी, मठड़ी सब खाते

हैं। यह क्या परिव्रज्या है? कोई परिव्रज्या नहीं है लेकिन कोई भी अपने नाम के आगे 'परिव्रज्याशिरोमणि' लिख देता है। पता नहीं किस अर्थ में लिखते होंगे, होता होगा कोई ऐसा गम्भीर अर्थ जिस अर्थ में वे परिव्रज्याशिरोमणि होते हैं परन्तु शास्त्रीय अर्थ में परिव्राजक कोई नहीं होते और हैं भी तो हवाई जहाज में घूमते हैं, एयरपोर्ट से एयरपोर्ट तक उनका सम्बन्ध होता है।

कलिकाल में संन्यास बहुत कठिन है। आज आप ऋषिकेश जाएँ तो संन्यासी आपको स्कूटर पर, कार में देखने को मिलेंगे, कार चलाते हुए संन्यासी भी मिल जाएंगे। यह सब क्या है - कुछ पता नहीं। ''सुतरां कलिकालतः'' - श्रीमहाप्रभुजी ने संक्षेप में इतनी ही बात कही है कि कलिकाल में संन्यास के लिए जो अपेक्षित है उसके लिए हम सम्पूर्णरूप से तैयार नहीं हैं इसलिए वह संन्यास कलिकाल में कठिन है। कई वर्ष पूर्व यह स्थिति थी कि लोग यह कहते थे कि सच्चे साधु तो जैनमत के साधु होते हैं, बाकी सब स्वादु होते हैं परन्तु अब तो जैनमत में भी स्वादु पैदा होने लग गए हैं। विमान में घूमनेवाले हैं, विवाह कर लेनेवाले हैं अर्थात् जैनमत में भी ऐसा हो गया है। यह सब कहाँ जा कर रूकेगा, इसका भगवान ही मालिक है, उनके यहाँ महावीर मालिक होंगे। इस स्थिति में इतनी गड़बड़ को देखते हुए परिव्राजक होना बहुत कठिन है।

इस प्रकार कर्ममार्गीय दो संन्यास में से एक संन्यास को श्रीमहाप्रभुजी निरस्त कर देना चाहते हैं - ''सुतरां कलिकालतः'' - क्योंकि वह जिस रूढ़ अर्थ में संन्यास है वह संन्यास आज नहीं है। उसका ठीक अर्थ है कि सबको कर्मफलत्याग करना ही है, हमें भी करना ही है। अपने यहाँ कर्मफल के त्याग के रूप में नहीं करके भक्तिमार्ग के अन्तर्गत कर्म के अन्य प्रकार से कर्मस्वरूप से समावेश किया है। जैसे ''गोपीजनवल्लभप्रीत्यर्थं'' कर्म कर रहे हैं। यह कर्म, फलाशा से नहीं करते वरन् कर्मफल से जुड़ी हुई हमारी अहंता-

ममतात्मिका आशा से रहित, गोपीजनवल्लभप्रीति की आशा के रूप में हम कर्मफलाशा भी रखते हैं।

इस बात को समझने का प्रयास करें कि कर्मफलाशा को श्रीमहाप्रभुजी ने नकारा नहीं है बल्कि उसका ऊर्ध्वीकरण किया है। तात्पर्य यह है कि कर्म से फलाशा छोड़ें नहीं बल्कि फलाशा का ऊर्ध्वीकरण करें, उसका उदात्तीकरण करें। वह इस प्रकार कि मैं कर्म कर रहा हूँ, मुझे उसका कोई फल मिलना चाहिए और वह फल 'गोपीजनवल्लभप्रीत्यर्थं' के रूप में मिले।

यदि एक बार हमें जीना हो, एक बार जीने का शुभ संकल्प रखना हो कि अमुक कर्म मैं कर्मफल को प्राप्त करने के लिए नहीं कर रहा हूँ, कर्म का जो फल लिखा हुआ है उसे प्राप्त करने के लिए नहीं कर रहा हूँ अपितु अपने श्रीठाकुरजी की प्रसन्न्ता के लिए कर रहा हूँ; इस प्रकार जब हम सतत अपने मन को समझाते रहेंगे, अपने मन पर इस प्रकार की भावना प्रक्षिप्त करते रहेंगे तो कर्म से फल प्राप्त करने की क्षुद्रवृत्ति पर स्वतः नियंत्रण आ जाएगा। इसमें यह एक सिद्धान्त समझना अपेक्षित है।

अपने यहाँ न तो कर्मत्याग बताया है और न कर्मवैराग्य बताया है बल्कि **गोपीजनवल्लभप्रीत्यर्थ** कर्म करना बताया है, यावद् देहाभिमान तावत् सभी कर्मों के निर्वाह का सिद्धान्त बताया है। इससे यह बात समझ में आएगी कि हमें जिस प्रकार कर्म करना अपेक्षित है उससे बहुत निम्नकक्षा की बात है कर्मफल का त्याग करना। अब जिस प्रकार हम भक्तिमार्ग की दृष्टि से यह प्रथम संन्यास ग्रहण करना चाह रहे हैं उससे बहुत निम्न प्रकार की बात है कि केवल कर्मफल को त्याग दें। अपने यहाँ कहा जाता है कि कर्मफल को किसलिए त्याग दें? कर्म के फल को हम इस रूप में मानते हैं कि हमारे श्रीठाकुरजी हम पर प्रसन्न रहें, कि हमने उनकी किसी आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया, उन्होंने हमें जो भी आज्ञा दी उसे हमने अपने सामर्थ्यानुसार निभाया है।

बस, हमने उनकी आज्ञा का पालन किया है। इससे हमारे स्वामी हम पर प्रसन्न रहेंगे। 'गोपीजनवल्लभप्रीत्यर्थं' का यही अर्थ है, ऐसा कोई अर्थ नहीं है कि गोपीजनवल्लभ को कोई रिश्वत देने के लिए कर्म कर रहे हैं। आज हम रिश्वत के रूप में 'गोपीजनवल्लभप्रीत्यर्थं' समझ रहे हैं। हम गोपीजन वल्लभ को रिश्वत नहीं देते बल्कि गोपीजनवल्लभ ने हमें आज्ञा दी है कि भाई, जीव होने के सम्बन्ध से इस अभिमान के अन्तर्गत आपको यह कर्म करना है।

हमने वह कर्म यथाशक्ति, यथासामर्थ्य, यथोचित रूप से निभाया है तो हमारा स्वामी हम पर किसलिए नाराज रहे? "**श्रुति-स्मृति ममैव आज्ञा यस्तूल्लंघ्य वर्तते, आज्ञाच्छेदी मम द्रोही, मद् भक्तोपि न मे प्रियः**" - गोपीजनवल्लभ यह कह रहे हैं कि शास्त्र का यह उपदेश मेरी आज्ञा है और उस आज्ञा का उल्लंघन करनेवाला मेरा द्रोह कर रहा है, वह मुझे प्रिय नहीं है।

हम में जितना सामर्थ्य है, उस सामर्थ्य से हम उसे निभाते हैं तो हमारा स्वामी क्यों हम पर नाराज है? गोपीजनवल्लभप्रीत्यर्थं का यह अर्थ है, गोपीजनवल्लभ को रिश्वत देने के अर्थ में नहीं है। कर्ममार्ग के दोनों संन्यास के सम्बन्ध में हमने इस प्रकार विचार किया। अब श्रीमहाप्रभुजी आगे कह रहे हैं-

(भक्तिमार्गीययोः संन्यासयोः भक्तिसाधकश्रवणादिनिर्वाहार्थं प्रथम प्रकारकस्संन्यासो[ष/1] अनुष्ठेयो न भवति)

भक्तिमार्गीय संन्यास के दो प्रकार हैं भक्त्यर्थ और भक्त्युत्तर। इनमें भक्त्यर्थ संन्यास का श्रीमहाप्रभुजी निषेध कर रहे हैं कि आप गलतफहमी में जी रहे हैं, मिथ्या स्वप्न में आप फंस गए हैं, उलझ गए हैं कि आप संन्यास ले कर भक्ति को प्राप्त कर पाएंगे। संन्यास से भक्ति प्राप्त नहीं होती।

"**प्रीतम प्रीत ही ते पैये संन्यास ते न पैये**" - इस बात को मैं कीर्तन

की भाषा में कह रहा हूँ कि संन्यास लेने से भगवत्प्रीति नहीं होती। मान लें कि आपने त्याग भी कर दिया, विषयों में वैराग्य भी प्राप्त कर लिया, विषयों का त्याग भी कर दिया तो इस सबसे आप झूठी दुराशा में नहीं जिएँ कि आपको भगवदासक्ति सिद्ध हो जाएगी। भगवदासक्ति के कारण विषयों से विरक्ति हो गई तो सोने में सुगंध हो गई परन्तु विषयों से वैराग्य के कारण आप यह समझ रहे हैं कि भगवदासक्ति पके फल की भाँति आप पर टपक पड़ेगी तो भगवदासक्ति इतनी आसान नहीं है। किसी पेड़ पर नहीं लटक रही कि विषयवैराग्य सिद्ध होते ही पके हुए फल की भाँति टपक जाएगी। इसीलिए श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि -

अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद् विचारणा।।2।।
श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं कर्तव्यश्चेत् स नेष्यते।
सहाय-सङ्गसाध्यत्वात् साधनानां च रक्षणात्।।3।।
अभिमानात् नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः।

अन्वयार्थ :

अतः = इस कारण से
भक्तिमार्गे = भक्तिमार्ग में
आदौ = प्रारम्भ में
कर्तव्यत्वात् = करने योग्य होने से
विचारणा = विचार (**क्रियते** = करते हैं)
श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं = श्रवण आदि भलीभाँति हो सके इसके लिए
सः = वह, **कर्तव्यः** = करने योग्य है (ऐसा संन्यास)
चेत् = यदि, (**उच्यते** = कहा जाए)
न = नहीं, **इष्यते** = इच्छा करने योग्य है (क्यों?)
सहाय-सङ्गसाध्यत्वात् = सहायता और संग से सिद्ध होनेवाला होने से

च = और, **साधनानां** = साधनों के
रक्षणात् = रक्षण से
च = और
अभिमानात् = अभिमान के कारण
(**एवं** = इस प्रकार से)
तद्धर्मैः = उन धर्मों से
विरोधतः = विरोध होने से
(सः = वह; **न** = नहीं; **कर्तव्य :** = करने योग्य है **)**

भावार्थ : (भक्ति और ज्ञानमार्ग) दो में से प्रथम भक्तिमार्ग में कर्तव्यता होने से उसका विचार करते हैं।

श्रवणादिक की प्रवृत्ति के लिए त्याग (संन्यास) करनेवाला पक्ष उचित नहीं है। क्योंकि श्रवणादि की सिद्धि सहायता और संग से होती है और त्याग (संन्यास) में तो उसके साधन करने होते हैं इसलिए उससे श्रवणादिक के साधन नहीं हो सकते। आश्रम की उत्तमता का अभिमान हो और संन्यास के धर्मों से भक्तिमार्ग के श्रवण के धर्म का विरोध भी है इसलिए श्रवणादि नहीं हो सकता।

व्याख्या :

भक्तिमार्ग में संन्यास ग्रहण करने के सम्बन्ध में विचार करते समय कोई यदि यह विचार करे कि संन्यास ले लूँगा तो न परिवार को निभाने का उत्तरदायित्व रहेगा और न कोई रसोई बनाने की जिम्मेदारी रहेगी अर्थात् ''**करतल भिक्षा, तरुतलवास**'' के साथ आराम से श्रवण-कीर्तन करूँगा। श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं - ''न इष्यते।''

अर्थात् उक्त बात किसी और मार्ग के लिए प्रभावी होगी, मेरे यहाँ इसका कोई अवकाश नहीं है। ''स नेष्यते'' - किसलिए? इसमें पाँच कारण बता रहे हैं। पहला कारण है - ''सहायसङ्गसाध्यत्वात्।'' प्रतिज्ञा क्या है? ''श्रवणादि-प्रसिद्ध्यर्थं कर्तव्यश् चेत् स नेष्यते'' - श्रवणादि नवधा भक्ति निभाने के लिए संन्यास ले रहे हैं तो श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि नहीं, यह उचित प्रकार नहीं है, यह इष्ट प्रकार नहीं है। अतः उसका हेतु बता रहे हैं कि पहला हेतु - ''सहायसङ्गसाध्यत्वात्'' - आप जब भी श्रवणादि करेंगे तो आपके लिए कोई कीर्तन करनेवाला होगा, जब कीर्तन करेंगे तो आपको कोई सुननेवाला होगा।

''सहायसङ्गसाध्यत्वात् साधनानां च रक्षणात्'' - साधन का रक्षण करना पड़ेगा। कारण यह है कि अर्चनं, वंदनं, दास्यं और पादसेवन के लिए आपको कोई स्वरूप पधराना पड़ेगा और उस स्वरूप का शृंगार भी करना पड़ेगा और संन्यास लेने के बाद इन सबके लिए आप क्या-क्या करेंगे? यदि करेंगे तो चोरी का डर रहेगा और चुराए जाने के बाद वापस नए-नए ठाकुरजी बसाते रहना पड़ेगा, नई-नई झारीजी बसानी पड़ेगी, नई-नई शृंगारसामग्री लानी पड़ेगी। यह सब किस प्रकार निभाएंगे? ''अभिमानात्'' - संन्यास लेते ही आप स्वामीजी बन जाएंगे तो आपको संन्यास का अभिमान हो जाएगा। इस अभिमान के कारण आपको यह निर्णय लेना कठिन हो जाएगा कि आपका भगवान स्वामी है या आप स्वयं स्वामी हैं?

''नियोगात्'' - संन्यास का नियोग इस प्रकार का है कि आप एकाकी घूमते रहें अर्थात् ''**एकाकी निस्पृहः शान्तः**'' - जैसे कहा जाता है कि ''**वासे बहूनां फलहो भवेद् वार्ता द्वयोरपि। एकएव चरेत् तस्मात् कुमार्याइव कंकणः**'' कई संन्यासी साथ में रहेंगे तो लाठियां चलेंगी। अभी बनारस में लाठियां चली थीं। संन्यासियों ने एक-दूसरे के सिर फोड़ दिए। बात

यह है कि मनुष्य तो मनुष्य है! गधा थोड़े ही है कि संन्यास ले ले, संन्यास तो मनुष्य ही ले रहा है।

मनुष्य का प्रवृत्त रहने का स्वभाव उसे आगे भी प्रवृत्त रखता है। इसके अनुसार संन्यास में भी आगे प्रवृत्त रहेगा और वहाँ लाठियां भी चलेंगी। "**वासे बहुनां कलहो भवेद् वार्ता द्वयोरपि। एक चरेत्तस्मात् कुमार्याइव कंकणः**" (भाग.11/9/10)। दो संन्यासी इकट्ठे रहेंगे तो अन्दर ही अन्दर गप्पे हांकेंगे कि कहाँ पर्याप्त भिक्षा मिलेगी वहीं जाना है। उस तरफ नहीं जाना, वहाँ नालायक कोई भी भिक्षा नहीं देता - बैठे-बैठे ऐसी बातें करते रहेंगे।

इसके बजाय यदि एकाकी रहना हो तो यह सब आपसे किस प्रकार निभेगा? और "**तद् धर्मैश्च विरोधतः**" - संन्यास का धर्म और भक्तिमार्गीय धर्म परस्पर विरोधी धर्म है जिनका कहीं कोई मेल नहीं। 'नियोग' अर्थात् "**एकैव चरेत् चरेत्तस्मात् कुमार्याइव कंकणः**" - भिक्षु को अकेले विचरण करना चाहिए। इसमें विरोध किस प्रकार होगा? जब आप भिक्षा मांगेंगे तो क्या आप उनको यह कहेंगे कि "**न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणम्**" - अभी मुझे अपने ठाकुरजी को भोग धरना है इसलिए पहले आप न खा कर मुझे भिक्षा दे दें। क्या किसी को आप इस प्रकार कह पाएंगे?

संन्यासधर्म के अनुसार संन्यासी को किसी के घर में जा कर मांगने का अधिकार नहीं, वह छः अथवा सात घर से भिक्षा मांग सकता है, जो मिले वह खाना होता है, अच्छा - खराब जैसा मिल जाए वैसा खाना होता है। इस स्थिति में श्रीठाकुरजी को भी अच्छा-खराब जैसा मिले वैसा भोग धराना पड़ेगा। हम सोचते हैं कि प्रभु उत्तम वस्तु के भोक्ता हैं। जब अच्छे-खराब का भेद आपको अपने खाने-पीने में नहीं करना चाहिए तो फिर प्रभु को आप उत्तम वस्तु कहाँ से समर्पित करेंगे?

संन्यासधर्म, जैसे राग-द्वेष से रहित रहना, सभी परिस्थितियों में सम होना, कभी किसी के साथ अविवेक नहीं करना इत्यादि की भाँति भक्त के सेवाधर्म में ये सब भेद नहीं हैं। सेवा में तो अच्छा-खराब, राग-द्वेष, अपना-पराया का कुछ भेद हमें करना ही है। इस प्रकार संन्यास के जो सब धर्म हैं और सेवा के जो धर्म हैं, वे भीतर ही भीतर एक-दूसरे को शुरुआत के स्तर पर तो रद्द करनेवाले धर्म ही हैं, आगे जा कर कोई किसी को रद्द नहीं करता परन्तु शुरुआत के स्तर पर एक-दूसरे को रद्द करनेवाले धर्म हैं। इन कारणों से भक्तिमार्ग में भक्ति की सिद्धि के लिए संन्यास लेना हो तो श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि यह मात्र अनुचित दुराशा, दुराशा और दुराशा ही है। अब कोई यह कहे कि भक्ति को सिद्ध करने के लिए न सही परन्तु जिस समय भक्तिमार्ग में गृहादि बाधक होने लगें, भक्ति को जीने के दौरान घर जब बाधक होने लगे तब तो संन्यास ले सकते हैं न?

भक्त्यर्थ संन्यास के पुनः दो उपभेद हैं। उनमें से एक साधक है और एक बाधक है। एक साधक के निर्वाहार्थ है और एक बाधक के त्यागार्थ है। प्रथम प्रकार के संन्यास में बाधक के त्यागार्थ जो एक उपभेद है, उसके विषय में बताते हैं।

(भक्तिमार्गीययोः संन्यासयोः भक्तिबाधकगृहादित्यागार्थमपि प्रथमप्रकारकस्संन्यासो[9/1] अनुष्ठेयो न भवति) - भक्तिबाधक गृहादि के त्याग के लिए भी संन्यास अभीष्ट नहीं है।

गृहादेर् बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि।।4।।
अग्रेऽपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा।
स्वयं च विषयाक्रान्तः पाषण्डी स्यात्तु कालतः।।5।।
विषयाक्रान्त-देहानां नाऽऽवेशः सर्वदा हरेः।
अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः।।6।।

अन्वयार्थ :

गृहादेः = घर आदि के
बाधकत्वेन = बाधक होने से
यदि = जो, **साधनार्थं** = साधन के लिए
(**सः** = वह संन्यास; **तर्हि** = तो)
तथा = तदनुसार (**न कर्तव्यः यतः** = नहीं करना, क्योंकि)
अग्रे = आगे, **अपि** = भी, **तादृशैः** = उन जैसों का
एव = ही, **सङ्गः** = सङ्ग
भवति = होता है।
अन्यथा = दूसरे प्रकारों से
न = नहीं, **तु** = और
कालतः = काल से
विषयक्रान्तः = विषय में आसक्त
स्वयं = खुद, **च** = भी
पाषण्डी = पाखण्डी,
स्यात् = होता है
(किञ्च = और)
विषयाक्रान्तदेहानां = विषय में आसक्त देहवालों को
हरेः = श्रीकृष्ण का
आवेशः = आवेश
सर्वदा = सब समय
न = नहीं, **अतः** = इसलिए
अत्र = यहाँ, **भक्तौ** = भक्ति में
साधने = साधन में

त्यागः = त्याग
सुखावहः = सुखकारक
न = नहीं, **एव** = ही

भावार्थ : (और) गृहादि की बाधकता के कारण साधन के लिये परित्याग करना हो तो त्याग के पश्चात् भी ऐसे (विजातीय) का ही संग होता है, दूसरों का नहीं तथा स्वयं कालक्रम से पाखण्डी होता है।

विषयों से जिनका देह आक्रान्त है उनको सर्वदा हरि का आवेश नहीं रहता। इसलिए साधनरूप भक्तिमार्ग में अथवा भक्तिमार्ग की साधनदशा में त्याग (संन्यास) सुखकारक नहीं होता।

व्याख्या :

यदि आपको भक्ति के निर्वाह में घर बाधक हो रहा है और इस कारण से आप संन्यास लेंगे तो श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि संन्यास तो आप ले लें परन्तु यदि घर ही आपको साधक नहीं हो सकता, आपके घर के लोग ही आपको साधक नहीं हो सकते तो अन्य कौन साधक हो सकेंगे? आगे जा कर भी वापस ऐसे ही लोग मिलेंगे। कोई दूसरे थोड़े ही मिलेंगे! आपके घर के लोग जैसे थे, वे जिस प्रकार आपको विघ्न करते थे वैसे ही आगे भी मिलेंगे।

यह बात समझाने के लिए मैंने एक पूरी वार्ता लिखी थी - "**स्वामी कृष्णस्वरूपानन्द की आत्मकथा**" जो '**वैष्णववाणी**' में सूरत से प्रकाशित हुई थी। उसे कभी पढ़ें कि किस प्रकार कृष्णस्वरूपानन्द की समस्त भक्ति की अन्ततः कैसी फजीहत हो जाती है। एक बड़ी कहानी लिखी थी। तीन-चार सप्ताह में प्रकाशित हुई थी। अतः धीरे-धीरे वापस वैसा ही चक्कर बल्कि उससे भी अधिक अधोगति शुरू हो गई है।

''अग्रेऽपि तादृशैरेव एव सङ्गो भवति नान्यथा, स्वयञ्च विषयाक्रान्त: पाषण्डी स्यात्तु कालत:'' - आपने घर से डर कर घर को छोड़ा, भगवान में निष्ठा न रख कर और यह सोच कर कि घर की बाधकता भगवान से अधिक समर्थ है, आपकी भक्ति के कारण भगवान जितने साधक हो सकते हैं उससे अधिक घर बाधक हो रहा है तो किसी न किसी रूप में भगवान से अधिक आपने घर का सामर्थ्य समझा। भगवान जितने भक्ति के साधक हो सकते हैं उससे अधिक घर बाधक है तो, भगवान के सामर्थ्य की बजाय घर के सामर्थ्य का विचार किया तो, एक तो उस प्रकार के सामर्थ्य में भगवान पर आपका विश्वास कम है, भगवान पर पूरा-पूरा विश्वास ही नहीं है और दूसरे, उस स्थिति में आपने विषय के विराग में घर नहीं छोड़ा है बल्कि विषय की भीति से घर छोड़ा है।

एक बात समझें कि विषय-विरक्ति से घर छोड़ने और विषय-भीति से घर छोड़ने में अन्तर है। जैसे आपको किसी विषय से डर लगा कि भाई, घर में रहूँगा तो आयकर भरना पड़ेगा, बालकों को भी लगता है कि घर को निजी रखेंगे तो गृहकर लगेगा, सम्पत्तिकर लगेगा। इसलिए हम गोस्वामी बालकों ने कहा कि छोड़ो घर को, पब्लिक ट्रस्ट बना दें। अत: पब्लिक ट्रस्ट बनाने का बालकों का जो वैराग्य है वह विरक्ति से नहीं बल्कि विषय-भीति से हुआ है। कारण यह है कि इतनी बड़ी जायदाद निजी रखना चाहते हैं और गृहकर देना नहीं चाहते। खूब भेंट आ रही है, उसका भी कर नहीं देना। कर नहीं देना इसलिए हम अपने यहाँ के सेठियों से सलाह लेते हैं क्योंकि उनको समझदार मानते हैं। वे सलाह देते हैं कि पब्लिक ट्रस्ट बना दें, सारी बाधाएँ खत्म हो जाएंगी।

स्वयं सारा कर (टैक्स) देते हैं और हमें ऐसी गलत सलाह देते हैं कि आप पब्लिक ट्रस्ट करवा लें फिर आप ट्रस्ट में पुजारी बन कर आनन्द से रहें,

कोई कर नहीं देना पड़ेगा। बालक भी थोड़ी गणना करते हैं कि मुझे कर भी नहीं देना पड़ता और घर में भी रहने को मिल रहा है। मठड़ी तो पहले ही उड़ रही थी और अब भी उड़ रही है। वे सोचते हैं कि यह निर्विघ्न रास्ता है। अब इसमें प्राप्त क्या हुआ - कर नहीं देना और खो क्या दिया - ठाकुरजी में स्वत्व, अपना आचार्यत्व, अपनी भक्ति का पूरा स्वभाव, अपनी पात्रता - सब खो दिया। आत्मगौरव, सम्प्रदायगौरव सब कुछ खो कर पूँछ हिलाते, जीभ लपलपाते जानवर की भाँति हम संस्था में पड़े रहते हैं और ट्रस्टी हमारे मालिक हो जाते हैं। हम मालिक के कुत्ते बन जाते हैं, जो प्राप्त हो रहा है और जो खो रहे हैं वह बहुत ही निराशाजनक है। इसलिए ध्यान से समझें।

''स्वयंच विषयाक्रान्त:'' - यदि घर में वास्तव में ही त्याग होता, अरे, गंभीरता से बालक ऐसा मानते तो एक बात समझें कि प्रभु को समर्पित को स्वयं का क्यों मानना? छोड़ कर निकल जाना चाहिए था! श्रीठाकुरजी को ले जाएं! जेवरात, जायदाद सब पर सांप की तरह कुंडली मार कर बैठना है परन्तु कर (टैक्स) नहीं देना और इस विवशता, लाचारी, नपुंसकता को निभाना है। इसलिए हम पब्लिक ट्रस्ट बना कर कहते हैं कि हमारा तो कुछ भी नहीं है, सब श्रीठाकुरजी का है, पुष्टिमार्ग में तो सब समर्पित है, अहंता-ममता बाधक है।

सब कुछ प्रभु को समर्पित ही है, हमारा है ही क्या, सब प्रभु का है। आप यह बात विषय-विरक्ति से कह रहे हैं या विषय-भीति से या कर अदा करने की भीति से, एक बार अन्तिमरूप से यह निर्णय तो करें। यह तय नहीं होने के कारण क्या झमेला होता है - ''स्वयंच विषयाक्रान्त: पाषण्डी स्यात्तु कालत:।'' क्योंकि विषय-विरक्ति से यदि त्याग किया होता तो घर छूट जाता। श्रीठाकुरजी को ले जाते।

जैसे कामवन के गोविन्दजी थे। राजा ने जब उनको कहा कि हमें स्पष्टीकरण दें कि आप ऊर्ध्वपुण्ड्र किसलिए लगाते हैं? उन्होंने कहा, धत् तेरी

की ! तुम पूछनेवाले कौन? तुम्हें समझना हो तो मेरे पास आओ, मैं तुम्हारे पास स्पष्टीकरण देने के लिए क्यों आऊँ? और लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति छोड़ कर श्रीगोकुलचन्द्रमाजी को झाँपी में पधरा कर निकल गए।

विषय-विरक्ति से ऐसा अहोभाव आता है। विषय-विरक्ति ना हो और विषय-भीति हो तो भीति के कारण क्या होता है? विषय को छोड़ने के बाद भी वह विषय छूटता नहीं है। विषय-भीति हो तो जैसा कि मैं हर बार कहता हूँ कि विषय कुत्ते की तरह होता है, भौं-भौं करके खूब भौंकता है लेकिन हम डरें नहीं तो काटता नहीं है। यदि हम डर कर भागे तो वह हमें काटेगा। कभी कुत्ते के साथ ऐसा खेल-खेल कर देखें - जब कुत्ता भौं-भौं करे तब भागना, जैसे ही भागेंगे कि कुत्ता आपको काटेगा। वह भौंक कर जाँचना चाहता है कि आप डरते हैं या नहीं, यदि हम नहीं डरे तो उसे हमारा डर लगता है और वह थोड़ा-थोड़ा पीछे खिसकता जाता है और भौंकता जाता है। यदि आपने डर कर भागना शुरू किया तो आपकी पोल खुल गई। आप डर रहे हैं इसलिए उसको ऐसा लगता है कि अब काटने में कोई आपत्ति नहीं।

अत: विषय, कुत्ते के स्वभाव जैसे होते हैं, हम डरेंगे तो काटे बिना नहीं रहेंगे। विषय-भीति के कारण जो विषय का त्याग करते हैं उनको विषय कुत्ते की भाँति काटते हैं, काटते हैं और काटते ही हैं।

''स्वयंच विषयाक्रान्त: पाषण्डी स्यात्तु कालत:'' - वर्तमान में गोस्वामी बालकों की यही स्थिति हो गई है। ''विषयाक्रान्तदेहानां नावेश: सर्वदा हरे:'' - जो विषयाक्रान्त देह है उसमें हरि का आवेश नहीं रहता। यह बात हम पंचपद्यानि में भी देख आए हैं कि संन्यासासक्त का आवेश सदैव नहीं निभता। कुछ क्षणिक आवेश आएगा - नन्दघर आनन्द भयो, खूब नाचेंगे, खूब कूदेंगे, बड़ी सी मठड़ी उछालेंगे, लड्डू उछालेंगे- नन्दघर आनन्द भयो। बाद में मुखियाजी को कह देंगे कि अब मंगला से राजभोग तक की सेवा आप करें।

नन्दमहोत्सव में हम बहुत नाचे। आवेश तो दर्शन खुले थे इसलिए आया था। टेरा आने के बाद आवेश कहाँ रहता है? टेरा आने के बाद आवेश रहता हो तो आरती के बाद की सेवा में भी पहुँचना चाहिए लेकिन ऊब जाते हैं। दर्शन खुले तब नाच तो लिए, अब इससे अधिक कितनी सेवा करें !

मुखियाजी कहते हैं कि मंगलाआरती की खबर है अन्नदाता ! वे कहते हैं - पहुँचें, शृंगार की खबर है, वे कहते हैं - पहुँचें, हमने तो कल ही कर लिया था और आपको शृंगार करने के लिए ही तो रखा है। भोग धराने की खबर है, वे कहते हैं - पहुँचें। यह सब इसलिए कि हम थक जाते हैं। आवेश नहीं रहता इसलिए, आवेश होगा तो क्यों थकेंगे?

''अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्याग: सुखावह:'' - भक्ति की साधन अवस्था में त्याग का जोखिम नहीं लेना चाहिए अन्यथा दु:खी, दु:खी और दु:खी होने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होता। यह बात ठीक प्रकार से समझ जाएँ। इस प्रकार भक्त्यर्थ संन्यास के जो भेद थे वे श्रीमहाप्रभुजी ने समझाए।

(भक्तिमार्गीययो: संन्यासयो: विरहानुभवार्थं द्वितीयप्रकारकस्संन्यासो [ष/2] भक्तिभावदाढ्र्याय प्रशस्तो भवति। व्रजभक्तानामिव प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिरूपे निरोधे सिद्धे बाह्यत्यागस्य आवश्यकतैव नास्ति, त्यागनिर्वाहकवैराग्यस्य उत्कृष्ट-भक्तिस्वभावसिद्धत्वादेवेति, तस्य कर्तव्यत्वाकर्तव्यत्वयो: निरूपणमपि अनावश्यकमेव)

भक्त्युत्तर संन्यास के भी पुन: दो विभाग हो सकते हैं। एक भक्त्युत्तर संन्यास जो प्रपंचविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिरूप है और एक भगवद्विरहानुभवार्थ भक्त्युत्तर अर्थात् भक्ति सिद्ध होने के बाद। ये दो प्रकार के संन्यास हैं। प्रपंचविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिरूप संन्यास व्रजभक्तों को सिद्ध

था – ''**नंददास रहत ऐसे घर में जैसे रहत बटाऊ**'' – घर में रह कर भी उस प्रकार से जी सकते हैं।

जिस प्रकार कर्मफल के त्याग का संन्यास है उसी प्रकार का प्रपंचविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिरूप संन्यास है। उसमें बाह्यत्याग की कोई आवश्यकता ही नहीं है। भीतर इतनी विरक्ति है कि बाह्यत्याग से कोई अन्तर नहीं पड़ता। उसका तो श्रीमहाप्रभुजी ने यहाँ विचार ही नहीं किया है क्योंकि प्रपंचविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिरूप संन्यास सिद्ध हो गया, जो व्रजभक्तों को सिद्ध था, उसके बारे में तो क्या कहना और क्या समझाना। उसके माध्यम से तो समझने की बात है।

मैं अक्सर एक मनोरंजक बात बताता रहता हूँ कि एक लड़की को पहली बार डिलीवरी होनेवाली थी। उसने अपनी माँ को कहा कि जब डिलीवरी होनेवाली हो तो मुझे उठा देना। उसकी माँ ने कहा कि तुम बात को समझो कि जब तुम्हें डिलीवरी होनेवाली होगी तब मुझे तुम्हें नहीं जगाना पड़ेगा, तुम मुझे जगा दोगी। अभी तक तुम्हें डिलीवरी नहीं हुई इसलिए तुम ऐसा समझती हो कि तुम सोती रहोगी और जब तुम्हें बालक होनेवाला होगा तब मैं तुम्हें जगाऊँगी लेकिन वास्तव में जब डिलीवरी होनेवाली होगी तब मैं तुम्हें नहीं बल्कि तुम मुझे जगाओगी।

इस प्रकार यह प्रपंचविस्मृतिपूर्वक जो भगवदासक्तिरूप संन्यास है उसके विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इससे तो हम समझेंगे कि संन्यास क्या है, संन्यास का रहस्य क्या है। आगे श्रीमहाप्रभुजी इसीलिए कह रहे हैं कि – ''कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ताः गुरवः साधनं च तद्, भावो भावनया सिद्धः'' – जिसको प्रपंचविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्ति सिद्ध है उसे किसी संन्यास का उपदेश देने की आवश्यकता नहीं होती। उसे तो यह भी कहने की आवश्यकता नहीं पड़ती कि –

विरहानुभवार्थन्तु परित्यागः प्रशस्यते।

अन्वयार्थ :

विरहानुभवार्थं = विरह का अनुभव करने के लिए
तु = तो
परित्यागः = त्याग
प्रशस्यते = प्रशंसनीय है

भावार्थ : भगवान के विरह के अनुभव के लिए तो त्याग उत्तम कहा गया है।

व्याख्या :

विरह को तो वे जीते हैं, ऐसे भक्त संयोग-वियोग के चक्र को जीते हैं जिन्हें प्रपंचविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्ति सिद्ध हो जाती है। वे हमको जगाएंगे। हम उनको क्या उपदेश दे सकेंगे, उनसे तो हमें समझना होगा। अब यहाँ फिर से देखें कि जिनको प्रपंचविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्ति हो गई है और उनसे घर में सेवा नहीं निभ रही तो वे दृढ़बीजभाववाले जात-व्यसनी हैं, उनका व्यसनभाव प्रभु में इस स्तर तक बढ़ गया है। इस प्रकार के दृढ़-बीजभाववाले को यदि घर में भगवद्विप्रयोग अनुभव करने में किसी प्रकार का विघ्न आता हो और बाहर जा कर सरलतापूर्वक भगवद्विप्रयोग अनुभव कर सकते हों तो उनको संन्यास लेने की छूट है। श्रीमहाप्रभुजी ने भक्तिमार्गीय संन्यास का यही सार बताया है।

भक्तिवर्धिनी का पहला, तीसरा अधिकारी और अंत में पाँचवा अधिकारी भी श्रवण की प्रक्रिया से आगे बढ़ कर यदि व्यसन तक पहुँच रहा है- ''स्नेहाद् रागविनाशः स्याद् आसक्त्या स्याद् गृहारुचिः, गृहस्थानं बाधकत्वम् अनात्मत्वं च भासते, यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव हि'' – इस प्रक्रिया से यदि आगे बढ़ पाया तो उसके सम्बन्ध में श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि- ''विरहानुभवार्थन्तु परित्यागः प्रशस्यते।''

आपका घर आपकी विरहानुभूति में बाधक हो रहा है, आपकी भक्ति के दृढ़बीजभाव के कारण घर आपको बाधक लगता हो जिससे आप भगवद्विरह को नहीं निभा पा रहे, विरह में ठीक से रो नहीं पा रहे तो संन्यास की छूट है। एक बात समझें कि कथा में हम रोते हैं, अरे....फिर भगवान गोकुल से मथुरा पधार गए! कथा में रो रहे हैं लेकिन क्या घर में भी रो रहे हैं? घर में तो नहीं रो रहे हैं। घर में तो आनन्द से रहते हैं, कथा में रोते हैं तो यह एक दूसरी ही कथा है। यह किसी भक्त की कथा नहीं है, यह यजमान की कथा है।

प्रभु की कथा में यदि सचमुच रोना आता हो..... मैंने एक से पूछा कि भाई, बार-बार किसलिए रोते हो? उन्होंने कहा कि श्रीठाकुरजी की याद आती है। मैंने कहा कि फिर श्रीठाकुरजी की सेवा क्यों नहीं करते? तो कहते हैं कि सेवा करते हैं तो भावोद्रेक मंद हो जाता है। तब मुझे रहस्य समझ में आया कि अच्छा, इसमें यह रहस्य है। स्त्रियाँ यह रहस्य नहीं जानतीं, अन्यथा घर में हमें वे कहें कि आपकी याद में रो रही हैं और हम कहें कि अब तो आ गए फिर वे बोल दें कि आ गए तो भाव रागान्वित नहीं रहा तो ऐसी स्थिति में कहाँ जाएँ?

घर में हमारा नाम ले कर रोती हो कि आए नहीं, आए नहीं - ''आए न बालम का करूँ सजनी'' - और हम कहें कि लो आ गए और वह कहें कि आ गए तो भाव ठण्डा पड़ गया! तो यार फिर हम जाएँ किस गड्ढे में? दरिया में गिरें या डूब मरें, कहाँ जाएँ? भगवान भी यह सोचते हैं कि मेरे लिए रोता है और मेरे पास आता भी नहीं क्योंकि आ जाए तो भाव ठण्डा हो जाता है। कथा का यह अत्यन्त गंभीर यजमानी रहस्य है, भागवती रहस्य नहीं है, यजमानी रहस्य है।

कहते हैं कि भगवान रास में तिरोहित हो गए, अरे! कहाँ तिरोहित हो गए यार, किसको बेवकूफ बनाते हैं? तिरोहित हुए होते तो इस प्रकार रोना ही नहीं आता। अतः यह बात ध्यान से समझें कि यह भागवती रहस्य नहीं है, यह सब कोई दूसरे प्रकार का गंभीर रहस्य है।

(भक्तिमार्गीययोः संन्यासयोः भगवद्विरहानुभवार्थे द्वितीयप्रकारके संन्यासे वेश-गुरु-साधक-भावोद्बोधनोपाय-बाधकानाञ्च निरूपणम्)

संन्यास के प्रकार में वेश-गुरु-साधकभावोद्बोधन के उपाय और बाधकों का निरूपण किया गया है।

स्वीयबन्ध-निवृत्यर्थं वेशः सोऽत्र न चान्यथा[1] ।।7।।
कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः[2] साधनं च तत्।
भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते[3] ।।8।।
विकलत्वं तथाऽस्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं नहि।
ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः[4] ।।9।।

अन्वयार्थ :

च = और, **सः** = वह
वेशः = वेश (**अपि** = भी)
अत्र = यहाँ
स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थे = स्वीयजन के बन्धन से निवृत्ति के लिए
अन्यथा = अन्य प्रकार से, **न** = नहीं
कौण्डिन्यः = कौण्डिन्य ऋषि
(च = और**), गोपिकाः** = गोपीजन
गुरवः = गुरु, **प्रोक्ताः** = कहे गये हैं
च = और, **तत्** = वह
साधनं = साधन
(**तदाचरितमेव इति अर्थः** = उनके आचरण ही हैं, यह अर्थ है, **किं तत्** = वह साधन कहाँ है)

भावनया = भावना से
सिद्धः = सिद्ध हुआ
भावः = भाव (है)
अन्यत् = दूसरे
साधनं = साधन
न = नहीं, **इष्यते** = अपेक्षित हैं
विकलत्वं = विकलता
तथा = और
अस्वास्थ्यं = अस्वस्थता
(विरहस्य = विरह का)
प्रकृतिः = स्वभाव है
(**तत्** = वह) **प्राकृतं** = प्रकृत
न = नहीं, **हि** = ही है
ज्ञानं = ज्ञान, **च** = और
गुणाः = गुण, **एवं** = इस प्रकार से
वर्तमानस्य = आचरण करनेवाले को
तस्य = उनको
बाधकाः = बाधक है

भावार्थ : और त्याग (संन्यास) में काषाय वस्त्रादिक वेश अपने सम्बन्धियों के बन्धन से निवृत्ति के लिए हैं, अन्यथा नहीं हैं।

कौण्डिन्य ऋषि और श्रीगोपीजन त्याग के गुरु कहे गए हैं और साधन भी यह है कि भावना करने से भाव सिद्ध होता है, अन्य साधन अपेक्षित नहीं हैं।

विकलता तथा अस्वस्थता विरह का स्वभाव है। वह प्राकृत नहीं है। ऐसे भाव में रहनेवाले को ज्ञान तथा गुण बाधक हैं।

व्याख्या :

यहाँ श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि आप दूसरों से छुटकारा पाने के लिए भगवा वस्त्र न पहनें। दूसरे आपको कष्ट न दें इसके लिए आप भगवा पहन कर, दूसरों को लाल सिग्नल दिखा सकते हैं कि भाई, हमारे पास न आएँ, हम आपके लिए उपयोगी नहीं रह गए हैं। इस भाव से आप भगवा वेश धारण कर सकते हैं क्योंकि आपको भगवद्विरह करना है। दूसरों के साथ सम्बन्ध तोड़ना, घर से सम्बन्ध तोड़ना आपकी कठिनाई नहीं है, आपकी कठिनाई यह है कि दूसरे आपको परेशान न करें। इसलिए आपको यदि ऐसा लगता हो कि भगवा पहनने से आपको परेशान नहीं करेंगे तो भगवा पहन लें। आपको ऐसा लगता हो कि लाल कपड़े पहनने से परेशान नहीं करेंगे तो लाल कपड़े पहन लें, सफेद कपड़े पहनने हों तो सफेद कपड़े पहन लें। जो पहनना हो, पहन लें।

यहाँ भगवा वस्त्र की अनिवार्यता नहीं है लेकिन भगवा वस्त्र यदि सहायक होते हों तो पहनने में क्या गलत है? क्योंकि ''कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ताः गुरवः साधनं च तत्'' - गोपीजन इस प्रकार के त्याग में हमारे गुरु हैं। गुरु होने का तात्पर्य यह है कि विरहानुभवार्थ परित्याग के विषय में गोपिकाएँ हमारे लिए आदर्श हैं।

'तद्-भावो' - उनका भाव हमें किस प्रकार प्राप्त होगा तो श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं - ''तद्-भावो भावनया सिद्धः'' उनका प्रभु के प्रति जो भाव था, वह भाव आपको किस प्रकार प्राप्त होगा? कहते हैं कि आप उनके भाव की भावना करें। जैसे उनके श्रीठाकुरजी उनके पास से तिरोहित हो गए इसलिए उनको विरह हो रहा है तो आप भी कल्पना करें कि आपके पास से आपके श्रीठाकुरजी तिरोहित हो गए। इस प्रकार विचार करेंगे तो आपको भगवद्विरहानुभवार्थ गृहत्याग का सम्पूर्ण आनन्द आएगा।

उस भाव की भावना करें - भावना और भाव में क्या अन्तर है? भाव का अर्थ है हमारे हृदय में स्थित भाव जिसे हम कहते नहीं परन्तु हो जाता है और भावना का अर्थ है कि हममें वह भाव विद्यमान नहीं है परन्तु हम उसे इच्छापूर्वक करते हैं। तात्पर्य यह है कि जो सहजरूप से होता है वह भाव है और जो अपनी इच्छापूर्वक करते हैं वह भावना है।

सगाई होने के बाद लड़के-लड़की को एक-दूसरे के प्रति भावना करने की शिक्षा दी जाती है कि भाई, यह तुम्हारी भावी पत्नी है और यह तुम्हारा भावी पति है। उस समय भाव नहीं होता पर सगाई के बाद दोनों का दाम्पत्य भलीभाँति निभ रहा है अर्थात् लाठी-डण्डा, खींचा-तानी, मार-पीट नहीं चल रही है तो तद्भाव सिद्ध हो जाता है कि मैं पति हूँ और यह पत्नी है। यदि लाठी-डण्डा, खींचा-तानी, मार-पीट हो गई तो भाव खण्डित हो जाता है। इसलिए सगाई के समय यह भावना कराई जाती है। विवाह पश्चात् दाम्पत्यभाव की अपेक्षा होती है। सगाई के समय दाम्पत्य की भावना होती है, दाम्पत्य का भाव नहीं होता।

अर्थात् एक-दूसरे को इस प्रकार बताया जाता है कि भाई, यह तुम्हारा पति होगा अथवा यह तुम्हारी पत्नी होगी। इसके साथ तुम्हें पति की भाँति व्यवहार करना है और इसके साथ तुम्हें पत्नी की भाँति व्यवहार करना है - यह भावना है जिसकी विवाह के पश्चात् भाव में परिणति हो जाती है। भाव और भावना में इतना ही अन्तर है कि जो हम कर रहे हैं वह भावना है और जो हमारे हृदय की कामना से, हृदय के आवेग से, आन्तर से होने लगे तो वह भाव है। जो इच्छा से कर रहे हैं वह भावना है और जो इच्छा के बिना होने लगे वह भाव है। बस इतना ही अन्तर है।

संक्षेप में ऐसे भी समझ सकते हैं कि इच्छापूर्वक हम भाव कर रहे हैं तो भावना है और इच्छा के बिना भावना होने लग जाए तो वह भाव हो जाएगा-

''भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यद् इष्यते।'' अब एक बात समझें कि - **''जहर तो पिया है जान बूझ कर''** - आप भगवद्विरह के लिए घर छोड़ कर निकले हैं - क्योंकि अभीतक तो घर आपको भगवद्विरह का अनुभव करने में कष्ट दे रहा था, परन्तु अब आपका कष्ट दूर हो गया - इसलिए आपके भीतर विकलता बढ़ जाएगी। आप मन से थोड़ा अस्वस्थ हो जाएंगे, आप स्वस्थ नहीं रह सकेंगे।

''विकलत्वं तथाऽस्वास्थ्यं प्रकृतिः, प्राकृतं नहि'' - विकलता आपका स्वभाव हो जाएगा और वह प्राकृत विकलता नहीं होती, प्राकृत अस्वस्थता नहीं होगी, आप थोड़ा पागल की भाँति व्यवहार करने लगेंगे। जैसे राजा आसकरणदासजी पागल की भाँति व्यवहार करने लगे थे। इस प्रकार आपका यह स्वभाव प्राकृत नहीं रह जाता। अर्थात् दुनिया की जो प्रकृति है उसमें से उत्पन्न होनेवाला जो प्राकृत स्वभाव है, वैसा प्राकृत स्वभाव नहीं रह जाता।

कारण यह है कि भगवद्विप्रयोग के कारण आपको यह अस्वस्थता है। अब आप स्वस्थ नहीं रह सकते और - ''ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः'' - इस स्थिति में प्रभु का माहात्म्यज्ञान और प्रभु के गुण आपको बाधक हो जाएंगे। इससे पूर्व प्रभु के गुण साधक हो रहे थे। कारण यह है कि गुणों के कारण आपको स्वस्थता रहती थी। जब भी प्रभु के गुणों का विचार करते हैं तो प्रभु सर्वत्र हैं, प्रभु आपके हृदय में भी हैं।

कहीं भी आप भगवान को भजना चाहें तो भज सकते हैं परन्तु अब इस स्थिति में आपको प्रभु के गुण बाधक लगेंगे क्योंकि जब प्रभु सर्वत्र हैं तो फिर विप्रयोग किसका? प्रभु तो कहीं भी तिरोहित नहीं हैं - जैसे कबीर कहते हैं कि- **''पानी बीच मीन पियासी, मोहे सुन-सुन आवे हांसी''** - प्रभु सर्वव्यापी हैं, सर्वान्तरात्मा हैं तो उनका विप्रयोग कैसा? अतः प्रभु के सब गुण, प्रभु के सम्बन्ध में इस प्रकार का ज्ञान आपको विप्रयोग में बाधक होगा। यदि

आपको संन्यास के पश्चात् भी ज्ञान की इस प्रकार की चर्चा अच्छी लग रही है तो यह अर्थ हुआ कि आपको विप्रयोग नहीं है और विप्रयोग है तो यह ज्ञान की चर्चा अच्छी नहीं लग सकती।

यदि आप विकल हैं, आपको विप्रयोग है तो आप भागवत नहीं कर सकते, आप कोई कथा नहीं कर सकते, आप रोते रहेंगे, आप अस्वस्थ रहेंगे परन्तु आपकी यह अस्वस्थता, आधिदैविक अस्वस्थता है, आपकी यह विकलता, आधिदैविक विकलता है। उसका लौकिक, शारीरिक, मानसिक विकलता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

यह बहुत उच्च स्तर की विकलता है, यह बहुत ही उत्तम सामर्थ्यवाला अस्वास्थ्य है। आपका इससे अधिक स्वास्थ्य हो भी नहीं सकता। जिस पर सैकड़ों स्वास्थ्य न्यौछावर कर सकते हैं वैसा आपका यह अस्वास्थ्य है। यह बात आपको समझनी पड़ेगी। ''ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः'' – यह सारा ज्ञान और भगवान के सारे गुण जो अबतक साधक थे, अब वे आपको बाधक होने लगेंगे, क्योंकि यह बात अब उस दर्जे तक जा रही है।

(पूर्वोक्तस्य संन्यासस्य फलावस्थायाः निरूपणम्)

ऊपर कहे गए संन्यास की फलावस्था का निरूपण करते हैं। इस संन्यास की फलावस्था में क्या होगा – उसका निरूपण करते हैं।

सत्यलोके स्थितिर् ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात्।
भावना साधनं यत्र फलं चाऽपि तथा भवेत्।।10।।
तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः।
बहिश्चेत् प्रकटः स्वात्मा वह्निवत् प्रविशेद् यदि।।11।
तदैव सकलो बन्धो नाशमेति नचान्यथा।
गुणास्तु संगराहित्याद् जीवनार्थं भवन्ति हि।।12।।

भगवान् फलरूपत्वाद् नाऽत्र बाधक इष्यते।
स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर् न विरुध्यते।।13।।
दुर्लभोऽयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा।

अन्वयार्थ :

संन्यासेन = संन्यास के द्वारा
विशेषितात् = विशिष्ट (प्रबल) हुए
ज्ञानात् = ज्ञान से
सत्यलोके = सत्यलोक में
स्थितिः = स्थिति
(**भवति** = होती है), **च** = और
यत्र = जहाँ (**यादृशी** = जैसी)
भावना = भावना
साधनं = साधन (**तत्र** = वहां)
फलं = फल, **अपि** = भी
तथा = उस प्रकार का
भवेत् = होता है
तादृशाः = वैसे
सत्यलोकादौ = सत्यलोक आदि में
एव = ही, **तिष्ठन्ति** = रहते हैं
न = नहीं, **संशयः** = संदेह है
(भक्तौ तु = भक्ति में तो)
चेत् = यदि, **बहिः** = बाहर
प्रकटः = प्रकट
स्वात्मा = अपना आत्मा
वह्निवत् = अग्नि की भाँति

यदि = जो (**पुनः** = पुनः)
प्रविशेत् = प्रवेश करे
तदा = तब, **एव** = ही
सकलः = सब, **बन्धः** = बन्धन
नाशं = नाश को, **एति** = प्राप्त होते हैं
च = और, **अन्यथा** = अन्यथा
न = नहीं
गुणाः = गुण, **तु** = तो
संगराहित्यात् = संगरहित होने से
जीवनार्थं = जीवन के लिए
भवन्ति = होते हैं, **हि** = ही
फलरूपत्वात् = फलरूप होने से
भगवान् = भगवान्, **अत्र** = यहां
बाधकः = प्रतिबन्ध करनेवाले
न = नहीं, **इष्यते** = इच्छित हैं
(**भगवता** = भगवान द्वारा)
स्वास्थ्यवाक्यं = स्वस्थताकारक वचन
न = नहीं, **कर्तव्यं** = करणीय हैं
(यतः = क्योंकि **)**
दयालुः = दयालु, **न** = नहीं
विरुध्यते = विरुद्ध होते हैं
अयं = यह, **परित्यागः** = त्याग
दुर्लभः = कष्टसाध्य है
प्रेम्णा = प्रेम से
सिध्यति = सिद्ध होता है

अन्यथा = और किसी तरह से
न = नहीं (**सिध्यति** = सिद्ध होता है)

भावार्थ : संन्यास से उत्तमता को प्राप्त हुए ज्ञान से सत्यलोक की गति मिलती है। क्योंकि जिस मार्ग में जैसी भावना साधन बनती है उससे फल भी वैसा ही मिलता है।

संन्यासग्रहणपूर्वक ज्ञानी होने पर ब्रह्मलोक आदि में ही स्थिति रहती है परन्तु भक्तिमार्ग में तो बाहर प्रकट हुए स्वात्मा भगवान, जैसे अग्नि काष्ठ में पुनः प्रवेश करती है वैसे, जब भक्तों के अन्तःकरण में प्रवेश करते हैं तब ही उनके सकल बन्धन का नाश होता है; अन्य प्रकार से बन्धननाश सम्भव नहीं है। श्रवण-कीर्तन आदि में सदा विद्यमान प्रभु के गुण तो भक्तों के जीवन के लिए हैं। क्योंकि प्रभु का संग जबतक नहीं होता तबतक भक्त श्रीहरि के गुणों से ही अपना जीवन रख सकता है।

भगवान फलरूप हैं इसलिए यहाँ बाधक नहीं हैं और (भक्त को) स्वस्थताकारक वाक्य (कहना) भगवान के लिए कर्तव्य नहीं है। क्योंकि भगवान दयालु हैं इसलिए विरुद्ध नहीं होते हैं; अथवा विरोध नहीं होता है।

इस प्रकार का यह भक्तिमार्गीयसंन्यास दुर्लभ है। यह प्रेम से ही प्राप्त हो सकता है। तप, दान आदि साधनों से दुष्प्राप्य है।

व्याख्या :

इस प्रकार के संन्यास के कारण आप सत्यलोक में स्थित हो गए। अब आप मिथ्यालोक में नहीं हैं। सत्यलोक एक लोक भी है परन्तु उस अर्थ में, और इस अर्थ में भी कि जो मिथ्या अहंता-ममतात्मक लोक है, वहाँ अब आप नहीं रह सकते। ''भावना साधनं यत्र फलं चाऽपि तथा भवेत्'' - आप भावना से जिस लोक में जी रहे हैं, भगवान के विप्रयोग के लोक में फल भी आपको वैसा

ही मिलेगा। ''तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः। बहिश्चेत् प्रकटः स्वात्मा वह्निवत् प्रविशेद् यदि'' - आपके हृदय में जो विप्रयोग का भाव स्थित है, वह कहीं आपके हृदय की वृत्ति को मथ-मथ कर, मथ-मथ कर इतना प्रगाढ़ कर देता है कि भीतर विराजमान प्रभु, जिनका आप निरन्तर चिन्तन कर-करके विप्रयोग कर रहे हैं वे, आसक्ति-भ्रम-न्याय से किसी समय आपको बाहर दिखाई देने लगेंगे। बस, फिर आपका जीना कठिन हो जाएगा।

उसके पश्चात् आपके विप्रयोग की तीव्रता बहुत बढ़ जाएगी और उस बढ़ी हुई तीव्रता के कारण आप पुनः जीने योग्य नहीं रह सकेंगे। अभीतक तो आप जीने लायक थे, अब जीने लायक भी नहीं रहेंगे। किसलिए? कारण यह है कि स्नेह की अन्तिम अवस्था के पूर्व उन्माद आता है। उन्माद की स्थिति के पश्चात् मूर्च्छा आती है, मूर्च्छा के पश्चात् मरण आता है। यह मरण भी किसी अन्य प्रकार का मरण है, यह रोगजन्य मरण नहीं है, आपका भगवान के साथ से विप्रयोगजन्य मरण कहा जाएगा। भगवद्विप्रयोगजन्य मरण, साधारण मरण नहीं होता।

आपका वह भावात्मक प्रभु आपके भीतर से यदि बाहर प्रकट हो गया और फिर कभी भीतर प्रविष्ट हो गया तो उसको काष्ठ के उदाहरण से समझा रहे हैं कि काष्ठ में स्थित अग्नि यदि प्रकट हो कर प्रज्ज्वलित हो जाए तो काष्ठ की सत्ता कायम नहीं रह सकती। इसी प्रकार आपके देह के भीतर स्थित भावात्मक प्रभु यदि विप्रयोग के आसक्ति-भ्रम-न्याय से बाहर प्रकट हो गया और फिर यदि कहीं तिरोहित हो गया तो इतने विप्रयोग के पश्चात् आप जी नहीं सकेंगे।

आज जो हम सब रोते रहते हैं, वह हमें भगवान का सच्चा विप्रयोग थोड़े ही है। थोड़ा बहुत होता होगा परन्तु सच्चा विप्रयोग इस प्रकार का नहीं है।

एक प्राकृत कवि ने बहुत ही सुन्दर कहा है कि जो लोग प्रीतम के आने की आशा में जी रहे हैं वे बहुत सौभाग्यशाली हैं क्योंकि हम तो प्रीतम के जाने के समाचार से मरने की तैयारी कर रहे हैं। ऐसा एक प्राकृत कवि ने कहा है।

फिर तो उस अवस्था का विप्रयोग पुनः प्रकट होगा और ''गुणास्तु संग राहित्याद् जीवनार्थं भवन्ति हि'' - उस समय संगराहित्य होने के कारण आपके जीवन में गुण थोड़ा-बहुत सहायक हो सकेंगे तथा इस विप्रयोग में भगवान आपके समक्ष जल्दी से प्रकट नहीं होते। किसलिए? कारण यह है कि भगवान का एक स्वरूप जैसे संयोगात्मक है वैसे ही एक स्वरूप उनका विप्रयोगात्मक भी है। अतः विप्रयोगात्मक रूप में भगवान आपको विप्रयोग प्रदान करते ही रहेंगे ताकि आप अपने विप्रयोग को पूरी तीव्रता के साथ अनुभव कर सकें क्योंकि आपने वही मार्ग पसन्द किया है। अब पसन्द किया है तो वह एक प्रकार से शहादत का मार्ग है। यह युद्ध का मार्ग नहीं, भक्ति में शहीद होने का मार्ग है। यह मार्ग पसन्द किया है तो शहीद होना ही आपकी नियति है।

जैसे गाँधीजी का शहीद होने का मार्ग था। सुभाषचन्द्र का शहादत का मार्ग नहीं था, तलवार उठा कर लड़ने-मारने का मार्ग था परन्तु यह शहादत का मार्ग है क्योंकि आपने विप्रयोग को ही पसन्द किया है। श्रीमहाप्रभुजी इस बात को वहाँतक ले जाते हैं कि - ''भगवान् फलरूपत्वाद् नात्र बाधक इष्यते''- भगवान प्रकट होकर आपके विप्रयोग को खत्म नहीं करते।

''स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यम्'' - आपको कोई समझाने आए - जैसे उद्धवजी गोपीजन को समझाने आए थे कि भगवान तो सर्वव्यापक हैं फिर आप किसके लिए रो रहे हैं - तो उनकी परवाह न करें। ज्ञान की अब आवश्यकता नहीं है, ज्ञान की परवाह प्रारम्भ में आवश्यक थी। विप्रयोग का अनुभव हो गया तो ज्ञान की परवाह करने की आवश्यकता नहीं है और आपको यह भाव भी

कभी नहीं जाग्रत होगा कि भगवान दयालु नहीं हैं, हमारे समक्ष प्रकट क्यों नहीं हो रहे?

एक सीधी बात जो मैं हमेशा कहता रहता हूँ कि सरमद नाम का एक यहूदी था। वह इजराइल से यहाँ दिल्ली आ गया था। औरंगजेब के बड़े भाई दारा का वह गुरु था और मस्तराम जीव था। वह नग्न रहता था और जामा मस्जिद के आगे बैठ कर आधा कलमा बोलता था। '**ला इलाहा**' बोलता था, '**इल्लल्लाह**' नहीं बोलता था, '**मोहम्मदरसूलल्लाह**' नहीं बोलता था। 'ला इलाहा' का अर्थ है कि उसके सिवाय कोई नहीं है। अल्लाह एक है और उसके दूत रसूल मोहम्मद हैं, यह बाद की दो बातें नहीं बोलता था।

किसी ने औरंगजेब के सामने शिकायत कर दी कि भाई, यह हर बार आधा कलमा बोलता है। औरंगजेब ने पूछा कि भाई, आधा कलमा क्यों बोलते हो तो उसने इतना मस्त जवाब दिया कि जितना जानता हूँ, उतना ही बोल रहा हूँ। इससे आगे जब जान लूँगा तो आगे का अंश भी बोलूँगा। अभी तो इतना ही जानता हूँ कि उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है। आगे की बात अभीतक मैं जान नहीं पाया तो किस प्रकार बोलूँ?

औरंगजेब ने उसको मारने का हुक्म दे दिया। मरते समय भी उसकी खूबसूरती देखें कि भक्त की खूबसूरती कैसी होती है - उसने यह नहीं कहा कि औरंगजेब मार रहा है, मरते समय भी उसने यह कहा कि मेरी प्रेमिका मेरे प्रेम की परीक्षा लेना चाहती है कि मैं सच्चा प्रेमी हूँ या नहीं। इसलिए उसको प्रेम की परीक्षा देने के लिए मुझे मर जाना चाहिए। हँसते-हँसते मर गया। उसने कहा कि गला काट दें लेकिन बोलूँगा तो उतना ही जितना जानता हूँ, जो जाना नहीं वह कहाँ से बोलूँ? अभी मैं जान नहीं पाया तो बोलूँ किस प्रकार? यह अभिमान हममें भी प्रकट हो सकता है।

ऐसे कई उदाहरण अपने यहाँ भी मिल जाएंगे। अत: यह बात समझ लें कि ऐसी योग्यता हममें भी प्रकट हो सकती है। ''स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यम्'' - प्रभु प्रकट नहीं हो रहे तो भी हमें ऐसा नहीं लगेगा कि प्रभु दयालु नहीं हैं। मुझे किसी ने एक दिन पूछा कि इतने वर्ष से हम सेवा कर रहे हैं तो श्रीठाकुरजी प्रकट क्यों नहीं होते? मैं उद्विग्न हो गया। मैंने कहा कि श्रीठाकुरजी प्रकट नहीं हुए तो सेवा किसकी की? सेवा किसकी कर रहे थे? पत्थर को पूजा? किसी धातु को पूजा? आपने किसकी पूजा की?

उसने कहा कि नहीं-नहीं, ऐसे तो श्रीठाकुरजी हैं। मैंने कहा कि ऐसे हैं और वैसे नहीं हैं, इसका क्या अर्थ है? मैं उद्विग्न था, उसने कहा कि यह बात नहीं है, कंस के समक्ष भी प्रभु प्रकट हो गए थे। अब कंस को तो द्वेष था। आपको द्वेष कहाँ है? बताएँ। कंस के समक्ष प्रकट हो गए तो हमारे लिए प्रकट क्यों नहीं हुए? आपको उतना द्वेष है क्या? आपको इतना स्नेह है क्या? यह बताएँ।

आप गणना कर रहे हैं कि हमने दस वर्ष सेवा की और श्रीठाकुरजी प्रकट क्यों नहीं हुए तो भाई, श्रीठाकुरजी प्रकट हुए, वे आपके प्रति दयालु हैं या नहीं, यह चिन्ता आप किसलिए कर रहे हैं? जिनकी आप सेवा कर रहे हैंउनको आप प्रकट ठाकुरजी क्यों नहीं मानते? वे प्रकट ठाकुरजी ही हैं। इसलिए हम उन्हें प्रतीक नहीं कहते, वे प्रकट श्रीठाकुरजी ही हैं इसलिए हम उन्हें स्वरूप कहते हैं, रूप नहीं कहते। यदि ऐसा न हो तो फिर स्वरूप किसलिए कहना चाहिए, रूप कहना चाहिए था, प्रतीक कहना चाहिए था, मूर्ति कहना चाहिए था।

एक तरफ तो स्वरूप कहना और दूसरी तरफ यह कि ऐसे तो स्वरूप हैं और वैसे स्वरूप नहीं हैं। यह 'ऐसे और वैसे' का चक्कर क्या है? यह बात हमें एक दिन शान्ति से समझनी पड़ेगी। यह हमारे मन की अधकचरा स्थिति है।

प्रभु का इतने दिन से विरह कर रहे हैं और प्रभु प्रकट क्यों नहीं होते? तो प्रभु दयालु नहीं हैं। यह सब 'ऐसे-वैसे' का चक्कर है। समझ जाने के बाद यह चक्कर नहीं रहेगा।

अर्थात् यह बात समझ लें कि आपको विरहानुभव नहीं है, आप प्रभु से कामना कर रहे हैं, प्रभु के साथ रमण नहीं कर रहे। नटवरवपु के साथ आपका रमण नहीं हो रहा है; नटवरवपु के आप कामी हैं, नटवरवपु में तन्मय नहीं हैं। नटवरवपु में यदि आप मग्न होते तो 'ऐसे-वैसे' का चक्कर खत्म हो जाता।

''दुर्लभोऽयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा'' - श्रीमहाप्रभुजी ने अकुलाहट में कितनी गजब की बात कह दी है कि यह परित्याग बहुत दुर्लभ है और यह परित्याग वही कर सकेगा जिसके हृदय में प्रेम है। जिसके हृदय में प्रेम नहीं, भगवत्काम है - बात को समझें, मैं अन्यथा अर्थ में 'काम' शब्द का प्रयोग नहीं कर रहा हूँ, किसी हीन अर्थ में नहीं कह रहा हूँ बल्कि एक भाव की तुलना के लिए कह रहा हूँ कि जिनको भगवत्काम है - उनको यह परित्याग सिद्ध नहीं होता। जिनको भगवत्प्रेम है उनको यह परित्याग सिद्ध होगा।

(ज्ञानमार्गीयसंन्यासे ज्ञानार्थसंन्यासः[स/1] ज्ञानोत्तरसंन्यासः[स/2] इति प्रकारद्वैविध्ये प्रथमस्य अकर्तव्यत्वनिरूपणं द्वितीयस्य कलौ दुर्लभत्वमेवेति उपपादनम्)

ज्ञानमार्गीय संन्यास के दो भेद हैं - ज्ञानार्थ संन्यास और ज्ञानोत्तर संन्यास। इसमें प्रथम संन्यास कर्तव्य नहीं है और दूसरा संन्यास कलिकाल में दुर्लभ ही है।

ज्ञानमार्गेतु संन्यासो द्विविधोऽपि विचारितः।।14।।
ज्ञानार्थम्[स/1] उत्तराङ्गञ्च[स/2] सिद्धिर् जन्मशतैः परम्[1]।
ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम्[2]।।15।।

अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा[3]।
पाषण्डित्वं भवेत् चापि तस्माद् ज्ञाने न संन्यसेत्।।16।।
सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वाद् इति स्थितिः[4]।

अन्वयार्थ :

ज्ञानमार्गे = ज्ञानमार्ग में
संन्यासः = संन्यास
तु = तो, **ज्ञानार्थे** = ज्ञान के लिए
च = और
उत्तराङ्गं = ज्ञान के उत्तरांगरूप
(इति = ऐसा), **द्विविधः** = दो प्रकार का
अपि = भी, **विचारितः** = विचार किया है
परं = परन्तु
जन्मशतैः = सैकड़ों वर्ष बाद
सिद्धिः = फल, **(स्यात्** = होता है)
यज्ञादिश्रवणात् = यज्ञादि के श्रवण से
ज्ञानं = ज्ञान, **च**= भी
साधनापेक्षं = साधना की अपेक्षावाला
मतं = माना गया है
अतः = इसलिए, **कलौ** = कलिकाल में
सः = वह, **संन्यासः** = संन्यास
पश्चात्तापाय = पश्चात्ताप के लिए
(भवति = होता है)
अन्यथा = अन्य किसी भी प्रकार से
(**च** = तो), **न** = नहीं

च = और, **पाषण्डित्वं** = पाखंड
अपि = भी, **भवेत्** = होता है
तस्मात् = इसलिए, **कलिदोषाणां** = कलि के दोषों के
सुतरां = वैसे भी
प्रबलत्वात् = प्रबल होने से
ज्ञाने = ज्ञान में, **न** = नहीं
संन्यसेत् = संन्यासी होना
इति = ऐसी, **स्थितिः** = स्थिति है

भावार्थ : ज्ञानमार्ग में संन्यास, ज्ञान होने के लिए पूर्वांगरूप से तथा ज्ञान होने के पश्चात् उत्तरांगरूप से दो प्रकार का कहा गया है परन्तु इन दोनों प्रकार के संन्यास तथा ज्ञान से सैकड़ों जन्म में मोक्ष मिलता है और यज्ञादिक के श्रवण के रूप में ज्ञान भी साधन की अपेक्षा रखता है।

(इसलिए) ज्ञानमार्गीय संन्यास कलियुग में पश्चात्ताप के लिए ही होता है अन्यथा नहीं और पाखण्ड भी होता है। इसलिए ज्ञानमार्ग में संन्यास ग्रहण न करें क्योंकि कलि के दोष अतिशय प्रबल हैं जिससे ज्ञानमार्ग में संन्यास कर्तव्य रूप नहीं है।

व्याख्या :

ज्ञानमार्ग में संन्यास दो प्रकार के हैं। ज्ञानार्थ संन्यास और ज्ञानोत्तर संन्यास जो सौ जन्म में सिद्ध हो सकता है। जो शास्त्रीय ज्ञान है – बुद्धिवाला ज्ञान नहीं, जिसे हम बुद्धिशाली कहते हैं वह ज्ञान नहीं वरन् वैदिक ज्ञान, अर्थात् साक्षात् अनुभूतिरूप ज्ञान – साधनापेक्ष ज्ञान है। यज्ञादि और श्रवण से सब सिद्ध होता है और वह ज्ञान जिन साधनों से उत्पन्न हो रहा है वे साधन आज कलियुग में निभाना बहुत ही कठिन हैं।

''अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा'' – कलियुग में ज्ञानार्थ संन्यास अथवा ज्ञानोत्तर संन्यास पश्चात्ताप के लिए ही होता है। ''पाषण्डित्वं भवेत् चापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत्, सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वाद् इति स्थितिः'' – ज्ञान के लिए संन्यास लेने में अमूमन क्या होगा कि आप त्याग पहले करेंगे और त्याग के पश्चात् जब वैराग्यसाधना करने जाएंगे तबतक बहुत विलम्ब हो गया होगा।

ऐसी स्थिति में विषय आपको कुत्ते की भाँति काटने के लिए आ जाएंगे। विराग है और ज्ञान है तब तो कुछ सिद्ध हो सकेगा लेकिन आपने ज्ञानपूर्वक त्याग किया तो त्याग के पश्चात् वैराग्यसाधना बहुत कठिन साधना है। विराग के पश्चात् त्यागसाधना कठिन नहीं है, बहुत सरल बात है परन्तु त्याग से वैराग्य को साधना बहुत ही कठिन है।

अभिप्राय यह है कि कौशल सरल है परन्तु कला बहुत ही कठिन है, कुछ विरलों को ही प्राप्त होती है। मनुष्य अक्सर सेवा में कौशल प्राप्त कर लेता है; सेवा की कला तो किसी विरले भक्तयोगी को ही प्राप्त होती है। सेवा का जो कौशल है कि सेवाविधि में आज चाकदार है, आड़बंध है, आज घेरदार है, आज सीप है या मोती है या पन्ना है या आज हीरा है अथवा माणिक है, आज बूँदी का नेग है या मोहनथाल का नेग है, आज घेवर आदि है; यह सारा कौशल सेवा में प्राप्त करना बहुत सरल बात है।

सेवा की जो कला है, प्रभु के भावात्मक स्वरूप का आनन्द लेने की जो कला है – ''माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ सर्वतोऽधिको स्नेह'' की जो कला है, सेवा में विद्यमान यह कला प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। कौशल तो आप दो-चार दिन पढ़ लें, दो-चार वर्ष मार्गीय सेवासाहित्य पढ़ लें, सेवा की क्रियाविधि को रटते रहें तो सब को टोक सकते हैं कि आज अमुक गड़बड़ हो गई, ऐसा न हो कर वैसे होना चाहिए था, बीड़ा इस प्रकार न धरा कर उस प्रकार से धराना

चाहिए था। ये सब कौशल प्राप्त हो जाएंगे परन्तु कला प्राप्त नहीं होगी।

कला से अभिप्राय यह है कि जिस समय हम सेवा कर रहे हैं उस समय सेवा का भाव हृदय में स्फुरित हो। प्रवचन करते समय सारे भाव स्फुरित होंगे कि आपको ज्ञात होना चाहिए कि चन्द्रिका का भाव क्या है, ताले का भाव क्या है, चाबी का भाव क्या है। यार! यह सब सेवा में स्फुरित हो रहा है या नहीं? सेवा में स्फुरित होता है तो कला है और प्रवचन में स्फुरित हो रहा है तो कौशल है। इस प्रकार कौशल बहुत आसान है, थोड़े से प्रयत्न से प्राप्त किया जा सकता है।

कला तो विरलों को ही सिद्ध होती है, सबको सिद्ध नहीं होती। जिस पर **''यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्य एष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्''** - अर्थात् प्रभु जिसको पसन्द करते हैं उसको सेवा की कला प्राप्त हो जाती है और हम जब पसन्द करते हैं तो हमें कौशल प्राप्त हो जाता है। कौशल भी खराब बात नहीं है, यह नहीं कह सकते कि कौशल कोई खराब वस्तु है परन्तु यह बात समझें कि कौशल कितना सरल है और कला कितनी दुर्लभ है।

जो बात यहाँ कह रहे हैं कि - ''अतः कलौ स संन्यासः'' - इस तरह का त्याग कौशल है, संन्यास की कला नहीं है। वैराग्य, संन्यास की कला है कि आपने सच में ही वैराग्य प्राप्त कर लिया तो आपमें संन्यास की कला प्रकट हो गई परन्तु कलियुग में यह बहुत ही कठिन है। सामान्यरूप से किसी भी संन्यासी से मिल कर देख लें तो पता चल जाएगा कि वह संन्यास का कलाकार है या संन्यास का कुशल है?

मैं एक संन्यासी को मिला था। मेरा एक दोस्त था। वह मुझे हमेशा आग्रह करता कि मेरे गुरुजी के पास चलो। मैं उपेक्षा करता था कि जा कर क्या करना है। एक दिन वह पार्ला में ही आ गया और मेरे पीछे ही पड़ गया कि

मिलने चलो। ना कैसे कह सकता था इसलिए मिलने गया। वहाँ जा कर हम दोनों मिले तो दोस्त बेचारा तो हाथ जो ड़कर बैठ गया। उसने सोचा कि अब तो कोई ज्ञान और वैराग्य की गंगा-यमुना बहने लगेगी।

मैं जा कर बैठा और उन्होंने शुरू किया कि हमारा क्या है, सब त्याग दिया है। पुस्तक छपाने के लिए पाँच लाख का फण्ड है, अमुक कार्य के लिए दस लाख का फण्ड है। मैंने कहा यार, फण्ड के अलावा कोई चर्चा ही नहीं। सभी बातों के लिए फण्ड है। मैंने कहा कोई कुफण्ड है कि नहीं? पौन घण्टा बैठे। फण्ड के अलावा कोई चर्चा नहीं हुई। पौन घण्टे बाद मैंने कहा कि अब आज्ञा लेता हूँ। बोले हाँ, ठीक है, मिलूँगा, निश्चय ही वापस मिलूँगा। मुझे फण्ड चाहिए हो तो मिलने की इच्छा हो, फण्ड का मुझे क्या करना?

अतः बात को समझें कि कौशल बहुत है, इतना कौशल कि प्रत्येक बात के लिए बेचारे ने फण्ड बना दिया, निजी प्रयोग में नहीं लिया। उनका महिमामंडन का तरीका देखने लायक है। उन्होंने धर्म की प्रत्येक बात में सेवा करने हेतु फण्ड बनाया है परन्तु पूर्ववत् विषय का कुत्ता काटने लगता है, छोड़ता नहीं। पहले जो भौंकता था वह अब काटने लगा। सब कुछ छोड़ दिया फिर भी अन्य कोई चर्चा नहीं, केवल फण्ड की चर्चा है। पौन घण्टे बाद दोस्त भी ऊब गया। मुझे कहा चलो, श्यामू बाबा। मैंने कहा चलो, अब फण्ड की सारी चर्चा समझ ली। मैंने उठते-उठते उनसे इतना कहा कि अभी हमारे यहाँ कोई फण्ड नहीं है तो कहने लगे कि नहीं-नहीं, आप पुरुषार्थ करेंगे तो आपके यहाँ भी फण्ड होगा। होगा तो होगा। अब क्या करें? आजतक तो कोई फण्ड हुआ नहीं।

''पाषण्डित्वं भवेत् चापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वाद् इति स्थितिः।'' कारण यह है कि कलिकाल सबको तकलीफ दे रहा है। भक्त को भी तकलीफ दे रहा है और ज्ञानी को भी तकलीफ दे रहा है,

कर्मियों को भी तकलीफ दे रहा है। इसलिए हर समय यह जो प्रवृत्ति चल रही है, उसके प्रति साधना में सजगता रखनी पड़ेगी। इसके पश्चात् श्रीमहाप्रभुजी ने बहुत ही स्पष्ट और वेधक प्रश्न पूछना शुरू किया है।

(''कलिकालजदोषः भक्तिमार्गीयसंन्यासे सम्भवन्ति न वै?'' इति शंकासमाधाने)

कलिकालजन्यदोष भक्तिमार्गीयसंन्यास में भी क्यों संभव नहीं हो सकते? इस शंका के समाधान में कहते हैं कि कलिकाल आपको भक्ति में क्यों कष्ट नहीं देगा।

भक्तिमार्गेऽपि चेद् दोषः तदा किं कार्यमुच्यते।।17।।
अत्रारम्भे न नाशः स्याद्[1] दृष्टान्तस्याप्यभावतः[2]।
स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद् बाधः केनाऽस्य सम्भवेत्[3]।।18।।
हरिर् अत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे।
अन्यथा मातरो बालान् न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित्[4]।।19।।
''ज्ञानिनामपि'' वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति।
आत्मप्रदः प्रियश्चाऽपि किमर्थं मोहयिष्यति[5]।।20।।
तस्माद् उक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम्।
अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थाद् इति मे निश्चिता मतिः।।21।।

अन्वयार्थ :

भक्तिमार्गे = भक्तिमार्ग में
अपि = भी, **दोषः** = दोष
तदा = तब, **किं** = क्या
कार्यं = करना, **इति** = ऐसा
चेत् = हो (**तर्हि** = तो)

उच्यते = कहते हैं
दृष्टान्तस्य = दृष्टान्त का
अपि = भी
अभावतः = अभाव होने से
अत्र = यहाँ
आरम्भे = प्रारम्भ में
नाशः = नाश, **न** = नहीं
स्यात् = होता है
स्वास्थ्यहेतोः = स्वास्थ्य के हेतु के
परित्यागात् = त्याग से
अस्य = इसका, **बाधः** = बाध
केन = किससे
सम्भवेत् = सम्भव होता है
अत्र = यहाँ
हरिः = श्रीकृष्ण (**अपि**= भी)
बाधां = बाधा को
कर्तुं = करने के लिए, **न** = नहीं
शक्नोति = शक्तिमान है
अपरे = और कोई
कुतः = कहाँ से
अन्यथा = अन्यथा
मातरः = माताएं
बालान् = बालकों को
स्तन्यैः = दूध से
क्वचित् = किसी समय

अपि = भी, **न** = नहीं
पुपुषुः = पोषित करें
ज्ञानिनाम् = ज्ञानियों के
अपि = भी, (**इति** = ऐसे)
वाक्येन = वाक्य से
भक्तं = भक्त को, **न** = नहीं
मोहयिष्यति = मोह करेंगे
आत्मप्रदः = आत्मा का दान करनेवाला
च = और, **प्रियः** = प्रिय, **अपि** = भी
(भगवान् भक्तं = भगवान भक्त को **)**
किमर्थं = किसलिए
मोहयिष्यति = मोह करेंगे
तस्मात् = इसलिए
उक्तप्रकारेण = कहे गये प्रकार से
परित्यागः = त्याग
विधीयतां = करना
अन्यथा = अन्यथा
स्वार्थात् = स्वार्थ से
भ्रश्यते = च्युत होते हैं
इति = ऐसी, **मे** = मेरी
निश्चिता = निश्चित
मतिः = मति है

भावार्थ : भक्तिमार्ग में भी कलिदोष आ जाए तब क्या करना? ऐसी शंका हो तो कहते हैं कि भक्तिमार्गीयसंन्यास के आरम्भ में नाश नहीं होता। क्योंकि भक्तिमार्ग में प्रवृत्त होनेवालों का नाश होता हो, ऐसे दृष्टान्त नहीं मिलते हैं। और

स्वस्थता के हेतु का परित्याग है इसलिए उसका बाध किससे सम्भव है? अर्थात् सम्भव नहीं।

इस मार्ग में हरि स्वयं भी बाधा करने में समर्थ नहीं हैं तो कोई अन्य कैसे बाधा कर सकेगा? यदि हरि बाधा करें तो वह ऐसी बात हो जाएगी कि स्वयं माता भी स्तन्य से बालकों का पोषण न करे।

मार्कण्डेयपुराण में कहा गया है कि – ''ज्ञानियों के चित्त को भी, समर्थ देवी, बलात् आकर्षित करके मोह में डाल देती हैं'' – इसलिए भक्त को मोह नहीं करेंगे। (क्योंकि उक्त वाक्य में ज्ञानियों के चित्त को मोहित करने के बारे में कहा गया है, भक्तों को मोहित करने के बारे में नहीं कहा है।) भगवान स्वरूपानन्द के देनेवाले तथा प्रिय हैं इसलिए क्यों मोह करेंगे?

भक्तिमार्गीयसंन्यास का प्रकार ऐसा है। इसलिए प्रभु के विरह का अनुभव करने के लिए ऊपर बताए गए प्रकार से त्याग करना चाहिए। यदि ऐसा नहीं करेंगे तो स्वार्थ से भ्रष्ट हो जाएंगे, ऐसी मेरी निश्चित मति है।

व्याख्या :

आप कलिकाल को छोड़ कर क्या बाहर जी रहे हैं? देख लें, बेचारे श्रीमहाप्रभुजी के साथ कैसा विश्वासघात हो गया। श्रीमहाप्रभुजी को भक्ति पर कितना विश्वास था। कल आप पूछ रहे थे कि इसे पुष्टिमार्ग कहना अथवा नहीं, तो हाँ, इसे किस प्रकार पुष्टिमार्ग कहना? श्रीमहाप्रभुजी क्या विचार कर रहे हैं और हम पुष्टिमार्ग को क्या समझ बैठे हैं?

''अत्रारम्भे न नाशः स्याद्'' – श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि भक्तिमार्गीयसंन्यास से प्रारम्भ में तो किसी प्रकार का नाश सम्भव ही नहीं है। कारण यह है कि प्रभु हमें छोड़ते ही नहीं हैं। भक्तिमार्ग के आरम्भ में हमें छोड़ें तो कष्ट होगा न! हमें छोड़ा नहीं इसलिए तकलीफ हो गई है। यदि कहीं

श्रीमहाप्रभुजी ने हमें संन्यास लेने के लिए कहा होता तो हम क्या करते? गृहस्थ रहने के लिए कहा तो - 'रासलीलैक तात्पर्य' हो गए, यदि संन्यास लेने के लिए कहा होता तो नाइट क्लब चलवाते। इस बात को समझें कि गृहस्थ रह कर आनन्द से खा-पी कर, मौज से सेवा करने के लिए कहा तो सारे गोस्वामी बालक 'रासलीलैक तात्पर्य' हो गए, यदि अखण्ड ब्रह्मचर्य के साथ संन्यास लेने के लिए कहा होता तो प्रत्येक बालक नाइट क्लब का मैनेजर होता कि आ जाओ सब। ऐसी स्थिति है।

श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि ''अत्रारम्भे न नाशः स्याद्, दृष्टान्तस्याप्यभावतः'' - बेचारों के कुल में ही दृष्टान्त प्रकट हो गए। ''स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद् बाधः केनाऽस्य सम्भवेत्'' - स्वास्थ्यहेतु का परित्याग कर दिया तो बाध कहाँ से हो सकता है? परन्तु यह बात उनके सम्बन्ध में कही गई है जो 'विरहानुभवार्थ' हैं। हमें भगवद्विरह कहाँ है? हम ब्रह्मसंबंध दे देते हैं, 'सहस्र परिवत्सर' के विप्रयोग का स्मरण करके, हाथ में तुलसी दे-दे कर भी हम उसका अर्थ नहीं जानते और न ही वैष्णवों को समझाते हैं। आज बावा बता रहे थे कि श्रीठाकुरजी को इतनी तुलसी पधराते हैं कि श्रीठाकुरजी ढंक जाते हैं। तुलसीदल में श्रीठाकुरजी आधे डूब जाते हैं। इतने-इतने तुलसी के टोकरे पधरा कर हम समझते हैं कि इससे व्यक्ति समझेगा 'सहस्र परिवत्सर' का विप्रयोग! कैसा विप्रयोग? उसको तो पता ही नहीं चलता कि विप्रयोग है या नहीं? हमें भी पता नहीं चलता कि विप्रयोग है या नहीं। ऐसी स्थिति में ''स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद् बाधः केनाऽस्य सम्भवेत्''?

श्रीमहाप्रभुजी बेचारे कह रहे हैं - ''हरिर् अत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे'' - परन्तु यहाँ तो पुरुषोत्तम ही बाधाएँ उत्पन्न कर रहे हैं। पुरुषोत्तम बाधा उत्पन्न न करें तो मार्ग में किस प्रकार बाधाएँ उत्पन्न हो सकती हैं? एक बार शान्त चित्त से विचार करें कि श्रीमहाप्रभुजी को भक्तिमार्ग पर कितना

अधिक विश्वास है कि - ''अन्यथा मातरो बालान् न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित्'' - श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि जिस माँ ने बालक को अपना दूध पिला कर बड़ा किया हो, वह अपने बालक को क्या मरते हुए देख सकती है? हमारे (गोस्वामी) बालक इस पुष्टिमार्ग को मरते हुए देख सकते हैं। इससे अधिक दुःख की बात और क्या हो सकती है?

'' ''ज्ञानिनामपि'' वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति'' श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि भक्त को ज्ञानी का कोई वाक्य मोहित नहीं करता। मैं आपको ठठाईवाड़ी में बता चुका हूँ कि हम ज्ञानियों का आशीर्वाद मांगते रहते हैं। ज्ञानियों को जा कर हम कहते हैं कि हमारे यहाँ अमुक प्रसंग में आप उद्घाटन करें, आप हमें आशीर्वाद दे जाएँ। वे कहते हैं कि आपका भक्तिमार्ग, कर्महीन भक्तिमार्ग है। इस भक्ति की प्रथा को हमें किसी न किसी दिन फेंकना पड़ेगा और हम उन्हीं को बुला कर आशीर्वाद मांगते हैं कि हमें आशीर्वाद दे दें। कैसा आशीर्वाद देंगे? आप कैसा आशीर्वाद लेना चाह रहे हैं?

वस्तुतः हम'' ''ज्ञानिनामपि'' वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति'' के स्थान पर ''ज्ञानानामेव वाक्याद् मोहिता वयम्'' हो गए हैं। कोई ठक्कर बापा को पढ़ रहे हैं, कोई डोंगरेजी को पढ़ रहे हैं, कोई मुरारी बापू को पढ़ रहे हैं। जिनको नहीं पढ़ रहे, वे केवल एक श्रीमहाप्रभुजी हैं। उनकी सूची में यदि कोई पुस्तक ऐसी है जिसको नहीं पढ़ा है तो वे केवल श्रीमहाप्रभुजी के ग्रन्थ हैं और जिनको पढ़ लिया उनकी हमारे पास एक बड़ी लम्बी सूची है।

''आत्मप्रदः प्रियश्चाऽपि किमर्थं मोहयिष्यति'' - भगवान् पर श्रीमहाप्रभुजी का कितना विश्वास है कि भगवान् आत्मप्रद हैं और आप भगवान को प्रिय हैं तो आपको वे किसलिए मोहित करेंगे? ''तस्माद् उक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम्'' - अतः आपको परित्याग करना हो तो इस प्रकार से परित्याग करें। ''अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थाद् इति मे निश्चिता

मतिः'' – सोचे-समझे बिना किसी अन्य प्रकार से आप परित्याग करेंगे तो इस स्वार्थ से अर्थात् इस भक्तिमार्ग से भ्रष्ट हो जाएंगे। यह मेरी निश्चित मति है। अब ग्रन्थोपसंहार कर रहे हैं।

इति कृष्णप्रसादेन वल्लभेन विनिश्चितम्।
संन्यासवरणं भक्तौ अन्यथा पतितो भवेत्।।22।।

अन्वयार्थ :

इति= इस प्रकार से
वल्लभेन = श्रीमहाप्रभुजी द्वारा
कृष्णप्रसादेन = श्रीकृष्ण की कृपा से
भक्तौ = भक्ति में
संन्यासवरणं = संन्यास का वरण
विनिश्चितं = विशेषरूप से निश्चित किया गया
अन्यथा = अन्यथा
पतितः = पतित, **भवेत्** = होता है

भावार्थ : इस प्रकार श्रीकृष्ण के प्रसाद से श्रीवल्लभाचार्यजी ने भक्तिमार्ग में संन्यास का वरण निश्चित किया है। इस प्रकार के अतिरिक्त दूसरे प्रकार से संन्यास करनेवाला पतित होता है।

व्याख्या :

मैं कृष्ण की कृपा से, श्रीठाकुरजी की कृपा से संन्यासी को भी यह बात समझा पाया हूँ। देखें कि श्रीमहाप्रभुजी क्या बात कह रहे हैं कि संन्यास को भी यदि भक्ति के लिए उपयोगी बनाना हो तो किस प्रकार बनाया जा सकता है- जैसे संसार को बनाया जा सकता है। अतः श्रीमहाप्रभुजी का भक्ति का उपदेश

इतना सीमित नहीं है, इतना क्षुद्र नहीं है कि भक्त के संसार को ही भक्ति का अंग बना सके।

यदि आप में भक्तिमार्ग पर चलने की योग्यता है, साहस है तो ऐसी कौनसी वस्तु है जिसे भक्ति का अंग नहीं बनाया जा सकता। धर्म को भक्ति का अंग बनाया जा सकता है, अर्थ को भक्ति का अंग बनाया जा सकता है, काम को भक्ति का अंग बनाया जा सकता है, मुक्ति को भक्ति का अंग बनाया जा सकता है। ज्ञान, वैराग्य, तप सबको भक्ति का अंग बनाया जा सकता है, शर्त केवल इतनी है कि भक्ति के पंचम पुरुषार्थ होने के सम्बन्ध में आपकी निष्ठा दृढ़ होनी चाहिए।

भक्ति के पंचम पुरुषार्थ होने में यदि दृढ़ निष्ठा है तो संन्यास को भी भक्ति का अंग बनाया जा सकता है और इसीमें यदि आप डावांडोल हैं तो और किसी को तो क्या, कृष्ण को भी भक्ति का अंग नहीं बनाया जा सकता। वर्तमान में हम कृष्ण को धंधे का अंग बना बैठे हैं। यह बात हमें संन्यासनिर्णय के सम्बन्ध में भलीभाँति स्पष्ट रूप से समझनी पड़ेगी।

यह बात बताते हुए श्रीमहाप्रभुजी ने सेवा के अधिकारियों के वैकल्पिक स्वरूप बताए थे कि जो सेवा नहीं कर सकते उनको कब और कौनसा संन्यास लेना चाहिए। इसी संदर्भ में यह संपूर्ण संन्यासनिर्णय निरूपित किया गया है।

।। इति श्रीवल्लभाचार्य विरचितः संन्यासनिर्णयः सम्पूर्णः।।

।। निरोधलक्षणम् ।।

भूमिका :-

अब निरोधलक्षण और सेवाफल आ रहे हैं। हम पहले देख आए हैं कि ये पाँच प्रकार के अधिकारियों के लिए हैं। संन्यासनिर्णय के साथ भक्तिवर्धिनी में भक्ति के वर्धन के जो वैकल्पिक उपाय बताए थे, अर्थात् सेवा-कथा अथवा कथा; उसमें अथवा कथा के प्रसंग में संन्यासनिर्णय आया है। सेवा और कथा के प्रसंग में संन्यासनिर्णय नहीं है। पहला विकल्प सेवा और कथा, दूसरा विकल्प सेवा अथवा कथा। जो सेवा और कथा का विकल्प है उसमें जलभेद और पंचपद्यानि समाहित थे। जलभेद और पंचपद्यानि, अथवा कथा के विकल्प में भी सम्मिलित थे। संन्यासनिर्णय भी अथवा कथा के विकल्प में था, सेवा और कथा के विकल्प में नहीं था। निरोधलक्षण की बात अब पुनः सेवा और कथा के कल्प में जा रही है।

अतः जैसा मैंने आपको बताया था कि भक्तिवर्धिनी में कहे गए पाँचों अधिकारियों के लिए निरोधलक्षण का उपदेश है, किसी एक अधिकारी के लिए नहीं; इस बात को स्थूलतया हम इस प्रकार कह और समझ सकते हैं। फिर भी श्रीमहाप्रभुजी ने निरोधलक्षण के दोनों अधिकारियों को पकड़ने के लिए एक-एक करके दोनों प्रकार के उपदेश दिये हैं अर्थात् सेवा और कथा का उपदेश अथवा केवल कथा का उपदेश भी। साधारण तौर पर तो ऐसा नहीं होता, परन्तु कई बार, जो लोग कानूनी दस्तावेज बनाते हैं उनको इस बात का खयाल होगा कि पृष्ठ के अन्त में जहाँ कोई बात छोड़ देते हैं, वहीं से ही वापस बात अगले पृष्ठ पर प्रारम्भ की जाती है। ऐसा इसलिए करते हैं कि उस पृष्ठ पर कोई दूसरा दो क्रमांकवाला पृष्ठ न आ जाए। एक दस्तावेज में एक पृष्ठ हो और उसमें दूसरा पृष्ठ हम दो क्रमांकवाला घुसा दें तो जहाँ बात पूरी हुई वहाँ से पुनः

शुरू हो जाती है। इसलिए दूसरा पृष्ठ दो क्रमांक के साथ नहीं घुसा सकते। क्योंकि उसका संदर्भ हमें वापस उसी प्रकार मिल जाता है।

लगभग इसी प्रकार की सावधानी श्रीमहाप्रभुजी यहाँ बता रहे हैं और कुछ सावधानी के साथ जो रहस्य की बात है उसे हमें फिर से समझना पड़ेगा कि यह सावधानी बरतने के पीछे मूल मन्तव्य क्या है। आज अपने आधुनिक पुष्टिमार्ग में सेवा और कथा दोनों हमारी जीवनप्रणाली अर्थात् नित्यकर्म न रह कर नैमित्तिक कर्म बन गए हैं।

श्रीमहाप्रभुजी ने स्वप्न में भी यह नहीं सोचा था कि सेवा अथवा कथा हमारा नैमित्तिककर्म हो जाएंगे। यह हमारा नित्यकर्म होना चाहिए क्योंकि इसका सबसे बड़ा कारण देखें – ''सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः'', ''कृष्णसेवा सदा कार्या'' और ''स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यम्'' – इस प्रकार की श्रीमहाप्रभुजी की शब्दावली सतत इस बात पर जोर देने के लिए है। आज तो हमने एक सम्पूर्ण समानान्तर प्रक्रिया चलाई हुई है, जैसे समानान्तर अर्थव्यवस्था विकसित की जाती है – एक श्वेतधन और एक कालाधन।

एक समानान्तर प्रक्रिया, जैसे एक पुलिस का रक्षण और एक गुण्डों का रक्षण चलता है। इसी प्रकार प्रत्येक मामले में समानान्तर प्रक्रिया चलाना व्यक्ति का शौक है। कॉलेज में हम अधिकृतरूप से अध्ययन करते हैं और उसके समानान्तर अनधिकृतरूप से कोचिंग क्लास में जा कर अध्ययन करते हैं, इसी प्रकार हमने श्रीमहाप्रभुजी के समानान्तर एक सम्प्रदाय चला रखा है।

उक्त सम्प्रदाय में हम न तो भगवत्सेवा और न भगवत्कथा को नित्यक्रम के रूप में स्वीकार करना चाहते हैं। एक समानान्तर सम्प्रदाय हम चला रहे हैं। कथा नैमित्तिक, सेवा नैमित्तिक – नित्य नहीं अर्थात् जीवन को जीने की शैली के रूप में सेवा-कथा नहीं है बल्कि कोई ऐसा प्रकार है जैसे ग्रहण आ गया

और हम जप करने बैठ जाते हैं तो वह जप नैमित्तिकजप है। जब हम नित्य अष्टाक्षर की माला करते हों अथवा ब्रह्मसंबंध की माला करते हों अथवा कोई भी माला करते हों अथवा गायत्रीजप करते हों तो वह नैमित्तिकजप न हो कर नित्य का जप है।

जैसे श्राद्ध होता है तो हमें गायत्री जप तबतक करना पड़ता है जबतक ब्राह्मण पुरुषसूक्त का पाठ करता है। गायत्री का यह जप, नैमित्तिकजप है। ऐसी नैमित्तिक भगवत्सेवा और भगवत्कथा का प्रकार हमारे यहाँ श्रीमहाप्रभुजी को अभीष्ट नहीं है। सेवा और कथा दोनों, नित्य अपेक्षित हैं। हमारा दुर्भाग्य है कि आज हमारे वैष्णव, हमारे महाराज, हमारे कथावाचक निरन्तर सेवा और कथा दोनों को नैमित्तिकरूप में ही जीने और जीने देने के पक्षधर हैं।

इस प्रकार एक समानान्तर प्रक्रिया अपने यहाँ भी विकसित हो गई है क्योंकि श्रीमहाप्रभुजी के उपदेशों के प्रति हम निष्ठाच्युत हो गए हैं। अतः नित्यकर्म के रूप में सेवा-कथा को हमें जीना है और यदि हम नित्यकर्म के रूप में सेवा-कथा दोनों को समुच्चयरूप में नहीं जी पा रहे तो हमें केवल कथा को नित्यकर्म के रूप में जीना है। सप्ताहविधि के रूप में आजकल जो कथाएँ चल रही हैं, वह नैमित्तिककर्म की कथा है, नित्यकर्म की कथा नहीं है। उसका पुष्टिमार्ग की कथाप्रणाली के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

इस सेवा-कथा अथवा कथा का भक्ति पर सबसे महत्वपूर्ण असर क्या है – यह हमें श्रीमहाप्रभुजी समझाना चाहते हैं। वह असर, वह प्रभाव और वह परिणाम भक्ति में आना चाहिए। यह सम्पूर्ण प्रक्रिया श्रीमहाप्रभुजी भागवत से प्रकट करना चाहते हैं, भागवत के आधार पर स्पष्ट करना चाहते हैं। इसलिए श्रीमहाप्रभुजी ने नवमस्कन्ध का अर्थ भक्ति माना और भक्ति मान कर श्रीआचार्यचरण कह रहे हैं कि-''**भक्ताः पूर्वत्र निर्दिष्टा ते रोधव्या विमुक्तये**''

भक्ति, नवमस्कन्ध की विषयवस्तु है जिसे हम कथा की विषयवस्तु कहते हैं और निरोध दशमस्कन्ध की विषयवस्तु है। उसमें और भक्ति में अन्तर है। क्योंकि भक्ति अथवा कोई भी वस्तु हम जब नित्य कर रहे हैं तो उसमें एक बात तो स्वाभाविक है कि जब आप कोई भी काम नित्य करते हैं तो उसका व्यसन हो जाता है। जैसे रोज कसरत करते हैं और किसी दिन कसरत न करें तो उस दिन शरीर में थोड़ी सुस्ती आ जाएगी।

यदि आप प्रतिदिन कोई एक वस्तु खाने का नियम बना लेंगे और किसी दिन वह वस्तु खाने को न मिले तो आपको खाने में पहले जैसा संतोष नहीं आएगा। मान लें कि आप रोज बगीचे में घूमने जाते हैं और एक दिन नहीं जाएं तो आपको कुछ भूलने जैसा लगेगा। अत: कोई भी काम हम नित्य करें तो उसका सदा ही एक सकारात्मक पक्ष यह होता है कि नित्य करने की प्रक्रिया के कारण वह आपके जीवन में व्यसनरूप में सिद्ध हो जाता है।

साथ ही साथ उसका एक दुर्बल पक्ष भी है कि जिस काम को हम नित्य करते हैं उसमें से विद्यमान रहस्य का मूलतत्त्व निकल जाता है क्योंकि नित्य करते रहने से उसमें जो रहस्य छुपा हुआ है, उसमें जो हमें एक प्रकार का उत्साह आना चाहिए, जो एक चमत्कारवाला तथ्य है वह हमें नहीं मिलता। नैमित्तिककर्म में सदैव ही वह चमत्कारवाला तथ्य होता है परन्तु व्यसनवाला पक्ष खो जाता-सा प्रतीत होता है।

एक बात समझें कि जैसे एक तो हम घर में रह कर जी रहे हैं और एक हम घर से बाहर जा कर जिएँ तो हमें कुछ खटकता-सा लगता है, फिर चाहे जितनी अनुकूलता या सुविधा हो परन्तु जब हम बाहर रह कर जीते हैं - जैसे कहीं प्रवास में हिल स्टेशन आदि-आदि। वहाँ हमें जो चमत्कार मिलता है वह घर में नहीं मिलता।

अब एक बात यह भी समझें कि किसी भी साधना, किसी भी अनुभूति में विश्वास, नित्यता से आता है और उसमें नवीनीकरण चमत्कार से आता है। जैसे हम नित्य पाठ करते हैं, किसी ग्रन्थ - स्तोत्र आदि का नित्य पाठ करते हैं तो वह पाठ हमारी आदत बन जाता है कि हम चाहें या न चाहें, वह पाठ हमारी अनिच्छा से भी हो जाता है। वह पाठ हमारे स्वभाव का हिस्सा बन जाता है। उस पाठ में फिर किसी चमत्कार की बात नहीं रह जाती लेकिन किसी दिन कोई नया पाठ, किसी नये स्तोत्र - मंत्र आदि का पाठ करके देखें तो बड़ा चमत्कार लगेगा।

जैसे आप रोज सर्वोत्तमस्तोत्र का पाठ कर रहे हैं तो यह एक अनुभव की बात आपको बता रहा हूँ कि आपको पता ही नहीं चलेगा कि कब पाठ शुरू किया और कब पाठ पूरा हुआ क्योंकि आप रोज कर रहे हैं तो पाठ शुरू भी हो जाएगा और पूर्ण भी हो जाएगा और यदि आप पाठ रोज न करके कभी-कभी कर रहे हैं तो उस पाठ में आपको इतना चमत्कार अनुभूत होगा कि आपको यह ठीक-ठीक पता रहेगा कि आपने कब शुरू किया और कब पूर्ण हुआ।

प्रत्येक नैमित्तिककर्म के साथ यह एक सकारात्मक बात है और प्रत्येक नित्यकर्म के साथ यह एक दुर्बल पक्ष है। यह तथ्य हमें समझना चाहिए। जैसे मनुष्य की मानसिक आवश्यकताएँ होती हैं और इन आवश्यकताओं के संदर्भ में हम इस बात से इंकार नहीं कर सकते कि यदि रोज रोटी और भात खाएँ परन्तु शाक बदलते रहें तो शाक का बदलना रोज एक चमत्कार उत्पन्न करने जैसा है तथा रोटी का रोज खाया जाना एक व्यसन है।

किसी दिन आप बिना रोटी के केवल शाक खा कर देखें, आपको पेट में कुछ खाली जैसा लगेगा क्योंकि रोटी खाने का व्यसन हो गया है परन्तु रोज रोटी खाने के कारण उसमें वह ताकत नहीं जो चमत्कार का अनुभव करा सके। शाक रोज बदलते रहने से उसमें चमत्कार उत्पन्न करने की शक्ति आ जाती है।

फिर ढोकला और फाफड़ा की तो कथा ही अलग है। यह रविवार के दिन सिद्ध होनेवाला चमत्कारों में भी महाचमत्कार सिद्ध हो जाता है।

संक्षेप में, यह बात ध्यान से समझ लें कि नैमित्तिककर्म की अपनी एक आवश्यकता है और अपनी एक भूमिका है जिसे वह निभाता है। इसी प्रकार नित्यकर्म की भी अपनी एक आवश्यकता है और अपनी एक भूमिका है और वह भी उसे निभाता है। इसलिए शास्त्र ने नित्य-नैमित्तिक, काम्य, प्रायश्चित्त के रूप में कर्म के अत्यन्त सुविचारित और गंभीरतापूर्वक विशेष भेद किए थे जिनको हम कभी इस रूप में नहीं समझ सके कि इस कर्म-विभेद में कितनी गंभीरता है।

मनुष्य की प्रकृति को समझ कर मनुष्य की प्रकृति के अनुरूप उसे धर्म के मार्ग पर प्रवृत्त करने की कितनी दीर्घदृष्टि शास्त्र की है कि शास्त्र किसी काम को नित्यकर्म बताता है, किसी काम को नैमित्तिककर्म बताता है, किसी काम को काम्यकर्म बताता है, किसी काम को प्रायश्चित बताता है। इस प्रकार कर्ममार्ग की भाँति भक्तिमार्ग में भी कई नियम हैं। कहीं नैमित्तिक हैं, कहीं काम्य हैं, कुछ प्रायश्चित्त हैं। यह सब भक्तिमार्ग में भी है, नहीं है ऐसी बात नहीं।

समस्या यह है कि हमने अपनी भक्ति की साधनाप्रणाली की उस बोध के साथ पड़ताल नहीं की है। इसलिए हमें ऐसा लगता है कि यह कर्ममार्ग की मीमांसा है परन्तु आप सावधानीपूर्वक देखेंगे तो पाएंगे कि यह विधान हमारे यहाँ भी स्वीकार्य है, इतना ही नहीं, उस कर्तव्य को हमारे पूर्वपुरुषों ने भी उसी प्रकार जिया था। इसीलिए आजतक पुष्टिमार्ग चल पाया। अभिप्राय यह है कि सबसे पहले यह मूल बात समझ लेनी चाहिए कि सेवा और कथा हमारी नैमित्तिककर्म की प्रणाली नहीं है, सेवा-कथा हमारे यहाँ भक्ति की नित्यप्रणाली है।

इसीलिए सेवा के पदविस्तार को ध्यान से देखेंगे तो नित्यसेवा के पद अलग हैं और ऋतु-उत्सवसेवा के पद अलग हैं। वे पद इतनी सूझबूझ से निश्चित किए गए हैं कि ये नित्यसेवा के पद हैं, ये ऋतु-उत्सवसेवा के पद हैं जिससे वह चमत्कारवाला तथ्य भी हमें अनुपलब्ध न रहे और व्यसनवाला तथ्य भी हमें अनुपलब्ध न रहे। कारण यह है कि नित्यसेवा के नित्यपद और उत्सव की सेवा के नैमित्तिकपद जब आप गाएंगे तब समझेंगे कि सेवाक्रम में भी उक्त प्रकार का कुछ नित्यक्रम माना गया है और सेवा का कुछ क्रम ऋतु-उत्सव का क्रम माना गया है।

इसी प्रकार हमारे यहाँ कथा भी नित्यक्रम की कथा और ऋतु-उत्सव क्रम की कथा - इस प्रकार होनी चाहिए थी परन्तु बात यह है कि जो बिगाड़ न करे वह मनुष्य किस बात का? समस्त सेवाक्रम में से केवल ऋतु-उत्सव के सेवाक्रम का ही प्रदर्शन कर-करके उसका इतना अधिक प्राधान्य बढ़ा दिया कि वैष्णवों को नित्यसेवा के क्रम के प्रति किसी प्रकार की सजगता नहीं रही। ऋतु-उत्सव की सेवा में आज वैष्णव कितने चमत्कार का अनुभव करते हैं, भाग-दौड़ करते हैं अर्थात् हो-हल्ला हो जाता है, जय-जयकार हो जाती है, अविराम आनन्द - आनन्द हो जाता है। आज मारे आनंदनी हेली रे (आज मेरे यहाँ आनन्द की झड़ी लग गई), सुहागिन हो जाते हैं।

यह जो चक्कर है, इसे इस प्रकार समझें कि यह हड्डी के बढ़ने जैसा रोग है। दायाँ पैर भी होना चाहिए और बायाँ पैर भी होना चाहिए परन्तु जब दाएँ पैर की हड्डी बढ़ जाती है अथवा बाएँ पैर की हड्डी बढ़ जाती है तो चलते समय पीड़ा होगी, होगी और होगी ही। इसी प्रकार सेवा के अन्तर्गत या कथा के अन्तर्गत नित्य और नैमित्तिक क्रम में दोनों पैरों की हड्डी की भाँति समानता होना बहुत आवश्यक था परन्तु आज जब वे आनुपातिक रूप से विषम हो गए हैं तो कुछ न कुछ दु:खद परिस्थिति उत्पन्न होनी ही है। इसे ध्रुव सत्य मान कर चलें।

हमारे पूर्व पुरुषों ने ग्रन्थों के संदर्भ में, परम्परा के संदर्भ में इस बात की पूरी सावधानी रखी थी। उसकी सम्पूर्ण सामग्री अर्थात् घटकसामग्री भी उस विधि से तैयार करके छोड़ गए हैं जो पुष्टिमार्ग को विरासत में प्राप्त हुई है। आज हमने जानबूझ कर मार्ग को धोखा दिया है जिसके कारण हम प्रतिदिन नैमित्तिकक्रम को बढ़ावा दे रहे हैं। अर्थात् चमत्कार के तथ्य को बढ़ावा दे रहे हैं और जो जीवन का नित्यक्रम का तथ्य था उसकी महत्ता को घटा रहे हैं, उसे दिन-प्रतिदिन कम करते जा रहे हैं।

कारण यह है कि कहीं न कहीं हमें यह भय लगता है कि सेवा का व्यसन हो जाएगा तो क्या होगा? फिर तो सेवा रोज करनी पड़ेगी, सेवा का नित्यक्रम का व्यसन हो गया तो रोज की लत गले आ पड़ेगी। इसलिए हम सोचते हैं कि इस पचड़े में पड़ना ही नहीं। इस पचड़े में नहीं पड़ने की सोच ने ऋतु-उत्सव के क्रम में भाग-दौड़ और खूब जोर-शोर से उसके प्रचार को बढ़ाया है। इस अत्यधिक प्रचार के कारण सेवा में हानि हुई है और इसी प्रकार कथा में भी हानि हो रही है। जब आज वैष्णवों को यह कहते हैं कि आप अपने घर में नित्य भगवत्कथा करें तो किसी भी वैष्णव को पसन्द नहीं आता; किसी वैष्णव को रुचि नहीं आती, किन्हीं महाराज को रुचि नहीं आती, किसी शास्त्री जी को रुचि नहीं आती, किसी बापा-बापी को रुचि नहीं आती।

इस नैमित्तिकक्रम को धुआँधार प्रचार, धुआँधार यजमान, धुआँधार विज्ञापन के द्वारा, जैसे शरीर में हड्डी बढ़ती जाती है उस प्रकार से, बढ़ाने का कुचक्र चल रहा है। किसी व्यक्ति का एक पैर ऊँचा और एक पैर नीचा हो तो वह लंगड़ा कर चलता है। उसी प्रकार से पुष्टिमार्ग को पंगु बनाने का एक सम्पूर्ण षड्यन्त्र हमने उत्पन्न कर दिया है। इच्छा से किया अथवा अनिच्छा से किया, विवशता से किया या लोलुपता से किया - यह सारी कथा सबके समक्ष सब भाँति खुली ही है। इससे पुष्टिमार्ग को चलाने में हो रही हानि को हमें

साफ-साफ समझना पड़ेगा।

इस प्रकार जो कथा का नित्यक्रम था, उसे कभी ध्यान से समझेंगे तो निरोधलक्षण एकदम स्पष्टरूप से उभर कर सामने आ जाएगा। अपने यहाँ श्रीमहाप्रभुजी ने सेवा अत्यन्त सूत्रात्मकरूप से बताई है। यह बात हम जबतक अपने पदसाहित्य को नहीं देखेंगे, अष्टछाप भगवदीयों के सेवा के नित्यक्रम के पद, ऋतु-उत्सवक्रम के पद नहीं देखेंगे, सेवा-भावना के श्लोकों को नहीं देखेंगे तबतक हमें यह रहस्य समझ में नहीं आएगा कि कैसा कुचक्र चलाया गया - इन सारी बातों को देखेंगे तो पता चलेगा।

हम चाहें तो विभाजन के रूप में कह सकते हैं कि - सेवा और कथा परन्तु वस्तुतः वह सेवा और कथा नहीं बल्कि सेवा-कथा एक अलग घटक है एवं कथा एक अलग घटक है। समझने के लिए हमें उसका विभाजन करना पड़ेगा - सेवा और कथा, परन्तु वस्तुस्थिति सेवा और कथा वाली नहीं है। सेवा-कथा एक घटक है जो कथात्मिका सेवा है और कथा स्वयं में एक अलग घटक भी है जो उसमें एकाकार हो जाता है। अर्थात् कथा, केवल कथा है जिसमें सेवा सम्मिलित नहीं है। वैसा एक अलग कथा का घटक भी है।

जो भक्ति के पाँच अधिकारी बताए गए हैं उनमें सबसे पहली आवश्यकता यह है कि इन पाँच अधिकारियों से जिस प्रकार से जो निभता हो, उस क्रम से उन्हें नित्य यथावत् निभाना है और यदि नित्य नहीं निभा रहे तो हम श्रीमहाप्रभुजी के सिद्धान्तों के समानान्तर कोई प्रक्रिया चला रहे हैं; श्रीमहाप्रभुजीवाली प्रणाली के अनुगामी हम नहीं हैं - यह बात हमें स्पष्टरूप से समझ लेनी चाहिए।

अतः हमारी जो भक्त्यात्मिका सेवा है उसको यदि निरोधावस्था में परिपक्व करना है तो उस भक्त्यात्मिका सेवा को कथात्मिका बनाना पड़ेगा।

हमारी जो कथात्मिकाभक्ति है, जो कथात्मिकासाधना है – कथा की श्रवणात्मिका, कथा की कीर्तनात्मिका, कथा की स्मरणात्मिका नवधाभक्ति के अन्तर्गत जो साधना है – उसे यदि हमें केवल क्रियारूप न बना कर भक्तिरूप बनाना है तो उसको सेवात्मिका बनाना पड़ेगा। कारण स्पष्ट है – 'भज् सेवायाम्'।

यह उसकी एक सूक्ष्मता है – 'भज् सेवायाम्'। जब हम सेवामार्ग पर उस प्रकार चलेंगे तब श्रीमहाप्रभुजी का यह नियम हमसे निभ सकेगा कि – ''स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यम् इति मे मति'', तब निभ सकेगा जब हम अपनी सेवा को कथात्मिका बनाएंगे और कथा को सेवात्मिका बनाएंगे। यदि इसे सफलतापूर्वक निभा सके तो फिर हमारी भक्ति शनैः-शनैः निरोध की ओर बढ़ना शुरू करेगी। जब हमारी भक्ति निरोध की तरफ नहीं बढ़ रही है तो उसका मुख्य कारण यह है कि या तो हम अपनी कथा को सेवात्मिका नहीं बना सके अथवा अपनी सेवा को हम कथात्मिका नहीं बना सके।

सेवा को कथात्मिका बनाने के लिए भगवदीयों ने इतने पद लिखे हैं कि उन पदों के गायन के साथ जब आप सेवा कर रहे हैं तो सेवा के साथ-साथ एक कथा भी चल रही है। जब हम अपने श्रीठाकुरजी को जगा रहे हैं तो हम सेवा कर रहे हैं परन्तु जब हम ऐसे पद गा कर सेवा कर रहे हैं कि यशोदाजी श्रीठाकुरजी को जगा रही हैं तो केवल सेवा नहीं कर रहे वरन् साथ-साथ कथा भी कर रहे हैं। इस खूबसूरती को समझें कि सेवा के साथ-साथ कथा भी कर रहे हैं और हम केवल पद गाते रहें और ठाकुरजी को जगाएँ नहीं तो हम केवल कथा कर रहे हैं परन्तु सेवा नहीं कर रहे। आप पद गा रहे हैं, भले ही गाते रहें परन्तु वह कथा, सेवात्मिका नहीं कही जाएगी।

इस प्रकार श्रीमहाप्रभुजी की प्रणालिकानुसार सेवा, कथात्मिका होनी चाहिए और कथा, सेवात्मिका होनी चाहिए। यदि ऐसा होता है तो आपकी

भक्ति नवमस्कन्ध से दशमस्कन्ध में प्रवेश कर सकेगी और उसके लिए अभी तक जो नवमस्कन्ध का अवकाश था उससे आगे बढ़ कर दशमस्कन्ध में प्रवेश करेंगे। इसीलिए श्रीमहाप्रभुजी निरोधलक्षण को प्रस्तुत कर रहे हैं – यह बात समझ जाएँ।

निरोधलक्षण ग्रन्थ के आरम्भ को हम इस प्रकार समझ सकते हैं – **''व्रजभयो महर के पूत, जब यह बात सुनी, सुनी आनन्दे सब लोग, गोकुल गणित गुनी'', ''नन्दस्वात्मज उत्पन्ने जाताह्लादो महामना''** – यह जो भागवत कहती है, उसे आप जीने लग गए। आप उस कथा को जीने लग गए इसलिए श्रीमहाप्रभुजी ने कहा है – **''तब ता दिन तें वे लोग, सुखसंपति न तजे, सुनि सूर सबन् की यह गति, जे हरिचरण भजे।''** अतः समझ लें कि – ''हरिचरण भजे'' के संदर्भ में इस कथा को श्रीमहाप्रभुजी ने समाप्त किया है।

इसमें हम श्रीमहाप्रभुजी की उस अन्तर्दृष्टि को देख सकते हैं जो कथा को सेवा में पिरो देती है। यदि कथा को आपने सेवा में पिरो दिया और केवल कथा करके नहीं बल्कि श्रीठाकुरजी का जन्म आपने जन्माष्टमी के दिन कराया – जन्माष्टमी के दिन श्रीठाकुरजी का जन्म कराया जाता है – वह भी कथारहित जन्म नहीं अपितु आपके घर में नन्दात्मज प्रकट होने चाहिए, आपका घर नन्दालय बनना चाहिए – जब ऐसा कर रहे हैं तो आप कथा को जी रहे हैं।

इसमें कितनी छूट श्रीमहाप्रभुजी ने दी है कि चाहें तो आप यशोदाजी बन जाएँ, चाहें तो आप नन्दरायजी बन जाएँ, घर के सभी सदस्य इकट्ठे हो कर गोप, ग्वाल-बाल बन कर नाचें – **''नंद घर आनंद भयो, जय कन्हैयालाल की''** – यह सब क्या है – यह कथा को जीने का एक अभिगम है। कथा को केवल सुनने का अभिगम नहीं, कथा को हम जी रहे हैं, एक जीवनशैली बना रहे हैं। यह कथा केवल जन्माष्टमी की भाँति नैमित्तिक नहीं, वह तो उत्सव की

कथा है पर यह नित्य की कथा है। हम अपने यहाँ श्रीठाकुरजी को नित्य जगा रहे हैं, नित्य नंदभवन में श्रीठाकुरजी जाग रहे हैं, हमारे श्रीठाकुरजी नित्य गौचारण के लिए वृन्दावन पधार रहे हैं, नित्य गौचरण के पश्चात् वृन्दावन से गोकुल पधार रहे हैं। यह लीला नित्य चल रही है।

''**नित्य लीला नित्य नौतन श्रुति न पामे पार**'' – इस प्रकार हमारे यहाँ सेवा की, कथा की सम्पूर्ण सामग्री विविधता के साथ विद्यमान है। कभी उस विविधता पर ध्यान देंगे तो समझ में आएगा कि भक्ति के नित्य और नैमित्तिक पहलू हमारे यहाँ कितनी खूबसूरती के साथ अनुस्यूत हुए हैं। हम हैं कि इस प्रक्रिया को गुंफित नहीं रहने देना चाहते। किसी भी प्रकार से सेवा-कथा से तलाक ले ले, किसी प्रकार कथा-सेवा से तलाक ले ले, दोनों के मंगल दाम्पत्य में तलाक कराने की नारदविद्या में हमारा समूचा पुरुषार्थ पर्यवसित हो रहा है। कथा से सेवा किस प्रकार विरहित हो जाए और सेवा से कथा किस प्रकार विरहित हो जाए – सारी नारदविद्या का तम्बूरा इसी के इर्द-गिर्द बज रहा है। तम्बू ऋषि के तम्बूरे से दोनों पक्ष किसी न किसी तरह अलग हो जाएँ। एक भी पक्ष से साथ न रहें।

प्रत्येक व्यक्ति एक-एक क्रिया में निष्णात हो जाता है। गोस्वामी बालक और मुखिया सेवा के निष्णात हो जाते हैं, बापा-बापी और ये सब शास्त्री लोग कथा के निष्णात हो जाते हैं। बाद में सेवा-कथा का तलाक हो जाता है। परिणामतः पुष्टिमार्गीय पुष्टिजीव सेवा-कथात्मिका भक्ति की निरुद्धावस्था को प्राप्त नहीं कर सकता। बस, शिवद्वेष में तात्पर्य है, विष्णुभक्ति में तात्पर्य नहीं है। विष्णुभक्ति का तात्पर्य हो तो शिव को गाली देने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। विष्णुभक्ति का क्षेत्र इतना व्यापक है कि समय ही कहाँ से मिलेगा। और शिवभक्ति का भी क्षेत्र इतना व्यापक है कि गाली देने का समय ही नहीं मिलेगा। परन्तु विष्णुभक्ति तो करनी नहीं है, करनी नहीं इसलिए

हमें शिव को गाली देनी पड़ेगी तथा शिवभक्ति नहीं करनी इसलिए विष्णु को गाली देनी पड़ेगी। यह चक्कर है।

इसलिए ध्यान से समझें कि क्या चक्कर चल रहा है, इसे समझ जाएंगे तो सारी बात स्पष्ट हो जाएगी। सेवा को, ध्यान से समझें, कथात्मिका बनाना है और कथा को सेवात्मिका बनाना है। यदि हम ऐसा कर सके तो जितनी सफलतापूर्वक निष्पन्न कर पाए उतनी ही हमारी भक्ति निरुद्धावस्था की तरफ आगे बढ़ना शुरू हो जाएगी। इसी के लिए श्रीमहाप्रभुजी अब 'निरोधलक्षण' बता रहे हैं।

सेवा को सब प्रकार से कथात्मिका बना दिया है। इसमें निरोध किस प्रकार सिद्ध होगा, भक्ति किस प्रकार सिद्ध होगी, यदि आपने भगवान में आसक्ति का अभिप्राय अपने हृदय में प्रकट किया है तो निरोध, प्रपचंविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्ति का रूप इस प्रकार ले सकेगा – यह सब समझाते हुए श्रीमहाप्रभुजी आगे कह रहे हैं।

*****

॥ निरोधलक्षणम् ॥

(भक्तेः प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिरूपनिरोधावस्था-परिपाकार्थं भगवत्सेवाकथोभयपरायणैः पुष्टिभक्तैः सेवासमये गोकुल-स्थितभगवतः संयोगभावना कार्या, सेवानवसरे कथाकाले भगवतः गोचारणकालिकवृन्दावनलीलानुसन्धानेन स्वहृदये वियोगभावना कार्या)

भक्त की प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिरूप निरोध की अवस्था परिपक्व हो, इसके लिए भगवत्सेवा-कथा उभय-परायण जो पुष्टिभक्त हैं उनको सेवा के समय में गोकुलस्थित भगवान के साथ संयोग की भावना करनी चाहिए और सेवा के अनवसर में कथा के समय भगवान की गौचारणकाल की वृन्दावनलीला का अनुसंधान करते हुए अपने हृदय में वियोग की भावना करनी चाहिए।

इस प्रकार संयोग और वियोग की उभयभावना में जब अपने मन को तन्मय रखेंगे तब आपकी भक्ति एक ऐसे मोड़ पर आ जाएगी जहाँ भक्ति, केवल भक्ति न रह कर प्रपंचविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्ति में खिल उठेगी। आपकी सेवा कथात्मिका बन जाएगी तथा कथा सेवात्मिका बन जाएगी - जब आप श्रीठाकुरजी का यह कीर्तन गाएंगे -''झुक रही सुन मुरली की टेर''।

संध्याआरती के समय यह कथा हमने गुनगुनाई तो हमने कथा को सेवा के रूप में जिया। सेवा करते समय इस प्रकार के कीर्तन हम गुनगुनाएँ। अरे! गाना अपने यहाँ बहुत आवश्यक नहीं है, आता हो तो गाएँ, न आता हो तो न गाएँ। जिनको गाना नहीं आता उनके बोलने के लिए श्लोक लिखे गए हैं, जिनको श्लोक बोलना नहीं आता उनके लिए पद लिखे गए हैं और जिनको पद गाना नहीं आता उनके लिए दोहा-चौपाई आदि भी अपने यहाँ उपलब्ध हैं।

श्रीहरिरायजी आदि प्राचीन बालकों की, भगवदीयों आदि की सब प्रकार की सामग्री, सब प्रकार से उपलब्ध है। जो उपलब्ध नहीं है तो वह है - श्रीमहाप्रभुजी द्वारा उपदिष्ट प्रणाली के प्रति हमारी निष्ठा। अन्यथा हमारे मार्ग में किसी भी प्रकार से किसी वस्तु की कोई कमी नहीं है। यदि श्लोक नहीं आता तो पद उपलब्ध है, पद नहीं आता और श्लोक आता हो तो श्लोक उपलब्ध हैं। गाना नहीं आता तो घबराने की कोई आवश्यकता नहीं है, सेवा के सभी प्रकार के श्लोक अपने यहाँ उपलब्ध है। श्लोक बोल लें। संस्कृत में होने के कारण श्लोक बोलना नहीं आता तो भी चिन्ता की कोई बात नहीं क्योंकि व्रजभाषा के पद भी विद्यमान हैं, वे गा कर गुनगुना लें।

मान लें कि गाने में कोई तकलीफ है या संगीत नहीं आता तो वही बात दोहाशैली में भी मौजूद है। अपने यहाँ नित्यलीला के सेवाक्रम में सारी बातें उपलब्ध हैं। कौनसी वस्तु हमारे मार्ग में नहीं है सिवाय एक निष्ठा को छोड़ कर? श्रीमहाप्रभुजी की उपदिष्ट प्रणाली के प्रति निष्ठा के अतिरिक्त सारी वस्तुएँ उपलब्ध हैं और बहुत सम्पन्नता के साथ उपलब्ध हैं। विपरीतता यदि कोई है तो वह केवल निष्ठा की विपरीतता है। हम किसी भी प्रकार से श्रीमहाप्रभुजी के उपदेशों के प्रति वफादार नहीं रहना चाहते।

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले।
गोपिकानान्तु यद्दुःखं तद्दुःखं स्यान् मम क्वचित्[1] ।।1।।
गोकुले गोपिकानां च सर्वेषां व्रजवासिनाम्।
यत् सुखं समभूत् तन् मे भगवान् किं विधास्यति[2] ।।2।।

अन्वयार्थ :

गोकुले = गोकुल में
यशोदायाः = श्रीयशोदाजी को
च = और, **नन्दादीनां** = नन्दरायजी आदि को

च = भी, **यत्**= जो
दुःखं = दुःख, (**समजनि** = हुआ)
तु = और, **गोपिकानां** = गोपिकाओं को
यत् = जो, **दुःखं** = दुःख
(समजनि = हुआ **)**
तत् = वह, **दुःखं** = दुःख
क्वचित् = कभी
मम = मुझे, **स्यात्** = हो
गोकुले = गोकुल में
गोपिकानां = गोपिकाओं को
च = और, **सर्वेषां** = सभी
व्रजवासिनां = व्रजवासियों को
यत् = जो, **सुखं** = सुख
समभूत = भलीभाँति हुआ
तत् = वह, **सुखं** = सुख
किं = क्या, **भगवान्** = भगवान
मे = मुझे
विधास्यति = करेंगे

भावार्थ : श्रीगोकुल में श्रीयशोदाजी को, नन्दादिक को और श्रीगोपीजन को जो दुःख हुआ वह मुझे कब होगा!

श्रीगोकुल में श्रीगोपीजन को और सब व्रजवासियों को जैसा भलीभांति सुख हुआ उस सुख का दान प्रभु क्या मुझे करेंगे?

व्याख्या :

जब भगवान गौचारण करने वृन्दावन पधारते हैं तब यशोदाजी और

नंदरायजी आदि को गोकुल में जो दुःख होता है वह दुःख सेवा के अनवसर में मुझे कब होगा? यहाँ श्रीमहाप्रभुजी कथा को जीने का प्रकार बता रहे हैं। यहाँ एक बहुत ही सूत्रात्मक मार्गदर्शन दिया गया है। इस मार्गदर्शन का ही भाष्य अष्टसखा के पद हैं। इस मार्गदर्शन का ही भाष्य श्रीगुसांईजी ने, श्रीगोपीनाथजी ने, श्रीहरिरायजी आदि ने सेवा के श्लोकों में निरूपित किया है। प्राचीन भगवदीयों के सभी पदों की वाणी भाष्य ही है।

गुजराती में अपने यहाँ सब है, नहीं है, ऐसा नहीं है। राजस्थानी में भी है। अपने यहाँ सभी दिशाओं में हर प्रकार की सभी सामग्री सदैव उपलब्ध है। हमारा पुष्टिमार्ग कभी भी दरिद्र नहीं था, इसके बावजूद आज हम गरीब हैं। उपनिषद् में एक बात बहुत सुन्दर कही गई है कि सोने की खान आपके खेत में नीचे गड़ी हुई है और आप हल जोत-जोत कर थोड़ा बहुत अनाज पका-पका कर गरीबी से जी रहे हैं। थोड़ा गहरा खोदें तो आपके खेत के नीचे सोने की खान गड़ी हुई है इसलिए आप समृद्ध हैं। परन्तु हम थोड़ा बहुत खेत जोत कर, बीज बो कर और फसल उगा कर बहुत कठिनाई से अपना पेट भर रहे हैं। ऐसी दरिद्रता को जीने का हमारा अभिगम है। किसलिए? हम उस खान को नहीं जानना चाहते, खोदने का पुरुषार्थ नहीं करना चाहते।

अतः ''गोपिकानान्तु यद्दुःखं तद्दुःखं स्यान् मम क्वचित्'' - यहाँ 'देहली-दीपक न्याय' से 'गोकुल' शब्द दोनों स्थानों पर जुड़ रहा है। इस प्रकार यदि यह दुःख आपको सेवा करने के पश्चात् अनवसर में हुआ तो आप कथा को जीने लग जाएंगे। वह दुःख आपको सेवा के अनवसर में हुआ तो आपकी भक्ति प्रपंचविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्ति में खिलने लगेगी। गोकुल के श्रीठाकुरजी गौचारण करके वापस वृन्दावन से गोकुल पधार रहे हैं। एक बार संध्याआरती करते समय इस भावना से श्रीठाकुरजी के दर्शन करें कि श्रीठाकुरजी गौचारण करके वृन्दावन से वापस गोकुल में पधारे हैं। इस भावना

से आपने एक बार श्रीठाकुरजी के दर्शन किए तो आप कथा को जीने लगेंगे।

ऐसी भावना करने से वह पाँच हजार वर्ष पुरानी कोई ऐतिहासिक घटना नहीं रह जाएगी। आप नित्यलीला को जीने लगेंगे, नित्यलीला को व्यापिवैकुण्ठ में जीने लग जाएंगे। यदि आप यह भावना कर सके तो आप सेवा को कथात्मिका बना पाए और कथा को आप सेवात्मिका बना पाए। यही बात श्रीमहाप्रभुजी बहुत ही सावधानीपूर्वक कह रहे हैं क्योंकि कदाचित् इस प्रकार की कथात्मिका सेवा और सेवात्मिका कथा हर किसी से साकार नहीं हो पाएगी। अब जो दूसरा पक्ष है – ''सेवायां वा कथायां वा'' – उस पक्ष को श्रीमहाप्रभुजी पकड़ कर कहते हैं कि यदि आपसे सेवा सम्भव नहीं हो पाती तो कथा करें।

(गोकुलवृन्दावनस्थितयोः व्रजभक्तयोः यथायथं स्वस्वनिकटे समागतेन भगवत्प्रेषितेन उद्धवेन सह भगवद्वार्तामहोत्सवेनेव भगवत्सेवां कर्तुम् असमर्थानां भगवत्कथापरायणानां भगवद्गुणगानेनापि भक्तिः उक्तां निरोधावस्थां प्राप्तुं शक्नोतीति तन्माहात्म्यनिरूपणम्)

जो गोकुल–वृन्दावन में स्थित व्रजभक्त हैं उनके पास भगवान ने उद्धवजी को अपना कुछ संदेश ले कर भिजवाया और उद्धवजी ने जब गोकुलवासियों के साथ गोकुल के लायक और वृन्दावनवासियों के साथ वृन्दावन के लायक भगवद्वार्ता की तो उसमें भाव का भेद हो रहा है। भाव के भेद से जिनके प्रति जैसा भाव, जिसको प्रभु के प्रति जैसा भाव उसके प्रति वैसे भाव से जिस समय उद्धवजी ने वार्ता की उस समय उस भगवद्गुणगान से, भगवत्कथा करने से भी भक्ति उक्त वर्णित अवस्था अर्थात् निरोधावस्था को प्राप्त होगी। ध्यातव्य है कि यह नित्यकथा की बात है।

यहाँ किसी साप्ताहिकविधि से कथा करनेवाले कथावाचकों को उद्धव

नहीं समझना है बल्कि नित्यकथा इस अंश से, इस उत्साह से हमारे साथ होने लगे कि जब कोई हमें भगवत्कथा कह रहा है और जब हम भगवत्कथा सुन रहे हैं तो इस महोत्सव की भावना के साथ सुनें कि आज तो हमारे यहाँ श्रीठाकुरजी ने उद्धवजी को भेजा। इस प्रकार रोज किसी उद्धव को बुलाएँ। यदि रोज उद्धव आपके पास न आते हों तो आप उद्धव के पास रोज जाएँ। यह साप्ताहिकविधि या नैमित्तिक क्रम की बात नहीं है, **''नित्य कथायां नतु नैमित्तिक कथायां''।**

उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा।
वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित्।।3।।

अन्वयार्थ :

वृन्दावने = वृन्दावन में
वा = और, **गोकुले** = गोकुल में
उद्धवागमने = उद्धवजी के आने पर
यथा = जिस प्रकार से
सुमहान् = बहुत बड़ा
उत्सवः = उत्सव
जातः = हुआ
तथा = उस प्रकार से
मे = मेरे, **मनसि** = मन में
क्वचित् = कब (**स्यात्** = होगा)

भावार्थ : उद्धवजी के आगमन से वृन्दावन और श्रीगोकुल में जैसा महान उत्सव हुआ वैसा मेरे मन में कब होगा?

व्याख्या :

वह उत्सव मेरे मन में कथा में कब प्रकट होगा जो उत्सव व्रजभक्तों को वृन्दावन में और गोकुल में उद्धवजी से भगवान की बातें सुन कर प्रकट हुआ था? अर्थात् भगवद्विप्रयोग में, जिसको भगवद्विप्रयोग की अवस्था प्राप्त होगी, उसको इस बात का आनन्द आएगा कि जब प्रभु पास में नहीं हैं तब कथा में विप्रयोग की भावना करनी चाहिए। आजकल कथा में सेवा का प्रत्यक्ष प्रदर्शन चल रहा है। सेवा का कथाकल्प में प्रत्यक्ष प्रदर्शन श्रीमहाप्रभुजी की कल्पना के बाहर की बात है।

यदि इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रदर्शनवाली कथा ही करनी है तो फिर सेवा-कथा निस्सार है। वस्तुतः यहाँ सेवा को कथात्मिका करना है और कथा को सेवात्मिका करना है परन्तु आपसे यदि यह कल्प नहीं निभ रहा तो उस परिस्थिति में आपको भगवद्विप्रयोग होना चाहिए और इस भगवद्विप्रयोग में यदि कोई भगवत्कथा का, श्रवण का, कीर्तन का, स्मरण का प्रसंग प्रकट हो रहा है तो उसमें हमें इस प्रकार का उत्साह होना चाहिए कि आज तो श्रीठाकुरजी ने उद्धवजी को हमारे यहाँ भेज दिया।

उदाहरणस्वरूप जब आप अपने श्रीठाकुरजी को जगाएँ तो यह उत्साह होना चाहिए कि यशोदाजी ही जगा रहे हैं अथवा कोई गोपीजन श्रीठाकुरजी को जगाने आ गए हैं। उनकी भाँति हमको भी उत्साह आ जाना चाहिए। श्रीठाकुरजी की संध्याआरती करें तो हमें यह उत्साह होना चाहिए कि हाँ, श्रीठाकुरजी गौचारण करके वापस गोकुल पधारे हैं। उस समय आपका घर, घर न रह कर गोकुल बन जाता है। इस बात को ध्यान से समझें कि जिस समय आप राजभोग की आरती कर रहे हैं उस समय आपका घर, घर न रह कर कथात्मिका दृष्टि से वृन्दावन बन रहा है।

ऐसे भावों के साथ बारी-बारी से कभी आपका घर गोकुल है, कभी आपका घर वृन्दावन है, कभी आपका घर श्रीयमुनाजी का तट है, कभी आपका घर कुंज है, कभी बरसाना है आदि-आदि। यह सब किस प्रकार होगा? आपके घर में यह सब किस प्रकार मूर्तरूप लेगा? कथाप्रणाली से आपकी सेवा में ये सारी बातें प्रकट होंगी और वह कथा आपको सेवा के रूप में जीनी पड़ेगी; उस कथा को जब आप सेवा के रूप में जी रहे हैं तो निरुद्धता प्रकट होगी।

आपकी भक्ति निरोध की तरफ आगे बढ़ेगी परन्तु मान लें कि आप उस प्रकार कथा-सेवा के रूप में नहीं जी रहे तो फिर कथा हमें किस भाव से करनी चाहिए? विप्रयोग के भाव से, इस बात से आश्वस्त हो कर कि प्रभु इस समय मेरे गोकुल में नहीं विराज रहे हैं। प्रभु इस समय मेरे व्रज में न विराज कर मथुरा पधारे हैं और जो भी कोई मुझे कथा कह रहा है वह उद्धव की भाँति भगवान का कोई सन्देश ले कर आया हुआ व्यक्ति है। वह मुझे भगवत्कथा कह रहा है।

मैं जब भी कथा कह रहा हूँ तो मैं भगवान का कोई सन्देश किसी व्रजभक्त को दे रहा हूँ - इस भाव से कथा करनी है और इस भाव से कथा सुननी है। उस भाव से कही गई और सुनी गई कथा को मिला कर स्मरण करना है। यह एकपक्षीय खेल नहीं है। जहाँ श्रवण की बात बताई गई थी वहाँ श्रीमहाप्रभुजी ने केवल श्रवण नहीं बताया। ''बीजभावे दृढे तु स्यात् त्यागात् श्रवणकीर्तनात्'' में श्रवण-कीर्तन दोनों बताए हैं और श्रवण-कीर्तन के सूचन से यह न समझें कि स्मरण नहीं बताया। यहाँ स्मरण उपलक्षणविधि से विद्यमान है।

स्मरण करके ही श्रवण करना है, स्मरण करके ही कीर्तन करना है। स्मरण बिना श्रवण और स्मरण बिना कीर्तन यदि हमने किया तो वह केवल क्रिया हो गई; आप कथा को नहीं जी रहे हैं। वह सुनने और कहने की क्रिया मात्र हो रह गई। स्मरण करके श्रवण करने, स्मरण करके कीर्तन करने के लिए

सबसे पहले स्मरण सावधानी से करना चाहिए। इसे फिर से देखें और समझें।

पहला स्मरण प्रभु का यह करना है कि मेरे प्रभु मेरे साथ नहीं विराज रहे, व्रज में पधार गए हैं। इस बात को सर्वप्रथम स्मरण करके कथा सुननी है। यदि इस प्रकार से नहीं सुन रहे या नहीं कह रहे तो आपने कथापक्ष का सम्पूर्ण स्वारस्य खो दिया – कहने में भी और सुनने में भी। इसके लिए उत्सव की बात बताते हैं कि आपका विप्रयोग इस प्रकार उत्सव हो जाएगा और यदि भगवान से आप विप्रयोगयुक्त हैं तो उस परिस्थिति में – **''तव कथामृतम्... भूरिदा जनाः''** (भागवत महा. गोपीगीत, 10/31/9) न्याय से इस विप्रयोग में आपकी कथा एक महान उत्सव हो जाएगी।

अन्यथा इसमें उद्धवागमन के प्रसंग की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। भगवद्विप्रयोग के विषय में आपका ध्यान आकर्षित नहीं करना होता तो, क्या गोपिकाएं आपस में कथा नहीं करती थीं? युगलगीत क्या है? युगलगीत ऐसी कथा है कि संध्यासमय श्रीठाकुरजी – **''दिवसे सहु श्यामा मली रस रूप तणो यश गायेजी, वासर निर्वाह एम करे सखी सायं काले पेखेजी''** (दिन में सभी गोपियां मिल कर रसरूप का यश गाती हैं, इस प्रकार दिन मे निर्वाह करके संध्या समय की बाट देखती हैं।)

वह विप्रयोग संध्याकाल का था, विप्रयोग भी है और संयोग भी है और यह विप्रयोग किसी अन्य प्रकार का विप्रयोग है। यह ऐसा विप्रयोग है जिसमें सेवक अपने स्वामी के साथ जी नहीं सकता, भक्त अपने भगवान के साथ भक्ति से जी नहीं सकता। जीवात्मा अपने परमात्मा के साथ अपने भक्तिमय जीवन को जब जी नहीं सकता तो ''उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा'' – कितनी खूबसूरत बात है। इस पर ध्यान दें, ऐसे विप्रयोग पर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाह रहे हैं।

जो भी कथा हो रही है वह विप्रयोग के भाव से है और जो भी कथा करनी है वह इस आशय से करनी है कि यह एक प्रकार का उत्सव है कि हमें भगवत्कथा करने के लिए, भगवान की चर्चा करने के लिए कोई एक सन्देशवाहक तो मिला। रत्नाकर ने 'उद्धवशतक' में इस स्थिति का बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है कि सभी गोपीजन कहने लगीं कि हमें क्या लिखा है, हमें क्या लिखा है – **''भेजे मनभावन के, उद्धव के आवन की।''** वे कहते हैं कि उद्धव के आगमन की बात जब सबने सुनी, व्रज में फैली तो सभी गोपियाँ दौड़-दौड़ कर वहाँ जाने लगीं और कहने लगीं कि हमें क्या लिखा है? प्रत्येक गोपिका उद्धव को पूछने लगी कि – **''हमकौं लिख्यो है कहा, हमकौं लिख्यो है कहा''** मेरे लिए क्या लिखा है? मेरे लिए क्या लिखा है?

इस प्रकार से जब हम कथा सुनते हैं तब हमें यह भी देखना चाहिए कि भाई, इसमें मेरे लिए क्या बात आई है, इस कथा में मेरे लिए कौनसी बात आई है। इस प्रकार इतनी निजता रख कर कथा सुनेंगे तो वह कथा नित्यक्रम की कथा हो जाएगी। वर्तमान साप्ताहिकक्रम की कथा, समानान्तर चलनेवाली पद्धति है। उसका पुष्टिमार्ग से स्पष्टरूप से कोई सम्बन्ध नहीं है। अब आगे एक दूसरी, बहुत ही सुन्दर बात श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं।

महतां कृपया यावद् भगवान् दययिष्यति।
तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि।।4।।
महतां कृपया यद्वत् कीर्तनं सुखदं सदा।
न तथा लौकिकानां तु स्निग्ध-भोजन-रूक्षवत्।।5।।

अन्वयार्थ :

महतां = बड़ों की
कृपया = कृपा से
भगवान्= भगवान

यावद् = जबतक

दयियिष्यति = देने की इच्छा करेंगे, **तावत्** = तबतक

कीर्त्यमानः = जिनका कीर्तन किया जा रहा है वे

आनन्दसन्दोहः = आनन्द के सागर

सुखाय = सुखरूप, **हि** = ही

महतां = बड़ों की

कृपया = कृपा से

(भक्तकृतं = भक्त द्वारा किए जानेवाले **)**

कीर्तनं = कीर्तन

यद्वत् = जिस प्रकार से

सदा = निरन्तर

सुखदं = सुख देनेवाले

(**अस्ति** = हैं) **तद्वत्** = वैसे

लौकिकानां = लौकिक व्यक्तियों द्वारा

(कीर्तनं = कीर्तन **) तु** = तो

स्निग्ध -भोजन-रूक्ष-वत् = घीवाला भोजन करनेवाले को रूक्ष भोजन करने जैसा

तथा = वैसा

न = नहीं (**भवति** = होता है)

भावार्थ : बड़ों की कृपा से जबतक प्रभु दया करेंगे तबतक कीर्त्यमान आनन्द के निधि प्रभु सुखरूप होते हैं।

बड़ों की कृपा द्वारा किए जानेवाले कीर्तन जैसे सदा सुख देनेवाले होते हैं ऐसे संसारासक्त लौकिक द्वारा किए जानेवाले कीर्तन सुखद नहीं होते। जैसे स्निग्धभोजन शरीर में सकल इन्द्रियों का पोषण करता है वैसा रूक्षभोजन से नहीं होता।

व्याख्या :

ऐसी कृपा होगी परन्तु कृपापात्र बनने के लिए आपको थोड़े दिन तो रोना पड़ेगा, थोड़े दिन तो कीर्तन करना पड़ेगा। उद्धवजी आएँ या न आएँ, यदि आप स्वयं नहीं रोए, यदि आपने स्वयं कीर्तन नहीं किया तो फिर उद्धव के आवन का, सन्देशा मन भावन का आपको रुचिकर नहीं लगेगा। जब आपने स्वयं कीर्तन किया तो - ''महतां कृपया यावद्'' - महापुरुष की कृपा से भगवान जब ऐसी दया करेंगे, तब करेंगे। तबतक आप क्या करेंगे? मतलब सेवा तो आप कर नहीं रहे, फिर करेंगे क्या? फिर भी कोई चिन्ता की बात नहीं है, आप नित्यनियम से भगवत्कीर्तन करें। जब कोई आपको सुनाने आ जाए, जब कोई आपको भगवत्कथा सुनाने आ जाए तो उसमें उद्धव की भावना करें। वह नहीं आ रहे तबतक आप क्या करेंगे?

तबतक हम टी.वी. देखेंगे, तबतक हम वीडियो देखेंगे, हम धंधा करने जाएंगे, केवल कहानी अथवा उपन्यास पढ़ेंगे। भाई, भगवत्कथा तो आप कर ही नहीं रहे जो श्रीमहाप्रभुजी कथापक्ष के अन्तर्गत बता रहे हैं। इस कथापक्ष के साथ आपके कथापक्ष का कोई तालमेल नहीं है।

''तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि'' - यहाँ से भी आप गए। यहाँ से किस प्रकार गए कि कीर्तन में इस प्रकार का सुख सबको नहीं मिलता। जब सबको नहीं मिलता तो कहते हैं कि नहीं मिलने पर क्या करना? ''न तथा लौकिकानां तु स्निग्ध-भोजन-रूक्षवत्'' - यह उपलब्धि भी हमें एक महती कृपा से प्राप्त होगी जब हमें यह बात समझ में आएगी कि कीर्तन करना कितनी सुखद घटना है, नित्य कीर्तन करना कितना सुखद है और यह हमें तब समझ में आएगा जब श्रीमहाप्रभुजी कृपा करेंगे। अन्यथा हम यही समझते रहेंगे कि नित्य कीर्तन करना कोई सुखद घटना नहीं बल्कि एक रोजमर्रा की बात है, रिवाज की औपचारिकता के लिए रोजमर्रा की क्रिया है। रोज गाते रहने में क्या

रखा है? तो ध्यान से समझें कि आपने यदि नित्य कीर्तन किया तो नित्य कीर्तन करते रहने से, नित्य विप्रयोग के कीर्तन करने की आपकी साधना का भाव दृढ़ होगा। वह भाव दृढ़ होने के बाद जब कोई आपको कथा सुनाने आता है तो उसमें उद्धवजी की भावना करके आप यह कथा सुनें। ध्यान में रखें कि अभी तक हम कीर्तन कर रहे थे, अब वे कीर्तन सुनाने आए हैं। उनमें उद्धव की भावना करके कथा सुनें और खूब आह्लादित अर्थात् आनन्दविभोर हो जाएँ। यह वापस विप्रयोग में प्रकट होनेवाला एक प्रकार का आन्तरसंयोग है।

श्रीमहाप्रभुजी ने इस बात को भ्रमरगीत में बहुत ही सुन्दर शब्दों में बताया है। ''**अन्तर्निष्ठा विरहो वा तासां नान्या काचिद् अवस्था**'' - या तो लीला के अनुसंधान में आन्तरनिष्ठ हो जाता है और यदि आन्तरनिष्ठ नहीं हो सकता तो उसको बाह्य भगवद्विप्रयोग सताता है। इस प्रकार का चक्रीयक्रम जब चलता है तब आप धीरे-धीरे सही अर्थ में उद्धव के आगमन के आनन्द का अनुभव कर पाएंगे।

यदि इस प्रकार से नित्यक्रम से आप कीर्तन को नहीं जीते और आप केवल नैमित्तिक क्रम से जिए तो मान लें कि सेवा में मनोरथ जैसा कुछ न कुछ आडम्बर हो गया, यह सप्ताहकथा का छल-छद्म हो गया। सेवा में मनोरथ, चमत्कार उत्पन्न करने के लिए बहुत उत्तम वस्तु है परन्तु मनोरथ उसके लिए स्वास्थ्यवर्धक है जिसने नित्यसेवा करके सेवा को व्यसन बना लिया है। जिसने नित्यसेवा को व्यसन नहीं बनाया उसके लिए सेवा के भाव को खण्डित करनेवाला मनोरथ है। किसी भी वैष्णव को पूछ कर देख लें कि मनोरथ के दर्शन से ही वह ध्वस्त हो जाता है या नहीं?

ऐसा मनोरथ हम घर में किस प्रकार कर सकते हैं! बस, फिर सेवा छूट जाती है। केसर के हिण्डोला, छप्पन भोग के मटके जैसे बड़े लड्डू कहाँ से लाएँ; नहीं ला सकते इसलिए सेवा बन्द। इसी प्रकार कोई उद्धवजी आ गए, कुछ

कथा सुना दी तो ऐसी कथा हम किस प्रकार कर सकते हैं - बस फिर कथा भी बन्द। ऐसे मनोरथों की समानान्तर व्यवस्था के चलन ने पुष्टिमार्ग में भक्ति को, सेवा को चमत्कारपूर्ण बनाने के लिए प्रेरित करके सेवा को खण्ड-खण्ड कर दिया है।

इसी प्रकार उद्धवागमन की एक चमत्कृति थी कि कोई भगवदीय हमारे घर आए हैं। हम किसी मण्डप में कथा सुनने नहीं गए बल्कि कोई भगवदीय हमारे गाँव में आए, घर पर आए हैं। उनके पास से हमने उद्धव का भाव करके कथा सुनी और मन में यह उत्कंठा रखी कि मुझे भगवत्सन्देश आया है - ''**हमकौं लिख्यो है कहा, कहन सबैं लगी**'' - हमको क्या लिखा-वाला भाव आया तो वह भाव तब सिद्ध होगा जब ''महतां कृपया यद्वत् कीर्तनं सुखदं सदा। न तथा लौकिकानां तु स्निग्ध-भोजन-रूक्षवत्।''

जो लौकिक व्यक्ति हैं, जिन्होंने इस कीर्तनप्रणाली का तौर-तरीका नहीं जाना उनकी स्थिति - ''वंध्या शुं जाणे प्रसवनी पीड़ा (वंध्या स्त्री प्रसव की पीड़ा नहीं समझ सकती)'' जैसी ही होगी। यदि आपने नित्यप्रणाली से अपने घर में कीर्तन नहीं किया तो श्रीमहाप्रभुजी को अभिप्रेत कथा का स्वाद सच्चे अर्थों में आपको कभी प्राप्त नहीं हो सकेगा। नैमित्तिक कथाप्रणाली आपके कीर्तन को खण्डित करनेवाली ही होगी। इसलिए सर्वप्रथम आवश्यकता यह है कि जब आपसे सेवा नहीं निभ रही तो नित्य कीर्तनप्रणाली, कथाप्रणाली का आग्रह पनपाएँ, विकसित करें। कभी कोई आपको कथा सुनाने आए तो - ''उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा'' - यह नैमित्तिक कथाप्रणाली उस वक्त आपको कुछ फलदायक होगी।

जैसे नित्यसेवाक्रम आप निभा रहे हैं तो उसकी रोचकता मनोरथ से बढ़ जाएगी। जैसे रोज रोटी-सब्जी अथवा दाल-भात, रोटी-सब्जी और किसी दिन ढोकला-फाफड़ा का स्वाद लेते रहने से चमत्कार और स्वास्थ्य दोनों आपसे

निभ पाएंगे जिससे न तो आप निराश हो जाएँ और न आप रोगी बनें -प्रतिदिन तड़क-भड़क के चक्कर में फंसने के कारण। प्रतिदिन की तड़क-भड़क अच्छी नहीं होती।

जो नित्य तड़क-भड़क से जीना चाहते हैं, जो नित्य चमत्कार में जीना चाहते हैं वे कभी भी वफादार पति नहीं बन सकते या वफादार पत्नी नहीं बन सकती। नित्य नई गोपिकाएँ खोजनेवाले गोस्वामी बालक कभी 'रासलीलैक-तात्पर्य' नहीं हो सकते, वे कोई 'भासलीलैकतात्पर्य' हो जाते हैं। यह बात समझनी चाहिए। हम अपनी पत्नी के साथ जिएंगे। अपने पति के साथ हम जिए तो, हमने नित्य का संयम रखा तो हम किसी की खूबसूरती को देख कर दुविधा में नहीं रहेंगे कि कितनी खूबसूरत है! हमसे अपना तो निभता नहीं - दुविधा में दोनों गए, माया मिली न राम - जैसा चक्कर हो जाएगा। इसलिए ध्यान से समझें कि यह बात अच्छी नहीं है।

जिनको घर में रह कर जीना नहीं आया उनको बाहर घूमने का मजा कैसे आएगा, जिनको घर में जीना नहीं आता वे बाहर घूमने का मजा किस प्रकार ले सकेंगे? घर में रहें, सात दिन घर में रहें, आठवें दिन रविवार को कहीं घूमने जाएँ तो आपको घूमने का मजा आएगा। घर में तो आप रहे नहीं, नित्य सेवा आपने निभाई नहीं, केवल मनोरथ के चक्कर मारते रह गए। नित्य कीर्तन, नित्य कथा आपने की नहीं, सप्ताहकथा में भटकते रह गए तो आपको न कथा का आनन्द उपलब्ध है और न सेवा का आनन्द प्राप्त है। आप दोनों स्थान से भ्रष्ट हो गए, अर्थात् आपने दोनों को खो दिया।

गुणगाने सुखावाप्तिः गोविन्दस्य प्रजायते।
यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोऽन्यतः।।6।।
क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत्।
तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहिः।।7।।

अन्वयार्थ :

यथा = जिस प्रकार से
गोविन्दस्य = श्रीकृष्ण के
गुणगाने = गुणों के गान में
सुखवाप्तिः = सुख की प्राप्ति
प्रजायते = होती है
तथा = उस प्रकार की
शुकादीनां = शुकदेवजी आदि को
आत्मनि = आत्मा में
न = नहीं, **एव** = ही
अन्यतः = अन्य प्रकार से, **कुतः** = कैसे
क्लिश्यमानान् = क्लेशवालों को
जनान् = लोगों को
दृष्ट्वा = देख कर, **यदा** = जब
कृपायुक्तः = कृपायुक्त
भवेत् = होते हैं
तदा = तब
हृदिस्थं = हृदय में स्थित
सर्वं = सब
सदानन्दं = जो सदा आनन्दमय हैं
बहिः = बाहर
निर्गतं = निकलते (**स्यात्** = हैं)

भावार्थ : गोविन्द के गुणगान में निरुद्ध भक्तों को जैसा सुख प्राप्त होता है वैसा आत्मानन्द में शुकादि को भी नहीं होता है तो भक्तिरहित को तो कहाँ से होगा?

जब अपने शरणागतों को अत्यन्त क्लेशयुक्त देख कर प्रभु कृपायुक्त होते हैं तब सदा आनन्दरूप प्रभु हृदय में विराजनेवाला अपना स्वरूप बाहर प्रकट करते हैं।

व्याख्या :

आप सोचते हैं कि हम कीर्तन करेंगे तो हमें कीर्तन करने से क्या सिद्ध होनेवाला है, आप सोचेंगे कि हमारे भाव में गहराई और उद्रेक कितना? अरे, आप कभी गोविन्द के गुणों को समझे हैं कि – ''गुणगाने सुखावाप्तिः गोविन्दस्य प्रजायते'' – गुणगान से गोविन्द कितना प्रसन्न हो रहा है, आप कीर्तन कर रहे हैं तो गोविन्द आपके हृदय में आ कर विराज रहा है।

''नाहं वसामि वैकुंठे योगीनां हृदये न च, मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारदः'' (पद्म पुराण, उत्तर खंड, 92/21) – गोविन्द आप पर इस स्तर तक प्रसन्न हैं। आप उस पर प्रसन्न नहीं हैं। आप उस पर अप्रसन्न हैं, आप किसी कथाकार पर प्रसन्न हैं, आप महाराज पर प्रसन्न हैं इसलिए आप गोविन्द को नित्य अपने साथ रखना नहीं चाहते। इसी वजह से सारा झमेला है।

जब आप नित्य कीर्तनक्रम से भगवत्कथा कर रहे हैं तो गोविन्द आप पर प्रसन्न हैं और गोविन्द आप पर प्रसन्न हैं इसलिए आप नित्यकथा कर पा रहे हैं। यदि गोविन्द आप पर प्रसन्न नहीं है तो आप नित्यकथा नहीं कर सकते, गोविन्द अप्रसन्न हैं तो आप नैमित्तिक कथा में रचे-पचे रहेंगे; गोविन्द प्रसन्न हैं तो आप नित्य सेवा करेंगे।

जैसे उस दिन मैंने आपको बताया था कि – **''ये याता किमपि प्रधार्य हृदये पूर्वं गताएव ते''** – कभी गोविन्द आपको मिलना चाहें तो आप कभी मनोरथ के दर्शन कर आते हैं। गोविन्द नित्य आपके साथ जीना चाहते हैं तो आप गोविन्द की नित्य सेवा कर रहे हैं। गोविन्द आपके हृदय में नित्य निवास

करना चाहते हैं तो आप नित्य गोविन्द के कीर्तन कर रहे हैं। कभी गोविन्द आपके हृदय में विराजना चाहें तो जैसे पंचपद्यानि में बताया तदनुसार ध्यान से समझ लेंगे तो आपको सारी बात समझ में आ जाएगी कि ''पूर्णभावेन पूर्णार्थाः कदाचिद् नतु सर्वदा अन्यसक्तास्तु ये केचिद् अधमाः परिकीर्तिताः।'' – गोविन्द आपको अधम मान रहे हैं तो आप गोविन्द को इतना अधम मान रहे हैं कि उनका नित्य कीर्तन नहीं कर रहे हैं। यदि गोविन्द आपके लिए उत्तम हैं तो आप गोविन्द का नित्य कीर्तन करेंगे।

यदि आप अन्यासक्त नहीं हैं, आप गोविन्द को इतना उत्तम मान रहे हैं तो आपको नित्य कीर्तनपरायण, नित्य कथापरायण होना पड़ेगा। यदि आप नित्य भगवत्सेवापरायण नहीं हैं तो यह व्यवस्था की एक विशेष बारीकी है, सूक्ष्मता है। इसके लिए ऐसा न समझें कि आपके कीर्तन करने में कोई न्यूनता है, कोई खामी है। किसी भगवदीय के मुख से आपने कीर्तन सुन लिया तो भी बहुत बड़ी बात है। यदि आप गोविन्द का गुणगान कर रहे हैं तो गोविन्द आप पर प्रसन्न हैं। इससे बड़ा कोई प्रमाण आपके समक्ष नहीं हो सकता।

आप नित्य हरिकथा कर रहे हैं, आप नित्य हरिगुणगान कर रहे हैं तो इससे अधिक हरि की प्रसन्नता, इससे अधिक इस बात का दूसरा क्या प्रमाण हो सकता है कि हरि आपके हृदय में विराजे हुए हैं।

यह बात होगी कब – **''क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत्। तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहिः''** – जब आप दुःख का अनुभव करेंगे कि आप कुछ खो रहे हैं। जब आपको कोई दुःख नहीं है, खूब आनन्द आ रहा है तो आप भ्रम में जी रहे हैं। जैसे हम नित्य स्वस्थ खुराक खाने में किसी दुःख का अनुभव नहीं करते परन्तु दिन-रात रेस्टोरेन्ट से यह भेलपूरी, वह भेलपूरी खाते रहेंगे तो इस चक्कर में पेट बिगड़ जाएगा। इससे क्या स्वास्थ्य नहीं बिगड़ता? आप जीभ का स्वाद तो ले रहे हैं परन्तु स्वास्थ्य दिन-प्रतिदिन

बिगड़ता जाएगा।

जब आपको इस बात के लिए दु:ख का अनुभव होगा कि मैं किसी नित्यक्रम से वंचित हूँ तो हरि कृपालु हो जाएंगे – ''तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहि:'' – तब आपके हृदय में विराजमान सदानन्द गुणगान के रूप से बाहर प्रकट हो सकेंगे।

सर्वानन्दमयस्याऽपि कृपानन्द: सुदुर्लभ:।
हृद्गत: स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्ण: प्लावयते जनान्।।8।।
तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धै: सर्वदा गुणा:।
सदानन्दपरैर् गेया: सच्चिदानन्दता तत:।।9।।

अन्वयार्थ :

सर्वानन्दमयस्य = सम्पूर्ण आनन्दमय प्रभु का
अपि = भी
कृपानन्द: = कृपारूप आनन्द
सुदुर्लभ: = कष्ट से लभ्य
हृद्गत: = हृदय में स्थित
(स : = वह)
स्वगुणान् = अपने गुणों को
श्रुत्वा = सुन कर
पूर्ण: = पूर्ण
(सन् = हो कर)
जनान् = लोगों को
प्लावयते = भर देते हैं
तस्मात् = इससे
सदानन्दपरै: = सदानन्दपर हो कर (हृदयस्थित लीलासृष्टि में एकतान हो कर)

निरूद्धै: = निरूद्ध हो कर
सर्वं = सब कुछ
परित्यज्य = त्याग कर
सर्वदा = निरन्तर
गुणा: = गुणों को
गेया: = गाना चाहिए, **तत:** = जिससे
सच्चिदानन्दता = सचिदानन्दता
(भवेत् = होती है)

भावार्थ : सर्वानन्दमय का कृपानन्द अत्यन्त दुर्लभ है। हृदय में विराजनेवाले प्रभु अपने गुणों का श्रवण करके पूर्ण हो कर अपने जन को स्वानन्दनिमग्न करते हैं।

अत: सबका परित्याग करके सदानन्द श्रीकृष्ण में निष्ठावाले सत्पुरुषों के संग निरन्तर गुणगान करना चाहिए। ऐसा करने से सच्चिदानन्दता प्राप्त होती है।

व्याख्या :

भगवान सर्वानन्दमय हैं परन्तु उनका कृपानन्द अत्यन्त दुर्लभ है। आप इस रहस्य को समझें कि आप गुणगान कर रहे हैं इसलिए गोविन्द प्रसन्न हैं। यह आपकी मिथ्या धारणा है कि गा कर हम गोविन्द को प्रसन्न कर लेंगे, ऐसा न समझें। आप गा रहे हैं तो यह गोविन्द की प्रसन्नता है। गा कर गोविन्द को प्रसन्न नहीं करना बल्कि आप इसलिए गा रहे हैं, क्योंकि गोविन्द आप पर प्रसन्न हैं। इस भाव को समझें। इतनी गरिमा के साथ गोविन्द का गुणगान करें कि जिस समय आप गुणगान कर रहे हैं तो गोविन्द की प्रसन्नता के कारण गुणगान कर रहे हैं। आप सेवा कर रहे हैं तो सेवा से व्रजाधिप को प्रसन्न नहीं

करना है वरन् सेवा कर पा रहे हैं तो व्रजाधिप की प्रसन्नता है। इतनी गरिमा से पहले सेवाकथा को देखने का दृष्टिकोण रखें।

एक बार इतनी गरिमा से देखना शुरू करने के पश्चात् आपको पता चलेगा कि इसमें क्या गम्भीरता है, इसमें क्या स्वारस्य है, इसमें क्या उत्तमता है, कितनी श्रेष्ठता है। यह तब पता चलेगा। ''तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः, सदानन्दपरैर् गेयाः सच्चिदानन्दता ततः'' – बेकार के चक्कर छोड़ दें। कहाँ किस बात में फंसे हुए हैं? जब आपके घर में आपसे सेवा नहीं निभ सकती तो सारे चक्कर छोड़ दें। ''**गाने सहेजे गोविंद गाने सहेजे, तारा दुःख सहु जाय गोविंद गाने सहेजे (गोविन्द के सहज गुणगान से आपके सारे दुःख खत्म हो जाएंगे)**'' इस प्रकार गुणगान करें। आपकी सारी समस्याओं का समाधान हो जाएगा क्योंकि इससे आपमें सच्चिदानन्दता प्रकट होगी। फिर आप जड़ नहीं रह जाते, फिर आप जीव नहीं रह जाते। आपके भीतर स्थित सच्चिदानन्दता इस गुणगान की प्रणाली से प्रकट हो कर खिल उठेगी। तब आपको गुणगान का सच्चा महत्त्व समझ में आएगा।

इस बात को फिर से ध्यान से समझें। श्रीमहाप्रभुजी ने आपके कष्टों को दूर करने के लिए नवरत्न में व्यावहारिक धरातल पर उतर कर समझाया है और अन्तःकरण प्रबोध में भी स्पष्ट किया है कि आप चिन्ता क्यों कर रहे हैं, मैंने सारी चिन्ताएँ छोड़ने के लिए समाधान बताया है। इस प्रकार फिर से श्रीमहाप्रभुजी स्वयं अपने उपदेश में हस्तक्षेप कर रहे हैं।

(प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिरूपायाः भक्तेः सर्वातिशायितायां स्वानुभवप्रामाण्यनिरूपणपूर्विका स्वमार्गे तदुपदेशावश्यकता)

अपने अनुभव के आधार पर प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिरूप भक्ति की सर्वातिशयता का निरूपण करते हैं और स्वमार्ग में उसके उपदेश की

आवश्यकता बताते हैं।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः।
निरुद्धानान्तु रोधाय निरोधं वर्णयामि ते।।10।।
हरिणा ये विनिर्मुक्तास् ते मग्ना भवसागरे।
ये निरुद्धास् तएवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम्।।11।।

अन्वयार्थ :

रोधेन = संयम से
निरुद्धः = निरुद्ध, **तु** = तो
निरोधपदवीं = निरोधरूप पद को
गतः = प्राप्त हुआ
अहं = मैं
(लौकिके = लौकिक में)
निरुद्धानां = निरुद्धों के
रोधाय = रोध के लिए
ते = वह, **निरोधं** = निरोध का
वर्णयामि = वर्णन करता हूँ
ये हरिणा = श्रीकृष्ण के द्वारा
विनिर्मुक्ताः = विशेषरूप से मुक्त हुए हैं
ते = वे
भवसागरे = संसार रूपी सागर में
मग्नाः = डूबे हुए हैं, **ये** = जो
निरुद्धाः = निरुद्ध हैं
ते = वे, **एव** = ही
अत्र = यहां, **अहर्निशं** = दिन-रात

मोदं = आनन्द को
आयान्ति = प्राप्त करते हैं

भावार्थ : मैं निरुद्धों के मार्ग में अंगीकृत हूँ और सकल इन्द्रियों का प्रभु में निरोध करके निरोध की पदवी अर्थात् निरोध के फल को प्राप्त हुआ हूँ। इसलिए आधुनिक निरोधमार्गियों को निरोध सिद्ध होने के लिए निरोध का वर्णन करता हूँ।

प्रभु ने जिनको छोड़ दिया है वे संसारसागर में मग्न हैं और जिनको प्रभु ने पुष्टिमार्ग में अंगीकृत किया है वे निरन्तर (प्रभु के आनन्द को प्राप्त करके) हर्ष को प्राप्त होते हैं।

व्याख्या :

जिनको हरि ने छोड़ दिया है, वे डूब गए हैं। जिनको भगवत्स्वरूप का आनन्द (मोद) आ रहा है, उनको आनन्द ने जकड़ लिया है इसलिए आनन्द से जकड़ा हुआ व्यक्ति आनन्द ही ले रहा है और जिनको आनन्द ने छोड़ दिया है वे दु:ख के सागर में डूब गए हैं। इस बात को भूलें नहीं। श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि मैंने इस प्रकार आनन्द को ग्रहण किया है, क्योंकि आनन्द ने ही मुझे ग्रहण किया है। जिसको भगवान ने पकड़ रखा है वह किसी अन्य के द्वारा न पकड़ा जाए इसलिए मैं (श्रीमहाप्रभुजी) आपको निरोध के विषय में समझा रहा हूँ।

''निरुद्धानान्तु रोधाय निरोधं वर्णयामि ते'' - आप यह निरोध की बात सबको बताएं, इस निरोध की महत्ता सबको बताएं। भगवान स्वयं उनको पकड़ने लग जाएंगे और आप भगवान को पकड़ने लग जाएंगे। आप इस रहस्य को समझ जाएं कि हमें भगवत्कथा को जीना है, भगवत्कथा को केवल सुनना नहीं है। यदि भगवत्कथा को जी नहीं रहे तो उसको नैमित्तिक क्रम से अपनाने की आवश्यकता भी नहीं है। नित्यक्रम से भगवत्कथा को हमें सुनना है, उस पर

चिन्तन करना है; श्रवण, कीर्तन, स्मरण सब करना है। इस नित्यक्रम में आप आए तो फिर से निरुद्ध हो जाएंगे।

भगवान के साथ नहीं वरन् भगवान आपके पास विराजते हों तो संयोग और विप्रयोग के चक्रीयक्रम को आप जी सकते हैं। अर्थात् - ''यच्च दु:खं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले। गोपिकानान्तु यद्दु:खं तद्दु:खं स्यान् मम क्वचित्।। गोकुले गोपिकानां च सर्वेषां व्रजवासिनाम्। यत् सुखं.....'' इस सुख-दु:ख के नित्यचक्र को आप जी सकते हैं परन्तु यदि प्रभु साथ में नहीं विराज रहे हैं तो विप्रयोग के चक्र में भी आप जिएंगे। अत: भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि भगवत्स्वरूप, नटवरवपु होने के कारण भगवद् विप्रयोग भी भगवदात्मक है।

जैसे भगवान का संयोग भगवदात्मक है वैसे भगवान का विप्रयोग भी भगवदात्मक है तथा यह अनुभूति कि भगवान का विप्रयोग भगवदात्मक है, आपको तब होगी जब आप विप्रयोग का नित्य अनुभव करेंगे। इस नित्य अनुभव की प्रक्रिया से होगा यह कि नित्य भगवान की कथा - गुणगान करेंगे। फिर आपको नित्य भगवद्विप्रयोग का अनुभव होगा और नित्य भगवद्विप्रयोग का अनुभव हुआ तो आपको भगवदनुभूति ही हुई है।

अब डरने की कोई आवश्यकता नहीं। नित्य भगवद्विप्रयोग का अनुभव हो रहा है। जैसे नैमित्तिक भगवत्संयोग का अनुभव हो रहा है तो वह भगवत्संयोग नहीं है। नित्य के परिणाम से नैमित्तिक में कोई चमत्कार आता हो तो बहुत ही उत्तम बात है परन्तु जब आप नित्य अनुभव नहीं करना चाह रहे हैं और ''आवेशात्तु विकला'' - आवेश से विकल हैं तो फिर कोई झमेला है। आप नित्य भगवान में निरुद्ध हो जाएं, इसके लिए श्रीमहाप्रभुजी आगे की प्रक्रिया बता रहे हैं।

(प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिसिद्धयर्थं देहेन्द्रियादीनां सकलानां भगवति विनियोगः करणीयः, तेनैव च भक्तेः निरोधावस्थायां परिपाको भवतीति निरूपणम्)

प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्ति की सिद्धि के लिए हम दिशा-भ्रष्ट हो गए हैं कि दर्शन करने से पुष्टिभक्ति हो रही है। यह बात नहीं है, यह श्रीमहाप्रभुजी का सिद्धान्त नहीं है। यह तो बहुत क्षुद्र बात है। मर्यादामार्ग में दर्शन का बहुत महत्त्व है परन्तु अपने यहाँ दर्शन बहुत क्षुद्र बात है।

श्रीमहाप्रभुजी स्पष्ट कहते हैं कि भगवदीय को देहेन्द्रिय आदि का भगवद्विनियोग करना चाहिए। क्योंकि ब्रह्मसंबंध के समय आपने ऐसा नहीं कहा था कि मेरे नेत्र मैं आपको समर्पित कर रहा हूँ। ब्रह्मसंबंध के समय आपने क्या कहा था? अपनी शपथ को याद करें कि घर-बार, पुत्र, देह, इन्द्रिय, प्राण यह सब मैं समर्पित कर रहा हूँ। यहाँ आप मात्र आँख का ही समर्पण कर रहे हैं और पैसा समर्पित कर रहे हैं। केवल आँख और पैसा, थोड़ी मठड़ी जीभ के लिए - यह बहुत ही क्षुद्र समर्पण है।

आपने यह प्रतिज्ञा नहीं ली थी। आप प्रतिज्ञा को तोड़ रहे हैं। अपनी प्रतिज्ञा का पालन करें। प्रभु के सामने तुलसी हाथ में ले कर आपने जो प्रतिज्ञा की थी उसके अनुसार सभी इन्द्रियों का भगवान में विनियोग करें। यदि सभी इन्द्रियों का भगवान में विनियोग नहीं हो रहा तो भगवद्विप्रयोग का अनुभव करें, यदि भगवद्विप्रयोग का अनुभव भी नहीं होता हो अथवा भगवत्सम्बन्धी सभी इन्द्रियों से, देहेन्द्रियादि हमारे सभी क्रियाकलाप से भगवत्संयोगानुभूति नहीं हो रही है और विप्रयोग की अनुभूति भी नहीं हो रही है तो बात स्पष्ट रूप से समझ जाएँ कि भक्तिमार्ग आपके लिए नहीं है, आप भक्तिमार्ग के लिए नहीं हैं।

पुनः प्रपत्तिमार्ग में जाएँ - ''तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम, वदद्भिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मतिः'' - फिर आएँ, कथा सुनें। मनोरथ के दर्शन करने का कार्यक्रम आपका नहीं है, यह बात समझ जाएँ कि वह किसी और के लिए है। आपके लिए ''तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम, वदद्भिरेव सततं स्थेयम्'' वाला कार्यक्रम है जिसका हम पालन करना नहीं चाहते क्योंकि इसमें ''नमाज पढ़ने गए और रोजे गले पड़ गए'' जैसी स्थिति हो जाती है। इसलिए हम पहले ही उससे छुटकारा पा लेना चाहते हैं कि पूरे दिन 'श्रीकृष्णः शरणं मम' कौन बोले? इसमें बहुत झंझट है। इसलिए इस बात को ध्यान से समझ लें।

संसारावेश-दुष्टानाम् इन्द्रियाणां हिताय वै।
कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत्।।12।।
गुणेष्वाविष्ट-चित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः।
संसारविरह-क्लेशौ न स्यातां हरिवत् सुखम्।।13।।
तदा भवेद् दयालुत्वम् अन्यथा क्रूरता मता।
बाधशङ्काऽपि नास्त्यत्र तदध्यासोऽपि सिध्यति।।14।।
भगवद्धर्म-सामर्थ्याद् विरागो विषये स्थिरः।
गुणैर् हरि-सुखस्पर्शाद् न दुःखं भाति कर्हिचित्।।15।।
एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गाद् उत्कर्षो गुणवर्णने।
अमत्सरैर् अलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः।।16।।

अन्वयार्थ :

संसारावेश = संसार के आवेश से
दुष्टानां = दुष्ट हुई
इन्द्रियाणां = इन्द्रियों के
हिताय = हित के लिए

सर्व = सब
वस्तूनि = वस्तुओं को
ईशस्य = इन्द्रियों के स्वामी
भूम्नः = व्यापक
कृष्णस्य = कृष्ण को
वै = ही, **योजयेत्** = लगाना चाहिए
मुरवैरिणः = 'मुर' दैत्य के वैरी के
गुणेषु = गुणों में
सर्वदा = सदा
आविष्ट-चित्तानां = जिनका चित्त पिरोया हुआ है उनको
संसार-विरह-क्लेशौ = संसार और विरह से जनित क्लेश
न = नहीं, **स्यातां** = होता है
हरिवत् = श्रीकृष्ण की भांति
सुखं = सुख (**स्यात्** = होता है)
तदा = तब, **दयालुत्वं** = दयालुता
भवेत् = होती है, **अन्यथा** = अन्यथा
क्रूरता = क्रूरता
मता = मानते हैं, **अत्र** = यहाँ
बाधशङ्का = बाध की शंका
अपि = भी, **न** = नही, **अस्ति** = है
(यतः = क्योंकि) **तदध्यासः** = उसका भ्रम
अपि = भी, **सिध्यति** = सिद्ध होता है
भगवद्धर्म-सामर्थ्यात् = भगवान के धर्म के सामर्थ्य से
विषये = विषय में, **स्थिरः** = स्थिरता से
विरागः = वैराग्य (**भवति** = होता है)

गुणैः = गुणों से, **हरेः** = श्रीकृष्ण के
सुखस्पर्शात् = सुखद स्पर्श से
कर्हिचित् = कभी भी, **दुःखं** = दुःख
न = नहीं, भाति = अनुभव में आता है
एवं = इस प्रकार से
ज्ञानमार्गात् = ज्ञानमार्ग से
गुणवर्णने = गुण के वर्णन में
उत्कर्षो = श्रेष्ठता, **ज्ञात्वा** = जान कर
अमत्सरैः = ईर्ष्या को छोड़ कर
च = और
अलुब्धैः = लोभरहित हो कर
सदा = निरन्तर
(हरेः = हरि के **), गुणाः** = गुण
वर्णनीयाः = वर्णन करना चाहिए

भावार्थ : संसार के आवेश से दुष्ट हुई इन्द्रियों के हित के लिए सभी (इन्द्रियों सहित ऐहिक-पारलौकिक) वस्तुओं के सुखरूप और सर्वनियन्ता श्रीकृष्ण का सम्बन्ध करा के (सर्वेन्द्रिय को) उनमें लगाएँ।

मुरवैरी (प्रभु) के गुणगान में निरन्तर आविष्ट चित्तवालों को संसार और विरह का क्लेश नहीं होता, हरि की भाँति सुख होता है।

(जब गुणगान सिद्ध होता है) तब प्रभु की दया होती है। ऐसा न हो तो क्रूरता मानी जाती है। इसमें बाध की शंका भी नहीं है। निरोधमार्गीय को प्रपञ्च की विस्मृति हो जाने से अपने देहादि में प्रभु का ही अध्यास सिद्ध होता है, उसको प्रभु अपने से भिन्न स्फुरित नहीं होते हैं।

गुणगान करनेवाले भक्त को भगवद्धर्म के बल से दु:ख का कदाचित् भी भान नहीं होता। सकल ऐश्वर्यादिक गुणयुक्त प्रभु के धर्म गुणगान द्वारा अन्त:करण में प्रवेश करते हैं। उनके सामर्थ्य से प्राकृत विषय में और प्राकृतता से प्रभु में भी ऐसे धर्मविशिष्ट पुरुष का विराग रहता ही है।

इस प्रकार ज्ञानमार्ग से गुणगान में उत्कर्ष जान कर मत्सर और लोभ रहित हो कर निरन्तर गुण का ही वर्णन करना चाहिए।

व्याख्या :

इन्द्रियाँ कैसी हैं? संसार के आवेश से दुष्ट हैं। कितनी दुष्ट हैं? जैसे श्रीयमुनाजी में कालीयनाग रहता था और जिसने श्रीयमुनाजी के सारे जल को विषाक्त बना दिया था, इतना विषाक्त कि जो भी श्रीयमुनाजी के जल को पीता था वह श्रीयमुनाजी का प्रिय होने के स्थान पर यमराज को प्रिय हो जाता था। होना चाहिए था श्रीयमुनाजी का प्रिय परन्तु हो जाता था यमराज का प्रिय! अत: संसारावेश कालीयनाग जैसा है। उस कालीयनाग को नाथना है। इस कालीयनाग को नाथने के लिए आपको अपनी समूची इन्द्रियों की आसक्ति की यमुना में कृष्ण को कुदाना पड़ेगा कि इस कालीयनाग को अपना वशवर्ती बनाएं। इस कालीयनाग को नाथने पर ही आपकी भक्तिकी यमुना शुद्ध हो पाएगी। भगवदासक्तिवाली आपकी इन्द्रियों में प्रकट हुई यमुना तब शुद्ध हो पाएगी जब कालीयनाग को नाथ लेंगे।

तात्पर्य यह है कि आपकी प्रपंचविस्मृतिपूर्वकभक्ति, भगवदासक्ति का रूप ले लेगी। यदि कालीयनाग को नहीं नाथा तो आपकी इन्द्रियों में, भगवदासक्ति की यमुना में भरा हुआ कालीयनाग का विष आपको भी दूषित कर रहा है और आपके संग से अन्य सभी भगवदीयों को भी दूषित कर रहा है। यमुना किनारे रहनेवाले बेचारे पशुओं को भी दूषित कर रहा है और मनुष्यों को भी दूषित कर रहा है।

उसका उपाय यह है कि – ''कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत्'' की भाँति अपनी जीवनशैली निर्मित करें। सेवा के प्रकार को इस अन्दाज से निर्मित करें कि विशेषरूप से आपकी इन्द्रियों को, आपकी अहंता-ममता को, कहीं न कहीं किसी प्रकार से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से कृष्ण के साथ जोड़ सकें। जीभ को केवल मठड़ी से जोड़ना, आँख को मनोरथ की सजावट से जोड़ना और पैसे को थोड़ी मठड़ी खरीदने के लिए जोड़ना अत्यन्त क्षुद्र कथा है। यह भक्ति की कथा नहीं है; यह बनियागीरी की कथा है।

'लोभियों के गाँव में धूर्त लोग भूखे नहीं मरते' ऐसी कथा है। ''**गुणेष्वाविष्ट-चित्तानां सर्वदा मुरवैरिण:। संसारविरह-क्लेशौ न स्यातां हरिवत् सुखम्।।**'' – कितनी सुन्दर बात कही है श्रीमहाप्रभुजी ने ! भगवान के गुणों में जिनका चित्त आविष्ट हो गया है उनका क्या होगा? तो कह रहे हैं कि – ''संसारक्लेशो न स्यात्, विरहक्लेशो अपि न स्यात्'' – उनको संसार – क्लेश भी नहीं होता और विरह-क्लेश भी नहीं होता। भगवान के गुणों में ऐसा सामर्थ्य है।

अब इस बात के गूढ़ार्थ को समझें। संन्यासनिर्णय में भगवद्गुण को बाधक कहा है परन्तु यहाँ साधक कहा है। साधक किस प्रकार है? क्योंकि दोनों प्रकार के अधिकारियों को दृष्टिगत रख कर बात कही जा रही है। यहाँ संन्यासनिर्णय के अधिकारी के सन्दर्भ में नहीं कहा जा रहा है। वहाँ भगवद्गुण बाधक हो रहा था, यहाँ वही भगवद्गुण साधक है। वहाँ विरह को बढ़ाने की योजना है, यहाँ क्लेश नहीं होनेवाली बात है। कारण यह है कि आप नित्यक्रम से भगवद्गुणगान को जी रहे हैं, भगवद्गुणगान को आपने अपनी सेवा का भाग बना दिया है, आपकी सेवा को आपने कथा का रूप दे दिया है तो अब आपको विरह नहीं होगा और न संसार का क्लेश होगा।

''संसारविरहक्लेशौ न स्यातां'' – बहुत ही सुन्दर शब्द हैं – ''संसार क्लेशो न स्यात्, विरह क्लेशो अपि न स्यात्'',''हरिवत् सुखं'' – हरि जितना सुख होगा। आप इतने सुखी हो जाएंगे।

अब यहाँ ध्यानपूर्वक देखें कि संन्यासनिर्णय में जो भी बात कही गई थी उसे श्रीमहाप्रभुजी ने यहाँ उलट दिया है – ''तदा भवेद् दयालुत्वम्।'' – वहाँ कहा गया है कि – ''दयालु न विरुध्यते'' – आपने विप्रयोग पसंद किया तो – ''दयालु न विरुध्यते''। वे ही श्रीमहाप्रभुजी यहाँ दूसरी बात कह रहे हैं– ''तदा भवेद् दयालुत्वम्'' – यह तो प्रभु की दयालुता नहीं है, फिर तो प्रभु आप पर क्रूर हो गए। यदि आपकी इस भगवदासक्ति की यमुना में विषयासक्ति के कालीयनाग को प्रभु नहीं नाथ रहे हैं तो वे क्रूर हैं। दयालु किस प्रकार हैं और वे उसे कब नाथेंगे?

एक बार राजभोग के समय श्रीठाकुरजी के सामने छड़ी, गेंद, चोगा इस भाव से सजाएं कि एक बार गेंद को पधरा दें यार यमुनाजी में, नाथ दें उस कालीयनाग को, विषयासक्ति की गेंद को आपके द्वारा मारी गई लात के कारण वहाँ पड़े कालीयनाग को नाथने के लिए आप जा सकते हैं। कम से कम एक बार तो इस भाव से छड़ी, चोगा सजाएं। इसके बाद आप उसे नाथ सकेंगे। आप ऐसा तो कर ही नहीं रहे, आप तो किसी दूसरी ही गेंद से खेल रहे हैं, उस गेंद से आप श्रीठाकुरजी के साथ खेलना ही नहीं चाहते। जब श्रीठाकुरजी के साथ गेंद खेलना नहीं चाहते तो फिर वे क्यों आपके लिए कालीयनाग को नाथें? उनको क्या आवश्यकता है?

यदि आप उनके साथ खेलना चाहते होंगे तो गेंद को ऐसी लात मारें, ऐसा प्रहार करें कि जा कर श्रीयमुनाजी में गिर पड़े। फिर वे कालीयनाग को नाथेंगे वरना उनको क्या लेना-देना जब आपको खेलना ही नहीं। आपको खेलना है तो वे खेलने के लिए तैयार हैं। वे खेलने के लिए तैयार हैं तो आप

खेलने लग जाएंगे। अर्थात् यह खेल पारस्परिक होता है। जब पारस्परिकरूप से इसमें शामिल न हों तो खेल आगे नहीं चलता।

अब कहते हैं कि मान लें कि हमने, जैसे ऊपर कहा है वैसे किया अर्थात् विषयासक्ति को छोड़ा और भगवदासक्त हो गए और उसमें भक्ति में प्रतिबन्ध आ गया तो ? कह रहे हैं कि – ''बाधशंकापि नास्त्यत्र'' – भक्ति में बाधा नहीं हो सकती। क्यों बाधा नहीं हो सकती?''तदध्यासोऽपि सिध्यति''– जैसे आपको सांसारिक अहंता-ममता का अध्यास है, जैसे आप प्रत्येक वस्तु को अपनी समझते हैं, आपका अपना कुछ नहीं होने के बावजूद आप अपने आपको कुछ मान रहे हैं।

इसी प्रकार एक बार के लिए हरि को अपना विषय बना लें कि मैं हरि का हूँ और हरि मेरे हैं अथवा अपनी अहंता-ममता को एक बार के लिए हरि के साथ जोड़ कर इस अध्यास का भी आनन्द लें। अहंता-ममता के अध्यास को हरि के साथ परस्परसंबंध के रूप में अनुभव करें कि मैं हरि का हूँ, हरि मेरे हैं। यह अध्यास आपको सिद्ध हो गया कि मैं हरि का हूँ – ऐसी अहंता एवं हरि मेरे हैं – ऐसी ममता, यदि सिद्ध हो गई, अहंता-ममता हरि के सम्बन्ध में सिद्ध हो गई तो आपको प्रतिबन्ध किस प्रकार आ सकता है? यह अध्यास आपको सिद्ध नहीं होता। बाकी गांवभर के प्रपंच का अध्यास आपको है। हरि का अध्यास नहीं होता इसलिए यह समस्या हो रही है।

''भगवद्धर्म-सामर्थ्याद् विरागो विषये स्थिरः, न तु विरागसामर्थ्याद् भगवद्धर्म अनुरागः'' – अपनी अहंता-ममता के अध्यास को आपने ''**दासोऽहम्**'' कह कर ,'**कृष्णः मम**' कह कर भगवान के साथ जोड़ दिया तथा भगवद्धर्म की सामर्थ्य आपमें प्रकट हो गई तो उसी भगवद्धर्म के सामर्थ्य से आपको विषयों में वैराग्य स्थिर रहेगा। अब गड़बड़ नहीं होगी। इसके पीछे स्थित श्रीमहाप्रभुजी की जो सम्पूर्ण मनोवैज्ञानिक दृष्टि है, उसे

समझें। श्रीमहाप्रभुजी कहना चाहते हैं कि जो कुछ भी हमारी वृत्तियां हैं उनका जिस समय हम निरोध करते हैं तो वह हमारे समक्ष उपद्रव करती हैं।

जैसे अभी मैं आपको कह दूँ कि पीछे नहीं देखें तो पाँच, दस, बीस मिनिट में आपको किसी न किसी बहाने से, येन-केन-प्रकारेण देखने की इच्छा हो जाएगी। कारण यह है कि आँख खुली है और देखना उसका कार्य है। जब मैं निरोध के हेतु से नहीं देखने के लिए कहूँ तब मन में इच्छा हो जाएगी कि क्या है। किस बात को देखने का निषेध किया है? कोई न कोई बहाना करके किसी प्रकार आप देख लेंगे, देख लेंगे और देख लेंगे। मेरी उपस्थिति में नहीं देखेंगे तो प्रवचन पूरा होने के बाद जाने से पहले एक बार पीछे मुड़ कर देख लेंगे कि क्या चक्कर था। इस प्रकार हमारी वृत्तियाँ विद्रोह करती हैं।

हमारी सभी इन्द्रियों की वृत्तियों का जब हम निरोध करते हैं, इसके लिए श्रीमहाप्रभुजी ने 'शुष्क निरोध' शब्द का प्रयोग किया है कि जब हम शुष्क निरोध करना चाहते हैं अर्थात् एवज में कुछ न दे कर मात्र उनको रोकना चाहते हैं, तो वे निरुद्ध होती हैं। जब हम उनके लिए एवज में कुछ देते हैं कि भाई, इसे नहीं, उसे देखें तो फिर आप वृत्तियों का निरोध नहीं कर रहे वरन् उनका एक उच्च स्तर पर विशेष ऊर्ध्वीकरण कर रहे हैं। फिर वे उपद्रव नहीं करतीं।

इसका कारण यह है कि देखना उनका स्वभाव है। आप नेत्रों को कहेंगे कि नहीं देखना है तो कुछ न कुछ अवश्य देखेंगे। श्रवणेन्द्रिय का स्वभाव है सुनना परन्तु यह कह दिया कि नहीं सुनना है तो कुछ न कुछ जरूर सुनेंगे। इसलिए हमें उनको बताना है कि क्या सुनना, क्या देखना, क्या सूँघना। इत्र सूँघने के लिए कौन मना करता है लेकिन एक बार उस इत्र की डिबिया में अँगुली डाल कर श्रीठाकुरजी के चरणारविन्द में लगा कर इत्र सूँघें तो बहुत आनन्द आएगा। सुगन्ध से पूरी तरह आनन्दित हो जाएँगे। इस प्रकार सुगन्ध

आपको मिल जाएगी परन्तु आप जब यह कहेंगे कि सूँघना नहीं है तो चोरी-छुपे सूँघने की इच्छा होगी।

कभी परफ्यूम लगा लेते हैं, कभी कुछ लगा देते हैं। एक बार यदि अपने प्रभु के चरणार्विन्द में इत्र लगा कर सूँघ लें और उसी इत्र को स्वयं पर लगा लें तो आपत्ति की कोई बात नहीं है। आपको सूँघने को मिलेगा, आपको देखने को मिलेगा, आपको खाने को मिलेगा, आपको सब मिलेगा परन्तु उसका निरोध करने से उसके अधिष्ठाता देवता शुद्ध हो जाते हैं और शुद्ध हो कर वे विक्षेप करते हैं - श्रीमहाप्रभुजी के कहने का आशय यह है। इसलिए उनको हमेशा एक दिशा प्रदान करें, उनको रोकें नहीं।

यह एक तरफ की बात है जैसे बहता पानी होता है। बहते पानी में आपने बाँध बनाया तो बाँध बनाने से पानी रुक नहीं जाता, अन्तर इतना ही आता है कि समतल बहनेवाला पानी ऊर्ध्वगामी हो कर बहने लगेगा, ऊँचाई से बहने लगेगा। ऊपर बढ़ने से किसी दिन दीवार से पानी छलक आया तो बाँध भी टूट जाएगा और गाँव में भी सत्यानाश हो जाएगा। इसके लिए जब भी बाँध बनाते हैं तब हमें बाँध में एक दरवाजा भी बनाना पड़ता है। जब दरवाजा बनाते हैं तो एक नहर भी बनानी पड़ती है और उसमें से पानी की सतत जावक का केवल इतना ही हिसाब हम रखते हैं कि पानी की जावक से हमें पानी की तंगी भी न हो तथा पानी किसी प्रकार से बढ़ कर बाँध की दीवार को लाँघ भी न जाए। इसी प्रकार की कोई पद्धति श्रीमहाप्रभुजी हमें समझाना चाहते हैं कि जो हमारी इन्द्रियों की वृत्तियाँ हैं, इन्द्रियों की आसक्ति है उनके आवेग पर व्यर्थ बाँध न बनाएँ। उन पर संयम अथवा नियम का बाँध आपने गलत ढंग से बांधा तो वह टूट जाएगा।

कारण यह है कि द्वापर में, त्रेता में, सतयुग में इन्द्रियां नहीं संभाली जा सकीं तो कलियुग में आपसे क्या संभाली जा सकेंगी। उनको भगवद्विनियोग

की प्रणाली से ''गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना, गङ्गात्वे न निरूप्या स्यात् तद्वद्अत्रापि चैव हि'' वाली विनियोग की प्रणाली से यदि आपने खड़ा किया तो उसमें आपका नियंत्रण भी आ जाएगा और न किसी नुकसान अथवा नाश की संभावना रहेगी। यह बात श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि ''बाधशंकापि नास्त्यत्र तदध्यासोऽपि सिध्यति'' अर्थात् पानी को रोक भी पाएंगे और पानी को छोड़ने की भी आपके पास एक पद्धति प्रकट हो रही है। अत: अपनी इन्द्रियासक्ति में सेवा की, कथा की एक नहर बनाएँ जो आपको भगवान तक पहुँचा सके। सेवा-कथा की कोई पद्धति है तो वह यह है कि आपकी इन्द्रियासक्ति में संयम के बांध के टूटने की जो नौबत आ रही थी वह टूटने के स्थान पर, सेवाकथा की नहर की प्रणाली से, आपको भगवान के साथ जोड़नेवाली एक शक्ति बन जाएगी।

सेवा-कथा इस प्रकार की हमारी एक नहर है जो हमारी इन्द्रियों की आसक्ति के प्रबल वेग को नियंत्रण के अन्दर बहने देने की एक पूरी योजना है। इसके लिए कहते हैं कि - ''भगवद्धर्मसामर्थ्याद् विरागो विषये स्थिर:'' - ऐसी नहर में बहनेवाला पानी उल्टा-सीधा नहीं जाएगा, जहाँ आप ले जाना चाहते हैं वहाँ जाएगा, इधर-उधर नहीं जाएगा। क्योंकि अब आपने सेवात्मिका-कथात्मिका नहर की प्रणाली विकसित की है, उसको आपने बहुत समृद्ध बनाया है, उसे स्वनियंत्रण की योजना के अन्तर्गत समृद्ध बनाया है। अत: वह निरर्थक नहीं जाएगी, आपकी सेवात्मिका-कथात्मिका प्रणाली व्यर्थ नहीं जाएगी और आप छलक भी नहीं जाएंगे। इस तरह आप उसको नियंत्रित कर पाएंगे। ठीक वही प्रणाली यहाँ श्रीमहाप्रभुजी स्थापित करना चाहते हैं।

''गुणैर् हरिसुखस्पर्शात् न दु:खं भाति कर्हिचित्'' - भगवान् आपको सानुभाव न जताते हों तो न जताएँ, कोई चिन्ता की बात नहीं है। आप भगवान

से, भगवान के गुणों से जुड़े हुए रहेंगे। इस गुणगान की प्रक्रिया से जब आपने भगवान के गुण गाए तो आप भगवान से जुड़े हुए ही हैं। वह स्वयं अर्थात् गुणगान आपको कभी भी सताएगा नहीं। ''एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गाद् उत्कर्षो गुणवर्णने'' - इस ज्ञानमार्ग से भक्तिमार्ग का कुछ उत्कर्ष है और यह रहस्य इस बात में छुपा हुआ है। यहाँ देखें कि श्रीमहाप्रभुजी कितने सावधान हैं- ''अमत्सरैर् अलुब्धैश्च वर्णनीया: सदा गुणा:।''

अरे यार! उस (गुणगान) को अपनी आजीविका न बनाएँ। यह गुणगान भी एक आजीविका? तो फिर सब चौपट। ''**जिस जगह से ले चला था राहबर, हम वहीं आए फिर घूमके। आ गया सीमाब जाने क्या ख्याल, ताक पर रख दी सुराही चूमके**'' - यह क्या परेशानी है यार - सेवा देखें तो आजीविका, कथा देखें तो आजीविका। श्रीमहाप्रभुजी स्पष्ट मनाही कर रहे हैं। ''अमत्सरैर् अलुब्धैश्च वर्णनीया'' - अपने हृदय को झकझोर कर देखें। यदि आपको कोई लोभ उत्पन्न हो रहा है, मात्सर्य उत्पन्न हो रहा है तो उस गुणगान और सेवा के चक्कर में न पड़ें यार। अष्टाक्षर जपें - ''**तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्ण: शरणं मम।**'' जब आपका हृदय स्वस्थ हो जाए कि अब आपको कोई मात्सर्य नहीं है, अब आपको कोई रोग नहीं है तब गुणगान की प्रक्रिया में आनन्द से लीन हो जाएँ, फिर सेवा की प्रक्रिया में आनन्द से लग जाएँ।

ये लोभ और मात्सर्य दोनों भक्ति के महान शत्रु हैं। उनके लिए श्रीमहाप्रभुजी ने गुणगान की प्रक्रिया बताई और अब सभी इन्द्रियों को भगवान में किस प्रकार प्रवृत्त करना उसके लिए एक प्रायोगिक प्रक्रिया बता रहे हैं कि मन को किस प्रकार भगवान से युक्त करना।

(देहेन्द्रियादीनां सकलानां भगवति विनियोगेनैव तेषु भगवद्व्यसनं सिध्यति येन च प्रापञ्चिकविषयेषु संसारासक्ति: च क्षीणा भवत्येव)

सभी देहेन्द्रियादि का भगवान में विनियोग करने से भगवद्व्यसन सिद्ध होता है जिससे सांसारिक विषयों में आसक्ति भी क्षीण होती है।

हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि।
दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तथा कृति-गती सदा।।17।।
श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः।
पायोर्मलांशत्यागेन शेषभागं तनौ नयेत्।।18।।
यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते।
तदा विनिग्रहस् तस्य कर्तव्यः इति निश्चयः।।19।।

अन्वयार्थ :

हरिमूर्तिः = श्रीकृष्ण के स्वरूप का
सदा = निरन्तर, **हि** = निश्चितरूप से
ध्येय = ध्यान करना (चाहिए)
संकल्पात् = संकल्प से
तत्र = वहाँ (**मूर्तो** = मूर्ति में)
सदा = सदा, **दर्शनं** = दर्शन
स्पर्शनं = स्पर्श
स्पष्टं = स्पष्ट होता है, **तथा** = और
कृति-गती = कृति और गति
श्रवणं = श्रवण
कीर्तनं = कीर्तन, **अपि** = भी
स्पष्टं = स्पष्टरूप से
(भवति = होता है **)**
कृष्णप्रिये = श्रीकृष्ण के प्रिय
पुत्रे = पुत्र में, **रतिः** = स्नेह

पायोः = पायु इन्द्रिय से
मलांशत्यागेन = मल का त्याग करके
शेषभागं = शेष रहे, **तनौ** = शरीर में
नयेत् = प्राप्त करना (चाहिए)
यस्य = जिसका, **वा** = भी, **यदा** = जब
भगवत्कार्यं = प्रभु सम्बन्धी कार्य
स्पष्टं = स्पष्टरूप से
न = नहीं, **दृश्यते** = दिखाई दे
तदा = तब, **तस्य** = उसका
विनिग्रहः = विशेषरूप से निग्रह
कर्तव्यः = करना
इति = यह, **निश्चयः** = निश्चय है

भावार्थ : श्रीहरि के स्वरूप का ध्यान सदैव करते रहना चाहिए। क्योंकि भावमात्र से हृदय में प्रकट हुए उस भगवत्स्वरूप का दर्शन और स्पर्श तो स्पष्ट होता है। इसी प्रकार (हाथ से कार्य) करना, (पैर से) चलना, श्रवण करना, कीर्तन करना भी स्पष्ट होते हैं। श्रीहरि के प्रिय ऐसे पुत्रादि में प्रीति करना, पायु इन्द्रिय का जो मलांशत्याग का धर्म है उसे छोड़ कर शेषभाग शरीर का ही है – ऐसा समझना चाहिए।

जिन-जिन इन्द्रियों का भगवत्कार्य स्पष्ट नहीं दिखाई देता उन-उन इन्द्रियों का निग्रह निश्चय रखना चाहिए।

व्याख्या :

यदि आपके माथे भगवत्स्वरूप विराजते हैं तो मालाजप करना चाहिए तथा उस स्वरूप का ध्यान करते हुए माला फेरनी चाहिए। अष्टाक्षर या पंचाक्षर

की माला फेरनी चाहिए। अष्टाक्षर की माला फेरते समय अपने माथे विराजते स्वरूप के चरणारविन्द का ध्यान करते हुए और पंचाक्षर की माला फेरते समय अपने माथे विराजते श्रीठाकुरजी के मुखारविन्द का ध्यान करते हुए माला फेरनी चाहिए। जब आप सेवा के अनवसर में कीर्तन गा रहे हैं तो अपने माथे विराजते श्रीठाकुरजी के मुखारविन्द का ध्यान करते हुए कीर्तन गाएँ। इस प्रकार कीर्तन गाएंगे तो – ''हरिमूर्तिः सदा ध्येया।''

अब आप कहेंगे कि जिस हरिमूर्ति का ध्यान करने के लिए कह रहे हैं वह मूर्ति आएगी कहाँ से? तो श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि आपने संकल्प किया है कि मेरा ठाकुर यह है तो वह नृसिंहजी की भाँति खम्भा फाड़ कर प्रकट हो सकता है। भगवान खम्भे में घुसे हुए नहीं थे। क्या खम्भा खोखला था? खोखला भी नहीं था, वह तो ठोस था। समूचे ठोस खम्भे से नृसिंहजी किस प्रकार प्रकट हुए?

कहते हैं – ''संकल्पादपि तत्रहि'' – जब आपने ऐसा संकल्प किया कि गुणगान करना है, जब आपने संकल्प किया कि सेवा करनी है – आपके घर में श्रीठाकुरजी विराज रहे हैं और आप कह रहे हैं कि हमारा तो संकल्प ही नहीं कि हमारे घर में विराजें क्योंकि हमारे घर में तो पुरुषोत्तम विराजते ही नहीं, हमारे घर में तो बिना ठौर-ठिकाने के ठाकुरजी विराजते हैं – तो यार! आपका संकल्प ही झूठा है। आप झूठा संकल्प करेंगे तो कहाँ से विराजेंगे? मुश्किल यह हो जाती है।

हम गुणगान करते हैं तो प्रभु तो प्रकट ही नहीं होते क्योंकि हम तो कोई बड़े परमभगवदीय, बापा-बापी, शास्त्री, गोस्वामी बालक आदि गुणगान करें तो ही भगवान प्रकट हुए मानते हैं! आप भटक गए हैं – यह बात समझ जाएँ। क्योंकि आपके भीतर का संकल्प डगमगा गया है। अपने संकल्प को, भक्ति के संकल्प को इतना दृढ़ बनाएँ कि आप गुणगान कर रहे हैं इसलिए प्रभु आपके

पास हैं, आप सेवा कर रहे हैं तो प्रभु आपके पास उपस्थित हैं।

''दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं'' – श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि तुम्हें क्या समझाऊँ कि दर्शन किस प्रकार होंगे, स्पर्शन किस प्रकार होगा? आँख खोली तो अपने माथे विराजते श्रीठाकुरजी के दर्शन-स्पर्शन स्पष्ट हो जाते हैं। हवेली में स्पर्श कैसे करेंगे? किसको करेंगे – झापटिया को या समाधानी को? श्रीमहाप्रभुजी क्या कह रहे हैं और जो कुछ कह रहे हैं, स्पष्ट कह रहे हैं। हम उसको अस्पष्ट समझ रहे हैं।

''दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं'' – आप पुरुषोत्तम को स्पर्श कर सकते हैं, साक्षात् स्वयं परमात्मा को स्पर्श कर सकते हैं। साक्षात् तब स्पर्श कर पाएंगे जब आपका संकल्प हो कि यह परमात्मा है। तब आप परमात्मा को स्पर्श कर सकते हैं, तब आप परमात्मा को देख सकते हैं। श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि इसमें किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। कैसे शब्दों का प्रयोग किया है – ''तथा कृतिगती सदा'' – श्रीठाकुरजी आपके घर में विराज रहे हैं। आपने थोड़े अपने हाथ हिलाए तो श्रीठाकुरजी की सेवा-संबंधी आपकी क्रिया प्रकट हो गई। थोड़े पैर हिला कर, बेडरूम से चल कर श्रीठाकुरजी के रूम में जाएँ। बेडरूम, ड्राईंगरूम और श्रीठाकुरजी का कमरा अलग न हो कर एक ही हो तो जिस कोने में श्रीठाकुरजी विराजते हों उस कोने तक एक-दो कदम तो चलें। आपके पैर श्रीठाकुरजी की सेवा में लग गए।

''श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं'' – श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि अब भी स्पष्ट बता दो कि क्या सप्ताह-कथा सुनने जाना है, जहाँ कोई बापा सुना रहे हैं, वहाँ सुनने जाना है? अरे – आपके घर में सारी वस्तुएँ उपलब्ध हैं। ''श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः'' – यह थोड़ी अस्पष्ट बात थी इसलिए श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि भाई, पुत्रोत्पत्ति भी इस भाव से करें कि आपको सेवा में एक सहयोगी मिल जाए। यह थोड़ी समझने जैसी बात है, स्पष्ट बात नहीं। क्योंकि आपको

लगेगा कि यह किस प्रकार कर सकते हैं? सारी इन्द्रियों का भगवान में विनियोग किस प्रकार हो सकता है? सभी इन्द्रियों का भगवान में विनियोग हो सकता है, यदि एक बार के लिए आपने यह भावना रखी कि सेवा में मुझे अपना उत्तराधिकारी चाहिए, इस कारण से पुत्र चाहिए। इस प्रकार यह थोड़ी अस्पष्ट बात थी। इसलिए श्रीमहाप्रभुजी ने स्पष्ट नहीं कहा, बाकी जो स्पष्ट कहा है उसको तो स्पष्ट समझें। हम जान-बूझ कर अस्पष्टता बनाए रखें तो बेचारे श्रीमहाप्रभुजी क्या करें? वाणीपति भी अपनी वाणी को कुण्ठित समझेंगे कि क्या करूँ यार, स्पष्ट कहता हूँ और तुम स्पष्ट नहीं समझो तो जाऊँ कहाँ? कठिनाई यह है।

''पायोर्मलांशत्यागेन शेषभागं तनौ नयेत्'' - जब आप मलत्याग करके सेवा के लायक शुद्ध हो रहे हैं तो आपकी पायु इन्द्रिय भी भगवत्सेवा में विनियुक्त हो गई। क्योंकि कोई इन्द्रिय ग्रहणात्मिका होती है और कोई इन्द्रिय ग्रहणात्मिका नहीं होती। कोई इन्द्रिय साक्षात् भगवद्ग्रहणात्मिका होती है और कोई इन्द्रिय साक्षात् भगवद्ग्रहणात्मिका नहीं होती। अतः अपनी इन्द्रियों को भगवत्प्रसाद ग्रहणात्मिका बनाएँ। जो इन्द्रिय ग्रहणात्मिका नहीं, विसर्जनात्मिका है तो उसके विसर्जन में कुछ ऐसा अनुसंधान करें कि मैं स्वस्थ हो कर सेवा करूँगा, मलसहित क्यों सेवा करूँ, निर्मल हो कर सेवा करूँगा। विसर्जन इन्द्रिय में इस प्रकार का भगवद्विनियोग तलाश लें। कुल मिला कर इतनी ही बात कहनी है।

''यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते, तदा विनिग्रहस् तस्य कर्तव्यः इति निश्चयः'' - जिस वस्तु का आप भगवद्विनियोग नहीं खोज सकते उस पर नियंत्रण करने का प्रयास करें। आप जब इस प्रकार से जिएंगे तो आप धीरे से देखें कि आपकी भक्ति निरोधावस्था में परिपक्व हो रही है या नहीं? निरोधावस्था का रंग ले रही है या नहीं? यदि आपने इस प्रकार से अपनी

जीवनशैली भक्ति की बनाई, इस प्रकार से आपने भक्ति को नित्यक्रम के रूप में अपने जीवन में स्थान दिया तो श्रीमहाप्रभुजी एकदम स्पष्ट बात कहते हैं।

(भक्तेः निरोधावस्थायां परिपाकाद् उत्कृष्टतरं पुष्टिमार्गे न किमपि सम्भवति)

भक्ति की निरोधावस्था से उत्कृष्टतर, पुष्टिमार्ग में अन्य कोई सिद्धि सम्भव नहीं है। दूसरे लोग दुनिया में अन्य जो कुछ भी समझा रहे हैं, वे बेवकूफ बना रहे हैं।

मन से स्वस्थ रहें। भक्ति के माध्यम से आपने अपनी सभी इन्द्रियों को भगवान में विनियुक्त करने की जीवनप्रणाली विकसित कर ली तो आपकी भक्ति रूपी यमुना में अवस्थित कालिय नाग को कृष्ण ने नाथ लिया है और जब नाथ लिया है तब तो -

नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः।
नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम्।।20।।

अन्वयार्थ :

अतः = इससे, **परतरः** = श्रेष्ठ
मंत्रः = मंत्र, **न** = नहीं
(अस्ति = है) **अतः** = इससे
परतरः = श्रेष्ठ, **स्तवः** = स्तुति
न = नहीं (**अस्ति** = है)
अतः = इससे, **परतरा** = श्रेष्ठ
विद्या = विद्या
न = नहीं, **(अस्ति** = है), **अतः** = इससे
परात्परं = श्रेष्ठतम, **तीर्थं** = तीर्थ

न = नहीं (**अस्ति** = है)

भावार्थ : इससे श्रेष्ठ मंत्र, स्तोत्र, विद्या और तीर्थ कोई नहीं है।

व्याख्या :

इससे बड़ा कोई मंत्र नहीं, इससे बड़ा कोई स्तोत्र नहीं, इससे बड़ी कोई विद्या नहीं, इससे अधिक दुनिया में कुछ नहीं है - यह बात श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं। कारण क्या है? ध्यान से समझें। भगवान व्रज में अवतीर्ण नहीं हुए हैं। आपके यहाँ पुनः अवतीर्ण हो गए और इस प्रकार के भगवान प्रत्येक पुष्टिजीव के घर में अवतीर्ण हो गए। बस, इस प्रकार व्रजभावना को अपने घर में जीना शुरू कर दें। आप व्रजभावना को नहीं जी रहे इसलिए व्रजाधिप आपके यहाँ प्रकट नहीं हो रहे।

आप अपने हृदय में व्रजभक्तों को नहीं जी रहे इसलिए व्रजाधिप आपके घर में प्रकट नहीं हो रहे हैं। एक बार इस व्रजभावना को, एक बार व्रजभक्तों की स्थिति को, अवस्था को आप जीना शुरू कर दें तो व्रजाधिप आपके घर में प्रकट हो गए। यह सारी कथा यहाँ आ कर आपकी चरमसीमा तक पहुँच गई है। ''नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः'' ''**तब ता दिन तें वे लोग सुख संपति न तजे, सुनि सूर सबन् की ये गति जो हरिचरण भजे**'' - यह बात श्रीमहाप्रभुजी कहना चाह रहे हैं।

कहीं भटकने की आवश्यकता नहीं है, कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है। सदैव अपने घर में, अपने पास, अपने हृदय में प्रभु उपलब्ध हैं। एक बार इस निरोध की स्थिति को समझें और एक बार यह भी ध्यान से समझें कि इस प्रकार से जीना कठिन नहीं बल्कि बहुत सरल है। किसी के बाप की ताकत नहीं थी कि इतनी सरल पद्धति हमें भगवान के पास पहुँचने की बता सके। श्रीमहाप्रभुजी ने इतनी सरल पद्धति बताई है जिसमें न किसी पुरोहित का

व्यवधान है, न किसी पण्डा का व्यवधान है, न किसी पण्डित का व्यवधान है। मात्र व्यवधान है तो वह है आपके मानने का, आपकी स्वीकृति का। आप श्रीमहाप्रभुजी की इस पद्धति को, इस उपदेश को स्वीकार कर रहे हैं अथवा नहीं, इस बात का व्यवधान है। प्रभु से आप एक बार जुड़ जाएंगे, समर्पित जीवनशैली स्वीकार कर लेंगे तो आपके सभी व्यवधान दूर हो रहे हैं।

बस, उसी क्षण अन्य सभी अन्तरपट हट रहे हैं और एक हस्तमिलाप हो रहा है। वह अन्तरपट आपके स्वीकार का, आपकी कबूलात का अन्तरपट है। वर-वधू के बीच से, स्वामी-सेवक के बीच से इस अन्तरपट को हटाएंगे तो हस्तमिलाप जल्दी होगा। वह अन्तरपट हटाने के लिए आपमें जो उत्सुकता होनी चाहिए, बस उस उत्सुकता की आवश्यकता है। फिर अन्य कोई भी पदार्थ इससे श्रेष्ठतर नहीं रह जाएगा; कहीं भटकने की आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार हमने संक्षेप में निरोधलक्षण को समझा।

।। इति श्रीवल्लभाचार्यप्रकटितं निरोधलक्षणम् सम्पूर्णम्।।

॥ सेवाफलम् ॥

निरोधलक्षण ग्रन्थ के पश्चात् सेवाफल में यथानिर्दिष्ट प्रकार से सेवा करनेवाले व्यक्ति को कैसा फल प्राप्त होगा, वह श्रीमहाप्रभुजी बता रहे हैं। सेवा में फल की तीन अवस्थाएँ श्रीमहाप्रभुजी बता रहे हैं।

(सेवायां फलत्रयं :- अलौकिकसामर्थ्य [क] सायुज्य[ख] सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु[ग])

सेवा में तीन प्रकार के फल हैं, सेवा के तीन प्रकार के फल नहीं हैं कि सेवा करने के बाद तीन फल मिलेंगे। सेवा करते-करते हमें तीन फल किस प्रकार के मिल सकते हैं अथवा तीन में से कौनसा एक फल मिल सकता है? सेवा में तीन फल हैं - अलौकिक सामर्थ्य, सायुज्य और वैकुण्ठादि में सेवोपयोगिदेह। अलौकिक सामर्थ्य 'क' से, सायुज्य 'ख' से और सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु 'ग' से चिह्नित है।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते।
अलौकिकस्य[क] दाने हि चाद्यः सिध्येन् मनोरथः।।1।।
फलं[ग] वा ह्यधिकारो[ख] वा न कालोऽत्र नियामकः।

अन्वयार्थ :

यादृशी = जिस प्रकार की
सेवना = सेवा, **प्रोक्ता** = कही गई
तत्सिद्धौ = उसकी सिद्धि होने पर
फलम् = फल
उच्यते = कहा जाता है
अलौकिकस्य = अलौकिक के

दाने = दान में, **हि** = तो
आद्यः = पहला, **च** = और
मनोरथः = मनोरथ
सिध्येन् = सिद्ध होता है
फलं = फल
वा = भी (**भवतु** = होता है)
अधिकारः = अधिकार
वा = अथवा, **अत्र** = यहाँ
कालः = काल,
नियामकः = नियामक
न = नहीं
हि = ही (**भवति** = होता है)

भावार्थ : जैसी सेवा (मैंने) कही है वैसी सेवा सिद्ध हो तब उससे होनेवाले फल को इस ग्रन्थ में कहते हैं। अलौकिक का दान हो तब आद्य (मुख्य फलरूप) मनोरथ सिद्ध होता है। फल सिद्ध होने अथवा अधिकार सिद्ध होने में काल नियामक नहीं है अर्थात् काल की अपेक्षा नहीं है।

व्याख्या :

यहाँतक अर्थात् यमुनाष्टक से ले कर निरोधलक्षण तक जो मैंने (श्रीमहाप्रभुजी ने) सेवा का प्रकार बताया है, उस प्रणाली के अनुसार यदि आप सेवा कर रहे हैं तो उसका फल कहा जा रहा है। यदि आप कहते हैं कि हम सेवा कर ही नहीं रहे तो श्रीमहाप्रभुजी कैसे बताएंगे कि फल क्या है? सेवा करेंगे तो आपको फल का पता चलेगा।

''अलौकिकस्य दाने हि चाद्य: सिध्येन् मनोरथ:'' – यमुनाष्टक में जो मनोरथ ले कर सेवा में चले थे – ''ममास्तु तव सन्निधौ तनुनवत्वमेतावता न दुर्लभतमा रतिर् मुररिपौ मुकुन्दप्रिये'' – यह आद्य मनोरथ कि आपके सान्निध्य से मुझे तनुनवत्व प्राप्त हो जाएगा और मुकुन्दप्रभु में रति हो जाएगी अर्थात् अलौकिकसामर्थ्य का जो आद्य मनोरथ है वह सिद्ध हो जाएगा। इस षोडशग्रन्थ का क्रम श्रीमहाप्रभुजी ने निर्धारित किया हो या नहीं परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि यमुनाष्टक प्रथम और सेवाफल अन्तिम ग्रन्थ है। षोडशग्रन्थ के शेष सभी ग्रन्थ, इन दोनों ग्रन्थों के मध्य आनेवाले ग्रन्थ हैं।

श्रीमहाप्रभुजी ने उपदेशात्मक विधि से कोई ग्रन्थ पहले लिखा है या कोई ग्रन्थ बाद में लिखा है अथवा लीला के प्रकार से कोई ग्रन्थ पहले लिखा या कोई ग्रन्थ बाद में लिखा है। हम जानते ही हैं कि अन्त:करणप्रबोध श्रीमहाप्रभुजी का सम्भवत: अन्तिम ग्रन्थ है। शिक्षाश्लोकी भी अन्तिम ग्रन्थ है। स्वाभाविकरूप से सेवाफल ग्रन्थ विष्णुदास छीपा को उपदिष्ट बहुत पहले का ग्रन्थ है परन्तु श्रीमहाप्रभुजी के अन्त:करण में यह उपदेश कहीं पूर्वयोजित तो था ही। इस बात को समर्थन यहाँ से मिलता है कि – ''आद्य सिध्येन् मनोरथ:।'' आद्य अर्थात् श्रीयमुनाजी के सम्पर्क में आने से हमें जो मनोरथ हुआ था– ''ममास्तु तव सन्निधौ तनुनवत्व'' – वह तनुनवत्व सिद्ध हो जाएगा।

अब देखें, 'ग' – सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु और 'अधिकारो' 'ख' अर्थात् सायुज्य। 'ख' से तात्पर्य है – ''फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोऽत्र नियामक:'' – इसमें काल नियामक नहीं, कृष्ण ही नियामक हैं। पुष्टिप्रभु अलौकिक का दान करेंगे तब आपका तनुनवत्व सिद्ध होगा। जैसे काशीवाले सेठ को सिद्ध हुआ था। इसी प्रकार वार्ताओं में अनेक भगवदीयों को जो तनुनवत्व का दान सिद्ध हुआ था वह आपको भी सिद्ध हो जाएगा। तनुनवत्व का हम संक्षेप में यह अर्थ समझ सकते हैं कि इसी तनु में इस प्रकार का

नवीनीकरण कि जिसके कारण हम विषयों के स्थान पर कृष्ण का आनन्द ले सकें। इस प्रकार का कोई तनु का नवीनीकरण अर्थात् अलौकिकसामर्थ्य आपको सिद्ध हो जाएगा परन्तु इसमें काल नियामक नहीं है, कृष्ण नियामक हैं। कृष्ण के द्वारा दान से सब सिद्ध होगा।

सायुज्य का अधिकार इसलिए कहा कि यह सायुज्य ज्ञानमार्गीय सायुज्य नहीं है, सेवा के अधिकाररूप सायुज्य है। अत: सायुज्य के बाद सेवा का अधिकार मिलेगा और जो वैकुण्ठादि में सेवोपयोगिदेह बताया है वह अधिकार नहीं है, वह तो फल ही है। अलौकिकसामर्थ्य से वह फल आपको देहोत्तर अर्थात् देहत्याग के पश्चात् भी निरन्तर रहता है।

इसके अनेक अर्थ लिए जाते हैं। जिस भी अर्थ में लेना चाहें, ले सकते हैं परन्तु जिस अर्थ में भी लेना हो, उसमें सेवा अधिकाररूप है और यह सेवोपयोगिदेह वैकुण्ठादि में सेवारूप है। इस प्रकार जो सेवारूप है वह तो फल है और जो सेवा अधिकाररूप है, वह थोड़े विप्रयोग के पश्चात् सेवा का अधिकार है। मैं कह रहा हूँ कि सेवोपयोगिदेह वैकुण्ठादि में मिल रही है तो फिर आगे भी आपकी सेवा ही जारी है। यदि देहोत्तर सेवोपयोगिदेह वैकुण्ठ में आपको नहीं मिल रहा तो आपको सायुज्य मिल रहा है। अब वह सायुज्य, सेवोपयोगिदेह के अधिकाररूप है। सेवोपयोगिदेह का वह सायुज्य, अधिकाररूप हो जाएगा।

(सेवायां प्रतिबन्धकत्रयम् उद्वेग:[च] प्रतिबन्धो[छ] भोगो[ज] वा। त्रयाणां साधनपरित्याग: कर्तव्य: भोगो द्विविध: – लौकिक:[ज/1] अलौकिक:[ज/2] च। तत्र लौकिकस् त्याज्यएव; अलौकिकस्तु फलानां मध्ये प्रथमे[क] प्रविशति। प्रतिबन्धोऽपि द्विविध: – साधारणो[छ/1] भगवत्कृत:[छ/2] च। तत्र अद्यो[छ/1] बुद्धया त्याज्य: भगवत्कृत: चेत् प्रतिबन्ध:[छ/2] तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यम्। तदा अन्यसेवापि

व्यर्था। तदा ''आसुरोऽयं जीवः'' इति निर्धारः। तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यं शोकाभावाय इति विवेकः। उद्वेगनिवारणोपायाः नवरत्नएवोपदिष्टाइति नात्र पुनरुच्यन्ते)

बस मुझे तो यह देख कर आनन्द आता है कि इतनी रामायण हो जाने के बाद भी श्रीमहाप्रभुजी कितने सजग हैं, कितने प्रयासरत हैं कि अब भी उनको लग रहा है कि पुनः बात को स्पष्ट करूँ कि इस सेवा में जैसे तीन फल हो सकते हैं वैसे ही इसमें तीन प्रतिबन्धक भी हो सकते हैं।

उद्वेग सेवा में किस प्रकार प्रतिबन्धक है? नवरत्न का स्मरण करें - भक्ति को निरस्त करनेवाला होने के कारण उद्वेग प्रतिबन्धक है। भोग किस प्रकार प्रतिबन्धक है? आपकी अहंता-ममता का भगवान में समर्पण निरस्त करनेवाला होने के कारण। इस रहस्य को भलीभाँति समझ जाएँ कि आपके स्नेहभाव अथवा रतिभाव का खण्डन उद्वेग करता है। जो आपका सेवाभाव है उसको प्रतिबन्ध खण्डित करता है और जो आपकी अहंता-ममता के समर्पण का भाव है उसे भोग की वृत्ति खण्डित करती है। किसलिए?

''न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणं, तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम्'' ''असमर्पितवस्तूनां तस्माद् वर्जनमाचरेत्'' - भोग अहंता-ममता के समर्पण को खण्डित करता है। यदि आप यथोपदिष्ट प्रकार से सेवा नहीं निभा सकते तो सेवा में ये तीन प्रतिबन्धक उत्पन्न हो सकते हैं। संभव है कि आप उद्वेग को उत्पन्न कर लेंगे अथवा आप कोई प्रतिबन्ध उत्पन्न कर लेंगे अथवा आप सेवा में भोग उत्पन्न कर लेंगे। जैसे हमने मठड़ी, मोहनथाल, लड्डू आदि के रूप में भोग खड़ा कर दिया, यह भोग का प्रतिबन्ध है।

कारण यह है कि हमारी अहंता-ममता आड़े आ गई। जैसे हमने मरजाद, कुआँ आदि बड़े-बड़े मापदण्ड सेवाहेतु निर्धारित कर लिए जो सेवा में

हमसे निभते नहीं हैं। सेवा का एक इस प्रकार का आभास बढ़ा दिया है कि इतना बड़ा सेवाक्रम कैसे निभेगा? इस प्रकार से उद्वेग को बढ़ाया गया। सेवा में उद्वेग बढ़ा कर हमने सेवा में प्रतिबन्ध खड़ा कर दिया। सेवा निभाने के लिए यहाँ-वहाँ से भीख मांगें, इस प्रकार उद्वेग उत्पन्न करके सेवा में प्रतिबन्ध खड़ा कर दिया। सेवा का ऐसा निस्सार, नितान्त अव्यावहारिक स्वरूप स्वाभाविक रूप से सेवा में प्रतिबन्ध कर देगा। जब हम सेवा को अव्यावहारिक बनाएंगे तो उसकी ब्योरेवार छानबीन करनी पड़ेगी जो अभी के सत्र में तो मुश्किल है, जब कभी करेंगे तब करेंगे।

''त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्यः'' - सेवा करनी है तो उस समय उद्वेग के साधन, प्रतिबन्ध के साधन, भोग के साधन छोड़ दें तो आपके उद्वेग, प्रतिबन्ध और भोग खत्म हो जाएंगे। उद्वेग, प्रतिबन्धरहित सेवा स्वतः अलौकिकसामर्थ्य, सायुज्य और सेवोपयोगिदेहरूप हो जाएगी। यदि उद्वेग, प्रतिबन्ध और भोगसहित सेवा है तो वह फल में नहीं खिल सकेगी। इसे फल के रूप में फलित होने देना है तो इन तीनों से रहित रखना पड़ेगा।

जैसे हम अनाज बोते हैं तो खेत की बाड़ भी बाँधते हैं ताकि जानवर फसल को न उखाड़ दें, चर न जाएँ। इसी प्रकार ये उद्वेग, प्रतिबन्ध और भोग के जानवर ऐसे हैं जो भक्ति के अंकुर की उत्तमोत्तम अवस्था को भी खा सकते हैं, नष्ट कर सकते हैं और श्रीमहाप्रभुजी इस बात को बहुत ही सावधानीपूर्वक कह रहे हैं कि भोग दो प्रकार के होते हैं। पुनः ध्यान से समझें। ''लौकिकः अलौकिकश्च'' - हमने उद्वेग को 'च' कहा है, प्रतिबन्ध को 'छ' कहा है और भोग को 'ज' कहा है। इस प्रकार यह 'ज' दो प्रकार का है - एक लौकिक और एक अलौकिक। ''तत्र लौकिकस् त्याज्य एव'', ''असमर्पितवस्तूनां तस्माद् वर्जनमाचरेत्।'' आज की हमारी जो मंदिर-आश्रित सेवाप्रणाली है उसमें ''असमर्पितवस्तूनां तस्माद् वर्जनमाचरेत्'' के उपदेश का कोई मूल्य नहीं है,

हमने हड़ताल की हुई है। यहाँ श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि लौकिक भोग जिन साधनों से उत्पन्न हो रहे हैं उन साधनों का त्याग करें। यही बात दूसरे शब्दों में कह रहे हैं कि तीनों साधनों का परित्याग कर्तव्य है।

मैं आपको एक बात स्पष्ट कर दूँ कि सेवाफल के पहले तक के जितने भी शीर्षक दिए गए हैं वे मैंने टीकाकार के आधार पर दिए हैं। सेवाफल ग्रन्थ का शीर्षक मैंने नहीं दिया है। श्रीमहाप्रभुजी ने जो सेवाफल ग्रन्थ का विवरण टिप्पणी के रूप में सेवाफल ग्रन्थ के नीचे लिखा है उसको मैंने सूचनादर्शक के रूप में निरूपित कर दिया है और उसमें कुछ क्रमांक दिए हैं तथा उनको क्रमबद्ध कर दिया है, बाकी कुछ नहीं किया। कहीं वाक्य को जोड़ने के लिए एकाध अक्षर लिखा हो तो लिखा हो, बाकी वही का वही है।

लौकिकभोग को छोड़ दें और जो अलौकिकभोग हैं उनसे डरने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि - ''निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्याद् इति स्थितिः'' वाला भोग लौकिक है ही नहीं। वह विषयासक्ति का नहीं, भगवदासक्ति का भोग है। ''फलानां मध्ये प्रथमे प्रविशति'' - वह आपका अलौकिकसामर्थ्य है। श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि आप श्रीठाकुरजी को समर्पित करके खाएँ तो आनन्द ले रहे हैं अर्थात् जो कुछ भी प्रभु को आप समर्पित कर सकते हैं, उस समर्पित विषय का जो भोग है वह अलौकिकसामर्थ्य का हिस्सा है, उसका भाग है। आपके स्वयं के द्वारा किए हुए समर्पण से आप में अलौकिकसामर्थ्य का प्रकरण शुरू हो गया। समर्पित का जितना-जितना भोग किया जाता रहेगा उतना-उतना आपका सामर्थ्य बढ़ता जाएगा।

''प्रतिबन्धोऽपि द्विविधः'' - प्रतिबन्ध भी दो प्रकार के हैं। एक साधारण और दूसरा भगवत्कृत। साधारण प्रतिबन्ध कैसा है? साधारण प्रतिबन्ध बुद्धिपूर्वक त्याज्य है। सेवा कर रहे हैं और किसी ने घंटी बजाई, कोई

फोन आया, कुछ और आ गया, अमुक मेहमान आ गए - ये सभी साधारण प्रतिबन्ध हैं। इन साधारण प्रतिबन्धों को मनुष्य अपनी बुद्धि या युक्ति से व्यवस्थित करे तो इन सबके सम्बन्ध में व्यवस्था हो सकती है अर्थात् बुद्धिपूर्वक ऐसे प्रतिबन्ध दूर किए जा सकते हैं। आजकल तो सभी प्रकार की व्यवस्था हो सकती है। हम फोन में भी ऐसी व्यवस्था कर सकते हैं कि भाई, अभी हम व्यस्त हैं, आपको यदि कुछ कहना हो तो कह दें, थोड़े समय बाद जवाब मिलेगा। फोन को नजरअंदाज भी कर सकते हैं। जिस किसी पर ध्यान न देना हो उसका बुद्धिपूर्वक समाधान कर सकते हैं। इसमें कोई सिद्धान्त की बात नहीं है, उसे बुद्धिपूर्वक व्यवस्थित करने की बात है।

''भगवत्कृतः चेत् प्रतिबन्धः'' - भगवान द्वारा किया हुआ कोई प्रतिबन्ध है तो फिर यह बात समझ जाएँ कि - ''तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यम्'' भगवान आपको फल देना नहीं चाहते। जब भगवान फल देना नहीं चाहते तो आप कहेंगे कि किसी और की सेवा करूँगा - श्रीगिरिराजजी की सेवा करूँगा, श्रीयमुनाजी की सेवा करूँगा, बापा की सेवा करूँगा, बापी की सेवा करूँगा, गोस्वामी बालक की सेवा करूँगा - लेकिन यह सब व्यर्थ है, निस्सार है - अन्य सेवाऽपि व्यर्था। यदि कृष्ण से कोई अलग सेवा आपने की तो - ''तदा आसुरोऽयं जीवः इति निर्धारः'' समझ जाएँ कि आप आसुरावेशी हो गए। यदि आप कृष्ण के अतिरिक्त किसी अन्य की सेवा करना चाह रहे हैं तो - ''तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यं शोकाभावाय इति विवेकः''- आप माहात्म्यज्ञान के मार्ग में स्थित हो जाएँ - ''तस्माद् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम, वदद्भिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मतिः।''

आप ज्ञानमार्ग में स्थित हो जाएँ ताकि आपको शोक न हो। नवरत्न का स्मरण करें - ''चित्तोद्वेगं विधायापि हरिः ..... स्थेयमित्येव मे मतिः'' व्यर्थ में दुःखी किसलिए होते हैं। ज्ञानमार्ग में माहात्म्यज्ञान की अपनी मर्यादा में रहें।

भक्ति में प्रवेश करने की व्यर्थ धांधली न करें। **''उद्वेगनिवारणोपायाः नवरत्नएवोपदिष्टाइति नात्र पुनरुच्यन्ते''** – यह अंश सेवाफलविवरण में मैंने जोड़ा है। उद्वेगनिवारण के उपाय नवरत्न में कहे जा चुके हैं इसलिए उनको यहाँ अलग से कहना श्रीमहाप्रभुजी को अभीष्ट नहीं है।

उद्वेगः[च] प्रतिबन्धो[छ/1-2] वा भोगो[ज] वा स्यात्तु बाधकम्।।2।।
अकर्तव्यं भगवतः[छ/2] सर्वथा चेद् गतिर् न हि।
यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम्।।3।।
बाधकानां परित्यागो भोगो[ज/1] ऽप्येकं तथा परम्।
निष्प्रत्यूहं महान् भोगः[ज/2] प्रथमे[क] विशते सदा।।4।।

अन्वयार्थ :

(किन्तु) उद्वेगः = उद्वेग
प्रतिबन्धः = प्रतिबन्ध
वा = अथवा
भोगः = भोग, **वा** = भी
बाधकः = बाधक
स्यात् = होता है
भगवतः = भगवान को
(फलदानं = फलदान करना **)**
सर्वथा = किसी भी प्रकार से
अकर्तव्यं = न करना हो
चेद् = जो (**तदा** = तब)
गतिः = गति, **न हि** = नहीं ही
(**विद्यते** = रहता है, **तस्माद्** = इसलिए)
यथा = जैसे, **वा** = भी

तत्त्वनिर्धारो = तत्त्व का निर्णय
(भवति = होता है) **तथा** = उस प्रकार से
विवेकः = विवेक, **साधनं** = साधन
मतम् = मानना, **भोगे** = भोग में
अपि = भी, **बाधकानां** = बाधकों का
परित्यागः = त्याग, **एकं** = एक
(साधनं = साधन, **मतम्** = माना है)
(**भोगे** = भोग में, **अपि** = भी)
निष्प्रत्यूहं = निर्विघ्न, **परं** = श्रेष्ठ
(साधनं = साधन, **मतम्** = मानना, **यस्माद्** = क्योंकि)
महान् = महान्, **भोगः** = भोग, **सदा** = सदा
प्रथमे = पहले में, **विशते** = समावेश होता है

भावार्थ : पूर्वोक्त ग्रन्थों में उपदिष्ट भगवत्सेवा के अनुष्ठान में, परन्तु, बाधक भी तीन हैं : उद्वेग, प्रतिबन्ध और भोग। (इसलिए तीनों बाधकों का परित्याग करना चाहिए।)

जब भगवान को फलदान की इच्छा न हो तब जीव के पास कोई गति – उपाय नहीं रह जाता। इसलिए – ''मेरा यह जन्म आसुरावेशवाला है'' – इस प्रकार तत्त्वनिर्धारण कर लेना चाहिए। इस प्रकार विवेक ही वहाँ शोकवारण का साधन है। उद्वेग, प्रतिबन्ध और भोग के कारणों का अथवा साधनों का परित्याग करना चाहिए। भोग में भी भक्तिबाधक विषयों का परित्याग एक साधन है, उसी प्रकार निष्प्रत्यूह (भगवत्समर्पित विषयों का उपभोग) दूसरा अथवा श्रेष्ठ साधन माना जाता है। क्योंकि महान (भगवत्समर्पित विषयों का) भोग तो अलौकिकसामर्थ्यरूप प्रथम फल के अन्तर्गत आता है।

व्याख्या :

अब प्रतिबन्ध देखें। यहाँ किस प्रकार के प्रतिबन्ध बताए गए हैं? 'छ[1]' और 'छ[2]' – दोनों प्रतिबन्ध सेवा में बाधक हैं और भोग में 'ज[2]' (अलौकिक भोग) बाधक नहीं है बल्कि 'ज[1]' (लौकिकभोग) बाधक है। इस प्रकार से पंक्ति को व्यवस्थित करेंगे तो एकदम स्पष्ट हो जाएगा। ''भोगो वा स्यात्तु बाधकम्,अकर्तव्यं भगवत:'' – 'अकर्तव्यं भगवत:' का तात्पर्य क्या है? 'छ[2]' भगवत्कृत प्रतिबन्ध है, वह अकर्तव्यम् भगवत: है। ''सर्वथा चेद् गतिर् न हि, यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेक: साधनं मतम्'' – भगवान को पहचान जाएँ। अपनी प्रकृति को जान लें कि आप भक्तिमार्ग के लिए नहीं हैं और भक्तिमार्ग आपके लिए नहीं है। ''यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेक: साधनं मतम्'' – यहाँ विवेक का हम यह अर्थ ले सकते हैं कि – ''विवेकस्तु हरि: सर्वम् निजेच्छात: करिष्यति, बाधकानां परित्यागो भोगोऽप्येकं तथा परं'' – अब यह भोग कैसा है? 'ज[1]' अर्थात् लौकिकभोग जो त्याज्य है। निष्प्रत्यूहं अर्थात् निर्दोष और महान भोग अर्थात् 'ज[2]' – अलौकिकभोग – निर्दोष और महान है। यह आपकी अलौकिक सामर्थ्य का भाग है। उसे किसी अन्य प्रकार का भोग मानने की आवश्यकता नहीं है।

यह अलौकिकभोग आपके भीतर खिलता हुआ अलौकिकसामर्थ्य है। जितना-जितना आप समर्पित का उपभोग बढ़ाते जाएंगे, उतना-उतना आपका अलौकिकसामर्थ्य बढ़ता जाएगा। सेवा में अधिक समर्पित का उपभोग बढ़ाया तो अधिक सामर्थ्य बढ़ गया। अल्प समर्पित के उपभोग की शुरुआत की तो आपमें अल्प अलौकिकसामर्थ्य आया अर्थात् मान लें कि आप दस प्रकार की वस्तुओं से समर्पण कर सकते हैं तो आपमें दस प्रतिशत सामर्थ्य आया। इसी प्रकार पचास-प्रतिशत या सौ प्रतिशत जब सम्पूर्ण रूप से समर्पण करेंगे तो उसके उपभोग से आपमें पचास या सौ प्रतिशत सामर्थ्य आ जाएगा। संक्षेप में,

जितना समर्पण हुआ और उसका उपभोग हुआ उतना अलौकिक सामर्थ्य सेवाकर्ता में आता है।

(तत्र साधारणो भोग: सविघ्नत्वाद् अल्पत्वाद् [च/1] त्याज्य: अल्पभोग: सविघ्नभोग: चेति एतौ प्रतिबन्धकौ भवतएव। द्वितीयो भगवत्कृतप्रतिबन्धो[छ/2] भवति चेत् तदा तस्मिंश्च जाते ज्ञानावस्थितिरपि न भविष्यतीति उत्कृष्टफल[क/ख/ग] विषयिणी चिन्तैव त्यक्तव्या)

अब यहाँ कह रहे हैं कि इतना महान अलौकिक भोग कर रहे हैं तो साधारण भोग – लौकिकभोग खाने में क्या आपत्ति है?

ऊपर दिए तर्क के अनुसार कोई ऐसी दलील करे कि जिसको शुद्ध घी पचता हो तो सनफ्लावर तेल पचने में क्या तकलीफ होनी चाहिए परन्तु श्रीमहाप्रभुजी इसके विरुद्ध दलील दे रहे हैं कि जब आपको ऐसी हल्की खुराक खाने की आदत हो गई तो घी पचना ही बन्द हो जाएगा।

हम भारतीयों के सम्बन्ध में आपको यदि पता हो तो, पहले के लोग – गाँव के लोग – मोटा अनाज अर्थात् बाजरा खाते थे और गिने-चुने लोग गेहूँ, चावल आदि खाते थे। अब क्या है कि एक ऐसी सम्पूर्ण नई सभ्यता विकसित हो गई है कि सभी स्थानों पर लोगों ने ज्वार, बाजरा खाना बन्द कर दिया है। इसलिए अनाज की बहुत कमी हो गई। क्योंकि जो विभाजन होना चाहिए, वह रहा नहीं, प्रत्येक को गेहूँ चाहिए। कोई मोटा अनाज – ज्वार, बाजरा – नहीं खाते। यह खाने की आदत नहीं रहने से हमारी पाचनशक्ति भी उसी अनुपात में कम हो गई है।

अत: आप सविघ्न और अल्पभोग में पड़े हुए हैं तो उसकी अल्पता अर्थात् क्षुद्रता और उसकी सविघ्नता आपको डुबा देगी। श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं – ''अल्पत्वाद् त्याज्य: अल्पभोग: सविघ्नभोग: चेति एतौ प्रतिबन्धकौ

भवतएव।'' असित ने अपनी एक पुस्तक में बहुत ही सुन्दर बात लिखी है - **''निशाने में चूक माफ हो सकती है परन्तु नीचा निशाना खोजना माफ नहीं हो सकता।''** आपने लक्ष्य ऊँचा रखा था, तीर मारा लेकिन चूक गए। भले चूक गए लेकिन लक्ष्य तो ऊँचा रखा था। नहीं लगा तो फिर से प्रयत्न करें परन्तु आप तो जानबूझ कर लक्ष्य ही नीचा रख रहे हैं!

व्यापार करनेवाले को लाख रुपए की लॉटरी लगी। अब कोई आ कर आपका इन्टरव्यू ले कि आप इस लॉटरी का क्या करेंगे? आप कहें कि मैं पान-बीड़ी की दुकान खोलूँगा। जब लाख रुपए की लॉटरी लगी है और आप धंधे की शुरुआत में ही पान-बीड़ी की दुकान खोलने का विचार कर रहे हैं तो इसमें लाख रुपए का क्या काम? पान-बीड़ी की दुकान में लाख रुपए नहीं चाहिए होते हैं। अत: समझ जाएँ कि आपके धंधे का लक्ष्य नीचा है।

इस प्रकार नीचा निशाना माफ नहीं किया जा सकता। निशाना ऊँचा रखें और चूक हो जाए तो माफ किया जा सकता है। अत: लक्ष्य ऊँचा रखा जाना चाहिए। लाख रुपए की पूँजी जिसमें लगाई जा सके, पैसा लगाया जा सके वैसा उपयुक्त धंधा शुरू करना चाहिए। इसके बदले यह कहना कि पान-बीड़ी की दुकान खोलूँगा, कोका-कोला की दुकान खोलूँगा, एस.टी.डी. का बूथ खोलूँगा तो बूथ आदि तो दिव्यांग, अपाहिज, असहाय लोगों के लिए है। आप ऐसा बूथ खोलेंगे तो विचार कर लें कि आपका आर्थिक विकास क्या होगा!

ऐसा अल्पभोग का, सविघ्नभोग का नीचा लक्ष्य जब हम रख रहे हैं तो फिर महानभोग आपकी दृष्टि में आएगा ही नहीं। आपकी दृष्टि नीची हो गई तो महानभोग कहाँ से समझ में आएगा कि महानभोग क्या है? इसे भक्तिमार्ग में माफ नहीं किया जा सकता। भक्तिमार्ग के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग हो तो माफ किया जा सकता है। भक्तिमार्ग में इतना नीचा लक्ष्य माफ नहीं किया जा सकता - यह बात श्रीमहाप्रभुजी समझा रहे हैं।

''द्वितीयो भगवत्कृतप्रतिबन्धो भवति चेत् तदा तस्मिंश्च जाते ज्ञानावस्थितिरपि न भविष्यतीति उत्कृष्टफलविषयिणी चिन्तैव त्यक्तव्या'' - यह अंश मैंने योजित किया है कि यदि भगवत्कृत प्रतिबन्ध है और उस स्थिति में आपकी ज्ञान में भी अवस्थिति न होती हो तो सबसे पहला काम आपको यह करना चाहिए कि सेवा में प्राप्त होनेवाले अथवा हो रहे तीन फल - अलौकिकसामर्थ्य, सायुज्य, सेवोपयोगिदेहो वैकुंठादिषु - की चिन्ता छोड़ दें। फिर सब काम सुलझ जाएगा।

हमने क्या खुराफात शुरू कर दी है, कहाँ हम श्रीमहाप्रभुजी को दगा दे रहे हैं? इस बात को समझें - वैष्णवों को ब्रह्मसंबंध देना और उनको उत्कृष्ट, विषयसमर्पण रूपी सेवा से वंचित करके सेवा न करने देना तथा उन्हें लालच देते रहना कि मंदिर में आपको समर्पण करने को मिलेगा। मंदिर में भेंट कर देंगे तो मठड़ी, लाडू, मोहनथाल आदि समर्पित प्रसाद मिल जाएगा। आपके नाम से हिण्डोला हो जाएंगे, पलना हो जाएंगे, आपके नाम से राजभोग हो जाएंगे। इस प्रकार आपका समर्पण हो जाएगा।

इसका अर्थ यही है कि ये सब आपको पथभ्रष्ट करने के तरीके हैं। क्योंकि वे अपना धंधा चलाने के लिए समर्पण की बात करते हैं। यदि वस्तुत: उनकी इच्छा सच्चे अर्थों में समर्पण करने की हो तो घर में किसलिए नहीं करते? और यदि दूसरों के यहाँ पैसे भेंट करना ही सेवा है तो आप दूसरों के यहाँ (भेंट) क्यों नहीं करते? वैष्णवों के यहाँ विराज रहे श्रीठाकुरजी की सेवा में आप मनोरथी क्यों नहीं बनते? किस दिन वैष्णवों के यहाँ विराजमान श्रीठाकुरजी को आपने मंगलभोग कराया? किस दिन आपने वैष्णव के यहाँ विराजमान श्रीठाकुरजी को हिण्डोला कराए? किस दिन आपने वैष्णव के यहाँ विराजमान श्रीठाकुरजी को अपने पैसों से एक लड्डू भी भोग धराया? कभी किसी दिन नहीं धराया।

वैष्णवों को भ्रमित कर रहे हैं कि हमारे यहाँ श्रीठाकुरजी विराजते हैं। यह समर्पण का सिद्धान्त नहीं है, यह किसी षड्यंत्र का सिद्धान्त है, छल-कपट का सिद्धान्त है, ठगाई का सिद्धान्त है। यदि यही सिद्धान्त है तो दोनों के लिए आचरणीय होना चाहिए अर्थात् वैष्णवों के लिए भी और गोस्वामी बालकों के लिए भी यह सिद्धान्त प्रभावी होना चाहिए। यदि प्रभावी नहीं हो रहा तो उसे निरस्त करें। इसलिए इस बात को ध्यान से समझें कि वे ज्ञानावस्थित हैं, यह ज्ञानमार्ग की स्थिति है। ऐसी स्थिति में ललचाएँ नहीं कि हम आपको समर्पित प्रसाद दे रहे हैं, ललचाएँ नहीं कि आपको नित्यलीला में प्रवेश मिल जाएगा।

किसी नित्यलीला में प्रवेश नहीं मिलेगा। वैष्णवों को स्पष्टरूप से यह बात समझाएँ कि आप सेवा नहीं कर रहे हैं तो नित्यलीला आपके लिए नहीं है और आप नित्यलीला के लिए नहीं हैं। आप आनन्द से अनित्यलीला में रहें, कृष्ण का स्मरण करें - ''सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्णएव गतिर्मम'' - फिर से इस अनित्यलीला का स्मरण करें। ध्यातव्य है कि इसमें श्रीमहाप्रभुजी ने तीन चरण में अनित्यलीला समझाई है और एक चरण में कृष्णलीला समझाई है। ध्यान से समझें कि अनित्यलीला कितनी अधिक है। प्रत्येक श्लोक में तीन चरणों में अर्थात तीन अंशों में अनित्यलीला समझाई है और एक चरण में ''कृष्णएव गतिर्मम'' समझाया है। ''विवेकधैर्यभक्त्यादि-रहितस्य विशेषतः पापासक्तस्य दीनस्य'' - इसमें तीन पाद हैं। मात्र 'कृष्णएव गतिर्मम' के एक पाद का आश्रय ले कर आप जहाँ नहीं पहुँच सकते उसके लिए निरर्थक कुलांचें क्यों मारना चाहते हैं? ''**लम्बे के साथ नाटा जाए, मरे नहीं पर बीमार हो जाए**'' - किसलिए ऐसी गलत इच्छा लोगों में जगा रहे हैं?

विवाह के लिए अयोग्य लड़के को लड़की किसलिए दिखा रहे हैं? जो विवाह के योग्य नहीं है क्या उसे प्रतिदिन नई लड़की दिखाना चाहिए, रोज

नये-नये फोटोग्राफ्स दिखाना चाहिए? यदि लड़की विवाह करने योग्य नहीं है और फिर भी उसका विवाह कर दें तो दोनों दुःखी हो जाते हैं। इस स्थिति को ध्यान से समझें कि वैष्णव को विषय की चिन्ता है, वह दूर करें। 'शोकाभावाय' अर्थात् उसे फल नहीं मिलने या विलम्ब से मिलने को ले कर हो रहे शोक को दूर करें कि भाई, इस फल की दुराशा मत करना।

जैसे मैं स्नातक नहीं हूँ तो जो नौकरी मुझे स्नातक होने से मिल सकेगी उसकी चिन्ता किसलिए करनी चाहिए? यदि मैं मैट्रिक पास नहीं हुआ तो जो नौकरी मैट्रिक करने के बाद मिलती हो उसकी चिन्ता मुझे क्यों करनी चाहिए? मान लें कि मैं मैट्रिक से भी नीचे हूँ, मैंने मैट्रिक पास नहीं किया तो जो नौकरी मैट्रिक नहीं करनेवालों को मिलती हो, मुझे उसके लिए आवेदन करना चाहिए, उसके लिए किसी की सिफारिश तलाशनी चाहिए, उसके लिए किसी प्रकार का दबाव भी लाना चाहिए। अरे, उसके लिए रिश्वत भी देनी पड़े तो वह भी दें परन्तु नौकरी प्राप्त करने के ये सभी गलत चक्कर हैं।

सविघ्नोऽल्पो[ज/1] घातकः स्याद् बलाद् एतौ सदा मतौ।
द्वितीये[छ/2] सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात्।।5।।

अन्वयार्थ :

अल्पः = थोड़ा
(**च** = भी, **भोगः** = भोग)
सविघ्नः = विघ्नसहित
घातकः = घातक
स्याद् = होता है, **एतौ** = ये दोनों
(**लौकिकः** = लौकिक, **भोगः** = भोग,
भगवत्कृतश्च = और भगवान के द्वारा किया गया,
प्रतिबन्धः = प्रतिबन्ध)

सदा = सदा, **बलाद्** = बलपूर्वक
(घातकौ = घातक **)**
मतौ = माने जाते हैं
द्वितीये = दूसरे में
(**भगवत्कृतप्रतिबन्धे** = भगवान द्वारा किए गए प्रतिबन्धों में)
संसारनिश्चयात् = संसार का निश्चय होने से, **चिन्ता** = चिन्ता
सर्वथा = सभी प्रकार से
त्याज्या = त्यागनी चाहिए

भावार्थ : लौकिकभोग विघ्नसहित हैं और अल्प हैं तथा भगवत्कृतप्रतिबन्ध बलपूर्वक घातक हैं इसलिए ये दोनों प्रतिबन्ध माने गए हैं। इनमें प्रथम (लौकिकभोग) त्याग करने योग्य है और दूसरा (भगवत्कृत) प्रतिबन्ध हो तब तो संसार ही निश्चय है। इसलिए सर्वथा चिन्ता छोड़नी चाहिए।

व्याख्या :

यहाँ श्रीमहाप्रभुजी बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात कह रहे हैं। द्वितीय अर्थात् ''भगवत्कृतप्रतिबंधे चिन्ता सर्वथा त्याज्या संसारनिश्चयात्'' - भगवत्कृतप्रतिबन्ध में चिन्ता छोड़ दें क्योंकि आपका संसार निश्चितरूप से रहनेवाला है। संसार दूर नहीं होनेवाला। व्यर्थ में अलौकिकसामर्थ्य की चिन्ता आप किसलिए कर रहे हैं कि हम अप्रसादी नहीं खाएंगे, हम तो प्रसादी ही खाएंगे। हम भगवान को हिण्डोला झुलाएंगे। आप क्यों हिण्डोला झुलाना चाह रहे हैं क्योंकि जो शादी करेगा वह हिण्डोला झुलाएगा या आप झुलाएंगे?

आप किसी की कमर पकड़ कर क्यों घूमना चाह रहे हैं जबकि आपने विवाह ही नहीं किया है। जो विवाह करेगा वह घूमेगा। आप अपने मन में किसी की कमर में हाथ डाल कर घूमना चाह रहे हैं तो उसका तात्पर्य यह है कि कुछ झमेला है, इसमें स्वस्थता नहीं है।

''द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात्'' - संसार को निश्चय मानें। उसको निश्चित मान कर दु:खी होने की आवश्यकता नहीं है। श्रीमहाप्रभुजी ने बताया है कि संसार भी निश्चित है। ''विवेकधैर्यभक्त्यादि रहितस्य विशेषत: पापासक्तस्य'' भी हैं, दीन भी हैं तदपि ''कृष्णएव गतिर्मम'' - निश्चित संसार में भी आपके पास कृष्ण रूपी गति तो उपलब्ध है। उसमें स्थिर न हो कर, अन्य प्रकार के ऊटपटांग उपद्रव करके, समग्र सेवा पद्धति को लालसामय करने के बजाए स्वयं को उससे थोड़ा दूर क्यों नहीं रखते? गाड़ी चलाना नहीं जानते अथवा जो चलाता हो उसकी गाड़ी में बैठ कर गाड़ी चलाना न जानने पर भी गाड़ी के स्टेयरिंग को इधर-उघर घुमाने और फिर सबको मार डालने और स्वयं भी मर जाने में क्या फायदा है?

(आद्यफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्ति। तदा ''सेवा नाधिदैविकी'' इत्युक्तं भवति। भोगाभाव: तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्याग: इति निरूपणम्)

पहला प्रतिबन्ध आद्यफलाभाव अर्थात् अलौकिकसामर्थ्य का प्रभु दान करना नहीं चाहते इसलिए वह सेवा आधिदैविकी नहीं होती। श्रीमहाप्रभुजी के इस उपदेश का हमने कितना गलत तरीके से अर्थघटन किया है! गलत अर्थघटन का प्रमाण यह है कि हममें सेवा करते-करते अलौकिकसामर्थ्य विकसित हो जाए तो अलौकिकसामर्थ्य को महान फल मान कर घबरा रहे हैं। श्रीमहाप्रभुजी प्रत्येक विषय का स्पष्टतापूर्वक श्राद्ध कर देते हैं।

अर्थात् आद्यफलाभाव के अनुसार आपके भीतर अलौकिकसामर्थ्य अर्थात् समर्पित के उपभोग की जीवनप्रणाली प्रस्फुटित नहीं हो रही है तो निश्चय जान लें कि भगवान आपको इस अलौकिकसामर्थ्यरूप आद्यफल का दान नहीं करना चाहते - दातृत्वं नास्ति - यह बात समझ लें। ''आद्यफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्ति'' आप जब समर्पित जीवन जीने के इच्छुक नहीं हैं तो

भगवान आपको अलौकिकसामर्थ्य नहीं देना चाहते। आप ऐसी सेवा कर रहे हैं तो आपकी वह सेवा आधिदैविकी नहीं है जो आपको अधिदेव तक पहुँचा सके। यदि हम समर्पित के उपभोग की जीवनप्रणाली से नहीं जी रहे हैं तो वह हमारी कोई भौतिकी सेवा है।

जिस सेवा से हम समर्पित के उपभोग की जीवनप्रणाली विकसित नहीं कर सकते तो वह सेवाप्रणाली आधिदैविक नहीं है, आधिभौतिक है। इस बात को स्पष्ट रूप से समझ लें। ''तदा सेवा नाधिदैविकी इत्युक्तं भवति।'' अब यह कहते हैं कि यह भोगाभाव (भोग का अभाव) किस प्रकार सिद्ध होगा? भोगाभाव की बहुत चिन्ता हो रही है तो पुनः संन्यासनिर्णय पर दृष्टिपात करें। श्रीमहाप्रभुजी पूछ रहे हैं कि भोगाभाव की चिन्ता बहुत हो रही है अथवा असमर्पित के उपभोग की उपेक्षा किस प्रकार करना? समाधान देते हैं – 'गृह-परित्याग' – घर को छोड़ दें। जिस घर में आप समर्पण नहीं कर सकते उस घर में किसलिए रह रहे हैं? घर छोड़ कर बताएँ! यदि घर नहीं छोड़ सकते तो व्यर्थ चिन्ता किसलिए कर रहे हैं?

नत्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम्।

अन्वयार्थ :

नतु = किन्तु नहीं (**यदि** = जो)
आद्ये = प्रथम में
दातृता = देने की इच्छा
नास्ति = नहीं है
(**तदापि** = तो भी)
तृतीये = तीसरे में
(**लौकिकभोगे** = लौकिकभोग में)
गृहं = घर

बाधकं = बन्धनकारक
(भवति = होता है **)**

भावार्थ : भगवत्सेवा करते हुए भी 'आद्य' की – अलौकिकसामर्थ्य की – अनुभूति न हो तो भगवान को फल देने की इच्छा नहीं है – ऐसा जानना चाहिए और तृतीय प्रतिबन्ध, लौकिकभोग, में गृह बाधक है।

व्याख्या :

आप समर्पण की, प्रसाद की और ढोकलादि की चिन्ता क्यों करते हैं? घर में बैठ कर अष्टाक्षर का जप करें। एक तरफ आप कहते हैं कि पुष्टिमार्ग में हम बिना प्रसाद के किस प्रकार जिएँ और दूसरी तरफ आप समर्पित जीवन जीना नहीं चाहते, आप अपने जीवन में अलौकिकसामर्थ्य को खिलने नहीं देना चाहते और फिर चिन्ता करते हैं कि हम भोग कहाँ करते हैं? हम भोगी थोड़े ही हैं, हम तो योगी हैं, वियोगी हैं। कहाँ के योगी और वियोगी? झूठी मनगढ़न्त फैलाई जानेवाली बात है। आप न तो योगी हैं और न वियोगी, आपका संसार निश्चित है। कृष्ण को पकड़ने से सारी बात सरल या निवृत्त हो जाएगी। यदि आप समर्पणपूर्वक जीवनप्रणाली नहीं जी रहे तो आपकी सेवा आधिदैविकी नहीं है– ''तृतीये बाधकं गृहम्।''

अब आगे ग्रन्थोपसंहार में श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं –

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वम् अन्यन् मनोभ्रमः[1] **।।6।।**
तदीयैरपि तत्कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत्[2]**।**
गुणक्षोभेऽपि द्रष्टव्यम् एतदेवेति मे मतिः।।7।।
कुसृष्टिर् अत्र वा काचिद् उत्पद्येत स वै भ्रमः।।

अन्वयार्थ :

इयं = ऐसी (**दातृता** = दानेच्छा)

अवश्या = जिस पर किसी का वश नहीं, ऐसी
भाव्या = भावना करनी चाहिए
अन्यत् = और, **सर्वं** = सब
मनोभ्रमः = मन का भ्रम है
(इति = ऐसा, **निश्चयः** = निश्चय है **)**
तदीयैः = तदीय (भगवदीय पुरुषों को) को
अपि = भी, **तत्** = वह
(भावनं = भावना **) कार्यं** = करना चाहिए
पुष्टौ = पुष्टि में, **न** = नहीं
एव = ही, **विलम्बयेत्** = विलम्ब करेंगे
गुणक्षोभे = गुण के क्षोभ में
अपि = भी, **एतत्** = ये
एव = ही, **द्रष्टव्यं** = देखना चाहिए
इति = ऐसी, **मे** = मेरी
मतिः = मति है
अत्र = यहाँ, **वा** = भी
काचित् = किसी प्रकार की
कुसृष्टिः = कुसृष्टि
उत्पद्येत = उत्पन्न होती है
सः = वह, **वै** = निश्चय ही
भ्रमः = भ्रम है

भावार्थ : भगवान की फलदातृता पर किसी का वश नहीं है इसलिए अन्य जो कुछ विचार मन में उपजे उसको मनोभ्रम ही समझना चाहिए।

भगवत्संबंधी पुरुषों को भी फल और प्रतिबन्धों का विचार रखना

चाहिए। अनुग्रह करने में श्रीहरि कभी विलम्ब नहीं करेंगे। सत्त्वादि गुणों से जब किसी तरह का विकार उत्पन्न हो तो उस समय भी ''प्रभु ने ही फल देने में विलम्ब किया है'' – ऐसा समझना चाहिए। ऐसी मेरी बुद्धि है।

इस उक्ति में यदि किसी को संदेहादि उत्पन्न हो तो वह भ्रममात्र है।

व्याख्या :

दूसरे किसी ग्रन्थ का पाठ करें या ना करें पर श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि सेवाफल का पाठ रोज करें। किसलिए? इस ग्रन्थ के पाठ से सारे भ्रम दूर होते हैं। पूर्व में जो भ्रम थे, पहला सिद्धान्तमुक्तावली में और दूसरा बालबोध में, वे सेवा करने से पहले होनेवाले भ्रम थे। सेवा करने के दौरान उत्पन्न होनेवाले भ्रम की कथा को यहाँ श्रीमहाप्रभुजी बता रहे हैं।

''सर्वम् अन्यन् मनोभ्रमः तदीयैपि तत्कार्यं'' – जो सच्चे भगवदीय हैं उनको यह भावना करनी चाहिए। ''पुष्टौ नैव विलम्बयेत्।'' आप भगवदीय हैं तो आपको यह करना चाहिए। यदि भगवदीय नहीं हैं तो फिर आपको नाम के आगे प.भ. नहीं लगाना चाहिए और प.भ. लगा रहे हैं तो समझ लें कि परम भगवदीय नहीं बल्कि परम भण्ड हैं। प.भ. का मतलब परम भण्ड भी तो हो सकता है न!

''गुणक्षोभेऽपि द्रष्टव्यम् एतदेवेति मे मतिः'' – आपको कोई गुणक्षोभ होता हो, प्राकृतिक गुण का क्षोभ होता हो तो भी पहले आप सेवाफल की इस बात को समझ लें कि आपको यदि सेवा करनी है तो अलौकिकसामर्थ्य के प्रस्फुटन के लिए, सेवा में अलौकिकसामर्थ्य खिलना चाहिए। यदि अलौकिकसामर्थ्य नहीं खिल रहा तो आपके जीवन में समर्पण नहीं आ रहा है। आपकी सेवा आधिदैविकी नहीं है, यह ध्रुव सत्य समझ लें।

''कुसृष्टिर् अत्र वा काचिद् उत्पद्येत स वै भ्रमः'' – जो कुछ भी कुसृष्टि आप उत्पन्न कर रहे हैं – 'कुसृष्टि' अर्थात् व्यर्थ सन्देह, व्यर्थ की शंका, ऐसा नहीं कर रहे तो वैसे कर लें, ऐसे नहीं कर सकते तो उस प्रकार कर लें, यह सब कुसृष्टि है। जितनी कुसृष्टि आप उत्पन्न कर रहे हैं वह पुष्टिसृष्टि है ही नहीं। हमारी वर्तमान जीवनप्रणाली पुष्टिसृष्टि की नहीं है, कुसृष्टि की जीवनप्रणाली है।

''उत्पद्येत स वै भ्रमः'' – वह भ्रम है, सेवाफल नहीं है। हमारे लिए जो सेवाफल है वह तो समर्पित जीवनप्रणाली में ही सम्भव है। समर्पित जीवनप्रणाली उछल कर एकदम नहीं बढ़ती बल्कि जितनी बढ़नी होगी, धीरे-धीरे बढ़ेगी। इसके साथ इस बात को भी ध्यान से समझें कि – ''निशाने में चूक माफ हो सकती है लेकिन नीचा निशाना नहीं'' – यही बात श्रीमहाप्रभुजी सेवाफल में कह रहे हैं।

प्रश्न : लौकिकप्रतिबन्ध और भगवत्कृतप्रतिबन्ध अभी स्पष्ट समझ में नही आया।

उत्तर : जिस प्रतिबन्ध को हम अपनी बुद्धि से दूर कर सकते हैं या हटा सकते हैं वह तो लौकिकप्रतिबन्ध है और जिस प्रतिबन्ध को आप अपनी बुद्धि से दूर नहीं कर पा रहे तो वह भगवत्कृतप्रतिबन्ध है। हम तो उसे दूर करने का प्रयत्न करते हैं परन्तु प्रतिबन्ध निवृत्त नहीं हो रहा है। इसका खूब विस्तृत विवेचन आगे आएगा, इस समय यहाँ स्पष्ट करना कठिन है।

प्रश्न : अलौकिक अर्थात् क्या?

उत्तर : अलौकिकसामर्थ्य पारलौकिक कथा नहीं है क्योंकि यदि पारलौकिक कथा होती तो उसे अलौकिक नहीं कहा जाता। उसे अलौकिक इसलिए कहा जाता है कि वह इस लोक की बात नहीं है, वह अलौकिक बात है, उस लोक की बात है।

जैसे भारत में कोई अमेरिकन हो सकता है परन्तु अमेरिका में तो कोई अमेरिकन नहीं हो सकता न! पूना में कोई पुणेकर नहीं हो सकता परन्तु मुम्बई में कोई भी पुणेकर हो सकता है। ठठाई में आप ठठाई नहीं हो सकते परन्तु मुम्बई में आप ठठाई हैं। इस लोक में वह अलौकिक है परन्तु उस लोक में तो वह लौकिक ही है। उस लोक में वह वापस लौकिक की कथा है। जैसे ''सेवोपयोगिदेहो वैकुंठादिषु'' को अलौकिक नहीं कहा है। क्यों? क्योंकि पारलौकिक है।

प्रश्न : कथा की प्रणाली से यदि आप निरुद्ध हो गए तो सायुज्य मिलेगा?

उत्तर : कथा की प्रणाली से यदि आपने सेवा को जिया है तो सायुज्यफल मिलेगा तथा सेवा को कथात्मिका और कथा को सेवात्मिका बनाया है तो भूतल पर अलौकिकसामर्थ्य है एवं देहोत्तर वैकुण्ठादि में सेवोपयोगिदेह है। इसका विवेचन सेवाफलविवरण और सेवाफलग्रन्थ में मैंने पहले, श्रीमहाप्रभुजी की ही सुबोधिनी से श्रीमहाप्रभुजी के सेवाफल की कैसे व्याख्या करनी, वहाँ बता दिया है। उसे आप देखेंगे तो इस बात का सम्पूर्ण स्पष्टीकरण मिल जाएगा।

श्रीमहाप्रभुजी ने बहुत ही खूबसूरती से बताया है कि सायुज्य कैसे हो जाता है। अभी उस विषय के विवेचन में नहीं जा सकते। उसके कारणों की गहराई में अभी हम नहीं जा सकते क्योंकि उससे व्यर्थ की उलझन बढ़ जाएगी।

।। इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितं सेवाफलं सम्पूर्णम्।।

॥ पञ्चश्लोकी ॥

यहाँ अपने षोडशग्रन्थ पूरे हुए। अब यह पंचश्लोकी वैसे तो सत्रहवाँ ग्रन्थ है, षोडशग्रन्थ में नहीं है और हमारे अनुक्रम में तेईसवाँ ग्रन्थ है परन्तु यह बात ध्यान से समझ लें कि यह ग्रन्थ, षोडशग्रन्थ का अपरिहार्य पूरकग्रन्थ है। इसे नहीं समझने से षोडशग्रन्थ की बहुत सी बातें अधूरी रह जाती हैं।

(पुष्टिभक्तिमार्गे भक्तिवर्धिन्युक्तदिशया दृढ़बीजभावनाम्[क] अदृढ़बीजभावेषु अव्यावृत्तानां[ख/1] व्यावृत्तानां[ख/2] च; अथच पुष्टिप्रपत्तिमार्गेऽपि त्याज्यग्राह्ययोः इतिकर्तव्यतायाः उपदेशः)

पुष्टिभक्तिमार्ग में, भक्तिवर्धिनी में जैसा कहा गया है वैसे, दृढ़बीजभाववालों में 'क' और अदृढ़बीजभाववालों में अव्यावृत्त 'ख[1]' तथा व्यावृत्त 'ख[2]' हैं। पुष्टिप्रपत्तिमार्ग अर्थात् भक्ति के अतिरिक्त जो प्रपत्ति में हैं, शरणागति में हैं अर्थात् नवरत्न से ले कर अन्तःकरणप्रबोध, विवेकधैर्याश्रय और कृष्णाश्रय तक के पूर्वोक्त आलेख (ग्राफ) में जो अधिकारी बताए हैं उन सबकी 'इति कर्तव्यता' अर्थात् प्रणाली की जानकारी दे रहे हैं। शरणागति किस प्रकार करनी, भक्ति किस प्रकार करनी, वह अब यहाँ स्पष्ट हो जाएगा।

(स्वगृहे भगवत्सेवां कर्तुम् असमर्थानां भगवत्कथाप्रणालिकया जातदृढबीजभावानां[क] कृते गृहत्यागानुज्ञा। अदृढबीजभावेषु अव्यावृत्तानां[ख/1] कृते च गृहस्य भगवत्सेवायां विनियोगाज्ञा)

जो अपने घर में भगवत्सेवा नहीं कर सकते उनके लिए भगवत्कथा की प्रणाली क्या होनी चाहिए? इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि भगवत्कथा की प्रणाली से जिनका बीजभाव दृढ़ हुआ है उनके लिए गृहत्याग की छूट दी जाती है और जो अदृढ़बीजभाव में अव्यावृत्त हैं वे 'ख[1]' से चिह्नित हैं। इसलिए जो

अदृढ़बीजभाव में अव्यावृत्त हैं उनके लिए कह रहे हैं कि भगवत्सेवा में घर का विनियोग करें।

गृहं सर्वात्मना त्याज्यं[क] तच्चेत् त्यक्तुं न शक्यते।
कृष्णार्थं तत् प्रयुञ्जीत[ख/1] कृष्णोऽनर्थस्य मोचकः।।1।।

अन्वयार्थ :

गृहं = घर
सर्वात्मना = सब प्रकार से
त्याज्यं = त्याग करने योग्य
(**भवति** = होता है) **तत्** = वह
त्यक्तुं = छोड़ने को
न = नहीं
शक्यते = सम्भव होता है
चेत् = यदि, **तत्** = वह
कृष्णार्थं = कृष्ण के अर्थ
प्रयुञ्जीत = अच्छी तरह से युक्त करना
यतः = क्योंकि
कृष्णः = श्रीकृष्ण
अनर्थस्य मोचकः = अनर्थ से
मोचकः = छुड़ानेवाले
(भवति = होते हैं **)**

भावार्थ : घर, वैसे तो, सर्वथा त्याग करने योग्य ही होता है परन्तु हर कोई घर का त्याग नहीं कर सकता। इसलिए कृष्ण की सेवा में घर को लगाना चाहिए। क्यों? निजगृह में कृष्णस्वरूप को पधरा कर जो जीव उनकी सेवा में तत्पर होता है उसकी संसारासक्ति छुड़ा कर प्रभु उसको निजस्वरूपासक्तिरूपा पुष्टिभक्ति

का दान करते हैं।

व्याख्या :

सभी स्थितियों में घर छोड़ने जैसा ही है परन्तु यदि आप घर को नहीं छोड़ सकते और घर में ही कृष्ण के साथ जीना शुरू करेंगे तो कृष्ण उस घर में स्थित अनर्थ से आपको छुड़ाएंगे, बचाएंगे।

एक हास्यजनक उपमा है, विचार करेंगे तो थोड़ा मजा आएगा। मान लें कि किसी लड़के-लड़की को एक-दूसरे से प्रेम हो गया और दोनों अपने घर से भाग गए और दोनों के माँ-बाप ने पुलिस को शिकायत कर दी। पुलिस ने उनको पकड़ कर एक कमरे में बन्द कर दिया तो उनको फल मिला या दण्ड मिला? वे यही तो करना चाहते थे और वही हो गया।

इसी प्रकार घर बहुत ही खतरनाक है किन्तु आप यदि भगवान को उसमें पधरा रहे हैं और उसमें कैद हो गए तो फिर और क्या चाहिए था, भाई? इसी प्रयोजन से तो संसार से भागे थे। भगवान वैकुण्ठ से इसलिए भागे कि आपको प्राप्त हों और आप संसार से इसलिए भागे कि भगवान प्राप्त हों। अब हमने कहा कि आप लायक नहीं और उन्होंने कहा कि आप लायक नहीं। एक कोई, श्रीमहाप्रभुजी जैसे इंस्पेक्टर आ गए। उन्होंने कहा कि चलो पकड़ो, इन दोनों को एक कमरे में डाल देते हैं। अरे तो फिर और कौनसा फल चाहिए था यार! यही फल तो चाहिए था। आपने पकड़ लिया, हमें फल मिल गया।

संसार से हम किसलिए भागे थे और वैकुण्ठ से वे किसलिए भागे थे? इसीलिए तो भागे थे। श्रीमहाप्रभुजी ने इंस्पेक्टर बन कर कमरे में कैद कर दिया। बस, हमें और क्या चाहिए? पड़े रहेंगे। बाहर नहीं निकालें, निकालेंगे तो मुश्किल होगी, नहीं निकालेंगे तो आनन्द से जी लेंगे, चिन्ता की क्या बात है? वे भी पकड़े गए और हम भी पकड़े गए। बस, कमरा दोनों का एक होना चाहिए।

यह एक मनोरंजक उदाहरण है लेकिन समझना चाहेंगे तो भलीभाँति समझ में आएगा कि इसमें कितनी मनोरंजक और कितनी उत्कृष्ट परिस्थिति का निर्माण हो रहा है !

घर बहुत ही खतरनाक है, जेल है, कारागृह है किन्तु आप अपने भगवान के साथ उसमें कैद हो गए तो फिर और क्या चाहिए यार? वैकुण्ठ में जा कर क्या करना चाहते थे – यही तो करना था। वे प्रभु हमें यहीं मिल गए तो हमारे लिए तो आनन्द है। अब चाहे जितने दिन ताले में बन्द करके रखें। हम तो आ बैठे आनन्द से, बाकी हमें और क्या चाहिए। अत: ''कृष्णार्थं तत् प्रयुञ्जीत कृष्णोऽनर्थस्य मोचक:'' श्रीमहाप्रभुजी हमारे ऐसे इंस्पेक्टर हैं जो दोनों को पकड़ कर घर के कमरे में बन्द कर रहे हैं।

(अदृढबीजभावेषु व्यावृत्तानां [ख/2] स्वगृहाद् अन्यत्र भगवत्सेवाकथापरै: भगवदीयै: सह भगवत्परिचर्या-भगवत्कथाश्रवणयो: परायणानां कृते सत्सङ्ग: कथं करणीय: इति तदितिकर्तव्यताया: उपदेश:)

जो अदृढ़बीजभाव में व्यावृत्त हैं अर्थात् जो घर में सेवा नहीं कर सकते, उन्हें सत्संग किस प्रकार करना चाहिए? इसके लिए जो सिद्धान्त है, वह सैद्धान्तिक बात समझ जाएँ।

सङ्ग:सर्वात्मना त्याज्य: स चेत् त्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भि: सह कर्तव्य: सन्त: सङ्गस्य भेषजम्।।2।।

अन्वयार्थ :

सङ्ग : = सङ्ग
सर्वात्मना = सब प्रकार से
त्याज्य: = त्याग करने योग्य

(भवति = होता है **)** **स:** = वह
त्यक्तुं = छोड़ना, **न** = नहीं
शक्यते = संभव होता है, **चेत्** = यदि
स: = वह (सङ्ग)
सद्भि: = सत्पुरुष के, **सह** = साथ
कर्तव्य: = करना चाहिए
(यत: = क्योंकि **)**
सन्त: = सत्पुरुष का, **सङ्गस्य** = सङ्ग
भेषजं = स्वास्थ्यकारी (**भवति** = होता है)

भावार्थ : किसी का भी सङ्ग करना उचित नहीं है किन्तु परसंग छूटता नहीं है। इसलिए यदि संग करना ही पड़े तो सच्चे भगवदीयों का ही करना उचित है।

व्याख्या :

संग सदैव त्याज्य है क्योंकि प्रत्येक संग में कुछ न कुछ झंझट है ही। किसी का संग करने का अर्थ है कि कोई न कोई हमें भटकाएगा। ऐसे संग से जो नुकसान हो सकता है उस नुकसान की संत पुरुष भरपाई कर सकेंगे। **'येन्तेदुर्जन'** – आपने बिना सोचे समझे संग किया। संतत्व क्या है। 'तदीयै सह तत्परै' – भगवत्सेवापरायण भगवदीयों का संग करना चाहिए। उनको श्रीमहाप्रभुजी यहाँ 'संत' कह रहे हैं।

(अदृढ़बीजभावेषु अव्यावृत्तानां [ख/1] कृते च उपदिष्टस्य गृहादे: यो भगवत्सेवायां विनियोग: उक्त: स कथं करणीय: इति तदितिकर्तव्यताया: उपदेश:)

अदृढ़बीजभाव में जो अव्यावृत्त हैं अर्थात् 'ख[1]', उनको भगवत्सेवा में गृहादिक के विनियोग के बारे में समझा रहे हैं कि विनियोग किस प्रकार करना चाहिए।

अनुकूले कलत्रादौ विष्णोः कार्याणि कारयेत्।
उदासीने स्वयं कुर्यात् प्रतिकूले गृहं त्यजेत्।।3।।
तत्त्यागे दूषणं नास्ति यतः कृष्णबहिर्मुखाः।

अन्वयार्थ :

कलत्रादौ = पत्नी आदि
अनुकूले = अनुकूल हों (**सति** = तो)
विष्णोः = विष्णुसम्बन्धी
कार्याणि = कार्य
कारयेत् = कराने
उदासीने = उदासीन हों (**सति** = तो)
स्वयं = स्वयं (**कुर्यात्** = करे)
प्रतिकूले = प्रतिकूल हों (**सति** = तो)
गृहं = घर को, **त्यजेत्** = छोड़े
तत्त्यागे = उनका त्याग करने में
दूषणं = दोष
न अस्ति = नहीं है
यतः = क्योंकि (कलत्रादि)
कृष्णबहिर्मुखाः = कृष्ण से बहिर्मुख हैं

भावार्थ : पत्नी-बहू-बहिन-बेटी-पुत्र-पिता-भाई आदि बन्धुबांधव और नौकर-चाकर आदि घर में रहनेवाले कोई भी भगवत्सेवानुकूल हों तो उनसे विष्णुकार्य अर्थात् भगवत्सेवा, परिचर्या करानी चाहिए। उनमें यदि कोई उदासीन हो तो उसे भगवत्सेवार्थ कोई कार्य नहीं सौंपना चाहिए, स्वयं ही कर लेना चाहिए। उनसे कुछ नहीं कराने पर भी यदि किसी प्रकार का प्रतिबन्ध करते हों तो उनका त्याग करना चाहिए। ऐसा करने से जो दोष लगता है उसका

क्या करना? वहाँ आज्ञा करते हैं कि प्रभु से बहिर्मुख जीवों का परित्याग करने में किसी प्रकार का शास्त्रीय अपराध नहीं होता।

व्याख्या :

अपने परिवार, पत्नी, पुत्र, पुत्री, पिता, भाई सबके साथ हिल-मिल कर सेवा करें। सबसे सेवा कराएँ और सब मिल कर सेवा करें। यदि कोई उदासीन है तो उससे बलात् सेवा न कराएँ। किसलिए? क्योंकि सेवा आपको करनी है, अन्य से सेवा नहीं करवानी है। यदि सब अनुकूल हैं तो हिल-मिल कर सेवा करें और कराएँ किन्तु यदि अनुकूल नहीं हैं तो सेवा आपको करनी है; कराने का ठेका नहीं लेना है। जैसे बालकों ने बैठे-बिठाए वैष्णवों से सेवा कराने का ठेका ले लिया है, वैष्णवों ने बैठे-बिठाए बालकों से सेवा कराने का ठेका ले लिया है।

सेवा कराना मुख्य समस्या नहीं है, सेवा करना मुख्य समस्या है। एक-दूसरे के अनुकूल हैं तो मिल कर सेवा करें। जब अनुकूल नहीं हैं तो फिर अपने तरीके से स्वयं सेवा करें और यदि कोई सेवा में विघ्न कर रहा है तो - ''गृहं त्यजेत् तत्त्यागे दूषणं नास्ति यतः कृष्णबहिर्मुखाः'' - उसका त्याग कर दें। अर्थात् दयाराम भाई के धोल के अनुसार ''**जे हरिने भजता वारे तेने तरता तजो (जो हरिभजन में विघ्न करता है, उसका तुरन्त त्याग करें)।**'' गुरु, पिता, माँ, बेटा, बेटी सबको गिना कर दयाराम भाई ने बताया है कि इन सबका त्याग करें। किसलिए? यद्यपि हरिभजन के लिए इन सबकी आवश्यकता है परन्तु हरिभजन में यदि विघ्नरूप हो रहे हैं तो उनको छोड़ना पड़ेगा - ''यतः कृष्ण बहिर्मुखा।''

(पुष्टिप्रपत्तिमार्गे त्याज्यग्राह्यविवेकविषयिण्याः षड्विधायाः[1-6] इतिकर्तव्यतायाः उपदेशः)

पुष्टिप्रपत्तिमार्ग में त्याज्य और ग्राह्य का विवेक समझाते हुए श्रीमहाप्रभुजी बता रहे हैं कि शरणागति किस प्रकार करनी चाहिए? इतिकर्तव्यता अर्थात् शरणागति की कर्तव्यता बता रहे हैं। शरणागति के सम्बन्ध में छः प्रकार के उपदेश निम्नवत् हैं–

अनुकूलस्य सङ्कल्पः[1] प्रतिकूलविसर्जनम्[2] ।।4।।
करिष्यतीति विश्वासो[3] भर्तृत्वे वरणं तथा[4] ।
आत्मनैवेद्य[5] कार्पण्ये[6] षड्विधा शरणागतिः।।5।।

अन्वयार्थ :

अनुकूलस्य = अनुकूल बनने का
संकल्पः = निश्चय
प्रतिकूलस्य = प्रतिकूल का
विसर्जनम् = त्याग
करिष्यति = करेंगे, **इति** = ऐसा
विश्वासो = विश्वास
भर्तृत्वे = स्वामी के रूप में
वरणं = स्वीकार, **तथा** = और
आत्मनैवेद्य = आत्मनिवेदन
कार्पण्ये = दीनता
षड्विधा = छः प्रकार की
शरणागतिः = शरणागति

भावार्थ : प्रभु के अनुकूल बनने का संकल्प, प्रभु के प्रतिकूल का त्याग, प्रभु सब कुछ अपनी इच्छानुसार करेंगे – यह भरोसा, स्वामी के रूप में प्रभु का स्वीकार , आत्मनिवेदन तथा दीनता, इस प्रकार शरणागति के छः प्रकार हैं।

व्याख्या :

शरणागति के हमें छः उपाए बताए गए हैं। उनमें मूल बात इतनी ही है कि – ''अनुकूलस्य संकल्पः'' – हम प्रभु के अनुकूल होने का संकल्प करके शरणागति करते हैं। जो कुछ भी प्रभु के प्रतिकूल है, हम उसे छोड़ने के संकल्प से शरणागति करते हैं एवं जो कुछ करेंगे वह प्रभु ही करेंगे, ऐसे विश्वास के साथ प्रभु की शरणागति करनी चाहिए। प्रभु को भर्ता मान कर शरणागति करनी चाहिए। मैं प्रभु की शरणागति कर रहा हूँ – इस अहंता से नहीं अपितु प्रभु मेरी शरणागति स्वीकार कर रहे हैं – इस भाव से शरणागति करनी चाहिए।

''आत्मनैवेद्य-कार्पण्ये'' यह आत्मनिवेदन ब्रह्मसंबंधवाला आत्मनिवेदन नहीं है बल्कि इस 'आत्मनिवेदन' का अर्थ है – **''जैसो हूँ तैसो कहाऊँ तेरो''** और ''कार्पण्ये'' का तात्पर्य है कि दीनतासहित शरणागति करनी चाहिए। ये शरणागति की छः पद्धतियाँ हैं। किस प्रकार शरणागति करनी? क्या-क्या करने से हमारी शरणागति निभती है? यह सब यहाँ श्रीमहाप्रभुजी समझा रहे हैं।

।। इति श्रीमद्वल्लभाचार्यकृता पञ्चश्लोकी समाप्ता।।

रही बात गुरुदक्षिणा की, तो एक बात समझ लें कि वैसे तो यह नालायकी है कि मैं स्वयं को गुरु समझ कर आपसे दक्षिणा मांगूं परन्तु आप लोग थोड़ी मेरी बेशर्मी स्वीकार करते हों तो यह दक्षिणा मांगता हूँ कि यदि आपने इन ग्रन्थों का अध्ययन किया तो कम से कम एक वैष्णव को अवश्य पढ़ाएँ। यदि मुझे गुरुदक्षिणा देना चाहते हैं तो यह दक्षिणा दें। जो कोई नहीं पढ़ाएगा, वह नालायक है। वह अगली बार इस शिविर में पढ़ने न आए।

जिसने एक को भी नहीं पढ़ाया, वह दूसरी बार न आए। अगली बार आए तो दूसरे को ले कर आए कि मैंने इसे पढ़ाया है। मैं आपकी परीक्षा नहीं

लूँगा, उसकी परीक्षा ले लूँगा और वह समझ गया होगा तो आपको अगली बार आनन्द से शिविर में प्रवेश मिलेगा। यदि नहीं पढ़ाया तो सबको – ''गणपति बापा मोरीया, पुढ़चा वरसी नकोच या'' (अगले वर्ष मत ही आना)। यदि आप मुझे सच्चे अर्थों में गुरुदक्षिणा देना चाहते हैं, आपमें थोड़ा भी कृतज्ञता का भाव है तो मुझे यह गुरुदक्षिणा दें, मैं मांग रहा हूँ।

✳ श्रीवल्लभाधीश की जय ✳